शासनसम्राट् सूरिचक्र चक्रवर्ति-तपोगच्छ नभोनभोमणि-
बालब्रह्मचारि-शासनप्रभावक-पूज्यपाद-भट्टारकाचार्य
श्रीमद्विजय नेमिसूरि सद्गुरुभ्यो नमः

न्यायवाचस्पति-शास्त्रविशारदविरुदालङ्कृत-बालब्रह्मचारि-शासनप्रभावक-
सदृब्धानेकग्रन्थ-पूज्यपादाऽऽचार्य श्रीमद्विजय दर्शनसूरि प्रणीता—

सम्मतितर्क महार्णवावतारिका

[सम्मतितर्क मूल व्याख्यात्मिका]

: प्रकाशिका :

मद्रासनगरस्था जैनमार्गप्रभावक सभा
रीखवदास मथुतमल
४०९/४१० मीन्टस्ट्रीट-मद्रास सिटि-१

श्री नेमि स-८-विक्रमाब्द २०१३-श्रीवीराब्द २४८३
प्रत.—८५०—कीमत रु १५

॥ आभारप्रदर्शन ॥

आ ग्रंथ प्रकाशनमा जे जे ज्ञानभक्त-दानवीर-श्राद्धवर्य सद्गृहस्थो ए स्वलक्ष्मीनो सदुपयोग करवा निमित्ते आर्थिक सहाय आपी छे ते सर्वेनो अमे आभार मानीए छीए.

विज्ञापन

श्री विक्रमनृप प्रतिबोधक-शासनप्रभावक-पूज्यपाद श्रीसिद्धसेनदिवाकरसूरि भगवन्ते बनावेल सम्मतितर्क ग्रन्थनो अभ्यास करवाने इच्छनारा अभ्यासको बहु सरलरीते समजी शके अभ्यास करी शके ते माटे ते मूल ग्रंथना प्रतिपदनु विस्तारथी विवेचन करवा पूर्वक आ मूल ग्रन्थनी लघु टीका बनाववामा आवी छे परवादिकृत युक्तिसमूहनु सचोट खण्डन करवामां आवेल होवाथी आ ग्रन्थनी महार्घता अने शासन प्रभावकता स्वभाविक सिद्ध थाय छे.

प्राप्तिस्थानम्—१ श्री रतिलाल बुलाखीदास—अमदावाद.
स्वामिनारायण चाली घर न १७.

२ जमनतलाल गीरधर–जैन प्रकाशनमंदिर
३०९/४ दोशीवाडानी पोल–अमदावाद

३ जिनदास धर्मदासपेढी—महुवा बन्दर
तथा कदम्बगिरि (बोदाना नेस) (सोराष्ट्र)

मुद्रणस्थानम्

भावनगरस्थ महोदयमुद्रणालये गुलाबचन्द लल्लुभाइ इत्यनेन
सम्पूर्णग्रन्थोऽयं मुद्रितः

प्रस्तावना–विषयानुक्रमणिकादि सर्वं अहमदावादस्थ गांधीमार्गस्थित नयनमुद्रणालये पण्डित मफतलाल झवेरचन्द्रेण मुद्रितम्

प्रस्तावना

तम स्तोम स हन्तु, श्री सिद्धसेनदिवाकर
यस्योदये स्थित, मूकैरुलूकैरिव वादिभि ॥ १ ॥ प्रभुप्रभसूरि

राजकुमार शुद्धोदन बौद्ध गौतमे ननामी उपाडी जता माणसोने अने तेनी पाछळ रोकककळ करता तेना कुटुंबीओने जोई पोताना सेवकने पुछ्यु आ शु छे ? सेवके कह्यु 'कुमार ! जुवान-जोध साजो सारो एक श्रेष्ठिपुत्र अचानक मरण पाम्यो छे तेना मृतकने तेना सगाओ श्मशाने लइ जाय छे' गौतम विचारे चडयो 'मानवमात्रनी आ दशा ? सौनुं मृत्यु अचूक मरण पछी शु थतु हशे? बाळ किशोर युवान वृद्धावस्था मरण आ बधु कोनु ? दुनीयाना अनेक परावर्त नोनुं कारण शु ?' शुद्धोदन सुतसुत विचारमा उडो उतर्यो पण तेनो ताग तेने न लाध्यो. तेणे फरी विचार्युं 'आ वैभव, पुत्र, स्त्री अने संपत्तिना मोहमय वातावरणमा मने आनो उकेल क्यांथी जडे आने माटे तो नीरव शांतिवाळु स्थान जोइए तेणे एक मधराते सुतेला पुत्र स्त्री अने वैभव भर्यो राजमहेल छोडयो अने ते पगपाळो चाली नगर बहार आव्यो दूरदूरना केइ आश्रमोमां कोइ 'ॐ नम. शिवाय' तो कोइ 'हरे राम हरे कृष्ण हरे राम हरे हरे' करता तापसोनो अवाज तेने काने पडयो गौतम आश्रमे आश्रमे फर्या अनेक तापसो अने वर्षो सुधी तपत्याग अने ध्यान करनाराओनो ससर्ग सेव्यो पण तेने जन्म शु ? मरण शु ? मरण पछी शु स्थिति ? विगेरेनो उकेल न लाध्यो गौतम एकलो पडयो. वर्षो सुधी आनो तेणे विचार कर्या अने शोधी काढयु के 'दुनीयानी देखाती बधी वस्तु क्षणविनश्वर छे ते क्षणे क्षणे नाश पामे छे दीवानी कलगी, भिन्न छतां आपणने सदृशताने लइने एक लागे छे, तेम सदृशताने लइने दुनीयाना पदार्थोमा आपणने एकता लागे छे बाकी बधु क्षणविनश्वर छे गौतमनो वाद-विचार क्षणक्षयमां स्थिर थयो तेणे क्षणक्षयने केन्द्रमा राखी बधी वातोनो उकेल आप्यो. राजकुमार गौतमना क्षणक्षयना विचारमाथी बौद्धदर्शन प्रगटयु

कारुणिक कपिले आ दुनियानी घटमाळनो उकेल पुरुष अने प्रकृति ए बे तत्त्वनी शोध द्वारा आप्यो अने ते बे तत्त्व उपर निर्भर रहेल तेनो तत्त्ववाद सांख्यदर्शनरुपे प्रगटयो

मीमासक दर्शनकारने मानवमात्र मतिविभ्रम, प्रमादादिथी अपूर्ण शक्तिवाळो भास्यो अने तेथी तेणे वेदोने अपौरुषेय मान्या अने ते वेदो द्वारा अनेक वस्तुओना उकेल शोधी पोताना तत्त्ववादने तेणे स्थिर कर्यो

वैशेषिक अने नैयायिक दर्शनकारोए आ बधी वस्तुओना उकेल माटे अमापशक्तिसंपन्न ईश्वर, आत्मव्यापकतावाद विगेरेनो आश्रय लइ तत्त्वनी व्यवस्था घटावी

कोइए योगथी, कोइए भक्तिथी तो कोइए 'ब्रह्म सद् जगन्मिथ्या' विगेरेथी आत्मसतोष मान्यो. आम भारतमा कोइए कोइनु मृत्यु देखी जगतनी विचित्रताना उकेलमा समग्रजीवनकाळ परोव्यो. कोईए पृथ्वी पाणी आकाश विगेरे तत्त्वोने देखी तेनी गवेषणा आरंभी तो कोइए आपणे क्याथी आव्या अने क्या जइशु तेनी विचारणामा वर्षो काढी जुदा जुदा उकेलो आप्या पण आ बधा पाछळ पृथक्करण बुद्धि न होवाने लइ आ बधा उकेलो–वादो केटलीकवार विवादमां परिणम्या अने तेने लइने दरेकनी साची वात पण एकबीजाना खडनमडनमा उतरी अगमत्यग परिष्कृत भारतना तत्त्ववादपुरुषने कोइए अगथी तो कोइए प्रत्यगथी पोताना तत्त्वमां परिपूर्ण मान्यो.

जैनदर्शने तत्त्वगवेषक बुद्धिथी अटवाता सर्वदर्शनोने अनेकातदृष्टिथी पोतानामा समावी लीधा अने क्षणिकवाद, नित्यवाद विगेरे बधा वादो आपेक्षिक बुद्धिथी विचारवामा आवे तो कोइ खोटा नथी हाथी थाभला जेवो छे. सुपडा जेवो छे के दोरडा जेवो छे कहेनारा अधोने सर्वतः हाथीने अवलोकनार कहे के पगथी हाथी थाभला जेवो छे कानथी सुपडा जेवो छे अने पुंछडाथी दोरडा जेवो छे तेम जगतना तमाम वैभवो अने पर्यायो क्षणनिश्वर छे मोह न धरशो तेमज तेम पण न मानशो के कशी भागी एटले सोनु जतुं रह्यु. तमारु बाळपण, युवापण वृद्धपण अने मनुष्यपणु भले जाय आवे पण तमारो आत्मा तो अमर अने नित्य छे तेनो निस्तार करवो के अधःपात करवो ते तमारा हाथनी वात छे

जैनदर्शननी आ सर्वमुखी दृष्टि ते तेनो अनेकातवाद छे, स्याद्वाद छे आ स्याद्वाददृष्टिने लइ सर्वदर्शनो जैनदर्शनमा समाय छे अने सर्वदर्शनोमाथी स्याद्वाददृष्टि जैनदर्शन अनुरूप तत्त्व शोधे छे आम भारतमा तमाम दर्शनो एकदृष्टि अने सर्वदर्शनोने समन्वय करनार जैनदर्शन सर्वदृष्टि–अनेकातदृष्टि छे

कोइ पण पदार्थने तेनी बधी समवती बाजुने तपासवी ते अनेकातदृष्टि छे आ अनेकांत-दृष्टिनी साची समज नय, सप्तभगी, ज्ञान, अने ज्ञेयनी पुरी समज आवे तो ज आवी शके तेम छे आ नय, सप्तभगी, ज्ञान अने ज्ञेयनी पुरी समज आगम ग्रथोमा ठेर ठेर छूटी छूटी अनेक ठेकाणे आपवामा आवी छे छता पण आ सघळी व्यवस्थित विचारणा करनार जैन दर्शनमा कोइ पण स्वतत्र के प्रथम ग्रथ होय तो आ सम्मतितर्क ग्रथ छे जैनदर्शनना आतर तत्त्वने कसोटी उपर चडावी निर्मळ सुवर्ण रूपे जगतना समग्र तत्त्ववादो आगळ रजु करनार तेनो अनेकातवाद–स्याद्वाद छे आ अनेकातवादने सफळ रीते पू आ सिद्धसेनदिवाकरसूरिए आ ग्रथमां रजु कर्यो छे जेने लइ आ ग्रथ अने तेना कर्ता पू सिद्धसेनदिवाकरसूरि धर्मशास्त्रप्रभावक मनाया छे

भिक्षापात्र ऊपर रही उघाडे पगे अने उघाडे माथे जगत् उपर विचरनारा जगत्ना जीवमात्रनु कल्याण इच्छनारा आपणा सर्व मुनिओ धर्मप्रभावक महात्माओ छे तेमनो वेष, आचार, उपदेश अने आकृतिए केइ मानवगणोने तार्या छे अने कइने बोधिबीज उत्पन्न कर्या छे पण जेना कार्यनी वर्षोसुधी स्मृति रहे अने जेने याद करी हजारो मानवोनो निस्तार थाय ते पुरुषो जैनदर्शनना विशिष्टप्रभावक महात्माओ छे

पू आचार्य सिद्धसेनदिवाकरसूरि एवा विशिष्ट धर्मप्रभावक महात्मा छे के जेमने अने तेमना सम्मति ग्रथने तेमना पछीना थयेला ग्रथकारोमाथी भाग्ये ज कोइए तेमने याद कर्या न होय काव्य, व्याकरण, न्याय, धर्मोपदेश अने बीजा अनेकविध सैकडो ग्रथोनु सर्जन आपणा मुनिमहात्माओने हाथे सर्जायु छे आ सर्जननो उपकार अने सौरभ केवळ जैन शासनमा नहि पण जैन जैनेतर बधे विस्तरी छे छता नवी दृष्टि अने विषयने आश्पार पारखी ग्रथ निर्माण करनार महात्माओमा पू सिद्धसेनदिवाकरसूरि, पू. आ हरिभद्रसूरि, कलिकालसर्वज्ञ हेमचद्रसूरि अने पू उ यशोविजयजी महाराज विगेरे मुख्य छे पू. सिद्धसेनदिवाकरसूरि महाराजे जैनदर्शनना स्याद्वाद–अनेकातवादने जगत्ना चोकमा झळहळती रीते अने अकाट्यरीते रजु करी एक बीजा तत्त्ववादोनो समन्वय करी सौने जणाव्यु के अनेकातवादना आसरा विना व्यवहार के तत्त्ववाद कोई स्थिर थशे नहि तपत्याग अने ध्यान क्रियाना उत्तरोत्तर विकासना पगथाररूप गुणस्थाकोनु स्वरूप जैनग्रथोमा ठेर ठेर हतु छता ते स्वरूपमा जगत्भरना आध्यात्मिकविकासने सग्रही दृष्टिओना स्वरूपने रजु करवामा पू. आ हरिभद्रसूरि प्रथम पक्तिए छे काव्य व्याकरण साहित्य विगेरे सर्व शास्त्रोनु महानाय निर्माण करनार कलिकाल सर्वज्ञ हेमचद्रसूरिए एवु ग्रथ निर्माण कर्यु के जैन दर्शनमा तो तेमना ग्रथो प्रभावक रह्या पण जैनेतरोए पण हमेशने माटे तेमना घणा ग्रथोने तेमना पोताना ग्रथोमा प्रमाणित कर्या अने तेमनी साक्षिओ धरी कलिकाल सर्वज्ञरूपे सबोध्या. तत्त्वभरपुर कठीन न्यायग्रथोथी माडी राम स्तवन अने सज्झाय सुधीनु अनेकविध साहित्य निर्माण करनार उ यशोविजयजीए तमाम तात्त्विक मतभेदोनी सकलना करी अने नव्यन्यायना अनेक ग्रथोनु निर्माण करी जैनेतरविद्वान समाजने पण बताव्यु के जैनमुनिमहात्माओ साहित्यना सर्वक्षेत्रमा सर्वकाळे सदा मोखरेज रह्या छे

आ पू. आचार्य हरिभद्रसूरि–कलिकालसर्वज्ञ हेमचद्रसूरि अने उ यशोविजयजीमहाराज जे जैनशासनना महाप्रभावक पुरुषो छे तमणे पण तेमना साहित्यसर्जनमा पू. सिद्धसेनदिवाकर सूरिनो महान उपकार गण्यो छे

अनेकात जयपताका शास्त्रवार्तासमुच्चय, षड्दर्शनसमुच्चय, पचवस्तु अने धर्मसंग्रहणी विगेरे ग्रथोमा १४४४ ग्रथ प्रणेता पू आ हरिभद्रसूरिजीए पू. सिद्धसेनदिवाकरसूरिना सम्मतितर्क न्यायावतार अने बत्रीसीओमानी अनेक वस्तुओने साक्षिपाठरूपे संग्रही छे पचवस्तुमा तेमणे

जणाव्युं छे के—

गुयकेवलिणा जओ भणिअ
'आयरियसिद्धसेणेण सम्मइए पइट्ठिअजसेण
दुसम–णिसादिवायर कप्पत्तणओ तदक्खेणं ॥ १ ॥
पच ५४३ गा–१०–४८

दुषम (काळरूपी) निशामा दिवाकर–सूर्य जेवा होइ दिवाकर नामवाळा अने प्रतिष्ठित यशवाळा श्रुतकेवळी आचार्य सिद्धसेने कह्यु छे.'

कलिकालसर्वज्ञहेमचद्रसूरि महाराजे सिद्धहेमशब्दानुशासनमा 'अनुसिद्धसेनं कवयः' कही सिद्धसेनदिवाकरसूरि महाराजने श्रेष्ठ कवि तरीके स्तव्या छे अने तेमणे अयोगव्यवच्छेदकारिकामा

क्व सिद्धसेनस्तुतयो महार्था, अशिक्षितालापकला क्व चैषा ।
तथापि यूथाधिपते पथस्थः, स्खलद्गतिस्तस्य शिशुर्न शोच्य ॥

'क्या महाअर्थवाळी सिद्धसेनदिवाकरसूरिनी स्तुतिओ अने क्या नहि शीखेल आलापकवाळी मारी स्तुतिओ तोपण गजराजना मार्गमा रहल स्खलित गतिवाळो तेनो बाळक शोककरवा योग्य नथी' जणावी तेमनी द्वात्रिंशिकानी रचना करता पू सिद्धसेनदिवाकरसूरिनी द्वात्रिंशिकाओने सामे राखी छे

उ यशोविजयजी महाराजनु अनेकविध साहित्य [१]सम्मतिप्रकरणना त्रणे कांडोने अनुलक्षी सर्जायु छे अने तेमणे तो तेमना तमाम ग्रथोमा सिद्धसेन दिवाकरसूरिने स्तव्या छे अने जाणे तेमना तत्वदृष्टिना साक्षात् गुरु सिद्धसेनदिवाकरसूरिज होय तेम तेमणे तेमनी भूरिभूरि स्तुति करी छे

आ उपरात आपणे त्या थयला नाना मोटा तमाम ग्रंथकारमहात्माओए तेमना गुणानुवाद गाया छे महाकाय स्याद्वादरत्नाकर जेवा न्यायशास्त्रना ग्रथनिर्माता [२]वादिदेवसूरि [३]शीलाकाचार्य, [४]वादिवेतालशातिसूरि, [५]प्रद्युम्नसूरि, मल्लिसेणसूरि, अभयदेवसूरि, मुनिरत्नसूरि विगेरे अनेके तेमना ग्रंथोमा तेमनी स्तुति करी छे

दिगंबर सप्रदायना [१]गधहस्ति, [२]विद्यानद, [३]वादिराज, [४]शिवकोटि, [५]लक्ष्मीभद्र, [६]अनतवीर्य, अने [७]अकलंके तेमना ग्रथ निर्माणमा पू सिद्धसेनदिवाकरसूरिना आ सम्मति ग्रथ

१ पुंजाभाइ ग्रथमाळा मुद्रित सम्मति प्रकरण परिशिष्ट–२

२ श्रीसिद्धसेनहरिभद्रमुखा प्रसिद्धा । ते सूरयो मयि भवन्तु कृतप्रसादा ।
येषां विमृश्य सतत विविधान् निबन्धान् । शास्त्र चिकीर्षति तनुप्रतिभो पि मादृक् ॥ ८ ॥

३ द्रव्यानुयोग पूर्वाणि सम्मत्यादिवत् । दर्शनप्रभावकैर्वा सम्मत्यादिभि

४ तथा च महामति

५ तमस्तोमं स हन्तु श्री सिद्धसेनदिवाकर यस्योदये स्थित मूकैरुलूकैरिव वादिभि

अने द्वात्रिंशिकानो ठेर ठेर उपयोग कर्यो छे अने केटलाक ग्रंथो उपर तो टीका टिप्पणो करी तेनी प्रत्ये आदर बताव्यो छे धवलटीकामा पण सम्मतिनो ठेर ठेर उपयोग थयो छे.

आम पू आ सिद्धसेनदिवाकरसूरि अने तेमना सम्मतिग्रंथने तेमना पछीना थयेला तत्त्व-गवेषक ग्रंथकारोए परस्पर सयुक्त रीते स्तवेल छे

विक्रमनी आठमी शताब्दिथी सम्मति दर्शनप्रभावक ग्रंथ छे.

शास्त्रोमा ठेर ठेर जणाव्यु छे के मुनिए निर्दोष आहार व्होरवो छतां पण दर्शनप्रभावक शास्त्रोना अभ्यासी मुनिने तेवो निर्दोष आहार व्होरवानो योग न मळे तो अनेषणीय आहार व्होरीने पण दर्शनप्रभावकशास्त्रोनु अध्ययन करवु आ वात निशीथभाष्यमां

'दसणपभावगाण सत्थाणठाते सेवतिजाउ'

कही जणावेल छे विक्रमनी आठमी शताब्दिमा थयेल जिनदासगणिए नदीसूत्र उपर चूर्णि रची छे, आ चूर्णिमा पण निशीथभाष्यनी पेठे दर्शनप्रभावकशास्त्रोना अभ्यासीने अकल्पित आहार सेवनमा प्रायश्चित न लागे ते जणाव्यु छे अने तेमा दर्शनप्रभावक शास्त्रो कोने गणवां ते जणाववा सिद्धिविनिश्चय अने सम्मतिप्रकरणनो तेमणे उल्लेख कर्यो छे

दसणणाणप्पभावगाणि सत्थाणि सिद्धिविणिच्छियसमतिमादि गेण्हंतो असथरमाणे ज अकप्पिअ पडिसेवति जयणाते तत्थ सो सुद्धो अप्रायच्छित्ती भवतीत्यर्थ'

(निशीथचूर्णी)

'कारणवश जो यतनाथी सिद्धिविनिश्चय सम्मति वगेरे दर्शनप्रभावक शास्त्रोने शीखनार साधु अकल्पित वस्तुनु सेवन करे तो पण ते शुद्धज छे प्रायश्चित्त तेने नथी लागतु'

—आथी ए स्पष्ट छे के विक्रमनी आठमी शताब्दिथी तो सम्मतितर्क ग्रंथ दर्शनप्रभावक शास्त्र तरीके जैनशास्त्रोमां ठेरठेर उल्लेखित करायेल छे

सिद्धसेनदिवाकरसूरिजीवनपरिचय

आ दर्शनप्रभावक सम्मतिप्रकरणना रचयिता सिद्धसेनदिवाकरसूरि क्यारे थया तेमनो जीवनवृत्तात शो हतो ते माटे आपणी पासे बे साधनो छे १ तेमनी कृतिओ अने २ तेमनी पछीना थयेला ग्रंथकारोए करेल साहित्य

सिद्धसेन दिवाकरसूरिना रचित ग्रंथोमां हाल २४ ग्रंथो छे तेमा २१ बत्रीसी अने न्यायावतार कल्याणमंदिर ए २३ सस्कृत कृतिओ छे अने प्राकृतभाषामा रचेल सम्मतिप्रकरण छे. आ चोवीस ग्रंथो पैकी पाचमी अने एकवीशमी बत्रीसीमा [१] प्रात भागमा सिद्धसेन शब्दनो उल्लेख छे बाकीना कोइपण ग्रंथमा सिद्धसेन दिवाकरसूरिनो उल्लेख नथी के तेमना जीवन सबधी बीजी विशिष्ट माहिती नथी

१ इति निरुपमयोगसिद्धसेन प्रबलतमोरिपुनिर्जयेषु वीर " । ५, ३१
महाशान्तिभर्ता महासिद्धसेन । महार्चिघनेशो महानामहेन्द्रो ॥ २१, ३१

बत्रीस बत्रीसीओ तेमणे बनावी हती ते वातनी साक्षि कथावली अने अनेक प्रबंधो पुरे छे, सम्मतिप्रकरण पू आ सिद्धसेन दिवाकरसूरिनो छे ते वात १४४४ ग्रथ प्रणेता हरिभद्रसूरिए 'आयरिय सिद्धसेणेण सम्मइए' कही पचवस्तु १०४८मा निर्देशेल छे. तेथी आ सबंधमा कोई बीजो विवाद नथी

२ सिद्धसेन दिवाकरसूरिना वृत्तान्त सबधी माहिती आपनार ते पछीना ग्रथकारोना करेल साहित्यमां नीचे मुख्य साहित्य छे.

१ प्रभाचद्रसूरिकृतप्रभावकचरित्रगतवृद्धवादि प्रबंध वि सं १३३४		पृष्ठ ८९–१०१
२ भद्रेश्वरसूरिकृतकहावली (लिखित) विक्रमनी अगिआरमी शताब्दि		
३ प्रबधकोश		पृ १५—२१
४ प्रबधचिंतामणि वि स १३६१ (मेरुतुगाचार्यकृत)		पृ १३—१८
५ चतुर्विंशतिप्रबध (राजशेखरसूरिकृत)	,, १४०५	पृ २५—३६
६ शुभशीलगणिकृतविक्रमचरित्र		
७ महोपाध्यायधर्मसागरगणिकृतपट्टावली		

१ पू आ सिद्धसेनदिवाकरसूरि क्यारे थया आ सबधमां आजे जुदा जुदा मतो छे प कल्याणविजयनी प्रबधचिंतामणिनी प्रस्तावनामां पृ आ सिद्धसेनदिवाकरसूरिनो विक्रमनी चोथी अने पाचमी शताब्दि वच्चेनो काळ जणावे छे

२ पडित लालचद भगवानदास तथा मोहनलाल दलीचद भगवान महावीरना निर्वाण पछी ४७० वर्षे विक्रम सवत चाल्यो. अने ते लगभगमा सिद्धसेन दिवाकरसूरि थया तेवी मान्यता धरावे छे

३ मुनि जिनविजय जैन साहित्य सशोधक अक २ मामा सिद्धसेन दिवाकरसूरिने विक्रमनी पाचमी शताब्दिमा मुके छे

४ डॉ सतीशचद्रनो मत इ स ५३३ नी आसपास सिद्धसेन दिवाकरसूरि थया तेवी मान्यता धरावे छे

५ डॉ हर्मन जेकोबी इ ६७७ आसपास पू सिद्धसेन दिवाकरसूरिनो सत्ता समय माने छे.

६ डॉ. पी. एल. वैद्यनो मत इ स. ७०० नी आसपास सिद्धसेन दिवाकरसूरिनो सत्ता समय माने छे

आ सबधमा अमारुं मानवुं एम छे के-आजथी ९००-१००० वर्ष पहेला थयेला ग्रथकारोए जे काळ निर्देश कर्यो होय तेनाथी मात्र विविध अनुमानोना जोरे जुदा जुदा निर्णय उपर आवी कालनी व्यवस्थानी फेरबदली करवी ते व्याजबी नथी आथी अमे तो प्रभावक चरित्र, प्रबंधकोश, प्रबधचिंतामणि, विक्रमचरित्र विगेरे जैन ग्रथो सिद्धसेन दिवाकरसूरिने विक्रमादित्यना समकालीन माने छे अने ते दरेक ग्रथोमा विक्रमादित्यने तेमणे प्रतिबोध कर्यानो उल्लेख छे तेनेज अनुसरवुं व्याजबी मानीए छीए.

आजथी २४७९ वर्ष पूर्वे भगवान महावीरनु निर्वाण अपापापुरीमा थयु. तेज वखते उज्जैनमा चडप्रद्योत मृत्यु पाम्यो चडप्रद्योतनी गादीए पालक आव्यो. आ पालक अने तेना वशजोए ६० वर्ष राज्य कर्यु. त्यारबाद ९४ वर्ष नवनंदोनो अमल चाल्यो अने १५६ वर्ष मौर्यवशीओनो अवतीमा अमल रह्यो. भगवान महावीरना निर्वाण बाद २९३ वर्षे अवतीमा सप्रति महाराजानुं स्वर्गगमन थयुं. त्यारबाद एक वर्ष अराजकता फेलाई पण त्यारपछी १४ वर्ष वीरनिर्वाण ३०८ सुधी मौर्यशासन ज अवति उपर रह्यु. परतु त्यारबाद अराजकता फेलाता सुगवशीय पुष्यमित्रनो अमल शरु थयो. आ अमल वि.नि ३४८ सुधी चाल्यो ते अमल नरम पडता बळमित्र अने भानुमित्रनु ६० वर्ष वीरनिर्वाण ४०० सुधी अवतीमा शासन चाल्यु वीरनिर्वाण ४००मा नरवाहने अवतिनो कबजो लीधो, आ नरवाहने एकधारु वीरनिर्वाण ४४० सुधी राज्यशासन चलाव्यु त्यारपछी त्यांनो राजा दर्पण थयो दर्पणने गर्दभी विद्या साध्य होवाथी ते गर्दभभिल्ल तरीके ओळखायो आ गर्दभभिल्ल तुवरवशनो हतो. विद्या अने सत्ता ए बे एने न पची तेथी ते व्यभिचारी अने मदोन्मत्त थयो तेणे वीना कालकसूरिना व्हेन सरस्वती साध्वीने उपाडी सघे अने कालकसूरिए घणु समजाव्यु छता ते न मान्यो त्यारे शक जातिने लावी वीर नि. ४५३ मा वर्षे गर्दभभिल्लने पद-भ्रष्ट कर्यो गर्दभभिल्ल शळथी मृत्यु पाम्यो अने अवति उपर शकोनो दोर चाल्यो ते व्यवस्थित न चालवाथी मालवगणना सगठनथी शकोने हाकी काढवामा आव्या अने गर्दभभिल्लना पुत्र विक्रमने महानिर्वाण ४५७ मा राज्याधिष्ठित कर्यो. विक्रमे १३ वर्षनो एवो सुदर राज्यदोर चलाव्यो के प्रजा सुख प्रसन्न थइ पृथ्वीने तेणे पू सिद्धसेन दिवाकरसूरिना उपदेशथी अनृणी बनावी आम महावीर निर्वाण बाद ४७० वर्षे विक्रम सवत प्रवर्त्यो

भगवान महावीरनु निर्वाण अने चडप्रद्योतनु मृत्यु	०
पालकना वशजोनो अमल	६०
नवनन्दोनो अमल	९४
मौर्यसत्ता	१५६
पुष्यमित्र	३०
बलमित्र भानुमित्र	६०

नरवाहन	४०
गर्दभमिल्ल	१३
शक	४
विक्रमनो राज्य अमल	१३
	वि. ४७०

आ रीते विक्रम संवतनी शरुआत महावीरनिर्वाण ४७० वर्षे थइ आ विक्रमना राज्य काळमा सिद्धसेन दिवाकरसूरि हता एटले तेमनो काळ विक्रमनी प्रथम शताब्दि एज महावीर निर्वाण पाचमी शताब्दि ज व्याजबी लागे छे आ सिद्धसेन दिवाकरसूरिना जीवन परिचय माटे जुदा जुदा प्रबन्धो छे, तेमा तेमनो परिचय आ प्रमाणे आप्यो छे

सिद्धसेन दिवाकरसूरि परिचय

विद्याधरगच्छीय स्कंदिलसूरि गौडदेशमा पधार्या त्या कोशलनो मुकुंद नामनो ब्राह्मण आव्यो तेणे 'भोगे रोगभय, सुखे क्षयभयं'नु पद्य सूरिना मुखथी साभळ्यु अने तेने वैराग्य थयो तेणे स्कंदिलसूरि पासे दीक्षा लीधी दीक्षा वखते तनी उम्मर वृद्ध हती तेणे उनाळे गाथा गोखवा माडी लोको कंटाळ्या अने कह्यु घरडे घडपणे कांइ महाराज! आवडे? मुकुंदे (यक्षमन्दिर) नामना चैत्यमा एकवीश उपवास कर्या अने सरस्वती सिद्ध करी. मुकुंद जने दीक्षमे वृद्धवादीश्वरि तरीके जैन जगत्मा प्रसिद्ध थया

विक्रमे राज्य उपर आरूढ थया बाद तेणे सारा सारा विद्वानो पोतानी सभामा राख्या हता कालीदास कवि अने सिद्धसेन जेवा महाकविओ तेनी सभामा हता आ सिद्धसेन कात्यायन गोत्रीय हतो तेना पितानु नाम देवर्षि अने मातानु नाम देवश्री हतु तेमने एक बेन हती तेमनु नाम सिद्धश्री हतु आ सिद्धसेन वैदिक धर्मनो उपासक हतो वादविद्यानो शोखीन हतो. कोइपण विद्वाननु नाम साभळे तो तेनी साथे ते चर्चा करतो अने तेने नमावतो

एक वखत वृद्धवादी महाविद्वान् आचार्य छे एवु तेणे परापरथी साभळ्यु, सिद्धसेन तेमने मळवा उपडयो, भृगुपुर[1] आवता रस्तामा ते वृद्धवादीने मळ्यो अने तेणे कह्यु 'हु तमारी साथे वाद करवा इच्छु छु'

सूरिए कह्यु जगलमा आपणा वादना खरा खोटानो निर्णय कोण करशे? सामे ढोरो चारता गोवाळोने सिद्धसेने बोलाव्या अने तेमने मध्यस्थ राखी जगलमा वाद आरंभ्यो. सिद्धसेने सस्कृतमां घणी घणी दलीलो करी. समयज्ञ वृद्धवादीए

'नवी मारीयइ नवी चोरीयइ परदारगमण निवारियइ' कही ताळीओ पाडतो रास आरम्भ्यो गोवाळीयाओ पण ताळीओ पाडता रासमा जोडाया अने बोल्या. महाराज! तमे जीत्या आ स्थळे पाळथी तेनी यादगिरि माटे ताळरास गाम वस्यु

१ हिमवंत थेरावली

वृद्धवादी भरुच आव्या राजसभामा सिद्धसेन साथे विद्वानोनी मध्यस्थतामां वाद आरंभायो त्या पण सिद्धसेन हार्या एकवचनी सिद्धसेन वृद्धवादीना शिष्य थया. अने त्या तेमनु नाम कुमुदचद्र पाडयु. विद्वान् कुमुदचद्र थोडान वखतमा जैनशैलिना अने जैनशास्त्रोना पारगामी थया गुरुए तेमने आचार्यपदे स्थाप्या अने फरी तेमनु नाम सिद्धसेन स्थाप्यु आ पछी सिद्धसेनसूरि परिवार सह विहरवा लाग्या

एकवार सिद्धसेन दिवाकरसूरि अवतीमा पधार्या॰ विक्रमादित्ये उत्सवपूर्वक पधारता सूरिनी परीक्षा करवा मनमां नमस्कार कर्यो, पण हाथ जोडया विना ते सामे आवी उभो॰ गुरुए धर्मलाभ उचार्यो विक्रम राजा बोल्यो ' महाराज ! विना नमस्कारे धर्मलाभ

सूरिए कह्युं 'धर्मलाभ रत्न करता अधिक छे अर्थीनेज ते अपाय छे तमे मनथी वदना करी तेथीज तमने धर्मलाभ आप्यो छे '

राजा आश्चर्य पाम्यो अने तेणे गुरुने क्रोड सोना महोर आपवा माडी

[धर्मलाभ इति प्रोक्ते दुरादुद्धृतपाणये ।

सूरये सिद्धसेनाय ददौ कोटिं नराधिपः॥]

परतु कचनकामिनीना त्यागी गुरुए न लीधी राजाए आपेलु दान पाछु न लेवाय तेम कही ते धन तेणे जिर्णोद्धारमा खर्च्युं

एक वखत सिद्धसेन दिवाकरसूरि चित्तोड तरफ विचरता हता त्या एक थाभलो जोयो आ थाभलो नहोतो पाषाणनो, नहोतो लाकडानो के नहोतो माटीनो सूरिए बारीकाइथी जोयु तो ते कोइ लेपथी बनावेलो लाग्यो सूरिजीए बुद्धिबळथी तेनी वनस्पतिओ पारखी अने विरुद्ध औषधिओ द्वारा काणुं पडाव्यु तो ते थाभलाना पोलाणमा सुदर हस्तलिखित प्रतोनो सारो समूह देखायो आचार्य महाराजे एक प्रत हाथमा लीधी थोडु वाच्यु त्या प्रत अदृश्यपणे शुटनाइ गइ अने थाभलानु छिद्र पुराइ गयु सूरि विचारमा पडया अने मान्यु के दैवीमकेत आमां आगळ वधवानी ना पाडे छे पण तेमणे थोडु वाच्यु तेमा तेमने सुवर्णसिद्धि अने सर्षपमांथी सैन्य बनाववानी ए बे विद्या याद रही गइ

सूरिमहाराजे चित्तोडथी विहार आगळ आरभ्यो अने ते कुमारपुर नगरमां पधार्या॰ त्याना राजा देवपाळे सुदर सामैयु कर्युं राजा परम गुरुभक्त बन्यो एक वखत कामरु देशना राजा विजयवर्माए कुमारपुरने घेरी लीधु देवपाळ पासे धान्य सपत्ति अने लश्कर खुटयुं क्यारे कुमारपुर पडशे तेनो भरोसो न रह्यो एटले आंसु साथे राजा सूरिमहाराजने पगे लागीने कहेवा लाग्यो 'महाराज ! तीडोना टोळा जेवु शत्रु सैन्य मारा नगरनो नाश करशे तेम लागे छे शत्रुने पहोंची शकु तेम नथी ' गुरुए आश्वासन आप्यु अने सुवर्णसिद्धिथी द्रव्य अने सर्षपविद्याथी सैन्य सर्जी विजयवर्माने तेने देशे पाछो मोकल्यो.

आथी देवपाल गुरुने परम उपकारी मानवा लाग्यो ते बोल्यो 'नाथ ! आप खरेखर दिवाकरतुल्य छो मारो शत्रुभयनो अंधकार तमे खरे अवसरे दुर कर्यो छे आ पछी देवपाळे सिद्धसेन सूरिने दिवाकरपदथी नवाज्या अने सिद्धसेनसूरि सिद्धसेनदिवाकरसूरि तरीके त्यारबाद प्रसिद्धि पाम्या

राज्यना अति ससर्गे जते दिवसे सिद्धसेनसूरि धर्मगुरुने बदले राजगुरुना ठाठथी रहेवा लाग्या. तेपालखीमां बेसी रोज राज्यसभाए जाय अने पालखीमा बेसी आवे आ वात तेमना गुरुमहाराज वृद्धवादिए साभळी त्यारे तेमने घणु दु:ख थयु 'शासननी प्रभावना करे तेवो विद्वान् आम शासननी अपभ्राजनामा केम पडी जाय छे?' ए विचारे वृद्धवादिसूरि गच्छथी जुदा पड्या अने कुर्मारपुर आव्या. सुखासन उपाडवाना समये भोइनो जग्याए कावळी ओढी पोते गोठवाई गया. पण भोई जुवान हता एटले सडसडाट चालता वृद्धवादि वृद्ध होवाथी कंपता हता आथी पालखी घडीक नीची उची थवा लागी एटले अदर बेठेल सिद्धसेन अकळाया अने बोल्या

'भूरिभारभराक्रान्त स्कध' किं तव बाधति ?'

' हे वृद्ध घणो भार उचकवाथी शु तारो खभो दु खे छे ?'

वृद्धवादिए आ वचन साभळी विचार्यु के सस्कृतनो समर्थ विद्वान् एशआराममा केवो उपयोग शून्य बन्यो छे 'बाधते' प्रयोगने बदले बाधति बोले छे तेमणे कंपता अवाजे कह्यु,

'न तथा बाधते स्कंधः यथा बाधति बाधते'

(तमारा जेवा समर्थ विद्वान् बाधते ने बदले बाधति प्रयोग उचारे छे तेथी मने जेटलु दुःख थाय छे तेटलु दु ख खभा उपरना भारथी थतुं नथी)

सिद्धसेन चमक्या, उपयोग शून्यता माटे तेमने शरम उपजी सुखासनमाथी हठे उतर्या अने वृद्ध सामे नजर नाखी तो गुरुमहाराजने जोया सिद्धसेन शरमाया गुरु पासे तेणे प्रायश्चित्त लीधु अने तपत्यागमा जोडाया गुरु थोडा वरस बाद स्वर्गे सचर्या गच्छना नायक सिद्धसेन शासन प्रभावना करता पृथ्वी पावन करवा लाग्या. [वृद्धवादीसूरिए सिद्धसेनदिवाकरने पालखी उपाडी 'भूरिभारभराक्रान्त' पद कही प्रतिबोध कर्यो तेनो उल्लेख उपदेशप्रासाद विगेरेमा छे]

प्रभावकचरित्र विगेरेमा तो आ सबधमा आ प्रमाणे लख्यु छे

"वृद्धवादीसूरिए साभळ्यु के सिद्धसेन राजभक्तिना मोहमा पडी पालखी तथा हाथी विगेरे वाहनो उपर सवार थइ राजमदिरे जाय आवे छे तेथी तेमने समजाववा गुरुमहाराज कुर्मारपुर नगरे गया

सिद्धसेन राजमार्ग उपर पालखीए बेसी जवानो तैयारी करे छे अने लोको तेनी बिरुदावली पोकारे छे ते वखते वृद्धवादीसूरिए कह्यु

'विद्वान् ! मारी एक शका दूर न करो ?' एम कही नीचेनु पद्य

' अणफुल्ली फुल्ल म तोडहु मन आरामा म मोडहु
मणकुसुमेहिं अचि निरंजणु हिंडह काइ वणेण वणु ॥२॥ '

कह्यु. सिद्धसेने पद्यने समजवा खुब प्रयत्न कर्यो पण ए अपभ्रंश पद्यनो अर्थ तेमने न समजायो त्यारे आडो उत्तर आपी कह्यु के 'तमे बीजुं काइ पुछो' पण वृद्धवादिए कह्यु के 'एनेज फरी विचारो अने जवाब आपो ' सिद्धसेने अनादरथी ए पद्यनो असबद्ध जेवो तेवो खुलासो कर्यो पण ते खुलासो गुरुए कबुल न राख्यो त्यारे सिद्धसेने कह्यु तमेज तेनो अर्थ करी बतावो वृद्धवादिए कह्यु आ पद्य एम कहे छे के—

जीवनरुप नानकडा कोमळ फुलवाळा मानवदेहना जीवनाशरुपी फुलोने तमे राजसत्कार अने अभिमानथी न तोडो, मनना यम नियम आदि बगीचाओने भोगविलासद्वारा न भागो मनना सद्गुणोरूप पुष्पो वडे निरजन जिनेश्वरदेवनी पूजा करो एक वनथी बीजे वन शा माटे भटको छो

(बीजो अर्थ)

अथवा अणु एटले अल्प धान्य, ते अल्प त्रिपयपणाथी मानवदेहना पुष्पो समजवा. ते अल्प पुष्पी नरदेहना शीलांग महाव्रत रुप पुष्पोनो विनाश कर नहि मनरुप आरामने मरडी नाख, एटले चित्तना विकल्पजाळनो सहार कर तथा मुक्तिपदने प्राप्त थयेला निरजन वीतराग देवनी पुष्पोथी अर्चा न कर. अर्थात् गृहस्थने उचित छकाय जीवनी विराधना रुप देवपूजामा प्रयत्न न कर कारण के ते सावद्य छे कीर्त्तिनी कामनाथी ससार रुप अरण्यमा शा माटे भ्रमण करे छे, अर्थात् मिथ्यात्वादने तजी जिनेश्वरे कहेल सत्यमा आदर कर ए बीजो अर्थ बताव्यो

(त्रीजो अर्थ)

अथवा तो कीर्त्तिना स्याद्वाद वचन रुप पुष्पोने तोड नहि तथा मनना अध्यात्मोपदेश रुप आरामने तोडी न नाख, अर्थात् खोटी व्याख्याथी तेनो विनाश न कर वळी रागादि लेपरहित निरंजन मननी, सुगधि अने शीतळ सदुपदेश रुप पुष्पोथी पूजा कर. अर्थात् मनने श्लाघ्य बनाव तथा ससार रुप अरण्यना स्वामी परम सुखी होवाथी ते तीर्थंकर छे, तेमना शब्द–सिद्धात सूत्रमा भ्रांति शा माटे लावे छे ? कारण के तेज सत्य छे. माटे तेमाज प्रेम–भावना राखवी जोइए ए त्रीजो अर्थ बताव्यो

आ सांभळी सिद्धसेननु मगज विचारे चड्यु खरेखर आ पक्तिओ मारे माटेज घटे छे वृद्ध सामे धारीने जोयुं तो तेने ते वृद्ध बीजा कोइ नहि पण पोताना गुरु वृद्धवादीज लाग्या ते गुरुने नमी पडया अने कह्यु के 'में आपनी अवज्ञा करी तेनी क्षमा आपो. गुरुए कह्यु दुनीयाना

बीजा माणसो तो भूले पण तमारा जेवा महा विद्वान पण भूले तो बीजानी शी वात करवी ! तमे संतोषथी सद्ध्याननें पुष्ट करी मारा आपेला शास्त्रवचनने पचावो थाभलामाथी प्राप्त थयेल पुस्तक शासनदवीए हरी लीधु ए योग्यज थयु कारण के अत्यारे तेने पचावनार योग्य त्यागी ओ क्या छे ? गुरुनो आ उपदश सामळी सिद्धसेने कह्यु ' हे प्रभो ! जो भूलथी शिष्यो आडे रस्ते न जाय तो प्रायश्चित्त विधायक शास्त्र शा काममा आवे ? माटे हवे तमे प्रायश्चित्त वडे मने शुद्ध करो' गुरुए घटतुं प्रायश्चित्त आपी छेवटे तेमने पोताने आसने वेसाडया अने गुरु स्वर्गे सिधाव्या

संस्कृत भाषाना प्रकाण्ड विद्वान् सिद्धसेनने एक वखत एवो विचार आव्यो के 'नमो अरिहंताणं,' विगेरे सूत्रोने सुदर संस्कृत भाषामा वनाव्यां होय तो केवुं सारु ? श्रमणसंघना वृद्धस्थविरो चौंकी उठया अने बोल्या 'बाल, स्त्री अने मन्दना माटे आ सिद्धात आपणा पूर्वगणधर-भगवतोए प्राकृतमा गुथ्यों छे तेना उपर अनादरनो विचार केम कराय ? आ चिंतवन भयकर पापरुप छे आ पापनी शुद्धि माटे, शास्त्र पाराचिक प्रायश्चित्त कहे छे ' सिद्धसेनदिवाकरसूरिने पोतानी उतावळनु भान आव्यु तेमणे पाराचिक प्रायश्चित्त स्वीकारी गच्छ छोडयो. सात वर्ष छुपा वेशे चारित्र पाळ्यु अने त्यारबाद तेओ शासनप्रभावना करवा अवति तरफ चाल्या

अवतिना सीमाडामा ते वखते कुडंगेश्वरनु भव्य मंदिर हतु ते मंदिर यात्रानु धाम हतु पूजारी अने भक्तवर्ग आवे ते पहेला तो अवधूत जेवा वेशवाळा सिद्धसेन लिंग समक्ष पग करी बेठा पूजारीओए उठाडवा घणो प्रयत्न कर्यो पण ज्यारे ते अवधूत न उठयो एटले राजा आव्यो अने तेणे कह्यु 'अवधूत ' महादेवनी अवगणना न होय, तेने तो नमस्कार, होय सिद्धसेन बोल्या 'हुं नमस्कार करीश. पण आ देव मारा नमस्कार नही सहन करी शके ?'

राजाए कह्यु ' एम ते होय ? करोने नमस्कार ?'

सिद्धसेने कल्याणमंदिरनु स्तोत्र आरम्भ्युं पृथ्वी कंपवा लागी धूमाडाना गोटेगोटा नीकळवा लाग्या प्रेक्षकोने लाग्यु के अदरथी अग्नि नीकळशे अने अवधूतने भरखी खाशे देवनी. आशातना नुकशान कर्या विना थोडी रहे ? त्या तो तेरमो श्लोक बोलता लिंग फाटयु अने तेमाथी पार्श्वनाथभगवाननी प्रतिमा प्रगटी

राजा आश्चर्य पाम्यो अने पूछ्यु के 'आ बधु शु ?' त्यारे सिद्धसेन दिवाकरसूरिए राजाने अवति सुकुमाळनुं बधुं वृत्तान्त कह्यो अवतिपार्श्वनाथनो इतिहास समजाव्यो. विक्रम सिद्धसेनदिवाकरनो भक्त बन्यो अने तेणे मो गाम मदिरना निभाव माटे आप्या श्रमणसंघ सिद्धसेनदिवाकरसूरिना आ शासन प्रभावनाथी प्रसन्न थयो अने तेणे तेमने गच्छनायक तरीके पूर्वनी पेठे स्थाप्या सूरिए आम प्रायश्चित्त पुरु कर्यु

एक समये सिद्धसेन फरी वर्षो बाद अवंति आव्या अने पहेरेगीरने

दिदृक्षुर्भिक्षुरायातो वारितो द्वारि तिष्ठति ।
हस्तन्यस्तचतुःश्लोकः किमागच्छतु गच्छतु ॥१२४॥

'हाथमा चार श्लोको लइ एक भिक्षु तमारा दर्शननी इच्छाथी आवेलो छे अने दरवानोए रोकवाथी दरवाजा उपर उभो छे, कहो के ते आवे अगर जाय ?

राजाए सिद्धसेनदिवाकरने पोतानी पासे बोलाव्या अने तेणे तेमना चार श्लोको साभळ्या.

" अपूर्वेयं धनुर्विद्या भवता शिक्षिता कुतः
मार्गणौघः समभ्येति गुणो याति दिगन्तरम् " ॥ १ ॥
" अमी पानकुरंकाभाः सप्तापि जलराशयः ।
यद्यशोराजहंसस्य पञ्जरं भुवनत्रयम् " ॥ २ ॥
" सर्वदा सर्वदोऽसीति मिथ्या संस्तूयसे बुधैः ।
नारयो लेभिरे पृष्ठं न वक्षः परयोषितः " ॥ ३ ॥
" भयमेकमनेकेभ्यः शत्रुभ्यो विधिवत्सदा ।
ददासि तच्च ते नास्ति राजश्चित्रमिदं महत्" ॥ ४ ॥

"हे राजन् ! आ अपूर्व धनुर्विद्या तु क्याथी शीख्यो के जेमा मार्गण (बाण के याचक) समूह पासे आवे छे अने गुण (धनुष्यनी दोरी अथवा यश) दूर दिगंत सुधी जाय छे १

आ साते समुद्रो जळपान करवामा कुरक जेवा छे तेथी जेना यशरुप राजहसने त्रणे भुवन पाजरा तुल्य छे, अर्थात् त्रणे भुवनमा जेनो यश गवाई रह्यो छे २

हे राजन् ! तु सर्वदा सर्व इच्छितने आपनार छे, एम पडितजनो जे तारी स्तुति करे छे, ते मिथ्या छे, कारण के शत्रुओने तें पीठ नथी आपी अने पररमणीओने वक्षस्थळ नथी आप्युं. ३

हे राजन् ! अनेक शत्रुओने सदा कायदा प्रमाणे तुं एक भय ज आपे छे, छता ते तारी पासे उपस्थित नथी, आ एक मोटा आश्चर्यनी वात छे अर्थात् तुं सदा निर्भय छे ४'

आ सामळी राजाए चार हाथी चार देश विगेरे घणुं घणु आपवा माडयुं पण तेमानुं काइ गुरुए न लीधु अने कह्यु मात्र एटलु के ॐकारनगरमां चार द्वारवाळो सुंदर जैनप्रासाद बधावो. विक्रमादित्ये ते नगरमां सुदर जैनप्रासाद बधाव्यो अने तेनी प्रतिष्ठा सिद्धसेनदिवाकरसूरि द्वारा करावी तेमनो ते परम भक्त बन्यो.

आ पछी सिद्धसेन भरुच गया. आ वखते भरुचमा बलमित्रनो पुत्र धनजय राज्य करतो हतो तेणे सुदर सामैयु कर्युं दैवयोगे भरुचने शत्रुओए घेरी लीधु बलमित्र मुझायो. ते विद्यासिद्ध

अने शक्तिसंपन्न सिद्धसेनसूरिने शरणे गयो. तेमणे सर्षपविद्याथी सैन्य सर्जी तेने बचावी लीधो बलमित्रे त्यारे कह्यु 'भगवंत खरेखर आप सिद्धसेन ते सिद्धसेनज छो'

विक्रमादित्ये सिद्धसेनदिवाकरसूरि पासे शत्रुंजयनु माहात्म्य सांभळ्यु अने भव्य सघयात्रा काढी आदीश्वरभगवतने भेटी शत्रुंजयनो उद्धार कर्यो हतो. आ संघ केवो भव्य हतो अने तेमा केटलु साजन हतु तेनु वर्णन आजे पण पर्युषणमाहात्म्यमां वचाय छे. यादगार सघयात्रा पैकीनी सघयात्रामा आ विक्रमराजानी सघयात्रा मुख्य गणाय छे

आ प्रमाणे प्रभावना करता सिद्धसेन दिवाकरसूरि प्रतिष्ठानपुर गया सूरिए योग्य शिष्यने गच्छनो भार सोंप्यो अने पोते अणसण करी स्वर्गगामी बन्या

थोडा वखत बाद एक चारण विशाळा नगरीमा आव्यो अने सिद्धसेन दिवाकरना व्हेन सिद्धश्री साध्वी हता तेमनी आगळ बोल्यो

स्फुरन्ति वादिखद्योता' साम्प्रतं दक्षिणापथे ।

'हाल दक्षिण देशमां वादिओ चमकी रह्या छे'

साध्वी बोली उठया 'सिद्धसेन दिवाकर होय त्या वादिओ चमके एम बने केम ? तेमणे ते श्लोकनु उत्तरार्ध उच्चार्यु

नूनमस्तगतो वादी सिद्धसेन. दिवाकर

'वादी सिद्धसेन जरुर स्वर्गगामी थया होवा जोइए'

आ पछी सिद्धश्री साध्वी पण अणशण करी स्वर्गगामी बन्यां

प्रबन्धचितामणि प्रबन्धकोश विक्रमचरित्र विगेरेमा सिद्धसेन दिवाकरसूरिना जीवनचरित्र संबंधमा केटलाक तफावत जरुर छे पण प्रसगोनी साम्यता तो जरुर छे

केटलाक ग्रथमा वृद्धवादिसूरिसाथेनो वादविवाद, 'नमोर्हत् सिद्धाचार्योपाध्याय सर्वसाधुभ्यः नी माफक सर्वसूत्रोने सस्कृतमा उतारवानी इच्छा, विक्रमराजाना महाकाळ मदिरमाथी प्रगट थयेल अवंतिपार्श्वनाथना मदिरनो इतिहास, देवपाळ राजानो प्रसग, विक्रमनु धन विगेरे प्रसगोने विस्तृत रीते निरूपवामा आव्या छे. अने कोईकमा सक्षिप्त रीते सग्रहित करवामा आव्या छे केटलेक स्थळे प्रसंगोना क्रममा फेरफार छे परतु विगत अने प्रसगोने अनुसरी बधे साम्यता छे

आचार्य सिद्धसेन दिवाकरसूरिनु चरित्र प्रभावक चरित्र विगेरे ग्रथोमा आपवामा आव्यु छे त्यां चरित्रकारे जणाव्यु छे के आ चरित्र अमे पूर्वपुरुषो पासेथी सांभळीने, प्राचीन ग्रथो जोइने अने प्राचीन प्रशस्ति अने शिलालेखो उपरथी तारवीने आप्यु छे. आम आजथी ८०० वर्ष पहेलाना आचार्य प्रभाचद्रसूरिए तैयार करेल तेमना चरित्रनेज आपणे सागोपाग मानवु जोइए.

जैन परंपरामा केवळज्ञान अने केवळदर्शनमा उपयोग क्रमिक मनातो हतो आनु समर्थन विशेषावश्यकभाष्य विगेरे ग्रंथोमा जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण विगेरे पूज्य आचार्यो ए कर्यु छे आ समर्थनमा पण तेमणे आगम ग्रंथोनाज हवाला आप्या छे सिद्धसेन दिवाकरसूरिए आ क्रमिकवादनुं निरसन करि अभेदनु समर्थन कर्युं छे. छता प्राचीन परपराथी जुदी वस्तु कहेवाथी तेमनी प्रत्ये केटलोक अणगमो जाग्यो परतु तेमना ग्रथथी जैनशासनना सर्वस्वरूप स्याद्वाद झळक्यो अने ते प्रतिष्ठावत थता स्वयमेव सिद्धसेनसूरि प्राचीन वस्तुथी जुदी वस्तुने रजु करनार होवा छता प्रभावक मनाया आथीज पाछळना विद्वान् ग्रथकारोए आ वादना खराखोटापणानो निर्णय न करता सिद्धसेनदिवाकरसूरि अने जिनभद्रगणि भगवंत बनेने समर्थ कही तेमना बन्ने प्रत्ये पूज्यता बतावी 'तत्त्व केवलिगम्य' कही समेटी छे.

आम आ सिद्धसेनदिवाकरसूरि आशासनप्रभावक महापुरुष छे तेमनी पछी थयेला जैनशासनना एकेएक ग्रंथकार अने एकेएक महात्माओए तेमना जैनशासन उपरना नि.सीम उपकारने स्तव्यो छे. जैनशासनना आतरतत्त्व स्याद्वादने तेमणे जगतना चोकमा अकाटय तरीके पुरवार करी बतावेल छे अने जैनतर्कशास्त्रना प्रस्थापक तरीके तेओ सर्वदा माटे आलेखायेला छे न्यायावतार सन्मतितर्क कल्याणमदिर अने एकवीस बत्रीसीओ एम ३४ ग्रथो आजे तेमना विद्यमान छे

न्यायावतार छे तो ३२ श्लोकप्रमाण पण सिद्धसेन दिवाकरसूरिए ३२ श्लोकमा समग्र न्यायशास्त्र उतार्युं छे तेना उपर सिद्धर्षिनी २०७३ श्लोक प्रमाण टीका अने भद्रसूरिकृत १०५१ श्लोक प्रमाण टिप्पण छे.

आ सन्मतिप्रकरण ग्रंथ १६७ गाथा प्रमाण छे पण १६७ गाथामा समग्र तत्त्ववाद भर्यो छे. आना उपर अभयदेवसूरिकृत तत्त्वबोधविधायिनी वादमहार्णवनामनी बृहट्टीका २५००० श्लोक प्रमाण छे आ टीकामा अभयदेवसूरि सुधीना समग्र वादविवादोनी विचारणा करवामा आवी छे अने स्याद्वाददृष्टिथी तमाम वस्तुने सगत करवामा आवी छे, आ सन्मति प्रकरण उपर मल्लवादीनी पण टीका हती. पण ते आजे उपलब्ध नथी सन्मतिप्रकरण नय, ज्ञान अने ज्ञेयनी विचारणा करनार त्रण काडथी विभक्त छे आना सबधी विशिष्ट माहिती आ ग्रथना रहस्यार्थमा वाचकोने आपवामा आवी छे एटले अहि तेनु विशेष वर्णन करता नथी.

कल्याणमदिर स्तोत्र ए आ ग्रथकारनुं बनावेल अद्भूत स्तोत्र छे 'अनुसिद्धसेन कवयः'नी उपमा कलिकाळसर्वज्ञ हेमचद्रसूरि सिद्धसेन दिवाकरसूरिने आपवा प्रेराया होय तो ते आ स्तोत्रने लईनेज लागे छे आ स्तोत्र पार्श्वनाथ भगवाननी स्तुतिरूपे छे पण तेमा महाकविनी प्रतिभा पदेपदमा झळक्या विना रही नथी.

आ स्तोत्र अनेक जातना अलकारो अने पदना लालित्यथी एटलु बधुं सरस शोभे छे के कोईपण प्रसिद्ध काव्यग्रंथोथी ते हुन चढे तेवु छे

२१ द्वात्रिंशिकाओ आजे उपलब्ध छे. आ द्वात्रिंशिकाओमा अनुष्टुभ्, उपजाति, वसंत तिलका, पृथ्वी, शिखरिणी, मंदाक्रान्ता, पुष्पिताग्रा, वंशस्थ, आर्या अने शालिनी विगेरे विविध छंदोमा रचायेली छे आ द्वात्रिंशिकाओमा वैदिक, बौद्ध अने जैनदर्शनना दार्शनिक विचारोनु निरुपण छे.

आ समतिप्रकरण उपर 'अनुमल्लवादिन तार्किका.' कही कलिकाल सर्वज्ञ हेमचद्रसूरिए जेने स्तव्या छे ते मल्लवादिसूरिए आ ग्रथ उपर टीका रची हती तेम १४४४ ग्रंथप्रणेता हरिभद्र-सूरि अने उपाध्याय यशोविजयजीनी अष्टसहस्रीना लखाणथी जणाय छे

'उक्तं च वादिमुख्येन श्रीमल्लवादिना सम्मतौ' (हरिभद्रसूरि)
'इहार्थे कोटिश' भगा निर्दिष्टा मल्लवादिना
मूलसमतिटीकायामिद दिङ्मात्रदर्शनम् (अष्टसहस्री उ यशोविजय)

जैनदर्शननी दिगंत प्रभावना करनार आ महापुरुषनो एके सागोपाग ग्रथ आजे मळतो नथी हाल द्वादशार नयचक्र तेमनो बनावेलो ग्रथ मुद्रित थाय छे ते मुद्रित थता तेमना जीवन उपर सारो प्रकाश मळशे

मल्लवादिए बौद्धो उपर विजय मेळव्यो हतो अने तेनो समय वि. स ४१४ नो मनाय छे. समति प्रकरण उपर तेमनी लखेली टीका केटला प्रमाण हती अने केवी हती तेनु विशेष समर्थन मळतु नथी पण बृहट्टीप्पणकारे ते टीका ७०० श्लोक प्रमाण हती तेवुं उल्लेखित कर्युं छे.

सन्मति प्रकरण उपर हाल उपलब्ध थाय छे ते अभयदेवसूरिनी २५००० श्लोक प्रमाण तत्त्वबोधिनी वृत्ति छे. १६७ गाथाना सन्मति प्रकरणग्रथने महाकाय महान ग्रथ बनाववामां अने भारतीय तमाम दर्शनशास्त्रनी सपूर्ण गवेषणा करनार ग्रंथ तरीकेनु बहुमान संमतितर्कने मळयु छे जे अभयदेवसूरिनी वृत्तिने लइने छे. सिद्धसेनदिवाकरसूरिए अनेकातदृष्टिनो परामर्श अने इतरदर्शनोनी अनेकातदृष्टिमा व्यवस्थित सकलना करी छे, पण आ टीकाकारे तो पोताना. काळसुधीना भारतीयदर्शनोना समग्र वादोनु निरुपण करी जैनदृष्टिए अनेकातदृष्टिए तेने विचार्या छे आ अभयदेवसूरि विक्रमनी अगिआरमी शताब्दिना पूर्वार्धमा थया छे केमके उत्तराध्ययननी पाइय टीकाकर्ता वादिवेताल शातिसूरिए प्रमाणशास्त्रना गुरु तरीके अभयदेवसूरिने जणाव्या छे आ शांतिसूरिनो स्वर्गवास वि स १०९६ मा थयानु प्रभावकचरित्रकार जणावे छे तेथी वि सं. १०५० लगभग अभयदेवसूरि थया तेम चोक्कस थाय छे.

आ समति प्रकरण ग्रथ उपर विद्यमान जो कोई टीका होय तो २५००० श्लोक प्रमाण एक ज तत्त्वबोधिनी टीका छे तेना उपर लघु के, मध्यम बीजी कोई टीका न होवाथी आ ग्रथनु वाचन करवानी हिंमत न्यायशास्त्रना सारा अभ्यासी सिवाय भाग्येज बीजो कोइ सामान्य विद्वान् धरी शके छे आ ग्रथ उपर कोइ सरळ मध्यम टीका थाय तेवी परमपूज्य शासनसम्राट् आचार्यदेव विजयनेमिसूरीश्वरजी महाराजजीनी इच्छा हती अने ते करवानी आज्ञा तेमना भव्य न्यायना प्रकाण्ड अभ्यासी पू आ विजयदर्शनसूरिजीने करी के संमतितर्क उपर मध्यमवृत्ति रचो के जेथी सेंकडो अभ्यासीने उपकार थाय. अने हमेशनी त्रुटि पुरी थाय

पूज्यपादश्री गुरुमजी आज्ञाने शिरमान्य करी दर्शनसूरि महाराजे समतिप्रकरणनी पू आ अभयदेवसूरिनी टीकानो माथत मनन पूर्वक अभ्यास करी तथा तेना उपयोगी अनेक ग्रंथोनो अभ्यास करी टीका बनावी आमां तेओश्रीए मूळकारना आशयने अने बृहत्टीकाकारना विवरणने पूर्ण न्याय आप ते रीते संक्षिप्त विवरण करी आ महाप्रभावक ग्रथने सुलभ बनाववा प्रयत्न कर्यो छे अने तेने ज लइने अभयदेवसूरिनी तत्त्वबोधिनी टीका वादमहार्णव नामधारक छे तेमां आ टीका अवतारिका समान होइ तेमणे टीकानु सन्मतिमहार्णवावतारिका राखेल छे. जे टीकाने मांते आपली प्रशस्तिमा वाचोपकारिणी शब्द ख्याल आपे छे सन्मति प्रकरण माटेनी आवश्यक वृत्ति पुरी पाडी पू आ दर्शनसूरि महाराजे जैनसमाज उपर महान उपकार कर्यो छे.

सन्मतितर्क महार्णवावतारिकाकारना गुरुदेव

आ टीकाना रचयिता पू आ दर्शनसूरीश्वरजी महाराज छे. तेओश्रीनो अल्पपरिचय पण तेमना गुरु अने सकल जैनशासनना शिरताज आचार्यदेव विजय नेमिसूरीश्वरजी महाराज साहेबना परिचय विना अपूर्ण ज रहे तेम छे

नेमिसूरियुग

तपागच्छनी परपरामां पूज्य आचार्यदेव विजयनेमिसूरीश्वरजी महाराज ७४ मी पाटे आवे छे

पूर्वकाळमां हरिभद्रयुग, हेमयुग विगेरे अमुक समयने ते ते काळना प्रभाविक पुरुषना नामथी साहित्यकारोए अने इतिहासकारोए ते काळनी समग्र प्रवृत्ति उपर ते प्रभावक पुरुषनो प्रभाव होवाथी ते काळने ते ते महापुरुषना युग तरीके ओळख्यो छे तेम वर्तमानमां पण

वि. स १९६४ पछीथी आजसुधीनो काळ विजयनेमिसूरियुग कहीए ता वांधा जेवु नथी

पू. आ विजयहीरसूरीश्वरजी महाराज, पूज्य आचार्य विजयसेनसूरीश्वरजी महाराज, पू. आचार्य विजयदेवसूरीश्वरजी महाराज अने पू. आचार्य विजयसिंहसूरीश्वरजी सुधीनो वधो काळ हीरसूरियुग तरीके प्रसिद्ध छे जो के पू. विजयहीरसूरिजीना काळ करता पण सवाइ जैनशासन प्रभावना पू. विजयदेवसूरिजी म. ना काळमां जैन मदिरो, विद्वानो अने पू. श्रमण मुनिओनी माचूर्यताथी थइ होवा छता ते बधामां मूळरुप प्रभाव तो पू. विजयहिरसूरीश्वरजी महाराजनोज हतो. तेम आ काळमा बीजा बीजा आचार्योना हाथे केटलांक विविध शासननां सुविहित कार्यो थया छतां आ बधामा प्रेरणा अने विचार उद्गमना मूळ तो पू. आचार्य विजयनेमिसूरीश्वरजी महाराजज छे.

योगोद्वहन

प्रसिद्ध वात छे के, पू. आ विजयसिंहसूरीश्वरजी महाराज पछी योगोद्वहनपूर्वक आचार्य पदवीनी परिपाटि भूलाई हती एटलुज नहि पण योगोद्वहनपूर्वक आचार्यपद लेवानी शरुआत पण थई चूकी हती. दीर्घद्रष्टा स्व पूज्य आचार्यदेवे विचार्यु के जो आ रीति विकमी तो योगोद्वहन रीतिज जते दीवसे नाश पामशे अने श्रद्धा तथा ज्ञानभक्तिमा शिथिलता आवशे आथी योगोद्वहन तथा पचप्रस्थाननी आराधनापूर्वक सघना अतिआग्रहथी भावनगरमा वि स १९६४मा स्व पूज्य गुरुदेव आ काळना प्रथम आचार्य थया

योगोद्वहनपूर्वकनी पूज्यश्रीनो आचार्यपदनु परिणाम ए आव्यु के योगोद्वहन विना कोइ पण कार्य शुद्ध नथी ते मान्यता समाजमा दृढ बनी अने जैन समाज तेना श्रद्धा अने सस्कार वळांकमां पुनज मस्तकम बन्यो एटलुज नहि पण जे कोई योगोद्वहन विना आचार्यपद लेनारा हता तेमनी परपरामा पण योगोद्वहन दाखल थया अने तओ पण योगोद्वहननी महत्ताना पूजक थया ' गुरोस्तु मौनव्याख्यान छिन्नचि शिष्यसशयान् ' आ पदने स्व पूज्य आचार्यदेवे कोइनी काई पण टीका कर्या वगर समग्र शासनमां प्रवर्ताव्यु अने शासनना मूळरुप श्रद्धाना बीजक योगोद्वहन क्रियाने विना विवादे सर्वसमत बनावी

ज्ञान.

आपणे सौ कोई जाणीए छीए के स्व पूज्य आचार्यदेवना दीक्षाकाळ वखते कल्पसूत्रो धिका वाची शके तेवा मुनिओ पण महाविद्वान् गणाता सामान्य प्रकरणज्ञान, टबा, स्तवन, सज्झाय विगेरेनु ज्ञान आथी ते काळना मुनिओने माटे पर्याप्त गणातु स्व. पूज्य आचार्य-

देवे ज्ञाननी पिपासानो नाद मुनिओमां प्रवर्तान्यो. तेमणे पोते व्याकरण, न्याय साहित्यना ग्रंथोना अभ्यास साथे जैन शासनमां सर्वशास्त्रो अवगाह्या अने व्याकरण, न्याय विगेरेना अनेक महाकाय ग्रंथो बनाव्या आनु परिणाम ए आव्यु के आनो प्रभाव समग्र शासन उपर पड्यो अने जैन शासनमा अभ्यासनी रुचि प्रगटी. ठेर ठेर तत्त्वज्ञाननी जिज्ञासा जागी अने सर्व समुदायो पण पठन पाठननी प्रवृत्तिथी गाजवा लाग्या.

आम खरु कहीये तो आ काळमां ज्ञाननादने पल्लवित करवानु मूळ जो कोइ होय तो स्व पूज्य आचार्यदेवज छे

प्रतिष्ठा अजनशलाका.

शासन अने तेना यथा अगोनु अस्तित्व अने विकास तेना देवतत्त्व उपर छे आगमो ए देवनी वाणी छे मुनिओ ए देवना वचनने अनुसरीने मोक्ष लेनारा छे अने क्रोडोनो व्यय पण श्रावको देवना वचनने अनुलक्षीने करे छे. भगवाननी मूर्ति देवमदृशज छे ते तो प्रतिष्ठा अने अजनशलाकाथीज बनी शके तेम छे. अजनशलाका अने प्रतिष्ठाथी देवतत्त्व प्रगटाववु ए पवित्र अने प्रभावक पुरुष सिवाय सभवतु नथी स्व पू. आचार्यदेवे सैकडो वर्षथी विसरायेली आ विधिने जागृत् करी अने विशाळस्वरुपमा सौ प्रथमज तेमना हाथे अजनशलाका, कदबगिरिमा थई आ रीते सर्व विधिविधानोना उद्गम पण आ काळे स्व पूज्य आचार्यदेवज छे.

प्रभावना.

आतापना के प्रभावना कोने कहेवाय तेनी शब्दोथी आपणे भले व्याख्या करीए पण खरी समज तो आ काळे जेणे पामवी होय ते तेमना दर्शन विना पामी शके तेम नथी. मोटा मोटा मुद्रधारी अने फटाटोप करनारा सन्यासीओ सर्वशास्त्रना पारगामीपणानो अभिमान धरावता विद्वानो. आजनी केळवणीथी मोटी मोटी विश्वविद्यालयना अध्यक्षपदे बिराजता चेरमेनो के दलील अने वकीलातमा सर्वश्रेष्ठ गणाता काउन्सीलरो, धनथी जमीनथी अद्धर चालनारा धनाढ्यो, राज्यखटपट अने कुशळतामा पकाता जुदा जुदा राज्यना कर्मचारीओ अने अतिनैमवथी उछरेला राजवीओ आ बधाए जेओना प्रथम दर्शने पोताने अल्प मानी तेमना चरणकमळमां मुकावता. आ सर्व आ काळे निहाळवु होय तो स्व. पूज्य आचार्यदेवने निहाळतान बनी शके तेम हतु

भावनगर अने घांगध्राना दीवानो, मारवीपाजी अने आनदशकर वापुभाई जेवा आधुनिक विद्वानो, सेतलवड अने भूलाभाई जेवा धाराशास्त्रीओ, स्व. मनसुखभाई मगुभाई अने स्व लालभाई दलपतभाई जेवा क्रोडाधिपतिओ अने भावनगर नरेश, वळानरेश विगेरे राजवीओने जेमनी पासे बेसी तत्त्वपान करता जेमणे निहाळ्या छे तेज खरेखर प्रभावना आतापना कोने कहेवाय ते समजी शके तेम छे.

क्षमाविजयजीए महावीर भगवानना स्तवनमा गायु छे के 'जेहनु झेर निवारण मणि सम तुज आगम तुज बिंबजी' आ स्तवनमां तेमणे जणाव्यु छे क हे भगवंत कलिकालनु झेर निवारवामां तमारु आगम अने तमारु बिंब ए बे मणिसमान छे. स्व पू आचार्य देवे तेमना काळमा शास्त्रपठनपाठन अने जिनबिंबनी अजनशलाका प्रतिष्ठाथी कलियुगनु झेर निवारवामां अपूर्व फाळो आपी जैनशासनने उज्वळ कर्युं छे अने फरी हैमयुग, हीर युग विगेरे युगनी स्मृति साथे कलिकाळ सर्वज्ञ हेमचद्रसूरि अने जगद्गुरु विजयहीरसूरिजीनी स्मृति आ काळमा तेमना दर्शने ताजी करावी छे

जगत्ना अनेक झझावातो, कुतर्कना ठेर ठेर तोफानो, जडवादनो सुसवाटो पवन आ बधुं छता जैनशासन उपर एकछत्र आणा प्रवर्तावनानु आ काळमा जो कोइना सद्भाग्ये लखायु होय तो आ महापुरुषने ल्लाटेज हतु

तीर्थोद्धार

कापरडा, कदबगिरि, सेरीसा विगेरे तीर्थोना उद्धारने देखनाराने ख्याल आवशे के स्व. पूज्य आचार्यदेव केवळ जीर्ण मदिरनो उद्धारज करावनार न हता पण शासननी प्रभावना करे अने हजारो वर्ष सुधी चिरजीव रहे तेवा तीर्थोने अस्तित्वमां लावी प्रभावना करनार पण हता सेरीसा तीर्थना सबधमा शास्त्रोमां ठेरठेर उल्लेख छे पण कोण जाणे क्यार ते नाम शेष बन्यु ? आ तीर्थनो उद्धार अने महिमा स्व पूज्य आचार्यदेवना प्रतापनुज परिणाम छे. शत्रुजयनी स्मृति करावे तेवु कदबगिरि तीर्थ स्व पूज्य आचार्यदेवनी दीर्घदृष्टि अने शासनना रागने जणावे छे कापरडा तीर्थनो उद्धार तीर्थकाजे खपी छुटवा सुधीनी स्व पू आचार्यदेवना खमीरने याद करावे छे आ एक बे त्रण नहि पण ठेर ठेर स्व पूज्य आचार्य देवना हस्तके थयेल तीर्थोना उद्धार अने जिनमदिरो उभा उभा आजे पण तेमनी जीवन गाथाने उच्चारी रह्यां छे

सघयात्रा

छहरी पाळता नाना मोटा सघ तो घणाए आ काळमां नीकळता आपणे जोया हशे. पण जे सघमां हजारो माणसो, सेंकडो गाडीओ अने सेंकडोनी सख्यामा मुनिराजो होय तेवा सघो तो स्व पूज्य आचार्यदेवनी सान्निध्यतामा नीकळेल शेठ माणेकलाल मनसुखभाइ अने शेठ नगीनदास करमचदना सघो तो कवचित् नीकळ्या छे सघना दर्शनार्थे पचीस पचास गाउथी उलटती मानवमेदनी, राजाओ महाराजाओद्वारा थता सघना सामैया अने साधार्मिक भाइओ हस्तक थता सघना आदरसत्कारे तो कोइने धर्मबीज, कोइने समकित अने कोइने विरतिपणु आपी जीवन तार्यां छे

अजोड व्यक्तित्व.

स्व पूज्य आचार्यदेवनी आखमा कोइ अपूर्व ब्रह्मचर्यनु तेज हतु. तेमनी सामे वधु वखत एकीटसे जोइ शकातु नहि. प्रथमदर्शनेज तेमनी आगळ आवनारने नखशिख ओळखी लेती तेओ आवनार शु कहेवा मागे छे अने शा आशये आव्यो छे ते प्रथम दर्शनेज पारखी लेता अर्थात् तेमनी चक्षु आरपार उतरी पूर्वपश्चात् सर्वने निहाळी शकती.

तेमना जीवननी एके प्रवृत्ति एवी नथी के आरभ्या पछी छोडवी पडी होय के आरभेली प्रवृत्ति निष्फळ गइ होय कोइ पण प्रवृत्तिने तेओ आरभता पहेला ते सबधी खुब खुब विचार करता अने आरभ्या पछी कीडी सामे कटक जेटली ते तैयारी राखता तेमना जीवनकाळ दरमियान एवा घणाए प्रसगो आव्या छे पण जेमा तेमणे झुकाव्यु तेमां कोइ दिवस निष्फळता सापडीज नथी. तेमनो प्रभावज एवो हतो के तेमनु नाम सांभळतांज अर्धु कार्य उकली जतु. तेमज ए पण साचेज छे के शासनना सर्वमुखी कोइ एवी प्रवृत्ति नथी बनी के जेमा तेमनी दोरवणी मळी होय ते सागोपाग सफळ न थइ होय

तेमनो अवाज, तेमनी आकृति अने तेमनो स्वभाव आ सर्वे नायकताने सुचवनारा हता तेमना अवाजमा सत्ताबाहिता होवा छता ऊडी समज हती. तेमनी आकृति सामाने तेजथी आजती होवा छतां सौम्यभरी हती तेमनो स्वभाव हसमुख छतां पूर्वापरनी सर्व वस्तुनो अवगाहक हतो

आणदजी कल्याणजीनी पेढीना प्रतिनिधिओ, समाजना अग्रगण्यो विगेरे सौना ते आधारभूत, समग्र शासनना हितचिंतक अने समग्र शासनना रक्षक होवाथी समाज तेमने शासनसम्राट् तरीके ओळखतो ते खरेखर व्याजबीज हतु.

तेमनो जन्म, दीक्षा, पदप्रदान, तेमना हाथे थयेला शासनप्रभावनाना कार्यो विगेरे बधी विगतो तो महाकाय ग्रथथीज कही शकाय तेम छे पण अहिं तो मात्र तेमनु आछु दर्शन आप्यु छे. अने ते ए केस्व आचार्यदेव नेमिसूरीश्वरजी महाराज आ काळना शासनसम्राट् युगप्रधान के शासनना कोहीनूर जे कहो ते बधा हता.

स्व परमपूज्य आचार्यदेवनु शिष्यमडळ.

स्व पूज्य आचार्यदेवनो आजे पण शासन जेनाथी उन्नत शिर रही शके तेवो वहोळो विद्वान् शिष्यसमुदाय छे दर्शनशास्त्रना पूर्ण अभ्यासी खडनखडखाद्य अने आ टीका जेवा महाकाय ग्रथोनी वृत्तिना रचयिता शास्त्रविशारद पू दर्शनसूरीश्वरजी महाराज, आ काळे सौने आदर्शरूप बने तेवा, परम गुरुभक्त, भद्रिक, शिल्प ज्योतिष अने अखड आगमज्ञाता पू,

विजयोदयसूरीश्वरजी महाराज, व्यवहारदक्ष अने कोईना पण तेजमा अंजाया सिवाय स्पष्ट अने सत्य कहेनार, न्याय विशारद, कविरत्न पू नदनसूरीश्वरजी महाराज, अवसर जाण, सरल परिणामी पू विजयविज्ञानसूरीश्वरजी महाराज, प्राकृत अने गुजराती भाषामा अनेकविध साहित्यनु सर्जन करनार पू. विजयपद्मसूरीश्वरजी महाराज, साहित्य अने काव्यना अखंड अभ्यास साथे विविध काव्यो गुथनार पू विजयामृतसूरीश्वरजी महाराज, न्याय साहित्य अने व्याकरणना प्रकांड अभ्यासी अने त्रणे शास्त्रोना विपुलकाय ग्रंथरचयिता व्याख्यान वाचस्पति पू लावण्यसूरीश्वरजी महाराज, प्राकृतभाषाना प्रकाण्ड-विद्वान् पू, विजयकस्तुरसूरीश्वरजी महाराज, भद्रिक अने आगम तथा प्रकरण ग्रंथोना सारा अभ्यासी पू प सुमित्रविजयजी गणिवर, व्यवहारनदीष्ण विविधग्रंथाभ्यासी पू पं मेरुविजयजी गणिवर, न्याय, व्याकरण साहित्य, संगीत तथा गुजराती भाषाना सारा अभ्यासी पू. प दक्षविजयजी तथा पू प. सुशीलविजयजी गणिवर, न्यायना प्रकांड अभ्यासी बुद्धिवैभवी जयानंदविजयजी महाराज, न्याय साहित्य अने गुजरातीना सरस अभ्यास साथे रोचक लेखनशैलिवाळा पू प. धुरंधरविजयजी महाराज, तथा साहित्य व्याकरण न्यायना सारा अभ्यासी पू महिमाप्रभविजयजी महाराज विगेरे अनेक विद्वानो जैनशासनने शोभावी रह्या छे

सन्मतितर्क महार्णवावतारिकाना टीकाकार

आचार्यदेव विजय दर्शनसूरीश्वरजी महाराज बालब्रह्मचारि अने नानी वये दीक्षा लई आजीवन स्वपर दर्शनशास्त्रना अभ्यासमा जीवन वीतावनार परम भद्रिक महापुरुष छे

आ टीकाकार महात्मानु वतन अनेक महारत्नोने उत्पन्न करनार सौराष्ट्रना मुकुटमणि समान मदा रम्य मधुमती–महुवा नगर छे तेमना पितानु नाम कमळशी अने मातानु नाम धनी हतु, पसलचद, हेमचद अने जीवराज ए बे भाईओ पछी तेमनो जन्म वि. स १९४३ना पोष सुद १५ ना दीवसे थयो हतो ससारअवस्थामा तेमनु नाम सुदरजी पाडवामां आव्यु हतु सुदर योगवाळा सुदरजी बाल्यकाळ वितावे त्या तो शासनसम्राट् आचार्यदेव विजयनेमिसूरीश्वरजी महाराजना परिचयमा आव्या अने भागवती प्रव्रज्यानी भावना जागी बराबर सोळ वर्षनी वये वि. स १९५९ मा अषाड शुद १० ना रोज भावनगरमां तेमणे दीक्षा लीधी अने पू शासनसम्राट आचार्यदेव विजयनेमिसूरीश्वरजी महाराजना शिष्य थया. त्या तेमनु नाम दर्शनविजय पाडवामा आव्यु प्रतिभासपन्न महाविद्वान् पू, आचार्यदेवे दर्शनविजयजीने भणाववा माटे खुब लक्ष आपवा माड्यु अने तेमने न्याय व्याकरण साहित्य अने धर्मशास्त्रनो विशिष्ट अभ्यास कराव्यो. आम छता न्यायशास्त्रना अभ्यासमां ते खुब खुब उडा उतर्या अने

स्वपर न्यायशास्त्रना अनेक ग्रंथोनुं तेमणे अध्ययन कर्युं पक्षवाद, माथुरी पचलक्षणी, विवेचना, सिद्धान्तलक्षण, वैशेषिकदर्शन उपस्कार, मुक्तावली दिनकरी रामरुद्री टीकाओ साथे श्रीहर्षकृत खंडखाद्य, व्युत्पत्तिवाद विवेचना सांख्य तत्त्वकौमुदी तत्त्वसंग्रह, सर्वदर्शनसंग्रह चित्सुखी विगेरे छए दर्शन शास्त्रोनु अध्ययन कर्युं आ साथे आपणा पूर्वाचार्यकृत उ-यशोविजयजी कृत न्यायालोक, खंडखाद्य, नयप्रदीप, नयरहस्य विगेरे ग्रंथदशक अष्टसहस्री, सम्मतितर्क शास्त्र वार्तासमुच्चय वृत्ति आदि अनेक स्वदर्शन शास्त्रना न्याय ग्रंथोनु मननपूर्वक विशद अध्ययन कर्युं

आ दर्शनशास्त्रना पूर्ण अभ्यास बाद स्व पू. गुरुदेवे कह्यु के सम्मतितर्क उपर तत्त्वबोधिनी टीका छे परतु ते विस्तृत होवाथी सामान्य अभ्यासीओने भणवा माटे बहुज कठीन पडे छे अने महाशय ते वृत्तिने देखी सामान्य धीरजवाळा दूर खसे छे. तो सन्मतितर्क उपर एक सुदर मध्यम वृत्ति बनावो जेथी अनेकने ग्राह्य बने आ गुरुदेवना गुरुवचनने शिरसा वधावी सम्मतितर्कनी टीका बनाववानो टीकाकारे सकल्प कर्यो अने तेमना जीवनकाळमांज ते ग्रंथ बनावी ते सकल्प सफळ कर्यो

वि स १९६९ मां कपडवनमा पू मुनिदर्शनविजयजीने गुरुदेवे स्वहस्ते पन्यास पदारूढ कर्या अने स १९७३ मां सादडी गामे मारवाडमां उपाध्यायपद अर्पी तेमने गुरुदेवे उपाध्याय तरीके स्थाप्या वि स. १९७९ मां खभातमा गुरुदेव भगवते स्व पुनित हस्ते आचार्यपद अर्पी आचार्यपदारूढ कर्या त्यारथी आचार्य विजयदर्शनसूरिजीना नामे प्रसिद्ध छे.

पू. आचार्य दर्शनसूरि महाराजे आ सम्मतितर्क ग्रंथ टीका उपरात आज बीजा पण महाशय घणा ग्रंथोनु निर्माण कर्यु छे.

१ स्याद्वादना स्वरूपने स्पष्ट करतो साडा त्रण हजार श्लोक प्रमाण टीका नव्य न्यायनो स्याद्वादबिन्दु ग्रंथ तेमनी नव्यन्यायनी उडाणतानो सुदर परिचय आपे छे

२ प पू. उपाध्याय यशोविजयजी महाराजना बनावेल महा आकार ग्रंथ खंडखाद्य अपरनाम महावीर स्तव उपर तेमनु स्वोपज्ञ विवरण छ. आ विवरणने स्पष्ट करती २५००० श्लोक प्रमाण तेमणे टीका रची छे जे आज दश वर्ष पहेलां प्रसिद्ध थइ गई छे

३ पर्युषणा कल्पलता ८०० श्लोक प्रमाण रची पर्युषण पर्वना आदिना त्रण व्याख्यानोना विषयोनु अतिविशद निरूपण कर्युं छे

४ तत्त्वार्थ विवरण गुढार्थ दीपिका, आ ग्रंथ टीकाकार महाराजे पू. उपाध्याय यशोविजयजी महाराजे तत्त्वार्थ सूत्र उपर विवरण रच्यु छे तेने स्पष्ट करनार छे आम न्याय व्याकरण अने धर्मशास्त्र विगेरेना टीकाकार उडा अभ्यासी अने सतत परिश्रमी सयम आचरणमां मस्त रहेनार महात्मा छे

शिष्य प्रशिष्य परिवार—

पू. टीकाकार दर्शनसूरि महाराज स्वर्गस्थ गुरुदेवना विद्वान नव आचार्योमां प्रथम आचार्य, विद्वान् अने प्रतिभासपन्न महात्मा छे. एमना एक गुणविजय नामना विद्वान् शिष्य हता. ते वि स. १९८१ मा काळधर्म पाम्या तेमणे हेम धातुमाला बनाव्यु हतु. एमज तेमने पू प जयानंद विजयजी महाराज, पू. प प्रियंकरविजयजी महाराज विगेरे सारा विद्वान् शिष्यो छे जयानंदविजयजी बुद्धिवैभवी अने न्यायशास्त्रना उडा अभ्यासी छे जे टीकाकार महाराजनी साथे हमेशां रहे छे. अने तेमनी साहित्यपद्धतिमा हमेशा मददनीश रहे छे पू प. प्रियंकरविजयजी पण सारा उपदेशक अने साहित्यशास्त्रना सारा बोधक छे

टीकाकारनु व्यक्तित्व अने स्थान—

पू. आ दर्शनसूरिजी महाराज न्याय, साहित्य अने धर्मशास्त्रना समर्थ विद्वान् होवा छता महाकाय प्राचीन अने नव्य न्यायग्रथोमा निर्माण करनार अने प्रकाण्ड विद्वान् अभ्यासी छे जैनसमाजमा आजे जे सारा गणाता विद्वानो छे तेमां तेओ अग्रेसर गणनापात्र विद्वान् छे अने न्यायशास्त्रमा ते प्रथम पक्तिना महा विद्वान् छे

उ यशोविजयजी म. पछी सन्मतितर्कना अभ्यासीओ जैनसमाजमां विरलज थया छे, प पू. आचार्यदेव विजयनेमिसूरीश्वर महाराजे तेमना शिष्य मडळने जुदा जुदा शास्त्रोना पारगामी बनाव्या तेमा दर्शनसूरि महाराज दर्शनशास्त्रमां खुबज उडा उतर्या एटलुज नहि पण खडनखाद्य तत्वार्थ विवरण प्रथमाध्याय महाराज अने समतितर्क जेवा ग्रथो उपर वृत्ति रची पूर्वकाळना विद्वानोनी स्मृति करावी छे सन्मतितर्क ग्रथ अनेकांत दृष्टिनो मौलिक ग्रथ छे आ मूळ ग्रथ अभ्यासकोने समजाय तेवो हृदयगम छे आम छतां तेना उपरनी महाकाय वृत्ति देखी केटलाये वाचको तेने नमस्कार करी तेनी प्रत्ये छेटेथी पूज्यता बतावी छे पण तेने अवगाहवानी वृत्ति केळवी शक्या नथी. आ सन्मतितर्क महार्णवावतारिका सर्व अभ्यासीओने ग्रथमा उतरवा सोपान पक्ति बांधनार वृत्तिकारे आजना अभ्यासको उपर महान् उपकार कर्यो छे. अने सेंकडो वर्षथी सन्मतितर्क माटेनी जोग्ती मध्यम वृत्तिनी खोट पुरी पाडी छे.

पू. आ दर्शनसूरि महाराज विद्यमान आचार्योमां गणनापात्र आचार्य छे विद्यमान विद्वानोमां न्यायना प्रथम पक्तिना महा विद्वान तथा स्वपरशास्त्रना मननपूर्वक यथार्थ जाणकार होवाथी अने मारा तारानी झझटथी पर रहेनार अने सदा पठनपाठनमां उन्नत रहेनार निरीह महात्मा तरीके प्रसिद्ध छे

आ ग्रथने सुदर लेजर पेपरमां सुवाच्य अक्षरोमां छपावी प्रसिद्ध कर्यो छे तो वाचक दर्शन शास्त्रनो अभ्यास करी समकित निर्मल करी दर्शननी प्रभावना करे एज

मफतलाल झवेरचद गांधी

संमति तर्क रहस्य

लेखक प. श्री जयानंदविजयजी गणि ।

सुगृहीत नामधेय पूज्यपाद आचार्य वर्य श्री सिद्धसेनदिवाकरसूरि प्रणीत समतितर्क मूळ ग्रथ त्रण काडमा विभक्त करायेल छे प्रथमकांड ५४ गाथा प्रमाण छे द्वितीयकाड ४३ गाथा प्रमाण छे अने तृतीयकाड ६९–७० प्रमाण छे आम मूळ ग्रथ १६७ पद्योनो छे

समति तर्क प्रकरण मूळ ग्रथ आम अल्पकाय होवा छता आ ग्रथ जैनशासनमां अद्वितीय प्रभावक ग्रथ गणायो छे अने आ [1]प्रभावक ग्रंथ भणवा माटे साधु कारणवश आधाकर्मिआहार सेवन करे तो पण तेने प्रायश्चित्तनो भागी गण्यो नथी. तत्त्वार्थ तथा सम्मतितर्क भणवामा अखण्ड रग लागे तो ते ग्रन्थनानिरन्तर एकचित्ते अभ्यासीने आधाकर्मादि दोष लागतो नथी तेम पञ्चकल्पादि ग्रन्थमा पण कयु छे तेनु कारण समति प्रकरणमा नय–निक्षेप सप्तभगी ज्ञान अने ज्ञेयनी विशद युक्तिपूर्ण विचारणा करी अनेकांतवादने प्रतिष्ठापित कर्यो छे.

आ समति प्रकरण उपर शासनशिरोमणिप पू. नवागीटीकाकार भगवन्त श्री अभयदेवसूरि महाराजनी रचेल २५००० श्लोक प्रमाण तत्त्वावबोधविधायिनी नामनी वृत्ति छे परतु आ वृत्ति जैनशासनमा 'वादमहार्णव'ना नामे ज प्रसिद्ध छे केमक तेमा पूज्यपाद अभयदेवसूरि महाराजना वखत सुधीना जे कोइ वादो हता, तेनो विस्तारपूर्वक विचार करवामा आव्यो छे. आ वादो अतिविस्तृत अने काठिन्यपूर्ण होइ सामान्य अभ्यासी पण अवगाही तेनो परिचय मेळवी शके ते माटे सरळ भाषामा नियुक्त आ वादोमा सहजे प्रवेश करी शकाय ए हेतुथी समततिर्कमहार्णवावतारिका नामनो आ ग्रथ अमारा पूज्य गुरुमहाराज श्री विजयदर्शनसूरीश्वरजी महाराजाए बनाव्यो छे

आ ग्रथ निर्माणनु मुख्य प्रयोजन समतितर्कमहार्णवमां प्रवेश करवो ते छे आ ग्रथ सुगम छता तेनु अवगाहन जैनेतरदर्शनसम्बन्धि न्याय ग्रथोना तथा जैनतर्कशास्त्रना थोडा घणा परिशीलन विना करी शकाय तेम नथी

हवे जेओने बिलकुल संस्कृत भाषानो परिचय नथी तेओ पण आ ग्रथमा शो विषय छे तेनु टुक दिग्दर्शन पामी शके ते आशयथी मूळ ग्रथने लक्ष्यमा राखी अहीं टूकमा तेनो निर्देश करवामा आवेल छे

मगल

शरुआतमा शासन प्रभावक आचार्य भगवतश्री सिद्धसेन दिवाकरसूरि महाराज शासन नी स्तुतिरूप मंगळ करे छे, तेओ आ जैनशासनने चार गुणोवाळु वर्णवे छे

---

[1] दसणगाही—दशणनाणप्रभावगाणि सत्थाणि सिद्धिविणिच्छय समतिआदि गहतो इत्यादि (निशीथचूर्णि उद्देश १)

आ शासन जिनेश्वर भगवन्त रचित होवाथी स्वतः सिद्ध छे, बीजा हेतु निरपेक्ष प्रामाणिक छे, १, यथार्थवस्तुने प्रतिपादन करनार छे २, जैनशासनने शरणे आवेलाने अनुपम सुख आपनार छे ३, अने एकांतवाद रूप मिथ्यामतोने दूर करनार छे ४,

उद्देश.

ग्रंथकार ग्रंथनो उद्देश जणावता कहे छे के आ ग्रंथ हु एटला माटे बनावु छु के आगमोनो अभ्यास करवामा रस विनाना माणसो पण आ ग्रंथने एकाग्रचित्तथी मनन कर्या पछी आपो आप श्रुतधरोनी उपासना करवा ललचाय, अर्थात् आ ग्रंथ वांच्या पछी तेमने शास्त्रोनुं चिंतन करवानी आपोआप इच्छा थशे

अभिधेय

तीर्थंकर भगवानोना वचनोना अर्थतत्त्वने प्रतिपादक द्रव्यार्थिक नय अने पर्यायार्थिक नय अभिधेय छे द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक आ बे–नयना मुख्य भेदो छे, बीजा नयो एतो द्रव्यार्थिक अने पर्यायार्थिक नयना भेदो छे. आ ग्रन्थमा ते मुख्य बे नयनी अपेक्षाए स्याद्वादतत्त्वनु निरूपण करवामा आवशे.

अर्थात् ग्रंथनो मुख्य प्रतिपाद्य विषय अनेकान्तवाद छे, आ अनेकान्त–नयोना स्पष्टी करणथी ज स्पष्ट थई शके तेम छे, आ नयो अनेक होवा छता ते बधानो समावेश द्रव्यार्थिक अने पर्यायार्थिक आ बेमां थाय छे आथी आ ग्रंथनो मुख्य विषय द्रव्यार्थिक नय अने पर्यायार्थिक नय छे अने तेने अनुसरी ज्ञान अने ज्ञेयनी विचारणा छे

प्रथमकांड

कोई पण वस्तुने तेनी बधी बाजुथी तपासवु ते अनेकान्त छे एटले एकज वस्तुमा रहेल बधाये परस्पर विरोधि धर्मोनो अपेक्षाभेदथी विचार करी ते धर्मोनो एक वस्तुमा समावेशरूप कथञ्चित् तत्त्वनु निरूपण ते अनेकान्त छे अने कोई पण वस्तुने तेनी बीजी बाजुनो अपलाप कर्या विना विचारणा करवी, एटले स्वविरोधिधर्मनी उपेक्षा करी एक धर्मनी विचारणा ते नय छे अनेकांतमां बधा नयो संकलित थाय छे, आ नयो अनंत छे केमके वस्तुमाअनंत धर्मो छे

आ अनंत धर्मोमाना बीजा धर्मने अपलाप कर्या विना एकेकाधर्मने प्रतिपादन करनार वचनमार्ग अनन्त होवाथी नयो अनन्त छे सिद्धान्तमां कह्यु छे के 'जावइया वयणपहा ताव इया चेव होंति णयवाया' जेटला वचनमार्गो तेटला नयवादो छे आ बधा नयोनो समुच्चय रीते विचार करीए तो ते बधा बे भागमा वहेंचाई जाय छे एक अभेददृष्टिमां अने बीजी भेददृष्टिमा, अभेददृष्टिने द्रव्यार्थिक नय अने भेददृष्टिने पर्यायार्थिक नय कहे छे.

कोई एक मानवनो विचार भेददृष्टि तरफ वळी करवामा आवे त्यारे हिन्दुस्तान नो, गुजरातनो, मुंबईईलाकानो, अमदावादमा अमुक पोळनो अमुक शेरीनो अमुकनो पुत्र एम विचाराय छे तेज मनुष्यने अभेद दृष्टिथी विचारवामा आवे त्यारे उलटा क्रमे विचाराय. अमुकशेरीनो अमुक पोळनो अमदावादनो मुंबइ इलाकानो गुजरातनो हिंदुस्ताननो मानव जीव अने छेवटे आत्म प्रदेशमय ज्ञानमय सत् आम वस्तु एकनी एक होवा छता एकज वस्तुमा कोईनी दृष्टि भेदरूपे परिणमे छे, तो कोइनी दृष्टि अभेदरूपे परिणमे छे आ अभेद अने भेद वस्तुमा छे

आ बधी विचारणाओना प्रकारोने जैनशास्त्रमा नैगम संग्रह व्यवहार ऋजुसूत्र शब्द समभिरूढ अने एवंभूत आ सात प्रकारना नयोमा समावेश करेल छे सम्मतितर्कं प्रथमा आ सात नयोने ७ नयोमा संकलित करेल छे अभेददृष्टिरूप द्रव्यार्थिक नयमा संग्रह अने व्यवहार नयने लीधा छे अने पर्यायार्थिक नयमा ऋजुसूत्र शब्द समभिरूढ अने एवंभूत ए चार नयोने संकलित कर्या छे.

वस्तुमात्रमा सामान्य (अभेद) अने विशेष (भेद) बे धर्म छे सामान्यग्राहि दृष्टि ते अभेददृष्टि द्रव्यार्थिकनयमा समाय छे, अने विशेषग्राहि दृष्टि ते भेददृष्टि–पर्यायार्थिक नयमा समाय छे

सत्तारूप तत्त्वने अखंडपणे ग्रहण करनार प्रथम दृष्टि ते संग्रहनय छे, अने ते सत्ताने जीव अजीव आदिरूपे विभाग करी तेना भेदोमां ज्यारे दृष्टि प्रवर्ते त्यारे ते व्यवहार नय कहेवाय छे

आ संग्रह अने व्यवहारनय ए द्रव्यार्थिकनयना भेद छे भिन्न भिन्न सर्व वस्तुमा भेद ते कल्पनामूल होवाथी असत्, अने अभेद ते पारमार्थिक होवाथी केवळ सत्‌रूप अखण्ड तत्त्वने ग्रहण करनारी दृष्टि ते संग्रह नय छे, आ संग्रह नय शुद्ध द्रव्यार्थिक नय छे अने व्यवहार चलाववा मथती जीव अजीव विगेरे विभागने करती दृष्टि ते व्यवहार नय छे आ व्यवहार नय अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय छे

आम कोई पण पदार्थना सामान्य तत्त्वने अवलंबी जाति के गुण आदिनी विशेषतायी गमे तेटला पेटा विभागो करवामा आवे छतां तमा काळने अवलंबी फेरफार न करवामा आवे त्या सुधी ते बधा विभागो व्यवहार नयमां समाय छे. अर्थात् सत् रूप अखंड तत्त्वने जीव मनुष्य आर्य विगेरे भेदे खंडित करी व्यवहार चलाववा माटेनी दृष्टि ते ते पदार्थमा काळने अवलंबीने भेदमा न पेसे त्या सुधी ते व्यवहार नयनी मर्यादामां छे, केमके आ बधा भेद होवा छतां ते दृष्टि परिमित अभेदस्पर्शी छे अने तेथीज ते द्रव्यार्थिक नय कहेवाय छे.

भेद तरफ वळेली आ दृष्टि ज्यारे काळकृत भेदमा प्रवेशे छे अने भूत भविष्यकाळने कार्यनो असाधक मानी वर्तमानकाळ पुरतु ज तत्त्वने स्वीकारे छे त्यारे ते ऋजुसूत्रनयनी मर्यादामा आवे छे, आ ऋजुसूत्रनयथी पर्यायार्थिक नयनी शरुआत थाय छे, ते एवभूत सुधी लबाय छे, ऋजुसूत्र नयना मानेल वर्तमानकालीन तत्त्वमां पण लिंग वचन पुरुष आदि भेदे भेद माननार दृष्टि शब्दनय बने छे, अने शब्दनये मानेल समान लिंग अने समान वचनवाळा पर्यायशब्दोमा पण व्युत्पत्ति भेदे भिन्नअर्थ माननार दृष्टि ते समभिरुढनय छे, अने व्युत्पत्तिथी भेद स्वीकारेल पदार्थ पण क्रिया काल पुरतो ज सत् छे एम माननार भेद दृष्टि ते एवभूत नय छे. आ शब्द समभिरुढ अने एवभूत त्रणे वास्तविक जोइए तो ऋजुसूत्र वृक्षनी शाखाओ छे. ऋजुसूत्र शब्द समभिरुढ अने एवभूत आ चार नयो पर्यायार्थिक नयमा समाय छे.

आम द्रव्यार्थिक नयमा सग्रह अने व्यवहार पक्षान्तरे नैगम सङ्ग्रह अने व्यवहार समाय छे. पर्यायार्थिक नयमा ऋजुसूत्र शब्द समभिरुढ अने एवभूत समाय छे

जेमा कोई पण विशेष न होय तेवु वचन ते सत्–अस्ति छे, अने आ प्रमाणे माननार शुद्ध द्रव्यास्तिक नय छे, अने जेमा कोई पण सामान्य न होइ एवु छेल्लु अविभाज्य विशेष वाचक वचन ते शुद्ध पर्यायास्तिक नय छे. आ बन्नेनी वच्चे आवनार बधा विभागो सामान्य विशेषना प्रतिपादक होवाथी द्रव्यार्थिक अने पर्यायार्थिक मिश्रित छे.

सत् अस्ति आ शुद्ध द्रव्यास्तिक अने जीव मुक्त ससारी–अजीव परमाणु स्कन्ध गुण आ बधा मर्यादित सामान्यना बोधक साथे तेमां विशेषनो–विभागनो अने भेदनो स्पर्श होवाथी द्रव्यास्तिक पर्यायास्तिक कहेनाय छे अने छेल्लो अविभाज्य विशेषवाळो पदार्थ एक व्यक्ति निष्ठ ते शुद्ध पर्यायार्थिक छे. अंतिम विशेष सिवायनो बधी वस्तुओ अनुक्रमे सर्वव्यापक सत्ता सामान्य सुधीमा सामान्य उपयोग थतो होवाथी द्रव्यास्तिकनयनो विषय छे अने एज बधा विषय पर्यायाक्रात होवाथी पर्यायास्तिकनयने पण ग्राह्य बने छे. मात्र अतिम विशेषमां सामान्य उपयोग नथी अने सर्वव्यापक सत्ता सामान्यमां विशेष उपयोग नथी

॥ चार निक्षेपामा द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिकनयनी विचारणा ॥

नाम स्थापना द्रव्य अने भाव आ चार निक्षेपामा नाम स्थापना अने द्रव्य आ त्रण निक्षेपा सुधी द्रव्यार्थिक नयनी प्रवृत्ति छे नाम मात्रथी इन्द्र होय ते नाम इन्द्र, इन्द्रनु चित्र होय ते स्थापना इन्द्र, भविष्यमा इन्द्र थनार होय अगर पहेला इन्द्र हतो ते द्रव्य इन्द्र, आ त्रणे निक्षेपामा कोइने कोई जातनो द्रव्य साथे सबध होवाथी द्रव्यास्तिक नयना विषयमा समाय

छे, अने इन्द्रासनमा बेठेला इन्द्र ते भाव इन्द्र, ते भाव निक्षेपारूप छे, ते पर्यायार्थिक नयमा समाय छे कारण के भाव इन्द्रमा वर्तमानमा इन्द्रपदना अनुसरनी-लिंग वचनना भेदनी,-व्युत्पत्ति भेदनी अने क्रियाकालनी आ बधी विशेषताओ होवाथी विशेषताने लई भेद ज मुख्य छे

॥उत्पत्ति स्थिति अने नाशरूप पदार्थलक्षणमा द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिकनयविचरणा॥

उत्पत्ति स्थिति अने नाश ए पदार्थनु लक्षण छे 'उप्पाय-ट्ठिइ भगा हवि दवियलक्खण.

द्रव्यास्तिक नयनो विषय सामान्य छे अने पर्यायास्तिक नयनो विषय विशेष छे, जगत्ना कोई पण पदार्थमा विशेष विनानु सामान्य नथी अने सामान्य विनानु विशेष नथी. तेज रीत उत्पत्ति अने नाश-स्थिति विनाना नथी, अने स्थिति-उत्पत्ति अने नाश विनानां नथी, आथी पदार्थ मानमा द्रव्यार्थिक अने पर्यायार्थिक बन्ने घटी शके छे, छतां द्रव्यास्तिकनु वक्तव्य पर्यायार्थिकनी दृष्टिमा अवस्तु छे, अने पर्यायार्थिकनु वक्तव्य द्रव्यास्तिकनी दृष्टिमां अवस्तु छे, एमक द्रव्यास्तिक अभेद तरफ ढळे छे, अने पर्यायास्तिक भेद तरफ ढळे छे, उत्पत्ति स्थिति अने नाश त्रणेनु भिन्न स्वरूप छता एक बीजा साथे मळीने रहे छे, तेम द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक बन्ने नयोनु भिन्न स्वरूप होवा छता बन्ने दृष्टि पदार्थ प्रतिपादनमा वपराय त्यारज पदार्थनु साचु प्रतिपादन गणाय आ बन्ने दृष्टि सापेक्षपणे प्रवर्ते त्यां सुधी नय छे निरपेक्षपणे प्रवर्ते त्यारे ते दुर्नय बने छे अने आ दुर्नय ते मिथ्यात्व छे.

द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक अने तेना पेटा भेदो आ बधा नयो पोत पोताना विषयनी मर्यादामा रही प्रवृत्ति करे त्या सुधी नय छे अने ते सर्व अपेक्षा पूर्वक वस्तुगत एक अंशप्रतिपादक होवाथी सम्यक् नय छे, पण ज्यारे ते प्रतिपक्षनयनु खडन करे त्यारे ते मिथ्या नय छे हाथीनो एक अवयव पग थाभला जेवो देखी हाथी थाभला जेवो छे ते कहे त्या सुधी ते नय साचो छे एटले सुनय छे, पण हाथी थाभला जेवोज छे, दोरडा जेवो नथी, ते कहनारा जुठा छे, तेम कहेनारनु एकान्त वचन दुर्नय छे, कोइपण माणस जेम स्व पुत्रनो पिता तेम स्वपितानो पुत्र-बीजा पुरुषनो मामो काको भत्रीनो पण होइ शके छे, आ वस्तुस्थिति समज्या विना विद्यमान एवा बीजा धर्मनो निषेध करी केवल एकज धर्मप्रतिपादक पुरुषनु निरपेक्ष वचन-एकान्त वचन दुर्नय छे, बीजा धर्मनु खण्डन मण्डन करवामा उदासीन भाव पूर्वक एक धर्मप्रतिपादक पुरुषनु सापेक्ष वचन सुनय छे

टुकमां द्रव्यास्तिकनु वक्तव्य भेदरहित अभेद छे, अने पर्यायास्तिकनु वक्तव्य अभेद-रहित भेद छे, अने ते वक्तव्य भेद थाय त्याथी शरु थाय छे

भेद शुं छे ?

पदार्थ मात्र कथञ्चिद् भेदाभेद उभयात्मक छे, अभिन्न सामान्य स्वरूप सत् उपर कल्पायेली अनेक भेदोनी परंपरामां सदृश परिणाम प्रवाह कोई पण एक शब्दनो वाच्य बनी व्यवहार पाळे ते व्यंजन पर्याय, अने तेना जे क्रमिक भेदो अविभाज्य लागे ते अर्थपर्याय, जेमके जीवना पुरुष पुरुष एवा सदृश परिणाम प्रवाहमां निर्विकल्प बुद्धि थाय छे ते व्यंजन पर्याय, अने तेज पुरुषमा बाल युवान आदि अनेक विकल्पो नजरे पडे छे, ते बधा पुरुषरूप व्यंजन पर्यायना अर्थ पर्यायो छे, आ बाल विगेरेना पण स्तनवय विगेरे तेना अर्थपर्यायो छे अने बाल ए व्यंजन पर्याय छे

पुरुषनी साथे बाल युवान वृद्धत्व विगेरे तेना पेटा भेदो कथञ्चिद् भिन्नाभिन्नपणे रहेला छे बाळ युवान वृद्धत्वनु स्वरूप जुदु होवाथी ते पृथक् छे. अने ते बधा पुरुष साथे सकळायेल होवाथी अभिन्न छे आ बधी भिन्नाऽभिन्ननी विचारणा द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिकना विषयरूप छे अने तेथीज एकज गणातो पदार्थ स्वपर्याय परपर्याय विगेरेने लई अनंत बने छे

कोइ पण परमाणु के जीव अखंड होवाथी व्यक्तिरूपे भले एक होय छता व्यंजन पर्याय अने त्रणे काळना अर्थपर्याय अनंत होवाथी ते अनंतरूपे भासमान थाय छे आम विशेष्यभूत द्रव्य एक होवा छता विशेषणभूत पर्यायोना भेदने लीधे जुदु जुदु मानवाथी पर्यायोनी जेटली संख्या तेटली संख्यावाळु द्रव्य बने छे

आम एकज पदार्थ अनंतधर्मोने लई अनंत बने छे आ पदार्थमा रहेल कोइ पण एक धर्म अने तेना विरोधि धर्मनी अपेक्षाए प्रथम त्रण भङ्ग थाय छे, आ त्रण भंग पण एकुकानयनी अपेक्षाए थाय छे, अने ते ते धर्मना संयोगथी बीजा चार भङ्ग थाय छे, छेल्ला चार भंग बे नय त्रण नयना संयोगथी थाय छे प्रथम भंगमा जे धर्मनी मुख्यता होय ते धर्मनी सप्तभंगी कहेवाय छे, आ रीते नयसयोजना घटित सप्तभङ्गी बने छे

आम नयवाद अने अनेकांतवादनी विचारधारा अनंत छता सुयोग्य अने व्यवस्थित छे जे विचारणा साचु वस्तुदर्शन प्रगटावी माणसने बहुश्रुत अने स्थिरबुद्धिक बनावे छे

अहि अतिगौरव भयथी अति विस्तार कर्यो नथी ?

(अवशिष्ट)

अष्टम द्वादशार

जो हेउवाय पक्खमि, हेउओ आगमे य आगमिओ । सो ससमयपण्णवओ, सिद्धंत विराहिओ (हओ) अन्नोत्ति । का० ३ गाथा ४५

मूलनिमेण पज्जवणयस्स, उज्जुसुअवयणविच्छेदो । तस्स उ साहपसाहा, सहविकप्पा सुहुमभेदा । का–१ गा–५ ॥ द्वादशारे

हेउविसयोवणीय, जह वयणिज्ज परो नियत्तेई । जइ त तहा पुरिल्लो दाइन्तो केण जिप्पन्तो ॥ का–३ गा ५८

॥ श्रीसम्मतितर्कप्रकरणस्य आचार्यश्रीविजयदर्शनसूरिप्रणीतसम्मति-तर्कमहार्णवावतारिकाख्यटीकाया• विषयानुक्रमणिका ॥

। प्रथमकारिकार्थानुक्रमणिका ।

॥ इति प्रथमकारिकार्थानुक्रमणिका ॥

॥ अथ द्वितीयकारिकार्थानुक्रमणिका ॥

। अथ तृतीयकारिकार्थानुक्रमणिका ।

। अथ चतुर्थगाथार्थाऽनुक्रमणिका ।

। अथ पञ्चमगाथाऽनुक्रमणिका ।

। अथ सप्तमगाथाविषयानुक्रमणिका ।

। अथाष्टमगाथाविषयानुक्रमणिका ।

। अथ नवमगाथाविषयानुक्रमणिका ।

अङ्का विषया पृ० प

॥ सम्मतितर्कप्रथमकाण्डमहार्णवावतारिकाख्यटीकाविषयानुक्रमणिका समाप्ता ॥

अथ सम्मतितर्कद्वितीयकाण्डमहार्णवावतारिकाख्यटीकाविषयानुक्रमणिका

अङ्काः	विषयाः	पृ० पङ्क्तिः
	भयविषयकैकोपयोगरूपत्वादुभयात्मकमेकमेव, "केवलनाणे केवलदंसणे" इति सूत्रमपि धर्मभेदेन धर्मिभेदप्रतिपादनपरमेव, न तु वस्तुगत्या धर्मिभेदप्रतिपादनपरमित्यर्थो भावश्च दर्शितः ।	२४०—७
२०-१	सूत्रे उभयरूपत्वेन परिपठितत्वादुभयरूपं केवलं, न तु क्रमिकसामग्र्या क्रमेणोत्पादात् एककालीनभिन्नसामग्र्या युगपदुत्पादाद्वा तथेत्युपदर्शकतया विंशतितमगाथाऽवतारिता ।	२४०-२०
२	'चक्खुअचक्खुअवहिकेवलाण' इति गाथार्थः, चक्षुरचक्षुरवधिकेवलाना 'कइविहेण भंते' इत्यादिसूत्रेण आगमे दर्शनविकल्पाः परिपठिताः, तस्मात्केवलज्ञानदर्शने ते भिन्ने इति, केवल ज्ञानमध्ये पाठात् ज्ञानमपि, दर्शनमध्ये पाठाच्च दर्शनमपीत्येकमेव तत्तत्पदेन व्यवहार्यमिति परिभाषामात्रमेतत् ।	२४०-२५
२१-१	सामान्यविशेषाजहद्वृत्त्येकोपयोगरूपतया ज्ञानत्वं दर्शनत्वं चेत्येकदेशिमतोपदर्शकतया "दसणमुग्गहमेत्त" इत्येकविंशतितमगाथाऽवतारिता ।	२४१—४
२	दर्शनमवग्रहमात्रं, घटोऽयमित्याकाराभिलापो ज्ञानं भवत्युपचारात्, यथा मतिज्ञाने, तथा केवलयोरपि, एतावन्मात्रेण तु विशेषः, एकमेव केवलं सामान्यांशे दर्शनं विशेषांशे च ज्ञानमित्यर्थो दर्शितः ।	२४१—९
२२-१	एकदेशिनः क्रमिकभेदपक्षदूषकत्वपरा "दंसणपुव्वं नाणं" इति द्वाविंशतितमा गाथा ।	२४१-१८
२	दर्शनं प्राक् पश्चाज्ज्ञानमित्येव पूर्वापरीभावश्छाद्मस्थिकोपयोगावस्थाया भवति, न चायं क्रमः केवल्युपयोगावस्थाया, तत्र पूर्वं केवलज्ञानस्यैव भावात्, ज्ञाननिमित्तकं तु दर्शनं कुत्रापि नास्ति, तेन सुविनिश्चितमुभे केवलिनि ज्ञानदर्शने प्रभापादितभेदं न भजत इत्यर्थो दर्शितः ।	२४१-२१
२३-१	मतिरूपे बोधे अवग्रहमात्रं दर्शनमित्येकदेशिमताऽयुक्तत्वपरतया "जइ ओग्गहमेत्तं" इति त्रयोविंशतितमगाथाऽवतारिता ।	२४२—७
२	यदि मत्यवबोधे अवग्रहमात्रं दर्शनमिति विशेषितं ज्ञानमित्युपगम्यते एवं सति मतिज्ञानमेव दर्शनं प्राप्तं भवति, तथोपगमे "कइविहेण भंते" इत्यादि प्रज्ञापनैकोनत्रिंशत्तमोपयोगाख्यपदावयवसूत्रविरोधः प्रसक्त इत्यर्थः ।	२४२-१०
३	मतिज्ञानमेवावग्रहात्मना दर्शनम्, अपायात्मना च ज्ञानमित्येकदेशिमतदूषणपरत्वेनोक्तगाथाया अवतरणान्तरम् ।	२४२-२२

॥ इति द्वितीयकाण्डस्य विषयानुक्रमणिका समाप्ता ॥
॥ अथ तृतीयकाण्डस्य साऽऽरभ्यते ॥

---

२ तत्र गुणत्वानच्छिन्नवाचकगुणशब्दमन्तरेणापि पर्यायविशेषमरयावाचक स.,
सरय्यानशास्त्रधर्मो गुणः, तद्वाचको गुणशब्द प्रयुक्तो, न तु गुणार्थिकनयाभिप्रायक'।२८२-२६

१५-१ उक्तार्थदृढीकरणार्थतयाऽवतारिता "जह दससु दसगुणम्मि य" इति पञ्चदशीगाथा।२८३-९

२ तत्र दशसु द्रव्येषु दशगुणिते एकस्मिन् द्रव्ये च गुणशब्दाभिधेयेऽपि दशत्वं तुल्य यथा, तथा प्रकृतेऽपि, "गुणपर्यायवद्द्रव्यम्" इति तत्त्वार्थसूत्रे सहभावि धर्मवाचकगुणशब्दसमभिव्याहारात्पर्यायशब्दस्य क्रमभाविपर्यायार्थकस्यापि गोबलीवर्द-न्यायेन भेदप्रतिपादकत्त्व न दोषावहमिति न गुणाधिक्यम्। २८३-११

३ गुणपर्याययोर्भेद' काल्पनिक, स चास्तवतदभेदाविरोधी, कल्पनाबीजं तु व्युत्पत्तिविशेषाधानम्, अत एव "गुणाणमासओ दव्व" इत्युत्तराध्ययनवचन "दव्वनामे गुणनामे पज्जवनामे" इत्याद्यनुयोगद्वारवचन च सङ्गतमिति। २८३-२०

४ नाणदंसणट्ठयाए दुवे अह इत्यादि भगवतीवचनं गुणार्थिकनयप्रतिपादक-मित्याशङ्का व्यपाकृता। २८३-२६

१६-१ द्रव्यपर्याययोरेकान्ताभेदवादिमतोपदर्शकतया "एयंतपस्सवाओ" इति षोडशी गाथाऽवतारिता। २८४—३

२ तद्विवरणम्, तत्र द्रव्याद्येकान्तभेदवादः पूर्वमेव यद्यपि निरस्त', तथापि द्रव्यैका-न्ताभेदवाददार्ढ्यार्थं उदाहरणमात्रमुपदर्श्यत इति। २८४—७

१७-१ "पिउ-पुत्त-णत्तु-भाणिज्ज" इति सप्तदशी गाथाऽवतारिता, तत्र द्रव्यव्यतिरिक्तं गुणकर्मादिकं नास्ति, यथा पितृपुत्रादयो न पुंसो भिन्ना', पितृत्वादिक पुरुषत्वपि तदभिन्न तथा द्रव्यवृत्तयो रूपादयो गुणा कर्मापि च द्रव्याद्व्यतिरिक्तत्वाद् द्रव्यमेव। २८४-१२

१८-१ 'जह संबधविसिट्ठो' इत्यष्टादशगाथाऽवतरणम्, तत्र अतिरिक्तगुणाभावेऽपि चक्षुरादीन्द्रियसम्बन्धतश्चानुपादिभत्यशानुकूलशक्तिमत्त्वनैकस्मिन् द्रव्ये रूपरसा दिव्यपदेशगोचरत्व, एकस्यानेकसम्बन्धकारणमात्रेण नानात्व न, एकस्यापि गीर्वाण नाथस्य शक्रेन्द्रादिशब्दैर्व्यवह्रियमाणत्वेन नानात्वप्रसङ्गादिति। २८५— १

२ उक्तगाथाविवरणम्, तत्र यथा स पुरुष पुरुषत्वेनाभिन्नोऽपि पितृपुत्रादि-सम्बध निमित्तीकृत्य पुत्रपित्रादिव्यपदेश प्राप्नोति तथा द्रव्यमिन्द्रियगत रूपादिविशेषण लभते, एतद्गाथार्थं आवेदित, शङ्कान्तर व्युदस्तम्। २८५-९

१९-१ एकान्तद्रव्याद्वैतवादाप्रामाण्यज्ञापनाय स्याद्वादसिद्धान्तयुक्तिरूपतया "होज्जाहि दुगुणमहुर" इत्येकोनविंशतितमगाथाऽवतारिता। २८५-२२

८ परप्रतिपादितेऽशेषदोषयुक्ते विरोधलक्षणे स्वसम्मति', तथाविधविरोधसद्भा वेऽपि विभिन्नावच्छेदेन भेदाभेदयोरेकत्र सद्भाव उपपन्न एवेति, निरोधलक्षणा-ऽन्तरस्यापि प्रकृतेऽनुपयुक्तत्व भावितम् । २९३—३

९ अनेकान्ततत्त्वाभ्युपगमे विरोधगन्धलेशो नास्तीत्यत्र "भिन्नापेक्षा यथैकत्र" इत्य ऽध्यात्मोपनिषद्वचनसंवाद' । २९३-१७

१० यदवच्छेदेन भेदस्तदनवच्छेदेन भेद एव एवमभेद एवेति नैकमुभयरूपम्, एकावच्छेदेनोभयस्वीकारे सङ्करप्रसङ्ग इत्यनयोरपाकरणम्, नात्र सशयाप्रति पत्त्यादयोऽपि दोषा इत्युपपादितम् । २९३-१८

७-१ "भयणा वि हु भइयव्वा" इति सप्तविंशतितमगाथाऽवतरणम्, तत्रानेका न्तेऽनेकान्ताभ्युपगमेऽनवस्था, अनेका तेऽनेका तानभ्युपगमे एकान्तत्वप्रसक्तिः, तथा च वस्तुत्वहेतौ अनेकान्तत्वसाधकेऽनेकान्ते व्यभिचार इत्याशङ्का । २९३-३०

२ उक्ताशङ्काप्रतिविधान, अनेकान्तेऽनेका ताभ्युपगमे नानवस्था, न्यायमते तृतीयचतुर्थात्यन्ताभावयो. प्रथमद्वितीयात्य ताभावात्मकत्ववज्जैनमतेऽपि तृतीयचतुर्थानेकान्तयो. प्रथमद्वितीयानेकान्तरूपत्वादिति । २९४—४

३ उक्तगाथाविवरणम्, तत्र यथाऽनेकान्त. सर्वद्रव्याणि तदतत्स्वभावात्मकतया ज्ञापयति, तथाऽनेकान्तमपि स एका ताऽनेका तात्मकतया ज्ञापयति । २९४-१६

४ नयापेक्षया तत्रैकान्तत्वं प्रमाणापेक्षया चाऽनेका तत्व, 'अनेकान्तोऽप्यनेकान्त इत्युक्ते', "रयणप्पभा सिय सासया" "दव्वट्ठयाए सासया" इत्यागमोक्तेश्च ।२९४-२३

५ अत्र विशेषो 'देशेन देशदर्शनं भजनापथे तु' इति खण्डखाद्यश्लोकटीकातोऽवसेय', तत्राऽनवस्थापरिहारोऽन्योन्याश्रयश्च प्रामाणिकः, सामान्यविशेषभावेन सप्तभङ्गी द्वयविश्राम इति च प्रदर्शितम् । २९५—३

६ प्रमाणत्वमाश्रित्यानेकान्तो नयत्वमाश्रित्यैकान्त इति खण्डखाद्योक्तेरर्थो भावा र्थश्च दर्शितः । २९५-१७

८-१ "णियमेण सद्दहंतो" इत्यष्टाविंशतितमगाथाविवरणम्, तत्र 'छज्जीवनिका य' कायाश्रेत्येव श्रद्दधानः परमार्थत षट्कायान न श्रद्धत्ते इत्यस्य स्पष्टीकरणम्, तथा श्रद्दधानो न भावसम्यग्दृष्टि, किन्तु द्रव्यसम्यग्दृष्टिः, तत्र 'अणभिग्गहिय कुदिट्ठी' इत्याद्युत्तराध्ययनवचनसंवाद' । २९६—९

२ उक्तार्थे हेतुप्रदर्शक "हदी अपज्जवेसु" इत्याद्युत्तरार्ध, भङ्गा तरसंवलनरहितेषु धर्मेषु श्रद्धाप्यऽसपूर्णा भवतीत्यर्थः, एकत्वादिप्रकाररहितेषु षट्सु कायेषु श्रद्धापि सक्षिप्ता भवतीत्यर्थश्च द्रव्यश्रद्धापर्यवसन्ना भवतीति पर्यवसितः । २९६-२५

५ उत्पद्यमानं किञ्चिद्दशेनोत्पन्नमित्यस्य संवादक 'चलमाणे चलिए' इति भगवतीसूत्रवचनम्। ३१३—५

६ उत्पद्यमानस्योत्पन्नत्वमुत्पत्स्यमानत्वं यथा तयोत्पन्नस्योत्पद्यमानत्वमुत्पत्स्यमानत्वञ्च भावितम् तथोत्पत्स्यमानस्योत्पद्यमानत्वमुत्पन्नत्वञ्च दर्शितम्। ३१३–१२

७ एवमेवोत्पन्नोत्पद्यमानोत्पत्स्यमानभेदाः प्रत्येकशो निगमादिभि स्थित्यादिभिश्च समभेदा ज्ञेयाः, एवं स्थितिनिगमावपि। ३१३–१७

८ एतेषां भेदानां काल्पनिकत्वं न, प्रतीतियथार्थतयैवाकलनादिति दर्शितम्। ३१३–१९

९ अनेन प्रकारेण त्रिकालविषयं द्रव्यस्वरूपं प्रतिपादयद्वाक्यं प्रमाणमन्यथा त्वऽप्रमाणमिति निगमितम्। ३१३–२९

१० अत्रैकाशीतिभङ्गाः, ते 'यद् गृह्यते तदिह वस्तु गृहीतमेव' इति श्लोकटीकायामेत ट्टीकाकर्तृकर्तृकायां प्रदर्शिता, विशेषजिज्ञासुभिस्ततो विज्ञेया इत्युपदेशः। ३१४—१

३८–१ अर्थान्तरगमनलक्षणविनाशविभागनोत्पादयोरभावात्तन्नियताया स्थितेरप्यभावात्त्रैकाल्यं न सम्भवतीति वादिनं प्रति तदभ्युपगमप्रदर्शनपूर्वकोपदेशपरतया "दव्वंतरसंयोगाहि" इत्यष्टत्रिंशत्तमगाथाऽवतारिता। ३१४—८

२ उक्तगाथाविवरण, तत्र 'संयोगानां द्रव्यम्' इति वैशेषिकसूत्रस्य बलाद्वैशेषिकादयो यथा द्रव्यान्तरसंयोगे पटादिकार्यद्रव्यस्योत्पादं स्वीकुर्वन्ति तथा प्रदर्शक पूर्वार्द्धम्, ते उत्पादार्थानभिज्ञा विभागजातमुत्पादं नेच्छन्तीत्यर्थे स्पष्टीकृत.। ३१४–१३

३९–१ कुतस्ते उत्पादार्थानभिज्ञा इत्याशङ्कासमाधानपरतया 'अणु दुअणुएहिं' इत्येकोनचत्वारिंशत्तमगाथाऽवतारिता। ३१५—१

२ उक्तगाथाविवरण, तत्र द्वाभ्यां परमाणुभ्यामारब्धे द्व्यणुकद्रव्ये अणुरिति व्यपदेशः परमाणुगतद्वित्वसंख्यातस्तत्राणुपरिमाणस्यैवोत्पादात्, त्रिभिर्द्व्यणुकैरारब्धे द्रव्ये 'त्र्यणुकमिति व्यपदेशः, तत्र प्रयत्नानुरोधेन बहुत्वसंख्यातो महत्परिमाणस्योत्पाद', एतद्भावार्थः', तत्र नैयायिकादिप्रक्रिया वर्णिता।

३ द्व्यणुकत्र्यणुकादिकार्यद्रव्यस्य तत्र परिमाणस्य चोपत्तिप्रक्रियां निरूपयन्तौ नैयायिकवैशेषिकौ स्वीयाज्ञतां व्यञ्जयत', यत परमाण्वोः संयोगे सत्येव द्व्यणुकमुत्पद्यते इति न, किं त्वेकसामयिकाभ्यां संघातभेदाभ्यामप्युत्पद्यते, तथा भेदादपीति, अत्र जैनी प्रक्रिया दर्शिता। ३१५–२५

४ उक्तार्थे 'सङ्घातभेदेभ्य उत्पद्यन्ते' इति तत्त्वार्थसंवाद। ३१६—६

५ केचन बादरस्कन्धा प्रत्यक्षगोचरा भवन्तीत्यत्र 'भेदसङ्घाताभ्यां चाक्षुषा' इति तत्त्वार्थसूत्रयुक्तिवचनमुपदर्शितम्। ३१६–१२

६ विचित्रपरिणामाः पुद्गला', चाक्षुषप्रत्यक्षे बादरपरिणाम एव कारणम्, तत्राप्यनुद्भूतरूपादिभावे न प्रत्यक्षमिति तत्प्रत्यक्षे उद्भूतरूपवत्त्वव्यवधानाभावालोकादिक चाक्षुषज्ञानावरणीयकर्मक्षयोपशमाधायकतया कारणं वाच्यमिति । ३१६–१५

७ "जालान्तरस्थ सूर्यांशौ" इति पद्योपवर्णित नैयायिकाभिमतपरमाणुस्वरूपमपाकृतम् ।३१६–२०

८ जैनमते परमाणुर्न नित्य एव किन्तु स्कन्धभावेनोत्पत्तिभावात्कथञ्चिन्नित्यानित्योभयरूप इत्यभिप्रायकेणोत्तरार्द्धेन परमाणुरुत्पद्यत इति व्यावर्णितम् । ३१६–२५

९ पृथग्भावलक्षणभेदे सति विभागपर्यायरूपेण परमाणूत्पादे सवादकं 'भेदादणु' इति तत्त्वार्थसूत्रम्, भेदादेव परमाणुरुत्पद्यते न सङ्घातादिति भाष्यसनाथम् ।३१७—३

१० परमाणूनां नित्यत्वाभ्युपगमे तत्प्रागभावध्वंसयो नैकत्वमित्युपपत्तये प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारोक्त सदृष्टान्ततदुभयलक्षणप्रतिपादकसूत्रचतुष्टयम्, प्रागभावध्वंसयोरैक्याभावे तन्मात्रकपरमाणूनामप्यैक्य न संभवतीति द्रव्यार्थिकनयादेशात् द्रव्यस्वरूपतयाऽवस्थिता एव पर्यायनयादेशात्तत्कार्यभावे नोत्पद्यमानाः कथञ्चिन्नित्यास्ते इति । ३१७—५

११ बादरपरिणामपरिणतमहाद्रव्ये परमाणुभावेन परमाणूनां नाशाभ्युपगमात् अवयवविभागोत्तर परमाणुभावेन विभक्ततया चोत्पादाभ्युपगमात् 'कारणमेव तदन्त्य' इति पारमर्षोक्तिविरोध इति प्रश्नप्रतिविधानम्, तदुक्तपभिमतार्थोपदर्शनेन । ३१७–२२

१२ व्यक्त्यात्मना परमाणोर्नित्यत्वव्यवस्थापनेन परमाणुर्नित्य इति व्यवहारस्य भ्रान्तत्वापत्तिरित्याऽऽशङ्काया निरसनम् । ३१८—४

१३ एतेन परमाणवो नित्या एव कार्यरूपाश्च पृथिव्यादयश्चत्वारोऽनित्या एवेति नैयायिकप्रक्रियाया निरास । ३१८–१४

१४ परमाणोरपेक्षाभेदेन कारणत्व कार्यत्वञ्चेत्यत्र द्वादशारनयचक्रटीकासम्मतिरावेदिता ।३१८-१६

४०–१ 'बहुआण एगसद्दे' इति चत्वारिंशत्तमगाथावतरण, तत्र पृथिव्यादिसमवायिकारणकार्यावच्छेदकजयपृथिवीत्वादिधर्मानाकान्तत्वात्परमाणूनाद्युत्पत्तिर्न सम्भवतीत्याशङ्कानिरास , तादात्म्यसम्बन्धेन पृथिवीत्वाद्यवच्छिन्ने स्वध्वंसत्वमम्बन्धेन पृथिवीत्वादिनोपादानकारणत्वव्यवस्थापनेन । ३१८–१९

२ सयोगेन विभागेन च कार्यद्रव्योत्पादाभ्युपगमे सयोगजकार्यद्रव्ये विभागस्य विभागजकार्यद्रव्ये सयोगस्य व्यभिचाराशङ्काया कार्यद्रव्ये वैजात्याभ्युपगमेन कार्यतावच्छेदककोटौ तत्तत्कारणाव्यवहितोत्तरत्वमवेशेन वोभयोरेकशक्तिमत्त्वेन

कारणत्वाभ्युपगमेन वा निराकरणम्, तथाऽनभ्युपगमे निष्प्रदेशिकस्कन्धादेरणुभेदे द्विप्रदेशिकस्याकस्मिकत्वापत्तिः, परमाणुद्वयादिसंयोगाद् द्व्यणुकाद्युत्पत्तिकल्पने महागौरवञ्च । ३१८-२३

३ उक्तार्थे संयोगाच्च विभागाच्चेत्यादीनि दृष्टान्तानि सवादकानि, संयोगजैकोत्पादे विभागजानेकोत्पादे चानुभवसाक्षिको व्यवहारः प्रमाणतयाऽऽवेदितः। ३१९—१

४ "बहुआण एगसद्दे" इति गाथाविवरणं, तत्र बहूनां द्व्यणुकादीनां संयोगेऽप्येकस्य द्व्यणुकादेरुत्पादो भवति अन्यथैकाभिधानाद्यनुत्पत्तिः, तथा विभक्तानां बहूनामवयवानामुत्पादः, अन्यथानेकाभिधानाद्यनुत्पत्तिरिति । ३१९-२७

५ मुद्गरपाताद् घटो विनष्ट इत्येव प्रतीयते व्यवह्रियते चेत्यतिरिक्तविनाशस्यैव सिद्धिरित्याशङ्कायाः निराकरणं विनाशस्योत्तरपर्यायरूपत्वव्यवस्थापनेन। ३२०—६

६ अतिरिक्तविनाशाभावे "दृष्टस्तावदयं घटोऽत्र निपतन्" इति वचनमुपोद्बलकम्। ३२०-११

७ ध्वंसस्योत्तरपर्यायस्वरूपत्वे सादनन्तत्वं न स्यादिति शङ्काप्रतिविधानम् । ३२०-१५

८ मृद्द्रव्यं द्रव्यरूपेण ध्रुवं तत्तत्पूर्वोत्तरपर्यायाभ्यां विनाशोत्पादात्मकमिति तत्त्रयात्मकम्, यथा चोत्पादव्ययध्रौव्यस्वभावाः द्रव्यार्थतयाऽभिन्नाः पर्यायार्थतया च लक्षणभेदेन भिन्ना इत्येककालीनधर्मिरूपतया परस्परात्मकत्वेन प्रत्येकमेकैकरूपं त्र्यात्मकं, तथैव कालत्रयापेक्षयाऽपि पूर्वकल्पात्मकत्वतोऽनन्तपर्यायात्मकमेकं द्रव्यमिति निगमितम् । ३२०-१८

४१-१ अनन्तकाले स्वयमनन्ततां बिभ्राणा उत्पादादयो द्रव्ये कथञ्चित्स्वाभिन्नेऽनन्ततामानयन्तु, एकक्षणे एकस्मिन्द्रव्येऽनन्तपर्यायत्वं कुत इत्याशङ्कायामेकक्षणेऽप्यनन्तोत्पादविगमस्थितीनां सम्भवोऽस्त्येवेत्युत्तरपरतया 'एगसमयम्मि' इति एकचत्वारिंशत्तमगाथाऽवतारिता । ३२०-२८

२ उक्तगाथाविवरण, तत्रैकस्मिन् क्षणे एकद्रव्यस्य बहव उत्पादाः तत्समसख्यका विनाशास्तत्समसंख्यकाः स्थितयश्च, तत्र शास्त्रवार्तासमुच्चयटीकावचनसंवादः, सामान्यरूपतया स्थितिरेकापि तत्तत्पर्यायोत्पादावच्छिन्ना । ३२१-२१

तत्तत्पर्यायविगमावच्छिन्ना च भिन्नैवेति दर्शितम्। ३२१—५

४२-१ एकक्षणावच्छिन्नसंयोगविभागजानेकोत्पादादित्रैविध्यस्वभाववस्तुनो दृष्टान्तद्वारेण निश्चयार्थतया "काय-मण" इति द्विचत्वारिंशत्तमगाथाऽवतारिता । ३२१-२१

२ उक्तगाथाविवरण, तत्रैकदा प्रत्येकं कायमनोवचनादीनां विशिष्टोत्पादानुपदर्श्य कायमनोवचनक्रियारूपादिगतिविशेषापेक्षया संयोगभेदापेक्षया च ज्ञानविषयत्वाद्यपेक्षया चैकस्यैव द्रव्यस्यानेकधोत्पत्तिभावादनन्तपर्यायात्मकत्वं निगमितम्।३२१-२५

४५-१ आगमस्य निरूक्तोभयरूपत्वे सिद्धे तदुभयज्ञ एव स्वसमयस्य प्रज्ञापकः, तदितरस्तु तद्विराधक इत्युपपादनार्थतया 'जो हेउवायपक्खम्मि' इति पञ्च चत्वारिंशत्तमगाथाऽवतारिता । ३२५-१७

२ उक्तगाथाविवरण, तत्र युक्तिमार्गमहे जीवकर्मादौ यबल्तमयुक्तिप्रणयनप्रवीणो देवलोकपृथिवीसद्भूरयादावागममात्रगम्येऽर्थे आगममात्रप्रज्ञापनाप्रवीणो यः स स्वसमयस्य प्ररूपक इति । ३२५-२५

३ प्रागुक्तविशेषणविकल· साधुर्जिनवचनानुयोगविनाशकः, उक्तार्थसंवादकं 'अह पस्वाणेअव्वं' इत्यादिगाथाचतुष्टय पञ्चवस्तुग्रन्थस्य । ३२६—३

४६-१ हेतुवादसिद्धमर्थं यो हेतुना साधयति, आगमसिद्धञ्चाऽऽगमेन, तस्य नयवाद परिशुद्ध', नान्यस्यैतत्प्रतिपादकतयाऽहेतुहेतुवादभेदभिन्नागमस्य वाक्यनयरूपस्य परिशुद्धेतरभेदेन द्विरूपताप्रतिपादकतया वा 'परिसुद्धो नयवाओ' इति षट्चत्वारिंशत्तमगाथाऽवतारिता । ३२६-१९

२ उक्तगाथाविवरणम्, तत्र आगममात्रार्थसाधको नयवाद' परिशुद्ध', अनन्त धर्मात्मके वस्तुन्येकधर्मस्य स्वेतरसकलधर्मसापेक्षस्य प्रतिपादकत्वात्, स एव स्वप्रतिपाद्यांशेतरसकलांशनिषेधकरणे त्वपरिशुद्ध इति । ३२६—२४

३ नयवाद एव दुर्निर्णीतो भ्रान्तबुद्धिजनकत्वेनापरिशुद्धो द्वावपि पक्षौ निघर्षयति। ३२७-१३

४ अहेतुवादागम' श्रुतप्रमाण, हेतुवादागमो नयवाद , ताभ्या सस्कृत तत्त्वज्ञान प्रमाणमिति निगमितम् । ३२७-१९

४७-१ परिशुद्धनयवाद स्याद्वादैकवाक्यतापन्न' स्वसमयरूप , अपरिशुद्धनयवादस्तु स्याद्वादैकवाक्यतारहित परसमय', तत्कियत्ताइूरयक इत्याशङ्कासमाधानरूपतया "जावइया वयणपहा" इति सप्तचत्वारिंशत्तमगाथाऽवतारिता । ३२७-२१

२ उक्तगाथाविवरणम्, तत्र यावन्तो वचनपथास्तावन्त एव नयवादा भवन्ति यावन्तो नयवादास्तावन्त' परसमया इत्यस्य स्पष्टीकरण परमार्थोपदर्शनेन। ३२७-२८

३ तत्तन्नयवादात्मकपरसमयानामपरिमितत्वे तन्निरूपणभूतानां नयानामप्यपरिमितत्वमिति 'से किं त णए' इत्याद्यनुयोगद्वारसूत्रेण सप्तव नयविभागोऽनुपपन्न इति प्रश्नप्रतिविधानम् । ३२८—७

४ तत्र स्थूलन्यायेन मूलजातिभेदत' सप्तनया , ततोऽपि सूक्ष्मतरभेदविवक्षाया मेकैकनय' शतभेद इति सप्तनयाना प्रभेदा· सप्तशतानि, तत्र "इक्किक्को य सयविहो" इत्यादिविशेषावश्यकभाष्यसवाद' । ३२८-११

५ सूक्ष्मतरदृष्टिपर्यालोचनया त्वनन्तत्व नयाना तदुत्थनयप्रवादरूपपरसमयानामपि । ३२८ १५

२० व्यवहारनये घटोऽस्तीत्यादिव्यवहार स्वरूपसत्त्वैव, तन्मते महासामान्यं नास्ति, स्यादस्त्येव घट इत्यादि सप्तभङ्ग्या प्रथमभङ्ग सङ्ग्रहेण, द्वितीयभङ्गो व्यवहारेणेत्यादि भावितम्। ३३५—२

२१ व्यवहारस्य पर्यवसितलक्षणमेतत्प्रकरणकर्तृमतानुसारि दर्शितम्। ३३५-१९

२२ व्यवहारस्य प्रतिव्यक्तिस्वरूपसत्त्वाभ्युपगमो महासामान्यसत्ताऽनभ्युपगमपरो द्रव्यत्वाद्यवान्तरसामान्यस्य तेनाभ्युपगमादिति व्यवस्थापितम्। ३३५-२१

२३ ऋजुसूत्रनयलक्षणप्रतिपादकं तत्त्वार्थभाष्यम्, एतन्नयेऽतीतानागतकालयोरसत्त्वमुपपादितम्, अतीतानागतकालभेदेनाऽर्थभेद., तेन वाचकभेद', तज्ज्ञानमपि भिन्नमेव, 'अतीतानागताकार' इत्याद्युक्ति, 'भावत्वे वर्तमानत्व' इत्याद्युक्तिचानुसृत्यर्जुसूत्रानुगतलक्षण दर्शितम्, तत्रानुयोगद्वारसूत्रतात्पर्यं भावितम्। ३३६-२०

२४ नामादिष्वित्यादि तत्त्वार्थभाष्यनिष्कर्षलभ्य लक्षण साम्प्रतापरमंनस्य शब्दनयस्य, तत्र तद्विशेषणप्रयोजन दर्शितम्। ३३७-१८

२५ 'इच्छइ विसेसियतर' इत्यादिविशेषावश्यकनिर्युक्त्यनुयोगद्वारसूत्रोक्त्यनुसारेण लक्षणान्तर दर्शितम्। ३३७-२९

२६ शब्दनयमतव्यक्षुपदर्श्य तदनुसारि शब्दनयलक्षणमुपदर्शितम्। ३३८—२

२७ समभिरूढनयलक्षण अनुयोगद्वारसूत्र—विशेषावश्यकनिर्युक्तिरचनानुसारेण। ३३८-१५

२८ सत्स्वर्थेष्वसङ्क्रम. समभिरूढ इति तत्त्वार्थभाष्यानुसारि समभिरूढलक्षणम्, तदुक्तिभावमुपदर्श्य तन्निष्कृष्टलक्षण च दर्शितम्। ३३८-२२

२९ एवम्भूतनयस्वरूपोपदर्शकं विशेषावश्यकभाष्यवचनं 'एव जह सद्दत्थो' इति, तद्व्याख्यान च, तदनुसारि एवम्भूतनयलक्षणमुपदर्शितम्। ३४०—१

३० विशेषावश्यकनिर्युक्ति-तत्त्वार्थभाष्यञ्चाऽनुसृत्योक्तस्य 'एवम्भूतस्तु सर्वत्र' इति नयोपदेशश्लोकस्य व्याख्यायामुपाध्यायैर्निष्कर्षित लक्षणमुपदर्शितम्। ३४०-१४

३१ सप्तनयविषयोपदर्शकाना 'शुद्धं द्रव्य समाश्रित्य' इत्यादिप्राचीनाचार्योक्तदृष्टपद्यानामुपदर्शनम्। ३४०-२४

४८-१ किं दर्शन किं मूलभूतनयमभ्रमित्याशङ्कानिरसार्थंतया 'ज काविल दरिसण' इत्यष्टचत्वारिंशत्तगाथाऽवतारिता। ३४१—९

२ उक्तगाथाविवरण, तत्र कपिलप्रणीतसाङ्ख्यदर्शन व्यवहारनयलक्षणाऽशुद्ध द्रव्यार्थिकनयविकल्पप्रभवम् "दव्वट्ठियनयपयडी" इत्यनेन वेदान्तदर्शनस्य सङ्ग्रहनयलक्षणशुद्धद्रव्यार्थिकनयप्रभवत्वेन पूर्वमुक्तत्वात्, उक्तार्थे सम्मति-

५१-१ अन्वयव्यतिरेकाभ्यामुक्तार्थदृढीकरणार्थतया 'ते उ भयणोवणीया' इत्येक पञ्चाशत्तमगाथाऽवतारिता । ३५०-१६

२ उक्तगाथाविवरणम्, तत्र द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयौ भजनोपनीतौ सम्यग्दर्शनमनुत्तरं भवत., यदा त्वन्योन्यनिरपेक्षतया स्वतन्त्रद्रव्यपर्यायप्रतिपादकत्वेनोपनीतौ भवतस्तदा न सम्यक्त्वं प्रतिपद्येते, यस्माद् भवदु'गविमोक्षं प्रत्येकं द्वावपि न पूरयत इत्युपपाद्य दर्शितम् । ३५०-१९

३ कारणात्कार्यं कथञ्चिद् भिन्नमभिन्नं कथञ्चित्सच्चासच्चेत्युभयरूपमिति दर्शितम् । ३५१-१०

५२-१ उक्तार्थोपसंहरणरूपतया 'नत्थि पुढवीविसिट्ठो' इति द्विपञ्चाशत्तम गाथाऽवतारिता । ३५१-१२

२ उक्तगाथाविवरणम्, यस्मात्कारणीभूताया मृत्तिकाया भिन्नः कार्यभूतो घटो नास्ति तस्माद्धेतोर्युज्यतेऽनन्य, तत्र हेतुरुपपादित', पृथुबुध्नोदराद्याकारता-लक्षणव्यक्तिस्वरूपेण पूर्वं घटो नासीत्, तस्मात्कारणीभूतमृदात्मकपृथ्वीतोऽन्यो घट इत्युपपादितम्, भावार्थश्च दर्शित' । ३५१-१५

५३-१ सदाद्येकान्तवादवत् कालाद्येकान्तवादेऽपि मिथ्यात्वमेवेत्युपदर्शकतया 'कालो सहाव णियई' इति गाथाऽवतारिता । ३५२-११

२ उक्तगाथाविवरणं, तत्र कार्यमात्रप्रत्यसाधारणकारण काल एवेति कालवादिमतम्, स्वभाव एवेति स्वभाववादिमत, नियतिरेवेति नियतिवादिमत, पूर्वकृतकर्मैवेति पूर्वकृतकर्मवादिमत ब्रह्माख्यपुरुष एवेति पुरुषवादिमतमेकान्तात्मकं स्वस्वागमश्लोकोक्तिपूर्वकं प्ररूपितम् । ३५२-१४

३ उक्ततत्तदेकान्तवादाना मिथ्यात्व प्ररूपितम्, एकैकमात्रस्य कारणत्वखण्डनेन । ३५२-२९

४ समुदिताना कालस्वभावादीना कारणत्वाभ्युपगमस्य सम्यक्त्व, तथापि विवक्षितो हेतु. प्रधानीभूतोऽन्ये गुणीभूता इत्यादि प्रपञ्चितम् । ३५३-१०

५४-१ नास्त्येवात्मेत्याद्य' षड्का तत्तद्वाद्यार्वाकादिभि· प्रकल्पिता मिथ्यारूपा, त एव स्यात्पदाङ्किताः सम्यग्रूपा इति प्रतिपादनार्थतया 'नत्थि ण णिच्चो' इति चतु'पञ्चाशत्तमगाथाऽवतारिता । ३५३-१६

२ उक्तगाथाविवरणं, तत्र मद्याङ्गेभ्यो मदशक्तिवत्पञ्चभूतेभ्य' कायाकार आत्मोत्पद्यते, न तु तद्व्यतिरिक्त आत्मा समस्तीति नास्त्यात्मेति चार्वाकमतम् । ३५३-२३

३ 'सुखी भवेयमिति' 'आत्मनि सति परसंज्ञेति' पद्याभ्या नित्यात्माभ्युपगमतस्तदर्थं कर्म कुर्वतां जन्मादिक, क्षणिकात्मवादिनस्तु नैवमिति नैरात्म्यदर्शने मोक्षसाधनमिति न नित्य आत्मेति क्षणिकवादिबौद्धमतम् । ३५३-२८

५ न सुत्तमेत्तेणेत्यस्तार्थं व्याख्यातम्, सूत्रमात्रेणानधिगतार्थप्रतिपत्तिर्नेति । ३८५-२८

६ "अत्थगई" इत्याद्युत्तरार्धमवतार्यं व्याख्यातं, नयवादगहनलीनेत्यस्योपपत्तये 'नत्थि नएण विहूणं' इत्याद्युक्तिसङ्घट्टनम् । ३८६—७

६५-१ अधीतसूत्रेणार्थसम्पादने विधिनाऽधिकृततरो यत्नो विधेयः, अन्यथा शासनमालिन्यकारित्व स्यादित्याशयतया "तम्हा अहिगयसुत्तेण" इति पञ्चषष्ठितमगाथाऽवतारिता ।३८६-११

२ तद्विवरण, तत्र सूत्रादर्थो बलीयानिति हेतोः अधिगतसूत्रेण अर्थविषयकप्रमाणतत्तन्नयस्वरूपावधारणे दृढयत्नेन भाव्य यस्मादाचार्यधीरहस्ता आप्तशासन विडम्बयन्तीति ज्ञायतामित्यर्थो व्यक्तीकृत' । ३८६-१७

६६-१ अनिश्चितशास्त्रार्थस्य बहुश्रुतत्वादिदर्पात् सूत्रतात्पर्यानवबोधाच्च सिद्धान्तप्रत्यनीकत्वमित्यर्थकतया "जह जह बहुस्सुओ" इति षट्षष्ठितमगाथाऽवतारिता । ३८६-३०

२ तद्विवरणम्, तत्र श्रुतपक्षग्राहितया यथा यथा बहुश्रुतत्वख्यातिमान् मन्दमतिप्रभृतीनां शास्त्रज्ञत्वेन सम्मतः शास्त्रतत्त्वानभिज्ञैर्विनेयवृन्दैः परिवृतश्च समयेऽविनिश्चितार्थः अविनिश्चितागमैदम्पर्यश्च तथा तथा सिद्धान्तविनाशको भवतीति । ३८७—३

३ अत्र "सव्वण्णुहि पणीय" इति सिद्धान्तगाथाद्वय तदर्थश्च सवादरू उपदर्शित'। ३८७-१२

६७-१ "चरणकरणप्पहाणा" इति सप्ठितमगाथाया अवतरणद्वयम्, शास्त्रमधीत्य तदर्थोऽवधारणम्, अवधृतस्यार्थस्य प्रमाणनयाभिप्रायत' परिभावनीयत्वमिति, स्याद्वाद एव प्रवचनसार एतस्मिन्नविज्ञाते चरणकरणानुष्ठानस्य निश्चयशुद्धः सारोऽनिगाव' स्यादिति च क्रमेण दर्शितम् । ३८७-२२

२ तद्विवरणं, तत्र चरण 'वयसमणधम्म' इत्यादिगाथोक्तसप्ततिभेदम्, 'करण पिंडविसोही समिई' इत्यादिगाथोक्तसप्ततिभेदम्, तदुभयानुष्ठानप्रवृत्त्येकलीना स्वसमयपरसमयमुक्तव्यापारा चरणकरणस्य सार निश्चयशुद्ध न जानन्तीत्येकोऽर्थं संक्षिप्तो दर्शित. । ३८८—३

३ उक्तगाथाविस्तृतार्थ, स्वसमयत्वे परसमयत्वे च हेतुप्रदर्शनेन अय स्वसमय' अयञ्च परसमय इत्येतस्मिन् परिज्ञाने मुक्तव्यापारा इत्यस्यार्थ उक्त । ३८८-१३

४ चरणकरणयोस्सार निश्चयशुद्ध न जानन्तीत्यस्यार्थद्वयमुपदर्श्योपपादितम् । ३८८-१९

५ 'मण्णइ तमेव सच्चं' इत्यागमात् यद्र्हद्भिरुक्त तदेव सत्यमित्येतावतैव सम्यग्दर्शनसद्भाव इत्याशङ्क्य परिहृतम् । ३८८-२५

६ अत्रागमविरोधाशङ्कोत्थाप्यापाकृता, तत्र ये यथोदितचरणकरणप्ररूपणासेवन द्वारेण प्रधानादाचार्यात्स्वसमयपरसमयमुक्तव्यापारा न भवन्ति ते चरणकरणसारं निश्चयशुद्धं जानन्त्येवेत्यर्थ, तत्र "त सव्वणयविसुद्धं" इत्यागमः प्रमाणम् । ३८८-२९

॥ इति श्रीसम्मतितर्कमहार्णवावतारिकाविषयानुक्रमणिका समाप्ता ॥

३



॥ श्रीसम्मतितर्कमहार्णवावतारिकान्तर्गतसाक्षिभूतग्रन्थनामावलिः ॥

॥ आचाराङ्गसूत्रादिटीकान्तर्गतसाक्षीभूतसम्मतितर्कगाथासूचि ॥

आचाराङ्गटीका

काण्ड	गाथा	पृष्ठ
१	२१	८० प्र
१	१२	८५ द्वि
३	४५	१४७ प्र
१	३१	१७१ द्वि

सूत्रकृताङ्गटीका

काण्ड	गाथा	पृष्ठ
१	२१-२२-२३ २४ २५	२११
३	५३	२११

स्थानाङ्गटीका

काण्ड	गाथा	पृष्ठ
३	६६	२५० प्र
३	४७	३९० द्वि
३	४९	३९१ प्र

व्याख्याप्रज्ञप्तिटीका

काण्ड	गाथा	पृष्ठ
३	३७	१८ द्वि

दशवैकालिकटीका

काण्ड	गाथा	पृष्ठ
३	५२	१२ द्वि
१	१८	४० प्र

उत्तराध्ययनबृहद्वृत्ति

काण्ड	गाथा	पृष्ठ
१	३-६	२१ प्र
३	४७	६७

अनुयोगद्वारटीका

काण्ड	गाथा	पृष्ठ
३	४७	२४७

विशेषावश्यकभाष्यम्

काण्ड	गाथा	पृष्ठ	
३	५२	२१०४	८६४
३	४९	२१९५	८९९

विशेषावश्यकबृहद्वृत्ति'

काण्ड	गाथा	पृष्ठ
३	५२	३३
१	४७	३३
१	३	१३४६

विशेषावश्यक-कोट्याचार्यवृत्ति'

काण्ड	गाथा	पृष्ठ
१	४७	२४
३	५२	२४
१	३	९७६

॥ श्वेताम्बरपूर्वाचार्यकृतग्रन्थान्तर्गतसाक्षीभूतसम्मतितर्कगाथासूचिः ॥

द्वादशारनयचक्रम्

काण्ड	गाथा	पृष्ठ
१	३१	३
३	४७	७
१	२८	३९
३	६९	९५
१	[illegible]	१३४
१	३	३०४

प्रमाणमीमांसा

काण्ड	गाथा	पृष्ठ
३	४९	१५-अ पृ. १अ ३१ ब

(समापान्तर) स्याद्वादमञ्जरी

काण्ड	गाथा	पृष्ठ
३	४७	३१०

अष्टाविंशतिश्लोकटीकायां

काण्ड	पृष्ठ	गाथा	
तत्त्वार्थभाष्यबृहद्वृत्ति॰ (पत्राकार)			
१	२१ २८	१-अ.६ष्ठ	पत्र, पृ ३५-प्र
पञ्चवस्तु			गाथा
३	४५	१५०	९९३
३	५३	१५७	१०४९
३	६६	१४३	९४७
उपदेशपदम्			
३	५३	१४० प्र पृ.	
३	८५	३७२ प्र. पृ	
द्रव्यानुयोगतर्कणा			
काण्ड	गाथा	पृष्ठ	
१	३२	४६	
१	३२	७२६	

काण्ड	गाथा	पृष्ठ
१	४१	५५
१	४७	२१८
२	३५ ३६	१४९
३	१०-११ १३-१४-१५	२३
३	१२	२१
३	३२	१५४
३	३३	१५५
३	३३	१५८
३	३४	१६१
३	३८-३९	१५७
३	३९	२३१
३	४१	१५३
३	४९	६३
३	६७	३

॥न्यायाचार्यश्रीयशोविजयोपाध्यायग्रन्थगतसाक्षीभूतसम्मतितर्कगाथासूचिः॥

अनेकान्तव्यवस्था

काण्ड	गाथा	पृष्ठ
१	४	१० द्वि
१	५	५४ प्र.
१	८	२८ प्र
१	९-१० ११	२८ द्वि
११	२ थी १६-२१	२९ प्र
१	२२-२३	२९ द्वि
१	२४-२५ २६	३० प्र
१	२७-२८	३० द्वि
१	३५	२६ द्वि
१	३६	६९ प्र
१	३७	७० प्र
१	३८	७० द्वि
१	३९	७१ प्र
१	४०	७१ द्वि
१	४१	५७द्वि ७२ प्र
१	५३ ५४	६५ द्वि
३	५ ६	७४द्वि
३	७ ८	७५ प्र
३	९ १०-११	७५ द्वि
३	१२	७६प्र ८० द्वि
३	१३-१४	७६ प्र
३	१५	७६ द्वि
३	१७ १८	८२ प्र
३	१९-२० २१	८२ द्वि

काण्ड	गाथा	पृष्ठ
३	२२ २३	८३ प्र
३	२४ २५-२६	८३ द्वि
३	२७	८४ प्र
३	२८	८४ द्वि
३	२९	८५ प्र
३	३०	८५ द्वि
३	३३	८२ प्र
३	३९	८१ द्वि
३	४८	३१
३	४९	४ प्र
३	३१ ६७	८६ प्र

शास्त्रवार्ता-समुच्चय टीका

काण्ड	गाथा	पृष्ठ
१	६	२४२ प्र
१	९	२११
१	१० ११	२३१ द्वि
१	१२	२२४ प्र
१	२१	२३०
१	२८	२३० द्वि
१	३६	२५२
१	३७ ३८-३९	२५३ प्र
१	४०	२५३ द्वि
१	४३ ४४	२५८ प्र
१	४७ ४८	११५
१	४९ ५०	११५ द्वि
१	५१-५३	११६ प्र
१	५२ ५४	
२	३५	३४२ प्र
२	३६	३४२ द्वि

काण्ड	गाथा	पृष्ठ
३	३	२५ प्र
	८	२६१
३	९-१०-११ १२ १३ १४ १५	२६१ द्वि
३	२७	२२३ द्वि
३	२८	२५९ प्र
३	२९-३१	२५९ द्वि
३	३२	२१९ द्वि
	३३	२२०
	३४	२२१
३	३५	३५ प्र
	३८ ३९	३६
३	४०	२३५ प्र
	४३ ४४	६८
३	४७ ४८ ४९	२७४ प्र
३	५०	२४ द्वि
	५३	७९
३	५६ ५७	२५६ प्र

नयामृततरङ्गिणी

काण्ड	गाथा	पृष्ठ
१	३	२९ प्र
१	८-९	३० द्वि
१	१०	३१ प्र
१	१२-१३ १४	३५ द्वि
१	१५-१६	३६ प्र
१	२८	२८ द्वि
१	३१	३ द्वि
१	३४ ३५	१२ प्र
१	४१	१३ द्वि
१	५३	८८ प्र
१	५४	१५ द्वि

काण्ड	गाथा	पृष्ठ
३	६	१९ द्वि
३	२५ २८	१५ ९६ द्वि
३	३७	४३ द्वि
३	४७	८९ प्र
३	५३	९२ द्वि
	अष्टसहस्री	
१	३५	५४ प्र
१	३६	२०८ द्वि
१	३७	२१० द्वि
१	३८-३९-४०	२११ प्र

काण्ड	गाथा	पृष्ठ
१	४१	२११ द्वि
१	४७	९३ प्र
२	३२	४ प्र
३	३५	९३ द्वि
३	५	१९५ द्वि
३	२८	३०९ प्र
३	३२	१६८ प्र
३	४१	१११ प्र
३	४३-४४	३०८ द्वि
३	४५	३०९ द्वि

॥ महावीरस्तवकल्पलतिकासमलङ्कृत-महावीरस्तवमूलगतसम्मतिगाथा ॥

काण्ड	गाथा	पृष्ठ
१	८ २८	२६६ ३१६ प्र
३	६	३२५ द्वि
१	२५ २९	३१९ १३२ प्र
३	३५	४१९ द्वि
	ज्ञानार्णवसमन्वितज्ञानबिन्दुपत्राङ्कानि	
१	८ ३५	१०६ द्वि
२	३—४	१०८ द्वि
२	५	१०९ द्वि
२	६थी ९	१११ प्र
२	१० ११	१११ द्वि
२	१२	११२ प्र
२	१३ १४	११२ द्वि
२	१५	११३ प्र

काण्ड	गाथा	पृष्ठ
२	१६-१७	११३ द्वि
२	१८ १९-२०	११४ प्र
२	२१-२२	११४ द्वि
२	२३ २४	११५ प्र
२	२५ २६	११५ द्वि
२	२७थी ३०	११६प्र
२	३१	११७प्र
२	३२ ३३	११७ द्वि
	गुरुतत्त्वविनिश्चय	
१	२८	१२ द्वि
३	२७	१७ द्वि
३	५४	१८० प्र
३	६६	७२ द्वि
	प्रतिमाशतकम्	
१	५	२९३

काण्ड	गाथा	पृष्ठ
३	६७	६२
३	७८	६२

ग्रन्थचतुष्टयान्तर्गतोऽस्पृशद्गतिवाद

३	४४ ४५	३५ प्र

२९२ पत्रमुद्रित धर्मपरीक्षा

१	३	९९
१	२८	७८
३	२७	२६२
१	४७	९५
३	४८ ४९	९९

उपदेशरहस्यम्

१	५४	४० द्वि
३	७७	४१ द्वि
३	४५	६१ प्र
३	६६	६१ द्वि
३	६७	४३ प्र

अध्यात्ममतपरीक्षा

३	४९	३६ प्र

तत्त्वार्थविवरणाऽऽद्याध्याय'

२	३२-३३	१७ प्र
१	२१	२९ द्वि
१	२८	३० प्र

काण्ड	गाथा	पृष्ठ
१	३७	५३ प्र
१	३	६९ प्र
१	९	७१ प्र
१	८	७५ प्र
३	२५	८३ प्र

द्रव्यगुणपर्यायरास

काण्ड	स०गाथा	ढाल	गाथा
३	६७	१	२
३	१०थी१५	७	११-१२
१	३२	४	५
१	४१	४	१३
३	६७	४	१४
३	४९	५	६
३	३७	९	१२
२	३५-३६	९	१४
३	४१	९	१८
३	३२	९	१९
३	३३	९	२०-२१
३	३८ ३९	९	२१
३	३४	९	२६
१	४७	१३	१०
१	३२	१४	६
३	३९	१४	१६

॥ दिगंबराचार्यकृतग्रन्थसाक्षिभूत-सम्मतितर्कगाथासूचिः ॥

कषायपाहुड–जयधवलाटीका

काण्ड	गाथा	पृष्ठ
१	३५	२१८
१	४	२२०
३	४७	२४५
१	११-१२-१३	२४८
१	१७ थी २१	२४९

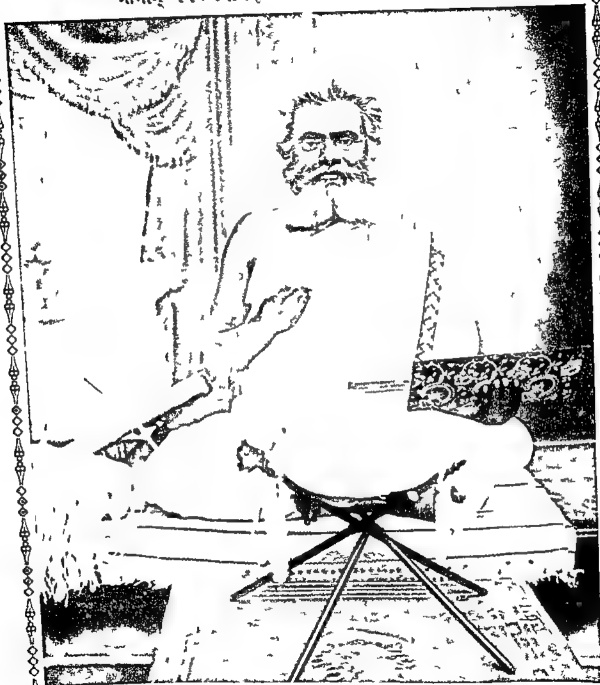
काण्ड	गाथा	पृष्ठ	
१	८	२५२	
१	३१	२५३	
१	९	२५६	
१	२८	२५७	
१	६	२६०	
२	४	३५१	
२	५ ९	३५२	
२	१२ १३	३५६	
२	३	३५७	
२	६	३५९	
षट्खण्डागमधवलाटीका			
काण्ड	सं-गाथा	भाग	पत्र
१	३१	२	६

काण्ड	गाथा	भाग	पृष्ठ
१	६	३	३
तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकम्			
३	४५	१	
पञ्चास्तिकायटीका			
३	६७	२५०	
सिद्धिविनिश्चयटीका			
३	५०	३२४ (लिखितपत्र)	
द्वादशारनयचक्र			
३	५८	सप्तम-अर	
१	४७	अष्टम-अर	
१	६	अष्टम-अर	



સર્વતન્ત્રસ્વતન્ત્ર-શાસનસમ્રાટ્-સૂરિચક્રચક્રવર્તિ તપોગચ્છાધિપતિ જગદ્ગુરુ-ભટ્ટારકાચાર્ય

શ્રીમાન્ વિજયનેમિસૂરીશ્વરજી મહારાજ સાહેબશ્રીજી



જન્મ-સંવત્ ૧૯૨૯ કાર્તિક શુ ૧ શનિવાર મધુમતી (મહુવા) દીક્ષા સં ૧૯૪૫ જેઠ શુદ [illegible] ભાવનગર
ગણિપદ —સં ૧૯૬૦ કાર્તિક વ ૧૦ પંન્યાસપદ માગશર શુ ૩ વળા (વલ્લભીપુર)
આચાર્યપદ—સં ૧૯૬૪ જેઠ શુદ ૫ ભાવનગર
સ્વર્ગવાસ—સં ૨૦૦૫ આસો વ૦ ०)) દીવાળી ગુરુવાર મહુવા.

॥ श्रीगुर्वष्टकम् ॥

विशेषाधारत्वात्त्वमसि पुरुषेषूत्तम इतो,
महिम्नः सामान्य तव तु समवेता अपि सुरा. ।
गुणाधारो द्रव्यात् पृथगपि सुकर्माऽस्यऽमवनः
नमामस्त्वा देवालयमपि गत मद्धृदयगम् ॥ १ ॥
गुरुस्त्वत्तो भीतो गुरुवर ! गतो देवसदन,
गत त्वां तत्रापि प्रथितमरलोक्यातिचकित. ।
स्वय शिष्यो भूत्वा किमु तव कविं मीपयति यत्,
ननु त्वा काव्योपि श्रयति नमन तेऽस्तु चरणे ॥ २ ॥
हरस्त्वं शिष्याणा हरसि हृदयध्वान्तमनिश,
विरञ्च्युक्ति किन्ते वचनमतिशेते न गहनम् ।
सुरत्वष्ट्यातैव प्रभवति तदीया कृतिरिय,
परा कल्पातीता गुरुवर नमस्तेऽस्तु सततम् ॥ ३ ॥
गणेशास्ते शिष्या वदनमपि भारत्यधिगता,
नयग्रामोऽणौ ते मनसि रमतेऽनेकरूपयुगः ।
प्रमाणस्वात ऽत्र तव मतिगत भाति विमलम्,
नमामस्त्वां नित्य गुरुवरमभीष्टालिकलितम् ॥ ४ ॥
गुणौधैर्व्याप्ते ते हृदि परिमिते कीर्तिरमिता,
गताऽब्धीनां पार तदनुगमनास्तेऽपि च गुणाः ।
प्रतापस्तै. सर्वैर्जगदपि परिव्याप्य च गतो,
गुरो चित्र तैस्त्वा भृतमपि नमस्यामि चकित ॥ ५ ॥
गुणान् वक्तु शक्तस्स तव सुगुरो यः श्रुतधर,
यत कालोऽनन्तो जिनवचनगीश्चारु भनना ।
अमेयोऽवाच्यो वा गुणगणगतस्ते यदि गुणो,
विशिष्याऽनाद्येयो गुणिगुणनमस्योऽसि च तदा ॥ ६ ॥
त्वमेव त्वां स्तोतुं गुरुवर समर्थोऽसि नितरां,
गुणग्रामो यत्ते न न परपरिच्छेद्य इयता ।
न सादृश्य पूर्णं त्वयि जगति कस्यापि कृतिनो,
नमामस्त्वा पूर्णामृतसुखमय पूर्णमवरम् ॥ ७ ॥

न सूरीणां त्वत्तोऽतिशयघटना काऽपि विधुरा,
सती त्वां ध्यायन्ती जगति सधवा मुक्तिसुभगा ।
वरेण्या वाणी ते निखिलमतगा मानमहिता,
हितार्थो सैवैका स्तुतिरपि गुरो ते परिणता ॥ ८ ॥
इदं स्तोत्रं गुर्वष्टकमहितकर्माष्टकहरं,
पठेत्प्रातः सायं त्रिकरणपटुर्यो नियमतः ।
सरस्वत्या वासः स भवति समाया सुमहितो,
न तस्याग्रे कोऽपि प्रभवति विपश्चिद्विरदितुम् ॥ १ ॥
शुचिर्बिम्बं स्वच्छं हृदयभवने स्थाप्य च गुरोः,
पठेद्धीमान् भक्त्या सुसमयमभिव्याप्य परितः ।
इदं स्तोत्रं तस्यानधिगतिविहीनार्थप्रचुरं,
नयग्रामालीढं प्रसरति सदा गीर्मितिचिता ॥ २ ॥

॥ इति गुर्वष्टकम् ॥

॥ श्रीगुर्वष्टकटिपणी ॥

विशेषाधारत्वादिति, वि: पक्षी पक्षिजातीयो गरुडः । शेषः सहस्रफणः शेषनागः । तौ विशेषौ वाहनतया शय्यारूपतया आधारौ यस्य विष्णोः स विशेषाधारः, तस्य भावो विशेषाधारत्वं, तस्मात् । पुरुषेषु आत्मसु मध्ये उत्तमः उत्कृष्टो यथा विष्णुः पुरुषोत्तम इति गीयते तथा हे गुरो ! त्वं विशेषाणां सर्वतन्त्रस्वतन्त्रनरप्राचीनजैनतीर्थोद्धारकर्तृत्वादीनामन्यपुरुषव्यावृत्तानामाधारत्वात्पुरुषेष्वात्मसु मध्ये उत्तमः उत्कृष्टोऽसि । ननु विष्णुरुपेन्द्रत्वात्सुरोऽहं तु मनुष्य इति कथं पुरुषोत्तम इत्याकाङ्क्षायामाह—इतो महिम्नः प्रत्यक्षतोऽनुभूयमानात्तत्तल्लोकपूजितप्रतिष्ठादिकार्यैकरणजातभवमाहात्म्यात् त्रिभुवनव्यापिनः । ममचेतः तत्तल्लोकमभिव्याप्य स्थिताः । सुरा देवा, अपि, किमुत उपेन्द्राख्य एको देवः सर्वे देवाः । लोके मनुजादिपञ्चगतिषु देवगतेः प्राधान्यम् । देवा अपि सामान्यं साधारणं भवदपेक्षयाऽल्पगुणयोगि, सदा येषां कर्यैव केवलपिना द्योत्यते । तथा च पुरुषोत्तमाद्विष्णोरपि सुरास्त्वमुत्तम इति । अन्योऽपि विशेषस्त्वयि समस्तीत्याह—गुणाधारो द्रव्यात्पृथगपि, द्रव्याल्लक्ष्मीस्वरूपात्, पृथगपि विभिन्नोऽपि तत्स्वामित्वादिरहितोऽपि । गुणाधारः आत्मगुणानां सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्राणां भेदसहिष्णुमभेदलक्षणाऽविष्वग्भावसम्बन्धेनाश्रयस्त्वमसि, विष्णुस्तु लक्ष्मीस्वामी भूत्वा तदासक्त एव मायिकगुणस्य सत्त्वादेरस्याधारो न तु मोक्षमार्गस्य । तथा सुकर्मा द्रव्याद्भिन्नोऽपि त्वं शोभननिरघधर्मशाली, असि, विष्णुस्तु नैव शोभनकर्मशाली किन्तु

रक्षःप्रभृतिश्चुद्रहननायशुभकर्मभोनेरा।तथा अभवनः, भवन गृह न विद्यते यस्य सोऽभवन' अनागार' त्वमसि, विष्णुस्तु लोकविशेषवैकुण्ठादिनिवासी गृहवानेव, अत' सर्वथा विष्णोरुत्कृष्टस्त्वमसि। नियतगृहनिवासित्वाभावात्सर्वगतनानाविष्वम्भूतत्वेन सर्वगत त्वा सुरालयगतमपि देवालयगतमपि। मद्धृदयगमद्धृदयस्थित, नमाम' प्रणमाम ।

ननु व्यापकत्वेन भवद्धृदयगतत्व न भवत्कर्तृकमणतिकर्मत्वप्रयोजकं, तथा सति पुरुषान्तराणामपि सर्वगाना तत्त्व स्यादिति चेत्, सत्यम्, अत एव स्वऽभ्यस्तवैशेषिकदर्शनगतसप्तपदार्थाध्यापनकर्तृगुरोरुपदिष्टपदार्थस्मृतिविषयतया मद्धृदयगतत्व परमोपकारित्वेन प्रणतिप्रयोजकमित्यभिप्रायेण विशेषाधारत्वादित्यत्र विशेषपदार्थस्य सामान्यमिति सामान्य पदार्थस्य समवेता अपीत्येनद्वचनतया समवायपदार्थस्य गुणाधार इति गुणपदार्थस्य द्रव्यादिति द्रव्यपदार्थस्य सुकर्मेति, कर्मपदार्थस्याभवन इत्यभावपदार्थस्य च सन्निवेशनेन तादृशसप्तपदार्थनिरूपणात्मक वैशेषिकदर्शन प्रथमस्तुतिपद्ये प्रकटितम्। एतत्सन्निवेशस्य स्तुतावित्थमुपयोग । अन्त्यो नित्यद्रव्यवृत्तिर्विशेष' परिकीर्तित इति वचनात्स्वतो व्यावृत्ता नित्यद्रव्याणां व्यावर्त्तकत्वान्नित्यद्रव्यवृत्तयो यावन्ति नित्यद्रव्याणि तावत्सङ्ख्यका विशेषा', इति विशेषाधारत्वात् हे गुरो! यदि त्व पुरुषोत्तम तदाऽन्येऽपि जीवा' पुरुषोत्तमा स्यु'। इतो महिम्न' एतादृशमाहात्म्यलक्षणमहत्त्वात्सामान्येन समनुयोगित्वप्रतियोगित्वाऽन्यतरसम्बन्धेन समवायसम्बन्धलक्षणसमवेतत्वधर्मेण सादृश्यात्सुरा देवा अपि समवेता' सामान्य स्यु। यथा सुरा स्तानमात्रेण सामान्य न, तथा भवानपि विशेषाधारत्वतोऽन्यनित्यद्रव्यसाधारणाश्च भवितुमर्हति पुरुषोत्तम'। गुणा रूपमाद्यश्चतुर्विंशतिविधा द्रव्येष्वेव वर्तन्त इति तदाधारस्त्व कथ द्रव्यात्पृथक्, द्रव्यभिन्नस्य गुणाधारत्वासम्भवात्। एव धर्माऽपि पञ्चविधं मूर्त्तद्रव्येष्वेव वर्तत इति सुकर्मा त्व कथ द्रव्यात्पृथक्, भवनं भावोऽभवनोऽभाव , सोऽपि भावरूपस्त्व कथमित्येव विरोधोऽवभासत इति विरोधभासकतया वैशेषिकदर्शनमुपयुज्यते, तत्परिहारस्तु पूर्वमर्थभेदाश्रयणात्कृत इति विरोधाभासचमत्कृतिमादधातीति ॥ १ ॥

सुराचार्यासुराचार्याभ्या विशिष्टत्वादपि त्व नमस्योऽसीत्याह—

गुरुरिति। हे गुरुवर! त्वत्तो भीतो गुरु' बृहस्पति', देवसदन स्वर्ग, गतः। तत्रापि स्वर्गेऽपि, गत त्वा, प्रथित विशिष्टविद्यादिगुणयोगादिन्द्रप्रभृतिदेववरसम्माननामभ्यावितम्, अवलोक्य दृष्ट्वा, अतिचकित अत' परं किं करणीयमित्येव कान्दिशीको जात', भीत्या स्वर्गं गतस्यापि भीतिरसमुपस्थितवेति तत्त्राणोपाय एतस्य शिष्यभवनमेवेत्याकलय्येव विभु, तत्र स्वयं शिष्यो भूत्वा। कवि असुराचार्यं शुक्र, भीषयति, यत् यस्मात्कारणात्। ननु निश्चितम्, काव्योऽपि शुक्रोऽपि, त्वा श्रयति गुरुत्वेन त्वा स्वीकरोति, एवं सत्येव बृहस्पतितो

न भय तस्य, अभिनरशियाभ्यां सुरासुराचार्याभ्या सेविते ते चरणे तव पदकमले, नमन प्रणाम, अस्तु भवदित्यर्थः ॥ २ ॥

शिवब्रह्मभ्यामपि त्व विशिष्ट इति त्वा स्तौमीत्याह—

हर इति । तमोगुणयुक्तो महादेवः पराभिमतो महाप्रलये जगदेव संहरतीति हर इति गीयते । त्व पुन' शिष्याणाम सेवाविना हृदयघ्या तमात्मगतमनादिकालीनमज्ञानलक्षणाध कारम्, अनिश सर्वदा जिनोक्तमोक्षमार्गज्ञानदर्शनचारित्रलक्षणालौकिकालोकाविर्भावनेन हरसि विनाशयसीति हर' । ते तव, गहनं जिनोक्तागमार्थसङ्घटितमूर्तिकत्वेन मन्दमत्यगम्य विशिष्टसूक्ष्ममतिमात्रगम्य, वचनम्, विरञ्च्युक्ति विरञ्चिर्ब्रह्मा, तस्योक्ति वचन पराभिमत- वेदलक्षणागम विशेषातिशेते अपि त्वतिशेत एव, ब्रह्मकृतिविशिष्टा च तव कृतिरित्याह— सुकल्पपर्यासैवेति, तदीया ब्रह्मसम्बन्धिनी कृति वेदरचना ब्रह्मनिर्मितो वेद इति यावत्, ब्रह्मदिन यस्य इत्युच्यते इति सुकल्प यामैव नहैकदिवसमात्रस्थायिन्येव, दिवसान्तरे पुन र्यैव वेदकृति, या या ब्रह्मण' कृति. सा सर्वापि कल्पमात्रस्थायिन्येव, इय प्रत्यक्षतोऽनुभू- यमाना तव कृति. परा उत्कृष्टा कल्पातीता । कल्प. कल्पना तमतीताऽतिक्रान्ता कथमिय मित्य सञ्जाता यत' परै. कल्पनाशतैरपि बाधितु न शक्यते, एतस्मात्कारणात् हे गुरुवर ! ते तव, नम त्वामुद्दिश्य नमस्कार, सतत सर्वदाऽस्तु ॥ ३ ॥

पराभिमतो महेश एक गणेशपुत्रक एव, त्व पुनरनेकगणेशपुत्रक इत्यादिहेतोरपि तत उत्कृष्ट' स्तुत्यर्ह इत्याह–गणेशा इति । ते तव शिष्या' पट्टधरा गणेशा' गणधरा', तस्य महेशस्य पत्नी पार्वती देहार्धीभूता, तव तु भारती सरस्वती वदनमपि मुखमप्यधिगता मुखद्वारा हृदयाश्रिता अपिना शरीरे मुखरूपावयवस्य प्राधान्यमपि तदाश्रितस्य सर्वाश्रितत्वमिति भारतीस्वरूप एव त्व सर्वत्र इति प्रतिपादित भवति । नयग्राम नैगमम ङ्ग्रहादिसप्तविधनयसमुदाय, अनेकरूपग' विभिन्नमार्गगामी, ते तव, अणौ सूक्ष्मे, तेना णुपरिमाणस्य जैनमतेऽनभ्युपगमेऽपि न क्षति । अनन्तधर्मात्मक मनस्यपि कयाचिदपेक्ष याऽणुत्व सम्भवत्यपि, मनसि अन्तःकरणे, रमते अपेक्षाभेदेन विरोधपरिहारलक्षणसुख मनुभवति, यत एव परिहृतविरोधा नयास्तव हृदयङ्गतास्तत एव तव मतिगतं त्वज्ज्ञानगत, प्रमाणस्वातन्त्र्य प्रत्यक्षपरोक्षभेदेन द्विविधस्य मतिश्रुतावधिमन पर्यायकेवलज्ञानात्मक- पञ्चविधज्ञानात्मकस्य प्रमाणस्य यत्स्वतन्त्रसिद्धत्वपर यत्प्रमायात्मस्वलक्षणप्रामाण्योपेतत्वे नानन्तधर्मात्मकवस्त्ववगाहित्वलक्षण स्वातन्त्र्य, विमल परोक्तकानदोषलक्षणमलरहित, भाति प्रकाशते, नित्य सर्वदा, अमीदालिकलित पारमार्थिकेष्टमणिविभूषित, गुरुवर त्वाम्, नमाम प्रणमाम ॥ ४ ॥

कीर्तिप्रतापादिगुणगणैकान्तावासो भवान् गुणिगणेन नमस्करणीय इत्याह-गुणौघैरिति गुणौघैर्गुणसमूहैः, व्याप्ते सर्वत' परिवृते, परिमिते परिच्छिन्नप्रमाणे, ते हृदि तव हृदये, अमिता मातुमशक्या, कीर्तिर्यश, अम्बुधीना समुद्राणा, पारगता चतु समुद्रानुल्लङ्घ्य देशान्तरं गता, चतु'समुद्रपर्यन्तव्यापिनी तव कीर्ति', तेऽपि च त्वद्हृदयव्यापिनोऽपि गुणास्तदनुगमना कीर्त्यनुगमना', कीर्त्या सह तव गुणा अपि समुद्रपारगता इति यावत्, तै' सर्वैः स्वत्कीर्तित्वद्गुणै मम, तव प्रताप प्रकृष्टतेज', जगदपि त्रिभुवनमपि, परिव्याप्य सर्वतो व्यापन कृत्वा, गतश्च, एतावताऽभिव्याप्त पूर्वस्थानमपरित्यज्यैव गता न तु पूर्वदेश विहायेति सूचितम् । अत एव ह गुरो ! चित्रमाश्चर्यं यथा स्यात्तथा चकित' किमन्योऽप्येवमीदृशोऽभूदस्ति भावी वेत्येव विचारकलितचित्तोऽह, तैः पूर्वोपदर्शितगुण कीर्त्यादिभि, भृत परिपूर्णम्, अपि, त्वा नमस्यामीति ॥ ५ ॥

सर्वानेका ततत्त्वाभिज्ञ एव जिनोपदिष्टकालादिसन्निरस्त्वद्गुणग्रामान् वक्तु समर्थो नान्य इत्याह-गुणानिति । हे गुरो ! तव गुणान् स वक्तु यन्ति यथार्थतया प्रतिपादयितुमिति यावत्, शक्त, समर्थः, य' श्रुतधर' विशिष्टश्रुतधर इत्यर्थ., एवकारोऽत्र दृश्य., यो हि यज्जानाति स एव तत्प्रतिपादयितुमीश', अन्ये विशिष्टश्रुतधरात्त्वद्गुणगणाभिज्ञो नास्त्येव । नन्विदानीं विशिष्टश्रुतधरो नास्ति ततोऽज्ञाता गुणा न स्तवनार्हा इत्यत आह-यत' कालोऽनन्त इति यद्यप्यतीता विशिष्टश्रुतधरा नेदानीं सन्ति, इदानीन्तनास्त्वस्मत्सदृशा न विशिष्टश्रुतधरा., भविष्यत्काले तु भविष्यन्ति बहव श्रुतधरा ये भवतो गुणान् स्वज्ञान-विषयीकृतान्वक्तु स्वकाले समर्था एव तथा भूत भवन्तमनागतं च सर्वमतीता अपि श्रुतधरा वातु प्रगल्भा एव, वस्तुत इदानीमपि श्रुतधरा क्षेत्रान्तरे विहरन्त्येव, अथवा ननु यदीया गुणा अनन्ता न विशिष्टश्रुतधरैरपि युगपदेव वक्तु शक्या इत्यत आह-यत इति, यदि कालोऽनन्तो न भवेत्, न भवेयु श्रुतधरैरपि तव गुणा अनन्ता वक्तु योग्या, यदा तु कालोऽप्यनन्त' तदुपलक्षिता श्रुतधरा अप्यनन्ता, तदा तव गुणा श्रुतधरवचनगोचरा' समाचयितु शक्या इति भाव. । ननु कालस्य क्षणरूपस्यैकस्यानन्तत्व नास्ति तत्प्रवाह-स्यानन्तत्वेऽपि बौद्धमेव तस्यैकत्व न वास्तविक, वचन च धर्मधर्मेण भवति तत परो न श्रुतज्ञानी तस्य स्वयमेवास्मद्गुणगणज्ञत्वेन तत्र स्वमद्गुणगणकथनस्य श्रवनानिकर्तृकस्यानु पयुक्तत्वात्, किन्त्वश्रुतज्ञानी, स चानन्तेनापि कालप्रवाहेण कल्पितेन श्रुतज्ञानिवचनादस्मद्गुणस्तोमं ज्ञातुं न समर्थ इत्यस्मद्गुणस्तवन श्रुतज्ञानिकर्तृकतया सम्भावितमपि निष्प्रयोजनमेवेत्यत आह जिनवचनगीश्चारुभनत्तेति, जिनवचनात्मिका वाणी समीचीनस्याद्वादस्वरूपेत्यर्थ, न खलु जिनमते किमप्येकान्तेनैकस्वरूपमेव वस्तु, ततोऽतादृशा श्रुतधरोऽपि तव गुणान्

वक्तुं समर्थोऽसमर्थोऽपि, त्वद्गुणस्तुतिः श्रुतधरकर्तृका भवति न भवति चेत्येव स्याद्वाद-व्याप्त्यापि पद निधत्ते तेन श्रुतधरेणापि वक्तुमशक्यास्त्वद्गुणा इति भावः। उक्ताभिप्राया-नुसन्धानेनाह–अमेयोऽवाच्यो वेति। यदि त तव, गुणगणगतः गुणगणे वर्तमानः, गुणः पुरुषोत्तमभवदाश्रितत्वनिबन्धनो गुणविशेष, अमेयो मातुमशक्यः, एतावानस्य महिमेत्या-दिरूपेण परिच्छेत्तुमशक्य इति यावत्, वा अथवा परिच्छेदातीतत्वात् अवाच्यः सकलवचना-विषयः, केनापि वचनेन निर्देष्टुं न शक्य इति यावत्, अत एव विशिष्यानाख्येयः स्वासा-धारणरूपेणाख्यातुमशक्यः, अस्ति कश्चिद्गुणविशेषोऽमेयोऽनिर्वचनीय इति सामान्यतः प्रतिपादयितु शक्य एव, तदा गुणगणगतगुणविशेषेण निर्वचनीयेन स्तोतुमशक्यतादशायामपि च पुनः गुणिगुणनमस्योऽसि गुणिनां गुणवतां पुरुषाणां ये लोकप्रसिद्धा गुणास्तैः स्वगतैः नमस्कारार्होऽसीत्यर्थः ॥ ६ ॥

तत्किमहं गुणनिर्दोषाकलितगुणगणयथावद्वर्णनद्वारा स्तुतिविषयो न भवाम्येव, नैवम्, यथा सर्वज्ञः स्वाऽसाधारणस्वरूपेण सर्वज्ञव्यतिरिक्तजनासवेद्योऽपि स्वसंवेद्यः, ज्ञान पराप्रकाश्यमपि स्वप्रकाश्यम्, तथा त्वमपि परकर्तृकस्तुतिगोचरताऽतीतोऽपि स्वकर्तृकस्तुतिगोचरो भवसीत्याह–त्वमेवेति। हे गुरुवर! धर्माद्युपदेशदानेन शिष्याणां परमपुरुषार्थमार्गसम्यग्ज्ञानादिनिदानानां श्रेष्ठ!, अथवा गुरोर्बृहस्पतेरपि वरेण्य! स्वां स्वस्वरूप, स्तोतु स्तुतिकर्म कर्तुं, त्वमेव नितरामतिशयेन, समर्थ शक्तिमान्, असि भवसि। कथमन्यो मां स्तोतुमसमर्थ ? यत् यस्मात् ते तव, गुणग्राम गुणसमूहः, इयत्ता एतावन्न्यूनाधिक्यपरिच्छिन्नप्रकारेण, परपरिच्छेद्यो न च, स्वभिन्नपुरुषपरिच्छेदगोचरो न भवति, स्वमतिगोचरयावत्प्रकारेण स्तुतिकरणेऽपि तदधिकप्रकाराणां वैशिष्ट्यागमकुशलानां परित्यक्तत्वेन न्यूनोक्तिसद्भावात्, यावन्तो वैशिष्ट्यबुद्ध्याधानपटवो गुणास्त्वयि समवेता-स्ते नान्यत्र समवयन्तीति तावद्गुणवत्त्वलक्षणसाधारणधर्मेण त्वयि सादृश्य न कस्यापि, एकैकोऽपि गुणो विशिष्टस्त्वद्गतो नान्येति तेनापि सादृश्य न त्वयि परस्येति नोपमयाऽपि त्वद्वर्णन परेण कर्तुं शक्यमित्याह–न सादृश्यमिति। अपति कस्यापि कृतिन सादृश्य त्वयि न पूर्णमित्यन्वय, अर्थस्तु व्यक्त एव, अपूर्णं सादृश्यमुपादायोपमा तु न विच्छित्तिविशे-षाधाने पटीयसीति न सा स्तुतिरित्यभिसन्धि, महान्त स्वमुखेन स्वगुणवर्णनात्मिकां स्वस्तुतिं न कुर्वन्तीत्यभिसन्धाय यदि समर्थोऽपि त्व स्वस्तुतिं न करोषि अन्यस्तु तथा कर्तुमविदग्ध एवत्येव स्तुतिगोचरत्वाभावेऽनन्तमपि त्वामेतद्गुणवैशिष्ट्यमुपादाय सर्वातिशा-यिन प्रणमाम इत्याह–नमाम इति, पूर्णामृतसुखमयमक्षर पूर्णं त्वा नमाम इत्यन्वय, कतिपयकालानन्तरमेवोक्तगुणास्पदस्त्वं भविष्यसीति निर्णयन्तो वय प्रणमाम इत्यभिसन्धि। अक्षरार्थस्तु व्यक्त एव, अक्षरमित्यत्र न क्षरो वियते यस्मादिति विग्रह इति ॥ ७ ॥

શાસનસમ્રાટ તપાગચ્છાધિપતિ સર્વતંત્રસ્વતંત્ર સૂરિચક્રચક્રવર્તિ તીર્થપ્રભાવકશાસન જગદ્‌ગુરુ પ્રાતઃસ્મરણીય પૂજ્યપાદ

ભટ્ટારકાચાર્ય શ્રીમદ્ વિજયનેમિસૂરીશ્વરજી મહારાજશ્રીજીના પટ્ટાબ્જભાસ્કર

ભટ્ટારકાચાર્ય શ્રીમદ્ વિજયદર્શનસૂરીશ્વરજી મહારાજશ્રીજી



જન્મ-સં. ૧૯૫૩ પોષ સુ. ૧૫ મહુવામાં ૨, દીક્ષા-સં. ૧૯૬૮ અષાડ સુ. ૧ ભાવનગર

ગણિપદ-સં. ૧૯૬૯ અષાડ સુદ ૫ (કપડવંજ)

પંન્યાસપદ-સં. ૧૯૬૮ અષાડ સુદ ૯ કપડવંજ ઉપાધ્યાયપદ—વ્યાકરણવાચસ્પતિ-શાસ્ત્રવિશારદ

પદપ્રદાન-સં. ૧૯૭૩ માગશર વ. ૩ સાદડી (મારવાડ) આચાર્યપદ-સં. ૧૯૭૮ વૈશાખ વ. ૭ ખંભાત

ॐ अर्हं नम ॥

सदामोदोल्लासिसकलजनतापापहारिनिर्मलवाणी-विलासायानल्पलब्धिनिधानाय श्रीगौतमस्वामिने नम ।
न्यायव्याकरणसिद्धान्तादिशास्त्रपारावारसमवगाहनसमुपलब्धानर्घतत्त्वमणिसन्दृब्धाऽभ्रम य-
मालेभ्य शासनसम्राट् सूरिचक्रचक्रवर्त्तिश्रीविजयनेमिसूरिसद्गुरुभ्यो नम ।
तत्पट्टसुधांशुभानु-न्यायवाचस्पति-शास्त्रविशारदविरुदविभूषित-तपागच्छभट्टारकाऽऽचार्य-
श्रीविजयदर्शनसूरिप्रणीत " सम्मतितर्कमहार्णवावतारिकाख्यटीका "-
समलङ्कृत श्रीविक्रमादित्यादिमहाभूपतिप्रतिबोधक-महातर्कवादि
शिरोमणि-श्रीसिद्धसेनदिवाकरभगवत्सदृब्ध सम्यग्दर्शनविशुद्धिकृत्
द्रव्यानुयोगगहनकुशाग्रबुद्धिगम्यानल्पामलतत्त्वप्रतिपादक
स्याद्वादसिद्धान्तोपनिषद्विचारश्रेणिप्रौढवलाधायक—

श्रीसम्मतितर्कप्रकरणम् ॥

मङ्गलाचरणम्

न जातवस्त यायी न जलदनिरुद्धामलविभो,
गवा भेत्ता नित्य नृहृदयगुहावर्त्तितमसां ।
सदा राहुग्रस्योऽखिलभविकजोद्बोधनपरः,
जयत्यर्हन् सूर्योऽतिशयमहिमा पार्श्वजिनराट् ॥ १ ॥

यदीयस्याद्वादामितनयतरङ्गालिललिता–
गमाब्धिस्यान्मात्रामलपदपृषत्सङ्गतिवशात् ।
विदप्यद्राघालिस्त्वमतिजनितत्तन्नयविष,
स्तुवे द्राक् पीयूषीभवति तमहं वीरजिनपम् ॥ ॥ २ ॥

काम्बोजवाजीव हयेषु सर्वं,–र्षिष्विद्धतेजा शमितारिवर्गं ।
श्रीसूरिसम्राड् गुरुनेमिसूरि, शुभाशिष मेऽत्र तनोतु कार्ये ॥ ३ ॥
सिद्धान्तपाथोनिधिसिद्धसेन–दिवाकरस्यातिप्रभावकस्य ।
श्रीसम्मतिग्रन्थकृति क्व सूक्ष्म बुद्ध्यैकगम्या परवाद्यदृप्या ॥ ४ ॥

द्रव्यानुयोगाल्पतरार्थभासा, क्व चाल्पधीर्मे विषमेऽपि तत्त्वे ।
सत्यप्यहं वच्मि गुणः स एष, सर्वः प्रणीता किल येन वृत्तिः ॥ ५ ॥
सद्युक्तिविक्षिप्तकुवादियुक्तेः, तस्यैव पूज्याभयदेवसूरेः ।
यन्निम्नमार्गेऽपि समीकृतेऽच्छे, वज्रेण यान्त्यल्पधियोऽपि शीघ्रम् ॥६॥
(त्रिभिर्विशेषकम्)

अथ पुनः पुनर्जन्मजरामृतिरूपापारनीरनिकरपूरित बहुप्रकारपरिभवपातालोल्बण मनल्पमोहमहावर्तदुरुत्तरमनेकक्वदाग्रहग्राहनिवहमुदग्रमिथ्यात्वकालकूटसम्मूर्च्छितमनवरतोप जायमानमनोरथमहोर्मिमालाव्याकुल कषायवडवानलज्वालाकराल व्याधिशतनक्रचक्रालय पश्यता त्रासोत्पादक महागम्भीर संसारसमुद्रमुत्तितीर्षता भव्यजनव्रातानां तदुत्तरणेऽव्याहत मुख्यसाधनमङ्गानङ्गभेदभिन्नागमाऽशेषतत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणसम्यग्दर्शनग्रहणमेव । तदुक्तम्—

" द्वार मूलं प्रतिष्ठान-माधारो भाजनं निधिः ।
धर्महेतोर्द्विषट्कस्य, सम्यग्दर्शनमिष्यते ॥ १ ॥ " इति ।

न सेणिओ आसि तया बहुस्सुओ, न या वि पन्नत्तिधरो न वायगो ।
सो आगमिस्साइ जिणो भविस्सइ, समिक्ख पन्नाइ वरं खु दंसणं ॥२। इति च ।

न चैवं तर्हि पोतायमानसम्यग्दर्शनोत्पत्तौ सत्यां तद्वतां तदनन्तरमेव भवसमुद्रोत्तरण किमिति न भवतीति वाच्यम्, न हि मृद्द्रव्यमात्रेण दण्डमात्रेण वा घट उत्पद्यमानो लोके दृष्टुभूयत इत्येकं कारणं निखिलकारणान्तरसापेक्षमेव कार्योत्पादनसमर्थमित्यत्रापि कारणा न्तराऽभावात् । तथा च तदितरकारणसद्भावे सति सम्यग्दर्शनसत्त्वे मोक्षसत्त्व तदितरकारण सत्त्वेऽपि तदभावे तदभाव इत्यन्वयव्यतिरेकबलान्मोक्षाऽसाधारणकारणं सम्यग्दर्शनमिति सिद्धम् । एवमेव सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रयोरप्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां मोक्षं प्रत्यसाधारणकारण ज्ञेयम् । तथा च यथा शिबिकोद्वाहिपुरुषा मिथः सापेक्षभावं गता एव शिबिकोद्वहनात्म ककार्यं प्रति कारणं तथैव सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि परस्परसापेक्षतां गतान्येव मोक्षं प्रति कारणमित्याशयः । ननु पूर्वोक्तान्वयव्यतिरेकाभ्यामस्तु सम्यग्दर्शनस्य सम्यग्ज्ञानस्य च कारणत्वम्, न च चारित्रस्यापि तद् युक्तम्, मरुदेवामातुर्द्रव्यचारित्ररूपकारणाभावेऽपि मोक्षात्मककार्योत्पत्तिभावेन व्यतिरेकव्यभिचारादिति चेद्, नैवम्, यतो न द्रव्यचारित्रत्वेन मोक्षं प्रति चारित्रस्य हेतुत्वम्, किन्तु सम्यक्चारित्रत्वेनैव, तद्धर्मावच्छिन्नेनैव सह मोक्ष स्यान्वयव्यतिरेकानुविधानात् । तस्य च परमकाष्ठापन्नस्य सर्वसंवररूपस्य भावचारित्रस्य शैलेशीकरणकाले सद्भावादेव तस्या मुक्तिभावात्, तथा च तदा तस्या अवशिष्टान्त र्मुहूर्तायुष्काया द्रव्यचारित्रग्रहणेच्छाप्रादुर्भावेऽप्यायुषोऽल्पकालतया द्रव्यचारित्रस्य ग्रहण

कालाभावेनाऽभावेऽपि नोक्तदोषः । ननु मोक्षं प्रति दर्शनत्वेन ज्ञानत्वेन चारित्रत्वेनैव दर्शनादीनां कारणत्वमस्तु, किं तत्र सम्यक्पदोपादानेन कारणतावच्छेदकगौरवापादकेनेति चेद्, नैवम्, तथा सति मिथ्यादर्शनमपि मिथ्याज्ञानमपि तत्त्वश्रद्धाविकलचारित्रमपि च मोक्षकारणं स्यात्, न चान्वयव्यतिरेकानुविधानाऽभावान्मिथ्यादर्शनादिकं मोक्षकारणमभ्युपगन्तुं युक्तमिति तद्वारकतया सम्यग्विशेषणस्य सार्थकत्वेन सम्यग्दर्शनादेः सम्यग्दर्शनत्वादिनैव मोक्षं प्रति कारणत्वं युक्तियुक्तम्, न तु दर्शनत्वादिना, दर्शनत्वस्य मोक्षकारणत्वाभाववति भव्याभव्यपुरुषीयमिथ्यादर्शनेऽपि ज्ञानत्वस्य च तादृशपुरुषीयमिथ्याज्ञानेऽपि चारित्रत्वस्य च जिनोक्ततत्त्वश्रद्धानविकले तादृशपुरुषीयद्रव्यचारित्रेऽपि वृत्तित्वेन मोक्षनिष्ठकार्यतानिरूपितकारणत्वातिरिक्तवृत्तितया कारणताऽतिप्रसक्तत्वेन कारणतानवच्छेदकत्वादिति । अनुमानञ्चात्र तत्तन्नयभेदेन सम्यग्दर्शनादित्रयं मोक्षासाधारणकारणं मोक्षाभावप्रयोजकाभावप्रतियोगित्वात्, यद् यदभावप्रयोजकाभावप्रतियोगि तत्तदसाधारणकारणम्, यथा घटस्य दण्डः, तथा चेदं तस्मात्तथेति नयविवक्षयाऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां सम्यग्दर्शनत्वादिना मोक्षम्प्रति सम्यग्दर्शनादित्रयमपि कारणम्, घटत्वावच्छिन्नम्प्रति मृद्दण्डचक्रचीवरादिकमिव, न च सर्वसंवरचारित्रलक्षणचरमकारणमात्रेणैव कार्ये सिद्धे तत्पूर्ववर्तिनः क्षायिकसम्यग्दर्शनस्य केवलज्ञानस्य चाऽन्यथासिद्धिः, व्यवहितत्वादिति वाच्यम् । चरमकारणस्य तत्पूर्ववर्तिनः कारणत्वरक्षणार्थमेव यत्र व्यापारविधया कल्पनं न च तत्र व्यापारेण व्यापारिणोऽन्यथासिद्धिः, अन्यथा दण्डादेरपि चक्रभ्रमणक्रिययाऽन्यथासिद्धिस्स्यात्, स्याच्च परामर्शेण व्याप्तिज्ञानस्यान्यथासिद्धिः, एवं क्षायोपशमिकसम्यक्क्रियायाः केवलज्ञानोत्पादन एवोपक्षीणत्वात्तस्यास्तेन मोक्षकार्यं प्रत्यन्यथासिद्धिस्स्यादिति तदुभयस्य कारणत्वे सिद्धे व्यापार एव कारणं न व्यापारी, व्यापार्येव कारणं न व्यापार इति विनिगन्तुमशक्यत्वात्, सर्वसंवरचारित्रकाले क्षायिकसम्यग्दर्शनकेवलज्ञानयोरपि विद्यमानत्वेन फलोपयोगितया मुख्यत्वाऽविशेषात् । आधुनिकदर्शनादिष्वपि मोक्षानुकूलनिर्जराविशेषप्रयोजकविशेषाश्रयत्वं सम्यक्त्वं प्रत्येकमव्याहतमिति त्रयाणां तुल्यवत्कारणत्वं नयार्पणया नानुपपन्नम् । एतेन कारणीभूतसम्यग्दर्शनादित्रयप्राप्तावपि तत्त्रयेण तद्भवे मोक्षफलं भवत्येवेति नैव नियमः, ऐदंयुगीनकालस्यातिविषमत्वेन सम्यग्दर्शनादित्रये सम्पन्नतमानामपि तत्तत्पुंसां तत इदानीं मोक्षानवाप्तेरितीदानीं सम्यग्दर्शनादित्रयप्राप्त्यर्थं प्रवृत्तिर्निष्फलैवेत्यारेकाऽपि निरस्ता, मोक्षफलोत्पत्तिर्हि न साक्षात्सम्यग्दर्शनादित्रयेण, किन्तु समुदिततत्त्रयसाध्यविशिष्टकर्मनिर्जराद्वारैव, स्मृतिफलोत्पत्तिरनुभवतस्संस्कारद्वारेव, मीमांसकमते स्वर्गफलोत्पत्तिर्यागतः प्रधानाऽपूर्वद्वारेव चेति तादृशनिर्जराद्वारसम्पत्तौ सम्यग्दर्शनादित्रयप्रवृत्तेरिदानीमपि तत्साफल्यस्यानपायत्वात्, उक्तनिर्जराद्वारसम्पत्तौ तत्पूर्वकालीनसम्यग्दर्शनादित्रयस्यैव परमकाष्ठापन्नक्षायिकसम्यग्दर्शनादित्रयरूपेण परिणति-

भावे कालान्तरे मुक्तिफलोत्पत्तेः । प्रमाणार्पणया तु पर्यालोच्यते, सम्यग्दर्शनसम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्राणां त्रयाणां समस्ताऽसाधारणधर्मरूपेण सम्यग्दर्शनत्वादिना न मोक्षं प्रति कारणत्वम्, तथा सति कारणतावच्छेदकभेदेन कारणताभेदप्रसक्त्या मोक्षं प्रत्येककारणत्वं सिद्धं न स्यात्, किन्तु मोक्षानुकूलशक्तिमत्त्वेनैव, कारणत्वमपि न नैयायिकाभ्युपगतकार्यनियतपूर्ववर्तित्वलक्षणमखण्डरूपम्, तृणत्वमणित्वारणित्वादिप्रत्येकधर्मेण वह्नित्वावच्छिन्नम्प्रति कारणत्वे व्यतिरेकव्यभिचारस्स्यादिति तन्निवृत्तयेऽनन्यगत्या कार्ये वैजात्यमभ्युपगम्य विजातीयवह्नित्वावच्छिन्नम्प्रति तृणत्वेन, विजातीयवह्नित्वावच्छिन्नं प्रति मणित्वेन, विजातीयवह्नित्वावच्छिन्नं प्रत्यरणित्वादिना च कारणत्वाभ्युपगमे विशेषरूपेणानेककार्यकारणभावप्रसङ्गतो यावत्सु वह्निजनकेष्वनुगता या शक्तिस्तद्रूपेण नियतकार्यकारणभावापेक्षया गौरवभारमन्थरत्वात्तत्पक्षस्य प्रमाणपथातीतत्वात्, किन्त्वखण्डशक्तिरूपमेव, सम्यग्दर्शनत्व सम्यग्ज्ञानत्व सम्यक्चारित्रत्वञ्च शक्तेरभिव्यञ्जकविधयाऽवच्छेदकम्, कारणताज्ञाने तदवच्छेदकज्ञानं कारणमिति नियमेन भवन्मते धर्मविधयाऽवच्छेदकज्ञानमपेक्षितम्, अस्मन्मते त्वभिव्यञ्जकविधयेत्यय विशेषः सर्वत्र कार्यकारणभावे ज्ञेयः । न चैकस्यानेकाभिव्यङ्ग्यत्वमनुभवपथाऽतीतमिति वाच्यम्, "क्वचिदभिव्यज्यते जातिः संस्थानाद् येन केनचित् । गोत्वं लाङ्गूलशृङ्गादिसंस्थानवशतो यथा" इति स्याद्वादरत्नाकरपञ्चमपरिच्छेदाऽष्टमसूत्रवृत्तिवचनात् क्वचित्सास्नातः क्वचिच्च विलक्षणलाङ्गूलात् क्वचिच्च विलक्षणशृङ्गाद्दृष्टादभिव्यङ्ग्यतयैकस्य गोत्वस्यानुभवगोचरत्वादेव, तस्य चाभिव्यञ्जकस्य सम्यग्दर्शनत्वादेः प्रत्येकवर्त्तिनस्सम्यग्दर्शनादित्रितयवर्त्त्यखण्डशक्तिरूपकारणत्वापेक्षया न्यूनवृत्तित्वेऽपि न क्षतिः, सखण्डकारणताया अवच्छेदकस्यैवाऽन्यूनानतिरिक्तवृत्तित्वनियमात् । ननु शक्तिमत्त्वेन कारणत्वे कारणताज्ञाने तदवच्छेदकज्ञानस्यापेक्षितत्वेन कारणतावच्छेदिकायाश्शक्तेर्ज्ञानाच्छक्तिरूपकारणताज्ञानम्, तज्ज्ञाने च तज्ज्ञानमित्यात्माश्रय इति चेत्, नैवम्, प्रतियोगिताज्ञाने प्रतियोगितावच्छेदकज्ञानस्य कारणत्वमित्यत्रापि घटाभावीयप्रतियोगिताया प्रतियोगितावच्छेदकघटत्वरूपत्वपक्षे आत्माश्रयदोषपरिहाराय घटत्वत्वेन घटत्वात्मकावच्छेदकज्ञानं प्रतियोगितात्वेन घटत्वात्मकप्रतियोगिताज्ञानं प्रति कारणमिति यथा नैयायिकैरङ्गीक्रियते तथाऽस्माभिरपि शक्तित्वेनावच्छेदकीभूतशक्तिज्ञानं कारणतात्वेन शक्त्यात्मककारणताज्ञानं प्रति कारणमित्यभ्युपगमेनोक्तदोषाभावात् । तथा च मोक्षानुकूलशक्तिमत्त्वावच्छिन्नशक्तिरूपं कारणत्वं परस्परमापेक्ष्य सम्यग्दर्शनादिषु त्रिष्वेकमेवेति स्थितम् । अत एव "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" इति तत्त्वार्थप्रथमसूत्रे मार्गपदोत्तरासिप्रत्ययप्रकृत्यर्थतावच्छेदके मोक्षानुकूलशक्तिमत्त्वेन रूपेण मोक्षं प्रति मार्गत्वाऽऽत्पर्यायकारणत्वे एकत्वज्ञापनार्थं मार्गपदोत्तरमिप्रत्ययप्रयोगो विहित, अन्यथा असति बाधके विशेष्यविशेषणपदयोस्समानवचनकत्वमिति नियमान्मार्गपदोत्तरजस्विभक्तिप्रसङ्ग

स्स्यादिति। ननु सम्यग्दर्शनादित्रयाणां समूहस्यैकस्यान्वयव्यतिरेकाभ्यां कारणत्वमहाभ्युपगमो न युक्तः, घटत्वावच्छिन्नम्प्रति दण्डत्वेन मृत्त्वादिना च प्रत्येकरूपेण दण्डमृदादीनां कारणत्वे सिद्धे तत्समूहस्यान्यथासिद्धत्ववत् सम्यग्दर्शनत्वेन सम्यग्ज्ञानत्वेन सम्यक्चारित्रत्वेन च प्रत्येकरूपेण सम्यग्दर्शनादीनामन्वयव्यतिरेकाभ्यां कारणत्वे सिद्धे तत्समूहस्याप्यन्यथासिद्धत्वादिति चेत्, मैवम्, परस्परनिरपेक्षैकैककारणमात्रेण स्वरूपयोग्येनापि तत्र फलोपधानरूपकारणत्वाभावान्मोक्षकार्योत्पत्त्यभावेन मोक्षम्प्रति परस्परसापेक्षतत्तत्कारणसमूहस्यैवान्वयव्यतिरेकाभ्यां कारणत्वात्, अत एव "नैकं कारणं किन्तु सामग्री वै जनिका" इति सिद्धान्तसम्भवच्छते। न च क्षायिकसम्यग्दर्शने सति केवलज्ञानमुत्पद्यते, तेन च सर्वसंवराख्यचारित्रमिति तेषां व्यापारव्यापारिभावेनैव मोक्षकारणत्वम्, न साक्षादिति तत्समूहस्यापि न तदिति वाच्यम्, व्यापारकाले व्यापारिणो नाशो नावश्यकः, व्यापारलक्षणे द्वारिनाशविशिष्टत्वाऽप्रवेशादिति सर्वसंवराख्यचारित्रकाले समुदितत्रितयस्यैव मोक्षफलोपयोगितया व्यापारान्मुख्यत्वाविशेषात्प्रमाणविवक्षया तत्समूहस्यैव मोक्षकारणत्वात्। "तिण्ह समायोगेण नेव्वाणं लब्भति" इत्युक्तेः। यद्यपि मोक्षानुकूलसम्पूर्णशक्तिस्सम्यग्दर्शनादित्रयपर्याप्तसमुदायत्वावच्छेदेन परस्परसापेक्षसमुदितज्ञानादिषु त्रिष्वेव पर्याप्ता, तत्र फलोपधानसामर्थ्यसद्भावात्, तथापि सम्यग्दर्शनत्वादिप्रत्येकधर्मावच्छेदेनाप्येकैकेषु सम्यग्दर्शनादिषु "वीसुं ण सव्वहच्चिय, सिकतातेल्लं व साहणाऽभावो। देसो वगारिया जा, सा समवायम्मि सपुण्णा ॥ ११६४ ॥" इति विशेषावश्यकभाष्योक्तेः प्रत्येकावस्थायामपि देशोपकारित्वादेशतो मोक्षानुकूलशक्तिसद्भाव इति तच्छक्तिशालिसम्यग्दर्शनं शिथिलबन्धनबद्धं महामिथ्यात्वोदये कदाचिद्विनश्यत्यपीति मोक्षाभिलाषुकैस्तच्छुद्धिः सन्देहनिर्मोपधिरूपा मिथ्यात्वमहार्णवतारणतरिका मिथ्यावासनाप्रहमन्त्ररूपा कर्त्तव्या, सा च यथार्थदृढाभ्यस्तेभ्यः प्रमाणनयकरणरूपद्रव्यगुणपर्यायविचारप्रधानकद्रव्यानुयोगशास्त्रेभ्य। उक्तञ्च—"दविए दंसणसुद्धी दंसणसुद्धस्स चरणं तु" इति। अथ स्वसमयः प्रमाणनयैरनेकान्ततत्त्वप्रतिपादकत्वात्, अयञ्च परसमयो नयान्तरनिरपेक्षनयगोचरैकान्ततत्त्वप्रतिपादकत्वादित्येवं स्वसमयपरसमयपरिज्ञानेनेतरव्यवच्छेदनानेकान्ततत्त्वावबोधमन्तरेण चरणकरणप्रधाना गीतार्थगुर्वाज्ञाऽनधीनप्रवृत्तिकाश्चरणकरणयोस्सारमपि निश्चयशुद्धं व्यवहारतो नैव जानन्ति, किन्तु परसमयतत्त्वाऽप्रामाण्यज्ञापनपूर्वकानेकान्तात्मकस्वसमयतत्त्वप्रामाण्यनिश्चयार्थं प्रमाणनयाधीनद्रव्यगुणपर्यायविषयकनिरन्तरयत्नपर्यालोचनं तदात्मकान्तर्दृष्टिबुद्धजना एव जानत इति सुधारसातिशायिभगवन्मुखाब्जनिर्गततत्त्वामृतरसमपिपासुभिः स्वपरसमयतत्त्वं बहुश्रुतगीतार्थगुरुभगवन्मुखेन पठित्वा श्रुत्वा वा सतात्पर्यं विभाव्य विनिश्चित्य च तत्सारभूतद्रव्यानुयोग एव दृढीकर्त्तव्यः, येन सम्यग्दर्शनं विशुद्धतरं स्यात्। तथाग्रे ग्रन्थकार एव स्पष्टीकरिष्यति।

तानि च द्रव्यानुयोगशास्त्राणि भगवच्छ्रीगणधरश्रुतधरादिप्रणीततत्तच्छास्त्राणि अन्यतीर्थिकप्रज्ञापनागोचरातीतपदार्थसिद्धिसाधनानि द्रव्यानुयोगविषयानन्तगहनपदार्थरत्नभूतत्वेनाऽशेषनयतरङ्गव्याप्तत्वेन च समुद्रकल्पानि मन्दमेधोभिर्दुरवगाहाणि यथार्थतया दुःशक्यार्थाधिगमानि च, यथा समुद्रं दृष्ट्वा तरणोपायमजानतां पुंसां सुखेन बाहुभ्यां प्रतरामीति नैव चित्तवृत्तिर्भवति, अतिसाहसवृत्त्या प्रतरणप्रवृत्ता अप्यल्पमात्रं गत्वा दुस्तरोऽयमिति मत्वाऽतिखिन्नाः प्रतिनिवृत्ता नैव तत्पारं प्राप्नुवन्ति तद्वत्प्रकृतेऽपीति बुद्ध्वा तदनुग्रहार्थमर्हत्प्रवचनसमुद्रोद्धृतद्रव्यानुयोगविषयतत्तत्त्वरत्नानां सङ्क्षेपतस्सङ्ग्राहकम् अखिलनयसमर्द्गहनमहातर्कं सुखपूर्वकतत्त्वग्रहणधारणनिश्चयजननयोग्य "सम्मतितर्काख्यप्रकरणम्" नदीतडागादिवप्लववदनिष्टाननुबन्धित्वात्छक्योपायतया कालसहननायुर्दोषादल्पप्रज्ञाशक्तीनामपि विनीतान्तेवासिनां प्रमाणनयभङ्गचादिगम्भीरतत्त्वजिज्ञासूनामपूर्वतत्त्वनिरन्तरग्रहणाऽनुपमभक्तिबहुमानमभ्रीचीनापूर्वोल्लासशालिमानसानां सुशक्यावगाह सुशक्यार्थाधिगमश्चाल्पेनैव तत्त्वावबोधपाटवाधानसमर्थेनैनेन ग्रन्थेनानर्घ्यानल्पार्थरत्नान्येतेऽनाबाधमवाप्नुवन्त्वितीच्छया कर्तुकामो जिनपादिप्रमग्नमहकुनिस्सीमानुपकृतकृपासुधामभ्यगमभ्यस्तत्वदर्थोपमृद्धिवुद्धीनां तेषां पक्ष्मेक्षिकया द्रव्यानुयोगप्रधानशास्त्रसमुद्रावगाहोऽप्यमूल्यरत्नोपमतदर्थाधिगमोऽपि च सुशक्य एवेति मन्वानः केवलज्ञानिमन पर्यवज्ञान्यादिभगवदर्शस्तगमभव्यारमहद्दयगुहाव्याप्तमहामिथ्यात्वान्धकारविध्वंसकत्वेनानाप्तयथार्थनामा तार्किकशिरोमणितावपाद-श्रीसिद्धसेनदिवाकरः सकलजगज्जीवपरमार्हच्छासनरसैकलीनताचिकीर्षालक्षणकरुणैकव्याप्तचेता अमृतवर्षेणेव यथार्थतत्त्वोपदेशसुधावर्षेण प्रफुल्लितसहकारवनमिव प्रशंसितामोदविस्तार प्रसृतशासन प्रफुल्लभावमानीय भव्यात्मनां जलदवत्सौरभ्याऽऽघ्राणानन्दं प्रदित्सु अर्हतामर्हचा शासनपूर्विकेत्यतः पूजितपूजको लोक इति न्यायेन च सुधामधुरया गिरा शासनार्थोपदशसमये "णमो तित्थस्स" इत्युक्तिपूर्वकत्रिलोकवन्द्यभगवन्नमस्कृत शासनमेव भवचक्रकृच्छ्रास स्तुत्यर्हम्, ऐदयुगीनात्यन्तपरमार्थहितावहस्य तस्य च यथार्थगुणसम्पत्स्तुतौ स्वश्रद्धागुणोपबृंहकतत्कर्तृत्वावतारगर्भायां निश्चितमत्यभिव्यञ्जिकायां कृतायां तत्प्रणेताऽपायापगमादिविविधातिशयर्द्धिशाल्यर्हत्प्रभुरपि तद्द्वारा स्तुत एवेति निश्चिन्वन् कल्याणपरम्परैकहेतुतत्स्तुत्याऽनुचरमाग्यलब्धया कृतार्थमात्मानमभिमन्यमानस्तदसाधारणानन्यान्यानपेक्षितनिष्टङ्कितप्रामाण्यकत्वपरसमयाप्रामाण्यज्ञापकत्वभवजिनप्रणीतत्वादिगुणस्तुत्यात्मकभावमङ्गलस्यस्य तद्विधानोद्भूतापूर्वशुभभावोल्लासतः प्रारिप्सितसमाप्तिप्रतिबन्धकदुरितविशेषनिवर्तकतावच्छेदकशक्तिमत्तया प्रारिप्सितसमाप्तिप्रतिबन्धकनिमित्तावविघातद्वारा ग्रन्थसमाप्त्यादिफलकम्, उक्तलक्षणमङ्गलश्रवणैकतानभूतस्य श्रद्धानुसारिशिष्यस्यापि च समाराध्यनिमज्जत्प्राणिगणोद्दिधीर्षुभगवत्प्रणीतशासनमत्केनत्प्रकरणकारोद्भावितयथार्थगुणश्रवणमात्रेणासन्नशासनविषयकाविच्छिन्नोल्लासशालिचित्तप्रसादमातन्वानस्य शासनाभिधेयतत्त्वविषयकबहु-

मानजिज्ञासाग्रहणधारणादिप्रज्ञोदयक्रमेणाऽविघ्नेतच्छास्त्रपारगमनादिफलक, तर्कप्रज्ञानुसारिशिष्यस्यापि च "अभ्यासाद्धयभ्यासोऽभिवर्धते" इति न्यायात् प्रज्ञादीना गुणानामभ्यासात्तत्पुरुषेषु तत्तत्काले तरतमादिभावेन प्रकर्षदर्शनात् कस्मिंश्चित्पुरुषविशेषे मिथ्याज्ञानादेस्समूलस्याप क्षपणात् सर्वोत्कृष्टप्रकर्षकाष्ठापन्नज्ञानोत्पत्तेः नून जगति सम्भाव्यत एव निखिलविश्वाशेषतत्त्वयथार्थवेत्ता सर्वज्ञो भगवान्। किञ्च यस्य यस्स्वभावस्स प्रतिबन्धेन प्रतिबद्धस्सन् न स्वकार्यसाधनप्रभविष्णु, प्रतिबन्धाभावे चानिर्गलतया स्वकार्यं साधयत्येव, यथा वह्नेर्दाह्यदाहकत्वस्वभावस्सूर्यकान्तमण्यभावविशिष्टचन्द्रकान्तमणिना प्रतिबद्धो न दाह्य दहति, तदभावे च दाह्ये सति दहत्येव तथा सर्वज्ञेयावभासित्व चिदात्मनः स्वभाव एव, छद्मस्थात्मनि तत्प्रतिबन्धस्तु ज्ञानावरणीयादिघातिकर्मात्मकप्रतिबन्धक एवेति प्रतिबन्धकीभूतसकलघातिकर्मापगमे सत्याविर्भूतेन तेन स्वभावेनानन्तपर्यायालिङ्गितजीवाजीवादिनिखिलजगत्तत्त्वप्रकाशनात्सुतरां सिद्धमेव भगवतस्सर्वज्ञत्वमिति। तदुक्तम्–

"ज्ञो ज्ञेये कथमज्ञस्स्या–दसति प्रतिबन्धके।
दाह्येऽग्निर्दाहको न स्यात्, कथमप्रतिबन्धक ॥ १ ॥ इति।"

तथा च कस्यचित्पुसो ज्ञान सकलार्थसाक्षात्कारि तद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययत्वात्, यद्यद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्यय तत्तत्साक्षात्कारि, यथाऽपगततिमिरादिप्रतिबन्ध चाक्षुषज्ञान रूपसाक्षात्कारि, सकलार्थग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्यय च कस्यचित्पुसो ज्ञान, तस्मात्तथा, न चात्र हेतुर्विशेषणासिद्धत्वाऽसिद्ध., आगमद्वारेणाशेषार्थग्रहणस्वभावत्वस्य ज्ञाने प्रसिद्धत्वात्, नापि विशेष्यासिद्धत्वाऽसिद्धः, सकलार्थग्रहणस्वभावे ज्ञाने प्रतिबिम्बस्वभावे आदर्शे मलमिव रागादय एव प्रतिबन्धकाः, तेषामात्यन्तिकक्षयस्य सम्यग्दर्शनज्ञानवैराग्यादीनां परमप्रकर्षेण सिद्धेः, यदुत्कर्षतारतम्याद्यस्यापचयतारतम्य तस्य परमप्रकर्षे तदत्यन्त प्रक्षीयते, यथोष्णस्पर्शस्य परमप्रकर्षे शीतस्पर्श इति नियमात्। तथा चोक्तयुक्तिप्रयुक्तिपूर्वकानुमानतस्सकलार्थसाक्षात्कारसङ्घटितमूर्तिसर्वज्ञजिनसिद्धेस्तत्प्रणीत शासनमपि निश्चितप्रामाण्यादियथार्थगुणमित्येव निश्चिन्वतस्सबहुमानमङ्गलश्रवणतश्चिचप्रमादोत्पत्त्या परीक्षापूर्वकस्तदभिहिततत्त्वश्रवणमननिदिध्यासनद्वारा श्रुतप्रज्ञाजनकपथ्यमानैतत्प्रकरणनिर्विघ्नाध्ययनपरिसमाप्त्यादिफलकमित्यवशिष्टाचारानुमितकर्तव्यताक तन्मङ्गल शास्त्र प्रणेतुकामः स्वशास्तुर्माहात्म्यज्ञापनार्थं ग्रन्थघटकीभूत करोति।

"सिद्ध सिद्धत्थाण, ठाणमणोवमसुह उवगयाण।
कुसमयविसासण, सासण जिणाण भवजिणाण ॥ १ ॥"

'सासण' यथावस्थितार्थप्रतिपादकं द्वादशाङ्ग्यात्मक शासन 'सिद्ध' इद शासनम्–अप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितज्ञानविषयप्रामाण्यविशिष्टयथार्थज्ञानजनकत्वात् प्रमाणमवेत्या-

कारको यो जिनप्रणीतत्वाव्यतिरिक्तहेत्वनपेक्षप्रामाण्यनिश्चयस्तद्विषयभूतम्। न चात्रोक्तहेत्वसिद्धिः, यौतज्ञानमुत्पद्यमानं स्वप्रकाशत्वात् स्वमिव तद्गतप्रामाण्यमपि गृह्णाति, तस्य नियमेन स्वतो ग्राह्यत्वादिति तस्मिन् यौतज्ञाने प्रामाण्यज्ञाने सति तत्प्रतिबन्धेन तदुत्तरं संशयविपर्ययलक्षणं नैवाऽप्रामाण्यज्ञानं भवतीत्यतोऽप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितज्ञानं स्वतः प्रामाण्यज्ञानं तद्विषयभूतं यत्प्रामाण्यं तद्विशिष्टं यच्छ्रौतयथार्थज्ञानं तज्जनकत्वहेतोरशाभनपक्षे सत्त्वात्। तथाग्रे विवेचयिष्यते। इदमत्र तत्त्वम्–इदं शासनं प्रमाणमेवेति प्रामाण्यनिश्चये एवकारेणाऽप्रामाण्यं यत्र व्यवच्छिद्यते, तेन च सर्वांशे शासनस्य प्रामाण्यमावेदितं भवति, अन्यथा किञ्चिदंशे यथार्थज्ञानजनकं किञ्चिदंशेऽयथार्थज्ञानजनकमपि यदि जिनशासनं स्यात्तदाऽपि यदंशे यथार्थज्ञानजनकं तदंशे प्रमाणं भवत्येवेति नान्यागमतो वैशिष्ट्यमस्य स्यात्, ईदृशप्रामाण्यनिश्चयश्च सर्वथा यथार्थज्ञानजनकत्वाद् यथार्थज्ञानमात्रजनकत्वाद्वा, न तु यथार्थज्ञानजनकत्वात्, किञ्चिदंशे ऽयथार्थे किञ्चिदंशे च यथार्थे तादृशज्ञानजनकेऽपि तस्य सत्त्वात्, तदेव यथार्थज्ञानं सर्वथा यथार्थज्ञानरूपं यथार्थज्ञानमात्रं वा यदप्रामाण्याऽसहचरितप्रामाण्यविशिष्टं, तदेव च प्रामाण्यमप्रामाण्याऽसहचरितं, यदप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितज्ञानविषयः, अप्रामाण्यसहचरिते तु प्रामाण्ये अप्रामाण्यज्ञानास्कन्दितज्ञानविषयत्वेनाप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितज्ञानविषयत्वाऽसम्भवात्। यद्यपि सर्वथा यथार्थज्ञानजनकत्वाद् यथार्थज्ञानमात्रजनकत्वाद्वेत्यपि हेतुः सम्भवति, तथापि सर्वथात्व–यथार्थज्ञानमात्रत्वायवगमार्थमप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितज्ञानविषयप्रामाण्यविशिष्टत्वावगमस्यापेक्षणीयत्वेन तस्यैव हेतुघटकत्वेन प्रवेशः, ईदृशविचारानादरे तु यथार्थज्ञानमात्रजनकत्वस्यैव प्रामाण्यव्याप्यत्वात्तज्ज्ञानादेव प्रामाण्यनिश्चयस्य सम्भवेनाऽप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितज्ञानविषयप्रामाण्यस्य यथार्थज्ञानविशेषणतयोपादानं निष्फलमेवेति बोध्यम्। ननु शासनं सिद्धमुक्तलक्षणत्वतो निश्चितप्रामाण्यकमित्येव कुत इत्याशङ्कानिवृत्त्यर्थमाह–'जिणाण' जिनानाम्, रागादीन् जितवन्त इति जिनाः, तेषां जिनानाम्। अस्य शासनमित्यनेनान्वयः, तथा च शासनस्य कृदन्तत्वात्तद्योगे जिनानामित्यत्र कर्त्रर्थे विहितायाष्षष्ठ्या अर्थस्य कर्तृत्वस्याधेयत्वसम्बन्धेन प्रकृत्यर्थे जिनान्वितस्य निरूपकत्वसम्बन्धेन शासनेऽन्वयात्तज्जिनकर्तृकं, जिनप्रणीतमिति यावत्। यो हि रागद्वेषाऽज्ञानादिदोषपरामृष्टस्तस्मिन्नल्पज्ञे पुंसि भ्रमप्रमादविप्रलिप्साकरणाऽपाटववचनाकौशलादिसम्भावनया तत्प्रणीतं वचनं सन्दिग्धप्रामाण्यकं स्यात्, जिनास्तु सर्वथा रागद्वेषमोहपराजयानन्तरमशेषजगत्तत्त्वसाक्षात्कारे सत्येव भवन्तीति तत्र भ्रमप्रमादादयो न केऽपि दोषाः सम्भवन्तीत्यतस्तत्प्रणीतं शासनं सिद्धं भवति। नन्विदं शासनं जिनप्रणीतमेवेति कुत इत्याशङ्कायामाह–'सिद्धत्थाणं' सिद्धार्थानां, अत्र षष्ठ्याः प्रतिपादकत्वार्थकत्वेन प्रमाणान्तराऽविसंवाद्यर्थप्रतिपादकमित्यर्थः। अस्य हेतुविधया विशेषणत्वाद् जिनप्रणीतत्वमन्तरेणानुपपद्यमानस्य प्रमाणान्तराऽविसंवादिसूक्ष्मव्यवहितदूरान्तरितार्थप्रतिपादकत्वहेतोरिदं शासनं जिन

प्रणीतमेवाभ्युपगन्तव्यमिति भावः। ननु जिनास्सर्वथा रागादिजयोद्भूतानन्तार्थसाक्षात्कारशालित्वात् सर्वज्ञा इति तत्प्रणीतमेवागमसंवादिवचनविशेषरूपं शासनं निश्चितप्रामाण्यकमिति कुतः, बुद्धादीनामपि तदनुगैः सर्वज्ञतयाऽभिमतत्वेन तत्प्रणीतानामपि शासनानां निश्चितप्रामाण्यशालित्वादित्याशङ्कानिवृत्तये बुद्धादिशासनानामसर्वज्ञप्रणीतत्वमेवेति प्रतिपादनार्थमाह-'कुसमयविसासणं' कुसमयविशासनम्, कुसमया मिथ्याशासनानामितविच्छ्रुतिपरवादिप्रणीतप्रमाणबाधितार्थप्रतिपादकतत्तद्दर्शनान्तरसिद्धान्तास्तेषां दृष्टेष्टविषये विरोधाद्युद्भावकत्वेन विशासनं विध्वंसकम्, तथा च दर्शनान्तरसिद्धान्तानां बाधितार्थप्रतिपादकत्वेनोन्मत्तवचोवदप्रामाण्ये सिद्धे कुसमयविशासनमिति विशेषणेन सर्वज्ञविशेषसिद्धेस्तत्प्रणीतमेव शासनं निश्चितप्रामाण्यमिति सिद्धम्। प्रयोगश्चात्र-इदं शासनं निश्चितप्रामाण्यकं जिनप्रणीतत्वात् यन्नैवं तन्नैवं तीर्थान्तरशासनवत्, न चास्य हेतोरसिद्धिः, अन्यथाऽनुपपद्यमानप्रामाणिकातीन्द्रियाद्यर्थप्रतिपादकत्वहेतोस्तस्य सिद्धेरिति। अथ सर्वज्ञप्रणीतं शासनं, तत्प्रणीतत्वाच्च तत्प्रमाणमिति युक्तमुक्तम्, रागादीन् जितवन्त इति जिना इति त्वयुक्तमुक्तम्, सामान्ययोगिनि तस्य घटमानत्वेऽपि अनादिसंसिद्धे शासनादिसर्वज्ञपरमेश्वरे तस्याघटमानत्वात्, तत्र सहजत एव रागादिलक्षणक्लेशशत्रुरहिततस्य सद्भावात्, न पुनर्विपक्षभावनापरिपाकवशादेव तस्य रागादिक्षयः, येन तत्र रागादीन् तत्प्रतिपक्षवैराग्याभ्यासादिरूपव्यापारेण जितवन्त इति वचः सार्थकं जिनार्थप्रतिपादकत्वेन स्यादिति नित्येश्वरवादिनो ये मन्यन्ते तन्मतनिरासायाह-'भवजिणाणं' भवजिनानाम्। भवशब्देन भवकारणीभूता रागादयोऽत्रोपचाराद्विवक्षिता, तान् जितवन्त इति भवजिनाः, तेषां शासनम्, तत्प्रणीतं सदिति यावत्, न तु पूर्वोक्तलक्षणेश्वरप्रणीतम्, तदितरनिरन्तराभ्यस्ता नित्यत्वादिद्वादशभावनाद्यात्मकं कर्मक्लेशादिजयोपायमन्तरेण स्वभावत एवेश्वरे कर्मक्लेशादिविगमस्याऽसम्भवात्। उपचाराश्रयणे किं प्रयोजनमिति चेत्, उच्यते, न ह्यविकलकारणे रागादावध्वस्ते तत्कार्यस्य समारस्य जयः कर्तुं शक्य इति प्रतिपादनमेव, अथाखिलतत्त्वसाक्षात्कारे सति भवस्थजिना जीवन्मुक्तास्सन्तो योगिनः क्वचन कालं भवेऽवतिष्ठन्ते इत्येव न, किन्तु तदव्यवहितोत्तरसमय एव परममुक्तिमवाप्नुवन्तीति तत्र शरीराऽभावे वक्तृत्वासम्भवेन शासनप्रणेतृत्वोपपत्तिर्नेति ये मन्यन्ते तन्मतनिरसनायाह-'ठाणमणोवमसुहमुवगयाणं' स्थानमनुपमसुखमुपगतानाम्, तिष्ठन्ति कर्मक्षयोत्पन्नानन्तज्ञानाद्यष्टगुणशालिशुद्धात्मानोऽस्मिन्निति स्थानम्, लोकाग्रलक्षणम्, न विद्यते उपमा यस्य तदनुपमम्, अनुपमं सुखं यस्मिन् तत्तथा, तादृशं स्थानं 'उप' इति कालसामीप्येन गतानां-प्राप्तानाम्, भवोपग्राहिकर्मणां यावता कालेन क्षयस्तस्याचाल्पप्रमाणोऽल्पीयान् कालो व्यवधानभूतो येषां तेषामिति भावः, यद्वा 'उप' इत्युपसर्गः प्रकर्षवाची, तेन तादृशस्थानं प्रकर्षेण गताना-

मिति, यद्यपि वेद्यमानतीर्थकरनामकर्मादिसद्भावेन भवजिनास्तत्स्थानं नालङ्कृतवन्तस्त-थाप्यत्र 'परार्थे प्रयुज्यमानाः शब्दा वतिमन्तरेणाऽपि तमर्थं गमयन्ति' इति न्यायादनुभूय मानतीर्थकरनामकर्मलेशसद्भावेऽपि तद्गता इव गता इत्यर्थः कर्तव्यः, तेषाम्, तेन शासन-प्रणेतृत्वं तस्यामवस्थायां तेषामुपपन्नमेव, यद्वा "मुक्ताः सर्वत्र तिष्ठन्ति, व्योमवत्तापवर्जिताः" इत्येतस्य निरासार्थमाह सूरिः—"ठाणमणोवमसुहमुवगयाणं" अनुपमसुखं स्थानं "उप" इति प्रकर्षेण—अपुनरावृत्त्या गतानाम्—उपगतानामिति सङ्क्षिप्तार्थः। विस्तृतार्थस्त्वयम्—अत्र 'सास-णम्' इति मुख्यं विशेष्यम्—शास्यन्ते प्रतिपाद्यन्ते जीवाजीवादयः पदार्थाः प्रमाणान्तराऽबा-धितत्वेन यथार्थस्वरूपतयाऽनेनेति शासनं द्वादशाङ्गमित्यर्थः। तत्किं परापेक्षया प्रामाण्य विशिष्टं किं वा स्वमहिम्नैवेत्यत आह—सिद्धमिति, यथा कनकं स्वयमेव पवित्रमिति तत्पा-विव्यकरणे नान्यापेक्षा, तथेदं शासनमपि स्वमहिम्नैव निश्चितप्रामाण्यम्, न तु हेत्वन्तरा-पेक्षया, यथाऽल्पज्ञपुरुषप्रणीतग्रन्थे सर्वज्ञप्रणीताऽऽगमाऽविरुद्धार्थप्रतिपादकत्वादिहेत्वन्त-रापेक्षणात्परापेक्षनिश्चितप्रामाण्यम्, नात्र तथा, अस्य घातिकर्मक्लेशादिसकलदोषापरामृष्ट-पुरुषविशेषप्रणीतत्वेनैव प्रामाण्ये हेत्वन्तरानपेक्षणादिति। अथास्य शासनस्य जिनप्रणीतत्वमेव नास्तीति तत्र प्रामाण्यं निरवकाशमिति विप्रतिपन्नम्प्रति किं मानमिति चेत्, उच्यते, इदं शासनं गुणवत्पुरुषप्रणीतम्, अन्यथाऽनुपपन्नाबाधितार्थप्रतिपादकत्वात्, लौकिकसत्यवाग्व-दित्यनुमानमेवेति, न चात्र व्यभिचारशङ्का विधेया, यतो यदीदं शासनं गुणवत्पुरुषप्रणीतं न स्यात् तर्ह्यन्यथाऽनुपपद्यमानाऽबाधितार्थप्रतिपादकमपि न स्यात् उन्मत्तपुरुषवाग्वदित्यनु-कूलतर्कसद्भावात्। न चात्रोक्तहेतोरसिद्धिरिति वाच्यम्, द्रव्यपर्यायापेक्षया कथञ्चिन्नित्या-नित्यत्वादिस्वरूपतया शासनप्रतिपाद्यस्यार्थस्य प्रत्यक्षप्रमाणेन तथैव प्रतीतेः, न च नित्या-नित्यत्वयोर्विरुद्धत्वात्तद्धर्माक्रान्तार्थावगाहिनी सा प्रतीतिर्भ्रान्तेति वाच्यम् न्यायमते भ्रान्त ज्ञाने धर्मिप्रकारांशावच्छेदेन प्रामाण्याऽप्रामाण्ययोरिव शाखामूलावच्छेदेनैकस्मिन्नेव वृक्षे कपिसंयोगतदभावयोरिव वा बौद्धसिद्धान्तसिद्धे चित्रज्ञाने नीलाकारत्वपीताकारत्वयोरिव वा साङ्ख्यमताभ्युपगतायामेकस्यां प्रकृतौ सत्त्वादित्रयात्मकत्वस्येव वा तत्तदपेक्षाभेदेन तयो-र्विरोधाभावात्। एतच्चाग्रे निरूपयिष्यते। तथा चोक्तानुमानेन गुणवत्पुरुषप्रणीतत्वसिद्धौ य एवैतच्छासनकर्तृगुणवत्पुरुषः स एव जिनः, तादृशपुरुषान्तराऽसम्भवात्, तदसम्भवश्चाग्रे प्रतिपादयिष्यते। तदेवं शासनस्य जिनप्रणीतत्वसिद्धौ तत्र हेत्वन्तरानपेक्षणेन स्वतः प्रामाण्यं सावकाशमेव। यद्वा वाक्यरचनाम्प्रति वाक्यार्थज्ञानस्य कारणत्वेन तस्य यथार्थत्वे तस्याः प्रामाण्यम्, अयथार्थत्वे चाऽप्रामाण्यमित्यतश्शासनस्य प्रामाण्ये आप्तवक्तृ-यथार्थवाक्यार्थज्ञानात्मकगुणजन्यत्वमेव तन्त्रम्, अन्यथा प्रामाण्यमेव न स्यादिति तादृश ज्ञानात्मकगुणाधीनत्वाच्छासनस्य प्रामाण्यं परत इति गीयते तदापि तज्जैनानुमतमेवेति।

मीमांसकास्तु ज्ञानमात्रे उत्पत्तौ स्वत एव प्रामाण्यमनधिगताऽबाधितार्थविषयकज्ञान-स्वलक्षण तद्वन्निष्ठविशेष्यतानिरूपिततन्निष्ठप्रकारतानिरूपकज्ञानत्वलक्षण वा, ज्ञानोत्पादकसामग्र्यतिरिक्तगुणादिसामग्र्यन्तरानपेक्षत्वात्, वेदागमस्याऽप्यपौरुषेयतया नित्यत्वेन "शब्दसामान्यस्य ज्ञानजनकत्वेन प्रामाण्यमम्मवाचोदनायाश्च शब्दत्वादतस्सम्भवत्यैवातीन्द्रिये धर्मे चोदनाया. प्रामाण्यम्" इति शाबरभाष्यप्रभाटीकोक्तेरनधिगताबाधितार्थावगाहिज्ञानजनकत्वात् प्रामाण्यम् आप्तवक्तृगुणाऽपेक्षाऽभावात्स्वतः। यतो नाप्तवक्तृगुणसङ्क्रान्त्या वेदागमे प्रामाण्यम्, शब्दोच्चारणमात्र एवाप्तस्य व्यापारात्। शब्दः पुनरविसंवादिनीं वस्तुप्रतीतिं विदधानः स्वमहिम्नैव प्रमाणभूतः, नातोऽस्मिन्नाप्तप्रणीतत्वाभावादप्रामाण्यम्, यतः शब्दस्थलेऽपि विज्ञानोत्पादकमेव प्रामाण्योत्पादकम्, नाप्तप्रणीतत्वम्, अतस्तदभावो न दोषाय, प्रामाण्यप्रयोजकाभावो ह्यप्रामाण्यमाक्षिपति, नाप्तप्रणीतत्वाभाव इति नानुमानादिवेद्यत्वेन परतः प्रामाण्यम्। अनुमानप्रयोगस्तु प्रामाण्यव्यवहारसाधनार्थमेव, न तु प्रामाण्यसिद्ध्यर्थम्, सिद्धेऽप्यर्थे इच्छादिना व्यवहारार्थं हेतूपन्यासो लोकेऽवलोक्यत एव। अत एव "प्रत्यक्षपरिकलितमप्यर्थमनुमानेन बुभुत्सन्ते तर्करसिका." इति वाचस्पतिवचन सङ्गच्छत इत्याहुः। तन्न विद्वन्मनोरञ्जकम्, वेदे प्रामाण्यस्याप्तवक्तृगुणाऽपेक्षाऽभावेन स्वतस्त्वे तत्राप्रामाण्यस्यानाप्तवक्तृदोषाऽपेक्षा नास्तीति तदपि स्वतस्स्यादिति विपर्ययस्य सुवचत्वापत्तिस्स्यात्। अथाऽप्रामाण्यम्प्रति वक्तृदोषाणामन्वयव्यतिरेकौ स्तः, अत एव "तदन्तर्गतो दोषो मिथ्याभावस्य हेतुः" इत्युक्तमिति चेत्तदप्यपेशलम्, प्रामाण्यम्प्रति वक्तृगुणानामपि तयोस्तुल्यत्वात्। तथाहि–पुरुषगुणे सति वाक्यप्रामाण्य दृश्यते, तस्मिन्नसति च तन्नानुभूयत इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां पुरुषगुणकृत वाक्यप्रामाण्यमवगम्यते, तद् यद्यनन्यथासिद्धान्वयव्यतिरेकोभयसद्भावेऽपि पुरुषगुणप्रयोज्य नेष्यते तर्ह्यप्रामाण्यमपि पुरुषदोषाधीन न स्यात्, गुणान्वयव्यतिरेकयोरिव दोषान्वयव्यतिरेकयोरप्यन्यथासिद्धत्वात्, न च दोषस्थलीयावेव तावनन्यथासिद्धाविति वक्तु शक्यम्, विपर्ययस्यापि सुवचत्वात्, विशेषाऽभावात्, इष्यते च पुरुषदोषाधीनमप्रामाण्य भवद्भिः, तद्वत्पुरुषगुणकृत प्रामाण्यमप्येष्टव्यम्, यतो लोकेऽपि वचनप्रकारेषु गुणवत्पुरुषप्रणीतत्वादेव गुणाधीन प्रामाण्यम्, तदभावे च दोषाधीनमप्रामाण्यमिति व्यवस्थोपलभ्यते, प्रयोगश्चात्रैवम्–वेदवचन वक्तृगतयथार्थज्ञानात्मकगुणाधीनप्रामाण्यवत् श्रोतृयथार्थबोधजनकत्वात् उभयसम्प्रतिपन्नाप्तवचनवत्, न चात्र वेदस्याऽपौरुषेयत्वात्तद्वचन स्वत एव प्रमाणमित्युक्तसाध्य मास्तु हेतुरस्त्विति व्यभिचारशङ्का कर्त्तव्या, यदि तद् वक्तृयथार्थज्ञानात्मकगुणाधीनप्रामाण्यवन्न स्यात्तर्हि श्रोतृयथार्थबोधजनकमपि न स्यात्, उन्मत्तपुरुषवाक्यवत्, इष्यते च श्रोतृयथार्थज्ञानजनकम्, तस्मात्तद् वक्तृयथार्थज्ञानाऽऽत्मकगुणाधीनप्रामाण्यवदित्यनुकूलतर्कसद्भावात्। लिङ्गसादृश्यादिभ्रान्तज्ञानरूपदोषाभावमात्राश्रयानु-

मित्युपमितौ प्रमे इति लिङ्गमादृश्यादिविषयकयथार्थज्ञानमपि गुणस्तद्धेतुस्तद्वच्छाब्दप्रमाऽपि दोषाभावमात्रान्न भवतीति तत्र यथार्थवाक्यार्थज्ञानमपि गुणो हेतुरिति यथार्थवाक्यार्थ-ज्ञानात्मकगुणवत्पुरुषोच्चरितत्वेन वेदे प्रामाण्य परतोऽभ्युपगन्तव्यम्। अपौरुषेये वेदे अकर्तृ-कत्वेन दोषनिवृत्त्यैव प्रामाण्यमस्त्विति चेत्, तर्हि तत एव गुणनिवृत्त्याऽप्रामाण्यमपि स्यात्। गुणनिवृत्तेरप्रामाण्यम्प्रति सामर्थ्यं न क्वापि दृष्टिगोचरमिति चेत्, तर्हि दोषनिवृत्तेः प्रामाण्यम्प्रति क्व सामर्थ्यमनुभूतमित्युच्यताम्?। लोकवचसीति चेत्? तुल्यमुभयत्र। लोकवचमामप्रामाण्ये दोषा एव कारणम्, गुणनिवृत्तिस्त्ववर्जनीयमसिधिरित्यप्रामाण्य दोषाधीनत्वेन परत इति चेद्, मैवम्, प्रामाण्यं प्रत्यपि गुणा एव कारणम्, दोषनिवृत्तिस्तु स्वभावसिद्धेति प्रामाण्यमपि गुणाधीनत्वेन परत इति विपर्ययस्यापि सुवचत्वात्, दोषाप गमप्रयुक्तो गुणानामवर्जनीयमद्भावो न तु स्वकारणोपजाता गुणाः, येन तादृशगुणजन्य प्रामाण्य परतस्स्यादिति चेत्, तर्हि गुणोत्पादप्रयुक्तो दोषाणामवर्जनीयसद्भावोऽप्यस्त्विस्यऽप्रामाण्यमपि स्वत इत्यपि स्वीक्रियताम्, न च गुणाभावस्यैवाऽप्रामाण्य प्रति प्रयो जकत्वेन परप्रयोज्यत्वात्परतस्त्वमेव तस्य सिद्ध्यतीति वाच्यम् भावकारणप्रयोज्यत्वे सत्येव परतस्त्वस्वीकारात्, गुणाभावस्य च भावरूपत्वाभावात्, अन्यथा दोषाभावमात्रप्रयोज्य त्वमादाय प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वसाधन तथापि न सङ्गच्छेत, प्रामाण्यस्य दोषाभावरूपपर प्रयोज्यत्वात्। अथैवं सति वेदानामपौरुषेयतया गुणदोषयोरुभयोरभावे तद्धेतुकयोः प्रामाण्याऽप्रामाण्ययोरभावात्तृतीयराशेश्चासम्भवाविस्स्वभावत्वापत्तिस्स्यादिति चेत्, किं न खलु भो० खलस्वभावमारमान त्वमुपालम्भसे, य० किलामीषामकर्तृकस्त पूत्करोषि। तस्मा-दाप्तवक्तृगुणहेतुक प्रामाण्यमनाप्तवक्तृदोषहेतुकञ्चाप्रामाण्य यथा लोकवचसि तथैव वेदेऽप्य स्तित्वत्येन मार्गश्रेयस्करोऽभ्युपगमनीय इति तस्याप्तवक्तृगुणहेतुकत्वे सत्येव प्रामाण्य सिद्ध स्यात्, नान्यथा। वेदे विपरीताभ्युपगमे को दोष इति चेत्, उच्यते, दोषाऽऽसक्तपुरुष-प्रणीतत्वादप्रामाण्यमिव गुणवत्पुरुषप्रणीतत्वादेव प्रामाण्यमपि लौकिकवाक्येषूपलब्धम्, लौकिकवाक्यसमश्च वेदवाक्यम्, य एव लौकिकाश्शब्दास्त एव वैदिका इत्यतश्शब्दस्वरूपा विशेषानुचार्यमाणत्वप्रयोज्यपुरुषाश्रवणत्वसङ्केतग्रहमव्यपेक्षार्थप्रतिपादकत्वादिलक्षणसमान धर्मकत्व सत्यपि पूर्वोक्तान्वयव्यतिरेकानुविधाने सत्यपि च तत्र गुणवत्पुरुषप्रणीतत्वानभ्यु पगमे शब्दप्रामाण्यहेतुभूताप्तोच्चरितत्वस्याऽभावेन प्रामाण्यायैव जलाञ्जलिर्दत्तो भवेत्। ननु वर्णा नित्या एव "य एव पूर्वमुच्चरितो गकारः स एवाय गकारः" इत्यादि प्रत्यभि ज्ञाबलादित्यवगम्यन्ति, तथा च वर्णसमूहात्मकपदसमूहविशेषवाक्यसमूहविशेषरूपस्य वेदस्य नित्यत्वेन गुणवत्पुरुषप्रणीतत्वाभावान्न परतः प्रामाण्यमिति चेद्, न, उत्पन्नो गकारो विनष्टो गकार, इदानीं श्रुतपूर्वो गकारो नास्ति, निवृत्तः कोलाहल इत्यादिप्रतीत्योत्पादविना शशीलाना वर्णानामनित्यत्वेन स एवाय गकार इति प्रत्यभिज्ञायास्सजातीयत्वेन रूपेण

व्यक्त्यभेदावगाहित्वेन सेयं दीपज्वालेति प्रत्यभिज्ञाया इव प्रामाण्येऽपि व्यक्तित्वेन व्यक्त्य भेदावगाहित्वेन यत्प्रामाण्य तस्याभावात् । अयमल्पो महान् कर्कशो मधुरश्शब्द इति भेदप्रतिभासकबाधकप्रत्ययस्य सद्भावेन तस्याः प्रामाण्याभावाच्च, न च पुरुषे तुरगवर्त्ति-वेगाध्यारोपाद्वेगेन पुरुषो यातीति प्रत्ययवद्वर्णस्य तद्व्यञ्जकध्वनेश्च भेदाग्रहाद् ध्वनिगतो त्स्वत्वादिधर्मस्य गादावारोपादुत्पन्नो गकार इत्यादिप्रतीतेर्ध्वनिनिष्ठोत्स्वत्वादिविषयकत्वेन भ्रमत्वम्, एवं व्यञ्जकध्वनिगताल्पत्वमहत्त्वादिधर्माणां गादिवर्णेष्वध्यारोपात्तत्प्रत्ययस्यापि भ्रान्तत्वमिति स न भेदसाधनक्षम इति वाच्यम्, गादिवर्णानां निस्स्वरूपत्वावाप्तिप्रसक्तेः, यतो यः कदाचिदप्यन्यथा प्रतीयते तस्यैवान्यदाऽन्यथा प्रत्ययने भ्रान्तत्वम्, यथैकत्वेन प्रतीयमानस्येन्दोर्द्वित्वेन प्रत्ययने । तदुक्तम्—

> यो ह्यन्यरूपसंवेद्यस्संवेद्येतान्यथाऽपि च ।
> स भ्रान्तो न तु तेनैव यो नित्यमुपलभ्यते ॥ १ ॥ इति ॥

न चात्र कदाप्यल्पमहत्त्वादिधर्मानध्यासिततया गादिस्स्वप्नेऽपि केनचित्प्रतीयत इति । न चाभिव्यञ्जकस्य प्रदीपादेरल्पमहत्त्वे तदभिव्यङ्ग्यस्य घटपटादेरल्पमहत्त्वादिप्रतिभासोऽपि दृष्ट इति । किञ्चाल्पत्वादिधर्माणां ध्वनिधर्मत्वपक्षे श्रोत्रेण तद्ग्रहणमपि न स्यात् । उक्तञ्च न्यायमञ्जर्याम्—

> ध्वनिधर्मत्वपक्षे तु श्रोत्रेण ग्रहणं कथम् ।
> नहि वायुगतो वेगः श्रवणेनोपलभ्यते ॥ १ ॥ इति ॥

किञ्च मालाऽनेन कृतेत्यादौ सन्दर्भविशेषविशिष्टपुष्पस्वरूपाया मालायां विशेष्यस्य पुष्पादेरसिद्धत्वेऽपि सन्दर्भरूपतद्गतविशेषणस्य पुरुषकर्तृकत्वमादायैव तद्विशिष्टपुष्परूपायां मालायां पुरुषकर्तृकत्वस्य व्यवहारवत् तुष्यतु दुर्जन इति न्यायेन विशेष्यीभूतवर्णानां नित्यत्वाऽभ्युपगमेऽप्यर्थप्रत्ययानुकूलरचनाविशेषरूपानुपूर्वीविशेषरूपविशेषणस्य पुरुषविशेषकर्तृकत्वमादायैवानुपूर्वीविशेषविशिष्टवर्णात्मकवेदस्यापि पुरुषविशेषकर्तृकत्वमुपपन्नं स्यादेव । यतो न हि पुरुषप्रयत्नमन्तरेण क्वचिदक्षरविन्यासो दृष्टश्श्रुतो वा, दृष्टस्य श्रुतस्य च तत्त्वस्याऽनुसारिणी कल्पना प्रमाणभावं भजते, न यथा तथा कल्पना । एवं सत्यपि वेदे पदानां रचना स्वाभाविकीति चेत्, तर्हि पटेऽपि तन्तूनां रचना नैसर्गिकी भवेदिति साप्यकर्तृका स्यात्, पटरचनां दृष्ट्वा तत्कर्तृत्वमनुमीयत इति चेत्, तर्हि वेदरचनायामपि तुल्यमेतत्, उक्तञ्च—

> " पदनित्यत्वपक्षेऽपि, वाक्ये तद्रचनात्मके ।
> कर्तृत्वसम्भवात्पुंसो वेदः कथमकृत्रिमः ॥ १ ॥

पटादिरचना दृष्ट्वा, तस्य चेत्साऽनुमीयते ।
वेदेऽपि रचना दृष्ट्वा, कर्तृत्वं तस्य गम्यताम् ॥ २ ॥ इति ॥

सेति कर्तृवेत्यर्थः । ननु वैदिकी रचना पौरुषेयी न भवति दृष्टकर्तृकरचनाविलक्षणत्वादन्तरीक्षवदित्यनुमानतो रचनाया अपौरुषेयत्वसिद्ध्या तद्विशिष्टवर्णात्मकवेदोऽप्यपौरुषेय एव सिद्ध्यतीति चेत्, मैवम्, विशिष्टा रचना दृश्यमाना तत्करणाऽसमर्थमेव कर्तारं निराकुरुते, न पुनः कर्तृमात्रमपि, न खलु पुराणकूपप्रासादादौ विशिष्टा रचना प्रतीयमाना कर्तृमात्रं निराकुर्वती प्रसिद्धा, तत्करणाऽसमर्थस्यैव शिल्पिनस्तया निराकरणात्, न हि कर्त्रन्वयव्यतिरेकानुविधायिनो धर्माः कर्तारं विना घटन्ते, ततो वैदिकी रचना पौरुषेयी न भवतीत्याद्यनुमानमयुक्तमेवोक्तम्, दृष्टकर्तृकरचनाविलक्षणत्वस्य हेतोरुक्तनीत्या तत्राऽसिद्धत्वात्, सिद्धत्वे वा तद्विलक्षणस्यैव कर्तुरनुमीयमानत्वेन कर्तृमात्राऽनिषेधकत्वात् । ततो वेदः पौरुषेयो वचनरचनात्वाद् भारतादिवदित्याद्यनुमानेन वेदस्य पौरुषेयत्वमभ्युपगन्तव्यम् । अपि च वेदवाक्यादऽनवरतं तदर्थज्ञानोत्पत्तिप्रसङ्गेन न स्वतस्तस्य तदुत्पादनव्यापारः, किन्तु पुरुषकृतसङ्केतग्रहजन्यविशिष्टसंस्कारसव्यपेक्षस्यैव तस्य तदुत्पादनव्यापारः, ते च पुरुषास्सर्वे एव भवता प्रमादाज्ञानकरणापाटवविप्रलिप्सादिदोषवन्त एवाभ्युपगता इति तत्कृतसङ्केतग्रहजन्यसंस्कारो न यथार्थ इति तत्सव्यपेक्षवेदजन्यार्थज्ञानमयथार्थं स्यादिति नित्यवेदस्याभ्युपगमो गजस्नानमनुकरोति । तदुक्तम्—

असंस्कार्यतया पुम्भिस्सर्वथा स्यान्निरर्थता ।
संस्कारोपगमे व्यक्तं, गजस्नानमिदं भवेत् ॥ १ ॥ इति ।

एतेन नाप्तवक्तृगुणसङ्क्रान्त्या वेदागमे प्रमाणत्वम्, शब्दोच्चारणमात्र एवाप्तस्य व्यापारादित्यादि पूर्वोक्तं निरस्तम्, अथाऽगृहीतसङ्केतस्य पुंसोऽर्थप्रतिपत्त्यसम्भवेन स्वार्थेन साकं गृहीतसङ्केत एव शब्दश्शाब्दप्रतीतिं जनयति, तत्र सङ्केतग्रहश्च यदा प्रयोजकवृद्धस्य गामभ्याजेनां शुक्लां दण्डेनेत्यभिधानादनन्तरमेव प्रयोज्यवृद्धस्तेन तामानयति तदा पार्श्वस्थोऽव्युत्पन्नसङ्केतो बालोऽयं देवदत्तो गवानयनविषयकप्रतिपत्तिमान् तद्विषयकदण्डादिप्रहारानुकूलचेष्टावत्त्वादित्येवं तत्प्रतिपत्तिमनुमिनोति, तत्प्रतिपत्त्यन्यथाऽनुपपत्त्या तत्र शब्दस्य सम्मुग्धार्थतया शक्तिं च परिकल्पयति, ततश्च यदा गां नय घटमानयेत्युक्ते प्रयोजकवृद्धेन प्रयोज्यवृद्धो गां नयति घटश्चानयति तदा तत्तत्पदावापोद्वापाभ्यां तस्मिन् तस्मिन्नर्थे तत्तच्छब्दशक्तिं निश्चिनोति, इत्येवं प्रकारेण सम्पद्यते, तथा च शब्दस्यास्थिरत्वे पुनः पुनरुच्चारणस्यैवाभावतोऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां सङ्केतग्रहाभावेनार्थप्रतिपत्त्यजनकत्वात् प्रेक्षावद्भिरनुच्चार्यमेव स्याद्वाक्यम्, उच्चार्यते च परावबोधाय तत्, ततो गवानयनाद्यर्थविषयकप्रत्ययरूपपरावबोधफलकत्वं शब्दस्य नित्यत्व एवोपपद्यते, न त्वनित्यत्वे, प्रत्युच्चारणं शब्द-

भेदे सम्बन्धग्रहणाऽसम्भवात्, अगृहीतसम्बन्धस्य च शब्दस्य नैवार्थप्रत्यायकत्वम्, तथात्वे सर्वस्यापि शब्दस्य सर्वार्थप्रत्यायकत्वं स्यादित्यत. परार्थवाक्योच्चारणान्यथाऽनुपपत्ते- र्निर्धीयते धूमादिवद्गृहीतसम्बन्धोऽर्थप्रतिपादकश्शब्दो नित्य', नित्यत्वे च तस्यैव शब्दस्य पुनः पुनरुच्चारणे बहुश उपलभ्यमानत्वात्सम्भवति सम्बन्धग्रहणमर्थप्रत्यायकत्वञ्चेति । अत एव मीमांसादर्शनसूत्रकार आह—" नित्यस्तु स्याद्दर्शनस्य परार्थत्वात् " ॥ अ. १, पा. १, सू १८ इति । तद्भाष्यम्-नित्यश्शब्दो भवितुमर्हति । कुतः-दर्शनस्य परार्थत्वात् । दर्शनमुच्चारणम्, तत्परार्थं परमर्थं प्रत्याययितुम्, उच्चरितमात्रे हि विनष्टे शब्दे न चान्योऽन्यानऽर्थं प्रत्याययितुं शक्नुयात् । अतो न परार्थमुच्चार्येत । अथ न विनष्टस्ततो बहुश उपलब्धत्वादर्थावगम इति युक्तमित्यादि " । नित्यत्वे च तस्य कैमुतिकन्यायप्राप्तमेवापौरुषेय- त्वमिति चेत्, तदत्यन्ताऽसङ्गतमेव, अनेकासा धूमव्यक्तीनामेकैकशस्त्वमाण्येन सहाविनाभावा व्याप्तेर्ग्राहयितुं ग्रहीतुं चाशक्यत्वेन गृहीतव्याप्तिकापाश्च धूमव्यक्तेः पक्षधर्मत्वाभावेनानु मित्युच्छेदभयेन तस्या अपि नित्यत्वप्रसक्तत्वापत्तेः । स्यादेतत् अनित्यानामपि तत्तद्वह्निधूमव्य क्तीनामन्वयव्यतिरेकाभ्यां धूमत्वेन वह्नित्वेन सर्वोपसहारेण व्याप्तिग्रहसम्भवेन नैवमस्माक प्रतिबन्दिविभीषिकेति चेत्, तर्हत्रापि विनाशिनीनामपि गवार्थव्यक्तीना गोशब्दव्यक्तीनां च गोत्वेन गोशब्दत्वेन चानुगतीकृत्य सङ्केतग्रहणे का भवता क्षतिः, सामान्यविशिष्टयोर विवक्षितविशेषयोर्व्यक्त्योरनुमेयानुमापकमात्रस्यैव वाच्यवाचकमात्रस्यापि समकक्षत्वादिति । एतेन गोशब्दोच्चारणे सति सर्वगोविषयकः प्रत्ययो युगपज्जायते, ततश्च गोशब्दादिराकृतिवचन इत्यवगम्यते, व्यक्तिवचनत्वे तु तेन तद्व्यक्तिमात्रप्रत्यय एव भवेत् । विना प्रयोगबाहुल्येन सकृच्छ्रूयमाणस्य गवादिशब्दस्याऽनित्यत्वेनाभिमतस्याकृत्या वाच्यभूतया सह सङ्केतसन्नि मानलक्षणसम्बन्ध' कथयितुं ग्रहीतुं वा न शक्यते । अङ्गुल्यादिनाऽऽकृतिविशेषनिर्देशपूर्वक- मनित्यस्यापि शब्दस्य सम्बन्धस्य कथनं ग्रहणं वा कुतो न सम्भवतीति चेत्, उच्यते, एकस्मिन् गोपिण्डे पार्थिवत्वद्रव्यत्वादिरूपाणां बह्वीनामाकृतीनां सद्भावाद्विना प्रयोगबाहु- ल्येन गोशब्दवाच्यां गोत्वरूपामाकृतिं पार्थिवत्वादितो विभक्तां गोशब्दादिरन्वयव्यतिरे काभ्यां नावगमयेदिति नित्ये शब्देऽभ्युपगम्यमाने तस्य बहुकृत्व उच्चारणश्रवणसम्भवादन्वयव्यतिरेकाभ्यां तत्तदाकृतिविशेषावगमकत्वं सुलभमित्यर्थकं " गोशब्द उच्चारिते सर्वे गवीषु युगपत्प्रत्ययो भवति । अत आकृतिवचनोऽयम्" इत्यादिभाष्योपेतम् " सर्वत्र यौगप द्यात् " अ १, पा १, सूत्र १९ । इति मीमांसादर्शनसूत्रमपि निरस्तमवसेयम् । का पुनरा- कृतिः का व्यक्तिरिति । द्रव्यगुणकर्मणां सामान्यमात्रमाकृति. । असाधारणविशेषा व्यक्तिः । अ. १, पा. ३, सू. २० । इति शाबरभाष्यवचनादाकृतिपदग्राह्या या जातिस्तत्र शक्त्यभ्युप- गमे गोपदशक्यतावच्छेदक गवेतराऽसमवेतत्वे सति सकलगोसमवेतत्वलक्षणं गोत्वस्य

स्यात्, एवं घटपदादावपि ज्ञेयम्, तस्य चानेकपदार्थघटितत्वेन सखण्डरूपतया तत्पक्षस्य जातिविशिष्टव्यक्तौ शक्त्यभ्युपगमे गोपदशक्यतावच्छेदिकाया गोत्वजातेरखण्डरूपतया लघुरूपत्वेन तदपेक्षया गौरवास्पदत्वेनायुक्तत्वात्। न च व्यक्तीनामानन्त्याद् गोशृङ्गग्राहिकया प्रतिव्यक्तिसङ्केतकरणाऽसम्भव इति वाच्यम्, जातिविशिष्टायां व्यक्तावविवक्षितविशेषरूपायामत एवोदासीनरूपायां सङ्केतकरणस्य तद्ग्रहणस्य च सम्भवाद्, आकाशादिशब्दवद् येषां च शब्दानामर्थेषु जातिर्नास्ति तत्र तेषां केवलायां व्यक्तावेव सङ्केतकरणम्। उक्तञ्च—

> येषामर्थेषु सामान्यं न सम्भवति तैः पुनः।
> उच्यते केवला व्यक्ति,-राकाशादिपदैरिव ॥ १ ॥ इति ॥

न च पूर्वं शब्दाच्छक्तिद्वारा जात्यवगमः पश्चाद्व्यक्तिं विना जात्यनुपपत्तेरर्थापत्त्या व्यक्त्यवगम इति क्रमिकप्रतीत्यनुभव इति वाच्यम्, तिरस्य शब्दव्यापाराभावात्। किञ्च व्यक्तेरवाच्यत्वे विभक्त्यर्थस्य क्रियाकर्मत्वादेस्तत्राऽनन्वयस्स्यात्। न च तत्रानन्वय इष्ट एवेति वाच्यम्। सुब्विभक्तीनां प्रकृत्यर्थान्वितस्वार्थबोधकत्वस्य व्युत्पत्तिसिद्धत्वादिति न्यायपन्थाः। न चायमपि समीचीनो मार्गः, यतो जातिव्यक्त्योर्नैकान्तभेदः, किन्तु कथञ्चिदेव, सामान्यविशेषात्मकस्यैव वस्तुनः मर्यादया प्रतिपत्तौ प्रतिभासनादिति तदात्मके वस्तुन्येव पूर्वोक्तरीत्या सङ्केतग्रहः, न त्वेकान्तभिन्नजातिविशिष्टव्यक्तौ, न च तन्मात्रेण शब्दस्यार्थप्रत्यायकत्वमपि, किन्तु स्वाभाविकशक्तिसङ्केतग्रहाभ्यामेव, शब्दे स्वाभाविकशक्तिमन्तरेणार्थप्रत्ययोत्पादकत्वाभावात्। नहि षण्ढः पुत्रोत्पादको दृष्ट इति स्वतोऽशक्तस्य कस्यापि कार्योत्पादकत्वादर्शनात्। उक्तञ्च प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारे "स्वाभाविकसामर्थ्यसमयाभ्यामर्थबोधनिबन्धनं शब्दः"। ४। ११। इति। इदमत्रावधेयम्, यद्यपि शब्दः श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यः तथापि न श्रूयमाणादेव शब्दाच्छाब्दबोधो भवति। शाब्दबोधं प्रत्यर्थोपस्थितिद्वारा शब्दज्ञानस्य शब्दज्ञानत्वेनैव कारणत्वम्, न तु शब्दप्रत्यक्षत्वेन, तेन जन्यायामर्थोपस्थितावपि सङ्केतग्रहो योऽपेक्षणीयः सोऽपि न श्रोत्रेन्द्रियजन्यप्रत्यक्षरूपः, अस्मात्पदादयमर्थो बोद्धव्यः एतत्पदजन्यबोधविषयोऽयमर्थो भवत्वित्येवं रूपस्य इदं पदम् मुमर्थं बोधयतु-एतदर्थविषयकबोधजनकमिदम्पदम्भवत्वित्येवं रूपस्य वेच्छाविशेषलक्षणस्य सङ्केतस्य विषयताविशेषसम्बन्धेन शब्दगतत्वेऽपि श्रोत्रेन्द्रियाग्राह्यत्वेन तज्ज्ञानस्य श्रोत्रेन्द्रियजन्यप्रत्यक्षरूपत्वाभावात्, किन्त्वनुभवात्मकमपि प्राथमिकं सङ्केतग्रहणं श्रोत्रेन्द्रियजन्यप्रत्यक्षभिन्नमेव, निरुक्तसङ्केताभिव्यज्यमानतयाऽभिमतस्य वाच्यवाचकभावस्यार्थगतवाच्यतासामर्थ्यरूपशक्तिलक्षणस्य पदगतवाचकतासामर्थ्यरूपशक्तिलक्षणस्य वा श्रोत्रेन्द्रियाग्राह्यत्वेन तदभिव्यक्तिर्निरुक्तसङ्केतग्रहाज्जायमाना न श्रोत्रेन्द्रियजन्यप्रत्यक्षात्मिका, किन्तु तदन्यज्ञानरूपैव, न हि प्रत्यक्षमेवाभिव्यक्तिशब्देन वक्तुं योग्यं नान्यदित्यस्ति नियमः,

शक्तिः कारणत्व कारणतावच्छेदिका वा शक्तिरिति पक्षद्वयेऽप्यतीन्द्रियायाश्शक्तेरभिव्यञ्जकत्वादेव वह्निजनकतान्यूनवृत्तीनामपि तृणत्वारणित्वमणित्वादीना वह्निजनकतावच्छेदकत्वोपचारात्, न च कारणतातदवच्छेदकान्यतररूपाया अतीन्द्रियायाश्शक्तेरभिव्यक्तिः प्रत्यक्षात्मिका, किन्तु ज्ञानान्तररूपैव, अथाप्यभिव्यक्तिरिति व्यपदिश्यते, शाब्दबोधे च यथा स्मरणलक्षण सङ्केतग्रहणमपेक्षित, तथा वाच्यवाचकभावग्रहणमपि स्मरणलक्षणमपेक्षितमिति । नन्वेव तर्हि श्रूयमाणाच्छब्दात्तद्गतशक्तिबलाच्छाब्दप्रत्ययोत्पत्तेस्सैव कारण तत्रास्तु किं सङ्केताभ्युपगमेनेति चेद्, नैवम्, जिनानुगैः सर्वे शब्दास्सर्वार्थवाचका इति नियमाभ्युपगमादेकस्मादपि शब्दादशेषार्थप्रतीते प्रसङ्गस्स्यात्, न च सा भवतीत्येकैकशब्दस्य सर्वार्थवाचकत्वेऽपि सङ्केतसहकृतस्यैव शब्दस्य स्वयोग्यताऽपरपर्याय शक्तिमाहात्म्यतः प्रतिनियतार्थप्रतीतिजनकत्वेन प्रतिनियतार्थप्रतीतिव्यवहारोपपादनाय सङ्केताभ्युपगमस्यापि साफल्यात् । अत एव न शक्तिबलाद् गवादिशब्दादश्वादिप्रतीतिः, न चाऽव्युत्पन्नस्यापि पुसः सर्वगोसच्छाऽविष्वग्वृत्तिगोशब्दत्वावच्छिन्नगोशब्दात्सदृशपरिणामलक्षणगोत्वावच्छिन्नगोव्यक्तिबोधः, सङ्केतो ह्ययमर्थोऽस्य शब्दस्य वाच्यः, अस्य चार्थस्याय शब्दो वाचक इत्येवरूपो वाच्यवाचकयोर्विनियोग, स येन पुसाऽवापोद्वापद्वारा निश्चितस्तस्यैव पुसः पुनर्गोशब्दश्रवणे तत्स्मृतौ शब्दः स्वशक्तिद्वारा स्वार्थं प्रतिपादयति, नापरस्य पुसः, नान्यार्थञ्च । प्रतिनियतसङ्केतानुसारिणो नियताच्छब्दात्प्रतिनियतार्थप्रतिपत्तिदर्शनात्, एतेन न शब्दस्वरूप नियतार्थप्रतिपत्तिहेतुः, तस्य सर्वार्थान् प्रत्यविशिष्टत्वादित्यपि निरस्तम्, नियतसङ्केतसहकृतस्य शब्दस्य सर्वार्थान् प्रत्यविशिष्टत्वाऽसिद्धे । ततो वाच्यवाचकोत्पत्तिसमयसम्भूष्णुशक्तिस्वभावस्य कथञ्चिन्नित्यानित्यस्य वाच्यवाचकाभ्या कथञ्चिद्भिन्नस्य सामान्यविशेषोभयस्वभाववस्तुगोचरोपचरितसङ्केताभिव्यक्तस्य वाच्यवाचकभावसम्बन्धस्य बलेन ताल्वादिसयोगजन्याना शब्दानामर्थावबोधलक्षणशाब्दबोधानुकूल सामर्थ्यं स्वाभाविकमुररीकृत्य तेषा प्रामाण्य प्रतिपत्तव्यम् । न पुनरनित्याना शब्दानामेकान्तभिन्नसामान्यविशिष्टेऽनुल्लिखितशाबलेयादिविशेषेऽर्थे आवापोद्वापद्वारा निश्चितसङ्केतमात्रवशेनार्थावबोधजनकानाम्, न वा नित्यानामपि शब्दाना नित्यवाच्यवाचकभावसम्बन्धाभिव्यञ्जकसङ्केतबलेन जातिमात्रावबोधकानामर्थापत्त्या व्यक्त्यवगमकानामिति । अस्थिरस्यापि शब्दस्यार्थेन सह वाच्यवाचकभावसम्बन्धस्य गुणीभूतजातिविशिष्टप्रतिनियतार्थसङ्केतग्रहबलेन ग्रहस्तु वह्निधूमव्यक्त्योरनित्यत्वेऽप्यविवक्षितव्यक्तिविशेषस्य वह्नित्वावच्छिन्नस्याऽविवक्षितव्यक्तिविशेषरूपे धूमत्वावच्छिन्ने ऊहाख्यतर्कबलेन सर्वोपसहारेण व्याप्तिग्रह इव सम्भवत्येवेति न तत्र कोऽपि दोषः । इत्यल पल्लवितेन, ग्रन्थगौरवभीत्याऽधिक यन्नोक्त तद्ग्रन्थान्तरादस्मत्सदृब्धस्याद्वादबिन्दुतश्चावसेयम्, तदेव शब्दानामनित्यत्व-

सिद्ध्या सृष्टिकर्तुरीश्वरस्य च निराकृतत्वान्निराकरिष्यमाणत्वाच्च तत्कर्तृकत्वाभावेन घातिकर्मक्लेशादिसकलदोषाऽपरामृष्टपुरुषविशेषप्रणीतत्वेनैव हेत्वन्तरानपेक्षणेन स्वतःसिद्ध शासनस्य प्रमाकरणत्वलक्षण प्रामाण्यम्, वक्तृगतयथार्थज्ञानात्मकगुणजन्यत्वविवक्षाया तु परतः प्रामाण्यमपि, अत एव द्वादशाङ्ग्यात्मकशासनप्रतिपाद्यार्थविषयकज्ञाने प्रमात्वलक्षणस्य प्रामाण्यस्योत्पत्तिर्ज्ञानकारणगतगुणापेक्षणात् परत इत्युच्यते, एवमेव प्रत्यक्षज्ञानादावपि प्रामाण्यस्य ज्ञानकारणगतगुणापेक्षया अप्रामाण्यस्य च ज्ञानकारणगतदोषापेक्षयोपजायमानत्वात्तदुभयमुत्पत्तौ परत इति। नन्त्पत्तौ परतः प्रामाण्ये किं प्रमाणमिति चेत्, उच्यते, प्रामाण्य ज्ञानहेत्वतिरिक्तहेत्वधीन ज्ञानवृत्तित्वे सति कार्यविशेषत्वात्, अप्रामाण्यवत्। यदि पुन' प्रामाण्य ज्ञानहेतुमात्राधीन भवेत्तदा निर्विवादाप्रामाण्य पार्वणेन्दुद्वय संवेदनमपि प्रमाणतामास्कन्देत्, ज्ञानहेतोस्तत्रापि सत्त्वात्, अन्यथोक्तसंवेदनानुत्पत्तिप्रसक्तिस्स्यात्, कारणाभावे कार्याभावस्यावश्यम्भावनियमात्। अथ तत्र ज्ञानहेत्वतिरिक्तदोषोऽभ्युपेयत इत्यप्रामाण्यमिति चेत्तर्हि प्रमात्मकज्ञानेऽपि ज्ञानहेत्वतिरिक्तगुणोऽप्यभ्युपगम्यताम्, युक्तेस्तौल्यात्, प्रामाण्य विज्ञानमात्रोत्पादकनिखिलहेत्वतिरिक्तहेतूत्पाद्य विज्ञानमात्रानुवृत्तावपि व्यावर्त्तमानत्वात्, यदित्थ तदित्थ, सम्यग्ज्ञाने विज्ञानमात्रानुवृत्तावपि व्यावर्त्तमानाप्रामाण्यवत्, तथा चेद तस्मात्तथा। न चात्र हेत्वसिद्धिरिति वाच्यम्, मिथ्याज्ञाने विज्ञानमात्रानुवृत्तावपि प्रामाण्यव्यावृत्तेरुभयसम्प्रतिपन्नत्वात्। तथा चोक्तानुमानेनापि ज्ञाने परत प्रामाण्योत्पत्तिरभ्युपगन्तव्येति। अथ प्रत्यक्षज्ञानकारणचक्षुरादीन्द्रिये सूक्ष्मेक्षयेऽपि गुणानुपलम्भात् ते न सन्तीति चेत्, अत्र चक्षुरादीन्द्रियं किमतीन्द्रिय शक्तिरूप किं वा बाह्यगोलकादिरूप गृह्यत इति विकल्पद्वयम्, नाद्यः गुणवद् दोषाणामप्यभावप्रसङ्गात्, अतीन्द्रियस्येन्द्रियस्य प्रत्यक्षेणाग्रहणे तद्गतगुणानामिव तद्गतदोषाणामप्यनुपलम्भस्य तुल्यत्वात्। नापि द्वितीयः, यतोऽत्रापि गुणानुपलम्भः किं स्वप्रत्यक्षेण किं वा परप्रत्यक्षेणेति विकल्पद्वयम्, तत्र नाद्यविकल्पो युक्त, दोषाणामप्यनीक्षणेनाभावप्रसङ्गात् स्वस्पार्शनप्रत्यक्षेणापि स्वचक्षुर्गोलकादिमात्रस्यैवोपलम्भात्। नापि द्वितीयविकल्पो युक्त, परप्रत्यक्षेण काचकामलादिदोषा इव नैर्मल्यादिगुणा अपि परपुरुषीयचक्षुर्गोलकादावीक्ष्यन्त एवेति न तदनुपलम्भात्तदभावो युक्त। अथ तदहर्जातस्यापि बालस्य नैर्मल्यादिस्वरूपेण नयनादीन्द्रियप्रतीतेर्नैर्मल्यादीना गुणरूपत्वाभाव इत्युच्यत इति चेत्, तर्हि जन्मकालीनतिमिररोगव्याप्तस्य तत्कालोत्पन्नबालस्य तिमिरादिदोषाक्रान्तेन्द्रियप्रतीतेरिन्द्रियस्वरूपातिरिक्तदोषाणामप्यभावः कथ न स्यात्? कथञ्चैव रूपादीनामपि कुम्भादिगुणस्वभावता, उत्पत्तेरारभ्य कुम्भे तेषां प्रतीयमानत्वाऽविशेषात्। तदेव परचक्षुर्गोलकादौ दोषाणामिव गुणानामपि परप्रत्यक्षप्रतीयमानत्वाद्गुणमात्सर्यं परिहाय निष्पक्षपातेन दोषा इव गुणा अप्यभ्युपगन्तव्याः। अन्यथा

" सुव्यक्तं गुणमात्सर्य,-मकारणमिदं तव ।
दोषैकपक्षपातित्वं, किं ब्रूमस्तत्सखेऽधुना ॥ १ ॥ "

इत्युक्तं सत्यापितं स्यात् । ननु गुणविप्रतिपन्नं प्रत्यनुमानमेव तत्साधकं शरणभूतमिति तत्कीदृशमिति चेत्, तदपि शृणु सावधानीभूय, निद्रादाप्यमितेषु ज्ञानहेतुषु गुणाः सन्ति, अन्यथाऽनुपपद्यमानसम्यग्ज्ञानजनकत्वात्, यद्वा प्रमा ज्ञानसामान्यकारणभिन्नकारणजन्या ज्ञानत्वे सति कार्यविशेषत्वात् अप्रमावत् । यदि च ज्ञानसामान्यकारणमात्राधीना भवेदप्रमाऽपि प्रमैव भवेत् । अस्ति हि तत्र ज्ञानसामान्यहेतुः, अन्यथा ज्ञानमपि सा न स्यादित्यनुमानेन सामान्यतस्तादृशभिन्नकारणजन्यत्वसिद्धौ चाक्षुषादिप्रमा चक्षुरादीन्द्रियवृत्तिगुणजन्या प्रमाविशेषत्वात्, यन्नैवं तन्नैवम्, भ्रान्तज्ञानवदिति व्यतिरेक्यनुमानेन तादृशगुणजन्यत्वसिद्धौ तद्घटकतया गुणसिद्धिः, यद्वा प्रमा कारणवृत्तिगुणजन्या कार्यविशेषात्मकत्वात्, यद्यत्कार्यविशेषात्मकं तत्तत्कारणवृत्तिगुणजन्यं, मालाकारनैपुण्यगुणसञ्जातस्रग्वत्, यद्वा प्रमात्वं जन्यत्वसम्बन्धेन गुणव्याप्यं तत्कार्यमात्रवृत्तित्वात्, यद्यत्कार्यमात्रवृत्ति तज्जन्यत्वसम्बन्धेन तद्व्याप्यम्, यथा धूमत्वं जन्यत्वसम्बन्धेन वह्निव्याप्यमित्याद्यनुमानप्रकारा गुणसाधनेऽवबोद्धव्याः । यद्वा प्रमात्वं ज्ञानसामान्यकारणभिन्नकारणजन्यतावच्छेदकं ज्ञानवृत्त्यनित्यधर्मत्वात् अप्रमात्ववदिति सामान्यानुमानेन तादृशसाध्यसिद्धौ दोषजन्यतावच्छेदकत्वबाधेन परिशेषानुमानेनेन्द्रियादिगतगुणजन्यतावच्छेदकत्वं प्रमात्वस्य सिद्ध्यति । किञ्च सविकल्पकज्ञानं कार्यं यथार्थायथार्थभेदेन द्विविधमेवावलोक्यते, न तु तृतीयप्रकारम्, तत्राद्यं गुणवत्कारणोत्पाद्यम्, द्वितीयन्तु दोषवत्कारणोत्पाद्यम्, ज्ञानकार्यस्य द्वैविध्ये च सति तत्कारणेनापि द्विविधेनैव भाव्यमित्युक्तकारणातिरिक्तं कार्यतत्कारणमपि नोपलभामहे इति सम्यग्ज्ञानलक्षणं कार्यं गुणवत्कारणादेवोपजायत इति सिद्धम् । एतेन यथार्थज्ञानं स्वरूपावस्थितेभ्य एव कारणेभ्यो जायत इति न तत्कारणगतगुणकल्पनायै तत्प्रभवतीति निरस्तम्, गुणदोषविरहितस्य तृतीयकारणस्यासम्भवात् । ननु क आह तृतीयकारणमस्तीति, किन्तु नैर्मल्यादिकं नयनादीन्द्रियाणां स्वरूपमेव, न पुनः स्वरूपातिरिक्तो गुण इति चेत्, कुतो नैर्मल्यादेर्नयनादिस्वरूपतावगतिः, नयनादितः पार्थक्येन तस्यानुपलम्भात्सेति चेत्, तर्हि तिमिरादिदोषा नयनादिस्वरूपाः पृथक्त्वयाऽनुपलम्भात् नैर्मल्यादिवदित्यपि सिद्धं कथं न स्यात् ? । किञ्च तत्र स्वरूपशब्दवाच्यार्थः को भवदभिलषित इति वाच्यम्, अथ किमत्र वक्तव्यम्, तादात्म्यं तन्मात्रत्वं वेति चेत्, तर्ह्याऽऽद्यविकल्पे नैर्मल्यादर्गुणत्वाऽनिषेधः, तादात्म्यस्य गुणत्वेन सहाविरोधात्, अन्यथा रूपादेरपि गुणत्वं न स्यात् । अथ रूपादिकं घटादिधर्म्यतिरिक्तमेवेति तद्गुणरूपमेवेति चेत्, तर्हि नैर्मल्यादावपि तुल्यमेतदित्यपि विचार्यताम् । नापि द्वितीयो विकल्पो युक्तः, यावद्द्रव्यभावि यदेव तदेव तन्मात्रस्वरूपम्, न च तथा नैर्मल्यादिकम्, चक्षुरादावनुवर्तमानेऽपि

नैर्मल्यादेर्निवर्त्तमानत्वादिति तस्य तन्मात्रत्वाऽनुपपत्तेः। एतेन नैर्मल्यादिगुणकार्यस्य यथार्थप्रत्यक्षस्य दोषाभावमात्रेणापि चरितार्थत्वे सति किमतिरिक्तगुणकल्पनयेत्यपि निरस्तम्, गुणाभावमात्रेणापि काचकामलादिदोषकार्यमयथार्थप्रत्यक्षं सेत्स्यतीति किमतिरिक्तदोषकल्पनयेति विपर्ययस्यापि सुवचत्वात्। किञ्च दोषाभावोऽपि न तुच्छरूपोऽभ्युपगन्तुमर्हः, खरशृङ्गस्येव तस्यासत्कल्पत्वेन मीमांसकैरभ्युपगमात्, किन्तु पर्युदासवृत्त्या गुणात्मक एवेति गुणाभावे स तदात्मकः कथं स्यात्। अथाभावस्याधिकरणस्वरूपत्वेनाभ्युपगमाद् दोषरहितचक्षुस्स्वरूप एव दोषाभावः, स एव यथार्थबुद्धिमुत्पादयतीति तत्कारणतयाऽभ्युपेयते इति चेत्, तर्हि भूतलस्वरूपस्यापि घटाभावस्य तद्विषयकप्रत्यक्षम्प्रति घटाभावत्वेन कारणत्ववत् ताम्प्रति दोषाभावत्वेन तस्य कारणत्वमभ्युपगतं स्यात्, तदपेक्षया गुणत्वेन कारणत्वे लाघवतर्कोऽपि किञ्च स्मृतिगोचरीक्रियते। "सविदेव भगवती वस्तुतत्त्वप्रसाधनी" इत्युक्तेर्लोकप्रतीतितोऽपि गुणा अभ्युपगन्तव्याः, सा चैवम्–कश्चित्काचकामलादिदोषकलुषितलोचनस्तथाविधौषधप्रयोगसमासादितनिर्मलतरचक्षुर्गुणः केनचित् परमसुहृदा पृष्टो ब्रूते, मे लोचने पूर्वं काचकामलादिदोषग्रस्ते समभूताम्, अधुना त्वौषधप्रयोगेण निर्मलतागुणसमालिङ्गिते सम्पन्ने इति, न तु विस्मृत्यापीदं वक्ति, यदुत पूर्वं दोषविकृते मे लोचने अभूताम्, इदानीं पुनस्तयोरौषधप्रयोगेण तिमिरादिदोषाभावमात्रं तुच्छं सञ्जातमिति। एतेन "इन्द्रियादिस्वरूपमेव ह्यन्यनिरपेक्षमर्थाऽविसंवादिज्ञानोत्पादकम्, अञ्जनादीनां च दोषापगमे व्यापारः, न गुणाधाने" इति मीमांसाश्लोकवार्तिकतात्पर्यटीकावचनमप्यपहस्तितम्, तथा च गुणवच्चक्षुरादिसामग्रीत उत्पद्यमानं ज्ञानं प्रामाण्यविशिष्टमेव, दोषवच्चक्षुरादिसामग्रीतश्चोत्पद्यमानं तत् अप्रामाण्यविशिष्टमेवोत्पद्यत इति सिद्धं ज्ञानस्य प्रामाण्यमप्रामाण्यं च द्वितयमपि ज्ञानकारणगतगुणदोषरूपं परमपेक्ष्योत्पद्यत इत्यत उत्पत्तौ परत इति। निर्णीयते तु तदुभयमभ्यासदशायां स्वतः, यतस्तत्र प्रतिवादोद्धारं परतः प्रामाण्यमप्रामाण्यं वा निश्चित्य प्रवृत्तिर्निवृत्तिर्वा न, किन्तु प्रथमज्ञाने स्वतस्तन्निश्चित्यैव, अनभ्यासदशायां तु परत इति। नन्वनभ्यासावस्थायां न ज्ञाने स्वतः प्रामाण्यनिश्चयस्तर्हि ततः प्रवृत्तिः कथमिति चेत्, प्रामाण्यसंशयादेवेति जानीहि। अथ प्रवृत्तिं प्रति न संशयः कारणमित्यपि न च वाच्यम्, यतः कदाचित्फलप्राप्त्या वशीकृतान्तरात्मानः कृषीवला अपि सस्यसम्पत्त्यादिफलनिश्चयाभावेऽपि तत्सम्भावनयैव कृष्यादौ फलबुद्ध्यैव प्रवर्तमाना दरीदृश्यन्ते, सम्भावनाया अपि सन्देहविशेषत्वात्, ननु यदि प्रामाण्यसंशयादपि प्रवृत्तिस्तर्हि घटज्ञानं प्रमात्मकं संवादिप्रवृत्तिजनकत्वादित्याद्यनुमानादिलक्षणात् संवादकज्ञानात् प्रामाण्यनिश्चयस्य किं प्रयोजनम्, प्रवृत्त्यर्थं हि प्रामाण्यनिश्चयः कर्त्तव्यः, सा च सन्देहादपि जायते चेत्, उच्यते, तत्र प्रामाण्यनिश्चयस्य तद्विषयसन्देहापगम एव प्रयोजनं सुप्रतीतमिति किं प्रयोजनान्तरनिरूपण-

प्रयासेन । तस्यापि किं प्रयोजनमिति चेत्, स्थाने प्रश्न:, किन्तु संशयापगमस्याभ्यासलक्षणमेव प्रयोजनं किं न परामृशसि । यदा ह्येकदा संवादकज्ञानात्प्रामाण्यं निश्चितं भवति तदा सुखेनैवान्यदाऽभ्यासात्स्वत एव प्रामाण्यनिश्चयपूर्विका प्रवृत्तिरिसिद्ध्यतीति प्रतिपत्तव्यमिति । एतेन प्रथमे प्रवर्त्तकज्ञाने प्रामाण्यनिश्चयाऽभावे ततः प्रवृत्तिर्नोपपद्यत इति तन्निश्चयात्प्रवृत्तिः, प्रवृत्तौ सत्यां तया संवादकज्ञानम्, तस्माच्च प्रवर्त्तकज्ञाने प्रामाण्यनिश्चयः, ततः प्रवृत्तिरिति दुर्निवारश्चक्रकावतारः । किञ्च संवादकज्ञानमप्यनिश्चितप्रामाण्यं न प्रवर्त्तकज्ञाने प्रामाण्यनिश्चयोत्पादने समर्थमिति तस्यापि प्रामाण्यनिश्चयोऽन्यस्मात्संवादकज्ञानादिरत्यभ्युपगमेऽनवस्था, प्रवर्तकज्ञानाच्चेत् तर्ह्यन्योऽन्याश्रय:। संवादकज्ञानस्य स्वतः प्रामाण्यनिश्चयाभ्युपगमे च प्रवर्त्तकज्ञानस्य तथाभावे किं कृतः प्रद्वेषः । यदाह भट्टः—

" यथैव प्रथमं ज्ञानं, तत्संवादमपेक्षते ।
संवादेनापि संवादः, परो मृग्यस्तथैव हि ॥ १ ॥
संवादस्याथ पूर्वेण, संवादित्वात्प्रमाणता ।
अन्योऽन्याश्रयभावेन, प्रामाण्यं न प्रकल्पते ॥ २ ॥
कस्यचित्तु यदीष्येत, स्वत एव प्रमाणता ।
प्रथमस्य तथाभावे, प्रद्वेषः केन हेतुना ? ॥ ३ ॥ "

इत्यपि निरस्तम् । यदि हि संवादकज्ञानादेकान्तेन प्रवर्त्तकज्ञाने प्रामाण्यं निश्चित्यैव तत्र प्रवृत्तिः प्रतिज्ञायते, तदा स्याच्चक्रकदूषणावतार:, न चैवम्, अनभ्यासदशायां प्रामाण्यसन्देहादपि प्रथमज्ञानात्प्रवृत्तिभावात्, तत्र प्रामाण्यनिश्चयस्तु प्रवृत्त्यनन्तरभाविसंवादकज्ञानात् । ननु तत्रापि पूर्वज्ञानेन प्रामाण्यनिश्चयेऽन्योऽन्याश्रय इत्युक्तं प्रागिति चेत्, सत्यमुक्तम्, न च युक्तमुक्तम्, अभ्यासदशाया संवादकज्ञानस्य स्वत एव, अनभ्यासदशाया तु संवादकज्ञानान्तरादेव प्रामाण्यनिश्चयात् । न चैवं तर्हि तत्रापि संवादकज्ञानान्तरापेक्षाया मनवस्थेति वाच्यम्, संवादकज्ञानान्तरैरनभ्यासदशापन्नैरेव भाव्यमिति नियमाऽभावात् । एतेन नोदकाहरणरूपार्थक्रियाज्ञानेनार्थनिश्चयद्वारा पूर्वज्ञाने प्रामाण्यनिश्चयः, तस्यापि स्वप्नावस्थायामर्थव्यभिचारेण तेनाऽर्थनिश्चयासम्भवात् । नापि तज्जन्यसुखोत्पत्त्या पूर्वज्ञाने प्रामाण्यनिश्चयः, अयथार्थादपि स्वप्ने चन्दनलेपादिज्ञानात्सुखोत्पत्तेः, स्वप्नकालीनाऽऽम्रामोदकादिभक्षणजन्यस्वास्थ्यसुखोत्पत्तेश्चार्थव्यभिचारित्वात् । तथैव संवादकज्ञानादपि पूर्वज्ञाने न प्रामाण्यनिश्चयः, तस्यापि स्वप्नकालेऽर्थव्यभिचारित्वादित्येतदपि निरस्तम्, जाग्रत्प्रत्ययत्वे सत्यर्थक्रियाज्ञानजनकं संवादकज्ञानजनकं वा ज्ञानं प्रमाणमिति लक्षणे कृते सति स्वप्नकालीनेऽर्थक्रियाज्ञाने संवादकज्ञाने च व्यभिचारप्रदर्शनस्यायुक्तत्वादेवेति । ननु प्रवर्त्तकज्ञाने प्रामाण्यसन्देहे सत्यपि प्रवृत्तौ प्रेक्षावत्त्वं न स्यादिति चेत्, सत्यम्, यस्यैव

छद्मस्थपुंस एकदा प्रेक्षावरणकर्मणः क्षयोपशमस्तस्यैव पुंसः कालान्तरे तदुदयः, पुनश्च कालान्तरे तत्क्षयोपशम इति कारणीभूतस्य प्रेक्षावरणकर्मक्षयोपशमस्यानियतभावेन तत्कार्यस्य प्रेक्षावत्त्वस्याप्यनियतभावात्। तथा च यः कश्चिच्छद्मस्थात्मा एकदा प्रेक्षावरणक्षयोपशमविशेषादवाप्तप्रेक्षावद्व्यपदेशः सुनिश्चितप्रामाण्यात्प्रमाणात् क्वचित्प्रवर्त्तते सोऽप्यन्यदा तथाविधक्षयोपशमानवाप्त्या समासादितप्रेक्षावद्व्यपदेशः संशयादेरपि क्वचित्प्रवर्त्तेत इति न कश्चित्प्रतिनियतः प्रेक्षापूर्वकारी तदितरो वा। तथा चोक्तम्—

" प्रेक्षावत्ता पुनर्ज्ञेया, कदाचित्कस्यचित्क्वचित्।
अप्रेक्षाकारिताप्येव,-मन्यत्राशेषवेदिनः ॥ १ ॥" इति।

तदेव सिद्धमभ्यासदशायां प्रवर्त्तकज्ञाने संवादकज्ञानानपेक्षणात् स्वतः प्रामाण्यनिश्चयः, अनभ्यासदशायां तु यादृशोऽर्थः पूर्वस्मिन् ज्ञाने प्रथापथमवतीर्णस्तादृश एवासौ येन विज्ञानेन व्यवस्थाप्यते तल्लक्षणसंवादकज्ञानापेक्षया जायमानत्वात्परत इति। तदुक्तं स्याद्वादरत्नाकरे-

" तदित्थं ज्ञप्तिमाश्रित्या-नभ्यस्ते विषये स्फुटम्।
प्रामाण्यं परतः सिद्ध,-मभ्यस्ते स्वत एव तु ॥ १ ॥" इति।

एतेन संवादकज्ञानं समानजातीयं किं वा भिन्नजातीयम्, समानजातीयमप्येकसन्तानप्रभवं किं वा भिन्नसन्तानप्रभवम्, भिन्नजातीयमपि किमर्थक्रियाज्ञानमुतान्यदित्यादिकुचोद्यावकाशो निरस्तः, प्रामाण्यनिश्चयवदप्रामाण्यनिश्चयोऽप्यभ्यासदशायां बाधकज्ञानमनपेक्ष्य जायमानत्वात्स्वतो भवतीत्यभिधीयते, अनभ्यासदशापन्ने तु ज्ञाने पूर्वानुभवविषयीकृतस्य रजतस्य प्रतिषेधं बोधयतो नेदं रजतमित्याद्याकारस्योत्तरकालभाविबाधकज्ञानस्यापेक्षया प्रादुर्भवन् परत इति। अत्र मीमांसकास्त्वेवं मीमांसयन्ति-यदि हि ज्ञानं स्वगतं प्रामाण्यं स्वतो निश्चेतुं न शक्नुयात्, तर्हि जगति निश्चयात्यन्ताभाव एव स्यादित्यान्ध्यमेवाशेषस्य जगतः सम्पद्येत, न हि स्वतोऽनिश्चीयमानोऽर्थः परतो निश्चेतुं पार्यते, परस्यापि तद्वदेवाऽसामर्थ्यात्। अतो यत्र क्वापि वा स्वतो ग्राह्यत्वमङ्गीकरणीयं तद्वरमुत्सर्गतः सर्वज्ञानेष्वेव प्रामाण्यं स्वतो गृह्यत इत्यभ्युपगमनम्। तच्च स्वतो ग्राह्यत्वं प्राथमिकज्ञानग्रहग्राह्यत्वम्, तदप्रामाण्याग्राहकयावज्ज्ञानग्राहकसामग्रीग्राह्यत्वमिति यावत्। एतादृशं स्वतो ग्राह्यत्वं मीमांसकानां त्रिष्वपि मतेषु सममेव, तत्र भाट्टानां मते ज्ञानमतीन्द्रियं घटोऽयमित्यादिज्ञाने जाते तेन ज्ञातता नाम कश्चित्सविषयः पदार्थो घटे उत्पद्यते, घटत्वेन घटो ज्ञात इति प्रत्यक्षज्ञानोत्पत्तेः, अत एव सा प्रत्यक्षा, न चोक्तप्रत्यक्षज्ञानं ज्ञानस्य वैशिष्ट्यमवगाहते, नयनादेरात्मगुणाग्राहकत्वात् मनसश्च बहिरस्वातन्त्र्येण घटरूपविशेष्याग्राहकत्वात्, किन्त्वतिरिक्तज्ञाततायाः, तथा च घटत्ववद्घटवृत्तित्वे सति घटत्वप्रकारकज्ञाततात्वविषयकप्रमात्मकप्रत्यक्षानुभवरूपलिङ्गेनानेन ज्ञाततापक्षे घटत्ववद्घटविशेष्यकघटत्वप्रकारकज्ञानजन्यत्वमनुमीयते,

तथा चानुमित्या घटत्ववद्घटविशेष्यकत्वे सति घटत्वप्रकारकत्वलक्षणप्रामाण्यप्रकारेणैव घटज्ञानं विषयीक्रियत इति सा प्रामाण्यमादायैव पर्यवस्यतीति स्वग्राहकेणैव प्रामाण्यग्रहः, येनैव प्राथमिकज्ञानग्रहस्तेनैव तद्गतज्ञानत्वधर्मावच्छिन्नप्रामाण्यस्यापि ग्रह इति यावत्, तत्र तद्प्रामाण्यग्राहकयावज्ज्ञानग्राहकसामग्रीपदेन परामर्शघटितसामग्रीपरिग्रहे तज्जन्यानुमित्यात्मकज्ञानविषयत्वात्प्रामाण्यं स्वतो ग्राह्यं सम्पद्यते, तत्रापि किं बीजमिति चेत्, उच्यते, धात्वर्थक्रियाजन्यफलशालित्वमेव कर्मत्वम्, तच्च घटं जानातीत्यादौ ज्ञानक्रियाकर्मत्वं घटे धात्वर्थज्ञानात्मकक्रियाजन्यज्ञाततालक्षणफलाभ्युपगममन्तरेण नोपपद्यत इत्येवमभ्युपगतज्ञाततालिङ्गेन ज्ञानं तद्गतप्रामाण्यञ्चानुमीयते, यतो ज्ञानं क्रियात्मकम्, क्रिया च फलानुमेया, ज्ञानाख्यज्ञातृव्यापारमन्तरेण ज्ञातताख्यफलाऽनिष्पत्तेरिति तदन्यथाऽनुपपत्त्या तदनुमानात्। तथा च येनानुमानेन ज्ञानमनुमीयते तेनैव ज्ञानत्वावच्छिन्नगतप्रामाण्यमपीति न परतः प्रामाण्यनिश्चयावकाशः, किन्तूक्तनीत्या तदप्रामाण्याऽग्राहकयावज्ज्ञानग्राहकसामग्रीग्राह्यत्वलक्षणस्वतस्त्वोपपत्तेस्स्वत प्रामाण्यनिश्चय इति कुमारिलभट्टमतमपि न युक्तियुक्तम्, लक्ष्यभेदेन लक्षणभेदात् ' चैत्र ओदनं पचति, काष्ठं छिनत्तीत्यादौ भवदुक्तलक्षणं कर्मत्वम्, परन्तु धात्वर्थज्ञानस्थले तस्य सविषयकत्वेन विषयत्वलक्षणमेव कर्मत्वमित्येतावन्मात्रस्वीकारेण घटादौ कर्मत्वस्योपपन्नत्वात् ज्ञानविषयत्वातिरिक्तज्ञाततायाः प्रमाणाभावात्, अन्यथा अयं मया ज्ञात इत्यनुभवात् अयमिष्टः अनुमितोऽयमित्याद्यनुभवोऽपि भवतीति तद्बलादीष्टताऽनुमितताऽपि च पदार्थान्तरं भट्टैस्स्वीकृतं स्यात्। किञ्च प्रामाण्यस्य स्वतो ग्रहेऽनभ्यासदशोत्पन्नज्ञाने प्रामाण्यसंशयो न स्यात्, ज्ञानग्रहे तद्गतप्रामाण्यस्यापि निश्चयात्, तस्याऽनिश्चये वा न स्वतः प्रामाण्यग्रहः, ज्ञानाग्रहे च धर्मिज्ञानाभावात् प्रामाण्यसंशयोऽपि न स्यादिति। न वा ज्ञानमतीन्द्रियम्, न वा ज्ञानाख्यव्यापारोऽपि ज्ञातताख्यफलात्मकलिङ्गजन्येनानुमेयत्वादऽतीन्द्रियः, घटमिच्छामीतिवद् घटं जानामीति प्रत्यक्षस्य सर्वानुभवसिद्धत्वात्। घटत्वेन घटो ज्ञात इति प्रत्यक्षस्यापि घटत्वप्रकारकप्रत्यक्षविषयो घट इत्यर्थकत्वेनातिरिक्तज्ञाततावगाहित्वाभावात्। किञ्च न हि क्रियास्वभावं ज्ञानम्, अपि तु फलस्वभावमेव, अपि च क्रियाऽपि प्रत्यक्षद्रव्यवर्त्तिनी प्रत्यक्षैव, भाट्टानां मते प्रत्यक्षश्चात्मा, तत्किमनेनापराद्धं, यदस्तदीयक्रियाया अप्रत्यक्षत्वमुच्यते, अधिकं ग्रन्थान्तरादवसेयम्। नन्वेवं तर्हि अयं घट इत्याकारकज्ञानोत्पत्तिद्वितीयक्षणे घटत्वेन घटं जानामीत्याद्यनुव्यवसायस्समुत्पद्यते, तत्र च घटत्वावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितविशेष्यित्वावच्छेद्यघटत्वनिष्ठप्रकारतानिरूपितप्रकारिताप्रकारेण ज्ञानस्य भानम्, तदेव च प्रामाण्यग्रहप्रयोजकमित्युक्तानुव्यवसायेनैव ज्ञानस्येव तद्गतप्रामाण्यस्यापि ग्रह इति तदप्रामाण्याग्राहिका यावती ज्ञानग्राहिका सामग्री व्यवसायात्ममनःसंयोगादिरूपा तज्जन्यो ग्रहोऽनुव्यवसायः, तद्विषयत्वं प्रामाण्ये उपपद्यत इति तस्य स्वतो ग्राह्यत्वोपपत्तिरस्त्यादेवेति

स एव प्रमाणभूतः षष्ठोऽस्तु किं परतःप्रामाण्यनिश्चयाभ्युपगमेनेति मुरारिमिश्रमतमप्येकान्तरूपं न युक्तम्, अनभ्यासदशायामनुव्यवसायानन्तरं प्रामाण्यसन्देहस्य सर्वानुभवसिद्धत्वात्, निश्चिते प्रामाण्ये सति सन्देहाऽयोगात्। तस्मादनभ्यासदशायां यादृशोऽर्थः पूर्वस्मिन् विज्ञाने प्रथमप्रथमवतीर्णस्तादृश एवाऽसौ येन विज्ञानेन व्यवस्थाप्यते तल्लक्षण संवादकज्ञानापेक्षया जायमानत्वात्परतः प्रामाण्यनिश्चयः, अभ्यासदशायां तु प्रमेयाव्यभिचारित्वाज्ज्ञाने स्वतः प्रामाण्यनिश्चयः, संवादकज्ञानाऽनपेक्षणादित्युक्तं प्राक्। जैनमते ज्ञानस्य स्वप्रकाशत्वेऽपि तद्गतं प्रामाण्यं ततः कथञ्चिद्भिन्नमिति तद्ग्रहोऽपि न नियत इत्यतः स्वप्रकाशेऽनभ्यासदशापन्नज्ञाने ज्ञानावभासेऽपि प्रामाण्यं न भासत इति तत्संशय उपपद्यत इति। अत्राह प्रभाकरः—शुक्ताविदं रजतमित्यादिज्ञानमपि दोषवशात् प्रमुष्टतत्ताकं रजतमिति स्मरणम्, इदमिति प्रत्यक्षमिति यथार्थज्ञानद्वयात्मकमित्यतः सर्वज्ञानस्य यथार्थत्वादेव कस्यचिज्ज्ञानस्य प्रामाण्यं कस्यचिदप्रामाण्यमिति विभाग एवानुपपन्नस्तर्हि तद्ग्रहप निश्चयस्स्वतः परतश्चेति वार्त्ता सुतरामसम्भविनी, ज्ञानमात्रस्य स्वप्रकाशात्मकत्वेन ज्ञानात्मविषयरूपत्रिपुटीविषयकत्वात् व्यवसायाऽनुव्यवसाययोरैक्याद् 'घटमहं जानामी'त्याद्याकारव्यवसायेनैव स्वप्रकाशात्मकेन प्रामाण्यग्रहणं सञ्जायत इति ज्ञानान्तरस्यैव तद्गतप्रामाण्यस्यापि तेनैव ज्ञानेन निश्चयात् स्वतः प्रामाण्यनिश्चयस्यैव सर्वस्मिन् ज्ञाने सद्भावात्, तन्नैतन्मते तदप्रामाण्याग्राहकयावज्ज्ञानग्राहकसामग्रीपदेनेन्द्रियसन्निकर्षादिघटितसामग्रीपरिग्रहाच्चजन्यव्यवसायात्मकग्रहविषयत्वात् स्वतो ग्राह्यत्वं प्रामाण्यस्य सूपपादमेवेति चेत्, उच्यते समाधिः, न तावत्सर्वज्ञानस्य यथार्थत्वादेवोक्तविभागोऽनुपपन्नः, याथार्थ्याऽयाथार्थ्यप्रश्ने यदुत्तरं तद्विरोधात्, तथाहि—विपरीतमवगतं मयेति लौकिकी ज्ञानविषयिका प्रतीतिः, अन्यथाऽवगतमित्यन्यथाख्यातिरिति च वैनयिकी प्रतीतिर्यथार्था न वेति प्रश्ने यदि यथार्थेत्युत्तरं तदेदं रजतमित्याकारकप्राथमिकज्ञानस्य स्वविषयीभूतस्याऽयथार्थत्वम्, प्राथमिकज्ञानविशेष्यकायथार्थत्वप्रकारकप्रतीतेश्च पश्चाद्भाविन्या यथार्थत्वम्, यदि न यथार्थेत्युत्तरं तदा प्राथमिकज्ञानस्य यथार्थत्वं प्राथमिकज्ञानविशेष्यकायथार्थत्वप्रकारकज्ञानात्मिकायास्तस्याश्चाऽयथार्थत्वमिति यथार्थाऽयथार्थविभागोपपत्तेस्सर्वज्ञानस्य यथार्थत्वादेव विभागोऽनुपपन्न इति न युक्तियुक्तम्। ननु विपरीतमवगतं मयेति विपरीतज्ञानविषयिका अन्यथाऽवगतं मयेत्यन्यथाख्यातिविषयिका वा प्रतीतिर्नास्त्येवेति नोक्तप्रश्नावकाशः, केवलं तादृशशब्दप्रयोग एव, न च स वस्तुसाधक इति चेत्, मैवं वद, यतो विपरीतज्ञानविषयिका अन्यथाख्यातिविषयिका वा प्रतीतिस्सर्वेषामभिमानेन सत्त्येव, न चानुभवे परीक्षकाणां विवादस्सम्भवति, अन्यथा यद् यज्ज्ञानं तत्तत्सर्वं शब्दसंलापरूपमिति वदतोऽपि वक्त्रं नैव वक्रीभवेत्, तथा च ज्ञानमात्रस्योच्छित्तिप्रसक्तिस्स्यात्। न चोक्तज्ञानव्यवहारो नास्तीति वक्तुं शक्यम्, सतोऽपलापे तद्वत् सर्वस्यैव सतोऽपह्नुतिप्रसङ्गात्। नन्वस्तूक्तज्ञान

व्यवहारः, तथाप्युक्तव्यवहारविषये ज्ञानेऽन्यथाख्यातित्वमस्ति न वेति विप्रतिपद्यामहे इति चेत्, मैवम्, यतो विप्रतिपत्तिर्विधिनिषेधोभयकोटिका भवतीति भवदभ्युपगतनिषेधकोटौ तत्प्रतियोगिनोऽन्यथाख्यातित्वस्य कुत्रापि सत्त्वमस्ति न वेत्युच्यताम्, अस्तीति ब्रूम इति चेत्तर्हि पर्यवसितं विवादेन, यत्रैव सत्त्वं तस्यैवायथार्थत्वेनोभयवादिसिद्धत्वात्। नास्तीति चेत्तर्हि कुत्राप्यसतो निषेधः कर्त्तुमशक्य एव, यतो न हि प्रेक्षावद्भिरसतश्शशशृङ्गस्य निषेधः क्रियते। अथ तत्र महिष्यादौ प्रसिद्धमेव शृङ्गं शशीयत्वेन रूपेण निषिध्यते तद्वदत्रापीच्छादौ प्रसिद्धमेवान्यथात्वं व्यधिकरणप्रकारत्वलक्षणं ख्यातौ निषिध्यते, नन्वेवं तर्हि शुक्ताविदं रजतमित्याकारकस्येदन्त्वावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितरजतत्वनिष्ठप्रकारतानिरूपकस्य ज्ञानस्याभावे रजतार्थिनः मरुमरीचिकादाविदं जलमिति ज्ञानस्याभावे च जलार्थिनः प्रवृत्तिः कथं स्यादिति चेत्, उच्यते, इदं रजतमिति सम्यग्ज्ञानद्वयं, विभिन्नकारणजन्यत्वात् विभिन्नगोचरत्वाच्च, तत्रेन्द्रियकारणजन्यमिदमिति प्रत्यक्षं पुरोवर्त्तिशुक्तिकाशकलविषयकम्, तत्र दोषवशाच्छुक्तिशुक्तित्वविशेषस्याऽग्रहः। साधारणभास्वररूपदर्शनोद्बुद्धसंस्कारजन्यं रजतमिति स्मरणं हट्टपट्टादिव्यवस्थितरजतविषयकम्, न च तत्तोल्लेखाभावात्कथं तत्स्मरणमिति वाच्यम्, गृहीतग्रहणस्वभावेऽपि तस्मिन् स्मरणे दोषवशाद्गृहीततत्तांशप्रमोषाद्रजतमात्रग्रहणस्यैव स्मृतिरूपत्वात्, तस्मादेव च स्मरणात्प्रवृत्तिरिति चेत्, तदपि न विद्वन्मनोरञ्जकम्, पुरोवर्त्तिनं यमुद्दिश्य प्रवृत्तिस्तद्विषयकज्ञानादेव साऽनुभूयत इत्यन्यविषयकज्ञानादन्यत्र प्रवृत्त्यसम्भवात्, अन्यथाऽतिप्रसङ्गात्। अथोक्तज्ञानमपि प्रवृत्तौ नियामकमभ्युपगम्यत एवेति चेत्, तर्हि शुक्त्यादौ रजतादिभेदग्रहेऽपि प्रवृत्त्यापत्तेः, प्रवृत्तिकारणीभूतोक्तज्ञानद्वयस्य सत्त्वात्। न च दोषाधीनः पुरोवर्त्तिनि स्वतन्त्रोपस्थितरजतभेदाग्रहः प्रवृत्तिनियामक इति नोक्तदोषः, अयम्भाव -इदं रजतमित्यस्य ज्ञानद्वयरूपत्वेऽपि तत्र द्रष्टुः शुक्तिरजतयोरसंसर्गग्रहो नास्ति, तावतैव रजतमर्थयमर्थयमानोऽपि इदंशब्दवाच्ये पुरोवर्त्तिनि प्रवर्त्तते, न च ज्ञानद्वयरूपत्वे कथं विशिष्टव्यवहार इति वाच्यम् ज्ञानयोरपि मिथोऽसंसर्गग्रहाभावात्, तथा च रजतस्मृतेः पुरोवर्त्तिद्रव्यमात्रग्रहणस्य च मिथः स्वरूपतो विषयतश्च दोषप्रयुक्तभेदाग्रह एव प्रवर्त्तक इति वाच्यम् रजते नेदं रजतमिति ज्ञानमन्यथाख्यातिप्रसङ्गभीत्या न भेदग्रहरूपमिति भेदाग्रहस्य सत्त्वात्तत्रापि प्रवृत्त्यापत्तेः।

अथ रजतभेदासंसर्गाग्रहाभाव एव तदर्थ इति नोक्तदोष इति चेत् तर्हि सत्यरजतस्थले विशिष्टज्ञानस्य हेतुताया भवतापि वक्तव्यत्वाद् रङ्गगोचररजतार्थिप्रवृत्तावपि तत्कल्पनाया एवोचितत्वात्, न च सत्यादिप्रवृत्तौ तत्कारणम्, विसंवादिप्रवृत्तौ तूक्तलक्षणभेदाग्रहः कारणमिति वाच्यम् संवादिविसंवादिभेदेन कार्यकारणभावद्वयापेक्षया लाघवतर्कसहकारेण प्रवृत्तिमात्रे विशिष्टज्ञानस्यैव हेतुत्वकल्पनौचित्यात्। किञ्च निरुक्तभेदाग्रहस्य प्रवृत्तिं प्रति

कारणत्वाभ्युपगमे स्वतन्त्रोपस्थितानिष्टभेदाग्रहस्य निवृत्तिं प्रति कारणत्वमभ्युपगन्तव्यम्, एवञ्च रजतरङ्गयोरिमे रङ्गरजते इति ज्ञाने जाते भवन्मते रजते रजतभेदाग्रहस्यान्यथाख्यातिप्रसङ्गभयादनभ्युपगन्तव्यत्वेन रजतप्रवृत्तिकारणस्य स्वतन्त्रोपस्थितेष्टरजतभेदाग्रहस्य सत्त्वेन रजतगोचरप्रवृत्ते रङ्गगोचरनिवृत्तिकारणस्य स्वतन्त्रोपस्थितानिष्टरङ्गभेदाग्रहस्य दोषबलाद्भावेन रङ्गगोचरनिवृत्तेश्च युगपदेव रजते प्रसङ्गः, एव रङ्गेऽपि रङ्गभेदग्रहस्यान्यथाख्यातिप्रसङ्गभयादनभ्युपगन्तव्यत्वेन रङ्गभेदाग्रहस्य रङ्गगोचरनिवृत्तिकारणस्य सद्भावाद्रङ्गगोचरनिवृत्तेर्दोषबलाद्रजतभेदाग्रहस्य भावेन रजतगोचरप्रवृत्तेश्च युगपदेव प्रसङ्गः, एवमनुमितिम्प्रति परामर्शस्य विशिष्टज्ञानत्वेन कारणत्वे अयोगोलकं वह्निमदित्यनुमित्युत्पादेन वह्निव्याप्यधूमवदयोगोलकमित्यन्यथाख्यातिरापद्येत, भेदाग्रहस्य कारणत्वे तु ह्रदे वह्निव्याप्यधूमवद्भेदाग्रहाद् ह्रदो वह्निमानित्यन्यथाख्यातिरकामेनाप्यभ्युपगन्तव्येति। तादृशभेदाग्रहस्य प्रवृत्त्यनियामकत्वे च सिद्धे विवादापन्न रजतसंवेदन पुरोवर्त्तिशुक्तिशकल गोचरमेव, तत्रैव प्रवृत्तिनिमित्तत्वात्, यद् यत्रैव प्रवृत्तिनिमित्त तत् तद्गोचरमेव, यथा सम्यग्रजते रजतज्ञानम्, पुरोवर्तिन्येव शुक्तिशकले प्रवृत्तिनिमित्त चेद ज्ञान, तस्मात्तद्गोचरमेवेति। किञ्च नेद रजतमिति बाधकप्रत्ययानन्तर यदेव शुक्तिशकल कलधौतरूपेण मया प्राक् प्रत्याकलित तदेवेदमिति प्रत्यभिज्ञानमात्मलाभमनुभवदनुभूयत इति तद्बलेनापि शुक्तिशकले इद रजतमिति ज्ञानमखण्डैकरूपमेव कामलादिदोषदूषितनेत्रादिसामग्र्या पूर्वरजतानुभवजनितसंस्कारप्रबोधप्रभवस्मरणद्वारा जायमानमभ्युपेयमिति। तदेव सर्वज्ञानस्य यथार्थत्वादेव प्रमाणाप्रमाणविभागोऽनुपपन्न इति प्रभाकरमतमपि न युक्तियुक्तमिति सिद्धम्। कुमारिलाद्यभ्युपगतपक्षत्रयेऽप्यधिक विस्तरभयान्नेह प्रतन्यत इति। एतेन सर्वज्ञानस्यायथार्थत्वात्प्रमाणाप्रमाणविभागोऽनुपपन्न इति शून्यवादिमतमपि निरस्तम्, सर्वं ज्ञानमयथार्थमिति ज्ञानस्य यथार्थत्वायथार्थत्वाभ्यामुत्तरविरोधात्, तथाहि—सर्वज्ञानमयथार्थमिति ज्ञानस्य यथार्थत्वे सर्वान्तर्गत तज्ज्ञानमपीति तस्य यथार्थत्वात् सर्वं ज्ञानमयथार्थमित्यसङ्गतं स्यात्। अयथार्थत्वे च तद्विशेष्यीभूतस्य सर्वज्ञानस्य यथार्थत्वप्रसक्त्योक्तमसङ्गत स्यादिति। किञ्च शून्यतासाधकं किञ्चित्प्रमाणमस्ति चेत्कथ सर्वशून्यता, प्रमाणस्यैव वस्तुरूपत्वात्, कथञ्च सर्वज्ञानमयथार्थमिति वचोऽपि शोभां लभेत? शून्यतासाधकप्रमाणाभ्युपगमेन सर्वज्ञानस्यायथार्थत्वाभावात्, सर्वान्तर्गतस्य शून्यतासाधकयथार्थज्ञानस्य सद्भावात्। ननु सर्वज्ञानमयथार्थमित्यभ्युपगच्छन् कथ शून्यतासाधकप्रमाणस्य यथार्थत्व स्वीकुर्यादिति चेत्, तर्हि शून्यतासिद्धिः कथम्, यथार्थप्रमाणनिबन्धनत्वाद्विदुषामिष्टसिद्धेः, अथ शून्यतासाधकप्रमाण नास्तीति चेत्तर्हि कथ शून्यता सिद्ध्येत्, प्रमाणमन्तरेण कस्यापि वस्तुनस्सिद्ध्यभावात्, उक्तञ्च शून्यतानिरासेऽन्यत्र—

" शास्ता शास्त्रं शिष्यः, प्रयोजनं वचनहेतुदृष्टान्ताः ।
सन्ति न यन्य ब्रुवतस्तदभावाच्चाऽप्रमाणं स्यात् ॥ १ ॥

प्रतिषेद्धृप्रतिषेधौ स्तश्चेच्छून्यं कथं भवेत्सर्वम् ? ।
तदभावेन तु सिद्धा, अप्रतिषिद्धा जगत्यर्थाः ॥ २ ॥" इति ।

तस्मात्किञ्चिज्ज्ञानं प्रमाणं किञ्चिच्चाप्रमाणमिति विभाग एव परमार्थभूतोऽभ्युपगन्तव्य इति निष्कर्षः । अत्र योगाः सङ्गिरन्ते—उक्तनीत्याऽस्तु प्रमाणाप्रमाणविभागः, परन्तु स्वतः परतः प्रामाण्याऽप्रामाण्यनिश्चयविभागो न प्रमाणपद्धतिप्रतिष्ठामञ्चति, स्वप्रकाशज्ञानासिद्ध्या स्वतः प्रामाण्यनिश्चयाऽयोगेन परत एव प्रामाण्यनिश्चयस्य सद्भावादिति चेत्, मा त्वरध्वम्, यतस्स्वप्रकाशज्ञानप्रतिष्ठापनमग्रे द्वितीयकाण्डे करिष्यामः । इत्यलं प्रसङ्गानुप्रसङ्गेन, प्रकृतमनुसरामः । ननु जिनप्रणीतद्वादशाङ्गात्मकशासनस्य निश्चितप्रामाण्यं परपुरुषगतप्रमात्मकतदर्थविषयकशाब्दबोधजनकत्वनिश्चयविषयत्वलक्षणमेव, न च तदुपपद्यते, अतिमधुरस्यापि स्वातिनक्षत्रजलस्याशीविषमुखपतितस्य विषरूपेणेव मद्दुर्जनपेक्षमिथ्यादृष्टिपरिगृहीतस्याङ्गानङ्गप्रविष्टस्य सम्यक्श्रुतस्याप्ययथावस्थितबोधतो वैपरीत्येन योजना मिथ्यारूपेण परिणतिभावेन मिथ्यादर्शां तदर्थविषयकाप्रमात्मकशाब्दबोधजनकत्वादिति चेत्, मा त्वरस्व, उच्यते समाधिः, समुद्रदोषात्समुद्रनिहितच्छिद्रत्वविशिष्टघटो न भ्रियते इति न, किन्तु स्वीयच्छिद्रत्वदोषादेव, एकचन्द्रमसि द्विचन्द्रज्ञानं यज्जायते तन्न चन्द्रदोषात्, किन्तु पुरुषीयदृष्टिदोषादेव, तद्वत्प्रकृतेऽपि भवाब्धिमग्नदिधीर्षुभद्दुर्जनिरपेक्षाणां मिथ्यादृष्टीनां केषांचित्स्वपक्षनिबद्धोद्धुरानुबन्धाना स्वतस्सिद्धान्तावलोकनतो यन्मिथ्याज्ञानं जायते तदपि न सम्यक्श्रुतस्य प्रमात्मकज्ञानजननाऽसामर्थ्यदोषबलादप्रामाण्यदोषप्रबलाद्वा, किन्तु पूर्वभवीयमिथ्यावासनाजनिताऽयथार्थसङ्केतानुसन्धानसहितस्वीयमिथ्यात्वदोषप्राबल्यादेवेति तज्ज्ञानमज्ञानमेव, उक्तदोषविगमेन सम्यग्दर्शनाख्यशुद्धौ तत्सहकृतं श्रुतमप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितज्ञानविषयप्रामाण्यविशिष्टयथार्थज्ञानं जनयति, यथा स्वीयदृष्टिदोषनाशे नैर्मल्यगुणसहकृतं चक्षुरेकश्चन्द्र इति प्रमात्मकं ज्ञानं जनयति, न च तत्र पश्चादिदं ज्ञानं प्रमा न वेति संशयः, न वेदं ज्ञानमप्रमात्मकमेवेति विपर्ययज्ञानं भवति, अत उत्पत्तौ प्रामाण्यमप्रामाण्यञ्च परत एव, ज्ञप्तौ तु स्वतोऽपि सिद्धान्ते गीयते, उक्तञ्च प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारे—
" तदुभयमुत्पत्तौ परत एव, ज्ञप्तौ तु स्वतः परतश्चेति । " १ ॥ २१ ॥ इति ॥

अत्र ' तदुभयमिति ' प्रामाण्यमप्रामाण्यञ्चेत्यर्थः, " परत एव " इति कारणगतगुणदोषापेक्षयैवेत्यर्थः । तदुभयमपि बहिरर्थापेक्षयैव, न तु ज्ञानापेक्षया, तदपेक्षया ज्ञानमात्रस्य प्रमाणैकरूपत्वात् । तदुक्तमाप्तमीमांसायाम्—

" भावप्रमेयापेक्षायां प्रमाणाभासनिह्नवः ।
बहिः प्रमेयापेक्षायां प्रमाणं तन्न वेति च ॥ १ ॥" इति ॥

भावेति सामान्यशब्दोऽपि बहिरित्यभिधानाज्ज्ञानस्वरूपे वर्तत इति । " स्वतः परतश्चेति " अभ्यासदशायां संवादकबाधकज्ञानमनपेक्ष्य प्रादुर्भवन् प्रामाण्याप्रामाण्यनिश्चयः स्वतो भवतीत्यभिधीयते, विषयांशेऽभ्यासजन्यक्षयोपशमस्यैव तत्र व्यापाररूपत्वात् । अनभ्यासदशायां तु संवादकबाधकज्ञानापेक्षया जायमानोऽसौ परतः, पूर्वं प्रामाण्याप्रामाण्यग्रहसामग्र्यसिद्धेरित्यक्षरार्थः । तदुपकृतेऽप्युक्ताशयशुद्धौ श्रुतजन्यतदर्थविषयकज्ञाने तद्गते स्वतः प्रामाण्यज्ञाने च नाप्रामाण्यसंशयविपर्ययाविति श्रुतस्योक्तलक्षणं निश्चितप्रामाण्यं निर्वहत्येवेति । नन्वेवं तर्हि सम्यक्श्रुतज्ञानवता परोपकारैकधुरीणसुगुरुणा सिद्धान्तोक्तविधिना यथार्थरूपेण पाठितानां मिथ्यादृष्टीनां किं प्रमात्मकमेव श्रौतज्ञानं जायते किम्वाऽन्यथेति चेत्, प्रमात्मकमेवेति जानीहि । न चैवं तर्हि तेषां ज्ञानस्य सज्ज्ञानत्वप्रसक्त्या सम्यग्दृष्टित्वप्रसङ्ग इति वाच्यम्, यतस्तेषां पूर्वपूर्वभवीयमिथ्यावासनावासितानामेकान्तदृष्टीनां सद्गुरुप्रोक्तमिदमित्थमेवेति सम्यक्तत्त्वार्थश्रद्धानाभावान्मिथ्यात्वदोषप्राबल्यादेव प्रमात्मकेऽपि तस्मिन् श्रौतज्ञाने इदं ज्ञानं प्रमात्मकं न वेत्याकारकं एतज्ज्ञानविशेष्यकप्रामाण्यतदभावप्रकारकोऽप्रामाण्यसंशयः, यद्वेदं ज्ञानमप्रमात्मकमेवेत्याकारकमेतज्ज्ञानविशेष्यकाऽप्रामाण्यप्रकारकं विपर्ययात्मकमप्रामाण्यज्ञानं तदानीं जायते, प्रमात्मकश्रौतज्ञानेऽप्रामाण्यसन्देहे तद्विषयेऽप्यसत्यत्वसन्देहाद्विपर्ययात्मकाप्रामाण्यज्ञाने वा तद्विषयेऽपि पश्चाद्विपरीतत्वज्ञानात्तज्ज्ञानमज्ञानमेवेति सम्यग्ज्ञानाभावान्न सम्यग्दृष्टित्वप्रसङ्गः । निरस्वार्थैकान्तपरमार्थहितबुद्ध्या जिनोक्ततत्त्वामृतरसनिपायिसद्गुरुभगवतः श्रुतं यथार्थमधीयाना अपि मिथ्यादृष्टय एकान्ततत्त्वमेव सत्यं मन्यन्ते, न त्वनेकान्ततत्त्वमित्यनेकान्ततत्त्वप्रतिपादकश्रुतजन्यज्ञाने प्रमात्मकेऽपि प्रामाण्यं सन्दिहन्ति, विपर्ययन्ति वा, न तु सम्यग्दृष्टय इव श्रुतस्य जिनप्रणीतत्वेन तज्जातं ज्ञानं प्रमात्मकमेवेति निश्चिन्वन्ति, अत एव " चोद्दस दस य अभिन्ने, नियमा सम्मं तु सेसए भयणाए " इति सिद्धान्तवचोऽपि सङ्गच्छते, तथा च प्रामाण्यवत्यपि श्रौतज्ञाने संशयविपर्ययान्यतरलक्षणं यदप्रामाण्यज्ञानं तद्विषयत्वलक्षणमलकालुष्येण न मिथ्यादृष्टिज्ञानं शुद्धम्, ज्ञाने हि शुद्धिर्न केवलप्रमात्वलक्षणा, तथा सति मिथ्यादृष्टीनां निस्सीमकृपासुधासिन्धुसुगुरुणाऽध्यापितानां यथाश्रुतार्थज्ञाने जाते तत्र तथात्वप्रसक्त्या तत्र सम्यग्ज्ञानालिङ्गितत्वं स्यात्, किन्त्वप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितज्ञानविषयप्रामाण्यलक्षणा, सा च सम्यग्दृष्टीनां श्रौतज्ञाने स्वतः प्रामाण्यज्ञाने सति तदुत्तरं नैव तत्र संशयविपर्ययान्यतरलक्षणाऽप्रामाण्यज्ञानं भवतीति तत्र सङ्घटते, मिथ्यादृष्टीनां तु श्रौतज्ञाने स्वतः प्रामाण्यज्ञानमेव न भवति, अन्यथा

तत्प्रतिबन्धकेन तदुत्तरमुक्तलक्षणाप्रामाण्यज्ञानमेव न भवेत्, भवति च तदिति तेषामप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितज्ञानस्यैव श्रौतज्ञाने स्वतः प्रामाण्यज्ञानात्मकस्याभावेन न तद्विषयप्रामाण्यलक्षणा शुद्धिस्सङ्गतेति तादृशशुद्ध्यभावान्मिथ्यादृष्टिज्ञानं न सम्यग्ज्ञानम्, तज्ज्ञानगतप्रामाण्यस्याप्रामाण्यज्ञानास्कन्दित श्रौतज्ञाने यत् स्वतः प्रामाण्यज्ञानं तद्विषयत्वात्। ननु सिद्धान्ते स्वप्रकाशात्मकतयैवाभ्युपगते ज्ञाने प्रामाण्यं स्वतः परतश्च गृह्यत इति परतो ग्राह्यतायां यदा सम्यग्दृष्टेः श्रुतज्ञस्यज्ञाने प्रामाण्यज्ञानं न जातं तदानीमप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितज्ञानविषयत्वस्य तज्ज्ञानगतप्रामाण्येऽभावात्तज्ज्ञानं शुद्धं न स्यादिति चेद्, मैवम्, यज्जिनैः प्रणीतं तत्तथ्यमेवेति श्रद्दधत' सम्यग्दृष्टेः श्रुतग्रंज्ञानं जायते तद्यथा स्वं गृह्णाति तथा स्वगतप्रामाण्यमपि गृह्णात्येव, तज्ज्ञानगतप्रामाण्यस्य नियमेन स्वतो ग्राह्यत्वात्, परतो ग्राह्यत्वं तु प्रामाण्यस्य तत्रैव यत्र प्रामाण्यशङ्काऽवतार', प्रकृते तु नैवम्, भेषजस्य रोगप्रशमने पूर्वं रेचनकृतरोगिकोष्ठाद्यपशुद्धिर्यथा सहकारिणी तथोक्तशुद्धिविशिष्टज्ञानोत्पत्तौ श्रुतस्य सम्यग्दर्शनलक्षणात्मशुद्धिस्सहकारिणीति तदभावे सत्यप्रामाण्यज्ञानास्कन्दितश्रौतज्ञानार्जकत्वेऽपि तत्सत्त्वेऽप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितज्ञानविषयप्रामाण्यविशिष्टज्ञानार्जकत्वेन श्रुतात्मकशासनस्योक्तलक्षणनिश्चितप्रामाण्यनिर्वहत्वमेवेति भावः। अत्रेदमवधेयम् ' सासण ' इत्यत्र विशेष्यात्मकशासनपदोत्तरसिप्रत्ययार्थस्यैकत्वस्य साक्षात्सम्बन्धेन शासनपदार्थेऽन्वयाऽभ्युपगमे एकस्मिन्नेव शासने 'जिणाण' इति बहुवचनमहिम्नाऽनेकजिनप्रणीतत्वमनिष्टमापद्येतेत्यतो ' वेदाः प्रमाणम् ' इत्यत्र विशेषणीभूतप्रमाणपदोत्तरसिप्रत्ययार्थैकत्वस्य सिप्रत्ययप्रकृत्यर्थतावच्छेदक प्रमितिकरणत्व यावच्छब्दनिष्ठमेकमेवेति तत्रान्वयवत् " जात्याकृतिव्यक्तयः पदार्थः " इत्यत्र विशेषणीभूतपदार्थपदोत्तरसिप्रत्ययार्थैकत्वस्य सिप्रत्ययप्रकृत्यर्थतावच्छेदक पदार्थत्वस्य जात्याकृतिव्यक्तिष्वेकमेवेति तत्रान्वयवच्च तस्य प्रत्येकजिनप्रणीतत्वीयवचच्छासनसमूहनिष्ठे एकस्मिन् शासनपदार्थैकदेशे सिप्रत्ययप्रकृत्यर्थतावच्छेदके शासनत्वेऽन्वयः, तथा चैकत्वविशिष्टशासनत्वेन रूपेण सजातीयं यच्छासनमतीतानागतवर्त्तमानं तत्सर्वं सकलरागादिदोषाऽपरामृष्टजिनाभिहितानेकान्तात्मकार्थविषयकनिश्चितप्रामाण्यकयथार्थप्रतीतिजनकत्वात् "सिद्ध" इति पदलभ्यनिश्चितप्रामाण्योपेतमिति सिध्यति। अत एव " तत्त्वपर्यालोचनायां तु सूत्रार्थोभयरूपत्वादागमस्यार्थापेक्षया नित्यत्वात् सूत्रापेक्षया चानित्यत्वात् कथञ्चित् कर्तृसिद्धिः " इति प्रज्ञापनावृत्तिवचनाद् द्वादशाङ्ग्यात्मके शासनेऽर्थापेक्षयाऽनादिभूतेऽपि शब्दरचनापेक्षया सादिरूपे " जिणाण " इति पदलभ्यार्थेन जिनप्रणीतत्वेनैव सिद्धप्रमाणभावे ' न प्रामाण्यप्रसाधनाय प्रमाणान्तरगवेषणा कार्या ' इति दर्शितम्। कालत्रयावच्छिन्नशासनानां बहुत्वेऽपि ' सासण ' इत्यत्रैकवचनं तु तत्तच्छासनोक्तार्थेषु सर्वजिनानामवैमत्यतो वर्त्तमानतीर्थकरप्रणीतशासनस्याप्यतीतानागततत्तज्जिनप्रणीतत्वेऽप्यमाणत्व

तच्छासनप्रतिपाद्यतत्त्वाभिन्नाऽन्यूनानधिकाऽबाधिततत्त्वप्रतिपादकत्वेन रूपेण तत्तच्छासनैस्सहाभेदसूचकमेवेति, अत एव महनीयमान्यगणधरश्रीगौतमस्वामिप्रश्नोत्तररूपवचत्सूत्रेषु मयैव नोच्यते किन्त्वर्थतोऽतीततीर्थकरैरप्येवं प्रोक्तम्, उपलक्षणन्यायेनानागततीर्थकरैरप्येव वक्ष्यते चेत्येतमर्थसूचक " पन्नत्त " इतिप्रभुश्रीमहावीरभगवता प्रोक्तमिति । " जिणाण " इत्यत्र शासनत्वावच्छिन्नस्य तत्तच्छासनस्य तत्तज्जिनप्रणीतत्वप्रतिपादनाय बहुवचनमिति । ननु शासनपदार्थैकदेशे शासनत्वे सिप्रत्ययार्थैकत्वान्वये कर्तव्ये सति " पदार्थः पदार्थेनान्वेति न तु पदार्थैकदेशेन " इति व्युत्पत्तिविरोधप्रसङ्ग इति चेत्, तर्ह्युक्तदृष्टान्तद्वये सम्पन्नो व्रीहिरित्यत्र च दीयतां दृष्टिः, उक्तदृष्टान्तद्वये पदार्थैकदेशे सिप्रत्ययार्थैकत्वस्यान्वयाभ्युपगमात् । सम्पन्नो व्रीहिरित्यत्रापि च सम्पन्नपदाश्रयानेकव्रीहिष्वेकत्वस्य बाधेन व्रीहित्व एव व्रीहिपदोत्तरसिविभक्त्यर्थैकत्वस्यान्वयस्वीकाराच्च । अथ तत्रापि स्वाश्रयवृत्तित्वसम्बन्धेन सिप्रत्ययार्थैकत्वस्य सिप्रत्ययप्रकृत्यर्थ एवान्वयस्वीकारान्नोक्तव्युत्पत्तिविरोधप्रसङ्ग इति चेत् तर्हि प्रकृतेऽपीदृश्येव गतिरिति विभाव्यताम् । तथा चोक्तदृष्टान्तत्रयेऽपि यथाक्रम स्वाश्रयप्रमाकरणत्व–पदवाच्यत्व–व्रीहित्वद्वारैव वस्तुगत्या नानाविधप्रमाकरणपदवाच्यव्रीहिष्वेकत्वस्याऽन्वयस्वीकारवत् प्रकृतेऽपि स्वाश्रयशासनत्वद्वारैव परमार्थतस्तत्तत्कालावच्छिन्नभिन्नभिन्नजिनप्रणीततच्छासनेष्वेकत्वस्यान्वयस्वीकारात्तत्र सर्वत्र निश्चितप्रामाण्योपपत्तेर्न काऽपि क्षतिः । एतेन शासनत्वस्याप्रानुच्छिन्न मानजातिरूपस्यान्वयितावच्छेदकशासनत्वरूपेणानुपस्थितेस्तत्र न सिप्रत्ययार्थैकत्वस्यान्वय इत्यप्यारेका निरस्ता, शासनत्वेन रूपेणोपस्थिते शासनपदार्थे एव स्वाश्रयवृत्तित्वरूपपरम्परासम्बन्धेन तस्यान्वयस्वीकारादिति । अथ तत्केषामित्यत आह—" जिणाण " इति जिनानामिति, रागद्वेषादिरूपानरातीन् जयन्ति समूलकाषं कषन्तीति जिनाः, तेषाम्, यथा कृष्णस्य कृतिरित्यत्र " कर्तृकर्मणोः कृति " २–३–६५ इति पाणिनीयसूत्रेण कर्तरि षष्ठी तद्वच्छासनस्यापि कृदन्तत्वात्तद्योगे ' जिनानाम् ' इत्यत्रापि कर्तरि षष्ठी, तथा च षष्ठ्यर्थस्याधेयत्वसम्बन्धेन प्रकृत्यर्थजिनान्वितस्य कर्तृत्वस्य निरूपकत्वसम्बन्धेन शासने ऽन्वयाद्यथा कृष्णस्य कृतिरित्यस्य कृष्णनिष्ठकर्तृतानिरूपककृतिरूपार्थपर्यवसायि कृष्णकर्तृककृतिरित्यर्थः ' तद्वद् जिनानां शासनमित्यस्य जिननिष्ठकर्तृत्वनिरूपक शासनमित्यर्थपर्यवसायि जिनकर्तृक शासनम्, अर्थतो जिनप्रणीत शासनमित्यर्थः । यद्वा जिनानामित्यत्र सम्बन्धार्थे षष्ठी, सम्बन्धश्च कार्यकारणभावात्मक , तथा च स्वनिष्ठकारणतानिरूपितकार्यत्वसम्बन्धेन जिनसम्बन्धि, जिनप्रणीतमिति यावत्, अर्थतस्तदुपदिष्टत्वादिति भावः । ननु " सोऊण जिणवरमत गणहारी काउ तक्खओवसम " इति सूत्रकृताङ्गनिर्युक्त्यभिधानाच्छ्रीतीर्थंकरभगवद्भाषित " उप्पज्जेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा " इति मातृकापदत्रयश्रवणमात्रात्तत्प्रकृष्टश्रुतज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमेन चतुर्दशपूर्वविदा श्रीगणधर-

भगवता " श्रीवर्द्धमानात् त्रिपदीमवाप्य, मुहूर्त्तमात्रेण कृतानि येन । अङ्गानि पूर्वाणि चतुर्दशाऽपि, स गौतमो यच्छतु वाञ्छितं मे ॥ १ ॥ इत्युक्तेर्मुहूर्त्तमात्रेण विनीतशिष्य सुखग्रहणगुणनधारणनिश्चयाद्यर्थं पद-वाक्य-प्रकरणा-ऽध्याय-प्राभृतादिनियतक्रमेण रचितं द्वादशाङ्ग्यात्मकश्रुतमेव शासनमिति तस्य शब्दरूपतया पौद्गलिकत्वेन विशरारुस्वभावत्वात्तदानीमेव विनष्टं तत् नैतावत्कालपर्यन्तं स्वस्वरूपेण सत्तामनुभवितुमर्हतीति कथमिदानीं तदेवास्तीति श्रद्धेयमिति चेत् यद्यपि गणधरभगवता सूत्ररूपेण ग्रथितद्वादशाङ्ग्यात्मकं वचनमिदानीं नास्त्येवेति सत्यमेतत्, तथापीदानीं तदनुवादे श्रुतज्ञाननिधानाचार्यभगवदनुक्रमेण पुनः पुनस्तदुच्चारणात्मकेऽनूद्यस्य भगवद्वचनस्य गणधरवचनस्य वाऽभेदोपचारादाप्तागमत्व ज्ञेयम्, आगच्छत्याचार्यपरम्परया वासनाद्वारेणेत्यागमः शासनद्वादशाङ्ग्यपरपर्याय इति व्युत्पत्तेः । अभिहितञ्च-तत्त्वार्थविवरणे " इदानींतनतदनुवादेष्वनूद्याभेदोपचाराच्चशास्त्र " इत्यादि । नन्वेवं तर्हि आगम्यन्ते मर्यादयाऽवबुध्यन्तेऽर्था अनेनेत्यागम इति व्युत्पत्त्याऽऽप्तवचनाज्जातं श्रोतुरर्थज्ञानमागम इत्यपि सिद्धान्ते गीयते, तत्कथमिति चेत्, उच्यते, मुख्यवृत्तिमाश्रित्यैव तत्राभिधीयते, अत्र तु श्रोतृज्ञानकारणत्वादाप्तवचनस्य तद्रूपद्रव्यागमे कारणे भावागमरूपकार्योपचारं कृत्वैवागमत्वं प्रोक्तमिति, अत एव तातपादश्रीवादिदेवसूरिभिः—

" आप्तवचनादाविर्भूतमर्थसंवेदनमागमः ॥ ४ । १ ।
उपचारादाप्तवचनञ्च ॥ ४ । २ । " इत्युक्तमपि सङ्गच्छते ।

ननु मुख्यार्थबाधे उपचारः प्रयोजने सति क्रियत इत्यत्रोपचारप्रयोजनं किमिति चेत्, उच्यते, शिष्याणामविच्छिन्ननिराबाधश्रद्धोत्पादनफलमेव लक्षणाबीजमिति जानीहि ।

नन्विदं शासनं जिनप्रणीतमित्यत्र किं मानमित्यत आह—" सिद्धत्थाणं " इति । सिद्धाः प्रमाणान्तरसंवादतो निश्चिता येऽर्था नष्टमुष्टिचिन्तालाभालाभसुखासुखजीवितमरणग्रहोपरागमन्त्रौषधादयस्तेषामित्यर्थः, अत्र षष्ठ्यर्थः प्रतिपादकत्वम्, तत्र प्रकृत्यर्थस्य सिद्धार्थस्य कस्य स्वनिष्ठप्रतिपाद्यतानिरूपितत्वसम्बन्धेनान्वयः, तस्य चाश्रयत्वसम्बन्धेन शासनेऽन्वयः, इदञ्च हेतुविधया विशेषणम्, तथा चेदं शासनं प्रमाणान्तरसंवादियथोक्तनष्टमुष्ट्यादिसूक्ष्मान्तरितदूरार्थप्रतिपादकत्वान्यथानुपपत्तिहेतोर्जिनप्रणीतमेवाऽभ्युपगन्तव्यम्, यन्नैवम् तन्नैवम्, यथा परकल्पितदर्शनान्तरम्, न चात्र व्याप्तिनिश्चायकदृष्टान्तान्वेषणं कर्त्तव्यम्, मीमांसकाभ्युपगतार्थापत्तिवितास्मिन्ननुमाने साध्यधर्मिण्येव व्याप्तिनिश्चयात्, न हेतुस्सपक्षसत्त्वरूपाभावात्सद्धेतुर्न स्यादिति वाच्यम्, गमकत्वोपपत्तेर्बौद्धाभ्युपगतस्य त्रिरूपस्य नैयायिकाद्यभ्युपगतस्य पञ्चरूपस्य च किञ्चित्करत्वात्, अत एव श्रीमद्वादिदेवसूरिभगवद्भिः,

तच्छासनप्रतिपाद्यतत्त्वाभिन्नाऽन्यूनानधिकाऽबाधिततत्त्वप्रतिपादकत्वेन रूपेण तत्तच्छासनैस्समहाभेदसूचकमेवेति, अत एव महनीयमान्यगणधरश्रीगौतमस्वामिप्रश्नोत्तररूपवचस्सूत्रेषु मयैव नोच्यते किन्त्वर्थतोऽतीततीर्थकरैरप्येव प्रोक्तम्, उपलक्षणन्यायेनानागततीर्थकरैरप्येव वक्ष्यते चेत्येतमर्थसूचक " पन्नत्त " इतिप्रभुश्रीमहावीरभगवता प्रोक्तमिति। " जिणाण " इत्यत्र शासनत्वावच्छिन्नस्य तत्तच्छासनस्य तत्तज्जिनप्रणीतत्वप्रतिपादनाय बहुवचनमिति। ननु शासनपदार्थैकदेशे शासनत्वे सिप्रत्ययार्थैकत्वान्वये कर्त्तव्ये सति " पदार्थः पदार्थेनान्वेति न तु पदार्थैकदेशेन " इति व्युत्पत्तिविरोधप्रसङ्ग इति चेत्, तर्ह्युक्तदृष्टान्तद्वये सम्पन्नो व्रीहिरित्यत्र च दीयतां दृष्टिः, उक्तदृष्टान्तद्वये पदार्थैकदेशे सिप्रत्ययार्थैकत्वस्यान्वयाभ्युपगमात्। सम्पन्नो व्रीहिरित्यत्रापि च सम्पन्नत्वाश्रयानेकव्रीहिष्वेकत्वस्य बाधेन व्रीहित्व एव व्रीहिपदोत्तरसिविभक्त्यर्थैकत्वस्यान्वयस्वीकाराच्च। अथ तत्रापि स्वाश्रयवत्त्वसम्बन्धेन सिप्रत्ययार्थैकत्वस्य सिप्रत्ययप्रकृत्यर्थ एवान्वयस्वीकाराक्नोक्तव्युत्पत्तिविरोधप्रसङ्ग इति चेत् तर्हि प्रकृतेऽपीदृश्येव गतिरिति विभाव्यताम्। तथा चोक्तदृष्टान्तत्रयेऽपि यथाक्रम स्वाश्रयप्रमाकरणत्व–पदवाच्यत्व–व्रीहित्वद्वारैव वस्तुगत्या नानाविधप्रमाकरणपदवाच्यव्रीहिष्वेकत्वस्याऽन्वयस्वीकारवत् प्रकृतेऽपि स्वाश्रयशासनत्वद्वारैव परमार्थतस्तत्तत्कालावच्छिन्नभिन्नभिन्नजिनप्रणीततत्तच्छासनेष्वेकत्वस्यान्वयस्वीकारात्तत्र सर्वत्र निश्चितप्रामाण्योपपत्तेर्न काऽपि क्षतिः। एतेन शासनत्वस्याप्रानुच्छिन्नपमानजातिरूपस्यान्वयितावच्छेदकशासनत्वरूपेणानुपस्थितेस्तत्र न सिप्रत्ययार्थैकत्वस्यान्वय इत्यप्यारेका निरस्ता, शासनत्वेन रूपेणोपस्थिते शासनपदार्थ एव स्वाश्रयत्वरूपपरम्परासम्बन्धेन तस्यान्वयस्वीकारादिति। अथ तत्केषामित्यत आह—" जिणाण " इति जिनानामिति, रागद्वेषादिरूपानरातीन् जयन्ति समूलकाषं कषन्तीति जिनाः, तेषाम्, यथा कृष्णस्य कृतिरित्यत्र " कर्तृकर्मणोः कृति " २–३–६५ इति पाणिनीयसूत्रेण कर्त्तरि षष्ठी तद्वच्छासनस्यापि कृदन्तत्वात्तद्योगे ' जिनानाम् ' इत्यत्रापि कर्त्तरि षष्ठी, तथा च षष्ठ्यर्थस्याधेयत्वसम्बन्धेन प्रकृत्यर्थजिनान्वितस्य कर्तृत्वस्य निरूपकत्वसम्बन्धेन शासने ऽन्वयाद्यथा कृष्णस्य कृतिरित्यस्य कृष्णनिष्ठकर्तृतानिरूपककृतिरूपार्थपर्यवसायि कृष्णकर्तृककृतिरित्यर्थः ' तद्वद् *जिनानां शासनमित्यस्य जिननिष्ठकर्तृत्वनिरूपक शासनमित्यर्थ* पर्यवसायि जिनकर्तृक शासनम्, अर्थतो जिनप्रणीत शासनमित्यर्थः। यद्वा जिनानामित्यत्र सम्बन्धार्थे षष्ठी, सम्बन्धश्च कार्यकारणभावात्मकः, तथा च स्वनिष्ठकारणतानिरूपितकार्यत्वसम्बन्धेन जिनसम्बन्धि, जिनप्रणीतमिति यावत्, अर्थतस्तदुपदिष्टत्वादिति भावः। ननु " सोऊण जिणवरमत गणहारी काउ तक्खओवसम " इति सूत्रकृताङ्गनिर्युक्त्यभिधानाच्छ्रीतीर्थंकरभगवद्भाषित " उप्पज्जेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा " इति मातृकापदश्रवणमात्रप्रकृष्टश्रुतज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमेन चतुर्दशपूर्वविदा श्रीगणधर

भगवता " श्रीवर्द्धमानात् त्रिपदीमवाप्य, मुहूर्तमात्रेण कृतानि येन । अङ्गानि पूर्वाणि चतुर्दशाऽपि, स गौतमो यच्छतु वाञ्छितं मे ॥ १ ॥ इत्युक्तेर्मुहूर्तमात्रेण विनीतशिष्य सुखग्रहणगुणनधारणनिश्चयाद्यर्थं पद-वाक्य-प्रकरणा-ऽध्याय-प्राभृतादिनियतक्रमेण रचित द्वादशाङ्ग्यात्मकश्रुतमेव शासनमिति तस्य शब्दरूपतया पौद्गलिकत्वेन त्रिशरा रुस्वमात्रत्वाचदानीमेव विनष्टं तत् नैतावत्कालपर्यन्तं स्वस्वरूपेण सत्तामनुभवितुमर्हतीति कथमिदानीं तदेवास्तीति श्रद्धेयमिति चेत् यद्यपि गणधरभगवता सूत्ररूपेण ग्रथित द्वादशाङ्ग्यात्मक वचनमिदानीं नास्त्येवेति सत्यमेतत्, तथापीदानीं तदनुवादे श्रुतज्ञाननिधानाचार्यभगवदनुक्रमेण पुन' पुनस्तदुच्चारणात्मकेऽनूद्यस्य भगवद्वचनस्य गणधरवचनस्य वाऽभेदोपचारादाप्तागमत्व ज्ञेयम्, आगच्छत्याचार्यपरम्परया वासनाद्वारेणेत्यागमः शासनद्वादशाङ्ग्यपरपर्याय इति व्युत्पत्तेः । अभिहितश्च-तत्त्वार्थविवरणे " इदानींतनतदनुवादे ष्वनूद्याभेदोपचारात्तथात्व " इत्यादि । नन्वेव तर्हि आगम्यन्ते मर्यादयाऽवबुध्यन्तेऽर्था अनेनेत्यागम इति व्युत्पत्त्याऽऽप्तवचनाज्जात श्रोतुरर्थज्ञानमागम इत्यपि सिद्धान्ते गीयते, तत्कथमिति चेत्, उच्यते, मुख्यवृत्तिमाश्रित्यैव तत्राभिधीयते, अत्र तु श्रोतृज्ञानकारण त्वादाप्तवचनस्य तद्रूपस्यागमे कारणे भावागमरूपकार्योपचार कृत्वैवागमत्व प्रोक्तमिति, अत एव तातपादश्रीवादिदेवसूरिभिः—

" आप्तवचनादाविर्भूतमर्थसंवेदनमागमः ॥ ४ । १ ।
उपचारादाप्तवचनञ्च ॥ ४ । २ । " इत्युक्तमपि सङ्गच्छते ।

ननु मुख्यार्थबाधे उपचार. प्रयोजने सति क्रियत इत्यत्रोपचारप्रयोजन किमिति चेत्, उच्यते, शिष्याणामविच्छिन्ननिराबाधश्रद्धोत्पादनफलमेव लक्षणाबीजमिति जानीहि ।

नन्विद शासन जिनप्रणीतमित्यत्र किं मानमित्यत आह—" सिद्धत्थाण " इति । सिद्धाः प्रमाणान्तरसंवादतो निश्चिता येऽर्था नष्टमुष्टिचिन्तालाभालाभसुखासुखजीवितमरणग्रहोपरागमन्त्रौषधादयस्तेषामित्यर्थः, अत्र षष्ठ्यर्थ. प्रतिपादकत्वम्, तत्र प्रकृत्यर्थस्य सिद्धार्थस्य कस्य स्वनिष्ठप्रतिपाद्यतानिरूपितत्वसम्बन्धेनान्वय', तस्य चाश्रयत्वसम्बन्धेन शासनेऽन्वयः, इदञ्च हेतुगर्भया विशेषणम्, तथा चेद शासन प्रमाणान्तरसंवादियथोक्तनष्टमुष्ट्यादिसूक्ष्मान्तरितदूरार्थप्रतिपादकत्वान्यथानुपपत्तिहेतोर्जिनप्रणीतमेवाऽभ्युपगन्तव्यम्, यन्नैवम् तन्नैवम्, यथा परकल्पितदर्शनान्तरम्, न चात्र व्याप्तिनिश्चायकदृष्टान्तान्वेषण कर्त्तव्यम्, मीमांसकाभ्युपगतार्थापत्तिवित्तारिमन्नुमाने साध्यधर्मिण्येव व्याप्तिनिश्चयात्, न चैवं तर्ह्यस्य हेतुस्सपक्षसत्त्वरूपाभावात्सद्धेतुर्न स्यादिति वाच्यम्, निश्चितान्यथाऽनुपपत्तिनियमादेव हेतोर्गमकत्वोपपत्तेर्बौद्धाभ्युपगतस्य त्रिरूपस्य नैयायिकाद्यभ्युपगतस्य पञ्चरूपस्य च तत्राकिञ्चित्करत्वात्, अत एव श्रीमद्वादिदेवसूरिभगवद्भिः—निश्चितान्यथानुपपत्त्येकलक्षणो

हेतुरिति ॥ ३ । ११ ॥ न तु त्रिलक्षणकादिरिति ॥ ३ । १२ ॥ तस्य हेत्वाभासस्यापि सम्भवादिति ॥ ३ । १३ ॥ इति निष्टङ्कित सङ्गच्छते । उक्तञ्च पात्रस्वामिनाऽपि—

" अन्यथाऽनुपपन्नत्व, यत्र तत्र त्रयेण किम् ।
नान्यथाऽनुपपन्नत्वं, यत्र तत्र त्रयेण किम् ॥ १ ॥ " इति ।

एतच्चाग्रे विवेचयिष्यते । ननु जिनप्रणीतत्वात्तच्छासन यथा निश्चितप्रामाण्य तथा सुगतकपिलादिप्रणीतत्वादपि तच्छासन तथाभूत किन्न स्यादित्याशङ्कानिवृत्त्यर्थमाह–यद्वा जिनशासनविपक्षभूत यच्छास्त्र तद्गतप्रामाण्यनिरासे सत्येव तत्प्रामाण्य निराबाध निश्चीयेत, अनेकान्ततत्त्वप्रतिपादकजिनशासनप्रतिपक्षभूतैकान्ततत्त्वप्रतिपादक बौद्धकापिलादिशास्त्र मित्यतस्तत्प्रामाण्यनिरासपूर्वकतत्प्रामाण्यनिश्चयार्थं शासनविशेषणमाह "कुसमयविसासणम्" इति । कुत्सिता' प्रमाणबाधितैकान्ततत्त्वप्रतिपादकत्वेन समया बुद्धकपिलादिप्रणीत सिद्धान्ताः कुसमयाः, तेषा विशासन विपरीत शास्यते दृष्टेष्टविषये विरोधाद्युद्भावकत्वेनाऽप्रामाण्य ज्ञाप्यतेऽनेनेति विशासनम्, कुसमयविशेष्यकाऽप्रामाण्यप्रकारक एते कुसमया अप्रमाणभूता इत्याकारकं यत्कुसमयेष्वप्रामाण्यज्ञान तत्करणमित्यर्थः । तथा च बौद्धकापिलादिशासन न निश्चितप्रामाण्यकं दृष्टेष्टविषये प्रमाणबाधितैकान्ततत्त्वप्रतिपादकत्वात्, यद्यद्वचन दृष्टेष्टविषये प्रमाणबाधितार्थविषयक तत्तद्वचन न निश्चितप्रामाण्यकम्, असम्बद्धप्रलाप्युन्मत्तवचनवत्, किन्तु प्रत्यक्षानुमानादिप्रमाणाबाधितभिन्नापेक्षतत्तदभावधर्मविशिष्टवस्तुप्रतिपादकत्वात् शाखावच्छिन्नकपिसयोगप्रकारकमूलावच्छिन्नतदभावप्रकारकवृक्षविशेष्यकप्रतिपत्तिजनकशाखावच्छेदेन वृक्षः कपिसयोगी न तु मूलावच्छेदेनेति वाक्यवज्जिनशासनमेव निश्चितप्रामाण्यमभ्युपगन्तव्यम् । यद्वा ननु दूरान्तरितसूक्ष्मपदार्थव्यवहिताव्यवहिताधाः सर्वेऽपि पदार्थाः कस्यचित्प्रत्यक्षा ज्ञेयत्वात्प्रमेयत्वाद्वस्तुत्वाद्वा घटादिवदित्यनुमानेन ज्ञानप्रकर्षतारतम्य क्वचिद्विश्रान्त तारतम्यत्वात् महत्त्वपरिमाणाणुपरिमाणादिप्रकर्षतारतम्यवदित्याद्यनुमानेन वा सर्वज्ञस्य सिद्धावपि सर्वज्ञ आगमकर्ता भवत्येव सर्वज्ञो विशिष्टमर्थमुपदिशत्येवेति नियमासिद्धौ न सर्वज्ञत्वाकलिते पुरुषधौरेये आगमप्रणेतृत्व सिद्धिपथमुपयाति, न च सर्वज्ञस्यागमप्रणेतृत्वसिद्धिमन्तरेण सर्वज्ञप्रणीतत्वमागमस्य प्रकृतस्य सिद्ध्यति, न च सर्वज्ञप्रणीतत्वमन्तरा निश्चितप्रामाण्यकत्वलक्षण स्वतः सिद्धत्वमागमस्योपपत्तिपद्धतिमेति । यदि केनापि हेत्वन्तरेणागमप्रणेतृत्वमपि सर्वज्ञस्य सिद्ध्यत्येव तदा स हेतुरभिधातव्य एव केनचिद्वचनेन, ज्ञातस्यैव हेतोस्साध्यसाधनपटिष्ठत्वात्, तथा च ताद्दग्हेतुतत्परिकरशुद्ध्यादिप्रतिपादकवचनसन्दर्भलक्षणप्रकरणस्यापेक्षितत्वे तदुद्भावनायासोऽनायासेनैव सिद्धः प्रतिपादनगौरवफलको न निरोद्धु शक्य इति चेत्, सत्य, प्रकारान्तरेण सर्वज्ञसाधने स्यादेवैष उपालम्भः, न त्वेवम्, किन्तु यस्य शासनविशेषलक्षणस्य वचनस्य

येन पुरुषधौरेयेण करणं तत्कर्तृकतया च प्रामाण्यं स पुरुषधौरेयस्तेनैव वचनविशेषेण लिङ्गभावमापद्यमानेन सर्वज्ञतया सिद्ध्यति, तथाहि अस्मदादिभिः पृथिव्याः काठिन्यादिकं साक्षात्कृत्य कठिना पृथ्वीत्यादि वचनमुच्चार्यते, न चास्मदादिकर्तारमन्तरेणैव तादृशवचन विशेष उपजायते, वैशिष्ट्यं चोक्तवचनस्य स्वविषयाविसंवादित्वाऽलिङ्गपूर्वकत्वानुपदेशपूर्वकत्वान्वयव्यतिरेकपूर्वकत्वधर्मैः, तथाविधश्चोक्तवचनं स्वप्रतिपाद्यार्थसाक्षात्कार्यस्मदादि ज्ञानप्रभवं यथा तथा नष्टमुष्टिचिन्तालाभालाभसुखासुखजीवितमरणग्रहोपरागमन्त्रौषधशक्त्यादीनां स्वस्वप्रतिनियतकार्यकारणत्वेन स्वस्वप्रतिनियतकारणकार्यत्वेन च प्रतिपादकं प्रकृतशासनमपि स्वविषयाऽविसंवादित्वाऽलिङ्गपूर्वकत्वानुपदेशपूर्वकत्वान्वयव्यतिरेकपूर्वकत्वधर्मविशिष्टं स्वप्रतिपाद्यनष्टमुष्ट्याद्यर्थसाक्षात्कारिपुरुषधौरेयज्ञानप्रभवम् । अनुमानप्रयोगश्च यो यद्विषयाविसंवादिलिङ्गानुपदेशान्वयव्यतिरेकपूर्वको वचनविशेषः, स तत्साक्षात्कारि ज्ञानविशेषप्रभवः, यथाऽस्मदादिप्रवर्तितः पृथ्वीकाठिन्यादिविषयस्तथाभूतो वचनविशेषः, नष्टमुष्टिविशेषादिविषयाविसंवादिलिङ्गानुपदेशान्वयव्यतिरेकपूर्वकवचनविशेषश्चायं शासन लक्षणोऽर्थ इति । यथैव नष्टमुष्ट्यादयोऽर्थाश्शासने प्रतिपादितास्तथैव ते प्रमाणान्तरेणोपलभ्यन्त इति तत्प्रतिपादकस्य शासनस्याविसंवादित्वं, सम्यगर्थपरिज्ञानसामग्रीवैकल्यतो विसंवाद आपाततः कस्यचित्स्फुरन्नपि नाविसंवादप्रतिरोधी, तस्य शासनवचनाऽसत्यार्थत्वाप्रयुक्तत्वात् । चन्द्रैकत्वप्रत्यक्षस्य भ्रान्तद्विचन्द्रप्रत्यक्षेण विसंवादवत्, अतीन्द्रियैर्नष्टमुष्ट्यादिभिस्सममविनाभूतस्य लिङ्गस्याप्यस्मदाद्यक्षाविषयत्वाच्च लिङ्गप्रभवत्वमपि तत्प्रतिपादकशासनस्येत्यलिङ्गप्रभवत्वं, यो हि लिङ्गमतीन्द्रियं साक्षात्कर्तुमीशः स नष्टमुष्ट्यादिकमपि साक्षात्कर्तुं समर्थ इति तत्साक्षात्कारिज्ञानप्रभवत्वमेव तस्येति । उपदेशपरम्पराप्रभवत्वे वक्तृरज्ञानदुष्टाभिप्रायवचनाकौशलादिदोषैः श्रोतुर्वा मन्दबुद्धित्वविपर्यस्तबुद्धित्वगृहीतविस्मरणत्वादिदोषैः प्रतिपुरुषं हीयमानस्यानादौ काले मूलतश्शिरोच्छेदे एतावन्तं कालमागमनमेव न भवेदत उपदेशपरम्पराप्रभवत्वादेवान्तराऽन्तरा विच्छिन्नस्यापि नष्टमुष्ट्यादिप्रतिपादकस्यास्य सूक्ष्मादिपदार्थसाक्षात्कारिज्ञानवता पुरुषविशेषेणाभिव्यक्तस्यैतावत्कालमागमनमिति भवत्यनुपदेशपूर्वकत्वम्, अनियतदिक्प्रमाणफलकालादीनां ग्रहोपरागादीनां रक्तकृष्णादिभेदवर्णादिमात्राभेदतो बालमध्यमावस्थाभेदतो मूलपत्राद्यवयवभेदतो विभिन्नानेकयोगसम्पर्कजानल्पविजातीयरोगोपशमनशक्तिशालिनीनामौषधीनाञ्च शासनप्रतिपाद्यानामन्वयव्यतिरेकाभ्यां युगसहस्रेणाऽप्यसर्वज्ञैरस्मदादिभिर्ज्ञातुमशक्यानां प्रतिपादकस्यास्य शासनस्यान्वयव्यतिरेकपूर्वकत्वमपि सिद्धिपथमवतरत्येवेत्युपदर्शितार्थनिरूपणसूचनाभिप्रायवान् सूरिराह--कुसमयविसासणम् इति-अत्र समयानां विशासनं समयविशासनं, कुत्सितसमयविशासनं कुसमयविशासनमिति समासः, कुपदमत्र लक्षणया पृथिवीशासनार्थकम्,

समयपदञ्च सम्यक्प्रमाणान्तराविसंवादित्वेनेयन्ते परिच्छिद्यन्ते इति समया इति व्युत्पत्त्या प्रमाणान्तराविसंवादिपरिच्छेद्यविषयपरम्, ते च विषयाः प्रकृते नष्टमुष्टिचिन्तालाभालाभसुखासुखजीवितमरणग्रहोपरागमन्त्रौषधशक्त्यादयः, विशासनमित्यत्र विरुपसर्गश्च विविधार्थकः, विविधत्वञ्च प्रकृते अन्यपदार्थकारणत्वेनान्यपदार्थकार्यत्वेन चानेकप्रकारमित्येवं स्वरूपम्, शासनपदञ्च प्रतिपादकपरम्, उपमानभूतं पृथिव्याश्शासनञ्च पृथ्वीकाठिन्यादिप्रतिपादकवचनविशेषरूपम्, उपमानोपमेयभूतयोः पृथ्वीशासनसमयविशासनयोः सादृश्यञ्च प्रकृते स्वविषयाविसंवाद्यलिङ्गानुपदेशानन्वयव्यतिरेकपूर्वकत्वस्वविषयसाक्षात्कारिज्ञानविशेषप्रभवत्वरूपसाधारणधर्माभ्याम्, तत्र पृथ्वीकाठिन्यादिप्रतिपादकवचनविशेषे उपमानभूतपृथ्वीशासने निरुक्तधर्मद्वयं सिद्धं वादिप्रतिवादिनोः, उपमेयीकृते प्रकृतशासने तु पूर्वोक्तयुक्त्या स्वविषयाविसंवाद्यलिङ्गानुपदेशानन्वयव्यतिरेकपूर्वकत्वं सिद्धम्, स्वविषयसाक्षात्कारिज्ञानविशेषप्रभवत्वन्तु विप्रतिपन्नम्, तदपि सिद्धेनोक्तधर्मेण स्वाविनाभूतेन सिध्यत्येवेति गाथाद्वितयेन 'कुसमयविसासणं'मित्यनेन सुखप्रतिलम्भ-स्यावतरणोपदर्शितसर्वनिकुरम्बमिति। अथ " कर्म-क्लेश-विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः " [योगद० पा. १, सू. २४] इति सूत्रोक्तलक्षणलक्षितः "ज्ञानमप्रतिघं यस्य, ऐश्वर्यञ्च जगत्पतेः। वैराग्यं चैव धर्मश्च, सह सिद्धं चतुष्टयम् ॥ १ ॥" इत्यभियुक्तोक्त्यनुसारिस्वभावसिद्धज्ञानैश्वर्यवैराग्यधर्मैतच्चतुष्टयविशिष्ट ईश्वर एव शासनप्रणेता, तेनानादिसर्वज्ञेन सर्वजगत्स्रष्टा प्रणीतत्वाच्च तत्प्रमाणम्, न तु रागद्वेषादीन् शत्रून् जितवन्त इति जिना इति व्युत्पत्तिसिद्धलक्षणलक्षितः सामान्ययोगी तत्प्रणेतेति ये पातञ्जलनैयायिकादयो मन्यन्ते तन्मतनिरासायाह-'भवजिणाणं' भवजिनानाम्। भवन्ति नारक-तिर्यग्-नरामरपर्यायत्वेनोत्पद्यन्ते प्राणिनोऽस्मिन्निति भवः संसारः, तद्धेतुत्वाद्रागद्वेषादयो भवशब्देनोपचाराद् विवक्षिताः, तान् जितवन्त इति भवजिनास्तेषाम्, उपचाराश्रयणे किं बीजमिति चेत्, उच्यते, न ह्यविकलकारणे रागादावध्वस्ते तत्कार्यस्य संसारस्य जयः शक्यो विधातुमिति प्रतिपादनमेव। यतो दृढतमनिरन्तराभ्यस्तानित्यत्वादिद्वादशभावनाद्यात्मकेन रागादिजयोपायेनैव पुरुषविशेषे निश्शेषरागादिजयस्स्यात्, न तु स्वभावत एव, न ह्युपायव्यतिरेकेणोपेयसिद्धिः, अन्यथोपेयस्य निर्हेतुकत्वेन देशकालस्वभावप्रतिनियमो न स्यादिति सर्वप्राणिनामीश्वरत्वं न वा कस्यचित्स्यात्। तदुक्तं धर्मकीर्तिनाऽपि—

" नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा, हेतोरन्यानपेक्षणात्।
अपेक्षातो हि भावानां, कादाचित्कत्वसम्भवः ॥ १ ॥ " इति

तत्र रागादिक्लेशविगमः स्वभावत एवेश्वरस्येति युक्तमिति। अथ यस्य देशतः क्षयो दृश्यते तस्य सर्वथाऽपि क्षयः, दिनकरनिकरनिरोधकघनीनीरदमालावत्, देशतो रागादि-

क्षयो दृश्यते तत्तत्पुरुषेष्विति सर्वथाऽपि कस्मिंश्चिदपि पुरुषधौरेये रागादिक्षयसम्भाव्यत एवेति यः पुमान् पूर्वं रागादिमान् स्यात् तस्मिन्नुक्तोपायेन तद्विगमो युक्त एवेति को न स्वीकुरुते ?, न्यमस्य सहेतुकत्वात्, पुरुषविशेषे ईश्वरे तु सर्वथा रागात्यन्ताभाव एव, न तु पूर्वं रागः पश्चात् तद्ध्वंस इति रागत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकात्यन्ताभावस्यानादिससिद्धस्य तत्र कालत्रयेऽपि सत्त्वे बाधकाभाव एव, रागादिकालीनत्वाभावविशिष्टेश्वरात्मकतदीयस्वरूप सम्बन्धस्य सत्त्वेन सम्बन्धिनोऽत्यन्ताभावस्यापि तत्र सत्त्वात्, तादृश एव कर्मक्लेशाद्य भावः पूर्वोक्तपातञ्जलसूत्रे अपरामृष्टपदेन विवक्षिता, न तु कर्मक्लेशादिध्वंसरूप इति चेत्, मैवम्, ईश्वरात्मकस्य धर्मिण एवासिद्धौ तद्धर्माणां तादृशरागात्यन्ताभावादीना सुतरां कल्पयितुमशक्यत्वात्। विमत क्षित्यङ्कुरादिक सकर्तृकं कार्यत्वाद् घटवदित्यनुमानेनेश्वर धर्मिसिद्धिरिति चेद्, यदि कार्यत्वेन हेतुनेश्वरस्साध्येत तर्हि तस्य रागादिदोषवत्त्वमपि स्यादेव, दृष्टानुसारिणी कल्पना न तु यथा कल्पना तथा तत्त्वव्यवस्था, कल्पनाया निरङ्कुशत्वेन तत्त्वाऽव्यवस्थाप्रसङ्गादित्यर्थकेन दृष्टानुसारिणी हि कल्पना न तु कल्पनानु सारिणी दृष्टिरिति न्यायेन सर्वस्य कुम्भकारादेः कर्तुर्दोषग्रस्तस्यैव दृष्टत्वेनेश्वरस्यापि तद्वत एव सिद्धेः, यो यो विषमकारी स स दोषवानिति व्याप्तिमूलकात् 'ईश्वरो दोषवान् विषम-कार्यकारित्वात् अस्मदादिवदित्यनुमानादपि हीनमध्यमोत्तमभावेन प्राणिभेदान् विदधति त्वन्मतसिद्धे ईश्वरे रागद्वेषादिदोषवत्त्वसिद्धेश्च, न चोक्तानुमाने ईश्वर एव व्यभिचार इति वाच्यम्, यतः पक्षीभूते तत्र न व्यभिचारप्रदर्शनं युक्तम्, पक्षे पक्षसमे वा न व्यभिचार इत्यभियुक्तोक्तेः। व्यभिचारस्थलान्तरन्तु नास्त्येव। दोषवत्त्वेन विषमकार्यकारित्वस्य लोकेऽनुभूयमानत्वेन दृष्टविरुद्धकल्पनाया अप्रामाणिकत्वेनात्र व्यभिचारशङ्काऽपि न युक्ति-युक्तेति। न चात्र पर्वतो वह्निमान् धूमात् महानसवदित्यनुमानाद् वह्निसिद्धौ पक्षधर्मता बलाद् यथा पर्वतीयस्यैव वह्नेस्सिद्धिस्तथोक्तानुमानादपीश्वरसिद्धौ पक्षधर्मताबलान्निर्दोष स्यैवेश्वरस्य सिद्धिस्स्यादिति तेन न रागादिदोषवत्त्वस्य प्रसङ्ग इति शङ्क्यम्, क्षित्यङ्कुरादि-रूपे पक्षे ईश्वरमात्रसाधनेनैव तस्यानुमानस्य चरितार्थत्वेन तत्र निर्दोषत्वादिधर्मस्यापि साधने उदासीनत्वात्, पर्वते वह्न्यनुमानस्य पक्षधर्मताबलात्पर्वतीयवह्निमाधकत्वेनैव चरितार्थत्वा-त्तद्गतोष्णत्वादिधर्मसाधने उदासीनत्ववत्, न चोत्कर्षसमा जातिरियम्, सा च साध्याऽव्या-पकस्य दृष्टान्तगतस्य धर्मस्य पक्षे आपादनलक्षणा, यथा शब्दोऽनित्यः कृतकत्वादित्यत्र कृतकत्वहेतुना यदि घटवच्छब्देऽनित्यत्वं साध्येत तर्हि तेनैव हेतुना शब्दे सावयवत्वमपि स्यात्, अत्रानित्यत्वापेक्षया सावयवत्वस्याऽव्यापकत्वम्, गन्धादावनित्यत्वस्य सत्त्वेऽपि सावयवत्वाऽभावात्, तथाऽत्रापि सकर्तृकत्वापेक्षया दोषवत्कर्तृकत्वस्याप्यव्यापकत्वमेव, क्षित्यादौ सकर्तृकत्वस्य सत्त्वेऽपि दोषवत्कर्तृकत्वस्याभावात्, तस्यैव च दोषवत्कर्तृकत्वस्य क्षित्यङ्कुरादौ भवताऽऽपाद्यमानत्वादिति वाच्यम्, निर्दोषस्य कर्तुः क्वचित्सिद्धौ सत्यामेव

दोषवत्कर्तृकत्वस्य सकर्तृकत्वाऽव्यापकत्वमपि सम्भवेत्, तदेव त्वद्यापि न क्वचित्सिद्ध, सर्वस्य कर्तुर्दोषवत एव दृष्टिगोचरत्वादिति दोषवत्कर्तृकत्वं सकर्तृकत्वव्यापकमेवेति व्यापकधर्मापादनादुक्तलक्षणाया उत्कर्षसमाया जातेरत्राप्राप्तेः, रागद्वेषादिदोषाभावे तत्र सदोषत्वव्याप्यविषमकर्तृत्वमपि न स्यात्, व्यापकाभावे व्याप्याभावस्यावश्यम्भावात्। प्राणिगतविविधकर्मप्रेरित ईश्वरो विषमफलान् प्राणिनः करोति, न स्वेच्छयेति विषमफलकारित्वेऽपि न सदोषत्वप्रसङ्ग इत्यपि न च वाच्यम्, जडस्य कर्मणः प्रेरकत्वाऽयोगात्, न चेश्वरप्रेरितं कर्म ईश्वरस्य प्रेरकमिति वाच्यम्, कर्मेश्वरयोः प्रवर्त्यप्रवर्त्तयितृत्वे इतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गात्, अथातीतकर्मणा प्रेरित ईश्वरो वर्त्तमानं कर्म तत्फलाय प्रेरयतीत्यनादित्वात् प्रेर्यप्रेरकभावस्य नानुपपत्तिरित्यपि नाशङ्कनीयम्, यतोऽतीतकर्मणोऽपि जडत्वान्नेश्वरप्रेरकता, न च तदपीश्वरेण प्रेरितं सदीश्वरं प्रेरयतीत्यपि वाच्यम् उक्तान्योन्याश्रयप्रसङ्गात्। अथ ततोऽप्यतीतकर्मप्रेरितेश्वरप्रेरितं तदेवेश्वरं वर्त्तमाने कर्मणि फलदानाय प्रेरयतीति चेत्, न, मानहीनाया मूलक्षयावहाया अनवस्थायाः प्रसङ्गात्। किञ्चेश्वरस्य कर्मप्रेरितत्वाभ्युपगमे कर्माधीनप्रवृत्तिकत्वं स्यादिति तस्य कर्मपरतन्त्रत्वापत्त्या स्वतन्त्रतैव हीयेत, एवञ्च रथ्यापुरुषवदनीशतैव स्यात्। किञ्चेश्वराभ्युपगमोऽप्यत्र पक्षे न घटते, यतः कर्मैव तत्तत्कालक्षेत्राद्यपेक्षतत्तत्फलप्रदानोन्मुखं विचित्रां त्रिलोकीं करिष्यति। नन्वचेतनं चेतनानधिष्ठितं न क्रियायां प्रवर्त्तत इति नियमात्कर्मप्रेरितेश्वरप्रेरितमेव कर्म विविधकार्यकरणे समर्थं नान्यथेति चेत्, नैवम्, उक्तनियमे प्रमाणाभावात्। यत्तु फलदाने ईश्वरस्य कर्म निमित्तमात्रम्, न प्रेरकमिति नोक्तदोष इति, तदपि न विद्वन्मनोरञ्जकम्, तत्तत्प्राणिभिस्तत्तद्विषयकर्माणि कारयितुरीश्वरस्य रागादिदोषवत्त्वानपायात्, पूर्वकर्मापेक्षया कर्म कारयितृत्वे चोक्ताऽप्रामाणिकाऽनवस्थादोषतादवस्थ्यात्। अपि च न हि कश्चिददोषप्रयुक्तः स्वार्थे परार्थे वा प्रवर्त्तमानो दृश्यते, स्वार्थे प्रवृत्त एव च सर्वो जनः परार्थेऽपि प्रवर्त्तते, तथा च ईश्वरः स्वार्थरागादिमान् प्रवर्त्तकत्वात् मन्मतपुरुषवदित्यनुमानेन रागादिमत्त्वं सिद्ध्यति, तत्सिद्धौ चेश्वरस्याऽनीश्वरत्वप्रसङ्गः। न चोक्तानुमाने कारुणिके व्यभिचार इति वाच्यम्, परदुःखप्रयुक्तस्वदुःखनिवृत्त्यर्थित्वात्तस्य। तथा च कारुणिके स्वदुःखनिवृत्तिरूपस्वार्थसद्भावेन व्यभिचारो नेति भावः। अथोदासीन एवेश्वरः प्रवर्त्तक इति तु व्याघातदोषग्रस्तत्वान्नैव युक्तम्, एतेन क्रीडायै ईश्वरो जगत्सर्जने प्रवर्त्तत इत्यपि निरस्तम्, क्रीडायास्सदोषत्वव्याप्यत्वेन तदर्थं प्रवर्त्तकत्वे तस्य सदोषत्वप्रसङ्गात्, या या क्रीडा सा सा दोषजन्येति व्याप्तावीश्वरक्रीडाभिन्नत्वे सतीति विशेषणदानमप्यद्यापीश्वराऽसिद्ध्याऽसम्भवदुक्तिकम्। क्रीडायां जन्यत्वविशेषणमपि नोचितम्, इतराव्यावर्त्तकत्वात्, तन्निवर्त्याया नित्यलीलाया अद्यापीश्वराऽसिद्धेरसिद्धत्वात्। एतेनेश्वरः करुणयैव प्रवर्त्तत इत्यपि पक्षो निरस्तः, यतः कारुण्यामृतप्रप्लावितस्सोऽनुपमसुखाभिमग्नान् प्राणिनो विदध्यात्, न तु विविधाधि-

ब्याधिदुःखाभिभूतान्, यदभिहितम् " सृजेच्च शुभमेवैकमनुकम्पाप्रयोजितः " इति । केषांचिज्जन्तूनां परमसुखभावत्त्वेन केषाञ्चिद्व्याधिदुःखभावत्त्वेनोत्पादने नियमप्रवृत्तिभ्रमङ्गतः कारुण्य नाममात्रावशेष स्यात् । उक्तञ्च स्याद्वादरत्नाकरे—

" क्षुद्रग्रामे निवासः क्वचिदपि सदने रौद्रदारिद्र्यमुद्रा,
जाया दुर्दर्शकाया कटुरटनपटु पुत्रिकाणां सवित्री ।
दुःस्वामिप्रेष्यभावो भवति भवभृतामत्र येषां घतैतान्,
शम्भुर्दुःखैकदग्धान् सृजति यदि तदा स्यात्कृपा कीदृगस्य ? ॥१॥ " इति

अत एवेश्वरस्यापरम्पारलीलेति तयैव जगत्सर्जने प्रवर्त्तत इत्यपि वार्त्तम्, लीलाया दोषविलासरूपत्वेन दोषाक्रान्तत्व स्याचस्य, रवेर्जगत्प्रकाशने स्वभाववदीशस्य स्वभावादेव जगत्सृष्टौ प्रवृत्तिरित्यपि न विद्वन्मनोरञ्जकम्, यत ईश्वरे स स्वभावः प्रतिनियतदेशकाला द्यधिकरणकप्रतिनियतस्वस्वासाधारणधर्मविशिष्टकार्यजननात्मक एवाभ्युपगन्तव्यः । अन्य थाऽनियतदेशकालकार्योत्पत्तिप्रसङ्गः कथमुद्धरणीयस्स्यात्, तादृक्स्वभावो निचित्रविपाके तत्तत्प्राणिनिविधकर्मण्येवाऽभ्युपगम्यताम् । तथा च चेतनानधिष्ठितेनापि तत्तज्जीवकर्तृकेन कर्मणैव तत्तत्स्वभावबलात्त्रिलोकीकार्यं भविष्यतीति किमीश्वरकल्पनापरिक्लेशेनेति । एतेने-श्वरस्य यथेच्छ जगत्सृष्टौ प्रवृत्तिरित्यपि निरस्तम्, इच्छाया मोहजन्यत्वेनेश्वरे रागादिमत्त्व स्यात् । जगद्विधायकेश्वरनिरसन विस्तरणास्मत्कृततत्त्वार्थविवरणटीकायां विहितमिति तत एव तद्विस्तरार्थिनाऽवलोकनीयम्, ग्रन्थगौरवभीत्या नेहाधिक प्रपञ्च्यत इति, तदत्र लोके रागादिमन्त एव कर्त्तारो दृष्टा इति तादृशस्यैव जगत्कर्तुरीश्वरस्य सिद्धिस्स्यादिति तस्य विपक्षभावनाभ्यासेन रागादिजये सत्येव शासनप्रणेतृत्व सिध्यति, नान्यथेति भवः ससारः तध्धेतुत्वाद्रागादिक जितवन्त इति भवजिना इति सिद्धम् । " भवजिनानाम् "-इत्यत्र भवे जिना भवजिनास्तेषाम्, सुप्तमम्या आधेयरवार्थकत्वेन भवस्थजिनानाम् भवस्थकेवलिनाम्, यद्वा भवे वर्त्तमाना भववर्त्तमानाः, भववर्त्तमानाश्च ते जिना भवजिना इति मध्यमपदलोपिसमासस्तेषामित्यप्यर्थो ज्ञेयः । अथ यद् यस्य कारण तद्विपक्षासेवनेन सर्वथा तन्निवृत्तौ तत्कार्यस्याप्यभावः, यथा निकृतिभावापन्नश्लेष्मायात्मककारणस्य तद्वि पक्षौपधोपचारतः सर्वथा निवृत्तौ तत्कार्यभूतविशिष्टशिरोऽर्त्त्यायभावः तथा भवकारणस्य रागादेस्तद्विपक्षद्वादशस्यापन्नसुविशुद्धाऽध्यात्मभावनातस्सर्वथा निवृत्तौ तत्कार्यभूतस्य भव-स्याभावस्स्यादिति तल्लक्षणमुक्त्यवाप्तौ सत्या सर्वथा रागादिनिवृत्तिलक्षणरागादिजयवता जिनानां शासनप्रणेतृत्वानुपपत्तिः, मुक्त्यवस्थायां जिनानामशरीरत्वेन शासनस्य च शब्दात्मकत्वेन तत्कारणताल्वादिसयोगादेरभावात्, अथ सर्वथा रागादेर्न निवृत्तिरिति मुक्त्यवाप्तेः प्रागेव जिनानां शासनप्रणेतृत्वात्रोक्तदोष इति चेत्, तर्हि रागलेशाश्लिष्टत्वेन

तेषां सर्वथाऽऽप्तत्व नेति तत्प्रणीतशासनस्य नैकान्तिकं प्रामाण्य स्यात्, कपिलादिप्रणीतशासनस्येवेत्याशङ्कयाह सूरिः–"ठाणमणोवमसुहमुवगयाणं" इति। अयम्भावः–घात्यघातिभेदेन कर्म द्विविधम्, तत्राद्यस्य ज्ञानावरणीयादिभेदेन चतुर्विधस्याऽऽत्मीयानन्तज्ञानादिचतुष्टयावारकस्य मध्ये क्षपकश्रेणिमारुह्य शुक्लध्यानस्य—

" सविआरमत्थवंजण-जोगंतरओ तयं पढमसुक्कं।
होइ पुहुत्तविअक्कं, सविआरमरागभावस्स ॥ ८० ॥" इति ॥

ध्यानशतकग्रन्थसत्काशीतितमगाथोक्तलक्षणेन पृथक्त्ववितर्कसविचाराख्याद्यभेदेन प्रायः पूर्वधरनिषेव्येण निश्शेषमोहनीयकर्मणोऽचिन्त्यसामर्थ्यस्य महाशैलोपमस्य क्षये कृते तदनन्तरं तस्य।

" जं पुण सुनिप्पकंपं, निवायसरणप्पईवमिव चित्तं।
उप्पायट्ठिइभंगा-इयाणमेगम्मि पज्जाए ॥ ८१ ॥
अवियारमत्थवंजण-जोगंतरओ तयं बिइयसुक्कं।
पुव्वगयसुआलंबण-मेगत्तविअक्कमवियारं ॥ ८२ ॥"

इत्युक्तलक्षणेनैकत्ववितर्काऽविचाराख्यद्वितीयभेदेनाकषायछद्मस्थवीतरागगुणस्थानभूमिकेन क्षीणमोहगुणस्थानान्त्यसमये ज्ञानावरणादिघातिकर्मत्रये युगपत्क्षपिते सति तदनन्तरं

" सुक्कज्झाणाइ दुगवोलीणस्स ततियमपत्तस्स एताए।
झाणंतरियाए वट्टमाणस्स केवलनाणं समुप्पज्जइ ॥ १ ॥"

इति सिद्धान्तवचनाद् ध्यानान्तरकाले सयोगिगुणस्थानाद्यसमयेऽनन्तज्ञानादिचतुष्टयावाप्तावपि द्वितीयभेदरूपाघातिकर्मणो भवोपग्राहिणो यावत्स्थितिस्तावन्न शरीरनिवृत्तिः, अत एव न मुक्तिः, जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमुत्कृष्टतो देशोना पूर्वकोटिं यावत् केवलिभगवतां भव्यजनप्रतिबोधनार्थमस्खलत्प्रवृत्तिभावात्, ततः परं।

" निव्वाणगमणकाले केवलिणो दरनिरुद्धजोगस्स।
सुहुमकिरियाऽनिअट्टिं, तइयं तणुकायकिरियस्स ॥ ८३ ॥" इति

इति ध्यानशतकवचनात्त्रयोदशगुणस्थानकान्त्यान्तर्मुहूर्तकाले मुक्तिसाक्षात्कारणस्य शुक्लध्यानस्य सूक्ष्मक्रियाऽनिवृत्त्याख्यतृतीयभेदे तेन भगवता ध्याते सति तदनन्तरं

" हस्सक्खराइं मज्झेण जेण कालेण पंच भण्णंति।
अत्थइ सेलेसिगओ तत्तियमेत्तं तओ कालं ॥"

विशेषावश्यकभाष्यवचनात् अ इ उ ऋ लृ पंचह्रस्वस्वरकालमानचतुर्दशाऽयोगिगुणस्थानके

तस्सेव य सेलेसिं, गयस्स सेलेसु व निप्पकंपस्स ।
वुच्छिन्नकिरियमप्पडि-वाइ झाणं परमसुक्कं ॥ ८४ ॥

इति ध्यानशतकग्रन्थवचनात् "वुच्छिन्नकिरियमप्पडिवाइ सेलेसिकालम्मि"। ३०६९। इति विशेषावश्यकभाष्यवचनाच्च सर्वयोगनिरोधादूर्ध्वं शैलेशीकाले व्युपरतक्रियाऽप्रतिपात्याख्यचतुर्थभेदेनाशेषभवद्रुखविटपिदावानलकल्पेनाशेषभवोपग्राहिकर्मक्षये कृते सत्येव तस्य भगवतो मुक्तौ गमनमिति भवोपग्राहिकर्मकार्यभूतशरीरमुखादेर्भवस्थयोगिजिने सद्भावेन न तस्य शासनप्रणेतृत्वानुपपत्तिः, न वा रागादिलेशसद्भावाभावाद्राप्तत्वक्षतिरिति नामुमुख्ये शासनप्रणेतरि जिने अयथार्थवाक्यकारणस्य मिथ्याज्ञानस्य सर्वथैव निवृत्तेस्तत्प्रणीतशासनस्याऽप्रामाण्यमपीति। अवयवार्थस्त्वेवम्-तिष्ठन्ति सकलकर्मक्षयावाप्ताऽनन्तज्ञानसुखरूपाभ्यामिवाऽशुद्धात्मानोऽस्मिन्निति स्थानं लोकाग्रलक्षणं निशिष्टक्षेत्रम्, न विद्यते उपमा इन्द्रियविषयाद्यनपेक्षतया स्वाभाविकात्यन्तिकत्वेन सकलव्याबाधारहितत्वेन च सर्वसुखातिशायित्वाद्यस्य तदनुपमम्, अनुपमं सुखमखण्डानन्दरूपं यस्मिंस्तत् तथा, तत् 'उप' इति कालसामीप्येन गतानाम् प्राप्तानाम् । यद्वा 'उपोढः प्रकर्षेण प्राप्तो रागो येन स उपोढरागः, तेन इत्यर्थक 'उपोढरागेण' इति यद्वाक्यं तद्गतोपशब्दवत् 'उप' इति उपसर्गोऽत्र प्रकर्षवाची, तेन स्थानमनुपमसुखं प्रकर्षेण गतानामिति। यद्यपि वेद्यमानतीर्थकरनामकर्मादिसद्भावेन भवजिनभगवन्तो लोकाग्रलक्षणं विशिष्टस्थानं न समुपागतास्तथापि "पदार्थे प्रयुज्यमानाः शब्दा वतिमन्तरेणापि तमर्थं गमयन्ति" इति न्यायादनुभूयमानतीर्थकृन्नामकर्मलेशसद्भावेऽपि तद्गता इव गता इत्युक्ता, तेषाम्, तेन शासनप्रणेतृत्वं तस्यामवस्थायां तेषामुपपन्नमेव" यद्वा तिष्ठत्यनवस्थाननिबन्धनकर्माभावेन सदाऽवस्थितो भवति स्वात्मा यत्र तत्स्थानम्, व्यवहारनयतो लोकाग्रलक्षणं सिद्धिक्षेत्रं "वत्थु वसइ सहावे सत्ताओ चेयणा य जीवम्मि" इति वचनान्निश्चयनयतः क्षीणकर्मणो जीवस्य यथावस्थितस्वरूपं "इय सिद्धाणं सोक्खं, अणोवमं नत्थि तस्स ओवम्मं" इति सिद्धान्तवचनात्तदनुपममुपमातीतं प्रकर्षेणापुनरावृत्त्या गतानां प्राप्तानामिति । एतेन

"ज्ञानिनो धर्मतीर्थस्य कर्त्तारः परमं पदम् ।
गत्वाऽऽगच्छन्ति भूयोऽपि, भवं तीर्थनिकारतः" ॥१॥ इति

"यदा यदा हि धर्मस्य, ग्लानिर्भवति भारत ।।
अभ्युत्थानमधर्मस्य, तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ १ ॥"

इति च कपाञ्चिन्मतं निरस्तम्, बीजे दग्धे अङ्कुराभाववच्छुक्लध्यानाग्निनाऽखिलकर्मणि दग्धे कर्मरूपकारणाभावेन भवागमनात्मककार्याभावात् । उक्तञ्च—

"न पुणो तस्स पसूई, बीयाभावादिह्कुरस्सेव ।
बीयं च तस्स कम्मं, न य तस्स तयं तओ निच्चो ॥१॥" इति

किञ्चेह तदागमनं रागादिसद्भावे सत्येव भवेत्, नान्यथा, तथा चानुन्मूलितरागादिदोषत्वात्तद्वचसोऽप्रामाण्यमेव स्यात्, अथोन्मूलितसर्वथारागादिदोषो मुक्तात्मेति चेत्, तर्हि कुतः पुनस्तदागमनमिह, कारणीभूतरागाद्यभावेन तत्कार्यागमनानुपपत्तेः। अत एव "मुक्ताः सर्वत्र तिष्ठन्ति, व्योमवत्तापवर्जिताः" इति परकल्पितमतमपि निरस्तम्, यद्देशावच्छिन्नयद्गुणोपलब्धिस्स तत्परिमाणनियतपरिमाणकः, यथा कपालद्वयावच्छिन्नोपलभ्यमानगुणको घटः कपालद्वयपरिमाणनियतपरिमाणकः। शरीरात्मकदेशावच्छेदेनैवानुभूयमानबुद्ध्यादिगुण आत्मेति स तत्परिमाणनियतपरिमाणवानित्यनुमानेन आत्मा स्वकर्मनिरूपितप्रतियोग्यनुयोगिभावसम्बन्धाश्रयकृतशरीरावगाहकनभःप्रदेशमङ्ख्यासमव्याससङ्ख्याकनभःप्रदेशाऽवगाहनाकः स्वशरीरावच्छिन्नभोगवत्त्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा घटः, इत्यनुमानदृढीकृतपर्यवसन्नस्वरूपेणाऽऽत्मनो व्यापकत्वाभावसिद्धिरित्यव्यापकस्य तस्याऽऽवपुष्कबीजकोशबन्धनविनिर्मोकप्रयुक्तोर्ध्वगमनस्वभावैरण्डबीजवद् घनमृत्तिकाद्यलेपसम्बन्धपरित्यागप्रयुक्तजलोपरिगतिस्वभावालाबुवच्च सर्वकर्मसङ्गपरिमुक्तस्योर्ध्वगमनस्वभावत्वेन "जत्तियाइ जीवो ओगाढो तत्तियाए चेव फुसमाणो गच्छइ" इत्यादि सिद्धान्तोक्तप्रकारेण लोकाग्रस्थानगतस्यानवस्थितिकारणकर्माऽभावेन सर्वदा तत्रैवाऽवस्थानादिति। अथवाऽवच्छेदकतासम्बन्धेनाऽऽत्मविशेषगुण प्रति तादात्म्यसम्बन्धेन शरीरस्य कारणत्वेन तदभावाच्च मुक्तौ तद्गुणस्थितिरित्यशेषविशेषगुणात्यन्तोच्छेदलक्षणात्ममुक्त्यभ्युपगन्तृनैयायिकमतनिरासार्थमाह सूरिः "ठाणमणोवमसुहमुवगयाणं" इति। स्थितिः–स्थानस्वरूपप्राप्तिः, तदनुपमसुखम् 'उप' इति सकलकर्मक्षयानन्तरमव्यवधानेन गतानां प्राप्तानाम्, अनेकान्तभावनाजनितनिखिलजगत्तत्त्वविषयककेवलज्ञानोपबृंहितशैलेश्यवस्थाचरमसमयोपजातनिखिलवेदनीयकर्मक्षयाविर्भूतमनन्तसुखस्वभावमात्मनः कथञ्चिदनन्यभूतस्वरूपं प्राप्तानामिति यावत्। यो यो गुणो येन येनाव्रियते तत्नाशे सति स स आविर्भवति, यथा रविप्रकाशगुणो मेघेनावृतस्सर्वथा तन्नाशे सति सर्वांशनिरावृतः प्रकटी भवति तथाऽऽत्मीयानन्तसुखरूपपरमानन्दगुणोऽपि यावन्न मुक्तिस्तावद्वेदनीयकर्मणाऽऽवृतस्वभावस्सर्वांशाखिलवेदनीयकर्मक्षये मुक्तौ सत्यां स्वत एव सर्वांशप्रकाशीभवतीति तत्तु क्षणेव साऽभ्युपगन्तव्या, यतस्स्रक्चन्दनवनितादिभोगोपभोगजन्यव्यावहारिकसुखं प्रत्येवात्मनः सयोगादे' कारणत्वेन मुक्तौ तदभावात्तदभावेऽपि न पारमार्थिकानन्दसुखस्याप्यभावः, तस्य निरावरणात्मभावजन्यत्वात्। न च पश्चादपि तस्य विनाशः, तद्विरोध्युत्तरविशेषगुणाभावेन नाशकहेत्वभावात्। न चैवं तर्हि तस्योत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणं सत्त्वं न स्यादिति वाच्यम्, स्वरूपतो ध्रौव्यम्, प्रतिक्षणभेदेन पूर्वपूर्वक्षणविशिष्टस्य तस्य विनाशः

उत्तरोत्तरसमयोत्पत्त्या तद्विशिष्टस्य तस्य चोत्पत्तिरित्येवमुत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणस्य सत्त्वस्याऽक्षते, "षड्गुणहानिवृद्धिर्या, यथाऽगुरुलघुस्तथा। पर्यायः क्षणभेदाच्च, केवलाख्योऽपि सम्मतः" ॥ १ ॥ इत्युक्तेः। अत्र क्षणभेदात् केवलज्ञानपर्यायोऽपि भिन्न एव प्रदर्शितो यथा तथा स्वस्वरूपतो ध्रुवस्वभावमप्यनन्तसुखं तत्तत्क्षणविशिष्टं भिन्नमेव, विशेषणभेदेन तद्विशिष्टस्यापि कथञ्चिद्भेदादित्युत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणं सत्त्वं तस्योपपन्नमेव। न चात्र विशेषणस्यैव नाशोत्पादाविति वाच्यम्, यतः शिखायां विनष्टायां शिखी विनष्ट इति प्रतीतेरप्यनुभूयमानत्वेन विशिष्टस्यापि तथात्वमभ्युपगन्तव्यम्, अधिकमस्मत्कृतसन्दृब्ध स्याद्वादबिन्दुतोऽवसेयमिति ॥ एतेन दुःखकारणीभूतस्य पापस्येव सुखहेतुपुण्यस्यापि तत्राभावाद् दुःखस्येव सुखस्याप्यभाव एव युक्त इत्यपरेऽपि निरस्ता, व्यावहारिकसुख प्रत्येव पुण्यस्य कारणत्वेन कृत्स्नकर्मक्षयजन्यसिद्धत्वपरिणतिमन्मुक्तात्मनो वैषयिकसुख विलक्षणाया वेदनीयकर्मक्षयजन्यालौकिकनिराबाधमाद्यनन्तसुखपरिणतेर्भावादिति। मुक्तात्मनि घातिकर्मचतुष्कक्षयसमुत्पन्नानन्तज्ञानदर्शनचारित्रवीर्यलक्षणानन्तचतुष्कगुणा अघातिकर्मचतुष्कक्षयनिष्पन्नानन्ताऽक्षयस्थित्यमूर्त्तत्वाव्याबाधसुखाऽगुरुलघुभावलक्षणगुणास्तस्यानवर्णादिप्रतिषेधात्मका अन्येऽपि च गुणा विद्यन्त इत्यात्यन्तिकाशेषविशेषगुणोच्छेद-लक्षणा मुक्तिर्न युक्तियुक्तेति सिद्धम्। एतेन

"यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य, पुनरागमनं कुतः ?॥ १ ॥
अङ्गनाऽऽलिङ्गनाज्जन्यं सुखमेव पुमर्थता।
कण्टकादिव्यथाजन्यं, दुःखं निरय उच्यते ॥ २ ॥

त्याज्यं सुखं विषयसङ्गमजन्म पुंसां, दुःखोपसृष्टमिति मूर्खविचारणैषा।
व्रीहीञ्जिहासति सितोत्तमतण्डुलाढ्यान्, को नाम भोस्तुषकणोपहितान् हितार्थी ॥ ३ ॥

लोकसिद्धो भवेद्राजा, परेशो नाऽपरः स्मृतः।
देहस्य नाशो मुक्तिस्तु, न ज्ञानान्मुक्तिरिष्यते ॥ ४ ॥"

इत्यपि निरस्तम्। वीतरागजन्मादर्शनात् सरागस्यैव जन्म, रागस्य च कारणं पूर्वानुभूतविषयानुचिन्तनम्, पूर्वानुभवश्च जातमात्रस्यास्मिन् जन्मनि न सम्भवतीति तदर्थं पूर्वजन्माभ्युपगन्तव्यम्, तदपि सरागस्यैवेत्येतद्भवीयाद्यस्तन्यपानादिप्रवृत्तिजनकः स्तन्यपानं मदिष्टसाधनमिति मत्कृतिसाध्यमिति च यत्स्मरणं तत्कारणपूर्वमत्रानुभवद्वारा तत्पूर्वजन्म एव तत्पूर्वपूर्वजन्मप्रथमप्रवृत्तिकारणरागानुबन्धानुरोधेन विध्यत्प्रवाहतोऽनाद्येव

जन्म सिध्यति, जन्म च जन्मवन्तं विनाऽनुपपन्नं सत्पूर्वपूर्वोत्तरोत्तरभवानुयायिनमेतद्भवीयाऽऽद्यस्तन्यपानादिप्रवृत्तिजनकतद्विषयस्मृतिपूर्वभवीयतत्समानविषयकानुभवकर्त्तारमात्मानं साधयति । एतद् विवेचयिष्यते चाग्रे । एवञ्चाऽऽत्मनोऽनादित्वे सिद्धे आत्माऽनन्तः भावत्वे सत्यनादित्वात्, यन्नैवं तन्नैवम्, यथा घट इत्यनुमानात्तस्यानन्तत्वमपि सिद्ध्यति, तस्य चानन्तकृत्वश्चतुर्गत्यात्मकभवपरिभ्रमणमन्यथाऽनुपपन्नं सत्तत्कारणतया प्रवाहतोऽनादिकर्म साधयतीत्यनादिकालसम्बद्धाऽऽत्मकर्मणोरनादिकालसम्बद्धमृत्सुवर्णद्रव्ययोरग्निसंयोगेनेव शुक्लध्यानाग्निना सर्वथा पृथग्भावे सति इह शरीरं परित्यज्य स्वकर्मक्षयकृतत्रिभागहीनचरमशरीरपरिमाणमवपरिमाणवत्तया समश्रेण्यैकसमयेनैवोर्ध्वं गतः

" अलोए पडिहया सिद्धा लोयग्गे य पइट्ठिया ।
इह बोंदिं चइत्ताण तत्थ गन्तूण सिज्झइ ॥ १ ॥ "

इति प्रज्ञापनासूत्रवचनात् केवलाकाशास्तिकायरूपालोके गत्यादिसहायकधर्मास्तिकायाभावेन प्रतिस्खलनाल्लोकमूर्द्धनि प्रतिष्ठितो–निरावृतस्वभावमात्राविर्भूताखण्डानन्तचिदानन्दादिस्वरूपमुक्तिमवाप्नोतीति पूर्वोक्तयुक्तिभिर्मिथस्संयुक्तात्मकर्मणोरनादित्वस्य नानाविधमिथ्यात्वादिकारणसञ्जोपनतविचित्रकर्मपरिणतिकृतचतुर्गत्यात्मकसंसारसन्ततात्मपरिभ्रमणस्य च परमशुक्लध्यानादिनाऽऽत्मसम्बद्धाशेषकर्मवियोगलक्षणकर्मक्षये सति कर्मकारणाभावात् संसारपरिभ्रमणात्मकतत्कार्यनिवृत्त्याऽऽत्मनोऽष्टकर्मक्षयजन्यानन्तज्ञानदर्शनाद्यष्टगुणावाप्त्या मुक्तेश्च सिद्धौ "न देहातिरिक्त आत्मेति देहविनाशो मुक्तिः" इति चार्वाकमतं न युक्तमिति सिद्धमित्यलं पल्लवितेन । एतेन

" दीपो यथा निर्वृत्तिमभ्युपेतो, नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चित्, स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥ १ ॥
जीवस्तथा निर्वृत्तिमभ्युपेतो, नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चित्, स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥२॥"

इत्यपि मतमपास्तमवसेयम् । ग्रन्थगौरवभीत्याऽत्र यन्नोक्तं तद् बृहट्टीकातोऽवबोद्धव्यमिति प्रथमकारिकार्थः परिपूर्त्तिं प्राप्त इति ।

" यदत्र न ग्रन्थमहत्त्वभीत्यो,—क्तं तद् यदग्रेऽप्यधिकं न वक्ष्ये ।
तट्टीकयाऽर्य्याभयदेवसूरे–र्जानन्तु विस्तारुचीद्धप्रज्ञाः ॥ १ ॥ "

अथ भगवान् जगत्त्रयजयिमहामोहमल्लस्य सर्वथा पराजयं तन्नान्तरीयकज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायाख्यघनघातिकर्मत्रयपराजयञ्चाकृत्वा नाशेषविश्वत्रयगोचरकेवलज्ञानलक्षणविशिष्टज्ञानानन्त्यमवाप्नोति, न च तदुत्पत्तिं विना तस्य कमनीयाशोकाद्यष्टमहाप्रातिहार्य-

सपर्यामकृत्रिमानुपमभक्तिभरनिर्भरसुरासुरनिकायनायका अनेन भगवता सनाथा भवामेति सन्मतिमाविभ्राणा विरचयन्ति, न च शचीपत्यादिकृतपूजाविरहे स स्याद्वाददेशनागिरः प्रयुङ्क्ते इति हेतुहेतुमद्भावोत्पद्यमानगाथान्तर्गतजिनादितत्पदसंसूचितापायापगमातिशयज्ञानातिशयपूजातिशयवागतिशयचतुष्करूपस्वार्थपरार्थसम्पत्तिशालिभगवत्प्रणीतश्रुतमयेष्टदेवतासोल्लासस्तुतिविघ्नस्तसमाप्तिप्रतिबन्धकदुरितविशेषस्य सरिस्सर्वेऽपि व्यवहाराः प्रयोजनव्याप्ताः, नान्तरेण प्रयोजनं प्रवृत्तिनिवृत्ती, पश्चादयोऽप्यमिमन्धाय प्रयोजनं प्रवर्त्तन्ते निवर्त्तन्ते चेति श्रोतुः प्रस्तूयमाने शास्त्रे निर्विघ्नप्रवृत्त्यर्थं तत् सप्रयोजनमादौ वाच्यम्, तदुक्तं मीमांसाश्लोकवार्त्तिके "अनिर्दिष्टफलं सर्वं, न प्रेक्षापूर्वकारिभिः। शास्त्रमाद्रियते तेन, वाच्यमग्रे प्रयोजनम् ॥ १ ॥ सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य, कर्मणो वापि कस्यचित्। यावत्प्रयोजनं नोक्तं, तावत्तत्केन गृह्यते ॥ २ ॥" इति। तदपि चेदनभिमतप्रयोजनेन सप्रयोजनं वक्त्रा विरच्येत तदा जननीपाणिपीडनोपदेशवचनं चतुराणामतितरामनादरस्स्यात्, प्रवृत्तिकारणीभूतस्य बलवदनिष्टाननुबन्धित्वविशिष्टेष्टसाधनताज्ञानस्याभावादिति तत्राभिमतं प्रयोजनं वाच्यम्, तदपि शक्योपायं न चेत् प्रदर्श्येत तदा विषादिमर्दविस्नशामकतक्षकनागराजशिरोरत्नादानोपदेशवत् प्रेक्षावद्भिस्तदुपदर्शकं शास्त्रमनादेयं स्यात्, प्रयोजने सत्यपि तत्साधनानुष्ठानं मत्कृतिसाध्यमित्याकारकस्य प्रवृत्तिकारणकृतिसाध्यत्वप्रकारकज्ञानस्याभावादित्यनुगुणोपायं प्रयोजनं वाच्यम्, येन यद् दृष्ट्वा तत्प्राप्त्याशावशीकृतस्वान्तप्रेक्षावद्भिः प्रवृत्तिस्सादराऽऽदृता शीघ्रं स्यात्, अन्यथापि च।

" शास्त्रस्य हि फले ज्ञाते, तत्प्राप्त्याऽऽशावशीकृताः।
प्रेक्षावन्तः प्रवर्त्तन्ते, तेन वाच्यं प्रयोजनम् ॥ १ ॥ " इति ॥

एवं शास्त्रमभिधेयशून्यं चेत्, तदोन्मत्तादिवाक्यवदानर्थक्यं सम्भावयन् प्रेक्षावान् श्रोतुं न प्रवर्त्ततापीत्यभिधेयं सुखोपादेयमस्यावश्यं वाच्यम्। एवं शास्त्रं सम्बन्धरहितं चेत्तदापि—

" जरद्गवः कम्बलपादुकाभ्यां, द्वारि स्थितो गायति मङ्गलानि।
तं ब्राह्मणी पृच्छति पुत्रकामा, राजोरुमाया लशुनस्य कोऽर्थः? ॥१॥ "

इत्यादिनिराकाङ्क्षवाक्यवत् तथाऽसम्बद्धदशदाडिमादिवाक्यवत्प्रेक्षाकारिणामवज्ञास्पदं स्यादित्यादौ सम्बन्धोऽप्यमङ्गतिदूरीकरणार्थं वाच्यः, एवमजिज्ञासिताभिधेयकत्वेनानधिकारिकं चेत्तदा प्रेक्षावद्भिर्नाद्रियेत, प्रेक्षावत्त्वक्षतेरित्यस्य शास्त्रस्य कोऽधिकारीत्यपि वाच्यम्, यदन्यथापि—

" विषयश्चाधिकारी च, सम्बन्धश्च प्रयोजनम्।
विनानुबन्धं ग्रन्थादौ, मङ्गलं नैव शस्यते ॥ १ ॥ " इति ॥

तथा च शास्त्रीयश्रोतृप्रवृत्तिप्रयोजकज्ञानविषयीभूतप्रयोजनाभिधेयसम्बन्धाधिकारीत्येतत्अनुबन्धचतुष्टयमस्मिन् प्रकरणेऽस्ति न वेति शङ्काशङ्कुमुद्धर्तुकामस्तत्प्रदर्शनप्रवणां कृत्स्नशास्त्रार्थसङ्ग्राहिकामादिवाक्यरूपां गाथामाह—

" समयपरमत्थवित्थर-विहाडजणपज्जुवासणसयण्णो ।
आगममलारहियओ, जह होइ तमत्थमुन्नेस्स ॥ २ ॥ "

अत्र " आगममलारहृदयः" इत्येतच्छन्दग्राह्यस्यागमार्थप्रतिपत्त्यसमर्थहृदयस्यैदयुगीना स्वल्पप्रज्ञजनस्य प्रसिद्धत्वात्तमुद्दिश्यादग्धदहनन्यायेनाप्राप्त समयपरमार्थविस्तरविहाटजनपर्युपासनसकर्णो यथा भवति तमर्थमुन्नेष्ये इत्येतद्विधीयते । समयस्यार्हदागमस्य प्रमाणान्तराबाधितत्वेन यथार्थतया तत्तद्दर्शनान्तरोक्तार्थापेक्षया परम उत्कृष्टो योऽर्थस्तस्य यो विस्तरो रचनाविशेषः तस्य विहाटः श्रोतृबुद्धिग्राह्यार्थप्रकाशको यो जनश्चतुर्दशपूर्वविदादिलोकः तस्य पर्युपासन सेवाजनिततद्व्याख्यानं तत्र सकर्णः तद्व्याख्यातार्थयथार्थावधारणसमर्थो यथा भवति तथा तमर्थमुन्नेष्ये लेशतः प्रतिपादयिष्ये इत्युक्तनिधेयस्य सङ्क्षेपार्थः । पदार्थस्तूच्यते " आगममलारहियओ " इति–आगममलारहृदय', तत्राविच्छिन्नसद्गुरुपारम्पर्येण शामनाद्वारेणागच्छतीत्यागमः, यद्वा आ समन्ताद् गम्यन्ते ज्ञायन्ते जीवादयः पदार्था अनेनेत्यागमः, शास्त्रम्, आङ् पूर्वकाद् गम् धातो' " गमश्च " ३–२–४७ इति पाणिनीयसूत्रेण खच्प्रत्यये आगमशब्दनिष्पत्तिः । मलमिव आरा प्राजनकविभागो यस्याऽसौ मलारः, गौर्गली, आगमे तद्वत् कुण्ठमागमार्थप्रतिपत्त्यसमर्थं हृदय यस्य स तथा, अकृत्रिमपरमभक्तिबहुमानप्रसन्नसुगुरुप्रदीयमानागमप्रतिपाद्यगम्भीरार्थग्रहणानुकूलप्रज्ञाविहीनत्वेनातिमन्दधीरिति यावत् । " समयपरमत्थवित्थरविहाडजणपज्जुवासणसयण्णो " इति, समयपरमार्थविस्तरविहाटजनपर्युपासनसकर्णः, सम्यक् प्रमाणान्तराऽविसंवादित्वेनैयन्ते निश्चीयन्तेऽर्था अनेनेति समयः, यद्वा सम्यक् अवैपरीत्येनाऽयन्ते परिच्छिद्यन्ते जीवादयोऽर्था अनेनेति करणप्रत्यये समय' । सम्यक् याथार्थ्येनायन्ति अयन्ते वा जानन्त्यर्थान् अनेनेति वा समयः, अथवा सम्यक् अयते परिच्छिनत्ति जीवाद्यर्थान् यस्स समय', सम्यगयन्ति गच्छन्ति जीवादयोऽर्थास्स्वस्वरूपे प्रतिष्ठां प्राप्नुवन्त्यस्मिन्निति वा समयः, अर्हन्मतानुसारि शास्त्रम् । परमः प्रमाणान्तराबाधितप्रमाणगोचरयथार्थस्वरूपः, अर्यते परिच्छिद्यते ज्ञानविषयीक्रियत इत्यर्थः । परमश्चासावर्थश्च परमार्थः, प्रमाणान्तराबाधिततया वास्तविकोऽर्थ , समयस्य परमार्थः समयपरमार्थ', तस्य विस्तरो रचनाविशेष , विस्तीर्यत इति विस्तरः, "स्तृञ्" आच्छादने क्र्यादिको धातुः । ततः " ऋदोरप् " । ३ । ३ । ५६ । इति सूत्रेणाप्प्रत्यय' । नन्वर्थस्य विस्तरणमित्यर्थे शब्दसम्बन्धिन' प्रथनस्याभावात् अर्थविस्तार इत्येव गृहीतत्वात् " विप्रात् स्तृणातेर्घञ् स्यादशब्दविषये प्रथने इत्यर्थकस्य " प्रथने

यावशब्दे" । ३ । ३ । २३ । इति पाणिनीयसूत्रस्य प्राप्तेः घञ्प्रत्ययान्तविस्तारशब्दस्यैव प्रयोक्तुमुचिततया नाऽप्प्रत्ययान्तस्य विस्तरशब्दस्य प्रयोगस्समीचीन इति चेत्, मैवम्, यतश्शब्दार्थयोरभेदपक्षं समाश्रित्य विस्तरशब्दप्रयोगो विहितः, भेदपक्षेऽपि शब्दार्थयोः पारमार्थिकस्सम्बन्धोऽस्तीति प्रतिपादयितुमेवाभेदविवक्षामाश्रित्यार्थविस्तारेऽपि शब्द विस्तरत्व समारोप्य घञोऽप्राप्तिं सम्पाद्याबन्तस्यैव प्रयोगः कृत इति, तस्य विहाट इति विशेषेण हाटयति दीपयति श्रोतृबुद्धौ प्रकाशमानानर्थान् प्रकाशयतीति विहाटः, विपूर्वात् हट्धातोर्दीपनार्थकात् घञ्प्रत्यय. "हलश्च" ३ । ३ । १२१ । इति पाणिनीयसूत्रेण, स चासौ जनश्च चतुर्दशपूर्वविदादिश्रुतस्थविरलोको विहाटजन, तस्य पर्युपासनम् परित उपास्तिरिति पर्युपासनम्, सेवा, आस् उपवेशने इति धातोः पर्युपारमकोपसर्गद्वयवशतः सेवार्थे वर्त्तमानाद् भावार्थे ल्युट् प्रत्यय' । पर्युपासनपदनात्र कारणे कार्योपचारात् सेवाजनितव्याख्यान लक्षणया बोध्यम्, कारणीभूतसेवासम्पादनेन चतुर्दशविदादिसकाशात् तदीयव्याख्यानप्रवर्तनस्य कारयितुं शक्यत्वात् । तत्र विहाटजनव्याख्याने सहकर्णाभ्यां वर्त्तत इति सकर्ण त्रिकरणयोगसोल्लासश्रवणैकमात्रधानीकृतकर्णव्यापार' तद्व्याख्यातार्थसुखग्रहण धारणनिश्चयादिकरणपटुमन्दबुद्धिरपि "जह होइ तमत्थमुवेस्स" यथा इति येन प्रकारेण भवति त तथाभूतमर्थमुपेष्ये लेशत' प्रतिपादयिष्ये । यद्वा "उत्" उपसर्ग उत्कृष्टार्थद्योतक इत्युत्कृष्टतया नेष्ये प्रापयिष्ये, स्वप्रतिपादनमहिम्ना तमर्थं श्रोतृजनबुद्धिविषयीकरणद्वारा तदीयहृदयगम करिष्ये । प्रतिपादयित्रा विदुषा प्रतिपादितोऽप्यर्थो यदि श्रोतृजनबुद्धौ नावतरति तदा प्रतिपादयितुरेव जाड्यमनुगम्यते, "वक्तुरेव हि तज्जाड्य, यत. श्रोता न बुध्यते" इति न्यायात्, अतश्शास्त्रीयदिव्यचक्षुस्सुगुरुनिरस्तीमकृपासुधाश्रुतसमुद्रान्तर्निमग्न ताऽवाप्ताऽनर्घगम्भीरातिसूक्ष्माऽनल्पतत्त्वरत्नसुस्पष्टीकरणप्रकारेण अतिकुण्ठितबुद्धयोऽपि श्रोतृजना यमर्थमर्हच्छासनपरमरहस्यभूत श्रुत्वा मतात्पर्य विभाव्य विनिश्चित्य च द्रव्यानुयोगविषयकागमाऽतिगहनसूक्ष्मतरानप्यर्थान् सुखेन ग्रहीतु धारयितु निश्चेतुमतिपटुप्रज्ञा स्त रसकलशास्त्रेषु प्रामाण्याप्रामाण्यविवेककर्त्तारश्च भवन्ति समर्थमनेन प्रकरणेनाहमपि प्रतिपादयिष्ये इति भाव' । अथाभिधेयसम्बन्धयोस्सामर्थ्यादूह्यमानत्वेन प्रयोजनार्थितयैव शास्त्रश्रवणादौ श्रोतृजनस्य प्रवृत्तेः प्राधान्येन प्रवृत्त्यङ्गभूत प्रयोजनमेव मुख्यवृत्त्या प्रतिपादयितुमुपन्यस्तयाऽनया गाथया तद् यथा व्यञ्जित तथोच्यते, तत्र प्रयोजन द्वेधा कर्तुश्श्रोतुश्च, पुनर्द्विविधम् अनन्तर मान्तर च । तत्र कर्तुरनन्तर प्रयोजन आगममलाच्छदयस्समयपरमार्थविस्तरविहाटजनपर्युपासनसकर्णो यथा भवति तथार्थव्युत्पादन गाथयैव साक्षान्निर्दिष्टम् । श्रोतुस्त्वेतत्प्रकरणार्थप्रतिपत्तिस्तदन्तर्गततया प्रतीयते, सान्तरप्रयोजनन्तु द्वेधा प्रधानम प्रधानञ्च, तत्राप्रधान कर्तुस्सत्त्वानुग्रहख्यात्यादिकम्, प्रधानन्तु "सर्वज्ञोक्तोपदेशेन यः सत्त्वानामनुग्रहम् । करोति दुःखतप्ताना, स प्राप्नोत्यचिराच्छिवम्" ॥ १॥ इत्युक्तेः परम

पदप्राप्तिरूपमवसेयम् । वीतरागशासनतत्त्वामृतरसपायित्वेन सञ्जातः परानुग्रहैकलीनचित्तानां तस्याऽवश्यम्भावात्, यतो न हि शास्त्रपरमरहस्यवेदिनस्साक्षात्परम्परया वा निःश्रेयसार्थं न भवति तत्प्रतिपादनायोत्सहन्ते, प्राज्ञत्वहानेः, श्रोतुस्त्वप्रधान हेयोपादेयोपेक्षणीयेष्वर्थेषु हानोपादानोपेक्षालक्षणम् । प्रधानन्तु समारकारागृहबन्धनकारणीभूत निखिल हेयार्थतत्त्व ज्ञपरिज्ञया हेयत्वेन विज्ञाय तस्य त्रिकरणयोगतः प्रत्याख्यानपरिज्ञया प्रत्याख्यानेन प्रत्याख्याय च मुक्त्येककारणीभूत निश्शेषोपादेयतत्त्वञ्च ग्रहणबुद्धया यथार्थभावेन गृहीत्वा उपेक्षणीयार्थश्च सर्वं कृतपूजनस्तुत्यादिकृतनिन्दाताडनादिजनोपरि रागद्वेषाऽकरणलक्षणमाध्यस्थ्यबुद्धयोपेक्ष्य च सङ्गृहीतसम्यग्ज्ञानक्रियात्मकमन्मार्गस्य सम्यगाराधनां कृत्वा तदुत्तरोत्तरोत्तमोत्तमभवसुदृढतदभ्यासमात्मीभावेनाविकलकारणसामग्र्यधाप्या मुक्तिलक्षण बोध्यम्, उक्तञ्च—

" सम्यग्भावपरिज्ञाना-द्विरक्ता भवतो जनाः ।
क्रियाऽऽसक्ता ह्यविघ्नेन, गच्छन्ति परमां गतिम् " ॥ १ ॥ इति ।

तच्च सर्वेषां बुद्धिमतामविगानेनाभीष्टमनुगुणोपायश्चेति निष्प्रयोजनत्वानभिमतप्रयोजनत्वाशङ्के सुतरामेव व्युदस्ते । अभिधेयसम्बन्धौ तु सामर्थ्याद्गम्येते, तथाहि—

आगममलारहृदयनिमग्नमयपरमार्थविस्तरविहाटजनपर्युपासनसकर्णताप्रयोजकद्रव्यानुयोगविषय एतत्प्रकरणप्रतिपाद्योऽर्थोऽभिधेय , अनेनाभिधेयशून्यत्वारेका निरस्ता, अमुष्य चाभिधेयस्य स्वज्ञानद्वाराऽभ्युदयनिःश्रेयसोपयोगित्वादवश्य मोक्षार्थिनोपादेयतयाऽनुपादेयत्वाशङ्का दूरत एव निरस्ता, सम्बन्धस्त्वभिधेयेन सहास्य शास्त्रस्य वाच्यवाचकभाव लक्षणोऽनुक्तोऽपि श्रूयमाणतत्तच्छब्दवाच्यतत्तदर्थविषयकशाब्दबोधान्यथानुपपत्तिबलादेव गम्यते । सम्मतितर्कप्रकरणमुपायः, तदर्थज्ञानमुपेयः, स च प्रयोजनाभिधानादेवाभिहित इत्युपायोपेयभावसम्बन्धोऽप्यत्र ज्ञेयः । एतत्प्रकरणोक्तार्थसन्दोहोऽपि न स्वकपोलकल्पनाशिल्पिनिर्मितः, किन्तु चतुर्दशपूर्वनिर्द्गणधरश्रीगौतमस्वाम्यादिगुरुपरम्पराऽऽयात इति गुरुपर्वक्रमसम्बन्धोऽपि, एतत्प्रकरणवाच्यार्थतद्विषयकज्ञानयोर्विषयविषयिभावसम्बन्धोऽपि चात्रोह्य इति सम्बन्धरहितत्वाशङ्काऽनुत्थानोपहतैवेति । अस्याध्ययनेऽधिकारी चैतत्प्रकरणाभिहितद्रव्यानुयोगतत्त्वजिज्ञासुरुक्तप्रयोजनकामश्चेत्यनधिकारित्वाशङ्काऽपि दूरापास्ता, तस्मादेतत्प्रकरणप्रतिपाद्यद्रव्यानुयोगतत्त्वचिचैकाग्र्यपुरस्सरश्रवणमनननिदिध्यासनक्रमेण स्वसमयपरसमयपयथार्थाऽयथार्थविवेचने समुद्दीप्तप्रज्ञानां तत्रार्पितयोगानां पुंसां सम्यग्दर्शनं शुद्धं भवति, निक्षेपप्रमाणनयसप्तभङ्ग्यादिप्रतिपाद्यानेकान्ततत्त्वज्ञानं च यथार्थं विशिष्टतमं भवति, तेन च चरणकरणयोस्सार विदित्वा चारित्रपरिणतिश्च विशुद्धा भवतीत्येवं विशिष्टफलोत्पादकसम्यग्मतिविधाय्यनल्पसत्तर्कगर्भतया यथार्थोऽभिधानं सम्मतितर्काख्यं प्रकरणं

मादरणीयमेव प्रेक्षावद्भिः विषयाधिकारिसम्बन्धप्रयोजनात्मकानुबन्धचतुष्टयशालित्वात्, यच्चैवं तच्चैवं, यथोन्मत्तवाक्यमिति । तत्रानुबन्धत्वं नाम प्रवृत्तिजनकज्ञानजनकज्ञानविषयत्वं प्रवृत्तिप्रयोजकज्ञानविषयत्वं वा, तत्सङ्गमनञ्चैवम्–प्रवृत्तिरत्र शास्त्राध्ययनविषयिका, तज्जनकज्ञानमिदं शास्त्राध्ययनं मदिष्टसाधनमित्याकारकं ज्ञानं मत्कृतिसाध्यमित्याकारकं ज्ञानञ्च, तत्र विशिष्टबुद्धौ विशेषणज्ञानं कारणमिति नियमेन तत्र विशेषणीभूतस्य मदित्यस्येष्टेत्यस्य च ज्ञाने सत्येव भवतीति तज्जनकज्ञानमस्य शास्त्रस्याध्ययनेऽहमधिकारीति ज्ञानम्, एतच्छास्त्राध्ययनस्यैतच्छास्त्रार्थज्ञानं साक्षात् मोक्षश्च परम्परया फलमितीष्टज्ञानञ्च, तद्विषयत्वमधिकारिणि प्रयोजने च वर्त्तते, अस्य शास्त्रस्य द्रव्यानुयोगविषयप्रतिपादनपरत्वात्तदभिधेयस्य सामान्यतो ज्ञाने सत्येवेदं शास्त्रं मत्कृतिसाध्यमिति ज्ञानं भवति, तथा शास्त्रस्याभिधेयेन सह प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावसम्बन्धस्य ज्ञाने सत्येवेदं शास्त्रं मदिष्टसाधनमिति ज्ञानं सम्भवतीति प्रवृत्तिजनककृतिसाध्यत्वप्रकारकप्रकृतशास्त्रविशेष्यकज्ञानजनकमभिधेयज्ञानं प्रवृत्तिजनकेष्टसाधनत्वप्रकारकप्रकृतशास्त्रविशेष्यकज्ञानजनकञ्च प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावसम्बन्धज्ञानम्, एवं प्रयोजनेन तत्त्वज्ञानेन सहास्य शास्त्रस्य जन्यजनकभावसम्बन्धज्ञानञ्च, तद्विषयत्वमभिधेये सम्बन्धे च वर्त्तत इति । अत्राक्षेपपरिहारौ ग्रन्थगौरवभियाऽनुक्तौ बृहट्टीकातोऽन्वेष्यौ, इति द्वितीयकारिकार्थः परिपूर्णभाव नीत इति ॥ २ ॥

अथ भेदप्रभेदविशिष्टमूलभेदोपेतं नयस्वरूपं सूक्ष्मेक्षिकया यावन्नावगच्छति तावत्तस्य पुंसो नयविषयकसमीक्षाया अभावेनाविचारितरमणीयतयाऽयुक्तं युक्तं युक्तमप्ययुक्तं प्रतिभासेत, एवञ्चार्थानां युक्तायुक्तत्वविभागोऽपि प्रमाणगोचरचारी न स्यात्, अन्यथा प्रतिपत्तेः, तदेवाह भाष्यसुधाम्भोधिः–" जस्स जो न सम्मिकस्सइ, निक्खेवनयप्पमाणओ विहिणा । तस्साऽजुत्तं जुत्तं जुत्तमजुत्तं व पडिहाइ ॥ २२७३ ॥" इति । एवं " दुर्दान्तच्छेदतो नांही दूषयद्विपरूपकः " इति न्यायात् स्याद्वादप्रमाणमध्यात्पदस्थानीयर्जुसूत्रनयस्यैकान्तस्वायत्तादिदुष्टाश्व बहुव्यवहारोच्छेदकं विषकण्टककल्पनं न्यायनयेनादिपुंसोऽप्यबाधकेन यदि तत्तन्नयविधिज्ञो न स्यात्तदा कथं निराकुर्यात्, किञ्च जैनागमेऽपि यदज्ञानद्वेषादिदोषकलुषितेन केनापि जमाल्यादिनेव दोषबुद्ध्याऽनन्तांशात्मकस्य वस्तुन एकांशमन्यथा परिगृहीतं तदपि विशेषतो नयज्ञानं विना नयोक्तिभिर्यथार्थतया कथं स्थापयेत् । एवं

" नत्थि नयेहिं विहूणं सुत्तं, अत्थो य जिणमए किंचि ।
आसज्ज उ सोयारं नए, नयविसारओ बूया ॥ २२७७ ॥ "

इति भाष्योक्ते दृष्टिवादे कालिकश्रुते च एतत्सूत्रमेतन्नयापेक्षया एतत्सूत्रञ्चैतन्नयाऽपेक्षया अयमर्थ एतन्नयापेक्षया अयमर्थश्चैतन्नयापेक्षयेत्यपि तत्तन्नयज्ञानं विना कथं जानी-

पात् । कालिकश्रुते यद्यपि मतिमतां मतिमान्द्यं दृष्ट्वा पश्चात्सर्वनयविचारनिषेधः कृतस्तथा प्युत्तमप्रज्ञाशालिनं व्युत्पत्तिमिच्छन्तं नयमतपरिणामनामममुं श्रोतारं पुनराश्रित्य समनुज्ञा तमाद्यनयद्वयं शेषान् वा नयान् तद्वक्तव्यप्रश्नो न स्यात्तदा कथं सूत्रादिरयेवं मर्ममूलं नयज्ञा नमिति शिष्याणां मूलनयतद्विकल्पनयव्युत्पादनार्थं परमकारुणिकस्सूरिस्तृतीयां गाथामाह—

यद्वा अतिकुण्ठप्रज्ञस्याप्यन्तेवासिनोऽशेषश्रुततत्त्वार्थसङ्घटितगम्भीरार्थयथार्थप्रतिपत्ति शालिचतुर्दशपूर्वविदादिव्याख्यातार्थाध्ययनयोग्यतासम्पादनार्थं प्रकरणारम्भो विहितस्सूरिणा, तादृशी योग्यता च सामान्यविशेषात्मकार्थोऽवगाहिमूलभूतद्रव्यार्थिकनयपर्यायार्थिक नयद्वयतद्विकल्परूपसङ्ग्रहाद्यृजुसूत्रादिनयपरिज्ञाने सत्येव सम्पद्यत इति तस्य विनेयस्य तत्कारयितुकामः सूरिरिमां गाथामाह—

" तित्थयरवयणसंगह–विसेसपत्थारमूलवागरणी ।
दव्वट्ठिओ य पज्जव–णओ य सेसा वियप्पा सिं ॥ ३ ॥"

'तित्थयरवयणसंगह–विसेसपत्थारमूलवागरणी' तीर्थकरवचनसङ्ग्रहविशेषप्रस्तार-मूलव्याकरणी–तीर्थकरस्य वचनं तीर्थकरवचनं तस्य सङ्ग्रहविशेषौ सामान्यविशेषौ द्रव्य पर्यायाख्यौ, तयोः प्रस्तारः सङ्ग्रहविशेषप्रस्तारः, तस्य मूलव्याकरणी आद्यवक्तारौ ज्ञातारौ वा, स क इत्याशङ्कायामाह—"दव्वट्ठिओ य पज्जवणओ य" इति, द्रव्यास्तिकश्च पर्यवनयश्च, सामान्यप्रस्तारस्य सङ्ग्रहादिरूपस्य मूलव्याकरणी द्रव्यास्तिकनयः, विशेषप्रस्तारस्यर्जुसूत्रादिरूपस्य मूलव्याकरणी पर्यायास्तिकनयः, एतद्ग्रन्थकारमते सामान्यग्राहिणो नैगमस्य सङ्ग्रहे विशेषग्राहिणस्तस्य व्यवहारनयेऽन्तर्भावात् सङ्ग्रहव्यवहाराख्यौ द्वौ भेदौ ऋजुसूत्रशब्दसमभिरूढैवम्भूताख्याश्चत्वारो भेदास्तु मूलभेदयोर्द्रव्यास्तिकपर्यायास्तिकनय योरिति प्रतिपादनायाह—" सेसा वियप्पा सिं " शेषा विकल्पा अनयोः, द्रव्यास्तिक नयस्य द्वौ भेदौ पर्यायास्तिकनयस्य तु चत्वारो भेदा इति संक्षिप्तार्थः । विस्तृतार्थस्त्वेवम्–तीर्यते भव्यसत्त्वैर्भवोदधिरनेन अस्मात् अस्मिन्निति वा तीर्थम् द्वादशाङ्गम् , यद्वा तरन्ति भव्याङ्गिनो येन संसारसागरं तत्तीर्थम् , " तित्थं भंते ! तित्थं, तित्थयरे तित्थं ? गोयमा ! अरिहा ताव नियमा तित्थकरे, तित्थे पुण चाउवण्णे समणसंघे पढम गणहरे वा " इति सिद्धान्तोक्तेर्गुणगुणिनोरभेदात् सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रपरिणामात्मकश्च तुर्विधः संघः प्रथमगणधरो वा, तत्कुर्वन्ति तत्करणशीला वा तीर्थकराः । ननु प्रेक्षावतां प्रवृत्तिरभिमतप्रयोजनवत्तया व्याप्तेति किं प्रयोजनमुद्दिश्य ते तीर्थकरणे प्रवर्त्तन्ते ? इति चेत् , न किमपि, कृतकृत्यत्वेनाऽनीहप्रवृत्तिकारित्वाचेषाम् , सूर्यस्येव जगत्प्रकाशने, यथा दिनमणिस्स्वभावत एव तमिस्राव्याप्ततमोभरविनाशकं जगदुद्योतकरमुन्निद्रदृष्टिजनानन्दप्रदं प्रकाशं करोति तथा शासनमणिभगवन्तोऽपि जगज्जन्तुहृद्व्याप्तमिथ्यात्वादिघनतमोऽन्धकार-

विनाशकं विश्वविश्वभावोद्योतकारि विवेकादिभावचक्षुष्मदपूर्वानन्दप्रदमनुपकार्योपकारानपेक्षं भावतीर्थं कुर्वन्ति, चिकीर्षाजन्यप्रवृत्तिं प्रत्येवाभिमतप्रयोजनमुद्देश्यतयाऽपेक्षितम्, चिकीर्षायाश्च रागरूपत्वेन वीतरागभगवता तदभावेन तज्जन्यप्रवृत्त्यभावेऽपि स्वभावत एव प्रवृत्तिभावाञ्च तत्र प्रयोजनमपेक्षितम्, न हि स्वभावः पर्यनुयोगार्ह इति। ननु सूर्यस्य स स्वभावोऽनादिससिद्ध इति तद्वत् निश्चयनयेनात्मनोऽनादिससिद्धः चेतनास्वभाव इति तद्वद्वा किं तीर्थप्रवर्त्तनस्वभावस्तथाविधः किं वा कादाचित्क इति चेत्, उच्यते, कर्मोपाधिजन्यत्वेन सोपाधिकत्वान्नानादिरयं, किन्त्वचिन्त्यप्रभावपुण्यप्रकृतिरूपतीर्थकरनामकर्म यदा भण्यते तदैव शक्तिरूपेणोत्पद्यमानत्वेन कादाचित्क इति शक्तिरूपेण विद्यमानस्य स्वभावः

" उदए जस्स सुरासुरनरवइनिवहेहिं पूइओ होइ।
तं तित्थयर नाम, तस्स विवागो हु केवलिणो॥ १॥"

इति वचनादशेषघातिकर्मक्षयाविर्भूतकेवलज्ञानकालभावी यस्तीर्थंकरनामकर्मविपाकोदयस्तेनैवाभिव्यज्यते, अत एव तीर्थकरनामकर्मस्थित्यवधिस्थितिकस्य स्वभावः, "तं च कह वेइज्जइ, अगिलाए धम्मदेसणाए उ" इति वचनात् सद्धर्मदेशनया तीर्थकरनामकर्मविनाशे तद्विनाशभावादिति। एतेन

" तस्मिन् ध्यानसमापन्ने, चिन्तारत्नवदास्थिते।
निस्सरन्ति यथाकामं, कुड्यादिभ्योऽपि देशनाः॥ १॥"

इत्यपि मतमपहस्तितम्, यतो यदि भगवतस्याद्वादधर्मदेशना कुड्यादिभ्यो निस्सृता स्यात्तर्हि आप्तोपदिष्टा न स्यात्, तथात्वे च सा विश्वसनीयाऽपि न स्यात्, रथ्यापुरुषीयदेशनावत्, अस्ति च सा विश्वसनीया, तस्मादाप्तोपदिष्टैवेति प्रसङ्गविपर्ययाभ्यां सिद्ध्यति। उक्तञ्च

" कुड्यादिनिसृतानां तु, न स्यादाप्तोपदिष्टता।
विश्वासश्च न तासु स्यात्, केनेमाः कीर्तिता इति॥ १॥" इति

न च भगवदतिशयप्रभावादेव भीत्यादिनिस्सृतायां भाषायां भगवन्मुखोच्चरितत्वमारोप्यत इति वाच्यम्, "अन्यत्र प्रमित आरोप्यते" इत्यतोऽन्यधर्मिणि भगवन्मुखोच्चरितत्वस्य प्रमित्यभावेन कुड्यादिनिस्सृतभाषायां तदारोपाऽसम्भवात्, नाद्यापि कुड्यादिनिस्सृता भाषापि सिद्धेति तत्र तदारोपोऽपि कथं सिद्धस्स्यात्? न चास्मदागमोक्तत्वात्सा सिद्धेति चेत्तर्हि भाष्यमाणैव भाषेतिलक्षणाऽनाक्रान्तत्वाद्भाषारूपतामेवातिक्रमेत। किञ्च सा व्यक्तवर्णपदवाक्यरचनात्मकस्पष्टाक्षराऽपि न स्यात्, तां प्रति पुरुषकर्तृकताल्वोष्ठाद्यभिघातसंयोगस्य हेतुत्वात्, अन्यथा तयोः कार्यकारणभावे तत्रैव व्यभिचारस्स्यात्। अथ कुड्यादिनिस्सृतभाषाभिन्नवाद्यभाषां प्रत्येव तात्वादिसंयोगस्य हेतुत्वमिति नोक्तदोष इति चेत्तर्हि

किमपि व्यभिचारस्थलं न स्यात्, यस्मिन् यस्मिन्ननुमाने व्यभिचारो यत्र तदन्यत्वविशेषणदानस्य सुलभत्वात्, तस्मादुभयसप्रतिपक्षस्पष्टाक्षरान्यथाऽनुपपत्त्या भगवन्मुखोच्चरितैव सेत्यभ्युपगन्तव्यम्, किञ्च स्याद्वादभाषायां भगवतोऽचिन्त्यपुण्यसम्भारतया तन्मुखोच्चरितत्वाभ्युपगमे न किमपि प्रतिबन्धकमिति तत्र कुड्यादिनिस्सृतत्वस्य तत्र च भगवदतिशयकारणकत्वस्य तादृशदेशनायां भगवन्मुखोच्चरितत्वोपचारस्य च कल्पनाया बीजाभावाच्च तथा क्लिष्टकल्पना युक्तिमती। किञ्च लोके दृश्यमानमेवाचिन्त्यशक्तिकभगवदतिशयप्रभावाद्विशिष्टतरं भवति, न त्वदृष्टम्, तथा च पुरुषमुखोच्चरितैव भाषा लोकेऽनेकार्थबोधिनी दृश्यत इति भगवदतिशयप्रभावाद् भगवन्मुखोच्चरितैव भाषाऽनन्तार्थबोधिनी भवति। सामान्यपुंसां यथाक्षयोपशमं क्वचित्कदाचित्परिमितार्थबोधेऽपि पुरुषधौरेयपुंसामपायापगमाऽतिशयहेतुकज्ञानातिशयात्प्रतिक्षणमपरिमितनिःशेषपार्थसाक्षात्कारवदिति कल्पनैव युक्तिमती, दृष्टानुसारिणी कल्पनैव प्रामाणिकी न त्वदृष्टानुसारिणीति न्यायात्, अधिकमस्मत्कृततत्त्वार्थविवरणगूढार्थदीपिकाख्यटीकातोऽवसेयम्। एतेन केवलज्ञानावाप्तौ कृतकृत्यत्वात् किमर्थं तीर्थकरणे प्रवर्त्तन्ते तीर्थकरा इत्यप्याशङ्का निरस्ता, यदि ते मुक्तात्मवत्सर्वथा कृतकृत्यास्स्युस्तदा नैव प्रवर्त्तेरन्, न चैवम्, अद्यापि भवोपग्राहिकर्मचतुष्टयस्यावशिष्टत्वात्, तदन्तर्गतपूर्वतृतीयभवाराधितविंशतिस्थानकतपोबलनिकाचितबद्धतीर्थकरनामकर्मोदयादेव तीर्थकरणे प्रवर्त्तन्त इति। उक्तञ्च—

"तीर्थप्रवर्त्तनफलं, यत्प्रोक्तं कर्म तीर्थकरनाम।
तस्योदयात्कृतार्थोऽप्य—र्हंस्तीर्थं प्रवर्त्तयति ॥ १ ॥

तत्स्वाभाव्यादेव, प्रकाशयति भास्करो यथा लोकम्।
तीर्थप्रवर्त्तनाय, प्रवर्त्तते तीर्थकर एवम् ॥ २ ॥" इति ॥

तीर्थकराणां वचनं आचाराङ्गादिद्वादशविधं तीर्थकरवचनम्, न चाऽऽचाराङ्गादिवचनस्य गणधरभगवत्प्रणीतत्वात्तैवमिति वाच्यम्, यतः तच्छब्दतो गणधरभगवत्प्रणीतमप्यर्थतोऽर्हत्प्रभुनिर्दिष्टमेव, यदभिहितं 'अत्थं भासइ अरिहा, सुत्तं गथंति गणहरा निउणं' इति, तस्य सङ्ग्रहविशेषौ, सम्यक् गृह्यते अनुगतबुद्ध्या ज्ञायते इति सङ्ग्रहः पूर्वोत्तरपर्यायेष्वनुगतबुद्धिजनकमूर्ध्वतासामान्यशब्दवाच्यं द्रव्यम्, न तु सदृशपरिणामलक्षणतिर्यक्सामान्यशब्दवाच्यम्, तस्य व्यञ्जनपर्याय एवान्तर्भावात्, विशिष्यते व्यावृत्तबुद्ध्या ज्ञायत इति विशेषो व्यावृत्तबुद्धिविषयो विशेषशब्दवाच्यस्सहभाविक्रमभाविभेदभिन्नः पर्यायः, सङ्ग्रहश्च विशेषश्च सङ्ग्रहविशेषौ द्रव्यपर्यायौ, तयोः प्रस्तारः प्रस्तीर्यते विस्तीर्यते येन नयराशिना सङ्ग्रहादिकेनासौ प्रस्तारः, तस्य मूलव्याकरणी, "मूलमाद्ये शिफाऽर्भयोः" इत्यमरकोशवचनान्मूलं आद्यम्, व्याक्रियते-व्याख्यायतेऽनेनेति व्याकरणं व्याख्यानम्, तदस्यास्तीति व्याकरणी, मूलं चासौ व्याकरणी मूलव्याकरणी, आद्यव्याख्याता, व्याख्यानञ्च न ज्ञानादृत इति आद्य

ज्ञाता वा, सङ्ग्रहप्रस्तारस्य सङ्ग्रहव्यवहारनयात्मकस्य, नैगमस्य सङ्ग्रहव्यवहारानन्तर्भावे तु नैगमसङ्ग्रहव्यवहारात्मकस्य वाऽऽद्यो वक्ता ज्ञाता वा द्रव्यार्थिकनयः। विशेषप्रस्तारस्य चर्जुसूत्रशब्दादेराद्यो वक्ता ज्ञाता वा पर्यायार्थिकनय', तदेवाह–दवट्ठिओत्ति, द्रु गताविति धातुः, ततश्च द्रवति ताँस्तान् स्वपर्यायान् प्राप्नोति मुञ्चति वेति तद् द्रव्यम्, यद्वा द्रवति गच्छति ताँस्तान् पर्यायानिति द्रव्यम्, कर्त्तरि यत्, पूर्वोत्तरपर्यायानुगाम्यूर्ध्वतासामान्यारूपद्रव्यमिति भावः, अस्तीति मतिर्यस्यास्ति स आस्तिको द्रव्ये आस्तिको न तु पर्याये, तन्मते परमार्थभूतपर्यायाभावादिति द्रव्यास्तिकः, द्रव्य–आस्तिकयोस्समासः। यद्वा द्रव्यमेवार्थो यस्य न तु पर्यायाः स द्रव्यार्थः, द्रव्यार्थ एव द्रव्यार्थिकः। स्वार्थिकोऽत्र ठन् प्रत्यय'। अथवा द्रव्ये वस्तुतत्त्वबुद्ध्या स्थितः न तु पर्याये इति द्रव्यस्थित'। अय हि नयो द्रव्यमेव मृदादिलक्षण निखिलस्थासकोशकुशूलकपालघटाद्याकारानुयायि वस्तु सन्मन्यते, तस्यैव तदाकारानुयायिनः स्थासोऽपि मृत् कोशोऽपि मृदित्येवमनुगतप्रतीतिविषयत्वात्, स्थासकोशाद्याकाराणां तु वासनाविशेषप्रभवविकल्पसिद्धत्वेनापारमार्थिकत्वात्। तदुक्त नयोपदेशे—

" तिर्यगूर्ध्वप्रचयिनः, पर्यायाः खलु कल्पिताः।
सत्य तेष्वन्वयि द्रव्य, कुण्डलादिषु हेमवत्॥ १॥" इति

इद हि मतमशुद्धसङ्ग्रहनयमूलभूताशुद्धद्रव्यार्थिकनयस्य, शुद्धद्रव्यार्थिकनयस्तु शुद्धसङ्ग्रहनयमूलत्वेन मृद्रव्यहेमद्रव्यादिकमपि तस्य सत्सामान्यापेक्षया भेदरूपत्वेन कल्पनाशिल्पिनिर्मितमेव मनुते, वस्तुतो वस्तुभेदाभावात्, किन्तु 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्। एकमेवाद्वितीय ब्रह्म, नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि श्रुतिसिद्ध ब्रह्मैव सत्, स्वस्वपर्यायानुगतहेममृद्रव्यादिष्वपि सर्वेषु सत्सदित्यनुगतप्रतीतेः, यदेवाबाधितकालत्रयानुगतप्रत्ययगोचरीभूत तदेव सत्, नान्यत्, अत एवैतन्मते त्रिकालाबाधितत्व पारमार्थिकसत्त्व गीयत इति। पज्जवणओ–इति–परि समन्तात् अवन अवः–पर्यवो विशेष', नयन नयः, वस्त्वेकांशपरिच्छेदः, पर्यवाणा नय' पर्यवनय., अत्र लुप्तषष्ठ्या विषयत्वार्थकत्वेन पर्यवविषयको ज्ञानात्मको नयः पर्यवनयः, पर्यवगाम्युपगन्ता नय. पर्यवनय इति यावत्, लुप्तषष्ठ्या वा प्रतिपादकत्वार्थकत्वेन पर्यवप्रतिपादको वाक्यात्मको नयः पर्यवनय इति। ननु गुणविषयकस्तृतीयो गुणार्थिकनयोऽप्यत्र किमिति नोक्त इति चेत्, उच्यते, गुणस्य पर्याय एवान्तर्भूतत्वेन पर्यायार्थिक इत्यत्र पर्यायशब्दस्य पर्यायसामान्यवाचित्वाचेन क्रमभाविपर्यायसहभाविगुणोभयाभिधानात्पर्यायार्थिकनयेनैव चरितार्थत्वात्। एतेन अर्थः सामान्यविशेषात्मा अन्यथाऽनुपपद्यमानाऽबाध्यमानानुवृत्तव्यावृत्तप्रत्ययगोचरत्वात्, न चात्र हेत्वसिद्धिः, तत्तद्घटेषु घटोऽय घटोऽयमित्यनुगतप्रत्ययस्य ताम्रो मार्तिकः सौवर्ण इति पटादिर्वा

न भवतीति च व्यावृत्तप्रत्ययस्याबाध्यमानस्य प्रतिप्राणिप्रतीतेः, तथा चैतदनुमानसिद्धौ यौ द्रव्यपर्यायव्यतिरिक्तौ सामान्यविशेषौ तद्ग्राहिणावतिरिक्तनयौ किमिति नोक्ताविप्यपि शङ्का निरस्ता, तयोर्द्रव्यपर्यायान्तर्भावात्, तथाहि—ऊर्ध्वतासामान्यतिर्यक्सामान्यभेदेन सामान्य द्विविधम्, तत्र पूर्वापरपर्यायेष्वनुगतप्रतीतिविषयीभूत त्रिकालानुयायिवस्त्वंश लक्षणमूर्ध्वतासामान्य द्रव्यरूपमेव, तस्यैव तद्रूपत्वात्,

"पूर्वोत्तराखिलविवर्त्तसमूहवर्ति, द्रव्यस्वभावमिति युक्तिबलात्प्रसिद्धम् ।
सामान्यमन्वयधियः पदमूर्ध्वताख्यम्, येन प्रमुक्तमिह किञ्चन नास्ति वस्तु ॥"

इत्युक्तेः । तिर्यक्सामान्य तु प्रतिव्यक्तिसदृशपरिणामलक्षण शब्दसङ्केतोपयोगित्वेन व्यञ्जनपर्याय एवान्तर्भूतम्, " स्थूला' कालान्तरस्थायिनः शब्दाना सङ्केतविषया व्यञ्जन पर्यायाः" इति प्रावचनिकप्रसिद्धेः । विशेषोऽपि पर्याय एवान्तर्भूत इति नैताभ्यामधिकनया वकाशः । एव भेदोऽपि पर्यायात्मा अभेदश्च द्रव्यात्मेति न ताभ्यामव्यतिरिक्तनयानकाश इति । अत्र छन्दोभङ्गभयात् 'पर्यायास्तिक' इति वक्तव्ये 'पर्यवनयः' इत्युक्तम्, तेन पर्याया स्तिकेऽव्ययस्याप्ययमर्थः, पर्येत्युत्पादविनाशौ प्राप्नोतीति पर्यायः, तत्रैव 'अस्तीति मतिरस्य स पर्यायास्तिक., यद्वा पर्याय एवार्थ' पर्यायार्थः, सोऽस्ति यस्यासौ पर्यायार्थिकः, यद्वा पर्याये न तु द्रव्ये स्थित इति पर्यायस्थित । तत्र पर्यायास्तिकनयमतश्चैवम् शुद्धद्रव्यार्थिक नयेन ब्रह्ममात्रस्यैव सत्त्वाऽभ्युपगमे एको बद्धः, एको मुक्तः, एकः सुखी, एको दुःखी, एको रङ्कः, एको धनाढ्य इत्यादिभेदव्यवस्थोच्छिन्ना स्यात्, सा काल्पनिकीति चेत्, तर्हि ब्रह्मैव सदित्यपि कल्पनाशिल्पिनिर्मितस्वसिद्धान्तनामनाप्रमयत्वेन काल्पनिक किन्न स्यात्? । नन्वभेदप्रतीतेस्त्रिकालाबाधितत्वात्तद्विषयीभूतोऽभेद एव युक्तो न तु भेद इति चेत्, तर्हि बन्धमोक्षव्यवस्थानुपपत्तिस्स्यात्, यत आत्मनो बद्धत्वे मोक्षस्य तद्विरुद्धधर्मत्वात्तदनुपपत्तिः, पूर्वं बद्धः पश्चान्मुक्त इति चेत्, तर्हि विरुद्धधर्माभ्यामाश्रेदापत्तिरिति नैकस्य स्थिरस्य बन्धमोक्षाविति । कालत्रयवर्त्ति न किञ्चिदपि वस्तु सत्, क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाकारि त्वाभावात्, किन्तु यत्सत्तत्क्षणिकमिति व्याप्तेः क्षणिकमेव सत्, अत एवैतन्मते उत्पाद- व्ययोरर्थक्रियाकारित्वलक्षणसत्त्वनियतत्वात् सत्त्ववद्वस्तुमात्र तच्छालीति गीयते, तस्मा त्पर्यायार्थिकनयाऽभ्युपगतार्थबाधने द्रव्यार्थिनययुक्तय इव द्रव्यार्थिकनयाभ्युपगतविषय बाधने पर्यायार्थिकनययुक्तयोऽपि तुल्यवदेवोज्जृम्भन्त इति नैकत्र पक्षपात. कार्यः, किन्तु परस्परसापेक्षद्रव्यपर्यायोभयोपग्रह एव विधेय इति तत्त्वम्, अत एवान्ययोगद्वात्रिंशिकायां कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्रसूरिपादैः—

" य एव दोषा' किल नित्यवादे, विनाशवादेऽपि समास्त एव ।
परस्परध्वंसिषु कण्टकेषु, जयत्यधृष्य जिन ! शासनं ते ॥ २६ ॥ "

इत्युक्तं सङ्गच्छते । अथ "मूलव्यागरणी" इत्यस्य द्रव्यास्तिकपर्यायनयावभिधेयाविति द्वित्वाद्द्विवचनेन भाव्यमिति चेत्, मैवम्, प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्तेरेकवचनस्यैवो चितत्वात् । अत एव चकारद्वयं सूत्रे निर्दिष्टम्, तथा च सिद्धमेतद् द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकौ मूलनयाविति । तदुक्तम्—

" तदित्थं न्यायतः सिद्धौ, द्रव्यपर्यायगोचरौ ।
द्वावेव नैगमादीनां, मूलभूतौ नयाविह ॥ १ ॥ " इति ॥

एतेन नामादिचतुष्टयद्वारतो द्रव्यक्षेत्रादिचतुष्टयद्वारतश्च तन्मूलनयचतुष्टयप्रसञ्जनं प्रत्युक्तम्, नामादीनां द्रव्यक्षेत्रादीनां च द्रव्यपर्याययोरेवान्तर्भावादिति, " सेसा वियप्पा सिं " शेषास्तु सङ्ग्रहाद्यृजुसूत्रादयो विकल्पा भेदा अनयोर्द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकयोः । 'सिं' इति " बहुवयणेण दुवयणं " इति प्राकृतशैल्या द्विवचनस्थाने बहुवचनम् । यद्यपि परमार्थतया वस्तुमात्रं परस्परसापेक्षद्रव्यपर्यायोभयात्मकमेव उत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणसत्त्वा न्यथानुपपत्ते , अत एव परमचरमर्थमनेकान्तात्मकमर्थक्रियाकारित्वात् स्वविषयाकारसंवित्ति वदित्यनुमानेनानेकान्तात्मकमेव सिद्धं तथाप्येकान्तार्थाऽवगाहित्वेन द्रव्यार्थिककुनयो द्रव्यातिरिक्तान् पर्यायान् निरस्यैकान्तद्रव्यग्राहकः, एवमेकान्तार्थावगाहित्वेन पर्यायार्थिककुनयः पर्यायव्यतिरिक्तद्रव्यनिरासेनैकान्तपर्यायग्राहक , द्रव्यार्थिकसुनयस्तु द्रव्यव्यतिरिक्तपर्यायान् निराकरोति न वा स्वीकुरुते, किन्तु तत्रोदासीनवृत्त्या द्रव्यग्राहकः, पर्यायार्थिकसुनयोऽपि गजनिमिलिकान्यायेन पर्यायव्यतिरिक्तद्रव्यौदासीन्यवृत्त्या पर्यायग्राहकः । तद्भेदजिज्ञासायामाद्यस्य नैगमसङ्ग्रहव्यवहाराख्यभेदाः, तदुक्तं वादिदेवसूरिपादैः प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारे—" आद्यो नैगमसङ्ग्रहव्यवहारभेदात्त्रेधेति । ७ । ६ । एतत्प्रकरणकारमतमाश्रित्य भाष्ये—

" जो सामन्नग्गाही, स नेगमो संगहं गतो अहवा ।
इअरो ववहारमितो, जो तेण समाणनिद्देसो ॥ १ ॥ "

इत्युक्तेः सामान्यग्राहिणो नैगमस्य सङ्ग्रहे, विशेषग्राहिणश्च तस्य व्यवहारनयेऽन्तर्भावकरणात्तन्मतेन सङ्ग्रहव्यवहाराख्यभेदौ, द्वितीयस्य चोभयमतेऽपि ऋजुसूत्रशब्दसमभिरूढैवम्भूताख्या विकल्पा वाच्याः, यदभ्यधायि प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारे " पर्यायार्थिकश्चतुर्धा ऋजुसूत्रः शब्दः समभिरूढ एवम्भूतश्च " ॥७-२७॥ इति । भाष्येऽप्युक्तम्–"संगहववहारा पढमगस्स सेसा य इयरस्स " ॥ ७५ ॥ इति, सैद्धान्तिकमते–"उज्जुसुअस्स एगो अणुवउत्तो आगमतो एग दव्वावस्सयं पुहुत्तं नेच्छइ" इत्यनुयोगद्वारसूत्रोक्त्या ऋजुसूत्रस्य द्रव्यार्थिकत्वप्रतिपादनात्तस्य नैगमसङ्ग्रहव्यवहारर्जुसूत्राख्याश्चत्वारो भेदाः, पर्यायार्थिकनयस्य च त्रयो भेदाः शब्दसमभिरूढैवम्भूताख्या इति । तार्किकानुसारिमतेनोक्तसूत्रे

ऋजुसूत्रनयेन वर्त्तमानावश्यकपर्याये द्रव्योपचारः क्रियत इत्यौपचारिकद्रव्यावश्यकाभ्युपगमेऽपि न पर्यायार्थिकनयचतुर्भेदक्षतिः, तेन नयेन मुख्यद्रव्यपदार्थस्यैव प्रतिक्षेपकरणात्, मुख्येनैव च विभागो युक्त इति। अत्र वैशेषिकमते भावत्वाभावत्वयोः पदार्थत्वव्याप्यत्व विवक्षां कृत्वा भावः षड्विधः अभावश्च चतुर्विध इति विभागवद् द्रव्यार्थिकत्वपर्यायार्थिकत्व योर्नयत्वव्याप्यत्वविवक्षां कृत्वैव द्रव्यार्थिकः तत्तत्स्वरिकृतविवक्षाभेदतो द्विविधस्त्रिविधश्चतुर्विधो वा, पर्यायार्थिकनयश्च चतुर्विधस्त्रिविधो वा इति विभक्तविभागः कृतः। वैशेषिकमते भावत्वाभावत्वयोः पदार्थत्वव्याप्यत्वेऽपि तदविवक्षायां द्रव्यत्वगुणत्वकर्मत्वसामान्यत्वविशेषत्वसमवायत्वाभावत्वानां पदार्थत्वव्याप्यत्वे सति पदार्थत्वव्याप्यव्याप्यत्वलक्षणविभाजकत्वात्तद्रूपेण यथा पदार्थविभागोऽङ्गीक्रियते तथाऽऽर्हतमतेऽपि द्रव्यार्थिकत्वपर्यायार्थिकत्व योर्नयत्वव्याप्यत्वेऽपि तदविवक्षाया तु सङ्ग्रहत्वनैगमत्वादिसप्तधर्माणा नयविभाजकत्वाच्च द्रूपेण मूलसप्तनयविभाग एव युक्तः। उक्ताशयेनैव "से किं त नए ? सत्त मूलणया पन्नत्ता त जहा–णेगमे, सगहे, ववहारे, उज्जुसुए, सद्दे, समभिरूढे, एवभूए, इति सूत्र सङ्गच्छते, न तु भावाभावद्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायप्रागभावध्वसाऽत्यन्ताभावाऽन्योन्याभावा द्वादश पदार्था इतिवद् द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनैगमसङ्ग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवम्भूता नव नया इति मूलनयविभागो युक्त', किन्तु द्रव्यत्वगुणत्वादीनां सप्तधर्माणा मिथो विरोधिधर्मत्वयद्भावत्वाभावत्वयोर्न द्रव्यत्वगुणत्वादिभिस्सह मिथो विरोधिधर्मत्वमिति तद्घटितधर्मैर्विभागाभाववन्नैगमत्वसङ्ग्रहत्वादिसप्तधर्माणां मिथो विरोधिधर्मत्वात्तद्रूपेण मूल नयविभागसम्भवेऽपि द्रव्यार्थिकत्वपर्यायार्थिकत्वयोर्नैगमत्वसङ्ग्रहत्वादिधर्मैस्सह मिथो विरोधाभावात्तद्घटितनयधर्मेण मूलनयविभागाभाव एव युक्त', अत एव न्यायाचार्यश्री यशोविजयोपाध्यायैस्स्वकृततत्त्वार्थविवरणे "एतेन नवनया द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिको नैगमः सङ्ग्रहश्चेत्यादिविभागो जैनाभासस्य दिक्पटदेशीयस्य देवसेनस्य निरस्तो द्रष्टव्य, भेदप्रभेदानां महोक्तौ विभागवाक्यविघातात्, "न हि भवति मूर्त्तामूर्त्तपृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाश कालदिगात्ममनांस्येकादश द्रव्याणीति विभजतो वैशेषिकबालस्य चतुर्दशभूतग्रामे त्रसेतरभेदद्वय प्रक्षिप्य षोडशधा विभजतो वाऽऽर्हतबालस्य नोपहासः' इत्युक्त सङ्गच्छते ॥ ३ ॥

अथ "सेसा वियप्पा सिं" इत्यनेनैतत्प्रकरणकारमतेन सङ्ग्रहप्रस्तारमूलव्याकरणिद्रव्यार्थिकस्य सङ्ग्रहव्यवहारनयारूपौ द्वौ विकल्पौ ग्राह्यौ, अत एवोत्तरगाथायामुक्तभेदद्वयस्यैव शुद्धाशुद्धस्वभावप्रदर्शन कृत, तत्राद्यो भेद० शुद्धस्वभावः, द्वितीयस्त्वशुद्धस्वभाव इति प्रतिपादयितु चतुर्थी गाथामाह सूरि०—

दव्वट्ठियनयपयडी सुद्धा सगहपरूवणाविसओ।
(पडिरूवे) पडिरूव पुण वयणत्थनिच्छओ तस्स ववहारो ॥ ४ ॥

द्रव्यार्थिकनयस्य प्रकृतिः शुद्धा सङ्ग्रहप्ररूपणाविषयः, सङ्ग्रहस्य सङ्ग्रहनयस्य प्ररूपणा-अभिधायकपदसहतिः तद्विषयः, अत्र विषयेण विषयिग्रहणं कर्तव्यमिति तद्वाच्यार्थविषयक यज्ज्ञानं तद्रूपा, अशुद्धा तामाह-'पडिरूवे' इत्यादि । घटादिनाऽशुद्धद्रव्येण सह सङ्कीर्णा या सत्ता तल्लक्षणे प्रतिरूपे वचनार्थनिश्चयो व्यवहारस्तस्य द्रव्यार्थिकनयस्य पुनरिति प्रकृतिं स्मारयतीति अशुद्धा प्रकृतिरिति सङ्क्षिप्तार्थः, विस्तृतार्थस्त्वेवम् "दव्वट्ठियनयपयडी" द्रव्यार्थिकनयप्रकृतिः प्रागुक्तार्थस्य द्रव्यास्तिकनयस्य "संसिद्धिप्रकृती त्विमे स्वरूपं च स्वभावश्च निसर्गश्च" इत्यमरकोशवचनात् प्रकृतिस्स्वभावः 'सुद्धा' शुद्धा विशेषाऽसम्मिश्रा विशेषानवगाहिनीति यावत् । सा कस्येत आह-'संगहपरूवणाविसओ' इति, सङ्ग्रहप्ररूपणाविषय इति । सङ्गृह्णाति सामान्यरूपतया सर्वं वस्तु क्रोडी करोतीति सङ्ग्रहः । यद्वा सर्वेऽपि भेदास्सामान्यरूपतया सङ्गृह्यन्तेऽनेनेति सङ्ग्रहः, सर्ववस्त्वभेदग्राहिनय सङ्ग्रहनय इति यावत्, तस्य प्ररूपणा-घटाद्यर्थो वक्त्रा प्ररूप्यते प्रतिपाद्यतेऽनया सा प्ररूपणा-इति व्युत्पत्तिसिद्धाऽभिधायकपदसहतिः, तस्या विषयः प्रतिपाद्यः, अत्र सङ्ग्रहप्ररूपणाविषय इत्यनेनोपचारतो विषयेण विषयिणोऽभिधानात् सङ्ग्रहप्ररूपणाऽभिधेयार्थविषयकं ज्ञानं ग्राह्यम्, अन्यथा क्व प्रस्तावे शुद्धद्रव्यार्थिकाऽभिधानं प्रकान्ते सङ्ग्रह-प्ररूपणाविषयाऽभिधानस्य ?, यतः शुद्धद्रव्यार्थिकनयो ज्ञानात्मक इति तत्प्रकृतिश्शुद्धा सङ्ग्रहनयज्ञानात्मिकेत्यभिधातुं युक्तम्, न तु सङ्ग्रहप्ररूपणाविषय इति, ननु सङ्ग्रहनयाभिप्रायतस्सङ्ग्रहप्ररूपणाऽभिधेयः सदात्मकमात्र एवेत्यत्र का युक्तिरिति चेत्, उच्यते, यानि सुबन्तानि तिङन्तानि वा पदानि वाक्यानि वा तदर्थमात्रस्य सत्स्वरूपव्यतिरिक्तत्वे शशशृङ्गकल्पत्वापत्त्या सुबन्तार्थत्वं तिङन्तार्थत्वं वा न स्यादिति तयोः सन्मात्रस्वरूपभावरूपत्वमेवेति, ननु यत्र तिङन्तक्रियापदं न श्रूयते तत्र का गतिरिति चेत्, उच्यते, तत्रास्तिभवतीत्यादिक्रियाऽध्याहार्या, अत एव वैयाकरणैः "सर्वं वाक्यं क्रियया परिसमाप्यते" इति मन्यते, उक्ताशयेनैव "अस्तिर्भवन्तीपरः प्रथमपुरुषोऽप्रयुज्यमानोऽप्यस्तीति गम्यते" इति पातञ्जलभाष्येऽपि (अध्याय २, पा ३, सू. १, वार्तिक ११) इत्युक्तं सङ्गच्छते । शशशृङ्गादेर्ज्ञानाभावाज्ज्ञानविषयत्वं सद्रूपताव्याप्यमिति सद्रूपत्वे सत्येव पदार्थानामवगतिर्भवितुमर्हति, नान्यथा, सद्रूपत्वपरित्यागे घटपटादिवस्तुमात्रं निस्स्वरूपं स्यादित्यस्त्यर्थः सत्तालक्षणोऽर्थः सर्वशब्दानाम्, तथा चान्तर्णीताशेषविशेषं सन्मात्रमेवाध्यक्षस्य शब्दस्य वा विषय इति सिद्धम् । नन्वेवं घटत्वेन घटोऽयं पटत्वेन पटोऽयमित्याद्याकारमपि ज्ञानमनुभूयते, न च घटत्वपटत्वादिकं वा सत्तात्मकम्, तस्य तद्व्याप्यत्वेन विशेषरूपत्वादिति चेद्, घटत्वपटत्वादिविशेषोऽपि सत्त्वेव अन्यथा शशशृङ्गादेरिव तस्य ज्ञानविषयत्वं न भवेत् अतस्सर्वविशेषात्मकः सत्त्वेव कदाचिद् घट इति कदाचिच्च पट इत्यादिरूपेण प्रतिभासते, यथैकमेव पानकद्रव्यं मधुरादिरसमयं मधुरादितत्तद्रसात्मना प्रतीयते तद्वत्प्रकृतेऽपि । न च घटपटादेः सद्रूपव्य-

तिरिक्तस्वरूपस्याऽभावे घटः पटादिभिन्नः पटश्च घटादिभिन्नः, अयं ब्राह्मणः अयं राजन्य इत्यादिभेदव्यवहार उच्छिन्नस्स्यादिति वाच्यम्, यत एकस्मिन् चन्द्रमसि तिमिररोगोपप्लुत दृशां द्वित्वप्रतिभासवद् भेदप्रतिपादकस्वस्वागमजन्यवासनावासितचित्तानां भेदप्रतिभासेनाभिन्नमपि भिन्नवदाभासत इति पदार्थभेदावभासो भ्रान्त एव, न तु यथार्थ इत्येव सर्वभेदापलापी सर्वं सन्मात्रतया संगृह्णन् संग्रह० शुद्धा द्रव्यास्तिकनयप्रकृतिरिति व्यवस्थितम्। एतेन द्रव्यार्थिकनयशुद्धप्रकृतिसङ्ग्रहनयविषयप्ररूपणापरस्सच्चिदानन्दस्वरूपब्रह्मवादश्शुद्धद्रव्यार्थिकांशः, तन्मते हि ब्रह्मभिन्नस्याशेषजगतो नामरूपात्मकस्य मिथ्यात्वम्, ब्रह्मण स्त्वद्वितीयसच्चिदानन्दात्मकस्य त्रिकालाबाधितस्वरूपतया सत्यत्वम्, यतो ब्रह्मैव तेन तेन घटाद्यात्मनाऽवभासते, तथा च सर्पमालाद्यस्रादौ सर्वत्रेदस्वरूपस्येव घटपटमठादौ सर्वत्र ब्रह्मात्मकमद्रूपस्यानुगामित्वात्तदेव परमार्थसदिति घटपटादिरूपस्य जगतः सत्ता ब्रह्मसत्तैव, अतो ब्रह्मरूपेण सर्वस्यैकत्वमिति सङ्ग्रहनयमूलकत्वं वेदान्तदर्शनस्येति। भर्तृहरिस्वीकृतशब्दसन्मात्रस्वरूपब्रह्मवादोऽपि शुद्धसङ्ग्रहनयमूलक एव, वैयाकरणाभ्युपगतिरप्येतद्वादावलम्बिन्येव, एतन्मते शब्दब्रह्मस्वरूपेण सर्वस्यैक्यात्। उक्तञ्च वाक्यपदीये ग्रन्थे प्रथमकाण्डे "अनादिनिधनं ब्रह्म, शब्दतत्त्वं यदक्षरम्। विवर्ततेऽर्थभावेन, प्रक्रिया जगतो यत०॥ १॥ न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके, यः शब्दानुगमादृते। अनुविद्धमिव ज्ञानं, सर्वं शब्देन भासते॥२॥ वाग्रूपता चेदुत्क्रामे-दवबोधस्य शाश्वती। न प्रकाशः प्रकाशेत, सा हि प्रत्यवमर्शिनी॥३॥" इति। अत एव नयोपदेशे "आद्य द्रव्यार्थिकाच्छुद्धाद्दर्शनं ब्रह्मवादिनाम्। तत्रैके शब्दसन्मात्र चित्सन्मात्रं परे जगुः॥ ११०॥ इत्युक्त सङ्गच्छते। नन्वनेन द्रव्यार्थिकनयस्य सङ्ग्रहनयप्ररूपणाविषयविषयकज्ञानरूपा शुद्धा प्रकृतिरुक्ता, अस्याऽशुद्धा प्रकृतिः केत्याशङ्कायां तामुपदर्शयितुमुत्तरार्द्धमाह " पडिरूवे पुण वयणत्थनिच्छओ तस्स ववहारो " प्रतिरूपे पुनः वचनार्थनिश्चय तस्य व्यवहारः, प्रतिरूप प्रतिबिम्ब घटादिनाऽशुद्धद्रव्येण सङ्कीर्णा सत्ता, स्वरूपसत्तेति यावत्, तस्मिन्प्रतिरूपे यो वचनार्थनिश्चयस्स व्यवहार -व्यवहारनय तस्य द्रव्यार्थिकस्य पुनरिति प्रकृतिं स्मारयतीति प्रकृति'। वचनार्थनिश्चय इत्यस्यायमर्थः—उच्यत इति वचनम्, हेयोपादेयोपेक्षणीयविषयनिवृत्तिप्रवृत्त्युपेक्षालक्षणव्यवहारसम्पादनार्थमुच्यमान घटोऽस्तीत्यादिवाक्यम्, तस्य घट इति विशेषस्वरूपतयाऽस्तीति सामान्यस्वरूपतयाऽभिधेयो व्यवहारक्षमो योऽर्थः तस्य निश्चयो-निश्चयन निश्चय०-निर्णय०, व्यवहरण व्यवहरतीति वा व्यवहार०, लोकप्रसिद्धव्यवहारप्रवर्त्तनपरो नयो व्यवहारनय'। तथा च निवृत्तिप्रवृत्त्युपेक्षालक्षणव्यवहारसम्पादकशब्दार्थनिश्चयो व्यवहारनयस्तस्य द्रव्यार्थिकनयस्याऽशुद्धा प्रकृतिरितिभाव। पडिरूव इत्येन प्रथमान्तत्वे तु प्रतिरूप प्रतिबिम्ब विशेषण घटादिनाऽशुद्धद्रव्येण सङ्कीर्णा सत्तेति यावत् पुनश्शब्देन प्रकृति स्मार्यत इति सा प्रकृतिः-स्वभावः। अत्रापि विषयेण विषयिग्रहण कार्यमिति घटाद्यशुद्धद्रव्यसङ्कीर्णसत्ताग्राहिज्ञानात्मिका

प्रकृतिः, कस्य प्रकृतिः किं नयस्वरूपा च सा, स नयश्च किंस्वरूप इत्याशङ्कायामुक्तार्थस्पष्टीकरणेन समाधत्ते-वचनार्थनिश्चयस्तस्य व्यवहार इति, तस्यार्थः पूर्ववदिति। यथाभूतयावद्विषयाऽभ्युपगमे सति प्रवृत्तिनिवृत्त्युपेक्षालक्षणो लौकिकव्यवहारः प्रवर्त्तते तथाभूततावद्विषयकज्ञानमेव तथाभूतव्यवहारनिदानमभ्युपगन्तव्यम्, तत्र प्रवृत्तिलक्षणो व्यवहार उपादेयतावच्छेदकरूपेणोपादेयविषयको भवतीति तत्रोपादेयतावच्छेदकीभूतो यो धर्म इष्टसाधनतावच्छेदकधर्मपर्यवसितस्तद्रूपेणोपादेयस्येष्टसाधनस्य ज्ञानं कारणम्, एवं निवृत्तिलक्षणो व्यवहारो हेयतावच्छेदकधर्मेण हेयविषयको भवतीति तत्र हेयतावच्छेदकीभूतो योऽनिष्टसाधनतावच्छेदकीभूतधर्मपर्यवसित तद्रूपेण हेयस्य द्विष्टसाधनस्य ज्ञानं कारणम्, एवमुपेक्षालक्षणो व्यवहार उपेक्षणीयतावच्छेदकधर्मरूपेणोपेक्षणीयविषयको भवतीति तत्रोपेक्षणीयतावच्छेदको धर्म इष्टसाधनत्वानिष्टसाधनत्वान्यतरानवच्छेदकधर्मपर्यवसितस्तद्रूपेणोपेक्षणीयस्येष्टसाधनानिष्टसाधनान्यतराऽनात्मकस्य ज्ञानं कारणम्। एवञ्च सङ्ग्रहनयविषयः केवलसत्त्वैव, न वस्तु, तस्याः सत्ताया एकस्या एकरूपत्वस्यैव युक्तत्वेन हेयरूपत्वे निवृत्तिलक्षण एव व्यवहारस्स्यात्, न प्रवृत्त्यादिरूपः, एवमुपादेयरूपत्वे प्रवृत्तिलक्षण एव व्यवहारस्स्यात्, न निवृत्त्यादिलक्षणः, एवमुपेक्षणीयरूपत्वेऽप्युपेक्षालक्षण एव व्यवहारस्स्यात्, न तदन्यो व्यवहारः। वस्तुत एकोऽपि व्यवहारस्तत्र न भवेत्, तदवच्छेदकस्य कस्यचिद्धर्मस्य धर्मिभिन्नस्य द्वैतापत्तिभियाऽभ्युपगमाऽसम्भवात् इति लोकव्यवहारसिद्ध्यर्थं परस्परतो विभिन्नस्वभावा हेयोपादेयोपेक्षणीयस्वरूपा भावास्तत्तद्धर्मावच्छिन्नास्सन्तो व्यवहारोपयोगिशब्दप्रभवसंवेदने प्रतिभासन्त इत्यभ्युपगन्तव्यमिति व्यवहारनयाभिप्रायः। यश्च "सर्वं वाक्यं क्रियया परिसमाप्यते" इति नियमः प्रागुक्तः सोऽपि नाभ्युपगम्यते। न च यत्रान्यत्क्रियापदं न श्रूयते तत्रापि "अस्तिर्भवन्तीपरः प्रथमपुरुषोऽप्रयुज्यमानोऽप्यस्तीति गम्यते" इति भाष्यवार्तिकवचनविरोधस्स्यादिति शङ्कनीयम्, तस्य यत्र किञ्चित्क्रियापदमध्याहर्तुं शक्यते तादृशस्थलविषयकत्वेनासार्वत्रिकत्वात्, यत्र तु स्थले कस्यापि क्रियापदस्य नाध्याहारस्सम्भवति तत्र तु क्रिया विनाऽपि वाक्यपरिसमाप्तिर्भवत्येव, यथा 'श्रय' काला' इत्यादौ, अत्र सन्तीत्यध्याहारे भूतभविष्यत्कालयोस्तत्रानन्वयापत्तेः, आसन् इत्यध्याहारे वर्तमानभविष्यत्कालयोस्तत्रानन्वयापत्तेः, भविष्यन्तीत्यध्याहारे भूतवर्तमानकालयोरन्वयस्तत्र न स्यादिति तत्र क्रियापदं विनैव वाक्यपरिसमाप्तिस्तद्वदन्यत्रापि यत्र क्रियापदं न श्रूयते तत्रापि क्रियापदं विनैव परिसमाप्तिः परिकल्पनीयेति।

यच्च सङ्ग्रहनयमूलप्रकृतिकवदान्तदर्शने घटपटमठादौ सर्वत्र सन् सन्नित्यनुगतप्रतीतिविषयत्वाद् सत्तात्मकमतेव पारमार्थिकीत्याद्यर्थकं प्रागुक्तं तदप्यसङ्गतमेव, यतः प्रतीतिमात्रस्य विशेष्यीभूतधर्म्यंशे प्रामाण्यमेवाऽविगानेन तत्त्वज्ञैस्सर्वैरभ्युपगतं, प्रकारांशे तु

प्रमात्मकप्रतीतौ प्रामाण्य तदितरत्र तदितरदिति विशेष्यविषया भासमानघटपटादयस्सन्त एवाभ्युपगन्तव्याः, स्वसिद्धान्ततत्त्वमिथ्याभिनिवेशबलात् तत्र प्रकारांशविषया भासमाना ब्रह्मात्मकसत्ता त्वप्रामाणिक्येव, पित्तमण्डूकवसाञ्जनादिदोषबलादेव श्वेतवस्तुमात्रे प्रतीयमानपीतत्ववत्। अथ श्वेतवस्तुमात्रेऽनुगतत्वेन प्रतीयमानमपि पीतत्व बाधितम्, दोषनिवृत्तौ यन्मया प्राक् पीतत्वेनोपलब्ध तन्न पीतमित्युत्तरकालबाधकप्रत्ययभावात्। ब्रह्मसत्ता तु कालत्रयेऽप्यबाधिता, कदाऽपि तत्र बाधकप्रत्ययाभावादिति कालत्रयाबच्छिन्नाबाधितब्रह्मसत्तैव पारमार्थिकीति चेत्, तर्हि धर्म्यंशे ज्ञानमात्रस्य सर्वैरपि प्रेक्षादक्षैरविगानेन प्रामाण्याऽभ्युपगमाद् घटः सन् पटस्सन्नित्यादिप्रतीतौ धर्मिभूतघटपटादयोऽपि पारमार्थिका अभ्युपगन्तव्याः। अथ " सदेव सोम्येदमग्र आसीत्, एकमेवाद्वितीय ब्रह्म, नेह नानास्ति किञ्चन " इत्यादि श्रुतिश्रवणमननिदिध्यासनप्रयुक्तसुदृढदशापन्नाभेदभावनाजन्यब्रह्मतत्त्वसाक्षात्कारे सर्वेषां वस्तूनां मिथ्यारूपतयैव प्रतीयमानत्वान्न ते परमार्थतसत्याः, किन्तु व्यवहारत इति चेद्, नैवम्, पूर्वोत्तरपर्यायाभ्यां स्वद्रव्येण चोत्पादव्ययध्रौव्यानुभवादिप्रमाणेन यदेवोत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त तदेव सदिति साधितत्वेन साधयिष्यमाणत्वेन चोत्पादादिधर्मत्रयाक्रान्तभावावगाह्यबाधितप्रतीतिविषयत्वेन तेषामेव परमार्थतः सद्रूपत्वात्। एकान्ताभिन्नैकस्वरूपे ब्रह्मतत्त्वे उक्तसल्लक्षणस्याऽघटमानत्वेन तस्याऽसद्रूपत्वात्। मेरुप्रभृतयः केऽपि भावाः शाश्वता, किन्तु काञ्चनकामिन्यादिसयोगवदनित्या इति ज्ञपरिज्ञया सम्यग् विज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया सर्वथा तत्परित्यागकरणेनैकत्वादिभावनाप्रशस्तध्यानादिबलेन सच्चिदानन्दलक्षणब्रह्मस्वरूपावाप्तावपि तस्य ज्ञेयपरिणतिभेदेन प्रतिक्षणतद्विषयकज्ञानपरिणतिभेदभावादुत्पादादिसल्लक्षणयुक्तत्वादेव सत्स्वरूपत्वमभ्युपगन्तव्यम्। न च व्यवहारोऽप्याप्तपुरुषव्यवहृतोऽप्रामाणिकः, अन्यथा कश्चेतयिताऽप्रामाणिकव्यवहारमभिजानन् प्रवर्तेत निवर्तेत वेति व्यवहारस्यैव विलोपेन जगज्जिरीह स्यादित्याप्तपुरुषकृतव्यवहारसिद्धिभाजो विभिन्नभावा परमार्थभूता एवाभ्युपगन्तव्याः। किञ्च ब्रह्मात्मकसत्ताविप्रतिपन्नान् प्रति तत्साधकाऽनुमानमेव प्रमाणतया शरणीकर्तव्यम्। तच्च पक्षसाध्यहेत्वादिपरिकरपरिकरितत्वेनानेकघटितमिति तस्य प्रामाण्ये द्वैतापत्तिः। अप्रामाण्ये ब्रह्मात्मकसत्त्वाऽसिद्धिः, उक्तञ्च—

" हेतोरद्वैतसिद्धिश्चेद्, द्वैत स्याद्धेतुसाध्ययोः।
हेतुना चेद्विना सिद्धि-र्द्वैत वाङ्मात्रतो न किम्? ॥१॥" इति एव ब्रह्माद्वैतवादे

" कर्मद्वैत फलद्वैत, लोकद्वैत विरुध्यते।
विद्याऽविद्याद्वय न स्यात्, बन्धमोक्षद्वय तथा ॥१॥" इत्याद्यापत्तिश्च ज्ञेयेति।

यद्वा " प्रतिशब्दस्य वीप्सायां कर्मप्रवचनीयसंज्ञाविधानसामर्थ्याद् द्वितीयागर्भ

वार्कंयमपि" इत्युक्तेरर्थमर्थं प्रतीतिवाक्यस्वरूपम्, प्रत्यर्थमिति च समस्तरूपमिव, वृक्षं वृक्षं प्रति विद्योतते विद्युदित्यत्र वृक्ष वृक्ष प्रतीतिवाक्यस्वरूपम्, प्रतिवृक्षमिति च समस्त-रूपमिव वा, रूप रूप प्रतीति-वाक्यस्वरूपम्, प्रतिरूपमिति तु समस्तरूपम्, तत्र प्रतिशब्दो वीप्सायाम्, रूपशब्दश्च वस्तुन्यत्र प्रवर्तते, तेनायमर्थ.-रूप रूप प्रति यस्तु वस्तु प्रति यो वचनार्थनिश्चयस्स व्यवहारो व्यवहारनय', तस्य द्रव्यार्थिकनयस्य प्रकृतिः स्वभाव इति। तस्य विवेचनमेव सम्मतितर्के कृतम्-प्रतिरूपमेव वचनार्थनिश्चयो व्यवहारे हेतुः, न पुन रस्तित्वमात्रनिश्चयः, यत. 'अस्ति' इत्युक्तेऽपि श्रोता शङ्कामुपगच्छन् लक्ष्यते, अतः 'किमस्ति' इत्याशङ्कायां 'द्रव्यम्' इत्युच्यते, तदपि किम् ? पृथिवी, साऽपि का ? वृक्षः, सोऽपि कः ? चूतः, तत्राऽप्यर्थित्वे यावत् 'पुष्पितः' 'फलित.' इत्यादि तावन्निश्चिनोति यावद्व्यवहारसिद्धिरिति। व्यवहारो हि नानारूपतया सत्तां व्यवस्थापयति, तथैव सद्व्य वहारसम्भवात्, अतो व्यवहरतीति व्यवहार इत्यन्वर्थसंज्ञां बिभ्रत् अशुद्धा द्रव्यार्थिक प्रकृतिर्भवतीति। अस्यायम्भावः-यावता विशेषोपगमेनाबालगोपालसाधारणो व्यवहारस्स-मर्थितो भवति तावानेव विशेषसन्तानो व्यवहारविषय इति निर्णीयते। इत्थञ्च व्यवहार-योग्यान्तिमविशेषाभ्युपगमरूपो व्यवहारो नैगमभूते प्रविशति, एवमेव चास्य द्रव्यार्थिकत्व सुरक्षित भवति, व्यवहारो हि नानारूपतया सत्तां व्यवस्थापयतीति वचनेन व्यवहारस्य महासामान्यरूपसत्ताभ्युपगमोऽस्तीति न भ्रमितव्यम्, महासामान्य हि सत्त्वमेकमेव, तस्य च नानारूपत्वं बाधितमेव किन्त्वनेन वचनेन महासत्ता नास्त्येव, परन्तु स्वरूपसत्तैव प्रतिव्यक्तिनियता नानेति प्रतिपाद्यते, अत एव स्यादस्त्येव घटः, स्यान्नास्त्येव घट इत्यादिसप्तभङ्ग्याः सत्तारूपास्तित्वप्रतिपादकस्य प्रथमभङ्गस्य सङ्ग्रहमूलकत्व सत्ताप्रतिपक्ष-रूपनास्तित्वात्मकविशेषप्रतिपादकस्य द्वितीयभङ्गस्य व्यवहारमूलकत्व "एव सत्तप्पिओ" इत्यादिव्याख्याने प्रतिपादयिष्यमाण सङ्गच्छत इति। अनुगतव्यवहारस्त्वतथ्याघ्रवृत्तैव विबोध्यः। यद्यपि विशेषमात्राभ्युपगन्त्रा व्यवहारेण किमपि सामान्यमनुगत वस्तुभूत नाङ्गी कृतमिति यथा सर्वानुगत महासामान्य सत्तास्वरूप न तदभिमत तथा द्रव्यत्वाद्यवान्तर सामान्यमपि परापरसामान्यस्वरूप घटत्वाद्यपरसामान्यस्वरूप न वस्तुभूतमभिमतम्, तथापि लौकिकः सर्वोऽपि प्रवृत्तिनिवृत्त्यादिफलको व्यवहारस्तेनोपपादनीय इति यादृश द्रव्यत्वादि-कमनुगतप्रतीतिनियामक तेनाश्रयणीय तादृश महासामान्यमपि तेनाभ्युपगन्तव्यम्, द्रव्य त्वादिकञ्चातद्व्यावृत्तिरूपमपोहशब्दाभिधेय काल्पनिक यथा तदभिमत तथा महासामान्य सत्त्वमपि, अन्यथा सत्-द्रव्य पृथिवी वृक्ष आम्र इत्यादि सामान्यविशेषाश्रयणप्रवृत्त व्यवहरण कथ तस्य सङ्गत स्यात्। इयांस्तु विशेषः, सङ्ग्रहनये यन्महासामान्य सत्त्व तदेव वस्तु, तत्सद्रूपमेव, न तु तदाश्रय. सन्, धर्मधर्मिभावानापन्नमेव तद्, तदेव चावान्तरद्रव्य त्वादिरूपेणानुगतेन व्यक्तिस्वरूपैर्विशेषैश्चावभासत इत्येतावता सत्तात्मकं, सर्वाणि चान्यानि

तदात्मकानि, न तु वस्तुतस्तदन्यानि सन्तीति। व्यवहारनये तु यावन्तो व्यक्त्यात्मका विशेषा व्यवहारपथमुपगच्छन्ति ते सर्वे वस्तुभूता एव, सामान्यानि च सर्वाण्यतद्व्यावृत्तिरूपाणि कल्पितान्येव व्यवहारफलकानि, न तु स्वरूपतो वस्तुभूतानीति, तथा च वस्तुभूत महासामान्य परमार्थतो नाभ्युपगत सत्तालक्षणमिति तदनभ्युपगमोऽपि सङ्गत', अपोहलक्षणतदभ्युपगमेन सद्द्रव्यमित्यादिविभजनाऽपि साधुसङ्गता, एव परापरसामान्यादिविभजनमपि, तत्र स्वसामान्याधारभूता व्यक्तिलक्षणविशेषा वस्तुभूता इति तद्धर्मतया तान्यपि सामान्यानि वस्तुभूतानीति व्यवह्रियन्ते, ईदृशविचारसमाश्रयणतोऽवान्तरसामान्याभ्युपगन्तृत्व व्यवहारस्येति भावनीयम्। अत्र सत्ताऽपेक्षया द्रव्यत्वमपरसामान्यम्, पृथिवीत्वापेक्षया परसामान्यम्, पृथिवीत्वमपि द्रव्यत्वाऽपेक्षयाऽपरसामान्य वृक्षत्वापेक्षया च परसामान्यम्, वृक्षत्वसामान्यमपि पृथिवीत्वापेक्षयाऽपरसामान्य आम्रत्वापेक्षया च परसामान्यमित्येव परापरसामान्यानि तत्तद्व्यक्तिलक्षणपाश्चन्त्यविशेषानपि प्रवृत्त्युपयुक्तानभ्युपगच्छति व्यवहारनय इत्युक्त भवति। यतो न हि परापरसामान्यविभजनाक्रमसनादृत्यान्त्यविशेषाऽभ्युपगमो व्यवहारनयस्य समस्ति, तथा सति व्यवहारस्वरूपमेवासौ जह्यात्, किन्तु सर्वेषां विभक्तानां परापरसामान्यानामन्तिमविशेषरूपतैवेत्यन्त्यविशेषाभ्युपगमस्य पर्यवसानमिति। ननु नैगमनयोऽपि सत्तालक्षण महासामान्यमेक द्रव्यत्वपृथिवीत्वादिक परापरसामान्य तदाश्रयविशेषाँश्चाभ्युपगच्छति, अत एव सामान्यविशेषग्राहिणो ये शब्दार्थाध्यवसायास्तद्धेतुर्द्रव्यार्थिकस्त्व्याप्यजातिमत्त्वमिति तल्लक्षण सिद्धान्तविदो विदन्ति, तथा च कोऽनयोर्विशेष इति चेत्, उच्यते, नैगमस्य नैकविधत्वात् यो नैगमस्सत्तामात्र महासामान्य मनुते तस्य सङ्ग्रहनयेऽन्तर्भावः, यश्च तद्व्यतिरिक्तपरापरसामान्यानि तदाश्रयव्यक्तीश्चोरीकरोति तस्य व्यवहारनयेऽन्तर्भावः कर्त्तव्य। अत एवास्या गाथायां नैगमो न पृथग् जगृहे, सङ्ग्रहव्यवहारातिरिक्तत्द्विषयासिद्धे'। तथा च " सत्त्वरजस्तमोलक्षण सामान्यमेकमचेतन द्रव्यम्, अनेक च चेतन द्रव्यमनयोऽस्तीति द्रव्यार्थिकः, अशुद्धो व्यवहारनयाभिप्रेतार्थाभ्युपगमस्वरूपो बोद्धव्य', वक्ष्यति चाचार्यः—'ज काविल दरिसण एय दव्वट्ठियस्स वत्तव्व '॥ इति बृहट्टीकोक्तेर्व्यवहारनयविषयप्ररूपणा परमार्थ्यवादमूलभूतो द्रव्यार्थिकनयोऽशुद्ध इति प्रतिपादित भवति। वेदान्तप्रकृतिभूतसङ्ग्रहनयैकतया विषयकृतस्यास्मनो भेदकरणेन सङ्ग्रहविषयभेदकत्वलक्षणसमन्वयाद् व्यवहारप्रकृतिक'च सांख्यदर्शनस्य विवक्षितमिति तात्पर्यम्। अत एव "अशुद्धाद् व्यवहाराख्यात्, ततोऽभूत् साङ्ख्यदर्शनम्। चेतनाचेतनद्रव्या–नन्तपर्यायदर्शकम्। १११॥ इति नयोपदेशोक्त सङ्गच्छते। येषा च मते पृथक् नैगमनयो विद्यते तन्मते यद्यपि परसामान्यपरापरसामान्यापरसामान्यानि तदाश्रयविशेषाँश्चाभ्युपगच्छति नैगमो नयस्तथाऽप्यसौ मिथस्सामान्यतदाश्रयव्यक्त्योर्भेदमामनुते, यतः सत्तासामान्य द्रव्यत्वादिक च स्वाश्रयेभ्योऽभिन्न स्यात्तदा स्वाश्रयवत्तस्याप्यनेकत्वात्तस्स्वाश्रयेषु यावत्स्वनुगतधर्माभावात् सत्सत् द्रव्य द्रव्यमित्या,

ध्यनुगतप्रतीतिर्न स्यादिति भिन्नेष्वभिन्नबुद्ध्यन्यथानुपपत्तेस्स्वाश्रयेभ्यस्सत्ताद्रव्यत्वादिकं भिन्नमेव, सत्ताद्रव्यत्वादितस्स्वाश्रयव्यक्तीनामभेदे तद्वत्तासामप्येकत्वापत्त्येव व्यक्तिर्भिन्नैत-द्व्यक्तेरियमपि भिन्नेत्यादिभेदव्यवहार उच्छिन्नस्स्यादिति दृश्यमानभेदव्यवहारान्यथाऽनुप-पत्त्या ततस्तासामपि भेद एवेति नैगमनयाऽभिप्राय, तदुक्तं विशेषावश्यकभाष्ये—

" सदिति भणिएऽभिमन्नइ दव्वादत्थंतरं ति सामन्नं ।
अविसेसओ मईए सव्वत्थाणुप्पवित्तीए ॥ २१९० ॥
गोत्तादओ गवाइसु नियया धाराणुवित्तिबुद्धीओ ।
परओ य निवित्तीओ सामन्नविसेसनामाणो ॥ २१९१ ॥" इति

व्यवहारनयस्त्वेवं नैगाभिमतुते, विशेषाणामेव वस्तुत्वेन व्यवस्थापनपरत्वात्तस्य, अत एव विशेषतो व्यवह्रियते निराक्रियते सामान्यं येनेति व्यवहार इति तस्य व्युत्पत्तिसिद्धान्ते गीयते, तन्मते विशेषव्यतिरिक्तं नास्ति सामान्यम्, योग्याऽनुपलब्धेः, खपुष्पवत्, विशेषास्तु सन्ति स्वपरपक्षग्राहकत्वात्, घटादिवत् । किञ्च जलाहरण-व्रणपिण्डीप्रदानादिको लोकव्यवहारो घट-निम्बपत्रादिविशेषैरेव साक्षात् क्रियमाणो दृश्यते, न सामान्येन, तस्माद्यदर्थान्तरभूतं सामान्यं नास्त्येव, लोकव्यवहाराऽनिर्वाहकत्वात्तस्य, यदभ्यधायि तत्त्वसुधावर्षिभाष्यकारेण—

" उवलंभववहाराभावाओ निव्विसेसभावाओ ।
तं नत्थि खपुप्फं पिव संति विसेसा सपच्चक्खं ॥ २२१४ ॥
जं च विसेसेहिं चिय संववहारो वि कीरए सव्वं ।
जम्हा तम्मत्तं चिय फुडं तदत्थंतरमभावो ॥ २२१५ ॥" इति

इत्येवं नैगमव्यवहारयोर्भेदः सिद्धान्तविदा व्यावर्ण्यते इति ॥ ४ ॥

एतावत्प्रबन्धेन सामान्यप्रस्तारार्थकसङ्ग्रहप्रस्तारस्य मूलव्याकरणी द्रव्यार्थिकनय, सङ्ग्रहव्यवहारौ तद्विकल्पाविति प्रतिपाद्याधुना विशेषप्रस्तारस्य मूलव्याकरणी यः पर्याया-र्थिकनयस्तस्य वृक्षस्वरूपस्य मूलमृजुसूत्रनय. शब्दसमभिरूढैवम्भूतनयास्तु तच्छाखा प्रशाखाप्रतिशाखारूपास्स्थूलसूक्ष्मसूक्ष्मतरभेदा इत्येतत्प्रतिपादयितुमाह—

मूलनिमेण पज्जव-णयस्स उज्जुसुअवयणविच्छेदो ।
तस्स उ सद्दाईआ, साहपसाहा सुहुमभेया ॥ ५ ॥ इति गाथासूत्रम् ।

पज्जवणयस्स पर्यायनयस्य, 'मूलनिमेण' आद्याधारः, स क इत्यत आह–"उज्जुसुय-वयणविच्छेदो" ऋजुसूत्रवचनविच्छेदो लक्षणया विच्छिद्यमानवचनप्रतिपाद्यार्थविषयकर्जु-

सूत्रनयः, 'तस्स उ' तस्य तु–ऋजुसूत्रतरोस्तु 'सद्दाईया' साहपसाहा सुहुमभेया' शब्दादिकाः शाखा—प्रशाखाः सूक्ष्मभेदाः, यथा तरोश्शाखा स्थूला प्रशाखा ततस्सूक्ष्मा प्रतिशाखा ततोऽपि सूक्ष्मतरा तद्वत् शाखात्मकश्शब्दनय' स्थूलः, प्रशाखात्मकस्समभि रूढनयस्ततस्सूक्ष्म', प्रतिशाखात्मक एवम्भूतनयस्ततोऽपि सूक्ष्मतर इति संक्षिप्तार्थः। विस्तृतार्थस्त्वेवम्–मूलनिमेण–अत्रानेकान्तव्यवस्थाग्रन्थे 'मूलनिमाण' इतिपाठः। मूलमेव आद्यमेव निर्माण आधारो मूलनिर्माण, मूलभूताधारः आद्याधारः पर्यायनयस्यर्जुसूत्रवचन विच्छेदः। ऋजु वर्त्तमानक्षणमात्रवर्त्ति वस्तु तस्यैव वर्त्तमानतत्क्षणस्थितिलक्षणस्वस्वरूपे व्यवस्थितत्वेन सद्रूपत्वात्, अतीतानागतयोस्तु विनष्टानुत्पन्नतया पररूपत्वेनासद्रूपत्वात्, तदेव सूत्रयति अर्थक्रियाकारितया सत्त्वेन परिच्छिनत्ति निश्चिनोति, नातीत, न वाऽनागतम्, तत्र सत्त्वव्यापकस्य क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाकारित्वस्य निवृत्त्या तद्व्याप्यस्य सत्त्वस्याऽपि निवृत्तिरिति तयोरसत्त्वेन कुटिलत्वादिरयृजुसूत्रम्, तस्योच्यत इति वचनम् उच्यमान पद वाक्य वा तस्य विच्छेदः, अन्त सीमेति यावत् 'कृदभिहितो भावो द्रव्यवत्प्रकाशत' इतिन्यायात् कृदभिहितो भावो द्रव्यवत् कृदभिहितद्रव्यवद्भासत इत्यर्थकाद् यथा "अमृतरसप्रस्यन्द-माध्वीकभूः" इतिकुसुमाञ्जलीयोदयनाचार्यवचने अमृतरसेति पदस्य रस्यमानममृतमि त्यर्थे, एवमेव प्रतिमाशतकद्वितीयपद्यस्योपज्ञवृत्तौ "नामादित्रयमेव" इत्यत्र नामादि पदस्य नामादिनिक्षेपपरत्वात् कृदभिहितन्यायाद् निक्षिप्यमाण नामादित्रयमित्यर्थ' कृतः। तद्वद्वचनविच्छेद इत्यस्यापि विच्छिद्यमान वचनमित्यर्थ'। अत्रानेनोपचाराद्विच्छिद्यमान वचनप्रतिपाद्यार्थविषयकर्जुसूत्राख्यो नयबोधो ग्राह्य.। तस्य च स्वविषय प्रतिपादयतः पूर्वापरपर्यायाऽसमक्ते वर्त्तमानैकपर्याय एव वचन विच्छिद्यते समाप्यते। वर्त्तमानपर्याय स्यातीतानागतात्मकपरपर्यायाऽसस्पर्शित्वेन तन्मात्रस्यैव बोधजनकत्वात्, उक्तञ्च ऋजुसूत्राभिमतमर्थं प्ररूपयद्भिः—

" पलाल न दहत्यग्नि–र्दह्यते न गिरिः क्वचित्।
नाऽसयतः प्रव्रजति, भव्यजीवो न सिद्ध्यति ॥ १ ॥" इति।

अस्मिन्नृजुसूत्रमते यः पलालरूपपूर्वपर्याय' सोऽग्निना न दह्यते, दहनक्रियाकाले पलालपर्यायस्य विनष्टत्वात्, यश्च भस्ममात्ररूपवर्त्तमानपर्यायोऽग्निना दह्यते स न पलाल-भावमनुभवति। अयम्भावः–क्रियाजन्यफलशालिन्येव कर्मत्व भवति, क्रियाजन्यफल शालित्वञ्च क्रियाकाले विद्यमानस्यैव, तथा चाग्निना दहनक्रियाकाले यदेव विद्यमान तस्यैव क्रियाजन्यफलशालित्वात्कर्मत्वावबोधकद्वितीयाविभक्तिप्रकृतिप्रतिपाद्यत्वम्, पला लस्य त्वग्निना दाहसमये न स्वस्वरूपेणावस्थानमिति तत्र दहनक्रियातो भस्मीभावलक्षण विकारस्य फलरूपस्याऽभावेन तत्कर्मत्वमेव न सम्भवति, यतो यद्भस्मीभावमनुभवति

तद्दहनक्रियाकाले वर्त्तमानमेव दहनक्रियाकर्म, तच्च न पलालः, तदानीमपलालभावा दिति नाग्निः पलालं दहतीति सिद्ध्यति । एवं गिरावपि ज्ञेयम् । यः पूर्वक्षणा वच्छिन्नोऽसंयतस्स न प्रव्रजति, तदानीमसंयतभावात्, यश्च प्रव्रजति स नासंयतः, तदानीं संयतभावात्, एवं यो भव्यो न स सिद्ध्यति, भव्यत्वपर्यायकाले सिद्धिपर्यायाऽ भावात्, यश्च सिद्ध्यति स न भव्यः, सिद्धत्वपर्यायकाले भव्यत्वपर्यायविनाशात्, न चैवं तर्हि व्यवहारबाधः स्यादिति वाच्यम्, सर्वस्मिन् नये क्वचिदंशे तद्बाधाऽनभ्युपगमादिति । "तस्स उ सद्दाईआ, साहपसाहा सुहुमभेया" इति तस्य ऋजुसूत्रतरोः, तुरवधारणार्थः, तेन तस्यैव न द्रव्यार्थिकस्य शब्दादयो गुणीभूतार्थप्रधानीभूतशब्दद्वारा श्रोतुः प्रतीतिजनका अत एव शब्दनयत्वेन प्रतीताः शब्दसमभिरूढैवम्भूताख्यास्त्रयो नयाः शाखाप्रशाखा प्रतिशाखा इव स्थूलसूक्ष्मसूक्ष्मतरभेददर्शित्वात्सूक्ष्मो भेदो विशेषो येषां ते सूक्ष्मभेदाः । यथा हि तरोः स्थूलाश्शाखाः, ततस्सूक्ष्मास्तत्प्रशाखाः, प्रतिशाखास्तु ततोऽपि सूक्ष्मतराः, एवमृजुसूत्रतरोस्स्थूलसूक्ष्मसूक्ष्मतरा: शाखाप्रशाखाप्रतिशाखारूपा यथाक्रममशुद्धशुद्धशुद्धतरा: श्शब्दसमभिरूढैवम्भूताख्यास्त्रयो नया ज्ञेयाः । तथाहि "तटस्तटीतट 'गुरुर्गुरवः' एहि मन्ये रथेन यास्यसि, न हि यास्यसि, यातस्ते पिता" वर्त्तमानैकक्षणमात्रवृत्तिर्मेरुः क्षणमात्र वर्त्तित्वलक्षणस्वसत्ताकाले भवतीति व्यवह्रियते, स एव स्वोत्तरक्षणापेक्षया बभूवेति व्यव ह्रियते, स्वपूर्वसमयापेक्षया स एव भविष्यतीति व्यवह्रियत इति बभूव भवति भविष्यति सुमेरुः । जलाहरणं करोति कुम्भः, क्रियते कुम्भश्चैत्रेण, "सन्तिष्ठते अवतिष्ठते, इत्यादौ त्रिलिङ्ग वृत्तिशब्दवाच्यमेकवचनान्तबहुवचनान्तशब्दवाच्यमुत्तममध्यमप्रथमपुरुषवाच्यञ्च त्रिभिन्न कालबोधकशब्दवाच्यञ्च भिन्नकर्तृकर्मबोधकशब्दवाच्यञ्च विभिन्नोपसर्गबोधकशब्दवाच्यञ्चै- कमेव वस्तु ऋजुसूत्राभ्युपगत लिङ्गसङ्ख्यापुरुषकालकारकोपसर्गभेदेन भिन्नं शब्दनयो वृक्षाच्छाखामिव सूक्ष्ममभिमन्यते । तदुक्तम्—

" विरोधिलिङ्गसङ्ख्यादि-भेदाद्भिन्नस्वभावताम् ।
तस्यैव मन्यमानोऽयं, शब्दः प्रत्यवतिष्ठते ॥" इति ।

शब्दनयाभ्युपगतं घटकुटकुम्भादिशक्रपुरन्दरशचीपत्यादिपर्यायभेदेऽप्यभिन्नमर्थमुक्त तत्तत्सञ्ज्ञाभेदैर्व्युत्पत्तिनिमित्तक्रियाभेदप्रयुक्तस्वस्ववाच्यभिन्नभिन्नार्थं शाखातः प्रशाखामिव सूक्ष्मतरं समभिरूढनयोऽध्यवस्यति तदाह—

" पर्यायशब्दभेदेन, भिन्नार्थस्याधिरोहणात् ।
नयः समभिरूढः स्यात्, पूर्ववच्चास्य निश्चये ॥ १ ॥" इति ।

समभिरूढनयेन घटत इति व्युत्पत्तिनिमित्तघटनक्रियायां कुटतीति व्युत्पत्तिनिमित्तकुट नक्रियायां शक्नोतीति व्युत्पत्तिनिमित्तशकनक्रियायां पुरन्दारयतीति व्युत्पत्तिनिमित्तपुर-

दारणक्रियायां सत्यामसत्याञ्च घटशब्दवाच्य एको घटः, कुटशब्दवाच्य एकः कुट शक्रशब्दवाच्य एकश्शक्रः, पुरन्दरशब्दवाच्य एकः पुरन्दर इति यदभ्युपगत तदेवम्भूत नयोऽभ्युपैति, तन्मते हि स्वव्युत्पत्तिनिमित्तक्रियाऽऽविष्टत्वे सत्येव तत्तच्छब्दवाच्य नान्यदा, यतः परमैश्वर्यानुभवनकाल एवेन्द्रः, अन्यदाऽनिन्द्रः, इन्द्रोपयोगः काल प्र योपयोगेन्द्रः, तत्क्षणानन्तर तत्पूर्वं वाऽनिन्द्रः, पश्चात्तदुपरमात्, तत्पूर्वं तदभावात् पुरदारणकाल एव तदुपयोगकाल एव वा पुरन्दरः, अन्यदाऽपुरन्दरः, प्रतिक्षणाऽतिक्राम् त्वात् वस्तुनो बुद्धिविषयो बुद्धिस्थो वा योऽर्थः स शब्दार्थः, अयम्भावः–क्षणे क्षणे अन् एवार्थ उत्पद्योत्पद्य बुद्धिविषयो भवति बुद्धौ वा तिष्ठतीति योऽर्थो यस्मिन् क्षणे बुद्धिविषय बुद्धिस्थो वा, तस्मिन्नेव क्षणे सोऽर्थः, अन्यदाऽनर्थः, इत्येव प्रशाखातः प्रतिशाखामि सूक्ष्मतममेवम्भूतनयोऽभ्युपैत्यति । यदुक्तम्—

" तत्क्रियापरिणामोऽर्थ–स्तथैवेति विनिश्चयात् ।
एवम्भूतेन नीयेत, क्रियान्तरपराङ्मुखः ॥ १ ॥ " इति

तच्च विवेचयिष्यते चाग्रे । एतच्च ऋजुसूत्रपदव्युत्पत्तिनिमित्त प्रत्युत्पन्नग्राहित्व पर्याय नयत्वमात्रपर्यवसन्नमभिप्रेत्य द्रष्टव्यम् । तथा च ऋजुसूत्रपदव्युत्पत्तिनिमित्तस्य प्रत्युत्पन्न ग्राहित्वस्य सकलपर्यायनयवृत्तित्वेन पर्यायनयत्वस्वरूपत्वमेव, एवञ्च तादृशधर्मालिङ्गितस्य र्जुसूत्रस्य शाखाप्रशाखाप्रतिशाखात्वेन त्रयाणां शब्दसमभिरूढैवम्भूतनयानामुपदर्शन पर्याय नयस्यैव शाखाप्रशाखाप्रतिशाखारूपतयोपवर्णन पर्यवसितम्, तथा च पर्यायार्थिकनयवरो मूलस्थानीय ऋजुसूत्रनय शाखास्थानीय शब्दनय, प्रशाखास्थानीयस्समभिरूढनयः प्रतिशाखात्मक एवम्भूतनय इति तच्चतुष्टयात्मकः पर्यायार्थिकनय इति भावः । प विशेषणभेदाऽप्रयुक्तर्जुसूत्रविषयप्रतियोगिकभेदानाधारविषयकप्रतीतिविषयकत्वम्, विशेषण भेदाप्रयुक्तो य ऋजुसूत्रनयविषयप्रत्युत्पन्नवस्तुप्रतियोगिको भेदस्तदनाश्रयविषयकप्रतीति विषयो यस्य तत्कत्वमित्येव पर्यवसितार्थमिह शब्दादीनामृजुसूत्रभेदत्व परिभाष्यते, तथ च शब्दनयविषयस्य ऋजुसूत्रनयविषयाद्भेदो लिङ्गसङ्ख्यापुरुषकालकारकोपसर्गलक्षणविशे षणभेदप्रयुक्त एव । एव समभिरूढनयविषयस्यापि सञ्ज्ञालक्षणविशेषणभेदादेव निरुक्तभेदः एवमेवम्भूतनयविषयस्यापि व्युत्पत्तिनिमित्तक्रियालक्षणविशेषणभेदप्रयुक्त एवोक्तभेदः, न तु स्वत इति विशेषणभेदाऽप्रयुक्तर्जुसूत्रविषयप्रतियोगिकभेदानाधारविषयकप्रतीतिविषयकत्व शब्दादिनयानां सिद्धमिति । न ह्येव व्यवहारस्य निरुक्तदिशा पारिभाषिक सङ्ग्रहभेदत्व सिद्ध्यति, यतस्स्वरूपत एव सङ्ग्रहनयविषयात्सामान्याद् व्यवहारनयविषयस्य विशेषस्य भेदेन तस्य विशेषणभेदाऽप्रयुक्तत्वेन तादृशभेदाऽऽधारविषयकप्रतीतिविषयकत्वमेव व्यव

वाऽनन्तरोक्तस्य सकलपर्यायनयभेदेषु वृत्तित्वेन नयविभाजकर्जुसूत्रत्वधर्माक्रान्तानां शब्दादिनयाना त्रयाणामृजुसूत्रनयात्मकमूलस्य शाखाप्रशाखाप्रतिशाखात्वाभ्युपगमे तेषां नयविभाजकोपाधिव्याप्यविभाजकोपाधिमत्त्वेन नयप्रभेदत्वापत्तेः "सत्त मूलणया पन्नत्ता" इति सूत्रविरोधप्रसङ्ग इति चेत्, मैवम्, शब्दादिनयभिन्नत्वे सति प्रत्युत्पन्नग्राहित्वमृजुसूत्रत्वमिति लक्षणलक्षितस्यैवर्जुसूत्रत्वस्य नयविभाजकधर्मतयाऽभ्युपगमात्, तस्य च शब्दादिनयेष्वभावेन तद्व्याप्यत्वस्य शब्दनयत्वादावभावात् शब्दनयादीनां नयप्रभेदत्वापत्त्यभावात्, तथा च नोक्तसूत्रव्याघातः। पूर्वोक्तपारिभाषिकलक्षणस्यर्जुसूत्रत्वस्य प्ररूपणं तु शब्दादिनयानामृजुसूत्रशाखाप्रशाखाप्रतिशाखात्वप्रदर्शनायेति॥ अयञ्च सर्वोऽपि ऋजुसूत्रवचनविस्तारो बाह्यार्थाभ्युपगमपरो द्रष्टव्यः, स च सौत्रान्तिकाख्यतथागतमतविशेषस्य वैभाषिकाख्यतथागतमतविशेषस्य च मूलकारणम्। ननु अनयोः किं वैलक्षण्यमिति चेत्, उच्यते, तयोः क्षणिकबाह्यार्थाभ्युपगमापेक्षया साम्यमेव, परमार्थस्य ग्राह्यग्राहकयोर्निर्भिन्नक्षणे निष्पत्तिः, ज्ञानज्ञेयत्वलक्षणयोर्विषयविषयिभावसम्बन्धस्याभावेऽपि प्रतिकर्मव्यवस्था 'यदाकारं ज्ञानं तत् तज्ज्ञानकर्मेति व्याप्तिमहत्त्वात् घटपटादिविज्ञानं घटपटादिकर्मकं प्रतिनियततत्तदर्थाकारवादित्यनुमानात् सिद्ध्यतीति साकारविज्ञानवादः। अत एवैतन्मते "प्रत्यक्षो नहि बाह्यवस्तुविसरः सौत्रान्तिकैराश्रितः" इत्युक्तेः प्रत्यक्षतो नार्थसिद्धिः किन्त्वनुमानादेव, यदाकारं ज्ञानं तेन तस्मिद्धिरिति व्याप्तेः। द्वितीयस्य तु मते "अर्थो ज्ञानसमन्वितो मतिमता वैभाषिकेणेष्यते" इत्युक्तेर्ज्ञानज्ञेययोरेकक्षण एवोत्पत्तिः प्रतिनियततत्तदर्थोत्पादकसामग्रीप्रभवत्वादेव ज्ञानस्य प्रतिकर्मव्यवस्थेति निराकारविज्ञानवादः। तन्मते निर्विकल्पप्रत्यक्षादेव बाह्यार्थसिद्धिः, न तु सविकल्पप्रत्यक्षात्, तस्याऽसद्विषयकत्वेनाप्रामाणिकत्वात्, नन्वेवं तर्हि नीलादेः क्षणिकत्वेन दानादौ च स्वर्गप्रापणसामर्थ्यभावेन नीलादिनिर्विकल्पप्रत्यक्षान्नीलादेरिव क्षणिकत्वांशस्य दानादिनिर्विकल्पप्रत्यक्षाद्दानादेरिव स्वर्गप्रापणसामर्थ्यांशस्यापि सिद्धिप्रसङ्ग इति चेत्, मैवम्, यत्रैव जनयेदेनां तत्रैवास्य प्रमाणता" इतिवचनात्तदंशे सविकल्पप्रत्ययानुत्पादात्तदंशे प्रामाण्याभावात्तदसिद्धेः। यद्वा ऋजु बाह्यार्थाऽपेक्षया ग्राहकसंवित्तिभेदविकलमविभागं बुद्धिस्वरूपमकुटिलं सूत्रयतीति ऋजुसूत्रः शुद्धपर्यायास्तिकनयः। अयञ्च बहिरर्थसंस्पर्शरहितक्षणिकविज्ञप्तिमात्राभ्युपगमपरयोगाचाराख्यशौद्धोदनिमतविशेषप्रवर्त्तक इति। अथवा एकत्वानेकत्वसमस्तधर्मकलापविकलतया तदपि विज्ञानं विचारश्रेण्या शून्यरूपमृजु सूत्रयतीति ऋजुसूत्रः, अयञ्च माध्यमिकदर्शनावलम्बी सर्वभावशून्यताप्रतिपादनपरो माध्यमिकसञ्ज्ञकबौद्धमतविशेषप्रवर्त्तको ज्ञेयः, "सव्वनयमय जिणमयमणवज्जमच्चंत" इति भाष्योक्तेः अशेषांशविशिष्टार्थग्राहित्वात् सर्वनयात्मकं भगवद्दर्शनम्, इतरांशनिरपेक्षैकैकांशप्रतिपादकतद्दर्शनानि च वस्त्वेकैकांशपरि

च्छेदलक्षणतत्त्वनयप्रभवाणीति ग्रन्थकार एवाग्रे प्रतिपादयिष्यति। तथा च तत्तद्दर्शनमूलकारणत्वात्तत्तन्नयः प्रकृतिस्तस्मादाविर्भूतत्वात्तत्तद्दर्शनं विकृतिरिति पूर्वोक्तव्युत्पत्त्या ऋजुसूत्रनयस्य सौत्रान्तिकवैभाषिकयोगाचारमाध्यमिकभेदभिन्नबौद्धदर्शनप्रकृतित्वं प्रतिपाद्य ऋजुसूत्रनयस्य पूर्वापरक्षणासंस्पर्शिस्थितक्षणिकार्थद्वयकार्यकारणमात्राभ्युपगमपरसौत्रान्तिकारूपतथागतमतविशेषप्रकृतित्वम्, शब्दनयस्य च एकक्षणस्थविषयतज्ज्ञानरूपपदार्थद्वयकार्यकारणभावाभ्युपगमपरवैभाषिकाख्यतथागतमतविशेषप्रकृतित्वम्, समभिरूढनयस्य च परमार्थभूतबाह्यार्थो नास्त्येव, विज्ञानमेव पूर्वपूर्ववासनावैचित्र्यात् स्वाभिन्ननीलपीताद्याकारमवभासत इति परमार्थभूतबाह्यार्थाऽभावाच्च तद्ग्राहकं ज्ञानम्, अयं नील इत्यादिबहिर्वेदयमानस्तु वासनाविपर्ययकृतो भ्रम इति बाह्यनिरपेक्षक्षणिकसाकारवादाभ्युपगन्तृयोगाचाराऽभिख्यशौद्धोदनिमतविशेषप्रकृतित्वम्, एवम्भूतनयस्य च विज्ञानमपि विचार्यमाणमेकानेकरूपत्वाऽयोगाच्छून्यतारूपमिति शून्यताभ्युपगमपरमाध्यमिकसंज्ञकबौद्धमतविशेषप्रकृतित्वं सम्मति-टीकायां यथा प्रतिपादितं तथोच्यते—" अथवा सौत्रान्तिकवैभाषिकौ बाह्यार्थमाश्रितौ ऋजुसूत्र-शब्दौ यथाक्रमम्, वैभाषिकेण नित्याऽनित्यशब्दवाच्यस्य पुद्गलस्याभ्युपगमात्, शब्दनयेऽनुप्रवेशस्तस्य। अत्र वैभाषिकस्य शब्दनयपक्षपातित्वे ज्ञानार्थलक्षणयौगपद्यरूपव्यञ्जनपर्यायप्रधानत्वादिति द्वितीयोऽपि हेतुर्नयामृततरङ्गिण्याख्योपाध्यायैरुक्त इति। बाह्यार्थप्रतिक्षेपेण विज्ञानमात्रं समभिरूढो योगाचारः। एकानेकधर्मविकलतया विज्ञानमात्रस्याप्यभाव इत्येवम्भूतो व्यवस्थित एवम्भूतो माध्यमिक इति," अत्र तार्किकमते सैद्धान्तिकमतेऽपि च पूर्वपूर्वनया बहुबहुविषयका उत्तरोत्तरनयाश्चाल्पाल्पविषयकाः, सत्तारूपेण सकलार्थविषयकात्संग्रहात्तार्किकमते सत्ताव्यतिरिक्तसामान्यविशेषविषयकस्य व्यवहारस्याल्पविषयकत्वम्, तादृशव्यवहाराच्च वर्त्तमानक्षणमात्रस्थाय्यर्थाभ्युपगमपरस्यर्जुसूत्रस्याल्पविषयकत्वम्। सैद्धान्तिकमते च सन्मात्रविषयकस्य संग्रहस्य भावाभावपदार्थविषयकान्नैगमादल्पविषयकत्वं, समस्तसत्समूहाभ्युपगमपरत्वेन बहुविषयकात् संग्रहात् विशेषार्थमात्राभ्युपगन्तृव्यवहारस्याल्पविषयकत्वम्, कालत्रयवर्त्तिविशेषार्थविषयकव्यवहाराद्वर्त्तमानक्षणमात्रवर्त्यर्थाभ्युपगच्छत ऋजुसूत्रनयस्याल्पविषयकत्वम्, लिङ्गसङ्ख्यापुरुषादिभेदेऽप्यभिन्नमर्थमुपगच्छत ऋजुसूत्राल्लिङ्गसङ्ख्यापुरुषादिभेदेन भिन्नमर्थमभ्युपगच्छन् शब्दनयोऽल्पविषयकः, संज्ञाभेदेऽप्यभिन्नमर्थमुररीकुर्वञ्छब्दनयात्संज्ञाभेदप्रयुक्तार्थभेदस्वीकर्तृसमभिरूढनयोऽल्पविषयकः, ततोऽपि व्युत्पत्तिनिमित्तक्रियाभेदप्रयुक्तार्थभेदावलम्ब्येवम्भूतनयोऽल्पविषयकः, यत इन्द्रादिशब्दव्युत्पत्तिनिमित्तभूतेन्दनादिक्रियायां सत्यामसत्यां चेन्द्राद्यात्मकेऽर्थे इन्द्रादिशब्दव्यपदेशं यथा समभिरूढनयोऽभ्युपैति न तथैवम्भूतो नयः, एतन्मते स्वव्युत्पत्तिनिमित्तभूतक्रियापरिणतिकाल एव शब्दवाच्यार्थसत्ताऽभ्युपगमेन तादृशक्रियापरिणत्यभावकाले भिन्नक्रियासद्भावेनार्थभेदसद्भावादिति। तदुक्तं तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिके—

" सन्मात्रविषयत्वेन, संग्रहस्य न युज्यते ।
महाविषयता भावा-ऽभावार्थालिंगमान्नयात् ॥ १ ॥

यथा हि सति संकल्प-स्तथैवासति विद्यते ।
तत्र प्रवर्त्तमानस्य, नैगमस्य महार्थता ॥ २ ॥

संग्रहाद्व्यवहारोऽपि, सद्विशेषावबोधकः ।
न भूमविषयोऽशेष-सत्समूहोपदर्शिनः ॥ ३ ॥

नर्जुसूत्रः प्रभूतार्थो, वर्त्तमानार्थगोचरः ।
कालत्रितयवृत्त्यर्थ,-गोचराद्व्यवहारतः ॥ ४ ॥

कालादिभेदतोऽप्यर्थ-मभिन्नमुपगच्छतः ।
नर्जुसूत्रान्महार्थोऽत्र, शब्दस्तद्विपरीतवान् ॥ ५ ॥

शब्दात्पर्यायभेदेना-ऽभिन्नमर्थमभीप्सतः ।
न स्यात्समभिरूढोऽपि, महार्थस्तद्विपर्ययः ॥ ६ ॥

क्रियाभेदेऽपि चाभिन्न-मर्थमभ्युपगच्छतः ।
नैवम्भूतः प्रभूतार्थो, नयः समभिरूढतः ॥ ७ ॥

पूर्वः पूर्वः प्रभूतार्थो, नैगमादिनयेष्विह ।
परः परस्तु सूक्ष्मार्थ-स्तदित्यं सिद्धिमाययौ ॥ ८ ॥ " इति ।

द्रव्यार्थिकनये सकलोपाधिरहितत्वेन शुद्धसन्मात्रस्यैव विषयीकरणात् सम्पगेकत्वेन सर्वस्य ग्रहणात् संग्रह एव शुद्धः, प्रकृतगाथायां "द्रव्यार्थिकनयाऽशुद्धप्रकृतिर्नैगमनयोऽपि" इत्यनुक्तेः पूज्यश्रीसिद्धसेनदिवाकरमतेन संग्रहव्यवहारनयाभ्यां नैगमनयो न पृथग्भूत इति न चर्चार्हः । सामान्यविशेषविमिश्रणाद्व्यवहारस्संग्रहापेक्षयाऽशुद्धः । अत एव सम्मति टीकायां सर्वमेकं सदविशेषादिति शुद्धद्रव्यास्तिकाभिप्रायः, अशुद्धस्तु द्रव्यार्थिको व्यवहारनयमतावलम्बी एकान्तनित्यचेतनाचेतनवस्तुद्वयप्रतिपादकसांख्यदर्शनाश्रित इत्युक्तम्, पर्यायार्थिकनये तु यद्यदपेक्षया योऽल्पविषयको नयस्स तदपेक्षया शुद्ध इत्युत्तरोत्तरनया अल्पाल्पविषयकाश्शुद्धशुद्धतरशुद्धतमाः, पूर्वपूर्वनयास्त्वशुद्धाऽशुद्धतराऽशुद्धतमाः, बहुबहुविषयकत्वात्, तथाहि-एतत्प्रकरणकारमते ऋजुसूत्रनयस्य पर्यायार्थिकनयभेदत्वात् स तावदशुद्धः, कालकारकलिङ्गादिभेदेऽप्यर्थाभेदाभ्युपगमपरत्वात्, शब्दनयस्तु शुद्धः, तन्मतेन कालादिभेदेन वस्तुनो भेदाभ्युपगमात् । ततोऽपि समभिरूढः शुद्धतरः, तन्मते पर्यायशब्देषु निरुक्तिभेदेन भिन्नस्यार्थस्याभ्युपगमादेकार्थवाचकपर्यायशब्दाभावात् पर्यायभेदेनापि भेद-

स्योरीकरणात् । ततोऽपि चैवम्भूतनयश्शुद्धतमः, अथ नयश्शब्दानां स्वव्युत्पत्तिनिमित्त भूतक्रियापरिणतमर्थं तत्क्रियाकाल एव वाच्यत्वेनाभ्युपगच्छतीत्येतन्मते क्रियाऽनाविष्टस्याऽपि वस्तुनो भेदप्रतिपत्तृत्वादिति । तत्रापि श्रीसिद्धसेनदिवाकरमतेऽर्थनयास्सङ्ग्रहव्यवहारर्जुसूत्राख्यास्त्रयो नयाः । सैद्धान्तिकमते नैगमसङ्ग्रहव्यवहारर्जुसूत्राख्याश्चत्वारो नयाः, उपसर्जनीभूतशब्दप्रधानीभूतार्थाऽभ्युपगमपरत्वेन शब्दतद्धर्मभेदेनार्थभेदाऽस्वीकर्तृत्वात् । उभयमतेऽपि शब्दसमभिरूढैवम्भूताख्या नयास्त्रयश्शब्दनयाः, ते हि शब्दप्रधानतया शब्दतद्धर्मभेदेनार्थभेदं स्वीकुर्वन्तीति यथा शब्दस्तथाऽर्थ इत्यभ्युपगमपरत्वाच्छब्दमेव प्रधानमिच्छन्ति, अर्थं तु गौणम्, शब्दवशेनैवार्थप्रतीतेः । उक्तञ्च तत्त्वार्थश्लोकवार्तिके—

> "तत्रर्जुसूत्रपर्यन्ता,–श्चत्वारोऽर्थनया मताः ।
> त्रयः शब्दनयाः शेषाः, शब्दवाच्यार्थगोचराः ॥ १ ॥" इति

एते च नयाः परस्परमापेक्षाश्चेत्तदा सुनयाः, अन्यथा तु मिथ्यानयाः, एतच्चाग्रे प्रतिपादयिष्यते, तदेव व्यवस्थितमेतत्, तस्य तु शब्दादयश्शाखाप्रशाखाप्रतिशाखाः सूक्ष्मभेदा इति ॥ ५ ॥

अथ नयैरिव निक्षेपैरपि सूक्ष्मेक्षिकया सम्यक्समीक्षामकर्तुरविचारितरमणीयतयाऽपरमार्थभूतोऽर्थः परमार्थतया परमार्थश्चापरमार्थतया प्रतिभासेतेत्यतो नयानुयोगद्वारवन्निक्षेपानुयोगद्वारमपि व्याख्याक्षम्, निक्षेपाश्च नामस्थापनाद्रव्यभावभेदेन चतुर्विधा इति, तत्रापि द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयौ मूलव्याकरणिनाविति दर्शयन्नयोर्व्यापकतां प्रदर्शयितुमाह—

> "नामं ठवणा दविए–त्ति एस दव्वट्ठियस्स निक्खेवो ।
> भावो उ पज्जवट्ठिअस्स, परूवणा एस परमत्थो ॥ ६ ॥"

अस्या उत्तरार्द्धे शास्त्रवार्तासमुच्चयादौ–"भावो उ पज्जवट्ठिअ, परूवणा एस परमत्थो" इति दृश्यते । अथवा वस्तुनिबन्धनाध्यवसायनिमित्तव्यवहारमूलकारणतामनयोः प्रतिपाद्य अधुनाऽध्यारोपितानध्यारोपितनाम–स्थापना–द्रव्य–भावनिबन्धनव्यवहारनिबन्धनतामनयोरेव प्रतिपादयन्नाहाऽऽचार्यः–नाम ठवणा इत्यादि । नामस्थापनाद्रव्यैतन्निक्षेपत्रयं द्रव्यार्थिकनयस्य, भावस्तु पर्यायार्थिकनयस्य निक्षेपः, एष एवोभयनयप्रविभागः परमार्थ इति निष्कर्षः, अवयवार्थस्त्वेवम्—"नाम ठवणा दविए त्ति" नामस्थापनाद्रव्यमिति 'एस दव्वट्ठियस्स निक्खेवो' एष निक्षेपो द्रव्यार्थिकस्य द्रव्यार्थिकनयस्याभिमतः । यद्वा द्रव्यार्थिकस्येत्यनन्तर मतेनेति शेषः । द्रव्यमात्रग्राहिणस्तस्य नयस्य नामस्थापनाद्रव्याणां कालत्रयानुगामित्वेन द्रव्यरूपतया तत्त्रितयग्राहित्वेऽपि भावस्य क्षणमात्रवर्तित्वेन द्रव्यानात्मकतया तदग्राहित्वात् । अत एवाह "भावो उ पज्जवट्ठिअस्स परूवणा" इति । भावो

भावनिक्षेपः, तु पुनः, पर्यायास्तिकस्य पर्यायास्तिकनयस्य, प्ररूपणा प्ररूपणाविषयः, प्ररूप्यते इति प्ररूपणेति व्युत्पत्तेः, तत्र कर्मणि प्रपूर्वकरूपिधातोर्युप्रत्ययः। पर्यायमात्रग्राहिणस्तस्य भावस्य पर्यायरूपतया तन्मात्रग्राहित्वेऽप्युक्तनिक्षेपत्रयस्य विवक्षितभावानात्मकत्वेन तदग्राहकत्वात्। यद्वा नामस्थापनाद्रव्यमित्येव निक्षेपो "वाक्येऽवधारणं तावदनिष्टार्थनिवृत्तये। कर्तव्यमन्यथाऽनुक्त-समत्वात्तस्य कुत्रचित्॥ १॥" इति वचनात् सर्वं वाक्यं सावधारणं भवतीति नियमेन द्रव्यार्थिकस्य द्रव्यार्थिकनयस्यैवाभिमतः, न पर्यायास्तिकनयस्य, नामादिनिक्षेपत्रयस्य विवक्षितभावानात्मकत्वात्, पर्यायास्तिकनयस्य तु भावलक्षणपर्यायमात्रग्राहित्वात्। भावो भावनिक्षेपः, तु पुनः, पर्यायास्तिकस्य पर्यायास्तिकनयस्यैव, प्ररूपणा प्ररूपणाविषयः। न द्रव्यार्थिकनयस्य, तस्य द्रव्यमात्रग्राहित्वेन भावाऽनवलम्बित्वादिति। तत्र यस्य कस्यचिद्वस्तुनो व्यवहारार्थमभिधानं निमित्तमनपेक्ष्य निमित्तानपेक्षं वा यत्सङ्केत्यते तन्नाम, यथा स्वर्गाधिपस्य स्वर्गाधिपत्यलक्षणैश्वर्यात्मकनिमित्तापेक्षया इन्द्र इत्यभिधानं अयमिन्द्र इत्येव सङ्केत्यते, अर्थात् यस्य नाम्नो व्युत्पत्तिनिमित्तविशिष्टोऽर्थो यो भवति तत्र तन्नाम यदि सङ्केत्यते तदा निमित्तमनपेक्ष्य तत्, एवं सङ्केतद्वारा यन्नाम वाच्यतया व्यवहर्तव्यो योऽर्थो व्युत्पत्तिनिमित्ताऽऽकलितो न भवति तत्र तादृशनिमित्तमन्तरेणैव तन्नाम व्यवहारार्थं सङ्केत्यते तदा निमित्तानपेक्षं तत्, यथा गोपालदारके इन्द्रशब्दपर्यायान्तरशक्रपुरन्दराद्यवाच्ये अयमिन्द्र इति सङ्केतमात्रेणारोपितमिन्द्रनाम इन्द्रनामनिक्षेपः। अत्रेदमवधेयम्-गोपालदारकस्येन्द्रपदवाच्यत्वे तत्रेन्द्रपदवाच्यतावच्छेदकं नेन्द्रत्वं, भावेन्द्रवर्तिनस्तस्य गोपालदारकेऽभावात्, नापि गोपालदारकत्वं, यस्मिन्गोपालदारके इन्द्रपदवाच्यता नास्ति तत्रापि गोपालदारकत्वस्य सद्भावात्, गोपालसम्बन्धित्वदारकत्वोभयघटितमूर्तिकस्य तस्य सखण्डस्य किञ्चित्पदप्रवृत्तिनिमित्तत्वाभावात्, किन्तु यस्मिन् गोपालदारके इन्द्रपदसङ्केतः क्रियते तद्गोपालदारके जन्मतो मरणपर्यन्तमुपचयापचयतोऽनेकशरीरभेदतस्तदनुगतं सामान्यमेव चैत्रत्वादिसामान्यवत्तत्समस्ति तदेव तत्रेन्द्रपदवाच्यतावच्छेदकं, तच्च नामेन्द्रत्वशब्देनाभिधीयत इति। सङ्केतकरणं क्वचिदभेदेन यथाऽयं घटः, अत्र घट इत्यस्य घटशब्दवाच्य इत्यर्थकत्वेन तस्याभेदसम्बन्धेनेदंपदार्थेऽन्वयकरणाद् भेदेन सङ्केतकरणम्। क्वचिद्भेदेन, यथा 'अस्य वाचकः शब्दो वाचक इति, अत्र वाचकशब्दस्य बोधजनकत्वप्रकारकेच्छाविशेष्योऽर्थः तदेकदेशे बोधे षष्ठ्यर्थस्य विषयत्वस्य निरूपकत्वसम्बन्धेनान्वयः, तस्मिंश्च विषयत्वे इदम्प्रकृत्यर्थस्य घटत्वावच्छिन्नस्याधेयत्वसम्बन्धेनान्वयः, तथा च घटत्वावच्छिन्ननिष्ठविषयतानिरूपकबोधजनकत्वप्रकारकेच्छाविशेष्यो घटशब्द इति बोध इत्येवं भेदेन सङ्केतकरणम्, इच्छा चात्र घटविषयकबोधजनको घटशब्दो भवत्वित्याकारिका 'सैव च सङ्केतः' तत्करणं च तद्विषयकप्रतिपाद्यगतबोधानुकूलो व्यापारः, स चायमस्य वाचक इत्याकारक आप्तोपदेशरूपः, अथवा घटशब्दवाच्यो घट इत्याकारको

घटशब्दजन्यबोधविषयत्वप्रकारकेच्छाविशेष्यो घट इत्याकारकप्रतिपाद्यगतबोधानुकूलव्यापारः सङ्केतकरणं, तत्रेच्छा घटपदाद् घटो बोद्धव्य इत्याकारिका। तत्रापि वस्तुनः कथञ्चित्सामान्यविशेषात्मकतया समानासमानाकारपरिणत्यात्मकेऽपि तस्मिन् न प्रतिव्यक्तिभिन्नत्वलक्षणाऽसमानपरिणामस्सङ्केतोपयुक्तः, तस्याननुगतत्वेन तत्सङ्केतितशब्दश्रवणे तदर्थविषयककर्मक्षयोपशमसहकृतसङ्केतज्ञानमनुद्भूतवाच्यवाचकभावसम्बन्धस्मरणप्रभवार्थस्मृतिद्वारा तत्सजातीयव्यक्त्यन्तरशाब्दबोधानुपपत्तिप्रसङ्गात्, न च प्रत्येकं सर्वासु व्यक्तिषु सङ्केतादुक्तदिशा शाब्दबोध इति वाच्यम्, व्यक्तीनामानन्त्येन तासु सङ्केतकरणस्याशक्यत्वात्, किन्तु समानपरिणतिलक्षणतिर्यक्सामान्यस्यानुगतत्वेन तदात्मके तद्विशिष्टे वा सङ्केतः कर्तुं शक्य इति समानपरिणाम एव सङ्केतोपयुक्तः, परपुरुषोच्चारितशब्दश्रवणेनापि समानपरिणतिविशिष्टस्यैवार्थस्य शाब्दबोधे प्रतिभासमानत्वात् स एव शब्दार्थः, यश्शाब्दप्रतीतौ प्रतिभाति स एव शब्दस्यार्थ इत्यत्र प्रामाणिकानामविवादात्, न त्वसमानपरिणामोऽत्यन्तविलक्षणस्तदर्थः। ननु समानपरिणामस्यानुगतत्वेन तद्विशिष्टे वस्तुनि सङ्केतकरणसौकर्यान्नामवत् तदभिधायि नाम, किन्तु तद्द्रव्यार्थिकनयाभिमतनिक्षेपरूपं कथम्, शब्दरूपस्य नाम्नः कृतकत्वेन द्रव्यधर्मस्य नित्यत्वस्य तत्राभावेन द्रव्यरूपत्वाभावेन द्रव्यार्थिकनयविषयत्वाभावादिति चेत्, उच्यते, दूरादागतोऽयं शब्द इत्यादिप्रतीतिसिद्धक्रियावत्त्वादिहेतुना शब्दस्य पौद्गलिकत्वस्य सिद्धेः, अत एव वायुवहनसंहरणद्वाराऽनुपातशैलादिप्रतिघातादिकं सङ्घटते, इदमुक्तं भवति–धूमवद्वायुना नयनं, धूमवद्गृहादौ पिण्डीभवनं, तोयवद् द्वारानुविधानं, पर्वतनितम्बादिषु वायुवत्प्रतिघातादिकञ्च शब्दस्य पौद्गलिकत्वे सत्युपपन्नं भवति, गुणत्वे च तस्य वायुवहनसंहरणादीनां क्रियाविशेषाद्यात्मकत्वेन तदनुपपत्तिस्स्यात्, गुणे क्रियानङ्गीकारात्, यदाह भगवान् भाष्यकारः—

" जं ते पोग्गलमइआ, सकिरिया वाउवहणाओ ॥ २०६ ॥
धूमोव्व संहरणाओ, दाराणुविहाणओ विसेसेण ।
तोयं व णितबाइसु, पडिघायाओ अ वाउव्व ॥ २०७ ॥ " इति ॥

अत एव " बारसहिं जोयणेहिं सोय अभिगेण्हए सद्द " इति पारमर्षवचस्सङ्गच्छते। तथा च पुद्गलरूपतया नित्यत्वेन तत्र द्रव्यत्वमस्त्येव, शब्दस्य वा स्वस्वरूपेणापि किञ्चित्कालस्थायितया घटादेरिव द्रव्यरूपत्वमेव, पर्यायस्यैकक्षणमात्रस्थायित्वलक्षणत्वेन तद्रूपत्वाभावाच्च। किञ्च शब्दस्य कृतकत्वेऽपि यस्मिन् यस्मिन्नर्थे सङ्केतद्वारेण शब्दो नियुज्यते तस्मिन् तस्मिन्नर्थे प्रतिपादकत्वेन प्रवर्तत इत्यनुगतत्वेन द्रव्यसाधर्म्याद्द्रव्यार्थिकनयाभिमतनिक्षेपरूपं शब्दात्मकं नामेति प्रतिपत्तव्यम्, किञ्च वाच्यवाचकभावसम्बन्धो नित्यः, अन्यथा वाच्यस्यावाच्यत्वं वाचकस्य चावाचकत्वं कदाचित्स्यात्, न चैवं तर्हि सङ्केतग्रह

विनापि तज्ज्ञानेन शाब्दप्रतीतिस्स्यादिति किमन्वर्थग्रहणा तेनेति वाच्यम्, सङ्केताभिव्यक्तस्यैव तस्य पदार्थस्मृतिद्वारा शाब्दप्रतीतिजनकत्वात्, तथा च सम्बन्धस्य कथञ्चित्सम्बन्धिद्वयाऽभिन्नत्वेन सम्बन्धिनः शब्दस्योक्तसम्बन्धद्वारा नित्यत्वमिति द्रव्यार्थिकनयापेक्षया नामनिक्षेपश्शब्द इति सिद्धम् । ननु भवतु नामनिक्षेपसिद्धिस्तथापि तन्नाम वस्तुस्वरूपमेवेत्यत्र किं मानमिति चेत्, उच्यते, नाम वस्तुस्वरूपमेव तत्प्रत्ययहेतुत्वात्, स्वधर्मवत्, नामायत्तात्मलाभास्सर्वे व्यवहारा इति तद्धेतुत्वाच्चेत्यनुमानमेव । " अर्थाभिधानप्रत्ययास्तुल्यनामधेयाः " इति वचनादेकशब्दवाच्यत्वेन नामनामवतोः कथञ्चिदभेदतश्शब्दस्यार्थात्मकत्वादेव स्तुतौ रागः स्तुत्यस्य, द्वेषश्च निन्दायां द्वेष्यस्येति, भगवन्नामनिक्षेपस्य भगवद्रूपत्वादेव च तन्नामस्तुतिरपि भगवत्स्तुतिरेवेति तयाऽऽरोग्यबोधिलाभसमाधिमरणादिफलोत्पादो दृश्यत इत्येतद्दृष्टान्तबलात् सर्वस्य नाम्न' स्ववाच्यार्थस्वरूपत्वं ज्ञेयम् । यद्वस्तु भावभूतार्थलक्षणाऽसद्घटित भावपदार्थेन सहाभेदबुद्धिलक्षणे नाम्नकोऽयमित्यभिप्रायेण सद्भूताकारेण पुस्तचित्रकर्मादावसद्भूताकारेणाक्षादौ चेत्वरकालं यावत्कथिकं वा स्थाप्यते प्रतिनिधीयते तद्वस्तु स्थापना, णिजन्तात्स्थाधातो' कर्मणि युप्रत्ययः। भावभूते सर्ववस्तुनि स्वाकारसदृशाकारवत्तद्रहितत्वलक्षणसद्भावासद्भावान्यतररूपतया स्थापनाया. प्रवर्त्तमानत्वात् द्रव्यधर्मसद्भावादेकत्वाध्यवसायकत्वमेव तस्या द्रव्यार्थत्वमिति द्रव्यार्थिकनिक्षेप स्थापना । एतेन कल्पनाशिल्पिनिमित्तत्वेन तत्तद्वस्तुस्थापना तत्तद्वस्तुतो भिद्यते न मुख्यार्थस्वरूपेत्याशङ्काऽपि निरस्ता, यतो घटाकारोऽपि घट एव, तुल्यपरिणामत्वात्, अन्यथा तत्त्वाऽयोगात्, मुख्यार्थमात्रामात्रादव तत्प्रतिकृतित्वोपपत्ते., अत एव जिनप्रतिमा जिनसदृशीति सिद्धान्ते गीयते, अक्षादावभिप्रायसम्बन्ध प्रतिमादौ चाकारसम्बन्ध पुरस्कृत्योपात्स्यमाना जिनादिस्थापना एकसम्बन्धिज्ञानमपरसम्बन्धिस्मारकमिति न्यायेन स्थाप्यस्मृतिद्वारा स्थाप्यगतगुणप्रणिधानोद्रेकलक्षणभावाभिवृद्धेस्तज्जनितनिर्जराविशेषस्य विधायिनी, तथा च स्तवबोधितचलवदनिष्टाननुबन्धीष्टसाधनताकतद्गतगुणस्मृतिजनकसंस्कारोद्बोधकाभिप्रायाकारान्यतरसम्बन्धवत्त्व तत्स्थापनात्वमिति फलित भवति । ननु नामस्थापनयो' को विशेष इति चेत्, उच्यते–यथेन्द्रादिप्रतिमास्थापनायां कुण्डलाङ्गदादिभूषित' सन्निहितशचीवज्रादिराकार उपलभ्यते, न तथा नामेन्द्रादौ, एवं यथा तत्स्थापनादर्शनाद् भावः समुल्लसति, नैवमिन्द्रादिनामश्रवणमात्रात्, यथा च तत्स्थापनाया लोकस्योपयाचितेच्छापूजाप्रवृत्तिसमीहितलाभादयो दृश्यन्ते, नैवमिन्द्रनामादावित्येवमन्यदपि वाच्यमिति । " सब्भावमसब्भावे ठवणा " इत्यार्षवचनाच्छास्त्रे सद्भावासद्भावाख्या स्थापना द्विधा गीयत इति तल्लक्षणं तदुभयलक्षणं च किमिति चेत्, उच्यते, स्थाप्यमानस्येन्द्रादेरनुरूपाङ्गोपाङ्गचिह्नवाहनप्रहरणादिपरिकरो य आकारविशेषो यद्दर्शनात् साक्षाद्विद्यमाने-

न्द्रादिरिवेन्द्रादिर्लक्ष्यते स सद्भावस्थापना, भावेन्द्रमाजिनाद्याकृतिनिर्मुक्तो योऽक्षवराट कादिरिन्द्रोऽयमिति जिनोऽयमितिबुद्ध्या स्थाप्यमानस्सोऽसद्भावस्थापना। उक्तञ्च—

"लेप्पगहत्थी हत्थित्ति एस सब्भाविया भवे ठवणा।
होइ असब्भावे पुण हत्थित्ति निरागिई अक्खो॥ १॥" इति॥

तदुभयस्थापनानुगतलक्षण तूक्तमेवावसेयम्। द्रवति पूर्वापरपर्यायाश्रयतयाऽविचलितस्वभावेन तांस्तान् पर्यायान् पूर्वापरीभूतान् गच्छतीति व्युत्पत्त्या पूर्वोत्तरपर्यायानुगामितया त्रिकालानुयायि यत्तद्द्रव्यम्। तच्च भूतभाविपर्यायकारणत्वात् चेतनमचेतनं वा अनुपचरितमेव द्रव्यार्थिकनिक्षेप.। यद्वा अनुभूतपर्यायमनुभविष्यत्पर्यायञ्चैकमेव द्रव्यम्, तेनानुभूतपर्यायशब्देन तत्कदाचिदभिधीयते, कदाचिच्चानुभविष्यत्पर्यायशब्देन, यथा अतीतघृतसम्बन्धो घटो 'घृतघटः' इत्यभिधीयते, भविष्यत्तत्सम्बन्धोऽपि तथैवाभिधान गोचरचारी। अयम्भाव.—यद्वस्तु भूतकाले विवक्षितपर्यायरूपेण परिणत तद्वस्तु भूतपर्याय कारणत्वात् कारणे कार्योपचार कृत्वा वर्त्तमानकाले द्रव्यरूपमुच्यते, यथा अनुभूतदेवेन्द्रत्वपर्यायो मनुष्यो द्रव्येन्द्र', अनुभूतघृताधारत्वपर्यायोऽयं घृतघटः, यच्च वस्तु भविष्यत्काले विवक्षितपर्यायरूपेण परिणस्यति तद्वस्तु भविष्यत्पर्यायकारणत्वाद्वर्त्तमानकाले भविष्यत्पर्यायापेक्षया द्रव्यरूपमभिधीयते, यथा अनुभविष्यद्देवेन्द्रत्वपर्यायार्हत्साधुश्राद्धो वा द्रव्येन्द्रः, उक्तञ्चोपदेशपदे—

"वेमाणिओववाउत्ति दव्वदेवो जहा साहू" ॥२५६॥ इति॥ अन्यत्राप्युक्तम्—

"मिउपिंडो दव्वघडो, सुसावगो तह य दव्वसाहुत्ति।
साहू य दव्वदेवो, एमाइ सुए जओ भणिअं॥ १॥" इति॥

अनुभविष्यद्घृताधारत्वपर्यायार्हो घृतघट इति वा। शुद्धपर्यायास्तिकमतेन घटोपयोग एव भावघट इति वर्त्तमानकालावच्छिन्नघटोपयोगरहितमपि तत्पर्यायेणातीतेन परिणतम नागतेन च परिणस्यद्वा द्रव्य तच्छब्दवाच्य द्रव्यार्थिकनयमतेन व्यवस्थितम्, भूतभविष्यद्घटोपयोगात्मकभावघटकारणत्वादिति। भवति विवक्षितवर्त्तमानसमयपर्यायरूपेणोत्पद्यते इति भाव.। अथवा भूतिर्भाव' भवन वा भावो वज्रकिरीटादिधारणलक्षणवर्त्तमानपर्यायेणेन्द्रादिरूपतया वस्तुनः परिणमन भावः। यदभिहितम्—

"भावो विवक्षितक्रियाऽनुभूतियुक्तो हि वै समाख्यातः।
सर्वज्ञैरिन्द्रादिवदिहेन्दनादिक्रियाऽनुभवात्॥ १॥" इति।

यद्वा वज्रकिरीटादिधारणोपशोभितेन्द्रादिवस्तुग्रहणपर्यायेण ज्ञानस्य भवनम्, अर्थात् वज्रकिरीटादिधारणविशिष्टेन्द्रादिवस्त्ववगाहिज्ञानात्मकोपयोगो भावः, शब्दादिनयत्रयमते

भावस्योपयोगलक्षणत्वात्, उक्तलक्षणभावस्तु पर्यायार्थिकनयमतेन निक्षेपः, तस्य प्रतिक्षणमन्यान्यरूपतया पर्यायार्थिकनयगोचरत्वादिति। 'एस परमत्थो' एषः–एष एव नयनिक्षेपानुयोगप्रतिपादित उभयनयप्रविभागः, परमार्थः परम हृदयमागमस्य, एतद्विषयाऽव्यतिरिक्तविषयत्वात् सर्वनयवादानाम्, न हि शास्त्रपरमहृदयनयद्वयव्यतिरिक्तः कश्चिन्नयो विद्यते, सामान्यविशेषस्वरूपविषयद्वयव्यतिरिक्तविषयान्तराभावात् विषयिणोऽप्यपरस्य नयान्तरस्याभाव इति। अत्रेदमवधेयम्—द्रव्यार्थिकनयेन नामस्थापनाद्रव्यारूपास्त्रयो निक्षेपा अभ्युपगताः, पर्यायार्थिकनयेन च भाव एवेति महनीयमान्यश्रीसिद्धसेनदिवाकराणां मतेन सङ्ग्रहव्यवहाराभ्यो पूज्यपादश्रीदेवसूरीणां मतेन तु नैगमसङ्ग्रहव्यवहाराणां द्रव्यार्थिकनयभेदत्वात्तद्वृत्तेरपि त एव त्रयो निक्षेपा अभ्युपगताः, ऋजुसूत्रशब्दसमभिरूढैवम्भूतनयानां पर्यायार्थिकनयभेदत्वात्तद्वृत्तेरपि भाव एव निक्षेपोऽभ्युपगतः। अथर्जुसूत्रनयः पर्यायार्थिकनयस्यैव भेद इत्यभ्युपगमे "उज्जुसुअस्स एगे अणुवउत्ते एग दव्वावस्सय पुहुत्त नेच्छइ" इत्यनुयोगद्वारसूत्रविरोधस्स्यादिति चेत्, नैवम्, यतोऽसौ नयोऽतीत विनष्टत्वेनानागतश्चाऽनुत्पन्नत्वेन नाभ्युपगच्छति, किन्तु वर्त्तमानमेव वस्त्वभ्युपगच्छति, तदपि स्वकीयमेव मन्यते, स्वकार्यसाधकत्वात् स्वधनवत्, न तु परकीय, स्वकार्याऽसाधकत्वात् परधनवत्, तथा चातीतानागतभेदतः परकीयभेदतश्च पृथक्त्व नेच्छत्यसौ नय इत्यतोऽतीतानागतवर्त्तमानभेदभिन्नस्वकीयपरकीयभेदभिन्ननिखिलव्यक्त्यनुगतसदृशपरिणतिलक्षणतिर्यक्सामान्यस्य पूर्वापरपर्यायानुगतोर्ध्वतासामान्यस्य चानभ्युपगमात्तस्य नयस्य तुल्यांशध्रुवांशलक्षणद्रव्याभ्युपगमः, अत एव नास्यामद्घटितभूतभाविपर्यायकारणस्वरूपद्रव्यस्याभ्युपगमोऽपि, उक्तसूत्र तु 'अणुवओगो दव्व' इति द्रव्यलक्षणमाश्रित्याऽनुपयोगांशमादाय वर्त्तमानावश्यकपर्याये द्रव्यपदोपचारात् समाधेयम्, पर्यायार्थिकनयेन मुख्यद्रव्यपदार्थस्यैव प्रतिक्षेपादिति पूज्यपादश्रीसिद्धसेनदिवाकरमताद्यनुसारिणस्समादधते। सैद्धान्तिकास्तु नोक्त समीचीन मन्यन्ते, नामादिवदनुपचरितद्रव्यनिक्षेपप्रदर्शनपरत्वादुक्तसूत्रस्य, न चेदेव, तर्हि शब्दादिनयेष्वपि कथञ्चिदुपचारेण द्रव्यनिक्षेपप्रसङ्गात्, पृथक्त्वनिषेधेऽपृथक्त्वेन द्रव्यविधेराक्षेपकत्वात्, एकविशेषनिषेधस्य तदितरविशेषविधिविपर्यवसायित्वादिति। तथा च सैद्धान्तिकमतेन द्रव्यार्थिकनयस्य नामादयश्चत्वारोऽपि निक्षेपा अभिमताः, पर्यायार्थिकनयस्य भाव एवैको निक्षेपः, यदाह भगवान् जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणः–"भाव चिय सद्दणया सेसा इच्छन्ति सव्वणिक्खेवे" इति। अत एव चरणगुणस्थितस्य साधो सर्वनयविशुद्धत्वे सर्वनयानां भावग्राहित्वं हेतुतयोद्भावितम्, अत एव नैगम-सङ्ग्रह-व्यवहारर्जुसूत्राणां मतेऽपि चत्वारो निक्षेपाः, तेषां द्रव्यार्थिकभेदत्वात्, शब्दसमभिरूढैवम्भूतानां तु भावनिक्षेप एव, पर्यायार्थिकभेदत्वादेषाम्। स्यादेतत् द्रव्यार्थिकनयेन नामादिनिक्षेपचतुष्टयाभ्युपगमे यो द्रव्यस्यैवा

न्द्रादिरिवेन्द्रादिर्लक्ष्यते स सद्भावस्थापना, भावेन्द्रभावजिनाद्याकृतिविनिर्मुक्तो योऽक्षवराट-कादिरिन्द्रोऽयमिति जिनोऽयमितिबुद्ध्या स्थाप्यमानस्सोऽसद्भावस्थापना । उक्तञ्च—

" लेप्पगहत्थी हत्थित्ति एस सब्भाविया भवे ठवणा ।
होइ असब्भावे पुण हत्थित्ति निरागिई अक्खो ॥ १ ॥ " इति ॥

तदुभयस्थापनानुगतलक्षण तूक्तमेवावसेयम् । द्रवति पूर्वापरपर्यायाश्रयतयाऽविच-लितस्वभावेन तांस्तान् पर्यायान् पूर्वापरीभूतान् गच्छतीति व्युत्पत्त्या पूर्वोत्तरपर्यायानु-गामितया त्रिकालानुयायि यत्तद्द्रव्यम् । तच्च भूतभाविपर्यायकारणत्वात् चेतनमचेतनं वा अनुपचरितमेव द्रव्यार्थिकनिक्षेपः । यद्वा अनुभूतपर्यायमनुभविष्यत्पर्यायञ्चैकमेव द्रव्यम्, तेनानुभूतपर्यायशब्देन तत्कदाचिदभिधीयते, कदाचिच्चानुभविष्यत्पर्यायशब्देन, यथा अतीतघृतसम्बन्धो घटो 'घृतघटः' इत्यभिधीयते, भविष्यत्तत्सम्बन्धोऽपि तथैवाभिधान गोचरचारी । अयम्भावः—यद्वस्तु भूतकाले विवक्षितपर्यायरूपेण परिणतं तद्वस्तु भूतपर्याय-कारणत्वात् कारणे कार्योपचारं कृत्वा वर्त्तमानकाले द्रव्यरूपमुच्यते, यथा अनुभूतदेवेन्द्र-त्वपर्यायो मनुष्यो द्रव्येन्द्र', अनुभूतघृताधारत्वपर्यायोऽयं घृतघटः, यच्च वस्तु भविष्यत्काले विवक्षितपर्यायरूपेण परिणस्यति तद्वस्तु भविष्यत्पर्यायकारणत्वाद्वर्त्तमानकाले भविष्यत्पर्या यापेक्षया द्रव्यरूपमभिधीयते, यथा अनुभविष्यद्देवेन्द्रत्वपर्यायार्हस्साधुश्श्राद्धो वा द्रव्येन्द्रः, उक्तञ्चोपदेशपदे—

" वेमाणिओववाउत्ति दव्वदेवो जहा साहू " ॥ २५९ ॥ इति ॥ अन्यत्राप्युक्तम्—

" मिउपिंडो दव्वघडो, सुसावगो तह य दव्वसाहुत्ति ।
साहू य दव्वदेवो, एमाइ सुए जओ भणिअं ॥ १ ॥ " इति ॥

अनुभविष्यद्घृताधारत्वपर्यायार्हो घृतघट इति वा । शुद्धपर्यायास्तिकमतेन घटोपयोग एव भावघट इति वर्तमानकालावच्छिन्नघटोपयोगरहितमपि तत्पर्यायेणातीतेन परिणतम नागतेन च परिणस्यद्वा द्रव्य तच्छब्दवाच्य द्रव्यार्थिकनयमतेन व्यवस्थितम्, भूतमनि-ष्यद्घटोपयोगात्मकभावघटकारणत्वादिति । भवति विवक्षितवर्त्तमानसमयपर्यायरूपेणो त्पद्यते इति भाव' । अथवा भूतिर्भाव भवनं वा भावो वज्रकिरीटादिधारणलक्षणवर्त्तमान-पर्यायेणेन्द्रादिरूपतया वस्तुनः परिणमन भाव' । यदभिहितम्—

" भावो विवक्षितक्रियाऽनुभूतियुक्तो हि वै समाख्यातः ।
सर्वज्ञैरिन्द्रादिवदिहेन्दनादिक्रियाऽनुभवात् ॥ १ ॥" इति ।

यद्वा वज्रकिरीटादिधारणोपशोभितेन्द्रादिवस्तुग्रहणपर्यायेण ज्ञानस्य भवनम्, अर्थात् वज्रकिरीटादिधारणविशिष्टेन्द्रादिवस्त्ववगाहिज्ञानात्मकोपयोगो भाव , शब्दादिनयत्रयमते

भावस्योपयोगलक्षणत्वात्, उक्तलक्षणभावस्तु पर्यायार्थिकनयमतेन निक्षेप', तस्य प्रतिक्षण-मन्यान्यरूपतया पर्यायार्थिकनयगोचरत्वादिति। 'एस परमत्थो' एष'--एष एव नयनिक्षेपानुयोगप्रतिपादित उभयनयप्रविभाग', परमार्थ' परम हृदयमागमस्य, एतद्विषयाऽव्यतिरिक्तविषयत्वात् सर्वनयवादानाम्, न हि शास्त्रपरमहृदयनयद्वयव्यतिरिक्तः कश्चिन्नयो विद्यते, सामान्यविशेषस्वरूपविषयद्वयव्यतिरिक्तविषयान्तराभावात् विषयिणोऽप्यपरस्य नयान्तरस्याभाव इति। अत्रेदमवधेयम्—द्रव्यार्थिकनयेन नामस्थापनाद्रव्याख्यास्त्रयो निक्षेपा अभ्युपगताः, पर्यायार्थिकनयेन च भाव एवेति महनीयमान्यश्रीसिद्धसेनदिवाकराणां मतेन सङ्ग्रहव्यवहारयोः पूज्यपादश्रीदेवसूरीणां मतेन तु नैगमसङ्ग्रहव्यवहाराणां द्रव्यार्थिकनयभेदत्वात्तद्वैरपि त एव त्रयो निक्षेपा अभ्युपगता, ऋजुसूत्रशब्दसमभिरूढैवम्भूतनयानां पर्यायार्थिकनयभेदत्वात्तद्वैरपि भाव एव निक्षेपोऽभ्युपगतः। अथर्जुसूत्रनयः पर्यायार्थिकनयस्यैव भेद इत्यभ्युपगमे "उज्जुसुअस्स एगे अणुवउत्ते एग दव्वावस्सय पुहुत्त नेच्छइ" इत्यनुयोगद्वारसूत्रविरोधस्स्यादिति चेत्, मैवम्, यतोऽसौ नयोऽतीत विनष्टत्वेनानागत श्चाऽनुत्पन्नत्वेन नाभ्युपगच्छति, किन्तु वर्तमानमेव वस्त्वभ्युपगच्छति, तदपि स्वकीयमेव मन्यते, स्वकार्यसाधकत्वात् स्वधनवत्, न तु परकीय, स्वकार्याऽसाधकत्वात् परधनवत्, तथा चातीतानागतभेदतः परकीयभेदतश्च पृथक्त्व नेच्छत्यसौ नय इत्यतोऽतीतानागत वर्तमानभेदभिन्नस्वकीयपरकीयभेदभिन्ननिखिलव्यक्त्यनुगतसदृशपरिणतिलक्षणतिर्यक्सामान्यस्य पूर्वापरपर्यायानुगतोर्ध्वतासामान्यस्य चानभ्युपगमादस्य नयस्य तुल्यांशध्रुवांशलक्षणद्रव्याभ्युपगमः, अत एव नास्यासद्घटितभूतभाविपर्यायकारणस्वरूपद्रव्यत्वाभ्युपगमोऽपि, उक्तसूत्रे तु 'अणुवओगो दव्व' इति द्रव्यलक्षणमाश्रित्याऽनुपयोगांशमादाय वर्तमानावश्यकपर्याये द्रव्यपदोपचारात् समाधेयम्, पर्यायार्थिकनयेन मुख्यद्रव्यपदार्थस्यैव प्रतिक्षेपादिति पूज्यपादश्रीसिद्धसेनदिवाकरमतानुसारिणस्समादधते। सैद्धान्तिकास्तु नोक्त समीचीन मन्यन्ते, नामादिवदनुपचरितद्रव्यनिक्षेपप्रदर्शनपरत्वादुक्तसूत्रस्य, न चेदेव, तर्हि शब्दादिनयेष्वपि कथञ्चिदुपचारेण द्रव्यनिक्षेपप्रसङ्गात्, पृथक्त्वनिषेधेऽपृथक्त्वेन द्रव्यविधेरावश्यकत्वात्, एकविशेषनिषेधस्य तदितरविशेषविधिपर्यवसायित्वादिति। तथा च सैद्धान्तिकमतेन द्रव्यार्थिकनयस्य नामादयश्चत्वारोऽपि निक्षेपा अभिमता, पर्यायार्थिकनयस्य भाव एवैको निक्षेपः, यदाह भगवान् जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण,–"भाव चिय सद्दणया सेसा इच्छन्ति सव्वणिक्खेवे" इति। अत एव चरणगुणस्थितस्य साधोः सर्वनयविशुद्धत्वे सर्वनयानां भावग्राहित्व हेतुतयोद्भावितम्, अत एव नैगम-सङ्ग्रह-व्यवहारर्जुसूत्राणां मतेऽपि चत्वारो निक्षेपा, तेषां द्रव्यार्थिकभेदत्वात्, शब्दसमभिरूढैवम्भूतानां तु भावनिक्षेप एव, पर्यायार्थिकभेदत्वादेषाम्। स्यादेतत् द्रव्यार्थिकनयेन नामादिनिक्षेपचतुष्टयाभ्युपगमे यो द्रव्यस्यैवा

न्द्रादिरिवेन्द्रादिर्लक्ष्यते स सद्भावस्थापना, भावेन्द्रभावजिनाद्याकृतिविनिर्मुक्तो योऽक्षवराटकादिरिन्द्रोऽयमिति जिनोऽयमितिबुद्ध्या स्थाप्यमानस्सोऽसद्भावस्थापना। उक्तञ्च—

"लेप्पगहत्थी हत्थित्ति एस सब्भाविया भवे ठवणा।
होइ असब्भावे पुण हत्थित्ति निरागिई अक्खो ॥ १ ॥" इति ॥

तदुभयस्थापनानुगतलक्षणं तूक्तमेवात्रसेयम्। द्रवति पूर्वापरपर्यायाश्रयतयाऽविचलितस्वभावेन तांस्तान् पर्यायान् पूर्वापरीभूतान् गच्छतीति व्युत्पत्त्या पूर्वोत्तरपर्यायानुगामितया त्रिकालानुयायि यत्तद्द्रव्यम्। तच्च भूतभाविपर्यायकारणत्वात् चेतनमचेतनं वा अनुपचरितमेव द्रव्यार्थिकनिक्षेपः। यद्वा अनुभूतपर्यायमनुभविष्यत्पर्यायञ्चैकमेव द्रव्यम्, तेनानुभूतपर्यायशब्देन तत्कदाचिदभिधीयते, कदाचिच्चानुभविष्यत्पर्यायशब्देन, यथा अतीतघृतसम्बन्धो घटो 'घृतघटः' इत्यभिधीयते, भविष्यद्घृतसम्बन्धोऽपि तथैवाभिधानगोचरचारी। अयम्भावः—यद्वस्तु भूतकाले विवक्षितपर्यायरूपेण परिणतं तद्वस्तु भूतपर्यायकारणत्वात् कारणे कार्योपचारं कृत्वा वर्त्तमानकाले द्रव्यरूपमुच्यते, यथा अनुभूतदेवेन्द्रत्वपर्यायो मनुष्यो द्रव्येन्द्रः, अनुभूतघृताधारत्वपर्यायोऽयं घृतघटः, यच्च वस्तु भविष्यत्काले विवक्षितपर्यायरूपेण परिणस्यति तद्वस्तु भविष्यत्पर्यायकारणत्वाद्वर्त्तमानकाले भविष्यत्पर्यायापेक्षया द्रव्यरूपमभिधीयते, यथा अनुभविष्यद्देवेन्द्रत्वपर्यायार्हस्साधुश्श्राद्धो वा द्रव्येन्द्रः, उक्तञ्चोपदेशपदे—

"वेमाणिओववाउत्ति दव्वदेवो जहा साहू" ॥ २५५ ॥ इति ॥ अन्यत्राप्युक्तम्—

"मिउपिंडो दव्वघडो, सुसावगो तह य दव्वसाहुत्ति।
साहू य दव्वदेवो, एमाइ सुए जओ भणिअं ॥ १ ॥" इति ॥

अनुभविष्यद्घृताधारत्वपर्यायार्हो घृतघट इति वा। शुद्धपर्यायास्तिकमतेन घटोपयोग एव भावघट इति वर्तमानकालावच्छिन्नघटोपयोगरहितमपि तत्पर्यायेणातीतेन परिणतमनागतेन च परिणस्यद्वा द्रव्यं तच्छब्दवाच्यं द्रव्यार्थिकनयमतेन व्यवस्थितम्, भूतभविष्यद्घटोपयोगात्मकभावघटकारणत्वादिति। भवति विवक्षितवर्त्तमानसमयपर्यायरूपेणोत्पद्यते इति भावः। अथवा भूतिर्भावः भवनं वा भावो वज्रकिरीटादिधारणलक्षणवर्त्तमानपर्यायेणेन्द्रादिरूपतया वस्तुनः परिणमनं भावः। यदभिहितम्—

"भावो विवक्षितक्रियाऽनुभूतियुक्तो हि वै समाख्यातः।
सर्वज्ञैरिन्द्रादिवदिहेन्दनादिक्रियाऽनुभवात् ॥ १ ॥" इति।

यद्वा वज्रकिरीटादिधारणोपशोभितेन्द्रादिवस्तुग्रहणपर्यायेण ज्ञानस्य भवनम्, अर्थात् वज्रकिरीटादिधारणविशिष्टेन्द्रादिवस्त्वग्राहिज्ञानात्मकोपयोगो भावः, शब्दादिनयत्रयमते

भावस्योपयोगलक्षणत्वात्, उक्तलक्षणभावस्तु पर्यायार्थिकनयमतेन निक्षेप, तस्य प्रतिक्षण-मन्यान्यरूपतया पर्यायार्थिकनयगोचरत्वादिति। 'एस परमत्थो' एषः-एष एव नयनिक्षेपानुयोगप्रतिपादित उभयनयप्रविभाग', परमार्थ' परम हृदयमागमस्य, एतद्विषयाऽव्यतिरिक्तविषयत्वात् सर्वनयवादानाम्, न हि शास्त्रपरमहृदयनयद्वयव्यतिरिक्तः कश्चिन्नयो विद्यते, सामान्यविशेषस्वरूपविषयद्वयव्यतिरिक्तविषयान्तराभावात् विषयिणोऽप्यपरस्य नयान्तरस्याभाव इति। अत्रेदमवधेयम्—द्रव्यार्थिकनयेन नामस्थापनाद्रव्याख्यास्त्रयो निक्षेपा अभ्युपगताः, पर्यायार्थिकनयेन च भाव एवेति महनीयमान्यश्रीसिद्धसेनदिवाकराणां मतेन सङ्ग्रहव्यवहारयोः पूज्यपादश्रीदेवसूरीणां मतेन तु नैगमसङ्ग्रहव्यवहाराणां द्रव्यार्थिकनयभेदत्वात्तद्वृत्तैरपि त एव त्रयो निक्षेपा अभ्युपगता, ऋजुसूत्रशब्दसमभिरूढैवम्भूतनयानां पर्यायार्थिकनयभेदत्वात्तद्वृत्तैरपि भाव एव निक्षेपोऽभ्युपगत'। अथर्जुसूत्रनयः पर्यायार्थिकनयस्यैव भेद इत्यभ्युपगमे "उज्जुसुअस्स एगे अणुवउत्ते एग दव्वावस्सय पुहुत्त नेच्छइ" इत्यनुयोगद्वारसूत्रविरोधस्स्यादिति चेत्, मैवम्, यतोऽसौ नयोऽतीत विनष्टत्वेनानागतश्चाऽनुत्पन्नत्वेन नाभ्युपगच्छति. किन्तु वर्त्तमानमेव वस्त्वभ्युपगच्छति, तदपि स्वकीयमेव मन्यते, स्वकार्यसाधकत्वात् स्वधनवत्, न तु परकीय, स्वकार्याऽसाधकत्वात् परधनवत्, तथा चातीतानागतभेदत' परकीयभेदतश्च पृथक्त्व नेच्छत्यसौ नय इत्यतोऽतीतानागतवर्त्तमानभेदभिन्नस्वकीयपरकीयभेदभिन्ननिखिलव्यक्त्यनुगतसदृशपरिणतिलक्षणतिर्यक्सामान्यस्य पूर्वापरपर्यायानुगतोर्ध्वतासामान्यस्य चानभ्युपगमात्तस्य नयस्य तुल्यांशध्रुवांशलक्षणद्रव्याभ्युपगमः, अत एव नास्यासद्घटितभूतभाविपर्यायकारणस्वरूपद्रव्यत्वाभ्युपगमोऽपि, उक्तसूत्र तु 'अणुवओगो दव्व' इति द्रव्यलक्षणमाश्रित्याऽनुपयोगांशमादाय वर्त्तमानावश्यकपर्याये द्रव्यपदोपचारात् समाधेयम्, पर्यायार्थिकनयेन मुख्यद्रव्यपदार्थस्यैव प्रतिक्षेपादिति पूज्यपादश्रीसिद्धसेनदिवाकरमताद्यनुसारिणस्समादधते। सैद्धान्तिकास्तु नोक्त समीचीन मन्यन्ते, नामादिवदनुपचरितद्रव्यनिक्षेपप्रदर्शनपरत्वादुक्तसूत्रस्य, न चेदेव, तर्हि शब्दादिनयेष्वपि कथञ्चिदुपचारेण द्रव्यनिक्षेपप्रसङ्गात्, पृथक्त्वनिषधेऽपृथक्त्वेन द्रव्यविधेरावश्यकत्वात्, एकविशेषनिषेधस्य तदितरविशेषविधिपर्यवसायित्वादिति। तथा च सैद्धान्तिकमतेन द्रव्यार्थिकनयस्य नामादयश्चत्वारोऽपि निक्षेपा अभिमता', पर्यायार्थिकनयस्य भाव एवैको निक्षेपः, यदाह भगवान् जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणः-"भाव चिय सद्दणया सेसा इच्छन्ति सव्वणिक्खेवे" इति। अत एव चरणगुणस्थितस्य साधो. सर्वनयविशुद्धत्वे सर्वनयानां भावग्राहित्व हतुनयोद्भावितम्, अत एव नैगम-सङ्ग्रह-व्यवहारर्जुसूत्राणां मतेऽपि चत्वारो निक्षेपाः, तेषां द्रव्यार्थिकभेदत्वात्, शब्दसमभिरूढैवम्भूतानां तु भावनिक्षेप एव, पर्यायार्थिकभेदत्वादेषाम्। स्यादेतत् द्रव्यार्थिकनयेन नामादिनिक्षेपचतुष्टयाभ्युपगमे यो द्रव्यस्यैवा

भ्युपगन्ता स द्रव्यार्थिक इत्यस्यासाधारणस्वरूपस्य हानिस्स्यात्, भावस्य पर्यायरूपस्य तेन स्वीकारेण तत्प्रतिक्षेपाऽकरणात्। अथ लोके यस्य प्राधान्यं तेनैव व्यवहारः, यथा राजाऽऽगत इति सामन्तादयोऽप्यागताः, एवञ्च सति द्रव्यार्थिकनयो द्रव्यं प्रधानतयैवाभ्युपगच्छतीति तत्र न द्रव्यार्थिकत्वहानिरिति तेनैव स व्यवहर्त्तव्यः स्यादेव, भावन्तु गौणतयाऽभ्युपगच्छतीत्येतावता स भावनिक्षेपाभ्युपगन्तेति चेत्, हन्त तर्हि शब्दादित्रिनयाः पर्यायं प्रधानतयाऽभ्युपगच्छन्तीति पर्यायार्थिकनयस्यैव भेदरूपा इति तत्स्वरूपेणैव व्यवहर्त्तव्याः, द्रव्यं गौणतयोररीकुर्वन्तीति त्वदुक्तरीत्या द्रव्यनिक्षेपाभ्युपगन्तारश्च स्युः। एवञ्च सति "भावं चिय सद्दणया" इत्यादिप्रागुक्तभाष्यवचनमप्यादव्याघातः। अथ यद्यपि द्रव्यार्थिकनयपर्यायार्थिकनययोर्यथाक्रमं गौणतया पर्यायद्रव्याभ्युपगमः, तथापि तत्र द्रव्यार्थिको द्रव्यपर्यायौ मिथोऽभिन्नौ एकत्वमापन्नाविच्छतीति द्रव्याद्व्यतिरिक्तं पर्यायमभ्युपगच्छन् स पर्यायार्थिकाद्भिन्नः परिकलितः। पर्यायार्थिकस्तु द्रव्यपर्यायौ परस्परं भिन्नावेवेच्छतीति द्रव्याद्भिन्नं पर्यायं मनुते, अतोऽसौ द्रव्यार्थिकाद्भिन्न इष्यते, तथा चानयोर्भिन्नतैव न पुनरेकतेति, अत्रानुमानञ्चैवम्-द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकाद्भिन्नः द्रव्यपर्याययोरत्यन्ताभेदाभ्युपगन्तृत्वात्, पर्यायार्थिकनयश्च द्रव्यार्थिकनयाद्भिन्नः तयोरत्यन्तं भेदाऽभ्युपगन्तृत्वात्, अत एव मिथ्यादृष्टी च प्रत्येकमेतौ, द्रव्यार्थिकेन द्रव्यपर्याययोरेकान्तेनैकत्वग्रहणात्, पर्यायार्थिकनयेन तु तयोरेकान्तेनान्यत्वग्रहणात्, तथा च द्रव्यार्थिकनयस्यापि पर्यायाभ्युपगन्तृत्वमिति चेत्, मैवम्, एवं सति पर्यायार्थिकस्य शब्दादिनयस्यापि द्रव्याभ्युपगन्तृत्वापत्तेः। अत्यन्तभेदाभेदग्राहिणोर्द्वयोरप्युदितयोरपि मिथ्यादृष्टित्वप्रसङ्गाच्च। किञ्च द्रव्यार्थिकनयेन द्रव्यपर्याययोरेकत्वमभ्युपगम्यत इति त्वया इष्यमाणे द्रव्यस्येव तदभिन्नगुणस्यापि द्रव्यत्वप्रसक्त्या 'द्रव्यं' 'गुण' इति शब्दद्वयमेकार्थवाचकत्वादिन्द्र-पुरन्दरादिशब्दवत् पर्यायरूपं स्यात्, एवञ्च सहोक्तिर्न स्यात्, अर्थात् द्रव्यगुणशब्दयोर भेदसम्बन्धेनेतरपदार्थान्वितस्वार्थबोधकत्वलक्षणसामानाधिकरण्यं स्वप्रयोज्याभेदसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितविशेष्यताप्रयोजकत्वस्वप्रयोज्यविशेष्यतानिरूपिताभेदसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारताप्रयोजकत्वान्यतरत्वरूपपर्यवसायि न स्यादिति गुणो द्रव्यमिति द्रव्यार्थिकनयाभिलापानुपपत्तिस्स्यात्, यतो न हि कोऽपि प्रेक्षावान् पुमान् घटो नील इतिवद् घटः कलश इति वक्ति, प्रवृत्तिनिमित्तभेदेनैवाभेदव्यवहारसद्भावेन प्रकृते पर्यायशब्दप्रवृत्तिनिमित्तभेदाभावात्। तथा च द्रव्यगुणपदान्यतरस्यैव प्रयोगस्स्यात्। एवं यदि परस्परमत्यन्तभिन्नस्य द्रव्यपर्यायोभयस्य ग्राहकः पर्यायनय इति त्वयेष्यमाणे पर्यायार्थिकनापि द्रव्यग्रहे द्रव्यार्थिकनयस्यान्तर्गडुत्वप्रसक्तिस्स्यात्, द्रव्यपर्यायोभयान्तर्गतद्रव्यपक्षे पर्यायनयमतेऽपि द्रव्यं सामायिकमित्यस्याविरोधप्रसङ्गश्च स्यादिति चेत्, अत्र शास्त्रवार्त्तासमुच्चये यशोविजयोपाध्यायैः पर्यालोचितं तथोच्यते, अविशुद्धानां नैगमादिभेदानां नामाद्यभ्युपगमप्रवण-

त्वेऽपि विशुद्धनैगमभेदस्य द्रव्यविशेषणतया पर्यायाभ्युपगमाद् न तत्र भावनिक्षेपानुपपत्तिः, अत एव विशेष्यावश्यकनिर्युक्तावुक्तम्, " जीवो गुणपडिवन्नो णयस्स दव्वट्ठियस्स सामाइअ " इति । अत्र हि समतापरिणामविशिष्टे जीवे सामायिकत्वं विधीयत इति । न चैवमस्य पर्यायार्थिकत्वापत्तिः, इतराविशेषणत्वरूपप्राधान्येन पर्यायानभ्युपगमात्, शब्दादीनां पर्यायार्थनयानां तु नैगमवदविशुद्धभावाद् न नामाद्यभ्युपगन्तृत्वम् । वास्तव तद्विषयत्वं तु नोक्तविभागव्याघाताय, स्वातन्त्र्येण पर्यायविषयत्वं त्वव्याहतमिति । ननु तथापि " नामाइतिय दव्वट्ठियस्स भावो अ पज्जवणयस्स " इति मङ्गलाधिकारेऽभिधाय " भाव चिय सद्दणया सेसा इच्छंति सव्वणिक्खेवे " इत्यग्रे वदतां भाष्यकृतां कोऽभिप्राय ? इति चेत्, अयमभिप्रायः-पूर्वं शुद्धचरणोपयोगरूपभावमङ्गलाधिकारसम्बन्धाद् नैगमादिना जलाहरणादिरूपभावघटाभ्युपगमेऽपि घटोपयोगरूपभावघटानभ्युपगमात् तथोक्तिः, अग्रे तु व्यवस्थाधिकाराद् विशेषोक्तिरिति स्वातन्त्र्येण नामादित्रयविषयत्वमेव द्रव्यार्थिकस्येत्यभिप्रेत्य नयान्तरेण वा पूर्वं तथोक्तिः । अत एवोक्तं तत्त्वार्थवृत्तौ-अत्र चाऽऽद्या नामादयस्त्रयो विकल्पा द्रव्यार्थिकस्य तथा तथा सर्वार्थत्वात् पाश्चात्यः पर्यायनयस्य तथापरिणतिविज्ञानाभ्यामिति । नयोपदेशेऽप्युक्तम्—

" इष्टः शब्दनयैर्भावो, निक्षेपा निखिलाः परैः ।
मतं मङ्गलवादेऽन्य-त्रिदा द्रव्यार्थिके त्रये ॥ ८३ ॥

द्रव्यार्थे गुणवान् जीवः, पर्यायार्थे च तद्गुणः ।
सामायिकमिति प्रोक्तं, यद्दिशाऽऽवश्यकादिषु ॥ ८४ ॥

घटोपयोगरूपो वा, भावो द्रव्यार्थिकेऽमतः ।
तेन तत्र त्रयं प्रोक्त-मिति जानीमहे वयम् ॥ ८५ ॥ " इति ।

तदर्थस्तु विस्तरार्थिभिस्तट्टीकातः अवसेयः । ग्रन्थगौरवभीत्येह न प्रतन्यते । ननु द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकयोर्मिथो विवादे सति मे मनः सन्देहदोलामधिरोहति, किमत्र तत्त्वमिति चेत्? उच्यते, पृथग्भूययोस्तयोर्मिथ्यादृष्टित्वं समुदितयोश्च तयोः सम्यग्दृष्टित्वमिति परस्परसापेक्षतदुभयनयापेक्षया नामादिचतुष्टयात्मकमेव वस्तु तत्त्वमिति निश्चिनु, नामादिनिक्षेपचतुष्टयात्मकतयैव वस्तुमात्रस्यानुभवात्, अनुभवाधीना हि वस्तुव्यवस्थितिः-तदुक्तम्—

" संविन्निष्ठैव सर्वाऽपि, विषयाणां व्यवस्थितिः ।
सम्वेदनं च नामादि,-विकलं नानुभूयते ॥ १ ॥

घटोऽयमिति नामैतत्, पृथुबुध्नादिनाऽऽकृतिः ।
द्रव्यं भावो, घटे दृष्टं चतुष्टयम् ॥ २ ॥

भ्युपगन्ता स द्रव्यार्थिक इत्यस्यासाधारणस्वरूपस्य हानिस्स्यात्, भावस्य पर्यायरूपस्य तेन स्वीकारेण तत्प्रतिक्षेपाऽकरणात्। अथ लोके यस्य प्राधान्य तेनैव व्यवहारः, यथा राजाऽऽगत इति सामन्तादयोऽप्यागताः, एवञ्च सति द्रव्यार्थिकनयो द्रव्य प्रधानतयैवाभ्युपगच्छतीति तत्र न द्रव्यार्थिकत्वहानिरिति तेनैव स व्यवहर्त्तव्यः स्यादेव, भावन्तु गौणतयाऽभ्युपगच्छतीत्येतावता स भावनिक्षेपाभ्युपगन्तेति चेत्, हन्त तर्हि शब्दादित्रिनयाः पर्याय प्रधानतयाऽभ्युपगच्छन्तीति पर्यायार्थिकनयस्यैव भेदरूपा इति तत्स्वरूपेणैव व्यवहर्त्तव्याः, द्रव्य गौणतयोररीकुर्वन्तीति त्वदुक्तरीत्या द्रव्यनिक्षेपाभ्युपगन्तारश्च स्युः। एवञ्च सति "भाव चिय सद्दणया' इत्यादिप्रागुक्तभाष्यवचनमप्याद्व्याघातः। अथ यद्यपि द्रव्यार्थिक नयपर्यायार्थिकनययोर्यथाक्रम गौणतया पर्यायद्रव्याभ्युपगमः, तथापि तत्र द्रव्यार्थिको द्रव्यपर्यायौ मिथोऽभिन्नौ एकत्वमापन्नाविच्छतीति द्रव्याद्व्यतिरिक्त पर्यायमभ्युपगच्छन् स पर्यायार्थिकाद्भिन्नः परिकलितः। पर्यायार्थिकस्तु द्रव्यपर्यायौ परस्पर भिन्नावेवेच्छतीति द्रव्याद्भिन्न पर्याय मनुते, अतोऽसौ द्रव्यार्थिकाद्भिन्न इष्यते, तथा चानयोर्भिन्नतैव न पुनरेकतेति, अत्रानुमानञ्चैवम्–द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकाद्भिन्न' द्रव्यपर्याययोरत्यन्तम भेदाभ्युपगन्तृत्वात्, पर्यायार्थिकनयश्च द्रव्यार्थिकनयाद्भिन्न तयोरत्यन्त भेदाऽभ्युपगन्तृत्वात्, अत एव मिथ्यादृष्टी च प्रत्येकमेतौ, द्रव्यार्थिकेन द्रव्यपर्याययोरेकान्तेनैकत्व ग्रहणात्, पर्यायार्थिकनयेन तु तयोरेकान्तेनान्यत्वग्रहणात्, तथा च द्रव्यार्थिकनयस्यापि पर्यायाभ्युपगन्तृत्वमिति चेत्, मैवम्, एवं सति पर्यायार्थिकस्य शब्दादिनयस्यापि द्रव्याभ्युपगन्तृत्वापत्तेः। अत्यन्तभेदाभेदग्राहिणोर्द्वयोरसमुदितयोरपि मिथ्यादृष्टित्वप्रसङ्गाच। किञ्च द्रव्यार्थिकनयेन द्रव्यपर्याययोरेकत्वमभ्युपगम्यत इति त्वया इष्यमाणे द्रव्यस्येव तदभिन्नगुणस्यापि द्रव्यत्वप्रसक्त्या 'द्रव्यं' 'गुण' इति शब्दद्वयमेकार्थवाचकत्वादिन्द्रपुरन्दरादिशब्दवत् पर्यायरूप स्यात्, एवञ्च सहोक्तिर्न स्यात्, अर्थात् द्रव्यगुणशब्दयोर भेदसम्बन्धेनेतरपदार्थान्वितस्वार्थबोधकत्वलक्षणसामानाधिकरण्य स्वप्रयोज्याभेदसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितविशेष्यताप्रयोजकत्वस्वप्रयोज्यविशेष्यतानिरूपिताभेदसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारताप्रयोजकत्वान्यतरत्वपर्यवसायि न स्यादिति गुणो द्रव्यमिति द्रव्यार्थिकनयाभिलापानुपपत्तिस्स्यात्, यतो न हि कोऽपि प्रेक्षावान् पुमान् घटो नील इतिवद् घटः कलश इति वक्ति, प्रवृत्तिनिमित्तभेदेनैवाभेदव्यवहारसद्भावेन प्रकृते पर्यायशब्दप्रवृत्तिनिमित्त भेदाभावात्। तथा च द्रव्यगुणपदान्यतरस्यैव प्रयोगस्स्यात्। एव यदि परस्परमत्यन्तभिन्नस्य द्रव्यपर्यायोभयस्य ग्राहकः पर्यायनय इति त्वयेष्यमाणे पर्यायार्थिकेनापि द्रव्य ग्रहे द्रव्यार्थिकनयस्यान्तर्गडुत्वप्रसक्तिस्स्यात्, द्रव्यपर्यायोभयान्तर्गतद्रव्यपक्षे पर्यायनय मतेऽपि द्रव्य सामायिकमित्यस्याविरोधप्रसङ्गश्च स्यादिति चेत्, अत्र शास्त्रवार्तासमुच्चये यथोपाध्यायैः पर्यालोचित तथोच्यते, अविशुद्धानां नैगमादिभेदानां नामाद्यभ्युपगमप्रवण-

त्वेऽपि विशुद्धनैगमभेदस्य द्रव्यविशेषणतया पर्यायाभ्युपगमाद् न तत्र भावनिक्षेपानुपपत्तिः, अत एव विशेष्यावश्यकनिर्युक्तावुक्तम्, " जीवो गुणपडिवन्नो णयस्स दव्वट्ठियस्स सामाइअ " इति। अत्र हि समतापरिणामविशिष्टे जीवे सामायिकत्वं विधीयत इति। न चैवमस्य पर्यायार्थिकत्वापत्तिः, इतराविशेषणत्वरूपप्राधान्येन पर्यायानभ्युपगमात्, शब्दादीनां पर्यायार्थनयानां तु नैगमवदविशुद्धभावाद् न नामाद्यभ्युपगन्तृत्वम्। वास्तव तद्विषयत्वं तु नोक्तविभागव्याघाताय, स्वातन्त्र्येण पर्यायविषयत्वं स्वव्याहतमिति। ननु तथापि " नामाइतियं दव्वट्ठियस्स भावो अ पज्जवणयस्स " इति मङ्गलाधिकारेऽभिधाय " भावं चिय सद्दणया सेसा इच्छंति सव्वणिक्खेवे " इत्यग्रे वदतां भाष्यकृतां कोऽभिप्रायः? इति चेत्, अयमभिप्रायः–पूर्वं शुद्धचरणोपयोगरूपभावमङ्गलाधिकारसम्बन्धाद् नैगमादिना जलाहरणादिरूपभावघटाभ्युपगमेऽपि घटोपयोगरूपभावघटानभ्युपगमात् तथोक्तिः, अग्रे तु व्यवस्थाधिकाराद् विशेषोक्तिरिति स्वातन्त्र्येण नामादित्रयविषयत्वमेव द्रव्यार्थिकस्येत्यभिप्रेत्य नयान्तरेण वा पूर्वं तथोक्तिः। अत एवोक्तं तत्त्वार्थवृत्तौ–अत्र चाऽऽद्या नामादयस्त्रयो निक्षेपा द्रव्यार्थिकस्य तथा तथा सर्वार्थत्वात् पाश्चात्यः पर्यायनयस्य तथापरिणतिविज्ञानाभ्यामिति। नयोपदेशेऽप्युक्तम्—

" इष्टः शब्दनयैर्भावो, निक्षेपा निखिलाः परैः।
मत मङ्गलवादेऽन्य–क्रिया द्रव्यार्थिके नये॥ ८३॥
द्रव्यार्थे गुणवान् जीवः, पर्यायार्थे च तद्गुणः।
सामायिकमिति प्रोक्तं, यद्दिशाऽऽवश्यकादिषु॥ ८४॥
घटोपयोगरूपो वा, भावो द्रव्यार्थिकेऽमतः।
तेन तत्र त्रय प्रोक्त–मिति जानीमहे वयम्॥८५॥ " इति।

तदर्थस्तु विस्तरार्थिभिस्तट्टीकात एवावसेयः। ग्रन्थगौरवभीत्येह न प्रतन्यते। ननु द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकयोर्मिथो विवादे सति मे मनः सन्देहदोलामधिरोहति, किमत्र तत्त्वमिति चेत्? उच्यते, पृथग्रूपयोस्तयोर्मिथ्यादृष्टित्वं समुदितयोश्च तयोस्सम्यग्दृष्टित्वमिति परस्परसापेक्षतदुभयनयापेक्षया नामादिचतुष्टयात्मकमेव वस्तु तत्त्वमिति निश्चिनु, नामादिनिक्षेपचतुष्टयात्मकतयैव वस्तुमात्रस्यानुभवात्, अनुभवाधीना हि वस्तुव्यवस्थितिः। तदुक्तम्—

" संविन्निष्ठैव सर्वाऽपि, विषयाणां व्यवस्थितिः।
सम्वेदनं च नामादि,–विकलं नानुभूयते॥ १॥ तथाहि–
घटोऽयमिति नामैतत्, पृथुबुध्नादिनाऽऽकृतिः।
मृद्द्रव्यं भवनं भावो, घटे दृष्टं चतुष्टयम्॥ २॥

तत्रापि नाम नाकार-माकारो नाम नो विना ।
तौ विना नापि चान्योन्य,-मुत्तरावपि सस्थितौ ॥ ३ ॥

मयूराण्डरसे यद्व-द्वर्णा नीलादयः स्थिताः ।
सर्वेऽप्यन्योन्यमुन्मिश्रा, स्तद्वन्नामादयो घटे ॥ ४ ॥" इति ।

अनुयोगद्वारसूत्रेऽप्युक्तम्—

"जत्थ य ज जाणिज्जा, णिक्खेव णिक्खिवे निरवसेस ।
जत्थ वि न जाणिज्जा, चउक्कय णिक्खेवे तत्थत्ति ॥ १ ॥"

अत्र यत्र निक्षेपान्तर न जानीयात्तत्र चतुष्टय निक्षिपेदित्यनेन चतुष्टयस्य व्यापिता स्फुटीकृता, यत्तत्पदाभ्यां निर्देशे यो धूमवान् स वह्निमानित्यत्रेव व्याप्तेर्लाभावश्यकत्वादिति । तथा च यद्यद्वस्तु तत्तन्नामादिनिक्षेपचतुष्टयात्मकमिति पर्यवसायिनी सा व्याप्तिरिति तज्ज्ञानजन्याया अन्यथानुपपद्यमानवस्तुत्वहेतुकायाः " वस्तुतत्त्व नामादिनिक्षेपचतुष्टयात्मकम् " इत्यनुमितेर्वस्तुमात्र नामादिनिक्षेपचतुष्टयात्मकमेवेति सिद्धम् । तथा हि-एकस्मिन्नपि शचीपत्यादौ 'इन्द्र' इति नाम, तदाकारस्तु स्थापना, उत्तरावस्थाकारणत्व तु द्रव्यत्वम्, दिव्यरूप-सपत्ति-कुलिशधारण-परमैश्वर्यादिसपन्नत्व तु भाव इति चतुष्टयमपि प्रतीयते, तद्वदन्यवस्तुन्यपि ज्ञेयम्, उक्तञ्च-" ज वत्थुमत्थि लोए चउपज्जाय तय सव्व " इति ॥ अत्रान्यच्छङ्का तत्समाधान निक्षेपसामान्यलक्षणञ्च नामादिप्रत्येकनिक्षेपानुगतलक्षणादिक च ग्रन्थगौरवभीत्या न विवेचित तत्सर्वमस्मत्कृततत्त्वार्थप्रथमाध्यायनिरणगूढार्थदीपिकाख्यटीकातो निस्ताराथिनाऽवसेयमिति ॥ ६ ॥

एतदपि नयद्वय शास्त्रस्य परमहृदय तदेव यदेकानेकत्वेनानुभूयमाने वस्तुनि यदशापेक्षयैकत्व स एवाशो द्रव्य यदशापेक्षयाऽनेकत्व स एवांशः पर्याय', अत एव तत्तदपेक्षागर्भतत्तदनेकपर्यायकरम्बितत्वाद् वस्तुनस्तथा तथा प्रयोगे तत्तदपेक्षालाभार्थ स्यात्कारमेव प्रयुञ्जते सर्वत्र प्रामाणिका, अन्यथा निराकाङ्क्षमेव सर्व वाक्य प्रसज्येत, तथा चाऽन्योऽन्यानुस्यूतद्रव्यपर्यायोभयात्मकमेव वस्तु परमार्थदृष्ट्या सत्, न त्वेकान्तद्रव्यार्थिकनयाभ्युपगतकल्पितपूर्वापरपर्यायान्वयिद्रव्यात्मकमेव वस्तु सत्, न चैकान्तपर्यायार्थिकनयोररीकृतप्रतिक्षणान्यान्यपर्यायात्मकमेव वस्तु सत्, अन्योन्याननुस्यूतद्रव्यपर्यायाऽनुपलम्भात् । यदुक्तम्—

द्रव्य पर्यायवियुत, पर्याया द्रव्यवर्जिताः ।
क कदा केन किंरूपाः, दृष्टा मानेन केन वा ? ॥ १ ॥

तथा च वस्तुमात्रस्य द्रव्यार्थिकनयापेक्षया गुणीभूतपर्यायप्रधानीभूतद्रव्योपेतत्वेनेव पर्यायार्थिकनयापेक्षया गुणीभूतद्रव्यप्रधानीभूतपर्यायोपेतत्वेनाप्युपलम्भात् समुदितद्रव्या

र्थिकपर्यायार्थिकनयार्पणाया प्रमाणार्पणापर्यवसायित्वेन तथा प्राधान्येन द्रव्यपर्यायोभयोपेतत्वेनोपलम्भाच्चानेकान्तात्मकमेव वस्तु सदित्येवम्भूतार्थप्रतिपादनपरत्वेन परस्परसापेक्षम्, न तु विशेषाननुषक्तसामान्यमात्रावभासक सामान्याननुषक्तपर्यायमात्रावभासकमित्येवं पृथगेकैकांशप्रतिपादनपरं परस्परनिरपेक्षं नयद्वयम्, तस्य मिथ्यारूपत्वेन तद्विषयस्याप्यसद्रूपत्वादित्येतस्यार्थस्य प्रदर्शनार्थमाह—

"पज्जवनिस्सामण्णं, वयणं दव्वट्ठियस्स अत्थित्ति ।
अवसेसो वयणविही, पज्जवभयणा सपडिवक्खो ॥ ७ ॥" इति

'पज्जवनिस्सामण्णं वयणं' पर्यायनयेन निस्सामान्यमसाधारणं वचनं, तत्कस्य कीदृशमित्यत आह—"दव्वट्ठियस्स अत्थित्ति" द्रव्यार्थिकस्य-द्रव्यार्थिकनयस्य अस्तीत्याकारकं पर्यायनयाभ्युपगतविशेषस्य सत्ताऽनुप्रवेशात् विशेषाननुषक्तसामान्यमात्रप्रतिपादकम्, यथा चैतद्वचनमेकान्तात्मकं मिथ्या, असदर्थप्रतिपादकत्वात्, तथा पर्यायनयवचनमपि सामान्याननुषक्तविशेषमात्रप्रतिपादकं मिथ्यैव तत्प्रतिपाद्यस्यार्थस्यासद्रूपत्वादिति प्रतिपादयितुमाह—'अवसेसो वयणविही' अवशेषो वचनविधिर्वचनप्रकारः 'पज्जवभयणा' पर्यायभजनात् पर्यायेषु सत्ताया आरोपणात् अनुप्रवेशात् 'सपडिवक्खो' सप्रतिपक्ष इति गाथासङ्क्षिप्तार्थः । विस्तृतार्थस्त्वेवम्—'पज्जवनिस्सामण्णं वयणं' निर्गतं सामान्यं साधारणस्वरूपं यस्मात्तन्निःसामान्यम्, असाधारणम्, पर्यायनयेन सह निस्सामान्यं पर्यायनिस्सामान्यम्, एवंविधं वचनम्, पर्यायनयेन वस्तुप्रतिपत्तये यादृशं वचनं घटपटादिभेदप्रतिपादकं प्रतिक्षणमन्यान्यस्वरूपप्रतिपादकञ्चाभ्युपगतं तादृशवचनसमानं यन्न भवति एवम्भूतं सत्तामात्रप्रतिपादकं वचनमिति यावत्, तत्कस्येत्यत आह —'दव्वट्ठियस्स' द्रव्यार्थिकनयस्य, किं स्वरूपं तदित्यत आह-'अत्थित्ति' अस्तीत्याकारकं सत्तासामान्यरूपाऽभिन्नार्थप्रतिपादकम् । ननु भेदवाद्यभ्युपगतविशेषपदार्थोऽप्यस्तीति तत्प्रतिपादकमपि कथं न 'अस्ति' इत्याकारकं वचनमिति चेत्, नैवम्, तस्य सत्तास्वरूपप्रवेशे नैव सद्रूपत्वात्, न हि तद्व्यतिरिक्तो विशेषो नाम पदार्थः कश्चिदनुभूयते, सदित्युक्ते वस्तुमात्रस्यैव बुद्धौ प्रतिभासनात्, सर्वं सत्तामात्रमेव, न तदर्थान्तरं वस्तु किमप्यस्तीति न तत्प्रतिपादकमस्तीति वचनम् । एतद्वचनमपि मिथ्या, विशेषविनिर्मुक्तसत्ता व्यवहाराऽनुपयुक्तत्वेनाऽसद्रूपत्यसदर्थप्रतिपादकत्वात्, वियत्कुसुमवचनवत् । व्यवहारानुपयुक्तत्वञ्च वहनदोहनानयनादिविशेषक्रियाव्यतिरिक्तसामान्यक्रियायास्सत्सामान्यसाध्याया अव्यवह्रियमाणत्वेन व्यवह्रियमाणायाश्च वहनदोहनादिविशेषक्रियाया अश्वगवादिविशेषसाध्यतयैवानुभूयमानत्वेन सामान्यमात्रविषयकव्यवहारस्य कस्यचिददर्शनेन सिद्धमेव । एतेन यदुच्यते मल्लवादिना—

तत्रापि नाम नाकार-माकारो नाम नो विना ।
तौ विना नापि चान्योन्य,-मुत्तरावपि संस्थितौ ॥ ३ ॥

मयूराण्डरसे यद्व द्वर्णा नीलादयः स्थिताः ।
सर्वेऽप्यन्योन्यसंमिश्रा, स्तद्वन्नामादयो घटे ॥ ४ ॥" इति ।

अनुयोगद्वारसूत्रेऽप्युक्तम्—

"जत्थ य जं जाणिज्जा, णिक्खेवं णिक्खिवे निरवसेसं ।
जत्थ वि न जाणिज्जा, चउक्कयं णिक्खिवे तत्थत्ति ॥ १ ॥"

अत्र यत्र निक्षेपान्तरं न जानीयात्तत्र चतुष्टयं निक्षिपेदित्यनेन चतुष्टयस्य व्यापिता स्फुटीकृता, यत्तत्पदाभ्यां निर्देशे यो धूमवान् स वह्निमानित्यत्रेव व्याप्तेर्लाभावश्यकत्वा दिति । तथा च यद्यद्वस्तु तत्तन्नामादिनिक्षेपचतुष्टयात्मकमिति पर्यवसायिनी सा व्याप्तिरिति तज्ज्ञानजन्याया अन्यथानुपपद्यमानवस्तुत्वहेतुकायाः "वस्तुतत्त्वं नामादिनिक्षेपचतुष्टयात्मकम्" इत्यनुमितेर्वस्तुमात्रं नामादिनिक्षेपचतुष्टयात्मकमेवेति सिद्धम् । तथा हि-एकस्मिन्नपि शचीपत्यादौ 'इन्द्र' इति नाम, तदाकारस्तु स्थापना, उत्तरावस्थाकारणत्वं तु द्रव्यत्वम्, दिव्यरूप-संपत्ति-कुलिशधारण-परमैश्वर्यादिसंपन्नत्वं तु भाव इति चतुष्टयमपि प्रतीयते, तद्वदन्यवस्तुन्यपि ज्ञेयम्, उक्तञ्च-" जं वत्थुमत्थि लोए चउपज्जायं तयं सव्वं " इति ॥ अत्रान्यशङ्का तत्समाधानं निक्षेपसामान्यलक्षणञ्च नामादिप्रत्येकनिक्षेपानुगतलक्षणादिकं च ग्रन्थगौरवभीत्या न विवेचितं तत्सर्वमस्मत्कृततत्त्वार्थप्रथमाध्यायविवरणगूढार्थदीपिकाख्यटीकातो विस्तारार्थिनाऽवसेयमिति ॥ ६ ॥

एतदपि नयद्वयं शास्त्रस्य परमहृदयं तदेव यदेकानेकत्वेनानुभूयमाने वस्तुनि यदंशापेक्षत्वं स एवांशो द्रव्यं यदंशापेक्षयाऽनेकत्वं स एवांशः पर्यायः, अत एव तत्तदपेक्षागर्भतत्तदनेकपर्यायकदम्बितत्वाद् वस्तुनस्तथा तथा प्रयोगे तत्तदपेक्षालाभार्थं स्यात्कारमेव प्रयुञ्जते सर्वत्र प्रामाणिकाः, अन्यथा निराकाङ्क्षमेव सर्वं वाक्यं प्रसज्येत, तथा चाऽन्योऽन्यानुस्यूतद्रव्यपर्यायोभयात्मकमेव वस्तु परमार्थदृष्ट्या सत्, न त्वेकान्तद्रव्यार्थिकनयाभ्युपगतकल्पितपूर्वापरपर्यायान्वयिद्रव्यात्मकमेव वस्तु सत्, न चैकान्तपर्यायार्थिकनयोररीकृतप्रतिक्षणभिन्नपर्यायात्मकमेव वस्तु सत्, अन्योन्याननुस्यूतद्रव्यपर्यायाऽनुपलम्भात् । यदुक्तम्—

द्रव्यं पर्यायवियुतं, पर्याया द्रव्यवर्जिताः ।
क्व कदा केन किंरूपा, दृष्टा मानेन केन वा ? ॥ १ ॥

तथा च वस्तुमात्रस्य द्रव्यार्थिकनयापेक्षया गुणीभूतपर्यायप्रधानीभूतद्रव्योपेतत्वेनेव पर्यायार्थिकनयापेक्षया गुणीभूतद्रव्यप्रधानीभूतपर्यायोपेतत्वेनाप्युपलम्भात् समुदितद्रव्या

र्थिकपर्यायार्थिकनयार्पणाया प्रमाणार्पणापर्यवसायित्वेन तथा प्राधान्येन द्रव्यपर्यायोभयोपेत त्वेनोपलम्भाच्चानेकान्तात्मकमेव वस्तु सदित्येवम्भूतार्थप्रतिपादनपरत्वेन परस्परसापेक्षम्, न तु विशेषाननुषक्तसामान्यमात्रावभासक सामान्याननुषक्तपर्यायमात्रावभासकमित्येव पृथगेकैकांशप्रतिपादनपर परस्परनिरपेक्ष नयद्वयम्, तस्य मिथ्यारूपत्वेन तद्विषयस्याप्यस द्रूपत्वादित्येतस्यार्थस्य प्रदर्शनार्थमाह—

" पज्जवनिस्सामण्ण, वयण दव्वट्ठियस्स अत्थित्ति ।
अवसेसो वयणविही, पज्जवभयणा सपडिवक्खो ॥ ७ ॥ " इति

'पज्जवनिस्सामण्ण वयण' पर्यायनयेन निस्सामान्यमसाधारण वचन, तत्कस्य कीदृशमित्यत आह—" दव्वट्ठियस्स अत्थित्ति " द्रव्यार्थिकस्य-द्रव्यार्थिकनयस्य अस्तीत्याकारक पर्यायनयाभ्युपगतविशेषस्य सत्ताऽनुप्रवेशात् विशेषाननुषक्तसामान्यमात्रप्रतिपादकम्, यथा चैतद्वचनमेकान्तात्मक मिथ्या, असदर्थप्रतिपादकत्वात्, तथा पर्यायनय वचनमपि सामान्याननुषक्तविशेषमात्रप्रतिपादक मिथ्यैव तत्प्रतिपाद्यस्यार्थस्यासद्रूपत्वा दिति प्रतिपादयितुमाह—'अवसेसो वयणविही' अवशेषो वचनविधिर्वचनप्रकारः 'पज्जवभयणा' पर्यायभजनात् पर्यायेषु सत्ताया आरोपणात् अनुप्रवेशात् 'सपडिवक्खो' सप्रतिपक्ष इति गाथासङ्क्षिप्तार्थः । विस्तृतार्थस्त्वेवम्—'पज्जवनिस्सामण्ण वयण' निर्गत सामान्य साधारणस्वरूप यस्मात्तन्निःसामान्यम्, असाधारणम्, पर्यायनयेन सह निस्सामान्य पर्यायनिस्सामान्यम्, एवविध वचनम्, पर्यायनयेन वस्तुप्रतिपत्तये यादृश वचन घटपटादिभेदप्रतिपादक प्रतिक्षणमन्यान्यस्वरूपप्रतिपादकञ्चाभ्युपगत तादृशवचनसमान यत्र भवति एवम्भूत सत्तामात्रप्रतिपादक वचनमिति यावत्, तत्कस्येत्यत आह –' दव्वट्ठियस्स ' द्रव्यार्थिकनयस्य, किं स्वरूप तदित्यत आह-' अत्थित्ति ' अस्तीत्याकारक सत्ता सामान्यरूपाऽभिन्नार्थप्रतिपादकम् । ननु भेदवाद्यभ्युपगतविशेषपदार्थोऽप्यस्तीति तत्प्रतिपादकमपि कथ न 'अस्ति' इत्याकारक वचनमिति चेत्, नैवम्, तस्य सत्तास्वरूपप्रवेशे नैव सद्रूपत्वात्, न हि तद्व्यतिरिक्तो विशेषो नाम पदार्थः कश्चिदनुभूयते, सदित्युक्ते वस्तुमात्रस्यैव बुद्धौ प्रतिभासनात्, सर्वं सत्तामात्रमेव, न तदर्थान्तर वस्तु किमप्यस्तीति न तत्प्रतिपादकमस्तीति वचनम् । एतद्वचनमपि मिथ्या, विशेषविनिर्मुक्तसत्ता व्यवहाराऽनुपयुक्तत्वेनाऽसद्रूपत्यसदर्थप्रतिपादकत्वात्, वियत्कुसुमवचनवत् । व्यवहारानुपयुक्तत्वञ्च वहनदोहनानयनादिविशेषक्रियाव्यतिरिक्तसामान्यक्रियायास्सत्सामान्यमाध्याया अव्यवह्रियमाणत्वेन व्यवह्रियमाणायाश्च वहनदोहनादिविशेषक्रियाया अश्वगवादिविशेषसाध्यतयैवानुभूयमानत्वेन सामान्यमात्रविषयकव्यवहारस्य कस्यचिददर्शनेन सिद्धमेव । एतेन यदुच्यते सङ्ग्रहवादिना—

"यथा कटकशब्दार्थः, पृथक्त्वार्हो न काञ्चनात् ।
न हेम कटकात्तद्व-ज्जगच्छब्दार्थताऽपरे ॥ १ ॥"

इति तदपास्तम् । अस्यायमर्थः—

काञ्चनात्कटकशब्दार्थः पृथक्त्वार्हो न, अर्थात् काञ्चनमेव कटकशब्दार्थः, कटकशब्दार्थस्य विशेषस्याऽतिरिक्तस्याभावेन काञ्चनमेव कटकशब्देनोच्यते इत्यर्थः, तद्वत् कटकशब्दार्थस्य काञ्चनात् पृथक्त्वार्हत्वाभाववद् हेम्नः कटकशब्दार्थात् पृथक्त्वार्हत्वाभावो न, अर्थात् हेम्नस्सामान्यस्य सद्भूतत्वेन कटकशब्दार्थात् कटकात्काल्पनिकात्पृथक्त्वमेव, अपृथक्त्वे विशेषस्याऽसत्त्वेन तद्रूपस्य सामान्यस्याप्यसत्त्वं स्यात्, न च सामान्यमसत्, ततो न तस्य विशेषरूपता, विशेषस्य तु सामान्यादपृथक्त्वे सामान्यात्मना सत्त्वमापद्येत, तदिष्टमेव, सर्वेषां विशेषाणां सामान्यात्मना सत्त्वस्येष्टत्वात् । अपरे न परं श्रेष्ठं यस्मात्तदपरं सत्त्वाख्यमहासामान्यं, तस्मिन्, जगच्छब्दार्थता–घटपटाद्यशेषशब्दार्थता, सर्वेऽपि घटपटादिशब्दा महासामान्यमेव तत्तद्रूपेण ब्रुवते इति तदपाकृतौ को हेतुरिति चेत्, उच्यते, हेमसामान्यस्य यावत्कटकाङ्गदादिविशेषपार्थक्याऽसिद्धेः, शाखादियावदवयवभिन्नस्य वृक्षादेरिव यावद्विशेषभिन्नस्य सत्ताख्यमहासामान्यस्याप्यनुपलब्धिश्चेति जानीहि, यथा च घटशरावोदञ्चनाद्यभिन्नमेव मृद्द्रव्यं, तथा कटककेयूराद्यभिन्नमेव सुवर्णद्रव्यम्, ऊर्ध्वतासामान्यवत्तिर्यक्सामान्यमपि व्यक्तिव्यतिरिक्तं नानुभूयत एव, सत्ताऽव्यतिरिक्ततयैव सर्वं घटपटादिकमवभासत इति महासत्तासामान्यमेव घटपटादिकमिति तदाऽभ्युपगन्तुं शक्येत, यदि प्रतीतौ सन्मात्रमुल्लिख्येत, न त्वेवम्, घटः सन् पटः सन्नित्येव घटपटादीनामप्युल्लेखादित्युल्लिख्यमानभेदान्यथानुपपत्त्या घटपटादयोऽप्यभ्युपगन्तव्याः, न च घटपटादिकमनुल्लिख्य सन्मात्रोल्लेखशालिनी प्रतीतिः काचिदस्तीति । न च द्रव्योपयोगप्रसवानुगतप्रतीतिलक्षणसामान्योपलम्भस्य सद्भावात्सामान्यानुपलब्धेरित्यस्यैवाऽसिद्धिरिति वाच्यम्, जलाहरणव्रणपिण्डीप्रदानादिव्यवहारस्य घटनिम्बपत्रादिविशेषैरेव क्रियमाणस्य दर्शनेन सामान्यस्य व्यवहाराऽनिर्वाहकत्वेन द्रव्योपयोगेन तद्ग्रहेऽपि तस्य दोषजन्यज्ञानतया भ्रमत्वेन ततो वस्तुत्वसिद्धेरिति । तत्र सदेवास्तीत्येकान्तभावनाप्रवृत्तस्य द्रव्यार्थिकनयस्य परमार्थता । पर्यायास्तिकनयस्याप्येवं प्रवृत्तस्य न सेति पश्चार्द्धेन प्रतिपादयति–'अवसेसो' इत्यादिना । तत्रावशेषः–अवशिष्ट उपयुक्तादन्य इति यावत्, स क इत्यत आह–'वयणविही' सत्ताविनिर्मुक्तविशेषप्रतिपादकवचनप्रकार इत्यर्थः । स च कीदृश इत्यत आह–'पज्जवभयणा सपडिवक्खो' । पर्यायेषु सत्ताव्यतिरिक्तेष्वसत्सु भजनात् सत्तायाः आरोपणात् सत्प्रतिपक्ष इति–सतः प्रतिपक्षः विरोधी, असदर्थप्रतिपादकत्वेन मिथ्येत्यर्थः । तथा च विशेष एवास्तीति वचनविधिः मिथ्या, सामान्यविनिर्मुक्तविशेषस्यासतः प्रतिपादकत्वात् खपुष्पवचनवदिति

पर्यवसितोऽर्थः । असत्त्व च तस्य सतो भेदाभेदाभ्यां विकल्पाऽसहत्वात्, तथाहि–विशेषः सतो भिन्नोऽभिन्नो वा, आद्ये सतो भिन्नत्वेन शशशृङ्गवदसत्त्वमेव स्यात्, द्वितीये सतो ऽभिन्नत्वेन सत्ताकुक्षिप्रविष्टतया सन्मात्रमेव स्यात्, सत्तास्वरूपवत् । तन्न विशेष एवास्तीत्येकान्तभावनाप्रवृत्तस्य पर्यायास्तिकनयस्य पारमार्थिकत्वम्, तदेवमुक्तैकान्तनयद्वयस्य मिथो विरोधयुक्तयाऽप्रामाणिकत्वे सिद्धे तद्विषयीभूतं नैकान्तसामान्यात्मकं न वैकान्तविशेषात्मकं वस्तु सत्, किन्तु परस्पराऽनुस्यूतोभयात्मकमेव, यत एकस्मिन्नेव वस्तुनि सामान्यविशेषावनुस्यूततयैवानुभूयेते, अत एव सामान्यविशेषोभयात्मकस्य वस्तुनः सामान्याख्यद्रव्यस्यैकत्वेन तदपेक्षयैकत्वम्, विशेषाख्यपर्यायाणां नानात्वेन तदपेक्षयानेकत्वमिति गौणप्रधानभावेनैकानेकात्मकतया वस्तुप्रतिपादकं परस्परसापेक्षद्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयद्वयं प्रधानभावेनैकानेकात्मकतया वस्तुप्रतिपादकं प्रमाणञ्च शास्त्रस्य परमरहस्यमिति सिद्धम् । अत एवैकस्मिन्नेव नरकं परस्परसापेक्षद्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयद्वयापेक्षकशाश्वतत्वाशाश्वतत्वधर्मद्वयप्रतिपादकम्, इमा णं भंते ! रयणप्पभा पुढवी किं सासता असासता ? गोयमा ! सिय सासता सिय असासता । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ सिय सासता सिय असासता ? गोयमा ! दव्वट्ठयाए सासता, वण्णपज्जवेहिं गंधपज्जवेहिं रसपज्जवेहिं फासपज्जवेहिं असासता, से एएणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चति तं चेव जाव सिय असासता, एवं जाव अहे सत्तमा, इति सूत्रमपि सङ्गच्छत इति । अथवा अर्थाभिधानप्रत्ययास्तुल्यनामधेया इति न्यायघटकीभूतयोरर्थप्रत्यययोस्स्वरूपं पूर्वमभिधायाधुना तद्घटकीभूतस्यावशिष्टस्याभिधानस्य नयस्य वाक्यस्वरूपत्वे द्रव्यास्तिकपर्यायास्तिकनयस्वरूपस्य, नयस्य वाक्याऽस्वरूपत्वे तदभिधायकस्य वा प्रतिपादनार्थमाह–'पज्जवणिस्सामण्णं' इत्यादि । 'पज्जवणिस्सामण्णं वयणं' पर्यायान्निर्गतं तदननुषक्तं तदविमिश्रमिति यावत्, सामान्यसङ्ग्रहस्वरूपं यस्मिन् वचने तत् पर्यायनिस्सामान्यं वचनम्, पर्यायविनिर्मुक्तसामान्यप्रतिपादकं वचनमिति यावत्, किंस्वरूपं तदित्याशङ्कायामाह–'अत्थि त्ति' अस्तीत्याकारकं महासत्तासामान्याभिधायीति यावत् । तच्च कस्य स्वरूपं प्रतिपादकं वेत्यत आह–'दव्वट्ठियस्स' नयस्य वाक्यस्वरूपत्वपक्षे वाक्यात्मकद्रव्यार्थिकनयस्य स्वरूपम्, वाक्यास्वरूपत्वपक्षे द्रव्यार्थिकनयस्य प्रतिपादकं वा, यद्वा "पज्जवणिस्सामण्णं वयणं" इति, पर्यायः ऋजुसूत्रनयविषयादन्यो द्रव्यत्वादिविशेषः, स एव च निश्चितं सामान्यं यस्मिंस्तत् पर्यायनिस्सामान्यं वचनम्, द्रव्यत्वादिसामान्यविशेषाऽभिधायीति यावत् । तच्च वचनं 'दव्वट्ठियस्स अत्थि' द्रव्यार्थिकस्यास्ति–अशुद्धद्रव्यार्थिकनयस्य वाक्यास्वरूपत्वे तत्प्रतिपादकत्वेन, वाक्यस्वरूपत्वे तु तत्स्वरूपत्वेन सम्बन्धि भवतीत्यर्थः, इतिशब्दोऽशुद्धद्रव्यार्थिकनयवचनपरिपूर्तौ, अर्थात् एतावन्मात्रमशुद्धद्रव्यार्थिकनयवचनमित्यावेदितं भवति । अथवेत्यादिपूर्वार्द्धव्याख्यानेन सत्ताख्यमहासामान्याभिधायि वचनं शुद्धद्रव्यार्थिकस्येति प्रतिपाद्य

यद्वेत्यादिना पूर्वार्द्धस्यैव व्याख्यानान्तरेण [illegible] शुद्धद्रव्यार्थिकनयविषयाभिधायिवचनमशुद्धद्रव्यार्थिकस्येति प्रतिपाद्य च अवसेसो पर्यायार्थिकनयस्य वचनस्वरूपमाह–अवशेष.–अवशिष्टः [illegible] र्थिकवचनाभ्यां भिन्नो वचनविधिः पर्यायार्थिकनयस्वरूपः [illegible] यथा–शुद्धाशुद्धद्रव्यार्थिकवचनयोर्विरोधी, तत्र हेतुः " पज्जवभयणा " पर्यायभजनात् प्रतिपादकत्वादित्यर्थः । पर्यायप्रतिपादकत्वाभावे [illegible] पर्यायनयवचनस्य न स्यादिति तदन्यथानुपपत्त्या पर्यायप्रतिपादकत्वं तस्य [illegible] एवमेवाऽन्यनयार्थिकनयवचनस्वरूपं प्रतिपादितं भवति, शुद्धाशुद्धद्रव्यार्थिकनययोः पर्यायार्थिकनयवचनयोरविरोधस्तु परस्परमापेक्षयोर्नयद्वयविषययोर्गौणप्रधानभावेन [illegible] [illegible] गाथार्थः ॥ ७ ॥

एवं सामान्यतो द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकभेदेन भेदमनुभवतां नयानां स्वरूपं प्रतिपाद्य [illegible] [illegible] सत्त्वादिगुणत्रयात्मकतया त्रिरूपत्वमितिवत् एकस्मिन्नेव भ्रान्तज्ञाने [illegible] प्रामाण्यं [illegible] चाऽप्रामाण्यमितिवत् चित्रज्ञाने नीलाकारत्वपीताकारत्वयोः भिन्नभिन्न [illegible] [illegible] कथञ्चिदेकत्वानेकत्वभेदाभेदादिधर्मालिङ्गितद्रव्यपर्यायोभयरूपाणि प्रधानभावेनावस्थितानि [illegible] गुणपर्यायाणां चाऽवस्थितत्वे सतीत्येतत्प्रतिपादनार्थं ज्ञानानेकान्तमेव तावदाह–

" पज्जवणयवुक्कंतं वत्थुं, दव्वट्ठियस्स वयणिज्जं ।
जाव दविओवओगो, अपच्छिमवियप्पनिव्वयणो ॥ ८ ॥"

अपश्चिमविकल्पनिर्वचनः सद्रव्यावसानो यावद्द्रव्योपयोग प्रवर्त्तते तावद् द्रव्यार्थिकस्य वचनीयं द्रव्यार्थिकनयस्य विषयीभूतं वस्तु, तच्च पर्यायनयव्युत्क्रान्तं पर्यायनयविषयीकृतमेवेति तात्पर्यार्थः । अक्षरार्थस्त्वेवम्–' अपच्छिमवियप्पनिव्वयणो ' निश्चयकर्तृत्वव निर्वचनम् विकल्पश्च निर्वचनश्च अनयोस्समाहारो विकल्पनिर्वचनम्, न विद्यते पश्चिमं विकल्पनिर्वचनं यस्मिन् तथा–तथाविधं तदस्य द्रव्योपयोगस्यासौ अपश्चिमविकल्पनिर्वचनः । यद्वा अपश्चिमविकल्पनिर्वचनः––न विद्येते पश्चिमे उत्तरे विकल्पनिर्वचने सविकल्पधीव्यवहारलक्षणे यत्र स तथा, शुद्धसद्द्रव्यावसान इति यावत्, ततः परं विकल्पवचनाऽप्रवृत्तेः, " जाव दविओवओगो " ईदृशो यावद्द्रव्योपयोगः प्रवर्त्तते तावत्किमित्यत आह–' वत्थुं दव्वट्ठियस्स वयणिज्जं ' इति तावद्द्रव्यार्थिकनयस्य वचनीयं वस्तु, द्रव्यार्थिकनयस्य विषयीभूतम्, तच्च किंस्वरूपमित्यत आह–' पज्जवणयवुक्कंत ' पर्यायनयव्युत्क्रान्तम्–पर्यायनयेन वि–विशेषेण उत् ऊर्ध्वं क्रान्तं विषयीकृतमेव, पर्याया नाक्रान्तसत्तामात्रसद्ग्राहकस्य प्रत्यक्षस्यानुमानस्य वा प्रमाणस्याभावात्, घटपटादि

पर्यायाक्रान्तस्यैव सर्वदा सत्तारूपस्य ताभ्यामवगतेः। घटः सन् पटः सन् मठस्सन्नित्यादि-प्रत्यक्षप्रतीतिभ्यो विशेष्यविषया घटपटादीनां पर्यायाणामपि सिद्धेः, तेषां काल्पनिकत्वे प्रकारीभूताया अखण्डात्मकसत्ताया अपि तथात्वापत्तेः, व्याप्तिज्ञानपरामर्शयोः पक्षसाध्य हेतुविषययोः प्रामाण्ये सत्येव तज्जन्यमखण्डात्मकसत्तासाधकानुमितेः प्रामाण्यमिति भेद-सिद्ध्यापत्तिः, तयोरप्रामाण्ये च तज्जन्यानुमितेरप्यप्रामाण्यापत्त्या अखण्डात्मकसत्ताया अप्य सिद्ध्यापत्तिरस्यात्, सदेव सोम्येदमग्र आसीत्, " एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म " " नेह नानास्ति किञ्चन " इत्यादिवेदवाक्यस्य प्रामाण्यन्तु विवादापन्नमेवेत्येकोऽर्थः। यद्वा यद्वस्तु सूक्ष्म सूक्ष्मतरसूक्ष्मतमादिबुद्धिना पर्यायनयेन स्थूलरूप त्यजतोत्तरोत्तरतत्सूक्ष्मरूपाभ्युपगमात् व्युत्क्रान्त गृहीत्वा विचारेण मुक्त किमिदं मृत्सामान्यम्, यद् घटादिविशेषानुपरक्तधीविषयी भवेत् ?। घटादिविशेषैर्विना प्रतिपत्तिविषयस्स्यात्, एव यावत्सूक्ष्मतमस्वरूपोऽन्त्यो विशेषस्तावत्सर्वं वस्तु द्रव्यार्थिकनयस्य वक्तव्यम्, पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तरापेक्षयाऽनुगतरूपत्वा-दवोत्तरोत्तरनयेन सूक्ष्मसूक्ष्मतरतद्विशेषग्राहिणा परित्याग इति तस्य पूर्वपूर्वरूपस्य सामा-न्यात्मकस्य द्रव्यत्वमायातमेवेति तद्विषयकस्य नयस्य द्रव्यार्थिकत्वम्, तद्ग्राह्यस्य पूर्वपूर्व रूपस्योत्तरोत्तरसूक्ष्मसूक्ष्मतरपर्यायनयत्यक्तस्यार्थस्य द्रव्यरूपत्वम्, उत्तरोत्तरस्य च पूर्वपूर्व रूपापेक्षया विशेषरूपत्वेन पर्यायरूपतया तद्ग्राहिणो नयस्य पर्यायार्थिकत्वम्, तद्ग्राह्यस्य चोत्तरोत्तरपर्यायरूपत्वम्, यदत्र चोत्तरापेक्षया पूर्वपूर्वरूपत्वात्सामान्यरूप, तदेव ■ स्वपूर्वा-पेक्षया विशेषरूपमित्येकस्यापि वस्तुनः सामान्यविशेषोभयरूपत्वेन द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिक नयविषयत्वम्, यतो यावदपश्चिमविकल्पनिर्वचनोऽन्त्यो विशेषस्तावद्द्रव्योपयोगो द्रव्यज्ञान प्रवर्त्तते, न हि द्रव्यादयो विशेषान्ताः सदादिप्रत्ययाऽविशिष्टैकान्तव्यावृत्तबुद्धिग्राह्यतया प्रतीयन्ते, न च तथाऽप्रतीयमानास्तथाऽभ्युपगमार्हाः, अतिप्रसङ्गात्, तदेव न सत्ता विशेषविरहिणी, नापि विशेषास्सत्ताविकला इति सिद्धम्। ननु महासामान्यस्य तत्पूर्व सामान्याभावाच्छुद्धसङ्ग्रहेतरनयविषयत्वाभावेन विशेषरूपत्वाभावात्सामान्यरूपत्वमेव स्यात्, एवमन्त्यविशेषस्यापि तदुत्तरविशेषाऽभावात्तद्ग्राहकेण केनापि पर्यायनयेन ग्राह्यत्वा भावात्सामान्यरूपत्वाभावेन विशेषरूपत्वमेव स्यादिति चेत्, भवतु तथा, का नाम क्षतिः, अपसिद्धान्तत्वप्रसङ्ग इति चेत्, मैवम्।

" अथ द्रव्योपयोगः स्यात्, विकल्पेऽन्त्ये व्यवस्थितः।
अन्तरा द्रव्यपर्याय-धीः सामान्यविशेषजत् ॥ १५ ॥ " इति

नयोपदेशश्लोकव्याख्यायां " अथ द्रव्योपयोगः द्रव्यार्थिकनयजन्यो बोधः अन्त्ये विकल्पे शुद्धसङ्ग्रहाख्ये व्यवस्थितः, पर्यायबुद्ध्याऽविचलितः स्यात् " इत्युक्त्या शुद्धसङ्ग्रह-विषय महासामान्ये पर्यायार्थिकनयो न प्रवर्त्तत इति तत्सामान्यरूपमेव, न पर्यायरूप

मित्युक्तम्भवति। अन्त्यविशेषनिरूपे न शुद्धर्जुसूत्रलक्षणे कारणाभावादेव द्रव्योपयोगो व्यवस्थितस्स्यात्-व्युपरतस्स्यादित्युक्त्या शुद्धर्जुसूत्रलक्षणस्य शुद्धपर्यायावगाहिनयस्य विषयेऽन्त्यविशेषे द्रव्योपयोगो द्रव्यार्थिकनयजन्यबोधो न प्रवर्तेत इति स विशेष एव, न सामान्यमित्युक्तम्भवतीति नापसिद्धान्तत्वप्रसङ्ग इति। विशेषार्थिना नयोपदेशवृत्तिर्नाम्ना नयामृततरङ्गिणी विलोकनीया। न च महासामान्यस्य सामान्यैकान्तरूपत्वेऽन्त्यविशेषस्य च विशेषैकान्तरूपत्वेऽनेकान्तत्वविरोधस्स्यादित्यपि वाच्यम्, महासामान्यस्यापि तदुत्तर विशेषापेक्षयैवान्त्यविशेषस्यापि च तत्पूर्वसामान्यापेक्षयैव सद्रूपत्वेन विषयतासम्बन्धेन परस्परमापेक्षोभयविषयताकबोध प्रति तादात्म्यसम्बन्धेनोभयात्मकविषयस्य कारणतया प्रत्येकस्याप्युभयरूपत्वेनानेकान्तत्वविरोधाभावादिति द्वितीयोऽर्थ इति ॥ ८ ॥

अथ द्रव्यार्थिको महासामान्यात्मकद्रव्यमात्रविषयताकत्वेन पर्यायार्थिकश्च विशेषात्म कपर्यायमात्रविषयताकत्वेन शुद्धजातीय इत्येव न शुद्धजातीयद्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकभाव व्यवस्था, किन्तु पूर्वोक्तयुक्त्याऽऽद्यमहासामान्यस्याप्यापेक्षिकविशेषरूपतयाऽन्त्यविशेषस्यापि चापेक्षिकसामान्यरूपतया सामान्य न विशेषविकल नापि विशेषाः सामान्यरहिता इति द्रव्यार्थिकस्य पर्यायार्थिकस्य वा प्रत्येकनयस्याप्युपसर्जनीकृतस्वान्यविषयप्रधानीकृतस्व विषयतया प्रधानगौणभावेन सामान्यविशेषात्मद्रव्यपर्यायोभयविषयताकत्वेनानेकान्तानु प्रवेशादेव द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकभावव्यवस्थेत्येतस्यार्थस्य प्रदर्शनार्थमाह—

" दव्वट्ठिओत्ति तम्हा, नत्थि णओ णियमसुद्धजाईओ।
ण य पज्जवट्ठिओ णाम, कोइ भयणाइ उ विसेसो ॥ ९ ॥" इति

तस्माद्द्रव्यार्थिक इति नयो नियमेन शुद्धजातीयः केवलद्रव्यविषयताको नास्ति, न च पर्यायार्थिकोऽपि कश्चिन्नयः शुद्धजातीयः केवलपर्यायविषयताकोऽस्ति, द्रव्यपर्याययो र्मिथस्सापेक्षतयैवानुभूयमानत्वेनान्यनिरपेक्षद्रव्यपर्यायविषयाभावेन विषयिणोऽप्यभावात्, भजनया त्वनयोर्नययोर्विशेष, पर्यायोपसर्जनेन प्रधानतया द्रव्यग्राहित्वे द्रव्यार्थिकनयः, द्रव्योपसर्जनेन प्रधानतया पर्यायग्राहित्वे पर्यायार्थिकनय इत्येवमनयोर्भेद इति तात्पर्यार्थः।

अवयवार्थस्त्वेवम्—' तम्हा दव्वट्ठिओत्ति णओ सुद्धजाईओ नत्थि ' तस्मात् परस्परा नात्मकद्रव्यपर्याययोरप्रतिभासमानत्वाद् द्रव्यार्थिक इति नयः शुद्धजातीयो विशेषविषयक त्वाभावे सति सामान्यविषयताको नास्त्येव, नियमेनेत्यस्यावधारणार्थत्वात्, द्रव्यपर्याययो र्मिथो नान्तरीयकत्वाद् विशेषविनिर्मुक्तोर्ध्वतासामान्यात्मकविषयाभावेन सामान्येतरा विषयताकत्वे सति सामान्यविषयताकद्रव्यार्थिकनयात्मकविषयिणोऽप्यभावात्। " ण य पज्जवट्ठिओ णाम कोइ " नाम इति प्रसिद्धार्थे, न च [illegible] कश्चिन्नयो नियमेन शुद्धस्वरूपः सामान्यानवभासित्वे सति विशेषावभा[illegible] सामान्यविकलात्यन्तव्या-

स्वतविशेषविषयाभावेन विशेषेतराविषयताकत्वे सति विशेषविषयताकपर्यायार्थिकनयात्मक-विषयिणोऽप्यभावात्, द्रव्यमात्रग्राहकद्रव्यार्थिकनयस्य पर्यायमात्रग्राहकपर्यायार्थिकनयस्य च भावे वा मिथ्यात्वमेव, अन्यथाविषयग्राहित्वात्, यद् यत्र यदपेक्षयाऽस्ति तस्य तत्र तदपेक्षया ग्राहकत्वेनैव नयप्रामाण्यात्। नन्वेवमेकान्ततस्याभेदस्य भेदस्य चाभावेन तद्रूप विषयाभावात् द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयौ न स्तस्तर्हि " तित्थयरवयणसंगह-विसेसपत्थार-मूलवागरणी " इत्यादितृतीयगाथोक्तौ नयस्य द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकौ मूलभेदौ विरुध्येते इत्यत आह-' भयणाइ उ विसेसो ' इति भजना-उपसर्जनप्रधानभावावगाहना, द्रव्यार्थिकनयेन पर्यायस्योपसर्जनभावेन द्रव्यस्य च प्रधानभावेनावगाहना, एवं पर्यायार्थिकनयेन द्रव्यस्योपसर्जनभावेन पर्यायस्य च प्रधानभावेनावगाहना तया, तु अवधारणे तयैवानयो र्नययोर्विशेषो भेदः, स्वेतरनयविषयमव्यपेक्ष्यैव स्वस्वविषयग्राहिणौ द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिक नयौ प्रमाणात्मकावपि स्वविषयेतरविषयमुपसर्जनीकृत्य स्वविषयञ्च प्रधानीकृत्य स्वस्व विषयावगाहित्वेनैव तयोर्भेद इति भावः। यद्वा भजनायास्तु विवक्षाया एव विशेषः ' इदं द्रव्यम्, अयं पर्यायः ' इत्येवं भेदः, तथा तद्भेदाद् विषयिणोऽपि तयोर्भेदः, विवक्षाभेद कृतविषयभेदप्रयोज्यप्रतिभासभेदेनानयोर्नययोर्भेद इति यावत्। अयमभिप्रायः -सामान्य विशेषात्मके वस्तुतत्त्वे उपसर्जनीकृतविशेषं यदन्वयिरूपं तद्द्रव्यमिति विवक्ष्यते यदा तदा द्रव्यार्थिकनयविषयः, यदा तूपसर्जनीकृतान्वयिरूपं तस्यैव वस्तुनो यदसाधारणं विशेषरूपं तद्विवक्ष्यते तदा पर्यायार्थिकनयविषयभूतं तत्त्वमित्येवं विवक्षाया भेदे तत्कृतविषयभेदेन तद्विषयकविषयिणोऽपि भेद एव ॥ ९ ॥ एतत्स्वरूपभजनाकृतमेव भेदं दर्शयितुमाह—

" दव्वट्ठिअवत्तव्वं, अवत्थु णियमेण पज्जवणयस्स ।
तह पज्जववत्थु अव-त्थुमेव दव्वट्ठिनयस्स ॥ १० ॥ "

द्रव्यार्थिकवक्तव्यं द्रव्यार्थिकनयाऽभिधेयं द्रव्यमवस्तु नियमेन निश्चयेन पर्यायनयस्य मते, एवमेव पर्यायवस्तु पर्यायनयाभ्युपगतं पर्यायाख्यं वस्तु अवस्त्वेव द्रव्यार्थिकनयस्य मते। तथा च पर्यायार्थिकनय उत्पाद-व्ययप्रतिभासे प्रामाण्यं निश्चिनोति, अत एव तद्विषयावुत्पादव्ययौ सत्यौ, ध्रौव्यप्रतिभासे त्वप्रामाण्यं, ध्रौव्याभाववति ध्रौव्यप्रकारकज्ञानस्य, तत्राऽप्रामाण्ये च तद्विषयस्यापि ध्रौव्यस्याऽसत्यत्वमेव, न तु तत्प्रतिभासमेव प्रतिक्षिपति, न खलु बाधकसहस्रेणापीदं रजतमिति ज्ञानं नाभूदित्येवं प्रतिक्षिप्यते केनचिदपि निष्णातेन, किन्तु रजतत्वाभाववति रजतत्वप्रकारकत्वेनाप्रामाण्यमेव निश्चीयते, तद्वत्प्रकृतेऽपि, एवं द्रव्यास्तिकोऽपि ध्रौव्यप्रतिभासे प्रामाण्यं निष्टङ्कयति, अत एव तद्विषयीभूतं ध्रौव्यमेव सत्यम्, उत्पादव्ययप्रतिभासे त्वप्रामाण्यमिति तद्विषयौ तौ न सत्याविति एवं स्वस्व विषयपक्षपातोऽप्युक्तः, ध्रौव्यनिरपेक्षोत्पादव्यययोरुत्पादव्ययनिरपेक्षध्रौव्यस्य च पूर्वमेव

प्रतिक्षिप्तत्वेन तदवगाहिप्रतिभासस्य मिथ्यारूपत्वात् । उत्पादव्यययोर्ध्रौव्यस्य च परस्परसापेक्षतया गौणप्रधानभावेनोत्पादादिधर्मत्रयावगाहित्वे सत्येव प्रामाण्यस्य च भावादुत्पादादित्रयात्मकमेव वस्त्वभ्युपगन्तव्यमिति तात्पर्यार्थः । अवयवार्थस्त्वेवम्— 'दवट्ठियवत्तव' द्रव्यार्थिकवक्तव्य द्रव्यार्थिकनयप्ररूपणाविषयोऽभेदः 'अवत्थु' अवस्तु पर्यायनयप्राधान्योपस्थितिजनितद्रव्यार्थिकनयाप्रामाण्यनिश्चयप्रयुक्तावस्तुत्वनिश्चयविषयः, तत्र किं सन्देह इत्यत आह—"णियमेण" इति, निश्चयेनेत्यर्थः, कस्य मते इत्यत आह— 'पज्जवणयस्स' पर्यायार्थिकनयस्य, एतदनन्तर मते इति शेषः, तन्मते वस्तुमात्रस्य प्रतिक्षण भिन्नभिन्नार्थक्रियाकारित्वेनैव सद्रूपतया नियमेन भिन्नभिन्नस्वरूपत्वात् । ननु यथा द्रव्यार्थिकनयाभ्युपगतोऽभेदः पर्यायार्थिकनयेनानभ्युपगतस्तथा पर्यायार्थिकनयाभ्युपगतो भेदो द्रव्यार्थिकनयेनासत्त्वेनाभ्युपगतः किं वाऽन्यथेत्याशङ्कायामाह—तह इत्यादि । 'तथा' तद्वत् 'पज्जवत्थु' पर्यायनयाभ्युपगतभेदाख्य वस्तु 'अवत्थुमेव' अवस्त्वेव द्रव्यार्थिकनयप्राधान्योपस्थितिजनितपर्यायार्थिकनयाऽप्रामाण्यनिश्चयप्रयुक्ताऽवस्तुत्वनिश्चय विषय एव, 'दवट्ठियणयस्स' द्रव्यार्थिकनयस्य, एतदनन्तरमपि मत इति पूरणीयम्, तन्मते भेदरूपाणां घटपटादिविकाराणामलीकत्वेन घटः सन् पटः सन्नित्याद्यनुगतप्रतीतिविषयस्याऽखण्डसत्त्वस्यैव वस्तुत्वादिति । अतो भजनामन्तरेण पर्यायार्थिकनयेऽभेदस्य द्रव्यार्थिकनये च भेदस्यासद्रूपत्वात् 'इद द्रव्यमेते च पर्यायाः' इति नास्ति विभाग इति भजनयैव स कर्त्तव्यः, द्रव्यपर्याययोः प्रधानोपसर्जनभावापेक्षया समस्तवस्तुव्यवहारप्रवृत्तेः, तथाहि—स्याद्वादिना योऽर्थो येन द्रव्यात्मना पर्यायात्मना वा जिज्ञासितो भवति तस्यार्थस्य तेन रूपेण ज्ञान भवति, यश्चार्थो येन द्रव्यात्मना पर्यायात्मना वा वक्तुमिष्टो भवति तस्यार्थस्य तद्रूपमुपादायाऽभिधान भवति, एतस्माज्जिज्ञासाविवक्षावैचित्र्यात्स्याद्वादे द्रव्य पर्याययोरेकत्र वस्तुनि समप्रधानभावेऽपि प्रधानोपसर्जनभावावलम्बनेन समस्तवस्तुव्यवहार प्रवर्त्तते, नैवानता वस्तु द्रव्यमात्रात्मक पर्यायमात्रात्मक वा किन्तु द्रव्यपर्यायोभयात्मकमेव, यदाह—

> "सर्वमात्रासमूहस्य, विश्वस्यानेकधर्मणः ।
> सर्वथा सर्वदा भावात्, क्वचित्किञ्चिद्विवक्ष्यते ॥ १ ॥" इति ।

अत्र मात्रापद द्रव्यपर्यायाद्यपरम्, सर्वथा सर्वप्रकारेण द्रव्यपर्यायादिस्वभावेन । एव सति कुतो न द्रव्यपर्यायोभयरूपेण सर्वस्य व्यवहार इत्यत आह—क्वचिदिति, यदा यस्य वस्तुनो येन रूपेण विवक्षा तदा तेन रूपेण तस्य व्यवहार इत्यर्थः । ननु द्रव्यप्रतिभासोऽपि द्रव्यार्थिकनयेन पर्यायप्रतिभासोऽपि च पर्यायार्थिकनयेनानुभूयत एवेत्यनुभूयमानस्याऽभेदस्य भेदस्य च पर्यायार्थिकनयेन द्रव्यार्थिकनयेन च प्रतिक्षेपः कथ क्रियते इति चेत्,

मैवम्, न हि कामलकादिदोषप्रभवः शुक्लेऽपि पीतत्वप्रतिभासः केनापि विदुषा प्रतिक्षिप्यते, किन्तु तत्प्रतिभासेऽप्रामाण्यं निश्चीयते बाध्यमानविषयकत्वादिति, तेन भ्रान्तज्ञानेन शुक्ले पीतत्वं न सिद्ध्यति तद्वत् मिथ्यात्वादिदोषबलाद्भिन्नेऽपि जायमानोऽभेदप्रतिभासः पर्यायार्थिकनयेनाऽभिन्नेऽपि जायमानो भेदप्रतिभासो द्रव्यार्थिकनयेनानुभूयमानत्वेन सद्रूपत्वान्न प्रतिक्षिप्यते, स प्रतिभासो नैव जात इति न ख्याप्यते, सतो निषेधाऽयोगात्, किन्तु क्षणिके वस्तुन्यर्थक्रियाकारित्वं घटते, न स्थिरे, तस्य सहकार्यसमवधानदशायामर्थक्रियाकारित्वाभावः तत्समवधानदशायाञ्चार्थक्रियाकारित्वमित्येवं विरुद्धधर्माध्यासात्प्रतिक्षणं भिन्नभिन्नरूपत्वेनैव सिद्धेरिति भिन्ने वस्तुन्यभेदाध्यवसायितयाऽप्रामाण्यं निश्चीयते, तथा च बाध्यमानविषयकत्वान्न स्वविषयव्यवस्थापनसमर्थो भवति, भेदप्रतिभासस्तु बाधकाभावाद्यथार्थ एवेति पर्यायार्थिकनयो विवेचयति, द्रव्यार्थिकनयोऽप्येवमाह—भेदप्रतिभासोऽपि मया न प्रतिक्षिप्यते, किन्तु घटपटादिविकाराणामसद्रूपत्वाद्भेदोऽसन्नेव, अभेदस्तु त्रिकालाऽबाध्यमानानुगतप्रतीतिविषयत्वात्सद्रूप एवेत्यभिन्ने वस्तुनि भेदाध्यवसायितया तत्राप्रामाण्यं निश्चीयत इति बाध्यमानविषयकत्वादप्रमाणात्मकत्वं न स्वविषयसिद्धौ प्रभविष्णु, घटः सन् पटः सन्नित्याद्यभेदप्रतिभासस्तु बाधकाभावाद्यथार्थ एव, एवमन्योऽन्यपक्षाभ्यामन्योऽन्यनयाप्रामाण्ये सति तद्विषययोरपि द्रव्यपर्याययोरसत्त्वापत्त्या तद्व्यतिरिक्तस्य विषयस्याभावेन जगतः शून्यतैवापद्येतेत्यतो द्रव्यार्थिकनयप्रदर्शितयुक्त्या पर्यायस्यैकान्तत्वमेव बाध्यते, न तु स्वरूपतोऽपि पर्यायः, एवं पर्यायार्थिकनययुक्त्या द्रव्यस्यैकान्तत्वं बाध्यते, न तु स्वरूपतोऽपि द्रव्यमिति परस्परसव्यपेक्षद्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनययुक्तिभिः परस्परसव्यपेक्षद्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनययोर्बाधाऽभावेन तद्विषययोरपि परस्परमाकाङ्क्षद्रव्यपर्याययोरनेकान्तात्मनोरबाधितत्वात्सत्यत्वमिति तदुभयात्मनो वस्तुनः समुदितोत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणसत्स्वरूपत्वादभ्युपगमः प्रमाणार्हः। अत एवैकान्तद्रव्यार्थिकनयाभ्युपगतो ध्रौव्यलक्षणद्रव्यांशः, एकान्तपर्यायार्थिकनयाऽभ्युपगत उत्पादव्ययलक्षणपर्यायांशो वा परमार्थतो न च कश्चिदस्ति, परस्परनिरपेक्षैकनयकल्पितत्वात्। यदुक्तम्—

> "नान्वयो भेदरूपत्वा,—न्न भेदोऽन्वयरूपतः।
> मृद्भेदद्वयसंसर्ग—वृत्तिर्जात्यन्तरं घटः॥ १॥" इति

तथा च पूर्वापरपर्यायानुगतोर्ध्वतासामान्यस्यापि द्रव्याख्यस्य पूर्वोत्तरकालीनभिन्नभिन्नव्यक्तिलक्षणविशेषान्वितत्वेन विशेषस्यापि च सामान्यसङ्घटितत्वेन वस्तुनस्सामान्यविशेषोभयात्मकत्वात् परस्परसापेक्षभेदाभेदात्मके जात्यन्तरे वस्तुनि व्यवस्थिते तत्र द्रव्यार्थिकेन पर्यायस्यावस्तुत्ववचनं पर्यायार्थिकेन द्रव्यस्यावस्तुत्ववचनमेकान्तस्वविषयपक्षपातविजृम्भितमेवेति सिद्धमिति भावः॥ १०॥

पूर्वोक्तयुक्त्या कथञ्चिद् भेदाभेदात्मके वस्तुनि सिद्धे तत्र भेदलक्षणपर्यायाश्रयणेन पर्यायार्थिकनय उत्पादव्ययावभ्युपगच्छति, अभेदलक्षणद्रव्याश्रयणेन द्रव्यार्थिकनयो ध्रौव्यमुररीकरोति तदपि नैकान्तरूपं युक्तम्, किन्तु परस्परविषयस्वरूपाऽपरित्यागलक्षणभजनयैव प्रमाणकोटिमाटीकत इत्याशयेनाह—

" उप्पज्जंति वियंति (वयंति) अ, भावा णियमेण पज्जवणयस्स ।
दव्वट्ठियस्स सव्वं, सया अणुप्पण्णमविणट्ठं ॥ ११ ॥ "

पर्यायनयस्य मते उत्पादव्ययधर्मद्वयान्विताः सर्वे भावाः, स्थिरे वस्तुनि क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाकारित्वस्याभावेन तल्लक्षणसत्त्वनिवृत्त्या वस्तुत्वमेव हीयेतेति तन्मते कस्मिंश्चिदपि वस्तुनि ध्रौव्याऽभावात् । द्रव्यार्थिकनयस्य च मत उत्पादव्यययोः काल्पनिकत्वेन कस्मिंश्चिदपि वस्तुनि परमार्थभूतोत्पादव्ययधर्माभावात् सदा ध्रौव्यैकस्वभावं सर्वं वस्त्विति तात्पर्यार्थः । अवयवार्थस्त्वेवम्—' उप्पज्जंति ' उत्पद्यन्ते प्रागभूत्वा भवन्ति, आद्यक्षणेन सह सम्बध्यन्ते, ' वियंति अ 'वि–विशेषेण निरन्वयरूपतया यान्ति च, गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति नाशम् । यद्वा 'वयंति'–व्रजन्ति, नाशमिति शेषः । एवम्भूताः क इत्यत आह—'भावा' इति भावाः पदार्थाः, 'नियमेण' नियमेनेत्यवधारणे, प्रतिक्षणमुत्पादविनाशशालित्वेन क्षणिका एव सर्वे भावाः, एतादृशोऽभ्युपगमः कस्येत्यत आह—' पज्जवणयस्स ' पर्यायनयस्य, वस्तुमात्रं परमार्थरूपोत्पादविनाशरहितत्वेन स्थिरैकस्वभावमिति द्रव्यार्थिकनयाभ्युपगममुपदर्शयितुमुत्तरार्द्धमाह—' दव्वट्ठियस्स ' द्रव्यार्थिकस्य ' सव्वं ' सर्वं वस्तु ' सया ' सदा ' अणुप्पन्नमविणट्ठं ' अनुत्पन्नं मदविनष्टं, ध्रुवध्रौव्यैकस्वभावमित्यभ्युपगमः । उक्तैकान्तप्ररूपणाऽपि स्वस्वसिद्धान्तपक्षदृढानुबद्धकदाग्रहवासनाप्रयुक्तत्वेन मिथ्यैव, पूर्वापरपर्यायानुस्यूतसामान्याकारव्यतिरेकेणोत्पादव्यययोः ताभ्यां विना ध्रौव्यस्य चाऽप्रतीतेः तत्त्रितयस्य च मिथोऽविनाभूततयैव प्रतीतेः । अत एव—

' अनाद्यनिधने द्रव्ये, स्वपर्यायाः प्रतिक्षणम् ।
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति, जलकल्लोलवज्जले ॥ १ ॥ '

इत्युक्तं सङ्गच्छते, न चात्र जलकल्लोला अप्यपरमार्थभूता एवेति न तद्दृष्टान्तेन परमार्थभूतोत्पादव्ययधर्मसिद्धिरिति वाच्यम्, मनैरनिगानेन तेषामनुभूयमानत्वात्, न च तदनुभवोऽपथार्थः, तेषां प्रतिक्षणं भिन्नभिन्नस्वरूपत्वे बाधकाभावात्, विकारात्मकत्वात्तेषाम सत्त्वेन तत्प्रतीतेरप्रामाणिकत्वे प्रकृत्यात्मकविकारिप्रतीतेरप्यप्रामाणिकत्वं वदतो नैव वक्त्रं वक्रीभवेत्, तथा चोत्पादव्ययध्रौव्याणि समुदितान्येव सल्लक्षणम्, न तु प्रत्येकम्, एकैकविनिर्मोकेण वस्त्वप्रतीतेरित्येव प्ररूपणा मत्या, अत एव " उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् " ५–२९ इति तत्त्वार्थसूत्रं सङ्गच्छते । अत्रोत्पादश्च व्ययश्चोत्पादव्ययौ पर्यायरूपत्वेनैकत्वापन्नौ

तौ च ध्रौव्यस्योत्पादव्ययध्रौव्याणि, तैर्युक्तम्, अत्र युक्तमित्यस्य योगाभयो नार्थः, तथा सति घटयुक्तस्य भूतलस्य घटभिन्नत्ववदुत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तस्यापि वस्तुन उत्पादव्यय ध्रौव्यभिन्नत्वप्राप्तौ तत्त्रितयात्मकत्वमिदं व्याहन्येत, किन्तु युक्त योगः समुदायः, एतदुक्त भवति-उत्पादान्यो नैकशः सत्, किन्तु परस्परापेक्षसमुदाय एवोत्पादादीनां सदित्यस्य प्रत्ययस्य ध्वनेर्वा विषयत्वेन सत्। तथा चैकान्तध्रौव्यलक्षणद्रव्यैकान्तोत्पादव्ययलक्षण पर्यायग्राहिणौ द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकमूलनयौ मिथ्यानयौ, परमार्थतया वस्तुन उत्पाद व्ययध्रौव्ययुक्ततया द्रव्यपर्यायोभयात्मकत्वेनानेकान्तात्मकस्यैकान्तस्वरूपतयाऽवगाहित्वेन भ्रान्तप्रत्ययरूपत्वात्। वस्तुन्युत्पादव्ययसापेक्षध्रौव्यस्य द्रव्यापेक्षया ध्रौव्यसापेक्षोत्पाद-व्यययोश्च पर्यायापेक्षया सद्भावेन तद्ग्राहिणौ नयौ सम्यग्नयौ, यद्यत्र यदपेक्षयाऽस्ति तस्य तत्र तदपेक्षया ग्राहकत्वेनैव नयप्रामाण्यपरिच्छेदादिति भावनीयम् ॥ ११ ॥

अथ द्रव्यपर्यायौ नैकान्तभिन्नौ, तथा सति नैकस्य वस्तुन उभयरूपता स्यात् तयोर्भेदाऽभिधानादिति य एव देवदत्तो बालत्वेन दृष्टस्स एव युवत्वेन वृद्धत्वेन वा दृश्यते इत्येकस्यैव देवदत्तस्य द्रव्यपर्यायरूपेण भेदाभेदावगाहिन्याः प्रत्यभिज्ञाया अपलापस्स्यात्, नाप्येकान्ताभिन्नौ, यन्निवृत्तौ यस्य न निवृत्तिस्तत्ततो भिन्नं, यथा निवर्त्तमानाद् घटादनिवर्त्तमानः पटो भिन्नो दृष्टः, पर्यायनिवृत्तावपि द्रव्यस्य न निवृत्तिरिति तद्द्रव्यं पर्यायतो भिन्नम्, यतो द्रव्यपर्याययोरभेदे द्रव्यस्वरूपवत्पर्यायस्याप्यनिवृत्तिस्स्यात्, यद्वा द्रव्यस्यापि निवृत्तिस्स्यात् पर्यायस्वरूपवत्, तथा च नैकान्तपरस्परनिरपेक्षभेदाभेदशालिनौ द्रव्यपर्यायौ, तथा सति भेदाभेदयोः सुन्दोपसुन्दन्यायेन परस्परविरोधिनोरेकतरस्यैकान्तैकनयापेक्षया भ्रमात्मकज्ञानविषयत्वादसत्त्वे तदपरस्यापि तद्विरोध्यपरैकान्तनयापेक्षया चाऽयथार्थज्ञान गोचरत्वादसत्त्वं स्यादिति तयोरन्योन्यानुस्यूततयैवाभ्युपगन्तव्यत्वेन द्रव्यार्थिकसुनया-पेक्षया गुणीभूतभेदप्रधानीभूताभेदात्मकमपि पर्यायार्थिकसुनयापेक्षया गुणीभूताभेदप्रधानीभूतभेदविशिष्टमपि वस्तु प्रमाणार्पणया च प्राधान्येन कथञ्चिद्भेदाभेदोभयस्वरूपमेवाभ्युपगन्तव्यम्, अत एव द्रव्यार्थिकनयापेक्षयोत्पादव्ययसापेक्षध्रुवं पर्यायार्थिकनयापेक्षया ध्रौव्यसापेक्षोत्पादविनाशशालि वस्त्वपि उभयनयार्पणया प्राधान्येन परस्परानुविद्धोत्पादा-दित्रयात्मकमेव, अधिकृतान्यतमाभावे तदितराभावनियमादिति प्रतिपादयितुमाह सूरिः—

" दव्वं पज्जवविउयं दव्वविउत्ता य पज्जवा णत्थि ।
उप्पाय-ट्ठिइ-भंगा हंदि दवियलक्खणं एयं ॥ १२ ॥"

द्रव्यं पर्यायवियुक्तं नास्ति, द्रव्यवियुक्ताश्च पर्याया न सन्ति, किन्तु द्रव्यं पर्याय-सम्पृक्तमेव, पूर्वोत्तरतत्तत्पर्यायानुगततयैव तत्प्रतीतेः, पर्याया अपि द्रव्यसम्बद्धा एव, अनुगतद्रव्यानुविद्धतयैव तेषां प्रतिपत्तेः, अतो द्रव्यपर्यायौ मिथस्सम्बद्धावेव, परस्परविविक्तयो-

स्तयोः कदाचिदप्यप्रतिभासनादिति द्रव्यपर्याययोर्मध्ये एकतरस्याभावे तदितरस्याप्यभाव एवेति तयोर्नियमेन समव्याप्यत्वमेव, अत एव द्रव्यापेक्षया यद्ध्रौव्यं पर्यायापेक्षया यच्चोत्पादव्ययात्मकत्वं तयोरपि तथात्वमेवेति समुदितोत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तत्वमेव द्रव्यलक्षणमुच्यत इति तात्पर्यार्थः। अवयवार्थस्त्वयम्—" दव्वं " द्रव्यं पूर्वोत्तरपर्यायानुगाम्यूर्ध्वतासामान्यलक्षणम् 'पज्जवविउयं' पर्यायवियुतं पूर्वोत्तरकालीनभिन्नभिन्नव्यक्तिलक्षणपर्यायविनिर्मुक्तम्, अस्य 'नत्थि' इत्यनेनान्वयान्नास्ति, नहि पर्यायनिरपेक्षं द्रव्यं विद्यते, यन्मृद्धेतं केवलं, किन्तु पर्यायसहितमेव तत्, मृत्पिण्डे स्थासे कोशे कुशूलादौ मृद्द्रव्यं मृद्द्रव्यमित्येवं कुण्डलाकारे ऊर्ध्वाकारे रज्ज्वाकारादौ च सर्पे सर्पोऽयं सर्पोऽयमित्येवं पयसि दध्नि घृतादौ गोरसोऽयं गोरसोऽयमित्यवश्यानुगतप्रतीतेः " दव्वविउत्ता य पज्जवा " द्रव्यवियुक्ता द्रव्यानुनुविद्धाः पर्यायाश्चापि, चकारस्याप्यर्थकत्वात्, 'नत्थि' अत्र वचनविपरिणामेन न सन्ति, यद्वा 'नत्थि' इत्युभयपदस्य निपातरूपत्वान्नास्ति न सन्तीत्युभयार्थकत्वे नैकवचनान्तेनैव बहुवचनान्तेनाप्यन्वयान्न सन्ति, न विद्यन्ते, ये गृह्येरन् केवलाः, किन्तु द्रव्यसापेक्षा एव पर्यायाः, यैव मृत् पिण्डात्मिका सैव स्थासस्वरूपा सैव कोशस्वरूपा सैव कुशूलादिस्वरूपा सैव घटरूपा सैव कपालशर्करादिस्वरूपा, य एव सर्पः कुण्डलाकारस्स एवोर्ध्वाकारो रज्ज्वाकारो वा, य एव गोरसो दुग्धरूपः स एव दधिघृतादिरूप इत्याद्याकारायाः अनुगतैकसामान्यानुविद्धविशेषावगाहिन्याः प्रतिपत्तेः, मृद्द्रव्यस्यैव मृत्पिण्डरूपेण स्थासरूपेण कोशरूपेण कुशूलादिरूपेण, सर्पस्यैव कुण्डलाकाररूपेणोर्ध्वाकाररूपेण रज्ज्वाद्याकाररूपेण, गोरसस्यैव पयोदधिघृतादिरूपेण परिणमनात् मृद्द्रव्यस्यैव मृत्पिण्डादयः सर्पस्यैव कुण्डलादयः गोरसस्यैव दुग्धादयः पर्यायाः, परिणामिपरिणामयोर्द्रव्यपर्याययोः परिणामपरिणामिभावेन सम्बन्धेन कथञ्चिदभेदः, परिणामिद्रव्यत्वेन परिणामभूतपर्यायत्वेन च कथञ्चिद्भेद इति कथञ्चिद्भिन्नाभिन्नद्रव्यपर्यायोभयात्मकत्वात्पूर्वापरपर्यायानुस्यूतद्रव्यरूपेण यदेव ध्रुवं तदेव पूर्वपर्यायेण विनष्टं तदुत्तरपर्यायेणोत्पन्नमित्युत्पादव्ययध्रौव्याविनाभूतं वस्त्विति प्रदर्शनार्थमुत्तरार्द्धमाह—" उप्पाय-ट्ठिइ-भंगा हंदि दवियलक्खणं एयं " इति उत्पादस्थितिभङ्गास्समुदिता द्रव्यस्य लक्षणं,लक्ष्यतेऽनुमीयते इतरव्यावृत्ततया लक्ष्यत्वेनाभिमतं वस्तु येन, लक्ष्यते स्वस्वाऽसाधारणधर्मपुरस्कारेण स्वस्ववाचकपदवाच्यतया व्यवह्रियते लक्ष्यं येन वा तल्लक्षणं, यद्यस्य लक्षणं तत्तस्येतरभेदज्ञापकं नियतव्यवहारसाधकञ्च, यथा पृथिव्या गन्धवत्त्वं लक्षणं पृथिव्या इतरव्यावृत्ततया ज्ञापकम्, तथोत्पादस्थितिभङ्गात्मकलक्षणमपि खण्डखाद्ये उपाध्यायैः परिगृहीतस्य " सद् द्रव्यलक्षणम् " ॥ १ ॥ " उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् " ॥ २ ॥ इति सूत्रद्वयस्य पर्यालोचनया सच्छब्दाभिधेयस्य द्रव्यस्येतरव्यावृत्ततयाऽनुमितिजनकम्, एवं यथा पृथिव्या गन्धवत्त्वं लक्षणं पृथ्वी पृथ्वीत्वेन पृथिवीपदवाच्यतया व्यवहर्तव्येत्येवं नियतव्यवहारसाधकं, तथोत्पादस्थितिभङ्गलक्षणमप्यात्मादिद्रव्यं द्रव्यत्वेन

द्रव्यपदवाच्यतया व्यवहर्त्तव्यमित्येव नियतव्यवहारसाधकम्, "हदि" इत्युपदर्शने 'एय' एतद्दृश्यताम्। लक्षणवाक्यस्येतरभेदज्ञापनरूपप्रयोजनपक्षे द्रव्यत्वावच्छिन्नपक्षके तरभेदानुमितिस्तु स्वसमये येन रूपेण पर्याये तदितरत्वस्य येन रूपेण हेतौ तदितरत्वव्यापकाऽभावप्रतियोगित्वस्य च सिद्धिस्तद्रूपावच्छिन्नाद्रूपावच्छिन्नेतरभेदाभिप्रायेण बोध्या, तथा च द्रव्यत्वावच्छिन्नमात्मादिवस्तुमात्र पर्यायत्वावच्छिन्नद्रव्येतरनिष्ठप्रतियोगितानिरूपकभेदवदुत्पादस्थितिभङ्गसमाहारत्वावच्छिन्नात्, यन्नैव तन्नैव यथा वियत्कुसुममिति निष्कर्षः। अत एव हेतौ बाधाऽसिद्धिदोषौ नेति। लक्षणवाक्यस्य नियतव्यवहाररूपप्रयोजनपक्षे बौद्धदृष्ट्या मन्यमानक्षणिकज्ञानस्वरूपे आत्मनि व्यवहारनयेन द्रव्यत्व व्यवस्थाप्योत्पादस्थितिभङ्गयुक्तत्वेन द्रव्यपदव्यवहारविषयत्व, नैयायिकदृष्ट्या ज्ञानाश्रये स्थिरे चात्मनि ऋजुसूत्रनयेन पर्यायरूपत्व व्यवस्थाप्योक्तलक्षणसम्पत्त्या द्रव्यपदव्यवहारविषयत्व नियम्यते, तथा चात्मादिवस्तुमात्र द्रव्यपदवाच्यतया व्यवहर्त्तव्य उत्पादस्थितिभङ्गसमाहारवत्त्वात्, यन्नैव तन्नैवम् यथा वन्ध्यासुत इत्यनुमान पर्यवस्यति।

ननु मृत्पिण्डस्थासादीना दुग्धदध्यादीनाञ्चैकान्तेन भेद एवेति तेषामुत्पादव्ययौ युक्तौ, ध्रौव्यन्तु मृत्त्वगोरसत्वसामान्यस्यैव, न तु मृदो गोरसस्य च, एवमात्मशरीरस्यैव बालयुवाद्यवस्थाभेदेनोत्पादव्ययौ, ध्रौव्य त्वात्मन एवेत्युक्तहेतोस्स्वरूपाऽसिद्धिरिति चेत्, मैवम्, इयमेव मृत् पूर्वकालावच्छिन्नपिण्डभावेन नष्टा उत्तरकालावच्छिन्नस्थासभावेन चोत्पन्नेति, अयमेव गोरसो पूर्वकालावच्छिन्नदुग्धभावेन नष्ट उत्तरकालावच्छिन्नदधिभावेन चोत्पन्न इति, य एव देवदत्तात्मा बालत्वेन दृष्टस्स एव युवत्वेन वृद्धत्वेन वा दृश्यत इति चानुभवसिद्धत्वादुत्पादस्थितिभङ्गसमाहारहेतोः। अत एव लौकिकबोधोऽपि त्रैलक्षण्यावगाहित्वाद् वस्तुतः स्याद्वादापेक्ष एवेत्युपदर्शनार्थ—

"तद्धेम कुण्डलतया विगत यदुचे,—रुत्पन्नमङ्गदतयाऽचलित स्वभावात्।
लोका अपीदमनुभूतिपथ स्पृशन्तो, न त्वा श्रयन्ति यदि तत्तदभाग्यमुग्रम्॥ २८॥" इति महावीरस्तवोक्त सङ्गच्छते।

नन्वत्रापि त्रिलक्षण वस्तु तदा स्यात् यदि तत्तदवस्थानुस्यूत अत एव पूर्वोत्तराखिलविवर्त्तवर्त्ति द्रव्य स्यात्, तदेव तु नास्ति, यदपि च कुण्डलाङ्गदादौ हेम हेमेत्यनुगतप्रतीतिनियामक तदपि हेमत्वजात्याख्यमेवेति चेत्, मैवम्, हेमत्वमस्ति हेमाङ्गदे न कुण्डलत्वम्, तदस्ति रजतकुण्डले न च तत्र हेमत्वम्, उभयञ्च हैमकुण्डले इति कुण्डलत्वादिना हेमत्वस्य साङ्कर्यात्तस्य जातिरूपत्वाऽसिद्धेः। अथ हेमत्वव्याप्य कुण्डलत्व भिन्नमेव रजतत्वव्याप्य कुण्डलत्वञ्च भिन्नमेवेति तत्सौवर्णकुण्डल राजतकुण्डल च नैकम्, एवमङ्गदत्वादिकमपि ज्ञेयम्। एव

मृत्त्वव्याप्यघटत्वसुवर्णत्वव्याप्यघटत्वरजतत्वव्याप्यघटत्वादीनां भेदाद्धर्यादिपदवद् घटपदमपि नानार्थकमेव। तथा च परस्पराभावसमानाधिकरणयोर्हेमत्वराजतकुण्डलत्वयोर्न सामानाधिकरण्यम्, हेमत्वसौवर्णकुण्डलत्वयोश्च सौवर्णकुण्डले सामानाधिकरण्येऽपि न परस्पराभावसामानाधिकरण्यमिति न साङ्कर्यमिति। यद्वा कुण्डलत्वं संस्थानगतजातिरूपमेवेति यौक्तिको यदि ब्रूयात्तदापि यत्र हेम्नि व्यक्तौ कुण्डलदशायामङ्गदभेदग्रहोऽङ्गददशायां च कुण्डलभेदग्रहस्तत्र तदेव हेमाङ्गदं तदेव कुण्डलमित्यभेदग्रहो व्यक्त्यभेदं विना न कथमप्युपपादयितुं शक्य इति। एतेन तत्तदवस्थानामेवोत्पादविनाशौ न त्ववस्थातुरित्यप्यारेका निरस्ता, अवस्थातद्वतोः कथञ्चिदभेदात्, तथा च यदेव वस्तु पूर्वावस्थारूपेण विनष्टं तदेवोत्तरावस्थारूपेणोत्पद्यत इत्यनुभवान्यथानुपपत्त्या पूर्वपर्यायरूपेण विनाश उत्तरपर्यायरूपेण चोत्पादः पूर्वोत्तरपर्यायानुगाम्यूर्ध्वतासामान्याख्यद्रव्यरूपेण ध्रौव्यमित्येतत्समुदितोत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणं द्रव्यस्याभ्युपगन्तव्यम्। ननु समवायसम्बन्धेन द्रव्यत्वजातिमत्त्वात् पृथिव्यादि द्रव्यमेव न तु पर्यायरूपमपि, येन द्रव्यपर्यायापेक्षयोक्तलक्षणसिद्धिः स्यादिति चेत्, मैवम्, द्रव्यत्वजातौ प्रमाणाभावात्, न हि तत्रानुगतप्रतीतिः प्रमाणम्, अतीन्द्रियस्थले तदसिद्धेः, नाप्यनुगतव्यवहारः प्रमाणम्, लौकिकानां वादिनाञ्चानुगतद्रव्यव्यवहाराभावात्, न च नीलादौ नीलाद्युत्पत्तिवारणाय समवायसम्बन्धेन जन्यसत्त्वावच्छिन्नं प्रति तादात्म्यसम्बन्धेन द्रव्यत्वेन द्रव्यस्य हेतुत्वं कल्पनीयमिति जन्यसज्जनकतावच्छेदकतया तत्सिद्धिरिति वाच्यम्, उक्तकार्यकारणभावे सति कारणतावच्छेदकतया यथा द्रव्यत्वजातिसिद्धिस्तथा कार्यतावच्छेदकतया जन्यसत्त्वजातिरपि सिद्ध्येत्, एवं प्रतियोगितासम्बन्धेन नाशं प्रति तादात्म्यसम्बन्धेन जन्यसत्त्वेन कारणत्वस्य ध्वंसस्य ध्वंसापत्तिवारणाय स्वीकरणीयतया तदवच्छेदकतयाऽपि जन्यसत्त्वजातिः सिद्ध्येत्, तथा च तया सह साङ्कर्यान्न द्रव्यत्वं जातिरिति। ननु जन्यसत्त्वावच्छिन्नं प्रति तादात्म्यसम्बन्धेन न द्रव्यत्वेन द्रव्यस्य कारणत्वम्, किन्तु समवायकालिकोभयसम्बन्धेन सत्त्वावच्छिन्नं यत् समवायेन तत्प्रत्येव तादात्म्येन द्रव्यस्य द्रव्यत्वेन कारणत्वम्, एवं प्रतियोगितासम्बन्धेन नाशत्वावच्छिन्नम्प्रत्यपि समवायकालिकोभयसम्बन्धेन सत्त्वविशिष्टं यत्तत्तादात्म्यसम्बन्धेन कारणम्, उक्तोभयसम्बन्धेन सत्त्वं कार्यमात्रवृत्त्येवेति कार्याकार्यवृत्तेर्न कार्यतावच्छेदकत्वमित्यस्यापि नावकाशः, तथा च नोक्तकार्यतावच्छेदकतया कारणतावच्छेदकतया च जन्यसत्त्वजातिसिद्धिः, यया साङ्कर्यं स्यादिति चेत्, तर्हि तद्वदेवोक्तोभयसम्बन्धेन सत्त्वावच्छिन्ननिष्ठसमवायसम्बन्धावच्छिन्नकार्यतानिरूपितं स्वाश्रयगुणकर्मान्यत्वसमवायोभयसम्बन्धेन सत्तावत् तादात्म्यसम्बन्धेन कारणत्वमित्यभ्युपगमेन सामञ्जस्ये द्रव्यत्वजातेरप्यसिद्ध्यापत्तेः। किञ्च समवायसम्बन्धेन जन्यसत्त्वावच्छिन्नं प्रत्युपादानत्वाख्यविषयतासम्बन्धेनेश्वरीयबुद्धिचिकीर्षाप्रयत्नानां नीलादावभावादेव नीलाद्युत्पत्तिनिवारण कारणता

वच्छेदकविषया द्रव्यत्वस्य जातित्वसिद्धिः। तथा च सिद्धमेतन्न द्रव्यत्वजातिमत्त्वाद्द्रव्यमिति, न वा समवायिकारणत्वाद् द्रव्यमित्यपि युक्तं। किन्तु

" त्यक्तात्यक्तात्मरूपं यत्, पौर्वापर्येण वर्त्तते।
कालत्रयेऽपि तद् द्रव्य-मुपादानमिति स्मृतम्॥ १॥"

इति श्लोकोक्तलक्षणोपादानापरसञ्ज्ञकपरिणामिकारणत्वाद्द्रव्यम्, एवञ्च पृथिव्यादि यत्पौद्गलिकमात्मादि च यदपौद्गलिकं तत्सर्वं परिणामिकारणतया यथा द्रव्यं तथा परिणामरूपतत्कार्यापन्नतया पर्यायात्मकमपि, परिणामिलक्षणेनैवोभयकोटीकरणात्, द्रव्यपर्यायोभयरूपत्वादेव पूर्वापरपर्यायानुस्यूतद्रव्यरूपेण यदेव ध्रुवं तदेव पूर्वपर्यायेण व्येति उत्तरपर्यायेण चोत्पद्यत इत्युत्पादव्ययध्रौव्यानुगतमेव द्रव्यं वदन्ति समयविदः। उक्तञ्च स्वण्डखाद्ये—

" न द्रव्यमेव तदसौ समवायिभावात्,
पर्यायताऽपि किमु नात्मनि कार्यभावात्।
उत्पत्तिनाशनियतस्थिरतानुवर्त्ति,
द्रव्यं वदन्ति भवदुक्तिविदो न जात्या। ६२॥" इति।

तथाऽनभ्युपगमे तु तथाविधविशिष्टसामग्रीसमवधाने निःसमातः पृथिव्यादि स्वस्वरूपतया विनश्य जलादिरूपेण नैव परिणतिं प्राप्नुयात्। ननु जन्यपृथिवीत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपिता पृथिवीत्वावच्छिन्नैव कारणता, जन्यजलत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपिता जलत्वावच्छिन्नैव कारणतेत्येवं जन्यपृथिवीत्वेन पृथिवीत्वेन जन्यजलत्वेन जलत्वेन च नियतकार्यकारणभावतः परिणामसाङ्कर्याभावात् पृथिव्यादि जलादिरूपेण नैव परिणतिमेतीति चेत्, न, यतो नैव पार्थिवपरमाणवो भिन्नजातीयाः, भिन्नजातीयाश्च जलादिपरमाणव इति न्यायप्रक्रिया युक्ता, सर्वेषां परमाणूनां पुद्गलत्वेन सजातीयत्वात्, अत एव सर्वेषां परमाणूनामेकजातीयत्वेन सर्वरूपेण परिणमनं सम्भवति। यद्वा पृथिव्यप्तेजोवायवः पुद्गलद्रव्यपर्यायाः स्पर्शादिमत्त्वात्। ये तु न तत्पर्याया न ते स्पर्शादिमन्तः, यथाऽऽकाशादयः, स्पर्शादिमन्तश्च पृथिव्यादयस्तस्मात्पुद्गलद्रव्यपर्याया इत्युक्तानुमानेन पृथिव्यादीनां पुद्गलद्रव्यपर्यायत्वे सिद्धे निःसमादितथाविधसामग्रीसद्भावे पृथिव्यादीनां जलादिरूपेण परिणमनं नासम्भवि। न चोक्तानुमाने पयसि गन्धस्य तेजसि गन्धरसयोर्वायौ गन्धरसरूपाणामभावेन पक्षैकदेशाऽसिद्धिरिति वाच्यम्, पयो गन्धवत् तेजो गन्धरसवत् वायुर्गन्धरसरूपवान् स्पर्शवत्त्वात् पृथिवीवदित्यनुमानतस्तत्र तत्सत्त्वसिद्धेः, नन्वेवं तर्हि जलादौ गन्धादिकं प्रत्यक्षगोचरं कथं न भवतीति चेत्, उच्यते–शातकुम्भे उष्णस्पर्शस्येव चक्षुषि रूपस्पर्शयोरिव वा पयसि गन्धस्य तेजसि गन्धरसयोः समीरे गन्धरसरूपाणामनुद्भूतत्वेन घ्राणरसनाचक्षुरिन्द्रियग्राह्यपरिणत्यभावात्। अत एव पयो गन्धवदित्याद्यनुमाने न प्रत्यक्षबाधः, अनुद्भूतत्वभावे

सूक्ष्मपरिणामे च वस्तुनि विधिप्रतिषेधयोः प्रत्यक्षस्य मूकत्वात्तेन पक्षबाधाऽनुपपत्ते', अन्यथा शातकुम्भीयोष्णस्पर्शसाधनेऽपि कथं न तत्प्रसङ्ग', नाप्यत्रागमबाधः, " स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः " । ५–२३ । इति तत्सत्त्वसाधकस्यागमस्य सद्भावात् । न च सर्वज्ञप्रणीतस्यास्यागमस्याऽप्रामाण्यम्, गौतमीयाद्यागमस्यापि तथात्वप्रसङ्गात्, विनिगमकाभावात्, अत एव पृथिव्या गन्धवत्त्व जलस्य शीतस्पर्शवत्त्व तेजस उष्णस्पर्शवत्त्व वायोर्विजातीयानुष्णाशीतस्पर्शवत्त्व लक्षणमिति पृथिव्यादिचतुर्णां विभिन्नलक्षणानि निरस्तान्यवसेयानि, क्षित्यादि चतुर्णामपि पुद्गलद्रव्यपरिणामात्मनैक्येन तत्र रूपादिचतुष्टयसद्भावेनातिव्याप्तिदोषदुष्टतयोक्तविविक्तलक्षणाऽसङ्गतेः, उक्तञ्च स्याद्वादरत्नाकरे " एकान्तेन विविक्त यत्, क्षित्यादेर्नास्ति लक्षणम् ॥ "

" क्षित्यादीनि हि सर्वाणि, द्रव्याणि द्रव्यतात्मना ।
एकेन परिणामेन, तादात्म्येनावतस्थिरे ॥ १ ॥
तथाभूतान्यपीमानि, समस्तान्यपि सर्वथा ।
व्यावृत्तलक्षणानीति, को ब्रूयाद्व्यथतः पर' ? ॥ २ ॥
" पृथिवीपयः पावकमारुतानां, द्रव्यप्रबन्धे पुरतश्चतुर्णाम् ।
आविश्रितां पौद्गलिकत्वमेक, कामं पृथग्लक्षणता कथं स्यात् ? ॥३॥" इति ।

अथ पृथिव्यादीनां चतुर्णामपि पुद्गलपर्यायत्वेनाऽभिन्नलक्षणत्वे पृथिव्यामिव जलादिष्वपि गन्धादीनामुद्भूततैव भवेत्, अन्यथा तु सर्वथा भिन्नलक्षणतैवैषामिति चेत्, न, नायनेन तेजसा व्यभिचारात्, न ह्यनभिव्यक्तभास्वररूपोष्णस्पर्श नायन तेजोऽभिव्यक्तभासुररूपोष्णस्पर्शात् पावकाद्भिन्नलक्षण भवता प्रसिद्धम्, द्रव्यसङ्ख्याव्याघातप्रसङ्गात् । एव पृथिव्यादेरप्यभिव्यक्तानभिव्यक्तगन्धादियोगेऽपि नान्योऽन्यमत्यन्तभिन्नलक्षणत्वम् । अथात्यन्तभिन्नलक्षणाभावे पृथिवीत्वादिप्रतिनियतजातिसम्बन्धस्तेषां कुतस्त्य, एकान्तेन भिन्नलक्षणत्वाभावे हि यथा पृथिव्या पृथिवीत्वजातिमत्त्व तथाऽप्तेजोवायुष्वप्येव स्यादिति चेत्, तदप्यसङ्गतमेव, अवान्तरजातियोगस्य सर्वथा लक्षणभेदाऽप्रसाधकत्वात्, व्यक्तिभेदमेव ह्यसौ प्रसाधयति । अन्यथा क्षत्रियत्वाद्यवान्तरजातियोगादात्मनामप्येकान्तिक न स्यादेकलक्षणत्वमिति । तदेव पृथिवीजलादीना पुद्गलद्रव्यत्वेन रूपेणैकजातीयत्वे सिद्धे परमाणवोऽप्येकजातीया एवेति सिद्धम् । एते घटादिपरमाणव पार्थिवपरमाणव इति प्रयोगस्तु परमाणूनां तदानीं पार्थिवकार्यरूपेण परिणमनादेव, न तु पृथिवीत्वजातियोगात्, अत एव तेषामेव जलकार्यतया परिणतिकाले जलपरमाणव एते इति तत्त्वविद्भिर्व्यवह्रियते, तेन "आदीपमाव्योमसमस्वभावम्" इत्यादिश्लोकव्याख्याया स्याद्वादमञ्जरीत्याख्याया " प्रदीपपर्यायापन्नास्तैजसाः परमाणवस्स्वरसतस्तैलक्षयाद्वाताभिघाताद्वा ज्योतिःपर्याय

परित्यज्य तमोरूपं पर्यायान्तरमाददन्ते " इत्याद्युक्तं सङ्गच्छते । जलादिपरमाणोरपि शक्तिविशेषेण पार्थिवारम्भस्य बहुलमुपलम्भादित्यष्टसहस्र्याद्युक्तेर्जन्यपृथिवीत्वावच्छिन्नम्प्रति पृथिवीत्वादिना हेतुत्वमपि न युक्तम्, किन्तु तादात्म्यसम्बन्धेन पृथिवीत्वावच्छिन्नम्प्रति स्वप्रमत्वसम्बन्धेन पृथिवीत्वजलत्वादिना हेतुत्वं वाच्यम् ।

" भेदे हि द्व्यणुकादीनां जायन्ते परमाणवः ।
अणूनां संहतौ यद्वज्जायन्ते द्व्यणुकादयः ॥ १ ॥ "

इति स्याद्वादरत्नाकरपञ्चमपरिच्छेदाष्टमसूत्रवृत्तिवचनात् संयोगजातोत्पत्तिस्थल इव विभागजातोत्पत्तिस्थलेऽपि द्व्यणुकादिध्वंसरूपाया एव परमाणूत्पत्तेः स्वीकारादित्यन्यसामग्रीसद्भावे निरूपमातोऽन्यरूपेणोत्पत्तिसम्भवात्, एतेन पृथिवीत्वस्य परमाणौ सत्त्वे, न च तत्र कार्यतेति कार्यतातिप्रसक्तत्वेन तस्य न कार्यतावच्छेदकत्वम्, किन्तु जन्यपृथिवीत्वस्यैवेति न तादात्म्यसम्बन्धेन पृथिवीत्वेन कार्यत्वं युक्तम्, किन्तु समवायसम्बन्धेन जन्यपृथिवीत्वेनैवेत्यारेकाऽपि निरस्ता यदि कारणं कार्यं तत् को दोषः, दृश्यते हि कारणमपि कार्यमपि, यथा परमाणुः कारणं द्व्यणुकादेः, मृत्पिण्डशिवकादेः कार्यमपि, तद्भेदजत्वादिति द्वादशारनयचक्रे प्रथमविवरे प्रोक्तत्वात्, मृत्पिण्डशिवकादिलक्षणस्कन्धात् द्व्यणुकादिमहाघटपर्यन्तस्कन्धाद्वा पृथग्भावे सति परमाणोस्तद्भेदजत्वात्तत्र कार्यत्वस्याप्यभ्युपगमेन पृथिवीत्वस्य कार्यत्वाऽन्यूनानतिप्रसक्तत्वेन तद्रूपेण कार्यत्वस्यैव प्रामाणिकत्वात्, इदमस्माद्विभक्ततयोत्पन्नमिति प्रतीतेर्विभागजातोत्पादस्याप्यनुभवसिद्धत्वात्, अतएव संयोगपूर्विकैव कार्यद्रव्योत्पत्तिरिति नैयायिकादिप्रवादस्य निर्युक्तिकत्वात्, कुम्भादौ स्कन्धभेदे कपालकलापादिमत्त्वस्यानुभवसिद्धत्वात् । न हि तत्रावयवक्रियादिक्रमकल्पिता प्रक्रिया सूक्ष्ममक्षूणमीक्षमाणेनापि मांसचक्षुषा लक्ष्यते, वेगवन्मुद्गरसम्पर्कसमनन्तरं कपालमालाया एव विलोकनात् । तदनुसारेण च परमाणुष्वपि स्कन्धभेद एव कारणमकथि । व्यवहारनयार्पणेन च स्कन्धभेदः कारणमभाणि निश्चयनयार्पणेन तु य एव स्कन्धविभागः स एव परमाणवः । अथ यद्यणवो जायन्ते तदा यत्कार्यद्रव्यं तत्स्वपरिमाणादल्पपरिमाणैः कारणैरारब्धं घटवदिति व्याप्तिसिद्धेर्विभागादास्पदीभूतपरमाणूनामल्पपरिमाणैः कारणैर्भवितव्यम्, तेषामप्यपरैस्तैरित्यनवस्थानात्परमाणूनामभाव एव भवेदिति चेत्, नैतद्वाच्यम्, व्याप्तेरसिद्धेः । स्थूलावयवकर्पासपिण्डानां सङ्घाताद् घनावयवपिण्डेन सूक्ष्मेण सञ्जायमानेन व्यभिचारात् । न चैवं तर्हि परमाणोर्नित्यत्वक्षतिः स्यादिति वाच्यम्, विभक्तावस्थारूपेणोत्पन्नेऽपि तस्मिन् परमाणुभावेन नित्यत्वस्याप्यक्षतेः । तद्भावस्य कदाप्यपरित्यागात् । अथ भवतु पृथिवीत्वस्य पूर्वोक्तनीत्या कार्यतावच्छेदकत्वं, न च तथापि पृथिवीत्वस्य जलत्वादेश्च कारणतावच्छेदकत्वं सम्भवति, पृथिवीत्वस्य जलत्वादेश्च कारणताऽनतिप्रसक्तत्वेऽपि कारणतासमानाधिकरण

भेदप्रतियोगितावच्छेदकधर्मत्वलक्षणकारणत्वन्यूनवृत्तित्वस्य तत्र सत्त्वात्, कारणताधिकरणे जले वृत्तिर्यः पृथिवीत्ववान्नेत्याकारको भेदः पृथिव्याञ्च वृत्तिर्यो जलत्ववान्नेत्याकारको भेद स्तत्प्रतियोगितावच्छेदकत्वात्पृथिवीत्वस्य जलत्वस्य चेति चेद्, नैवम्, पृथिवीजलादीनां शक्तिमत्त्वेनैव शक्तिलक्षणकारणत्वस्य तदभिव्यञ्जकविधया पृथिवीत्वे जलत्वादौ चावच्छेद कत्वस्य स्वीकारे उक्तदोषाभावात्, अखण्डशक्तिलक्षणकारणत्वापेक्षया पृथिवीत्वस्य जलत्वा देश्च न्यूनवृत्तित्वेऽपि न क्षतिः, अखण्डकारणताया अवच्छेदकस्यैवाऽन्यूनानतिरिक्तवृत्तित्व मिति नियमादित्युक्तं प्रागेव, "उरलाइसत्तगेण, एगजिओ मुयइ फुसिय सव्वअणू। जत्तिय कालि स थूलो, दव्वे सुहुमो सगन्नयरा ॥ १ ॥" इति पारमर्षवचनात् "एवं स्या त्सर्वगतः स्यादऽसर्वगतो घटादिरित्यादिकाऽपि सप्तभङ्गी वक्तव्या, यतो य एव पार्थिवाः परमाणवो घटस्त एव विस्रसादिपरिणतिवशाज्जलानिलानलतावन्यादिरूपतामात्मसात्कुर्वाणा स्स्यात्सर्वगतो घट इत्यादिसप्तभङ्गविषयतां यथोक्तन्यायात् कथं नासादयन्ति" इत्येवं "सद मिच्छादसणसमूहमइयस्स" इत्यादिगाथाबृहट्टीकावचनात् "वातयोनिकत्वादप्कायस्य यत्र यत्रासौ तथाविधपरिणामपरिणतो भवति तत्र तत्र तत्कार्यभूतं जलमपि सम्मूर्च्छते" इत्यादिसूत्रकृताङ्गद्वितीयश्रुतस्कन्धतृतीयाध्ययनसूत्रटीकावचनाच्च पुद्गलानामेकजातीयत्वे सिद्धे तेषां पृथिव्युदकज्वलनपवनवनस्पत्यादित्वेन विपरिवर्तमानपरिणतिस्वभावतया जन्य द्रव्यमात्रस्यैकजातीयपुद्गलकार्यत्वेन जन्यद्रव्यत्वावच्छिन्नं प्रति तदनुकूलशक्तिमत्त्वेन परि णामिपुद्गलद्रव्यस्य कारणत्वं, यद्वा पुद्गलपर्यायत्वावच्छिन्नं प्रति तदनुकूलशक्तिमत्त्वेन पुद्गल द्रव्यस्य कारणत्वमित्येवं सामान्यकार्यकारणभावो ज्ञेयः, अखण्डकारणत्वस्यैवाग्रहश्चेत्तदा पुद्गलपर्यायत्वावच्छिन्नं प्रति पुद्गलत्वेनैव कारणत्वमभ्युपगमनीयमिति न कोऽपि दोषः। एत च्चाग्रे विवेचयिष्यते, तथा च वस्तुमात्रस्य परिणामपरिणामिभावाद्द्रव्यपर्यायोभयरूपत्वेन तदपेक्षयोत्पादव्ययध्रौव्ययुक्ततया द्रव्यमित्यभ्युपगन्तव्यम्। अत एव तत्र द्रव्यत्वबुद्धिरपि परकल्पितेनैकान्तभिन्नद्रव्यत्वजातिद्रव्येतरव्यावृत्त्यादिना न, किन्तूत्पादव्ययध्रौव्यैस्समुदि- तैरेव, उक्तञ्च श्रीमहोपाध्यायैश्श्रीयशोविजयैर्महावीरस्तवप्रकरणे "नाशोद्भवस्थितिभिरेव समाहृताभिर्द्रव्यत्वबुद्धिरिति सम्यगदीदृशस्त्वम्।" इति। द्रव्यत्वविषयकप्रत्यक्षबुद्धिकारण त्वमपि नोत्पादत्वेन व्ययत्वेन ध्रौव्यत्वेन प्रत्येकरूपेण प्रत्येकपर्याप्तम्, किन्तु समुदायत्वेन रूपेण तत्रितयपर्याप्तमेव, अत एव द्रव्यपदजन्यशाब्दबोधं प्रत्यप्युत्पादवति द्रव्यपदं शक्तं, नाशवति द्रव्यपदं शक्तं ध्रौव्यवति द्रव्यपदं शक्तमित्येवं प्रत्येकधर्मावच्छिन्ने शक्तिग्रहस्य हरिपदजन्य विष्णुबोधम्प्रति विष्णुत्वावच्छिन्ने शक्तिग्रहस्य सिंहबोधम्प्रति सिंहत्वावच्छिन्ने शक्तिग्रहस्य कप्यादिबोधम्प्रति कपित्वाद्यवच्छिन्ने शक्तिग्रहस्येव पृथक्कारणत्वं न, येन द्रव्यपदस्य हर्यादिपदवच्छक्तिग्रहभेदान्नानार्थकत्वं स्यात्, किन्तु समुदायत्वेन रूपेणैकीकृतो- त्पादव्ययध्रौव्यरूपसमुदितत्रितयधर्मावच्छिन्ने द्रव्यपदं शक्तमित्येवमेकस्यैव शक्तिग्रहस्य

कारणत्वमिति शक्यतावच्छेदकतावच्छेदकस्यैक्याद्द्रव्यपदमेकार्थकमेव, यथा पशुपदस्य लोमवल्लाङ्गूलवति शक्तस्य लोमवल्लाङ्गूलस्य शक्यतावच्छेदकस्य नानात्वेऽपि साक्षाच्छक्यतावच्छेदकतावच्छेदकस्य लाङ्गूलत्वस्य परम्परया शक्यतावच्छेदकतावच्छेदकस्य च लोमत्वस्यैक्यान्न नानार्थकत्वं तथा प्रकृतेऽपीति, नन्वेवं तर्हि "पुष्पदन्तौ पुष्पवन्तावेकोक्त्या शशिभास्करौ" इति कोशस्वरसात् पुष्पदन्तपदं चन्द्रत्वावच्छिन्नं सूर्यत्वावच्छिन्नं च बोधयत्वित्याकारिकाया एकस्या एव चन्द्रत्वसूर्यत्वधर्मद्वयावच्छिन्ने शक्तेस्सद्भावेन नित्यं द्विवचनान्तं तद्वद् द्रव्यपदमप्युत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्रितयधर्मावच्छिन्नं बोधयत्वित्याकारिकायास्समुदितोत्पादादित्रितयधर्मावच्छिन्ने एकशक्तेस्सद्भावेन नित्यं बहुवचनान्तमेव स्यादिति चेत्, न, 'आपः स्त्री भूम्नि' 'पुं भूम्नि दाराः' इत्याद्यनुशासनसिद्धबहुवचनान्त-आपो-दारा इत्यादिवद् द्रव्यपदस्य नियतबहुवचनताया अननुशासनात् । यस्य यस्य शब्दस्य यो यस्स्वभावस्स स न कदापि तं तं स्वभावं परिजहातीति व्याप्तेर्यथाऽब्दारादिशब्दस्य बहुवचनान्तत्वस्वभावस्तथा प्रकृतस्य द्रव्यपदस्यैकवचनान्तत्वस्वभावः, स्वस्वभावातिक्रमणे तु निस्स्वभावापत्त्या वस्तुत्वमेव परित्यक्तं स्यादिति भावः । अथ शब्दस्वाभाव्याद्द्रव्यपदोत्तरं बहुवचनं मास्तु, अर्थस्वाभाव्यात्तु तत्स्यादेवेत्यपि न च युक्तम्, यतो बहुवचनेन स्वप्रकृत्यर्थतावच्छेदकव्याप्यमेव धर्मिगतं बहुत्वं बोध्यते, अन्यथैकस्मिन्नपि घटे घटपटकटाहगतं बहुत्वमादाय घटा इति प्रयोगापत्तेः, न चात्रैकस्मिन् द्रव्ये उत्पादव्ययध्रौव्यव्याप्यं बहुत्वमस्तीति न द्रव्यपदस्य बहुवचनान्ततेति । अथ स्यादिप्रत्ययप्रकृतिपदवाच्यतावच्छेदकव्याप्यं धर्मिगतं बहुत्वं यत्र तत्रैव बहुवचनमित्यभ्युपगमे घटपटकटाहगतं बहुत्वमादाय घटपटकटाहा इति प्रयोगोऽपि न स्यात्, यतोऽत्र घटत्वपटत्वकटाहत्वैतत्त्रितयधर्मावच्छिन्नमुद्दिश्यैव बहुत्वं विधीयत इति तस्य बहुत्वस्योद्देश्यतावच्छेदकस्य घटत्वस्याभाववति पटे कटाहे च पटत्वस्याभाववति घटे कटाहे च कटाहत्वस्याभाववति घटे पटे च सत्त्वेन तद्व्याप्यत्वाभावात्, एवमाकाशघटाविति प्रयोगोऽपि न स्यात्, आकाशत्वघटत्वव्याप्याकाशघटगतद्वित्वाभावादित्युक्तदोषनिवृत्तये यत्रैकधर्मस्योद्देश्यतावच्छेदकत्वं तत्रैवोद्देश्यतावच्छेदकव्याप्यं बहुत्वं बहुवचनेन बोध्यते, द्विवचनेन चोद्देश्यतावच्छेदकव्याप्यं द्वित्वं बोध्यते, अत एवाकाशा आकाशाविति न प्रयोगौ, आकाशत्वव्याप्यस्य बहुत्वस्य द्वित्वस्य चाभावात्, आकाशे एकत्वस्यैव सत्त्वात्, यत्र च नानाधर्मस्योद्देश्यतावच्छेदकत्वं तत्र केवलमेव बहुत्वं बहुवचनेन द्वित्वञ्च द्विवचनेन बोध्यत इत्यभ्युपगन्तव्यम्, अत एव घटपटाकाशा घटाकाशाविति प्रयोगयोरपि प्रामाण्यमुपपद्यते। तथा च द्रव्यपदस्थले उत्पादव्ययध्रौव्याणामुद्देश्यतावच्छेदकत्वेनाऽभ्युपगतानां नानाधर्मत्वेन केवलस्य बहुत्वस्यैव भानं स्यादिति पूर्वोक्तं न युक्तमिति चेत्, मैवम्, समनियतनानाधर्मस्योद्देश्यतावच्छेदकत्वस्थलेऽप्युद्देश्यतावच्छेदकव्याप्यबहुत्वस्यापि बहुवचनेन भानाभ्युपगमात्, तथा चोत्पादादित्रयाणां

समनियतनानाधर्मत्वेन तद्व्याप्यबहुत्वस्य धर्मिगतस्याभावाच्च बहुवचनापत्तिः, यद्वोद्देश्यतावच्छेदकीभूतोत्पादादित्रयाणामपि समुदायत्वेन रूपेणैकत्वेन विवक्षणादत्राप्येकधर्मस्यैवोद्देश्यतावच्छेदकत्वमिति तद्व्याप्यधर्मिगतबहुत्वस्याभावाच्च द्रव्यपदोत्तरबहुवचनापत्तिः। एवं पुष्पदन्तपदप्रवृत्तिनिमित्तस्य चन्द्रत्वस्य सूर्यत्वस्य न चन्द्रत्वत्वेन सूर्यत्वत्वेन च रूपेण द्वित्वोद्देश्यतावच्छेदकत्वम्, किन्तु पुष्पदन्तपदप्रवृत्तिनिमित्तत्वरूपसामान्यधर्मेणेति तद्रूपेण चन्द्रत्वसूर्यत्वयोरेकीकृतत्वेनैकधर्मस्योद्देश्यतावच्छेदकत्वादुद्देश्यतावच्छेदकव्याप्यद्वित्वमानमुपपद्यत एव, पुष्पदन्तपदप्रवृत्तिनिमित्तत्वेन रूपेणोद्देश्यतावच्छेदकीभूतस्य चन्द्रत्वस्याभावाच्च सूर्यः, सूर्यत्वस्याभावाच्च न चन्द्रः, किन्त्वन्य एव, तद्वृत्तित्वेन द्वित्वस्य चन्द्रत्वसूर्यत्वव्याप्यत्वसद्भावादिति। एतदाशयेनैवोपाध्यायैरप्युक्तं न्यायखण्डखाद्ये—

"नाशोद्भवस्थितिमति क्रमशो न शक्तो, द्रव्यध्वनिस्तदिह नो पृथगर्थताभूत्।
शब्दस्य भावनियमाद्वचनेन भेदः, स्वव्याप्यधर्मिगबहुत्वनिराकृतेश्च ॥९५॥" इति

विशेषार्थिनाऽस्मत्कृतश्रीमहावीरस्तवकल्पलतिकाटीकाऽवलोकनीयेति। तदेवं द्रव्यार्थिकनयाभिमतं द्रव्यं पर्यायाक्रान्तमेव, न तु तद्विकलम्, पर्यायार्थिकनयाभिमताः पर्याया अपि द्रव्यसमनुगता एव न तद्वियुक्ताः, परस्परनिरपेक्षयोस्तयोः कदाचिदप्यप्रतिभासनादिति सिद्धम् ॥ १२ ॥

एत उत्पादस्थितिभङ्गाः परस्परनिरपेक्षाः, यद्वोत्पादव्ययाविति ध्रौव्यमिति च न द्रव्यलक्षणं किन्तु समुदितोत्पादस्थितिभङ्गाः परस्परानुस्यूता एव द्रव्यस्य लक्षणम्, एकैकनिर्मोकेण द्रव्याऽप्रतीतेरिति प्रत्येकलक्षणग्राहिणौ द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकमूलनयौ मिथ्यादृष्टी, इत्येतत्प्रदर्शनायाह—

"एए पुण संगहओ पाडिक्कमलक्खणं दुवेण्हंपि।
तम्हा मिच्छद्दिट्ठी पत्तेयं दो वि मूलणया ॥ १३ ॥"

'एए' एत उत्पादस्थितिभङ्गाः 'संगहओ' संग्रहतः शिबिकोद्वाहिपुरुषा इव परस्परापेक्षभावतः परस्परस्वरूपोपादानेनैव सतो लक्षणम्। 'पाडिक्कं' प्रत्येकं मिथोऽपेक्षारहितत्वेन एकका उत्पादादयो 'दुवेण्हंपि' द्वयोरपि द्रव्यास्तिकपर्यायास्तिकनययोरेतदनन्तरमभिमता इति शेषः 'अलक्खणम्' अलक्षणम्, एकान्तद्रव्यास्तिकनयाभ्युपगतमेकान्तध्रौव्यमिति एकान्तपर्यायास्तिकनयाभ्युपगतावेकान्तोत्पादव्ययौ च सच्छब्दाभिधेयस्य द्रव्यस्य न लक्षणम्, उत्पादव्ययव्यतिरेकेण ध्रौव्यस्य ध्रौव्यव्यतिरेकेणोत्पादव्यययोरप्रतीतेः, उत्पादव्ययाविनाभूततया ध्रौव्यस्य ध्रौव्याविनाभूततयैव चोत्पादव्यययोः प्रतीतेः, 'तम्हा' तस्मात्, 'पत्तेयं दो वि मूलणया मिच्छद्दिट्ठी' प्रत्येकं द्वावपि मिथोऽनपेक्षौ प्रत्येकलक्षणग्राहिणौ द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकौ मूलनयौ समस्तनयराशिकारणभूतौ मिथ्यादृष्टी इति भावः ॥ १३ ॥

स्यादेतत् सन्नरेकान्तपर्यायार्थिकनयप्रदर्शितयुक्तिभिर्ध्रौव्यस्याव्यवस्थितेर्ध्रौव्याभाववति ध्रौव्यग्राहित्वेनैकान्तद्रव्यार्थिकनयस्य एकान्तद्रव्यार्थिकनयप्रदर्शितयुक्तिभिरुत्पादव्ययोरसिद्धेस्तदभाववति तद्ग्राहित्वेनैकान्तपर्यायार्थिकनयस्य च मिथ्यात्वम्, तयोस्सुन्दोपसुन्दन्यायेनेतरेतरविषयप्रतिक्षेपकत्वेन स्वविषयाऽसत्यत्वात् समुदितोत्पादव्ययध्रौव्यात्मकद्रव्यलक्षणाग्राहकत्वाच, द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयद्वयारब्धत्वेन तद्विषयविषयकत्वे को नय उभयवादात्मकस्सम्यग्दृष्टिर्भविष्यतीत्याशङ्कायामाह—

> ण य तइओ अत्थि णओ, ण य सम्मत्तं ण तेसु पडिपुण्णं ।
> जेण दुवे एगंता, विभज्जमाणा अणेगंतो ॥ १४ ॥

'ण य तइओ अत्थि णओ' न चोभयवादात्मकस्तृतीयोऽस्ति नयः कश्चित्, यतस्तस्य द्रव्यपर्याययोर्द्रव्यपर्यायान्यतरैकरूपतया ग्राहित्वे एकान्तद्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयान्यतररूपत्वं स्यात्, प्रधानीभूतपरस्परसापेक्षोभयरूपतया ग्राहित्वे च नयात्मकत्वानुपपत्तेः प्रमाणात्मकत्वं स्यात्, प्राधान्येन द्रव्यपर्यायोभयावगाहिज्ञानस्य प्रमाणरूपत्वात् । उक्तञ्च स्याद्वादरत्नाकरे—"प्राधान्येन द्रव्यपर्यायद्वयात्मकं चार्थमनुसरद्विज्ञानं प्रमाणं प्रतिपत्तव्यमिति" तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकेऽप्युक्तम्—प्राधान्येनोभयात्मानमर्थं गृह्णद्धि वेदनम् । प्रमाणं नान्यदित्येतत्प्रपञ्चेन निवेदितम् ॥ १ ॥ इति । एतदेवाह—"ण य सम्मत्तं ण तेसु पडिपुण्णं" द्वौ नञौ प्रकृतार्थं गमयत इति न्यायात् प्रतिषेधद्वयेन प्रकृतार्थावगतेरपरित्यक्तेतररूपाध्यवसायलक्षणान्योऽन्यनिश्रितत्वेन तयोर्द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनययोः प्रतिपूर्णं सम्यक्त्वं न चास्तीति न, किन्त्वस्त्येव, अनेकान्तात्मनोर्द्रव्यपर्याययोः परस्परसापेक्षभावेन ग्राहितया यथाऽवस्थितप्रत्ययरूपत्वात्तयोः, तथा च तादृशौ तौ नयौ सम्यक्प्रत्ययरूपावेवेति भावः । मिथो निरपेक्षभावेन द्रव्यपर्यायग्राहिणोस्तु तयोर्न च सम्यक्प्रत्ययरूपत्वमित्यत्र हेतुमाह—'जेण दुवे एगन्ता' येन द्वावपि नयौ परस्परनिरपेक्षद्रव्यपर्यायग्राहिणौ एकान्तौ एकान्तनयरूपौ मिथ्यारूपाविति यावत् 'विभज्जमाणा अणेगंतो' वि-विशेषेण परस्पराऽत्यागरूपेण भज्यमानौ द्रव्यपर्यायावगाहिनावनेकान्तः, अर्थात् प्रमाणसञ्ज्ञां दधाते, नयस्येतरांशौदासीन्येनानन्तांशात्मकवस्त्वेकांशपरिच्छेदरूपत्वेन प्राधान्येन द्रव्यपर्यायोभयावगाहिज्ञानस्य प्रमाणशब्दवाच्यत्वात्, यद्वाऽऽोप हि प्रामाण्य मापेक्ष गृह्यमाणयोरनयोरेव विषययोर्व्यवस्थितम् । "जेण दुवे एगंता" येन द्वावपि द्रव्यपर्यायौ परस्परनिरपेक्षतयैकान्तौ एकान्तरूपतया व्यवस्थितौ मिथ्यात्वनिबन्धनम्, भ्रान्तबुद्धिकारणमिति यावत्, 'विभज्जमाणा' विभज्यमानौ वि-विशेषेण परस्पराऽत्यागरूपेण भज्यमानौ गृह्यमाणौ तौ 'अणेगंतो' अनेकान्तः, परस्परानद्वृत्त्या द्रव्यपर्यायोभयात्मकस्य वस्तुनोऽनेकान्तात्मकत्वादित्येतयो

स्सम्यक्त्वहेतुत्वम्, तयोर्विषयविधया प्रमाणकारणत्वात्तदुभयावगाहिज्ञानं प्रमाणं भवतीति भावः। तथा च यो नयोपयोगस्स्वार्थे इतरनयार्थसंयोजनाया व्याप्रियते तस्य तात्पर्याऽपेक्षया सम्यग्दृष्टित्वस्य केवलस्वार्थमात्रावगाहनप्रवृत्तस्य नयस्य स्वेतरनयविषयसंयोजनाऽव्यापारवत्त्वेन मिथ्यादृष्टित्वस्य च सम्प्रदायसिद्धत्वात्, तस्मादितरनयविषयसंयोजनाऽव्यापारेण मुख्यगौणतया स्वपरार्थग्राहिणामवान्तरनयभेदानां सम्यग्दृष्टित्वं युज्यते, न तु स्वतन्त्रकल्पितोभयविषयग्राहिणां नैगमभेदानामिति प्रतिपत्तव्यम् ॥ १४ ॥

यथेतरनयविषयनिरपेक्षस्वविषयग्राहिणोर्मूलभूतद्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनययोर्मिथ्यात्वं तथा स्वान्यनयविषयनिरपेक्षविषयग्राहिणां मूलनयार्थप्रज्ञापनामात्रव्यापृतानां तद्विशिष्टांशाधिगममात्रेण भेदभाजामुत्तरनयानामपि मिथ्यात्वमेवेत्युपदर्शयितुमाह—

" जह एए तह अण्णे, पत्तेयं दुण्णया णया सव्वे ।
हंदि हु मूलणयाणं, पण्णवणे वावडा ते वि ॥ १५ ॥"

' जह एए ' यथैतौ मूलभूतौ पर्यायनिरपेक्षद्रव्यग्राहिद्रव्यार्थिकनयद्रव्यनिरपेक्षपर्यायग्राहिपर्यायार्थिकनयौ मिथ्यादृष्टी 'तह' तथा 'पत्तेयं' प्रत्येकम्–इतरानपेक्षलक्षणप्रातिस्विकरूपाः 'अण्णे सव्वे णया दुण्णया' अन्येऽपि सर्वे नया दुर्नयाः, परस्परनिरपेक्षविषयग्राहित्वस्य मिथ्यात्वनिबन्धनस्य सर्वत्र तुल्यत्वात्। नन्वेवं मूलभूतौ द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकावितरेतरविषयप्रतिक्षेपकत्वेन गौणप्रधानभावेन समुदितद्रव्यलक्षणाऽग्राहितया भवतां मिथ्यादृष्टी, अवान्तरतद्भेदरूपनयास्तु तद्वैपरीत्येन मूलभूतनयद्वयगतमिथ्यात्वधर्मारोपाऽविषयत्वात्सम्यग्दृष्टयो भवेयुरित्याशङ्कायां तन्निषेधे हेतुप्रदर्शनार्थमुत्तरार्द्धमाह—हंदीत्यादि। "हंदि" इत्येवं गृह्यताम्, 'हु' हुशब्दः हतौ 'मूलणयाणं' मूलनययोः मूलनयविषययोरेव तत्तदधिगतांशविशिष्टयोः 'पण्णवणे' प्रज्ञापने प्ररूपणे 'वावडा ते वि' व्यापृतास्तेऽपि, यद्विषयकौ मूलनयौ मिथ्यादृष्टी तद्विषयप्रज्ञापनामात्रव्यापृतास्तत्तद्विशिष्टांशाधिगममात्रेण भेदभाजोऽवान्तरनया अपि मिथ्यादृष्टय एव। तथा च मूलनयद्वयविषयव्यतिरिक्तविषयान्तराऽभावात् सर्वनयवादानां मूलनयद्वयविषययोः सामान्यविशेषयोरन्यतरस्यैव किञ्चित्प्रकारविशिष्टतया प्ररूपकत्वान्न तद्व्यतिरिक्तनयान्तरसद्भाव इति ॥ १५ ॥

ननु सङ्ग्रहादिनयसद्भावात्कथं तद्व्यतिरिक्तनयान्तरसद्भावो नेति वचश्शोभत इति चेत्, सत्यम्, सन्ति सङ्ग्रहादयः, किन्तु नैगमनयवादस्य स्वतन्त्रकल्पितसामान्यविशेषोभयविषयकत्वेन शुद्धसङ्ग्रहनयवादस्य च सत्तारूपपरसामान्यविषयकत्वेनाशुद्धसङ्ग्रहनयवादस्य च परापरसामान्यमात्रविषयकत्वेन व्यवहारनयवादस्य च व्यवहारोपयुक्ततत्तद्द्रव्यपर्यायात्मकविशेषमात्रविषयकत्वेन ऋजुसूत्रशब्दसमभिरूढैवम्भूतनयवादानां वर्त्तमानक्षणवर्त्यर्थकालादिभेदभिन्नार्थसङ्ख्याभेदभिन्नार्थव्युत्पत्तिनिमित्तक्रियासत्ताकालावच्छिन्नार्थमात्रग्राहित्वेन च

मूलनयद्वयविषयव्यतिरिक्तविषयान्तराभावतो मूलनयद्वयविषयकास्तेऽपि तद्दूषणेनैव दूषिता', यतो न मूलच्छेदे तच्छाखास्तदवस्थास्सम्भवन्तीत्याशयेनाह—

सव्वणयसमूहम्मि वि नत्थि, णओ उभयवायपण्णवओ ।
मूलणयाण उ आणं, पत्तेय विसेसिय विंति ॥ १६ ॥

'सव्वणयसमूहम्मि वि' सद्ग्रहादिसर्वनयसमूहेऽपि 'नत्थि णओ' नास्ति कश्चिन्नयः, 'उभयवायपण्णवओ' उभयवादप्रज्ञापको द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकाभ्यामत्यन्तपृथग्भूताभ्यामारब्धस्य मिलस्याङ्गुलिद्वयारब्धवत्संयोगवदुभयवादस्य प्ररूपकः, तत्र हेतुं प्रदर्शयितुमुत्तरार्द्धमाह—'मूलणयाण उ आणं' मूलनयाभ्यामेव यत्प्रतिज्ञातं वस्तु तदेवाश्रित्य 'पत्तेय विसेसिय विन्ति' प्रत्येकमेकैकशः सद्ग्रहादयो विशेषिण ब्रुवन्ति, नयानां नानारूपत्वपक्षे पूर्वपूर्वनयाधिगतांशविशिष्टमंशान्तरमुत्तरोत्तरनया अधिगच्छन्ति, पूर्वपूर्वनयाधिगतांशं गौणतयांशान्तरञ्च प्रधानतया विषयीकुर्वन्तीति यावत्, नयानां नादरूपत्वपक्षे च पूर्वपूर्वनयबोधितांशविशिष्टांशान्तरविषयकाधिगममुत्पादयन्ति, तादृशाऽधिगमाऽनुकूलव्यापारवन्त इति न विषयान्तरगोचरास्तेऽपि, अतो व्यवस्थित परस्परात्यागप्रवृत्त सामान्यविशेषविषयकसद्ग्रहाद्यात्मकनयद्वयगोचरसामान्यविशेषोभयात्मकत्वाद्वस्त्वप्युभयात्मकमिति ॥ १६ ॥

अथ क्षीरमेव भोक्तव्यमित्येव पयोव्रतो दधि नात्ति, दध्येव भोक्तव्यमिति दधिव्रतश्च दुग्धं नात्ति, गोरसो नाभ्यवहर्त्तव्य इत्येवमगोरसव्रतो दुग्धदधिनी उभे अपि नाभ्यवहरतीति तद्दृष्टान्तेन वस्तुमात्रं कथञ्चिद्भेदाभेदात्मकत्वेनोत्पादादित्रयात्मकम् । तदुक्तम्—

" पयोव्रतो न दध्यत्ति, न पयोऽत्ति दधिव्रतः ।
अगोरसव्रतो नोभे, तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम् ॥ १ ॥ " इति ॥

यतो दध्नः पयस एकान्ताऽभेदो यदि स्यात्तदा पयोव्रतस्य दधि भुञ्जानस्याऽपि न व्रतभङ्गस्स्यात्, तथा पयसो यदि दध्न एकान्ताभेदस्स्यात्तदा तद्भुञ्जतोऽपि दधिभोजन व्रतभङ्गो न स्यात्, ततो दधिपयसोर्दधित्वेन पयस्त्वेन च कथञ्चिद्भेद । तथैव तयोर्गोरसत्वेन कथञ्चिदभेद, अन्यथाऽगोरसव्रतस्य दुग्धाद्येकैकभोजनेऽपि न व्रतभङ्गस्स्यादिति दुग्धदधिपर्यायापन्नगोरसवत् पूर्वापरपर्यायापन्नद्रव्यात्मकघटपटादिवाह्यं वस्तुमात्रं यथा कथञ्चिद्भेदाभेदोभयात्मकम्, तथाविधप्रमाणग्राह्यत्वात्, तथाऽऽत्माद्यान्तरमपि वस्तुमात्रं कथञ्चिद्भेदाभेदात्मकमभ्युपगन्तव्यम्, हर्ष–शोक–भय–करुणौदासीन्याद्यनेकाकारविवर्तात्मकैकचेतनास्वरूपतया कथञ्चिद्भेदाभेदविषयकस्वसंवेदनाध्यक्षप्रमाणग्राह्यत्वात्, तस्य भेदाभेदैकान्तरूपताऽभ्युपगमे तु स्रक्चन्दनवनितादिदृश्यमाननिमित्तकसुखादृश्यमाननिमित्तकस्वर्गादिसुखसाधनोपादानानुकूलप्रवृत्तिरूपस्याहिकण्टकादिदृश्यमाननिमित्तक-

रसम्यक्त्वहेतुत्वम्, तयोर्विषयविषया प्रमाणकारणत्वात्तदुभयावगाहिज्ञानं प्रमाणं भवतीति भावः। तथा च यो नयोपयोगस्स्वार्थे इतरनयार्थसंयोजनाया व्यापिपर्ति तस्य तावत्याऽपेक्षया सम्यग्दृष्टित्वस्य केवलस्वार्थमात्रावगाहनप्रवृत्तस्य नयस्य स्वेतरनयविषयसंयोजनाव्यापारवैकल्येन मिथ्यादृष्टित्वस्य च सम्प्रदायसिद्धत्वात्, तस्मादितरनयविषयसंयोजनाव्यापारेण मुख्यगौणतया स्वपरार्थग्राहिणामवान्तरनयभेदानां सम्यग्दृष्टित्वं युज्यते, न [illegible] स्वतन्त्रकल्पितोभयविषयग्राहिणां नैगमभेदानामिति प्रतिपत्तव्यम् ॥ १४ ॥

यथेतरनयविषयनिरपेक्षस्वविषयग्राहिणोर्मूलभूतद्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनययोर्मिथ्यात्वं तथा स्वान्यनयविषयनिरपेक्षविषयग्राहिणां मूलनयार्थप्रज्ञापनामात्रव्यापृतानां तत्तद्विशिष्टांशाधिगममात्रेण भेदभाजामुत्तरनयानामपि मिथ्यात्वमेवेत्युपदर्शयितुमाह—

"जह एए तह अण्णे, पत्तेयं दुण्णया णया सव्वे ।
हंदि हु मूलणयाणं, पण्णवणे वावडा ते वि ॥ १५ ॥"

'जह एए' यथैतौ मूलभूतौ पर्यायनिरपेक्षद्रव्यग्राहिद्रव्यार्थिकनयद्रव्यनिरपेक्षपर्यायग्राहिपर्यायार्थिकनयौ मिथ्यादृष्टी 'तह' तथा 'पत्तेयं' प्रत्येकम्-इतरानपेक्षलक्षणप्रातिस्विकरूपाः 'अण्णे सव्वे णया दुण्णया' अन्येऽपि सर्वे नया दुर्नयाः, परस्परनिरपेक्षविषयग्राहित्वस्य मिथ्यात्वनिबन्धनस्य सर्वत्र तुल्यत्वात्। नन्वेव मूलभूतौ द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकावितरेतरविषयप्रतिक्षेपकत्वेन गौणप्रधानभावेन समुदितद्रव्यलक्षणाऽग्राहितया भवतां मिथ्यादृष्टी, अवान्तरतद्भेदरूपनयास्तु तद्वैपरीत्येन मूलभूतनयद्वयगतमिथ्यात्वधर्मारोपाऽविषयत्वात्सम्यग्दृष्टयो भवेयुरित्याशङ्कायां तन्निषेधे हेतुप्रदर्शनार्थमुत्तरार्द्धमाह—हंदीत्यादि। "हंदि" इत्येवं गृह्यताम्, 'हु' हुशब्दः हेतौ 'मूलणयाणं' मूलनययोः मूलनयविषययोरेव तत्तदधिगतांशविशिष्टयोः 'पन्नवणे' प्रज्ञापने प्ररूपणे 'वावडा ते वि' व्यापृतास्तेऽपि, यद्विषयकौ मूलनयौ मिथ्यादृष्टी तद्विषयप्रज्ञापनामात्रव्यापृतास्तत्तदुन्निशिष्टांशाधिगममात्रेण भेदभाजोऽवान्तरनया अपि मिथ्यादृष्टय एव। तथा च मूलनयद्वयविषयव्यतिरिक्तविषयान्तराऽभावात् सर्वनयवादानां मूलनयद्वयविषययोः सामान्यविशेषयोरन्यतरस्यैव किञ्चित्प्रकारविशिष्टतया प्ररूपकत्वान्न तद्व्यतिरिक्तनयान्तरसद्भाव इति ॥ १५ ॥

ननु सङ्ग्रहादिनयसद्भावात्कथं तद्व्यतिरिक्तनयान्तरसद्भावो नेति वचश्शोभत इति चेत्, सत्यम्, सन्ति सङ्ग्रहादयः, किन्तु नैगमनयवादस्य स्वतन्त्रकल्पितसामान्यविशेषोभयविषयकत्वेन शुद्धसङ्ग्रहनयवादस्य च सत्तारूपपरसामान्यविषयकत्वेनाशुद्धसङ्ग्रहनयवादस्य च परापरसामान्यमात्रविषयकत्वेन व्यवहारनयवादस्य च व्यवहारोपयुक्ततत्तद्द्रव्यत्वयात्मकविशेषमात्रविषयकत्वेन ऋजुसूत्रशब्दसमभिरूढैवम्भूतनयवादानां वर्त्तमानक्षणवर्त्यर्थकालादिभेदभिन्नार्थमञ्ज्ञाभेदभिन्नार्थव्युत्पत्तिनिमित्तक्रियासत्ताकालावच्छिन्नार्थमात्रग्राहित्वेन च

[illegible]यद्वयविषयव्यतिरिक्तविषयान्तराभावतो मूलनयद्वयविषयत्वात्तेऽपि तद्रूपेणैव [illegible]ा', यतो न मूलच्छेदे तच्छाखास्तदवस्थास्सम्भवन्तीत्याशयेनाह—

सव्वणयसमूहम्मि वि नत्थि, णओ उभयवायपण्णवओ ।
मूलणयाण उ आण, पत्तेय विसेसिय बिंति ॥ १६ ॥

'सव्वणयसमूहम्मि वि' सङ्ग्रहादिसर्वनयसमूहेऽपि 'नत्थि णओ' नास्ति कश्चि[illegible], 'उभयवायपण्णवओ' उभयवादप्रज्ञापको द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकाभ्यामन्यस्तदुभ[illegible]ाभ्यामारब्धस्य भिन्नस्याङ्गुलिद्वयारब्धतत्संयोगवदुभयवाचस्य प्रज्ञापकः, तत्र हेतु[illegible]र्शयितुमुत्तरार्द्धमाह—'मूलणयाण उ आण' मूलनयाभ्यामेव यत्प्रतिज्ञातं वस्तु तदेवा[illegible]य 'पत्तेय विसेसिय बिन्ति' प्रत्येकमेकैका' सङ्ग्रहादयो विशेषितं ब्रुवन्ति, नयानां ज्ञान[illegible]त्वपक्षे पूर्वपूर्वनयाविगताऽविशिष्टमथान्तरमुत्तरोत्तरनया अविगच्छन्ति, पूर्वपूर्वनया[illegible]र्थांश गौणतयाऽथान्तरञ्च प्रधानतया विषयीकुर्वन्तीति यावत्, नयानां शब्दरूपत्व[illegible] च पूर्वपूर्वनयबोधिताऽविशिष्टार्थान्तरविषयकानि नयवाक्यानि सन्ति, तादृशानि नयवा[illegible]ल्यापारवन्त इति न विषयान्तरगोचरास्तेऽपि, अतो नयविषय[illegible]विपर्यासाप्रवृत्त[illegible]ा पविशिष्टविषयकसङ्ग्रहाद्यात्मकनयद्वयगोचरप्राधान्यविशेषतया तस्मादस्त्यपृथग्भाव[illegible]ति ॥ १६ ॥

अथ क्षीरमेव गोरसत्वमित्येव पयोव्रतो दधि नात्ति, [illegible] दधिव्रत[illegible] नात्ति, गोरसो नास्त्यवहरेत्[illegible]व्रतो [illegible] नास्त्यवहरतीति [illegible]दृष्टान्तेन वस्तुमात्र कथञ्चिद्भेदाभेद[illegible] । तदुक्तम्—

" पयोव्रतो न दध्यत्ति, न पयोऽत्ति दधिव्रतः ।
अगोरसव्रतो नोभे, तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम् ॥ १ ॥" इति ॥

यतो दधि पयस [illegible] दधि स्याद[illegible] [illegible]मकम्स्यात्, तथा पयसो [illegible] दधि [illegible] दधिव्रत[illegible]स्थो न स्यात्, तथा दधिपयसोरविभेदेन [illegible] । [illegible]त्वेन कथञ्चिद्भेदः, [illegible] न [illegible]ति दृष्टान्तविरोधानवता तदत् [illegible]ा कथञ्चिद्भेदाभेदोऽभवन्तत्, [illegible] कथञ्चिद्भेदाभेद [illegible] [illegible] कथञ्चिद्भेदाभेदौ, [illegible] भेदाभेदैकान्त[illegible] [illegible]

र
प
व
रण

दुःखादृश्यमाननिमित्तकनरकादिदुःखसाधनपरिहारानुकूलनिवृत्तिरूपस्य सकलव्यवहारस्योच्छेदप्रसक्तिस्स्यादिति प्रतिपादयितुमाह—

ण य दव्वट्ठियपक्खे, संसारो णेव पज्जवणयस्स ।
सासय-वियत्तिवाई, जम्हा उच्छेअवाई अ ॥ १७ ॥

'ण य दव्वट्ठियपक्खे संसारो' न च द्रव्यार्थिकपक्षे द्रव्यार्थिकनयाभ्युपगते वस्तुनि संसारः सम्भवति, 'णेव पज्जवणयस्स' एतदनन्तरं 'पक्खे संसारो' इत्यनुकर्षणीयम् । नैवेत्यत्रैवकारोऽप्यर्थकः, स च भिन्नक्रमः, तथा च पर्यायनयस्य पक्षेऽपि पर्यायार्थिकनयाभिमते वस्तुन्यपि न संसारः सम्भवति । तत्र हेतुं प्रदर्शयितुमुत्तरार्द्धमाह–' सासय-वियत्तिवाई जम्हा ' यस्मात् शाश्वतीं शश्वद्भवन्तीमेकान्ताऽविनश्वरीमात्मप्रभृतिव्यक्तिं वदितुं शील यस्य स शाश्वतव्यक्तिवादी द्रव्यार्थिकनयः । ' उच्छेअवाई अ ' घण्टालोलकन्यायेन जम्हा इत्यस्यात्राप्यन्वयः, चः समुच्चये, उच्छेदम्, अत्र उत्पूर्वकात् छिदधातोर्भावे घञ्प्रत्ययः– उत्प्राबल्येन छेदमुच्छेदम्, यत् सत्तत्क्षणिकमिति व्याप्तेः प्रतिक्षणं प्रतिव्यक्ति निरन्वयविनाशं वदितुं शीलं यस्य स उच्छेदवादी पर्यायार्थिकनयः । ननु द्रव्यार्थिकनयो भवत्वेकान्तशाश्वतव्यक्तिवादी, एतावता कथं संसारानुपपत्तिरिति चेत्, उच्यते, संसरणम् इतश्चेतश्च परिभ्रमणं मनुष्यादिपर्यायान्नारकादिपर्यायगमनं संसारः, स च चतूरूपः, गतिचतुष्कभेदात्, तदुक्तम् स्थानाङ्गे–"चउव्विहे संसारे पण्णत्ते, तं जहा–णेरइअससारे जाव देवसंसारे । यद्वा औदयिकादीनां भावानां संसरणपरिणामः एकस्माद्भावाद्भावान्तरपरिणामः संसारः, स चात्मनो द्रव्यपर्यायोभयरूपतयैकानेकरूपत्वे सत्येव सङ्घटते, सर्वथा नित्यैकरूपत्वे तु मनुष्याद्यवस्थालक्षणोत्तरपर्यायावाप्तिर्न स्यात्, एवमौदयिकादीनां भावानां मध्ये विवक्षितैकभावाद् भावान्तरावाप्तिलक्षणपरिणामोऽपि च न स्यात्, पूर्वावस्थात्यागे सत्येवोत्तरावस्थोत्पत्तेस्सम्भवात्, न च तत्तदवस्थानामेव भेदो न त्ववस्थावतुरिति वाच्यम्, अवस्थातद्वतो' कथञ्चिद्भेदाभेदवादाभ्युपगम एवावस्थाऽवस्थावद्भावसङ्घटनात्, अन्यथा मनुष्यादितत्तदवस्थाभेदेऽप्यात्मनोऽविकारिणो जन्ममरणादिव्यपदेश एव न स्यात्, न च यथा स्थिरे स्थाणावन्यस्य कस्यचित्संयोगानुकूलक्रियया संयोगसद्भावेऽपि विभागानुकूलक्रियया विभागसद्भावेऽपि च न तत्र स्थाणौ विकारः, येन भेदोऽपि स्यात्, तद्वन्नित्यैकात्मन्यपि आद्यप्राणसंयोगो जन्म अन्तिमप्राणवियोगो मरणञ्च भविष्यतीति नित्यपक्षेऽपि तद्व्यपदेशो न दुर्घट इति वाच्यम्, दुग्धस्य तक्रेण सह संयोगे दुग्धभावपरिणतिविनाशे सत्येव दधिभावेन परिणतेर्भात्र', तदभावे च तदभाव इतिवत् स्थाणोरपि केनचित् वस्तुना संयोगे तस्य पूर्वकालीनाऽसंयुक्तावस्थापरित्यागे सत्येव उत्तरसंयुक्तावस्थाया उत्पत्तिः, तदभावे च तदनुत्पत्तिरित्यन्वयव्यतिरेकबलादत्रापि पूर्वोत्तरावस्थाभेदेन कथञ्चिदभिन्नतद्वतोऽपि

भेदं स्वस्वरूपेण चाभेद इत्येवं कथञ्चिद्भेदाभेदोभयस्यैव सिद्धेः, न चास्यानेन संयोग इति प्रत्यक्षबलादेवातिरिक्तसंयोगसिद्धेर्नोक्त युक्तमिति वाच्यम्, वस्तूनां देशाऽव्यवधानस्यैव संयोगरूपत्वात्, प्राक्कालीनसान्तरत्वस्वरूपपरिणामपरित्यागेन निरन्तररूपतया यः कथञ्चित्तादात्म्यपरिणामः स संयोग इति तल्लक्षणात्। यतो नैरन्तर्येण परिणतानि वस्तूनि संयुक्तव्यवहारगोचरतां प्रतिपद्यन्ते, उक्तप्रत्यक्षस्यापि संयोगत्वेन रूपेण तद्विषयकत्वात्, धर्मिकल्पनातो धर्मकल्पना श्रेयसीति न्यायादतिरिक्तसंयोगं स्वीकृत्य तत्र संयोगत्वधर्मकल्पनापेक्षया सिद्धे नैरन्तर्यलक्षणसंयोगे संयोगत्वधर्मकल्पनाया लाघवतर्केण युक्तत्वात्, तदतिरिक्ते तत्र प्रमाणाऽभावात्, संयोगस्य सर्वथाऽतिरिक्तत्वेऽत्यन्तभिन्नयोर्हिमवद्विन्ध्याचलयोस्संयोगस्येवोक्तप्रतीतिसिद्धस्याऽनुयोगिप्रतियोगिनोरनुयोगिप्रतियोगिभावसम्बन्धस्य अनेनायं संयुक्त इति प्रतीतिसिद्धाश्रयाश्रयिभावसम्बन्धस्य चाघटमानत्वाच्च। किञ्चाऽऽत्मनो नित्यैकान्तरूपत्वे तस्य छेदभेदकम्पाद्यभावाद्धिंसादेरभावः, तदभावाच्चाहिंसादेरप्यभावः, तदभावात् पुण्यपापयोस्तदभावाद् बन्धमोक्षयोर्लोकद्वयस्यापि चाभाव इति बद्धमूलो नास्तिक्यतरुस्स्यात्, न च मनःसंयोगविशेषध्वंसो हिंसा, वायुसंयोगविशेषध्वंसवत्तस्य हिंसकपुरुषीयेच्छाया अविषयत्वात्, किञ्च मनःसंयोगविशेषध्वंसस्यैव हिंसात्वाभ्युपगमे कायध्वंसस्य हिंसारूपत्वाभावेनैनं पुरुषं मारयामीतीच्छाया अस्य पुरुषस्य कायं ध्वंसयामीत्यर्थकत्वेन तदिच्छाजन्यप्रवृत्तिकारिणोऽहिंसकत्वं स्यात्।

अथ मरणोद्देश्यकमरणानुकूलव्यापारस्य हिंसात्वेनैतत्पुरुषमरणमुद्दिश्यैव प्रवर्त्तमानस्य पुरुषस्य हिंसकत्वं स्यादेवेति चेत्, नैवम्, यतो मरणोद्देश्यकमरणानुकूलसाक्षाद्व्यापारस्य हिंसात्वे यत्र खड्गाभिघातेन साक्षान्मरणं न जातं किन्तु परम्परया तत्राव्याप्तिस्स्यात्, साक्षात्परम्परासाधारणतादृशव्यापारस्य हिंसात्वविवक्षायां विवक्षितपुरुषमरणमुद्दिश्यैव तत्पुरुषीयमरणानुकूलखड्गाभिघातादिव्यापारे कृतेऽपि तेन व्यापारेण साक्षात्परम्परया वा विवक्षितपुरुषमरणं नैव जातं तत्राव्याप्तिस्स्यात्, अथ तत्र मरणाभावेऽपि हिंसालक्षणस्य मरणोद्देश्यकमरणानुकूलव्यापारस्य सत्त्वात् सङ्कल्पलक्षणहिंसासद्भावाच्च हिंसेष्टैवेति चेत्, तर्हि तादृशव्यापारवतः तादृशसङ्कल्पवतश्च पुरुषस्य मरणाभावेऽपि मरणजन्यं यत्पापं तदापत्तिस्स्यात्, न च तदपीष्टमेवेति वक्तुं शक्यम्, यत्र मरणतदनुकूलव्यापारयोरुभयोस्सत्त्वं तत्र, यत्र केवलस्य मरणानुकूलव्यापारस्य सत्त्वं तत्र च फलवैषम्यस्यावश्यमभ्युपेयत्वात् कारणविशेषस्य कार्यविशेषप्रयोजकत्वात्। एवं मरणोद्देश्यकमरणानुकूलव्यापारमात्रस्य हिंसापदार्थत्वे यत्र चैत्रीयमरणमुद्दिश्य कृते व्यापारे चैत्रीयं मरणं जातं तत्र तादृशव्यापारवतः मैत्रीयहिंसावत्त्वापत्तिस्स्यात्, मरणोद्देश्यकमरणानुकूलव्यापारस्य सत्त्वात्, अतो यदि तत्पुरुषीयमरणोद्देश्यकमरणानुकूलव्यापारस्य न पुरुषीयहिंसात्वं निरूप्यते तदा गुरुवधाय यद्वा पारधिना मृगवधाय मुक्तेन शरेण लक्ष्यच्युतेनाऽन्यस्यैव मरणं

जात तत्र तदपेक्षया हिंसकत्वं न स्यात् अन्यसत्त्वमरणोद्देश्यकव्यापाराभावात् अन्यप्राणिनं मारयामीति सङ्कल्पाभावाच्च । तस्मात्प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसेत्येव लक्षणं युक्तमित्यात्मनो नित्यत्वेन विनाशाऽयोगेऽपि मनुष्यत्वप्राणसंयोगादितत्पर्यायस्यानित्यत्वेन तदुच्छसानुकूलप्रमादयोगतत्प्रतिकूलाऽप्रमादयोगाभ्यामेव हिंसाऽहिंसे तज्जन्यपापपुण्ये तत्सम्बन्धनिखिलतद्वियोगलक्षणबन्धमोक्षौ च स एवाहं पूर्वं बद्धस्स एवाहमिदानीं मुक्त इति प्रत्यभिज्ञानादिप्रमाणसिद्धे कथञ्चिद्भिन्नाभिन्न आत्मनि सम्भवत इति स्याद्वादपक्ष एव बद्धमूल आस्तिक्यतरुर्भवतीति हिंसाऽहिंसादिरूपविरुद्धधर्माध्यासादनेकस्यात्मनः कथञ्चिदनेकरूपतया मनुष्यादिपर्यायविनाशेन देवादिपर्यायसमागमनात्स्याद्वादपक्ष एव संसारस्सम्भवति, न तु शाश्वतव्यक्तिवादिपक्ष इति सिद्धम् । ननु शाश्वतव्यक्तिवादिपक्षे संसारो न सम्भवतीत्युक्तयुक्तेर्युक्तम्, एकान्तोच्छेदपक्षे तु तत्कथमिति चेत्, मा त्वरस्व, सावधानीभूय तदुपाकर्णय, सर्वेषां वस्तूनामुत्पत्त्यनन्तरनिरन्वयध्वंसलक्षणैकान्तोच्छेदे संसारो न सम्भवति, एकगतेर्गत्यन्तरगमनस्यैकभावाद् भावान्तरावाप्तेर्वा पूर्वापरतद्गतिषु पूर्वापरतत्क्षणेषु चाऽनुयायिधर्मिणमन्तरेणायोगात् । न च सभागविसभागप्रवृत्तिविज्ञानसन्तानोपादानालयविज्ञानसन्तानलक्षणस्यात्मनः स स्यादेवेति वाच्यम्, तस्यापि काल्पनिकत्वात्, पारमार्थिकत्वे वा नामान्तरेणाऽऽत्मैवाभ्युपगतस्स्यादित्येकान्तोच्छेदवादाभाव एव स्यात् । यद्वैकान्तोच्छेदपक्षे हिंस्यहिंसकभावस्याहिंस्याहिंसकभावस्य वाऽभावेन पुण्यपापयोरप्यभावात्तत्प्रयुक्तजन्माभावेन संसारो न सम्भवति, तथाहि—हिंस्यहिंसकयोस्स्थैर्य एवायं हिंस्य अयं चायं हिंसक इति स्यात्, स्वरसत एव निरन्वयक्षणध्वंसित्वे च कस्य केन हिंसा कृता स्यात्, कस्योपरि केन दया च कृता स्यात्, न च विसभागक्षणोत्पत्तिरेव हिंसेत्यपि वाच्यम्, सुगतस्याविच्छिन्नाऽक्लिष्टज्ञानसन्तानक्षणरूपत्वेन सन्तन्यमानतज्ज्ञानक्षणस्याप्यव्यवहितपूर्ववर्त्तित्वेन प्राक्तनव्याधक्षण इव तस्मिन्नपि मृगीयविसभागक्षणोत्पत्तिनिमित्तत्वस्याविशेषवत्सत्त्वेन व्याधवद्बुद्धस्यापि मृगघातकत्वापत्तेः, न च विसभागक्षणजननानुकूलाध्यवसायवत्त्वमेव हिंसेति बुद्धस्य तादृशाध्यवसायाभावेन नोक्तातिप्रसङ्ग इति वाच्यम्, यो नरो मृत्वा नर एव भविता तद्धिंसायामव्याप्तेः, पूर्वापरनरक्षणस्य नरत्वेन सादृश्यात्, विसभागक्षणोत्पत्तेरेव तत्राभावेन तदनुकूलाध्यवसायाऽभावात् तत्पुरुषघातकस्याघातकत्वं स्यात् । न च विसभागक्षणजननत्वावच्छिन्नविषयताकाध्यवसायवत्त्वं सा, यः प्रेत्य नर एव भविता तद्घातकपुरुषस्याऽयं नरो म्रियतामितीच्छाया विसभागक्षणजननत्वानवच्छिन्नविषयताकत्वेन तादृशेच्छालक्षणाध्यवसायवत्त्वमस्तीति नोक्ताव्याप्तिरिति वाच्यम्, रूपपरावृत्तिर्भवत्विरत्याकारकरूपपरावर्त्तनादिक्रियाऽध्यवसायेऽतिव्याप्तेः, न च तत्सन्तानत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकविसभागताशालिसन्तानान्तरोत्पत्तिक्षणजननत्वावच्छिन्नविषयताशाल्यध्यवसायवत्त्वं सा, तथा च रूपपरावृत्तिर्भवत्विनीच्छायां रूपान्तरोत्पत्त्या पूर्वसन्तानव्यक्तेरुत्तरसन्तानव्यक्ते

मेदेऽपि तदुभयव्यक्तौ तत्सन्तानत्वमनुगतमेवेति तत्र न तत्सन्तानत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक भेदवत्सन्तानान्तःपातिव्यक्तिरूपत्वमिति विजातीयक्षणोत्पत्तिविषयताकाध्यवसायाभावान्ना तिव्याप्तिरित्यपि वाच्यम्, इतो नरत्वं विहाय देवो भूयासमित्याद्याकारे दानदयाद्यध्यव सायेऽतिप्रसङ्गात्, न च क्लिष्टाध्यवसाय एव क्लिष्टकर्मक्षणहेतुत्वाद्धिंसा, अत एव मृगमव्या पादयन्नपि मृगं हन्मीति सक्लेशपरिणतः पापेन बध्यत इत्युक्तलक्षणघटकाध्यवसाये क्लिष्ट- त्वविशेषणान्नोक्तातिव्याप्तिरिति वाच्यम्, हिंसाविषयत्वातिरिक्तस्य क्लिष्टत्वस्य दुर्वचत्वे नात्माश्रयात्, सन्तानादेः सांवृतत्वेन पारमार्थिकस्याध्यवसायस्यैव चासिद्धेः, आहार्यस्य च हिंसाहिंसाद्यध्यवसायस्य व्यवहारनिमित्तत्वेन कल्पितस्य सर्वलोकविगर्हितत्वेनोपहा सपात्रतायाः पारमर्षे निस्तरेण प्रतिपादितत्वात्, यत्राह न हन्मीत्यध्यवसायवतः पुंसो विवेकिनोऽनुपयोगवशाद् या हिंसा सञ्जाता तत्र तत्पुरुषस्य क्लिष्टाध्यवसायो नेति प्रमाद शीलतत्कृतहिंसायामव्याप्तेश्च न किञ्चिदेतदिति दिक् ॥ १७ ॥

एकान्तनित्यपक्षे एकान्ताऽनित्यपक्षे चान्यदूषणानि प्रतिपादयितुमाह—

सुह-दुक्खसम्पओगो, ण जुज्जए णिच्चवायपक्खम्मि ।
एगंतुच्छेयम्मि य, सुह-दुक्खवियप्पणमजुत्तं ॥ १८ ॥

'णिच्चवायपक्खम्मि' नित्यवादपक्षे द्रव्यास्तिकनयाभ्युपगते 'सुह-दुक्खसम्पओगो ण जुज्जए' सुखम्-अनुकूलवेदनीयम्, अनुग्रहलक्षणं वा-अनुगृह्यतेऽनेनेत्यनुग्रहः, तल्लक्षणं तत्स्वभावमित्यर्थः । सुखं ह्यनुकूलस्वभावतया स्वविषयानुभवं कुर्वत्पुरुषमनुगृह्णाति । दुःखम्-उपघातलक्षणम्, उपहन्यतेऽनेनेत्युपघातस्तल्लक्षणं तत्स्वभावमित्यर्थः, दुःखमुपजातं प्रतिकूलस्वभावतया स्वात्मविषयमनुभवं कुर्वदात्मानमुपहन्ति, ताभ्यां सहात्मनः सम्प्रयोगः सम्बन्धो न युज्यते, न घटित महत, यद्वा सम्प्रयोगः सम्-सम्यक् समतो वा प्र-प्रकृष्टः योगः सम्बन्धः परमार्थभूतसम्बन्ध इति यावत्, न युज्यते न घटते, तथाहि—द्रव्यार्थि- कनयाभ्युपगते आत्मनो नित्यत्ववादपक्षे स्वाभिन्नगुणविशिष्टत्वमेवाऽऽत्मनः, न ह्यात्मा श्रिता आत्मद्रव्यभिन्ना गुणाः परमार्थभूताः, तन्मते गुणगुणिभावाभावात्, द्रव्यव्यति- रेकेण तेषामनुपलम्भात्, भिन्ना गुणा खल्वौपचारिकत्वेनासन्त एव, अत एवास्य मते चित्रे निम्नोन्नतप्रतीतिवत् द्रव्ये गुणप्रतीतिर्भ्रान्तैवाभ्युपगता, अत एव सामायिकमाश्रित्य—

"इच्छइ जं दव्वनओ, दव्वं तच्चमुवयारओ य गुणे ।
सामइअगुणविसिट्ठो, तो जीवो तस्स सामाइयं ॥ २६४४ ॥"

इति भाष्योक्तं सङ्गच्छते, एतद्द्रव्यार्थिकनयमतमपि न युक्तम्, यतस्तत्र यथा सामायिक- परिणामस्वभावानन्यत्वाज्जीव एव सामायिकमित्युक्तम्, तथैवात्मनस्सुखस्वभावत्वे तस्याऽ विचलितरूपत्वात् सदा सुखरूपतैवेति तस्य न दुःखसम्प्रयोगः, कदापि

जात तत्र तदपेक्षया हिंसकत्वं न स्यात् अन्यमुत्तरमरणोद्देश्यकव्यापारामावात् अन्यप्राणिनं मारयामीति सङ्कल्पाभावाच्च । तस्मात्प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसेत्येव लक्षणं युक्तमित्यात्मनो नित्यत्वेन विनाशाऽयोगेऽपि मनुष्यत्वप्राणसंयोगादितत्पर्यायस्यानित्यत्वेन तदुत्तरसानुकूलप्रमादयोगतत्प्रतिकूलाऽप्रमादयोगाभ्यामेव हिंसाऽहिंसे तज्जन्यपापपुण्ये तत्सम्बन्धनिखिलतद्वियोगलक्षणबन्धमोक्षौ च य एवाहं पूर्वं बद्धस्स एवाहमिदानीं मुक्त इति प्रत्यभिज्ञानादिप्रमाणसिद्धे कथञ्चिद्भिन्नाभिन्न आत्मनि सम्भवत इति स्याद्वादपक्ष एव सदमूलमास्तिक्यतरुर्भवतीति हिंसाऽहिंसादिरूपविरुद्धधर्मद्वयाधारकस्याप्यात्मनः कथञ्चिदनेकरूपतया मनुष्यादिपर्यायविनाशेन देवादिपर्यायमारगमनात्स्याद्वादपक्ष एव संसारसम्भवति, न तु शाश्वतव्यक्तित्वादिपक्ष इति सिद्धम् । ननु शाश्वतव्यक्तित्वादिपक्षे संसारो न सम्भवतीत्युक्तयुक्तैर्युक्तम्, एकान्तोच्छेदपक्षे तु तत्कथमिति चेत्, मा त्वरस्व, सावधानीभूय तदवधारणीय, सर्वेषां वस्तूनामुत्पत्त्यनन्तरनिरन्वयध्वंसलक्षणैकान्तोच्छेदे संसारो न सम्भवति, एकगतेर्गत्यन्तरगमनस्यैकस्याभावात् भावान्तरावाप्तेर्वा पूर्वापरतद्भावितु पूर्वापरतद्भावेषु चाऽनुयायिधर्मिणमन्तरेणायोगात् । न च सभागविसभागप्रवृत्तिविज्ञानसन्तानोपादानालयविज्ञानसन्तानलक्षणस्यात्मनः स स्यादेवेति वाच्यम्, तस्यापि काल्पनिकत्वात्, पारमार्थिकत्वे नामान्तरेणाऽऽत्मैवाभ्युपगतस्स्यादित्येकान्तोच्छेदवादाभाव एव स्यात् । यद्वैकान्तोच्छेदपक्षे हिंस्यहिंसकभावस्याहिंस्याहिंसकभावस्य चाऽभावेन पुण्यपापयोरप्यभावात्तत्प्रयुक्तजन्माभावेन संसारो न सम्भवति, तथाहि—हिंस्यहिंसकयोस्स्थैर्ये व्यवस्थाय हिंस्यः अस्य चाय हिंसक इति स्यात्, स्वरसत एव निरन्वयक्षणध्वंसित्वे च कस्य केन हिंसा कृता स्यात्, कस्योपरि केन दया च कृता स्यात्, न च विसभागक्षणोत्पत्तिरेव हिंसेत्यपि वाच्यम्, सुगतस्याविच्छिन्नाऽक्लिष्टज्ञानसन्तानक्षणरूपत्वेन सन्तन्यमानतज्ज्ञानक्षणस्याव्यवहितपूर्ववर्तित्वेन प्राक्तनव्याधक्षण इव तस्मिन्नपि मृगीयविसभागक्षणोत्पत्तिनिमित्तत्वस्याविशेषतस्सत्त्वेन व्याधवद्बुद्धस्यापि मृगघातकत्वापत्तेः, न च विसभागक्षणजननानुकूलाध्यवसायवत्त्वमेव हिंसेति बुद्धस्य तादृशाध्यवसायाभावेन नोक्तातिप्रसङ्ग इति वाच्यम्, यो नरो मृत्वा नर एव भविता तद्धिंसायामव्याप्तेः, पूर्वापरनरक्षणस्य नरत्वेन सौसादृश्यात्, विसभागक्षणोत्पत्तेरेव तत्राभावेन तदनुकूलाध्यवसायाऽभावात् तत्पुरुषघातकस्याघातकत्वं स्यात् । न च विसभागक्षणजननत्वावच्छिन्नविषयताकाध्यवसायवत्त्वं सा, यः प्रेत्य नर एव भविता तद्घातकपुरुषस्याऽयं नरो म्रियतामितीच्छाया विसभागक्षणजननत्वावच्छिन्नविषयताकत्वेन तादृशेच्छालक्षणाध्यवसायवत्त्वमस्तीति नोक्ताव्याप्तिरिति वाच्यम्, रूपपरावृत्तिर्भवत्वित्याधारकरूपपरावर्तनादिक्रियाऽध्यवसायेऽतिव्याप्तेः, न च तत्सन्तानत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकविसभागताशालिसन्तानान्तःपातिक्षणजननत्वावच्छिन्नविषयताशाल्यध्यवसायवत्त्वं सा, तथा च रूपपरावृत्तिर्भवत्वितीच्छायां रूपान्तरोत्पत्त्या पूर्वसन्तानव्यक्तेरुत्तरसन्तानव्यक्ते

भेदेऽपि तदुभयव्यक्तौ तत्सन्तानत्वमनुगतमेवेति तत्र न तत्सन्तानत्वावच्छिन्नप्रतियोगिकनाश मदवत्सन्तानात् पातिव्यक्तिरूपत्वमिति विजातीयक्षणोत्पत्तिविषयतावच्छेदकमायाभावाद् तिव्याप्तिरित्यपि वाच्यम्, इतो नरत्वं विहाय देवो भूयासमित्याकारे दानध्यानध्य सायेऽतिप्रसङ्गात्, न च हिंसाध्यवसाय एव हिंसककर्मबन्धहेतुत्वाद्धिंसा, अत एव मृगमप्य पादयन्नपि मृगं हन्मीति सङ्कल्पपरिणतः पापेन बध्यत इत्युक्तलक्षणघटकाध्यवसाय हिंस स्वविशेषणाचोक्तातिव्याप्तिरिति वाच्यम्, हिंसाविषयत्वातिरिक्तस्य हिंसकस्य दुर्वचत्वे नात्माश्रयात्, सन्तानाद् सापेक्षत्वेन पारमार्थिकस्याध्यवसायस्यैव चाभिद्धेः, आहार्यस्य च हिंसाहिंसाध्यवसायस्य व्यवहारनिमित्तत्वेन कल्पितस्य सर्वतोऽविशिष्टस्यैनोत्पा सपात्रतायाः पारमर्षे विस्तरेण प्रतिपादितत्वात्, यत्राह न हन्मीत्यध्यवसायवतः पुंसो विवक्तिनोऽनुपयोगवशाद् या हिंसा सञ्जाता तत्र तत्पुरुषस्य हिंसाध्यवसायो नेति प्रमाद शीलवत्कृतहिंसायामप्यात्मैश्च न किञ्चिदवतदिति दिक् ॥ १७ ॥

एकान्तनित्यपक्षे एकान्ताऽनित्यपक्षे चान्यदूषणानि प्रतिपादयितुमाह—

> सुह-दुक्खसम्पओगो, ण जुज्जए णिच्चवायपक्खम्मि ।
> एगन्तुच्छेयम्मि य, सुह-दुक्खवियप्पणमजुत्तं ॥ १८ ॥

'णिच्चवायपक्खम्मि' नित्यवादपक्षे द्रव्यास्तिकनयाभ्युपगते 'सुह-दुक्खसम्पओगो ण जुज्जए' सुखम्-अनुकूलवेदनीयम्, अनुग्रहलक्षणं वा-अनुगृह्यतेऽनेनेत्यनुग्रहः, तल्लक्षण तत्स्वभावमित्यर्थः । सुखं ह्यनुकूलस्वभावतया स्वविषयानुभवं कुर्वत्पुरुषमनुगृह्णाति । दुःखम्-उपघातलक्षणम्, उपहन्यतेऽनेनेत्युपघातस्तल्लक्षणं तत्स्वभावमित्यर्थः, दुःखं ह्यन प्रतिकूलस्वभावतया स्वात्मविषयमनुभवं कुर्वदात्मानमुपहन्ति, ताभ्यां सहात्मनः सम्प्रयोग स्सम्बन्धो न युज्यते, न घटते, यद्वा सम्प्रयोगः सम्-सम्यक् संगतो वा प्र-प्रकृष्टः योग सम्बन्धः परमार्थभूतसम्बन्ध इति यावत्, न युज्यते न घटते, तथाहि—द्रव्यार्थि कनयाभ्युपगत आत्मनो नित्यत्ववादपक्षे स्वाभिन्नगुणविशिष्टस्वभावाऽऽत्मनः, न ह्यात्मा भिन्ना आत्मद्रव्यभिन्ना गुणाः परमार्थभूताः, तन्मते गुणगुणिभावाभावात्, द्रव्यव्यति रेकेण तेषामनुपलम्भात्, भिन्ना गुणा खल्वौपचारिकत्वेनाभ्युपगन्तव्या एव, अत एवास्य मते चित्रे निम्नोन्नतप्रतीतिवत् द्रव्ये गुणप्रतीतिर्भ्रान्तैवाभ्युपगता, अत एव सामायिकमाश्रित्य—

> "इच्छइ जं दव्वनओ, दव्वं तप्पमुवयारओ य गुणे ।
> सामइअगुणविसिट्ठो, तो जीवो तस्स सामाइयं ॥ २६४४ ॥"

इति भाष्योक्तं सङ्गच्छते, एतद्द्रव्यार्थिकनयमतमपि न युक्तम्, यतस्तत्र यथा सामायिक परिणामस्वभावात्मत्वाज्जीव एव सामायिकमित्युक्तम्, तथैवात्मनस्सुखस्वभावत्वे तस्याऽ विचलितरूपत्वात् सदा सुखरूपतैवेति तस्य न दुःखसम्प्रयोगः, कदापि दुःखस्यानुभवः ।

दुःखस्वभावत्वे तद्रूपतैव स्यात् नित्यत्वस्वभावत्वादेवेति न सुखसम्प्रयोगः, कस्मिंश्चिदपि काले सुखस्यानुपपत्तेः। कदाचित्सुखस्वभावः कदाचिच्च दुःखस्वभाव इत्यभ्युपगमे तु यद्वा स्थूलैककालावच्छिन्नसुखदुःखोभयस्वभाव आत्मेत्यभ्युपगमे तु तस्याऽनित्यत्वं स्यात्, विरुद्धस्वभावशालित्वेन भेदादिति। ननु द्रव्यार्थिकनयान्तरभेदरूपनैगमनये गुणगुणिनोर्भेदमभ्युपगन्तरि द्रव्यस्य गुणादिसमवायिकारणत्वात् सुखस्यानुकूलवेदनीयत्वेन स्रक्चन्दनवनिताद्यनुकूलविषयजन्यसुखकाले आत्मनस्सुखसम्प्रयोगः, दुःखस्य च प्रतिकूलवेदनीयत्वेनाहिकण्टकादिप्रतिकूलविषयजन्यदुःखकाले तस्य दुःखसम्प्रयोगश्च युज्यत एवेति चेत्, मैवम्, न हि पूर्वं निर्गुणं द्रव्यमुत्पद्यते पश्चात्तेन तत्र गुणोत्पत्तिरित्यनुभूयते, येनोक्तलक्षणसिद्धिस्स्यात्, समवायसम्बन्धस्यासिद्धेश्च न समवायसम्बन्धावच्छिन्नकार्यतानिरूपिततादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नकारणत्वलक्षणं समवायिकारणत्वं सम्भवति, समवायासिद्धिश्च तत्साधकप्रमाणाभावात्, न च प्रत्यक्षं समवायसाधकम्, सम्बन्धप्रत्यक्षे यावत्सम्बन्धिप्रत्यक्षस्य कारणत्वेन परमाण्वादीनामतीन्द्रियाणामपि यावत्सम्बन्ध्यन्तर्गतत्वेन तत्प्रत्यक्षाभावात् समवायस्यापि प्रत्यक्षाऽसम्भवात्, अत एव समवायो न प्रत्यक्ष इति वैशेषिकस्याप्यभ्युपगमः। नाप्यनुमानं समवायसाधकम्, समवायस्याऽप्रत्यक्षे तेन सह कस्यचिद्धेतोर्व्याप्तिग्रहणाऽसम्भवेन तत्प्रमवानुमानाऽसम्भवात्। न च सामान्यतो दृष्टानुमानं तत्साधकम्, तथाहि—गुणक्रियादिविशिष्टबुद्धिः विशेषणविशेष्यसम्बन्धविषया विशिष्टबुद्धित्वात् दण्डी पुरुष इति विशिष्टबुद्धिवत्, अनेन संयोगादिबाधात्समवायसिद्धिरिति वाच्यम्, अतिरिक्तसमवायकल्पनापेक्षया क्लृप्तस्यैव प्रतियोग्यनुयोगिस्वरूपस्य सम्बन्धतया कल्पनाया लाघवात्तत्र निरुक्तविशिष्टबुद्धिविषयत्वकल्पनौचित्यात्, धर्मिकल्पनातो धर्मकल्पनाया लघीयस्त्वात्। न चानेकेषु स्वरूपेषु सम्बन्धत्वकल्पनापेक्षयाऽतिरिक्तसमवायसम्बन्धकल्पने लाघवमिति वाच्यम्, अतिरिक्तसमवाये समवायत्वं क्लृप्तपदार्थभेदः, तद्भेदश्च क्लृप्तपदार्थेषु नित्यत्वादिधर्मसम्बन्धश्च तस्य कल्पनीय इत्यत्र पर्यालोचनया तत्रैव गौरवस्य स्पष्टत्वात्। एवं जातेरेकस्या व्यक्तिषु विशिष्टबुद्धौ जातिस्वरूपस्यैकस्यैव सम्बन्धत्वेन मानकल्पने लाघवमिति न जातेर्व्यक्तिषु भवद्युक्त्याऽपि समवायसिद्धिः। तथा च समवायाऽभावेन तद्घटितसुखदुःखसमवायिकारणत्वस्याऽप्यात्मनोऽभावान्नोक्तं युक्तमिति।

एतेन—"प्रकृत्युपधानतः पुरुषस्य सुखदुःखे स्तः।
स्फटिके रक्तत्वादिवद् बुद्धिप्रतिबिम्बाद्वाऽन्ये ॥१॥" इति ॥

साङ्ख्यमतमपि निरस्तम्, उपधानसन्निधानेऽप्यन्योपले रक्तादि यथा न भवति तथाऽऽत्मनः परमार्थवृत्त्या सुखदुःखपरिणतिमन्तरेणोपधानसन्निधानेऽपि सुखदुःखरूपता न स्यात्, तदभ्युपगमे चाऽनित्यसुखदुःखाऽभिन्नतयाऽऽत्मनोऽप्यनित्यत्वापत्त्या आत्मैकान्त

नित्यत्वस्य स्वाभ्युपगतस्य क्षतिः, ननु श्वेतस्वच्छस्फटिके रक्ततायाः अभावेऽपि जपाकुसुमोपाधिसन्निधानेन रक्ततावदात्मनि सुखदुःखरूपताया अभावेऽपि प्रकृत्युपाधिवशात् सा स्यादिति चेत्, तर्हि तद्रूपता काल्पनिकी स्यात्, न तु तत्त्वभूतेति। बुद्धिप्रतिबिम्बपक्षेऽप्यविचलितस्यात्मनः सर्वदैकरूपत्वस्वभावत्वात् सर्वदैकरूपप्रतिबिम्बापत्तेः, स्वभावभेदाभ्युपगमे चानित्यत्वप्रसङ्ग इति। तथा च सुखदुःखसम्प्रयोग आत्मनीच्छता सुखरूपेण परिणामे सति परिणामपरिणामिनोः कथञ्चिदभेदात्कथञ्चित् सुखात्मक एवात्मेत्यभ्युपगन्तव्यम्, एवं दुःखपरिणामेऽपीति परिणामभेदेन तद्विशिष्टस्यापि भेदेन स्वरूपतोऽभिन्नस्याप्यात्मनो भेद इति कथञ्चिद्भेदाभेदवाद एव प्रमाणमार्गं भजत इति। तथा 'एगन्तुच्छेयम्मि य' एकान्तेन-सर्वथा 'उत्'-प्राबल्येन छेदे विनाशे, निरन्वयनाशपक्षे इति यावत्, चकारात् "सुहदुक्खसंपओगो न जुज्जइ" इत्यनेनास्य सम्बन्धः। एकान्तोच्छेदवादः पर्यायार्थिकनयेनाभ्युपगतः, तथाहि-तन्मते पर्याय एवार्थः परमार्थभूतः, न तु पर्यायेभ्यो व्यतिरिक्तं द्रव्यम्, तस्य पूर्वापरपर्यायेषूपचाराद्व्यवह्रियमाणत्वात्, यस्माद् जीवस्य गुण इत्यभेदार्थकषष्ठीतत्पुरुषसमासः सोऽभिमतः, न चोत्तरपदार्थप्रधानः, यथा तैलस्य धारा तैलधारा राहोः शिरः राहुशिरः, न चात्र धारातिरिक्तं किमपि तैलमस्ति, न च शिरोऽतिरिक्तो राहुरस्ति, एवं ज्ञानसुखादिगुणातिरिक्तं जीवद्रव्यमपि नास्ति। तदुक्तं भाष्ये सामायिकगुणमाश्रित्य —

"पज्जाओ च्चिअ वत्थु, सच्च दव्व च तदुवयाराओ।
पज्जवणयस्स जम्हा, सामइअ तेण पज्जाओ॥ २६४५॥" इति।

तथा च यथा सर्वप्रमाणैर्ग्रहणाभावात् रूपरसगन्धस्पर्शेभ्यो भिन्नो घटो नास्ति तथैकान्तोच्छेदपक्षे उत्पादव्ययशालित्वेन प्रतिक्षणभिन्नेभ्यो ज्ञानसुखदुःखादिभ्यो भिन्नः स्थिर आत्मैव नास्तीति कस्य सुखदुःखसम्प्रयोगः। न ह्यविद्यमाने गगनारविन्दे घटसम्बन्धः सम्भवतीति। तथा पक्षद्वयेऽपि 'सुह-दुक्खवियप्पणमजुत्तं' सुखदुःखविकल्पनम्, सुखञ्च दुःखञ्च सुखदुःखे तयोर्विकल्पनम् विशिष्टं कल्पनम् यतनम्, 'क्लृप् सामर्थ्ये' इति वचनात् सामर्थ्यार्थकस्यापि क्लृप्धातोरत्र यतनार्थकत्वात् धातूनामनेकार्थत्वात्, सुखदुःखविषयकं विशिष्टं यतनमिति समस्तार्थः, तच्च यतनं सुखे तदुपादानाय, दुःखे तु तत्परिहाराय बोध्यम्, सुखोपादानदुःखपरित्यागरूपनिमित्तमन्तरेण सुखदुःखविषयकयत्नस्य कस्यापि सचेतनस्याभावात् सुखदुःखविकल्पनम् अयुक्तम् अघटमानकम्। यतो नित्यवादपक्षे आत्मा सुखस्वभावो यदि तदा तत्स्वभावस्य कदाचित्सत्त्वं क्वाचित्काऽसत्त्वमित्यभ्युपगमेऽनित्यत्वप्रसक्त्या नित्यपक्षः परित्यक्तः स्यादिति सर्वदा

तत्स्वभावस्य सद्भावात् सुखमुद्दिश्य तत्साधनोपादानानुकूलप्रवृत्तिरयुक्ता, को हि सुधीर्विद्यमानमेव पदार्थं विज्ञाय तत्साधनोपादानार्थं प्रवर्त्तेत ? दुःखस्वभावो यदि तदा तत्स्वभावस्य पूर्वमुक्तसद्भावाद् दुःखवियोगार्थं दुःखसाधनपरिहारानुकूलप्रवृत्तिरयुक्ता, को हि सुधीर्दुःखसद्भावं विज्ञाय दुःखवियोगार्थं तत्साधनपरिहाराय प्रवर्त्तेत ? । एकान्तोच्छेदपक्षेऽपि सुखस्योत्पादव्ययशालित्वेन प्रतिक्षणभिन्नतया कः क्षणिकसुखार्थं तत्साधनमुपाददीत, किञ्च यस्सुखसाधनोपादाता सोऽन्य एव, सुखभोक्ता चान्य एवेति जानन् कस्सुखसाधनार्थं प्रयतेत, अथ तत्सन्तानैक्यमिति चेत्, तदपि न युक्तम्, एकान्तोच्छेदपक्षे सन्तानस्यापि काल्पनिकत्वात् । दुःखमपि क्षणिकत्वेन स्वरसत एव विनाशशीलमिति जानन् तद्वियोगार्थं तत्साधनपरित्यागोद्यमं कः कुर्यादिति ॥ १८ ॥

अथ दुःखरूपे दुःखफले दुःखानुबन्धिनि विडम्बनारूपे दीर्घाध्वेऽनवदग्रे नरकादिगति-विभागेन चतुर्विभागे संसारचक्रे अरहट्टघटीयन्त्रन्यायेन महाशैलूषोपमकर्मवशेनैव पर्यटत् पर्यटति पर्यटिष्यति चात्मा, नानाविधगतिपर्यटनकारणीभूतनानाविधकर्म च योगाख्यतन्निमित्तमालम्ब्यैव तत्तत्परिणतिशीलात्मनैव बध्यते, कर्मणा च कार्मणकाययोगाद्याहृतौदारिकादिपुद्गलैश्शरीरं निर्वर्त्यते, तद्द्वारा च साताऽसातावेदनीयकर्मोदयवशात्परात्मा सुखदुःखान्यनुभवतीत्यात्मसुखदुःखोपभोगसाधनशरीरेण महात्मनो दुग्धपानीयसम्बन्धवत् तप्तायोगोलकाग्निसम्बन्धवद्वा योऽन्योन्यानुगमात्मकस्सम्बन्धस्तद्धेतुभूतकर्मनिमित्तयोगकषायाणामसम्भवमेकान्तनित्यात्मपक्षे एकान्तोच्छिन्नात्मपक्षे च प्रदर्शयितुमाह—

कम्मं जोगनिमित्तं, बज्झइ बंध-ट्ठिई कसायवसा ।
अपरिणउच्छिण्णेसु य, बंधट्ठिइकारणं नत्थि ॥ १९ ॥

प्रकृतिबन्धप्रदेशबन्धोभयात्मकं कर्म मनोयोगवचोयोगकाययोगरूपनिमित्तमासाद्य बध्यते, स्थितिबन्धरसबन्धोभयं च कषायवशाद्भवति, न चैतदुभयमेकान्तापरिणतवादे द्रव्यार्थिकनयाभ्युपगते एकान्तोच्छिन्नवादे च पर्यायार्थिकनयाभ्युपगते सङ्गच्छते, कर्मबन्धतत्स्थितिकारणाभावादिति सङ्क्षिप्तार्थः । अवयवार्थस्त्वेवं—“कम्मं जोगनिमित्तं बज्झइ” कर्म योगनिमित्तं बध्यते, नन्वनेन योगस्य कर्मबन्धं प्रति निमित्तत्वमुक्तं भवति, तच्च न सङ्गतम्, मिथ्यादर्शना-विरति-प्रमाद-कषाय-योगा बन्धहेतवः ८-१ । इति तत्त्वार्थसूत्रेण मिथ्यात्वाविरत्यादीनामपि कर्मबन्धहेतुत्वाऽभिधानादिति चेत्, सत्यम्, न च युक्तम्, भावाऽनवबोधात्, तथाहि—“एषां मिथ्यादर्शनादीनां बन्धहेतूनां पूर्वस्मिन् पूर्वस्मिन् सति नियतमुत्तरेषां भावः । उत्तरोत्तरभावे तु पूर्वेषामनियमः” इत्युक्तस्वभाष्य एव प्रोक्तम्, तथा च यस्य येन सहान्वयव्यतिरेकौ भवतस्तत्तस्य कारणमिति कार्यकारणभावग्रहोऽन्वयव्यतिरेकग्रहतो भवतीति मिथ्यादर्शनस्याविरतेश्च प्रमा-

दस्य च कषायस्य च तत्तद्गुणस्थानकेषु सत्त्वे कर्मबन्धसत्त्वमित्यन्वयसद्भावेऽपि मिथ्यादर्शनाभावेऽपि द्वितीयादिपञ्चमगुणस्थानक यावदविरत्यादिभिः, अविरत्य भावेऽपि च षष्ठगुणस्थानके प्रमादादिभिः, प्रमादाभावेऽपि च सप्तमादिगुणस्थानकेषु कषाययोगाभ्यां, कषायाभावेऽपि चैकादशादित्रयोदशान्तगुणस्थानकेषु योगमात्रतः कर्मबन्धस्य सद्भावेन व्यतिरेकस्याभावादेव तद्ग्रहाभावेन मिथ्यादर्शनादीनां कर्मबन्धनियतकारणत्वग्रहो न भवति, योगस्य सद्भावे कर्मबन्धस्त्रयोदशगुणस्थानकान्त यावदवश्यभावी, योगाऽभावे चाऽयोगिगुणस्थानके कर्मबन्धाभाव इत्येवमन्वयव्यतिरेकग्रहाद् योगस्य च कर्मबन्धनियतकारणत्वग्रहो भवतीति नियमेन योग एव सर्वत्र कर्मबन्धकारणम्। अत एव—

"कम्मं जोगनिमित्तं, सुभोऽसुभो वा स एगसमयम्मि।
होज्ज न उ उभयरूवो, कम्मपि तओ तयणुरूवं ॥ १९३५ ॥"

इति विशेषावश्यकभाष्यगाथाटीकायां "मिथ्यात्वा-विरति-प्रमाद-कषाय-योगा बन्धहेतवः" इति पर्यन्ते योगाभिधानात्सर्वत्र कर्मबन्धहेतुत्वस्य योगाऽविनाभावाद् योगानामेव बन्धहेतुत्वमिति "कर्म योगनिमित्तमुच्यते" इत्युक्तं सङ्गच्छते। तथा च सिद्धमेतद् योगः कर्मबन्धकारणमिति। क्रियते विधीयते अञ्जनचूर्णपूर्णसमुद्गकवन्निरन्तरपुद्गलनिचिते लोके क्षीरनीरन्यायेन तप्तवह्न्यःपिण्डवद्वा यत्कर्मवर्गणाद्रव्यं स्वात्मसम्बद्धं जीवेन तत्कर्म, कर्मपदमत्र प्रकृतिबन्धप्रदेशबन्धपरम्, "जोगा पयडिपएसं" इति वचनात्, तदात्मकं तद् योगनिमित्तम्—

"जोगो विरियं थामो, उच्छाह परक्कमो तहा चिट्ठा।
सत्ती सामत्थं चिय, जोगस्स हवंति पज्जाया ॥ १ ॥"

इति वचनाद्वीर्यापरपर्यायो योगो मनोयोगो वाग्योगः काययोग इति भेदेन त्रिविधः, स निमित्तं हेतुर्यस्य तद्योगनिमित्तं बध्यते आदीयते। अयम्भावः—

"एगपएसोगाढं, सव्वपएसेहिं कम्मुणो जोग्गं।
बंधइ जहुत्तहेउं, साइयमणाइयं वा वि ॥ १ ॥"

इत्युक्तेः आत्मा येष्वाकाशप्रदेशेष्ववगाढस्तदवगाढैकसमयबन्धनीयानन्तपुद्गलस्कन्धात्मककर्म योगनिमित्तेन स्वीयसर्वप्रदेशैः न तु कतिपयप्रदेशैर्बध्नाति। यदाह—

"कृत्स्नैर्देशैः स्वकदे-शस्थं रागादिपरिणतो योग्यम्।
बध्नाति योगहेतोः, कर्म स्नेहाक्त इव च मलम् ॥ १ ॥" इति।

तथाहि—हस्तादिप्रत्येकावयवावच्छेदेनात्मना शुभाशुभक्रियाकरणेऽपि न तद्द्वारा

हस्ताद्यवच्छिन्नात्मप्रदेशैरेवात्मा कर्मयोग्यपुद्गलान् कर्मवर्गणागतानगृह्णाति, किन्तु सर्वप्रदेशैरेव, शृङ्खलाबद्धन्यायेन पद्मनालतन्तुवद्वा सर्वात्मप्रदेशानां मिथस्सम्बन्धसद्भावात्, हस्ताद्यवच्छिन्नात्मप्रदेशानां प्राधान्येन व्यापारेऽपि तदितरप्रदेशानामपि गौणवृत्त्या व्यापार भावात्, अत एवात्मैव स्वकृतकर्मणा संसरति मुच्यते च। एतेन "तस्माद्-न बध्यते नाऽपि मुच्यते नाऽपि संसरति कश्चित्। संसरति बध्यते मु-च्यते च नानाश्रया प्रकृतिः" ॥ १ ॥[1] इति साङ्ख्यमतमपि निरस्तम्। "बंधट्ठिई कसायवसा" बन्धस्थितिः कषायवशात्, बध्यत इति बन्धः, कर्मेत्, तस्य स्थितिः कालान्तरफलदातृत्वेनात्मन्यवस्थितिः, स्थितिपदेनात्र रसबन्धाविनाभावित्वेन स्थितिबन्धस्य रसबन्धस्थितिबन्धौ ग्राह्यौ, तथा च तदुभयं कषाय वशात् कषायाः क्रोधमानमायालोभाख्यास्तदुदयजनितो जीवस्याध्यवसायविशेषः कषाय शब्देनहोच्यते, तद्वशात् तत्सामर्थ्यात् भवतीति शेषः, यदुक्तम्—'ठिइअणुभागं कसायाओ त्ति'। अत एवान्यत्रापि "मिथ्यात्वाविरतिकारणद्वयाऽभावेऽपि कषायसद्भावात् प्रमत्ता दिषु स्थित्यनुभागबन्धौ भवतः, कषायाभावे तूपशान्तमोहादिषु न भवत इतीहान्वय व्यतिरेकाभ्यां ज्ञायते कषाया एव स्थित्यनुभागबन्धयोः प्रधानं कारणम्" इत्युक्त सङ्गच्छते। ननु कर्म सिद्धं स्याच्चदेतदुपपन्नं स्यात्, न चाद्यापि तत्सिद्धम्, यतस्तदत्यती न्द्रियत्वान्न तत्साधकं प्रत्यक्षप्रमाणं विद्यते, नाप्यनुमानं तत्साधकम्, तस्य प्रत्यक्षा गोचरत्वात्तेन सह कस्यचिद्धेतोर्व्याप्तिग्रहणासम्भवेन तत्प्रभवानुमानासम्भवादिति चेत्, नैवम्, कर्मणि सुखदुःखहेतौ परस्याप्यविप्रतिपत्ते, तथाहि-पौराणिका अपि कर्मसिद्धिं प्रतिपद्यन्ते। तथा च ते प्राहुः—

"यथा यथा पूर्वकृतस्य कर्मणः, फलं निधानस्थमिवावतिष्ठते।
तथा तथा तत्प्रतिपादनोद्यता, प्रदीपहस्तेव मतिः प्रवर्त्तते ॥ १ ॥

यच्च पुराकृतं कर्म, न स्मरन्तीह मानवाः।
तदिदं पाण्डवज्येष्ठ! दैवमित्यभिधीयते ॥ २ ॥

मुदितान्यपि मित्राणि, सुक्रुद्धाश्चैव शत्रवः।
न हीमे तत्करिष्यन्ति, यन्न पूर्वं कृतं त्वया ॥ ३ ॥"

बौद्धा अप्याहुः—

"इत एकनवते कल्पे, शक्त्या मे पुरुषो हतः।
तेन कर्मविपाकेन, पादे विद्धोऽस्मि भिक्षवः ॥ ४ ॥" इति

तथापि चेत् कोऽपि परो विप्रतिपद्येत तदा तत्साधकमनुमानप्रमाणं प्रदर्श्यते, तथाहि-स्वपरावभासिज्ञानैकस्वभावस्यात्मनो हीनगर्भस्थानशरीरविपर्येषु विशिष्टाभिरतिः, आरम

शरीरोभयव्यतिरिक्तकारणपूर्विका विशिष्टाभिरतित्वात् कुत्सितपरपुरुषे कमनीयकुलकामिन्या स्तन्त्रौषधमन्त्राद्युपयोगजनितविशिष्टाभिरतिवत्, तथा भवभृतां मोहोदयः शरीरादिव्यतिरिक्तसम्बन्ध्यन्तरपूर्वको मोहोदयत्वात्, मदिराद्युपयोगमत्तस्यात्मगृहादौ मोहोदयवत्, यच्च तद्व्यतिरिक्तं तच्च कर्मेति सिद्ध्यति परिशेषानुमानेन, परिशेषानुमानञ्चात्र स्वपरावभासिज्ञानैकस्वभावस्यात्मनो हीनगर्भस्थानशरीरविषयेषु विशिष्टाभिरतेरसाधारणकारणमदृष्टं कर्मैव भवति आत्मशरीरादिदृष्टासाधारणकारणाजन्यविशिष्टाभिरतिकारणत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथाऽऽत्मादि, तथा भवभृतां मोहोदयस्यासाधारणकारणमदृष्टं कर्मैव भवति शरीरादिदृष्टसम्बन्ध्यात्मकासाधारणकारणाजन्यमोहोदयकारणत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा शरीरादीति, ननु भवत्वनेन सामान्यत आत्मसम्बन्धिनः कर्मणस्सिद्धिः, तस्य पौद्गलिकत्वसाधने किं मानमिति चेत्, उच्यते, तत्साधकं सामान्यतो दृष्टानुमानमस्त्येव, तथाहि— स्वपरज्ञस्वभावस्यात्मनो हीनमातृगर्भस्थानप्रवेशः स्वातिरिक्तद्रव्यसम्बन्धपूर्वकः पुरुषान्तराऽप्रयोज्यत्वे सति हीनस्थानप्रवेशत्वात्, मदिरोन्मादोन्मत्तपुरुषस्याशुचिस्थानप्रवेशवदित्यनुमानेन तथा जगदन्तर्गताशेषपर्यायविशिष्टाऽपरिशेषद्रव्यग्रहणक्षमज्ञाननिष्ठस्वविषयाग्राहकत्वं विशिष्टद्रव्यसम्बन्धपूर्वकं तद्व्यतिरेकेणानुपपद्यमानस्वविषयाग्राहकत्वत्वात् तदभावप्रयुक्ताभावप्रतियोगित्वाच्च, पीतमद्यादिपुरुषज्ञाननिष्ठस्वविषयाऽग्राहकत्ववदित्यनुमानेन विशिष्टद्रव्यसम्बन्धपूर्वकत्वसिद्धौ धूमहेतोः पर्वते वह्नित्वेन वह्निसिद्धौ महानसीयादिवह्निबाधात्पक्षधर्मताबलाद्वा पर्वतीयवह्निसिद्धिवत्प्रकृतेऽन्यद्रव्यस्य बाधात्पक्षधर्मताबलाद्वा द्रव्यविशेषस्यैव सिद्धिः, ॥ एव च कर्मसञ्ज्ञां भजते इति ।

ननु कर्मणो द्रव्यविशेषरूपत्वसाधनं न युक्तम्, तस्यादृष्टापरसञ्ज्ञकस्यात्मगुणत्वादिति चेत्, मैवम्, तथा सति कर्मण आत्मपारतन्त्र्यनिमित्तत्वं न स्यात्, यो हि यस्य गुणः स न तस्य पारतन्त्र्यहेतुः, यथा रूपादिः पृथिव्यादेः, आत्मगुणश्च धर्माधर्मसञ्ज्ञकं कर्माभ्युपगम्यते परैरिति न तदात्मनः पारतन्त्र्यनिमित्तं स्यादिति प्रसङ्गः, आत्मनः पारतन्त्र्यनिमित्तञ्च कर्म, तस्मान्न तद्गुण इति विपर्ययः । नन्वात्मनः पारतन्त्र्ये किं मानमिति चेत्, उच्यते, परतन्त्रोऽसौ हीनस्थानपरिग्रहवत्त्वात्, यथा पीतमदिरोन्मत्तपुरुषोऽशुचिस्थानपरिग्रहवानिति परतन्त्रस्तथाऽयमात्माऽपीत्यनुमानमेव मानम् । शरीरस्य हीनस्थानत्वं तु कारागारवदात्मनो दुःखहेतुत्वाद् ज्ञेयम्, संसार्यात्मनश्च तत्परिग्रहवत्त्वं सुप्रतीतमेवेति नासिद्धो हेतुः, कर्मणः पारतन्त्र्यनिमित्तत्वे सिद्धे कर्म पौद्गलिकम्, आत्मनः पारतन्त्र्यनिमित्तत्वात्, निगडादिवदित्यनुमानं प्रभवति पौद्गलिकत्वसाधनाय, कर्मणोऽमूर्तत्वे हि कर्मणः सकाशादात्मनोऽनुग्रहोपघातौ न स्याताम्, आकाशवत्, उक्तयुक्त्या सिद्धं च पौद्गलिकत्वं कर्म द्रव्यात्मकमेव, न त्वात्मीयादृष्टगुणाख्यमिति सिद्धम् । नित्यत्वेनैकान्तवादिकल्पितात्मपक्षे

प्रतिक्षणविनश्वरात्मपक्षे च योगनिमित्तककर्मबन्धः कषायहेतुकबन्धस्थितिरित्युभयासम्भवे हेतुमुपदर्शयितुमुत्तरार्द्धमाह-'अपरिणउच्छिण्णेसु य बंधट्ठिइकारणं नत्थि' अपरिणतोच्छिन्नयोश्च बन्धस्थितिकारणं नास्ति, अपरिणते केनचित् परिणामेनापरिणामिनि कञ्चित्परिणाममप्राप्तवति द्रव्यार्थिकनयेन नित्यत्वेनाभ्युपगते आत्मनि, उच्छिन्ने निनष्टसत्ताके निरन्वयप्रतिक्षणविनाशित्वेन क्षणिके पर्यायार्थिकनयेनानित्यतयाऽभ्युपगते आत्मनि, बन्धस्थितिकारणं नास्ति, अपरिणामिनि अत्यन्ताऽनाधेयातिशये नित्यात्मनि प्रकृतिबन्धप्रदेशबन्धकारणानां योगानां सम्भवो नास्त्येव, सम्भवे वा योगानां सर्वात्मप्रदेशपरिस्पन्दरूपत्वेन तत्योगपरिणामेनात्मनस्सक्रियत्वापत्त्या कथञ्चिदनित्यत्वं स्यात्, एकान्तोच्छिन्नात्मपक्षेऽपि येनात्मना यत्कर्मनिमित्तं योगः कृतस्तेनात्मना तत्कर्म न बध्यते, किन्त्वन्येन, कर्मबन्धकालेऽन्यत्वात्, तथा च यो हिंसादिकरणार्थं काययोगादि प्रयुङ्क्ते स एव कर्मकर्त्तेति व्यवहारोच्छेदस्स्यात्, न च स व्यवहारो भ्रान्त एवेति वाच्यम्, सर्वैरविगानेन प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्। न च सन्तत्यैव निर्वाहस्स इति वाच्यम्, सन्ततेस्तन्मते काल्पनिकत्वेन यथार्थव्यवहाराऽनिर्वाहकत्वात्। एवमविकार्ये नित्यात्मनि स्थितिबन्धानुभागबन्धकारणकषायोदयजन्यरागद्वेषाद्यध्यवसाया अपि न सम्भवन्ति, तेषां सम्भवे नाऽध्यवसायस्थानानामसङ्ख्येयत्वेन तद्रूपेण परिणतस्यात्मनः परिणामपरिणामिनोः कथञ्चिदभेदेनानेकत्वं स्यात्, नाप्येकान्तानित्यात्मनि अनुसन्धानविकले अहमनेन सन्तुष्टः अहमनेनाऽऽक्रुष्ट इति रागद्वेषाध्यवसायसम्भवः, तथा च 'अन्यो तुष्टः, अन्यः सन्तुष्टः, अन्य आक्रुष्टः, अन्यो रुष्टः, अन्यो व्यापृतः, अपरो बद्धः, अपरश्च मुक्त इति कुशलाकुशलकर्मगोचरप्रवृत्त्याधारस्यानैक्यप्रसङ्गः, न चैकसन्ततिनिमित्तोऽयं व्यवहारः, क्षणिकैकान्तपक्षे सन्ततिकल्पनाबीजभूतोपादानोपादेयभावस्यैवाऽघटमानत्वात्। न चेयमनुसन्धानप्रतिपत्तिर्मिथ्या, द्वेष-गर्व-शाठ्याऽसन्तोषादीनामन्योन्यविरुद्धस्वभावानां क्रमिकचिद्विवर्त्तानां स्वसंवेदनाध्यक्षसिद्धानां तत्तद्रूपेणाऽनुभवितुः संशय-विपर्यासबाधकज्ञानाऽगोचरीकृतस्यैकस्य चेतनस्यानुभवात्। न च बाधारहितानुभवविषयस्यापह्नवः, सुखादेरप्यनुभवविषयस्यापह्नुतिप्रसङ्गात्, तथा च प्रमाणप्रमेयादिव्यवहारोच्छेदप्रसक्तिः। यदपि "मिथ्याऽध्यारोपहानार्थं यत्नोऽसत्यपि मोक्तरि" इत्युक्तम्, तदप्यनेनैव प्रतिविहितम्, यथोक्तप्रतिपत्तेर्मिथ्यात्वाऽसिद्धेः। न चानुमाननिश्चितेऽर्थे आरोपबुद्धेरुत्पत्तिः, धूमनिश्चयावगतधूमध्वज इव, न च मिथ्याज्ञानस्य सहजत्वाद् विपरीतार्थोपस्थापकानुमानप्रवृत्तावपि न निवृत्तिः, तथाऽभ्युपगमे बुद्धानुपप्लवचित्तसन्ततिप्रवृत्तस्य सर्वदाऽनिवृत्तिरित्यमुक्तिप्रसक्तिः, असहजं तु तत्त्वज्ञानप्रादुर्भावेऽवश्यं निवर्त्तते, शुक्तिकाऽवगमे रजतभ्रम इव, अनिवृत्तौ वा न प्रमाणमप्रमाणबाधकं स्यात्। न च क्षणक्षयनिश्चये 'स एवाहम्' इति प्रत्ययो युक्तः, अपि तु 'स इव' इति स्यात्, नहि गवयनिश्चये 'गौरेव' इति प्रत्ययो दृष्टः, अपि तु 'गौरिव' इति। न च प्रभवत्चिन्त्वभिष्वङ्गद्वेषादिपर्यायेषु चैत

न्यानुस्यूतिप्रत्ययस्य मानमविकल्पत्वात्तानुगतवस्तुसाधकत्वमिति वाच्यम्, आत्मनि क्षणक्षयमनुमानाद् निश्चिन्वतोऽपि तदैव तस्य स्पष्टमनुभूयमानत्वात्, विकल्पद्वयस्य युगपदुत्पत्तिः परैर्नेष्टेति विकल्परूपत्वे एकत्वप्रत्ययस्य क्षणिकत्वानिश्चयसमये सद्भावो न भवेत्, भवति च क्रमवर्तिष्वभिष्वङ्ग-द्वेषादिपर्यायेषु चैतन्यानुस्यूतिप्रत्यय इति तस्य विकल्पकालीनोत्पत्तिमत्त्वेनाश्वविकल्पकाले गोदर्शनवत् पराभिप्रायेण निर्विकल्पप्रत्यक्षरूपतया तत्क्रमवर्तिपर्यायेष्वनुगतद्रव्यस्य सिद्धिः, अस्मन्मते तु यथार्थमानमविकल्पस्यानुगतवस्तुसाधकत्वमस्त्येव । तदेवमेकान्तनित्यानित्यव्युदासेनोभयपक्ष एव बन्धस्थितिकारणं युक्तिसङ्गतमिति सिद्धम् ॥ १९ ॥

किञ्च एकान्तवादिनां संसारनिवृत्त्यर्थं प्रवृत्तिर्मोक्षसुखप्रार्थना मोक्षश्चेत्येतत्सर्वं नोपपद्यत इत्युपदर्शयितुमाह—

बन्धम्मि अपूरन्ते, संसारभयोघदंसणं मोड्ढं ।
बन्धं व विणा मोक्ख-सुहपत्थणा नत्थि मोक्खो य ॥ २० ॥

अपरिणामवादात्मक एकान्तवादे कारणीभूतमिथ्यात्वादिपरिणत्यभावात्तत्कार्यस्य बन्धस्याभावे संसारभयप्राचुर्यपर्यालोचनं मिथ्याज्ञानम् अनुपपद्यमानसंसारदुःखभयौघविषयकत्वात्, तथा यः पूर्वं बद्धस्स एव पश्चान्मुच्यते नाबद्ध इति बन्धं विना तन्मुक्त्यभावान्मोक्षसुखं मे भवत्विति प्रार्थना न घटते, अत एव मोक्षश्चानुपपन्न इति संक्षिप्तार्थः । विस्तरार्थस्त्वेवम्—'बन्धम्मि अपूरन्ते' एकान्तवादे आत्मनो मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगरूपनानाविधपरिणतिस्वीकारेऽनेकान्तवादस्वाङ्गीकारापत्तेस्तत्पक्षक्षतिरिति तत्र मिथ्यात्वादिकारणानुपपत्त्या बन्धे कर्मबन्धे अपूर्यमाणे अपूर्णभावं गते लक्षणयाऽसतीति यावत् "संसारभयोघदंसणं मोड्ढं" संसारभयौघदर्शनं मौढ्यम्-संसारे अरहट्टघटीयन्त्रन्यायेन चतुर्गतिषु जन्ममृत्युभावेन पुनःपुनस्संसृतिलक्षणे संसारे, यद्वा कारणे कार्योपचारवृत्त्या संसारशब्दवाच्ये तत्कारणे मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगात्मके वा भयौघो भीतिप्राचुर्यं तस्य दर्शनम् चतुर्गत्यात्मकः संसारः सर्वदैवमनन्तदुःखव्याप्तत्वेन, न तत्र किमपि परमार्थवृत्त्या सुखम्, मधुलिप्तखड्गलेहनवद् बाह्यवृत्त्या यत्किमपि सुखं दृश्यते तस्याप्यायत्यामनन्तदुःखप्रदत्वेन दुःखरूपत्वादिति पर्यालोचनं लक्षणया संसारशब्दवाच्यमिथ्यात्वादिकमनन्तदुःखखनिसंसारकारागारनिवासमूलभूततया सर्वमहाऽनर्थकारणमिति पर्यालोचनं च मौढ्यं मूढता मिथ्याज्ञानमिति यावत्, अनुपपद्यमानसंसारदुःखौघविषयकत्वात्, वन्ध्यासुतजनितबाधागोचरभीतिविषयपर्यालोचनवत् । अयम्भावः-वन्ध्यासुतोऽसन्निति तेन दुःखौघमयं नोत्पद्यत इति तद्विषयकपर्यालोचनं वन्ध्यासुतोत्थदुःखौघाद् बिभेमीत्याकारकं मिथ्याज्ञानं यथा तथैकान्तपक्षेऽपरिणामवादात्मकेऽप्युक्तनीत्या कर्मबन्धाऽसिद्धेस्तज्जन्यसंसारस्यापि तत्कारणमिथ्यात्वादेश्चासिद्धिरेवेति ।

दुःखौघमयं नोत्पद्यत एवेति तत्पर्यालोचनमनुपपद्यमानार्थविषयकत्वान्मिथ्याज्ञानमिति तत्पूर्विका प्रवृत्तिर्विसंवादिन्येव। दूषणान्तरं प्रदर्शयितुमुत्तरार्द्धमाह—" बन्धं च विणा मोक्खसुहपत्थणा नत्थि मोक्खो य " चः दूषणान्तरसमुच्चये, बन्धं विना मोक्षः-संसारनिवृत्तिः-स्तत्प्रभवं यदनन्तसुखं तत्प्रार्थना नास्ति, न भवत्येव, एकान्तवादे कर्मबन्धाऽभावेन संसाराऽनुपपत्तौ तन्निवृत्तिलक्षणमोक्षस्याप्यनुपपत्तेस्तत्सुखप्रार्थना नोपपद्यते, तथा मोक्षश्च अस्य नास्तीत्यनेनान्वयान्नास्ति, अनुपपन्नः, चः समुच्चये, यथा निरपराधपुरुषस्य नैव बन्धनमिति न तन्मोक्षः, मुचेर्बन्धननिश्लेषार्थकत्वेन मोक्षस्य बन्धपूर्वकत्वात्, तदऽभावे तदऽभावात् तद्वदेकान्तवादे आत्मनः कर्मबन्धाभावेन न तस्य तन्निवृत्तिलक्षणो मोक्षः, अबद्धस्य मोक्षाऽसम्भवात्, बन्धाभावश्च योगकषाययोः प्रकृति-प्रदेश-स्थित्यनुभागात्मकबन्धहेत्वोरेकान्तपक्षे विरुद्धत्वेनैकत्रात्मन्यसम्भवात्, सम्भवे वा विरुद्धपरिणतिस्वभावभेदेनैकस्याप्यात्मनो भेदः स्यात्, ननु मायाया अज्ञानपदवाच्याया विकाररूपस्य चेतनाचेतनात्मकजगतो ब्रह्मविवर्त्तरूपत्वेन तन्मूलभूतं ब्रह्मैव तात्त्विकं, सर्वत्रानुगतरूपत्वात् स्थासकोशाद्यनुगतमृद्द्रव्यवत्, मृद्द्रव्यस्य विकाररूपं मृत्पिण्डशिवक-स्थास-कोशक-कुशूल-घटकपाल-शकलादिकमिव मायाया विकाररूपं ब्रह्मणश्च विवर्त्तरूपं जगच्चाऽतात्त्विकम्, तथा च ब्रह्मण एकरूपत्वाद् बन्धाद्यभावप्रेरणा न दोषायेति चेत्, नैवम्, चेतनभेदाचेतनभेदरूपतया जगतः प्रतिपत्तेः, एकः सुखी एको दुःखी एको रङ्कः एको धनाढ्य इत्याद्यात्मभेदप्रतिपत्तेर्बाह्यघटपटादिभेदप्रतिपत्तेश्च सर्वानुभवसिद्धाया मिथ्यात्वे एकमेव ब्रह्मेति प्रतीतेरपि मिथ्यात्वं वदतो नैव वक्त्रं वक्री भवेत्, एतच्च प्रागेव सविस्तरं निरस्तमित्यधिकं नोच्यते ॥ २० ॥

अथ " जाव ण एस जीवे सया समिअं एयइ वेयइ चलइ फंदइ घट्टइ खुब्भइ उदीरइ तं तं भावं परिणमइ ताव ण तस्स जीवस्स अन्ते अन्तकिरिया न भवति " इति सिद्धान्तोक्तेर्वीतरागोऽपि यावच्चक्षुःपक्ष्मोन्मीलननिमीलनक्रियामात्रमपि करोति तावदस्य प्रतिक्षणं योगनिमित्तः कर्मबन्धो भवति, तर्ह्यन्येषां समारम्भादिप्रवृत्तानां मिथ्यादृष्टीनां मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगहेतुकोऽविरतानामविरतिकषाययोगहेतुकः सर्वविरतानामपि सकषायाणां कषाययोगहेतुकश्च कर्मबन्धो भवतीति तु कैमुतिकन्यायप्राप्तमेव, सर्वथैव योगक्रियाऽभावे च नव्यकर्मबन्धाभावेन पूर्वनिखिलकर्मणश्च शुक्लध्यानादिना क्षयेण मुक्तिरित्येतत्सर्वं स्याद्वादपक्ष एव घटते, नैकान्तपक्षे, एकान्तनित्यस्यात्मनो विचित्रप्रकारकर्मबन्धहेतुमिथ्यात्वाविरतिकषाययोगविविधपरिणतिस्वभावतज्जन्यविचित्रकर्मबन्धनस्वभावभेदैरत्यन्तकर्मविश्लेषक्रियाकरणतद्धेतुयोगनिरोधादिक्रियाकरणस्वभावभेदैश्चानित्यत्वप्रसङ्गात्। एकान्ताऽनित्यस्य चात्मनः प्रतिक्षणं भिन्नभिन्नरूपत्वेन तत्तत्कर्महेतुतत्तत्क्रियाकरणस्वभावतत्तत्कर्मकरणस्वभावकर्तुरेकस्याभावेन यः कर्महेतुकर्त्ता स न कर्मकर्त्ता, यश्च कर्मकर्त्ता स न तत्फलभोक्ता, यश्च कर्मणा बद्धस्स एव न तन्मुक्त इत्यन्यवस्थितिप्रसङ्गात्। तदेवमेकान्ताभ्युपगमे

कर्मत्वकर्तृत्वाद्यनुपपत्तेरैहिकाऽऽमुष्मिकत्वानिश्चकसर्वव्यवहारस्यानुभूयमानस्य विलोपकारि त्वेनैकान्तसङ्कटितमूर्तयस्सर्वेऽपि नया मिथ्यानयाः, त एव भजनासङ्कटितस्वरूपा अत एवेतरनयविषयीकृतरूपाव्यवच्छेदकासम्यक्त्वरूपा भवन्तीत्युपसंहरन्नाह—

तम्हा सव्वे वि णया, मिच्छादिट्ठी सपक्खपडिबद्धा (सपक्खपडिपक्खा)।
अण्णोण्णणिस्सिया उण, हवंति सम्मत्तसब्भावा ॥ २१ ॥

'तम्हा' इत्यत्र 'एव' इत्यपि 'मिच्छादिट्ठी' इत्यत्र 'मिच्छदिट्ठी' इत्यपि पडिबद्धा इत्यत्र पडिवन्ना इत्यपि च पाठान्तरम्। 'तम्हा सव्वे वि णया मिच्छादिट्ठी' तस्मात् उक्तहेतो स्सर्वेऽपि नया मिथ्यादृष्टयः, तत्र हेतुगर्भविशेषणमाह—'सपक्खपडिबद्धा' स्व आत्मीय, पक्षोऽभ्युपगमः, स्वपक्षः, तेन प्रतिबद्धाः प्रतिहता यतस्तत इति। पाठान्तरे उक्तार्थे स्वपक्ष प्रतिपन्ना अभ्युपगन्तारो नान्य पक्ष यतस्ततः, स्वपक्षभिन्नपक्षविषयव्यवच्छेदनपरत्वा-दित्यर्थः। अनुमानमुद्रा चैवम्—सर्वनयवादा मिथ्यादृष्टय स्वपक्षेणैव प्रतिहतत्वात्, चौर-वाक्यवदिति, तथा च सुन्दोपसुन्दन्यायेन परपक्षविषयोन्मूलकतया तेषामनन्तधर्मात्मकस्य वस्तुनोऽन्यतमैकान्तैकधर्माऽवधारणलक्षणनयानां मिथ्यात्वे च तत्तन्नयविषयस्याऽसत्यत्व तदभिधानस्य च मिथ्यात्वमेव, ज्ञानप्रामाण्याधीनत्वाद्विषयसत्यत्वस्य, वाक्यरचनां प्रति वाक्यार्थज्ञानस्य कारणत्वेन तत्प्रामाण्याधीनत्वाच्च तत्तन्नयविषयाभिधानात्मकवाक्यप्रामा-ण्यस्य, त एव नयाः स्वेतरनयविषयीकृतधर्माऽव्यवच्छेदकास्तदा सम्यक्त्वरूपा भवन्ती त्युपदर्शयितुमुत्तरार्द्धमाह—"अण्णोण्णनिस्सिआ उण हवन्ति सम्मत्तसब्भावा" अन्योन्य निश्रिता अन्योन्यनिस्सृता वा अन्योन्यनयविषयापरित्यागेन व्यवस्थिता', स्वेतरनयविषयी कृतार्थानपलापिनो नयाः पुनर्भवन्ति सम्यक्त्वस्य यथावस्थितप्रत्ययस्य वाक्यात्मकनयपक्षे भावयन्तीति भावा., सन्तो भावा सद्भावा अनन्यकारणानीत्यर्थः। ज्ञानात्मकनयपक्षे सम्यक्त्वसद्भावाः सम्यक्त्वस्वभावा इत्यर्थः। अयम्भावः—वाक्यरूपा एकान्तवस्वान गाहिनयाश्चेत् परस्परनिरपेक्षतया स्याद्वादैकवाक्यताऽनापन्नास्सावधारणा' स्वपक्षहत रा-मिथ्यारूपास्स्वविषयस्यासत्यत्वप्ररूपका' स्वविषयाभिधानस्य च मिथ्यात्वव्यापकाः। "स्याद्वादनिरपेक्षैश्च तैस्तावन्त परसमया" इति नयोपदेशोक्तेर्यावन्तो नयवादास्तावन्तः परसमया, त एव नयवादा विरुद्धयोस्सत्त्वासत्त्वनित्यत्वानित्यत्वाद्योरविरोधभावनियामक सापेक्षभाव गता अत एव निरवधारणास्स्याच्छब्दलाञ्छितास्समुदितास्सन्तोऽन्योन्यनय-विषयापरित्यागसूचय इतरनयविषयमपेक्ष्यस्वविषयसत्यत्वनिश्चायकाश्चेत्तदा स्वसमयरूपा इति ते प्रमाणभावलक्षणसम्यक्त्व प्रतिपद्यन्ते, प्रामाण्यस्य यावन्नयविषयताव्यापकविषयताक-निश्चयत्वरूपत्वेन तादृशनिश्चयोत्पादकत्वात्तेषाम्, उक्तञ्च विशेषावश्यकभाष्ये—"जावन्तो

वयणपहा तावतो वा नया निसदाओ। ते चेव य परसमया सम्मत्त समुदिया सवे ॥" २२६५। इति। ज्ञानात्मका अपि नयास्सर्वे एकान्ततत्त्वावगाहिपराभिप्रायरूपाः स्वविषयेतरविषयोन्मूलनतत्परा विपरीतप्रत्ययरूपा मिथ्यात्मकाः, त एवेतरांशसापेक्षस्वविषयग्राहका यथावस्थितवस्तुप्रत्ययरूपाः समुदिताः प्रमाणभाव भजन्ते, एतेन प्रत्येक मिथ्यावधारणाना तेषां नयानामन्यनिश्रितसमुदायेऽपि कथ सम्यक्त्वम्, तत्तत्स्वगोचराऽपरित्यागेन तत्रापि तेषा विषयान्तराऽप्रवृत्तेरित्यप्यारेका निरस्ता, यत एकैका अप्यपेक्षितेतरांशस्वविषयग्राहकतयैव सन्तो नयाः, तद्व्यतिरिक्तस्वरूपतया त्वसन्तस्त इति सतां तेषां समुदाये सम्यक्त्वे न कश्चिद्दोषः। ननु तत्कालविद्यमानानामेव रत्नानामेकतन्तुक्रमानुस्यूतानां समुदायो रत्नावलीति व्यपदिश्यते परीक्षकैः, न चेतरेतरविषयापरित्यागवृत्तीनां ज्ञानात्मकनयानामेकदोत्पत्तिसम्भवः, "जुगव दो नत्थि उवओगा" इति वचनात्, तथा च तत्कालाविद्यमानाना तेषा समुदाये सम्यक्त्वव्यपदेश कथ शोभावहस्स्यादिति चेत्, अनुक्तोपालम्भ एव, न ह्येकदाऽनेकज्ञानोत्पादस्तेषां समुदायो विवक्षित , अपि त्वपरित्यक्तेतरधर्मविषयाध्यवसाय एव समुदायः, अन्योन्यनिश्रिता इत्यनेनाप्ययमेवार्थः प्रतिपादितः, न हि द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयाभ्यामत्यन्तपृथग्भूताभ्यामङ्गुलिद्वयसयोगवदुभयवादोऽपर' प्रारब्धः, इत्येव सम्मतिवृत्तावप्युक्तमिति। तादृशाध्यवसायश्च मिथ्यात्वाऽऽलिङ्गितानामेकान्तक्षणिकत्वाक्षणिकत्वभिन्नत्वाभिन्नत्वादिनादिनां सौगतक्षपादादिनिखिलमताना यत्समुदायस्स चेत्स्यात्पदलाञ्छितस्स्यात्तदैव स्यात्, नान्यथा, परसिद्धान्तोक्तैकान्तवस्तुतत्त्वज्ञानेषु स्याद्वादतत्त्वनिर्णायकयुक्तिभिरेकान्ततत्त्वसाधकयुक्तीना निरासेन एकान्तेन तत्तत्त्वसाधकहेतूना स्याद्वादसाधकत्वविहेतुभिर्बाधितत्वप्रदर्शनेन चाऽप्रामाण्यनिश्चयात्तद्विषयाभावनिश्चये स्याद्वादसिद्धान्तसिद्धेः, अत एव सम्यग्दृष्टिना स्याद्वादमर्यादया विषयविभागेन व्यवस्थापितसर्वोऽपि परसिद्धान्तस्स्वसिद्धान्त एवेति गीयते। ननु नयाना प्रत्येकावस्थाया मिथ्यादृष्टित्वात्तत्समुदायेऽपि महामिथ्यादृष्टित्वप्रसक्त्या न ते समुदिता अपि सम्यक्त्व प्रतिपद्यन्ते, प्रचुरविषलवसमुदाये विषप्राचुर्यवत्, नापि परस्पर विरुद्धमाना समुदिता वस्तुगमका भवन्ति, प्रत्येकावस्थाया सदऽगमकत्वात्, प्रत्युत मिथो विरोधित्वाद्वस्तुनिघातायैव भवन्ति, वैरिसमूहवदिति चेत्, मैवम्, वस्तुतत्त्वानवबोधात्, यतः प्रचुरविषलवा अपि प्रौढमन्त्रवादिनाऽतिप्राज्ञकुशलक्रियपीयूषपाणिमहावैद्येन वा निर्विषीकृत्य कुष्ठादिरोगिपुम्भ्यो दत्ता अमृतरूपता प्रतिपद्यन्ते, तद्वद् विषलवोपमाः प्रत्येकनया अपि आत्मप्रदेशाभ्यन्तर मिथ्यात्वविषव्याप्त्याऽज्ञानसमूर्च्छाकारिणोऽपि समुदितास्ते महामन्त्रवादिसमेन महावैद्यसमेन वा स्याद्वादतत्त्वज्ञेनानुपकृतोपकारबुद्ध्या निष्पक्षपातहितकाङ्क्षिणा सम्यग्ज्ञानिना सम्यग् विनियोजिता विरोधभावरूप विष दूरीकृत्यामृतोपमाऽविरोधभाव गमिता मिथ्यात्वरोगव्याप्तस्वान्तानामप्युपयुक्ता मिथ्यात्वरोग हत्वा महाकर्मवैरिबलजेतृसम्यग्ज्ञानसध्रीचीनसम्यग्दर्शनभावलक्षणारोग्यभाव प्रापयन्ति, अत एव ते नयवादाः

परस्परविरुद्धमाननानाभिप्रायमूलानां सम्यगुपायतो नयज्ञेनाज्ञामारेण राज्ञा, भूम्यादिना केनापि कारणेन मिथो विवदमानानां व्यवहारिणां न्यायदर्शिना समवृत्तिना केनापि पुंसा वा युक्तिभिर्विरोधभावभञ्जनवन्नि'स्वार्थवृत्तिना जिनागमोक्तयथार्थनयतत्त्वविदुषा महर्षिणा तेषां नयवादानां विरोधभावभञ्जनात् सम्यग्भावं भजन्ते। उक्तञ्च विशेषावश्यकभाष्ये—

" न समेन्ति नयसमेया, सम्मत्त नेव वत्थुणो गमगा।
वत्थुविघायाय नया, विरोहओ वेरिणो चेव ॥२२६६॥"

एतदाशङ्क्य तदुत्तरमाह भाष्यकारः—

" सव्वे समयन्ति सम्मं, चेगवसाओ नया विरुद्धा वि।
भिच्च-ववहारिणो इव, राओदासीणवसवत्ती ॥ २२६७॥" इति ॥२१॥

ननु नयसमुदाये न सम्यक्त्वं सम्भवति प्रत्येकनयेषु सम्यक्त्वाभावात्, यद् यदेकैकेषु वस्तुष्वसत् तत् तत्समुदायेऽपि न सम्भवति, यथा सिकतासु तैलमिति चेत्, मैवम्, रत्नावल्यादावनैकान्तिकत्वादुक्तहेतोरित्येतत्प्रतिपादनार्थमाह—

जहऽणेगलक्खणगुणा, वेरुलियाई मणी विसञ्जुत्ता।
रयणावलिववएस, न लहंति महग्घमुल्लावि ॥ २२॥

' जहऽणेगलक्खणगुणा ' यथेति दृष्टान्तोपप्रदर्शने, अनेकानि अनेकप्रकाराणि विषविघातहेतुत्वादीनि लक्षणानि तथाप्रकारा नीलत्वादयश्च गुणा येषां ते अनेकलक्षणगुणाः, के ते इत्याशङ्कायां विशेष्यीभूतकर्तृपदमाह—' वेरुलियाई मणी ' वैडूर्यादयो मणयः, किं विशिष्टास्त इत्यत आह—' विसञ्जुत्ता महग्घमुल्ला वि ' विसयुक्ताः विशकलिता महार्घमूल्या बहुमूल्या अपि, कर्तृपदं क्रियापदमाकाङ्क्षमिति तत्पूर्त्तये निषेधसवलितं क्रियापदमाह— 'न लहंति' न लभन्ते, न प्राप्नुवन्ति, सकर्मकक्रिया च कर्मापेक्षेति तत् किमित्यत आह— ' रयणावलिववएस ' इय रत्नावलीत्येवं व्यपदेशं व्यवहारमित्यर्थः ॥ २२॥

पूर्वोक्तलक्षणगुणा वैडूर्यादिमणयो महामूल्या अपि पृथग्भूततया मिथः सापेक्षभाव मनापन्ना रत्नावलीति व्यपदेशं न लभन्त इति दृष्टान्तमुपदर्श्य दार्ष्टान्तिकमुपदर्शयितुमाह—

तह णिययवायसुविणि-च्छिया वि अण्णोण्णपक्खनिरवेक्खा।
सम्मद्दसणसद्द, सव्वे वि णया ण पावेंति ॥ २३॥

तह णिययेत्यादि—तथेति दार्ष्टान्तिकोपदर्शने ' न पावंति ' न प्राप्नुवन्ति, किन्न प्राप्नुवन्तीत्यत आह—' सम्मद्दसणसद्द ' सम्यग्दर्शनशब्दं ' सुनयाः ' इत्येवं व्यपदेशम्, एवम्भूता' के इत्याशङ्कायां कर्तृपदमाह—' सव्वे वि णया ' सङ्ग्रहादयस्सर्वेऽपि प्रत्येक

नयाः, किं विशिष्टास्त इत्यत आह—' णिययवायसुविणिच्छिया वि ' निज एव निजकः स्वस्मिन् निजके वादे इतरनिरपेक्षसामान्यादिप्रतिपादकस्वस्ववादे सुविनिश्चिता हेतुप्रदर्शनकुशला अपि, तत्र हेतुगर्भविशेषणमाह—' अण्णोण्णपक्खनिरवेक्खा ' अन्योन्यपक्षनिरपेक्षाः, अस्य हेतुरूपतया अन्योन्यपक्षनिरपेक्षत्वादित्यर्थः ॥ पृथक्स्थितमणयः परस्परनिरपेक्षत्वात् रत्नावलीति व्यपदेशं न लभन्ते तद्वदित्यर्थः ॥ दीपिकोपयोगरूपप्रमाण चैतन्यस्य साकाङ्क्षसकलनयवाक्यजनिताऽनेकनयज्ञानात्मकतयाऽनेकात्मकस्य प्रमाणात्मक तयैकात्मकस्य शुद्धनयशब्दवाच्यत्वेन परस्परनिरपेक्षसद्वादादीनामेकैकनयानामन्योन्य विषयपरित्यागवृत्तीनां तादृशचैतन्यस्वरूपत्वाभावेन न ते ' सुनया ' इति व्यपदेशमासादयन्तीति भावः ॥ २३ ॥

जह पुण ते चेव मणी, जहा गुणविसेसभागपडिबद्धा ।
' रयणावलि 'त्ति भण्णइ, जहंति पाडिक्कसण्णाओ ॥ २४ ॥

' जह पुण ते चेव मणी ' यथेति दृष्टान्तोपप्रदर्शने, यथा पुनस्ते चैव त एव च मणयः ' जहा गुणविसेसभागपडिबद्धा ' गुणविशेषः सूत्रविशेषस्तस्य भाग एकदेशस्त मनतिक्रम्य प्रतिबद्धाः सम्बद्धास्ते यथा गुणविशेषभागप्रतिबद्धाः, एकसूत्रक्रमप्रोताः, अत एव सम्बद्धाः, ' रयणावलित्ति भण्णइ ' रत्नावलीति भण्यन्ते, ते मणयोऽसंयुक्तावस्थां परित्यज्यैकसूत्रानुस्यूतास्संयुक्तावस्थारूपेण परिणामिन इव रत्नावलीति व्यपदिश्यन्ते, रत्नानु विद्धतया रत्नावल्यास्तदनुविद्धतया च रत्नानां प्रतीतेः, रत्नीयसन्निवेशविशेषस्य तद्विशिष्टरत्नानां वा रत्नावलीशब्दवाच्यत्वात्, "जहति पाडिकसण्णाओ" जहति प्रत्येक सञ्ज्ञाः, एते मणय इति पूर्वकालीनाभिधानानि परित्यजन्ति, रत्नीयसन्निवेशविशेषस्य तद्विशिष्टरत्नाना वा रत्नावलीशब्दवाच्यत्वमित्यतस्तस्य तेषा वा रत्नीयसन्निवेशविशेषवद्विशिष्टरत्नावाचककेवलरत्नवाचकशब्दाऽवाच्यत्वात्, विशिष्टाविशिष्टयोः कथञ्चिद्भेदस्यानुभवप्रतीतिसिद्धत्वात् ॥ २४ ॥

तह सव्वे णयवाया, जहाणुरूवविणिउत्तवत्तव्वा ।
सम्मद्दसणसद्द, लहंति ण विसेससण्णाओ ॥ २५ ॥

' तह सव्वे णयवाया ' तथेति दार्ष्टान्तिकोपदर्शने, तथा सर्वे नयवादाः ' जहाणुरूवविणिउत्तवत्तव्वा ' यथाशब्दो वीप्सार्थे, अनुशब्दः सादृश्यार्थे, रूपशब्दश्च स्वभावार्थोऽत्र वर्तते । तथा च रूपस्य स्वभावस्य सदृशमनुरूपमित्यव्ययीभावसमासः, ततोऽनुरूपमनुरूपं प्रतीति यथानुरूपमिति यथाशब्देन सहानुरूपस्याव्ययीभावसमासः, ततो यथानुरूपे विनियुक्तं यथानुरूपविनियुक्तम्, यथाऽनुरूपविनियुक्तं वक्तव्यं येषां ते यथानुरूपविनियुक्तवक्तव्याः, वक्तव्यशब्दो यद्यप्यर्थवाचकस्तथाप्यत्रोपचाराद्वा

चकशब्दपर'। तथा च यद्यदनुरूपं तत्र तत्र विनियुक्तः प्रयुक्तस्तद्वाचकशब्दो येषां ते तथा, अन्योन्यविषयाऽपरित्यागवृत्तय इति यावत्, एवम्भूतास्सर्वे नयाः " सम्मद्दसण-सद्द लहंति " सम्यग्दर्शनशब्दं प्रमाणमित्याख्यां लभन्ते ' ण विसेससण्णाओ ' न विशेषसञ्ज्ञाः, संग्रहादिप्रत्येकतत्तन्नयसञ्ज्ञा न प्राप्नुवन्ति। अजहद्वृत्त्यैकोपयोगत्वनिविष्टसाकाङ्क्षसकलनयवाक्यजनितनयज्ञानानां तादृशनयज्ञानीयाजहद्वृत्त्यैकोपयोगस्य वा प्रमाणशब्दवाच्यत्वात्, विशिष्टनयात्मकस्यापि प्रमाणचैतन्यस्य शुद्धनयवाच्यत्वात्। साकाङ्क्षसकलनयवाक्यजनितनयप्रमाणात्मकैकचैतन्यप्रतीतेः, अन्यथा चाऽप्रतीतेरिति। अयम्भावः—यथा स्वान्यनिरपेक्षप्रत्येकवैडूर्यादिरत्नेषु न रत्नावलीति व्यपदेशः, किन्तु स्वस्वस्थानविनियोगलक्षणविशेषेण मिथस्सापेक्षेषु समुदितेष्वेव तेषु तथा प्रत्येकनिरपेक्षेषु नयेषु न सम्यग्दर्शनव्यवहारः, किन्तु स्वस्वस्थानविनियोगलक्षणविशेषेण मिथस्सापेक्षेषु समुदितेष्वेव तेष्विति। ननु तत्र कथं निर्दिष्टैकाव्यवसायलक्षणसमुदायार्थस्योपपत्तिरिति चेत्, उच्यते, अपरित्यक्तेतररूपविषयाध्यवसाय एव समुदाय इत्यत्रैकस्यरस्याऽविवक्षितत्वाद् परित्यक्तेतररूपविषयत्वस्यैव समुदायाऽर्थस्य नयप्रमाणसाधारणस्याऽभिप्रेतत्वादिति। " नन्ववग्रहादिचतुष्टयात्मकमतिज्ञानोपयोगवत् साकाङ्क्षसकलनयवाक्यजनितनयप्रमाणात्मकदीर्घोपयोगरूपैकचैतन्यस्याध्यक्षसिद्धत्वात्तत्र रत्नावलीदृष्टान्तोपादानं व्यर्थम्, असिद्धसिद्धये वादिप्रतिवादिसिद्धदृष्टान्तोपन्यासस्य साफल्यात्, अत्र च तदभावादिति चेत्, न, उक्तस्वरूपैकानेकात्मकोपयोगे स्वसंवेदनसिद्धेऽपि वादिविप्रतिपत्तिजन्यसंशयनिरासेन निश्चयदार्ढ्यार्थं तदुपादानादिति ॥ २५ ॥

दृष्टान्तगुणप्रतिपादनेन तदेवाह—

> लोइयपरिच्छयसुहो, निच्छयवयणपडिवत्तिमग्गो य।
> अह पण्णवणाविसउ त्ति, तेण वीसत्थमुवणीओ ॥ २६ ॥

' लोइयपरिच्छयसुहो ' लौकिकाश्च परीक्षकाश्च लौकिकपरीक्षकाः, तेषां व्युत्पत्तिविकलव्युत्पन्नप्राणिनां सुखः, सुखपदमत्र स्वघटितं यत् सुखप्रतिपत्त्युपाय इत्येतद्वाक्यं तत्परम्, तेन लक्षितलक्षणया सुखेनानायासेन प्रतिपत्त्युपायो व्याप्तिग्रहोपाय इति तदर्थः, अर्थात्सुखपदं सुखप्रतिपत्त्युपाय इति वाक्यं लक्षयति, तच्च लक्षणयाऽनायासेन व्याप्तिग्रहोपायरूपमर्थं बोधयति, वाक्यलक्षणाभावे तु सुखपदमेव लक्षणयोक्तमर्थं बोधयति, ' निच्छयवयणपडिवत्तिमग्गो य ' निश्चयवचनप्रतिपत्तिमार्गश्च, निश्चयवचनस्य नैश्चयिकवचनस्य एकानेकात्मकदीर्घोपयोगरूपचैतन्यस्वरूपप्रतिपादकवाक्यस्य यत्प्रामाण्यं तस्य प्रमाणमित्येवं या प्रतिपत्तिस्तज्जनकत्वलक्षणप्रामाण्यप्रदर्शकश्च। अथेत्यवधारणे, ' पण्णवणाविसउ त्ति ' प्रज्ञापनाविषय इति, दृष्टान्तो ह्यवश्यमेव दार्ष्टान्तिकसिद्धये समर्थस्यात् स स्वस्वरूपज्ञानार्थं प्ररूपणाविषयः प्रकृतनिदर्शनविषयो रत्नावलीदृष्टान्त इति।

अयम्भावः—साकाङ्क्षसकलनयवाक्यजनितनयप्रमाणात्मकचैतन्यं सुनयपदवाच्यं प्रमाणपदवाच्यं वेत्येवप्रकारकशक्तिज्ञानविकलानां लौकिकानां तत्समन्वितानां परीक्षकाणां च चैतन्यमेकानेकात्मकं, तथा प्रतीयमानत्वात्, यदेकानेकात्मकतया प्रतीयते तदेकानेकात्मकम्, यथा क्रमेणैकतन्त्वनुस्यूतरत्नसन्निवेशनिष्पन्नरत्नावली, अत्र यः खलु क्रमिकतन्त्वनुस्यूतरत्नसमूहः स समूहसमूहिनां कथञ्चिद्भेदाभेदात्मकत्वात् एकानेकात्मकः, तत्र रत्नावलीत्वेनैकत्वं प्रत्येकानुस्यूतानेकमण्यात्मकत्वेनानेकत्वं सर्वैरप्यविवादास्पदतया स्वीकृतमिति तद्दृष्टान्तबलेन दीर्घोपयोगरूपचैतन्यस्यापि प्रमाणस्वरूपतयैकत्वं नयस्वरूपतया चानेकत्वमित्येवमुक्तचैतन्ये एकानेकात्मकत्वस्य सुखेनानायासेन भवति प्रतिपत्तिरिति रत्नावलीदृष्टान्तः सुखप्रतिपत्त्युपाय इति दृष्टान्तस्यैको गुणः। द्वितीयश्च यथा क्रमिकसन्निवेशविशिष्टरत्नसमूहस्य कथञ्चित् समूहिस्वरूपतयाऽनेकस्यापि रत्नावलीयमित्येकव्यपदेशजन्यं रत्नावलीस्वरूपसमूहापेक्षयैकत्वेन ज्ञानं प्रमाणम्, तज्जनकत्वात्तद्वाक्यमपि प्रमाणम्, तथा साकाङ्क्षसकलनयवाक्यजनितनयज्ञानानामपि दीर्घैकोपयोगरूपताश्रयणेनैकत्वमाश्रित्य प्रमाणमित्याख्याजनितं ज्ञानं प्रमाणविषयकं प्रमात्मकम्, तज्जनकत्वात्प्रमाणनयापेक्षयैकानेकात्मकचैतन्यस्वरूपप्रतिपादकवाक्यं नैश्चयिकवचनं प्रमाणमित्येवं या तद्गतप्रामाण्यप्रतिपत्तिस्तज्जनकत्वलक्षणप्रामाण्यप्रदर्शकत्वात्मको गुणः। एतदुभयमपि दृष्टान्ताऽप्रदर्शने सति न सम्भवति, न हि स्वरूपसन्नेव दृष्टान्तो दार्ष्टान्तिकं द्रढयितुं समर्थः, अतस्स स्वरूपप्रतिपत्तये प्रज्ञापनाविषयः प्ररूपणाविषयो भवति, ततश्च तथाज्ञातस्स स्वसदृशं दार्ष्टान्तिकं साधयितुं प्रगल्भ इति प्रज्ञापनाविषयत्वं तस्य तृतीयो गुणः।

'तेण वीसत्थमुवणीओ' तेन कारणेन विश्वस्तं निश्शङ्कं यथा ज्ञायते तथा, ज्ञापयितुमिति शेषः। उपनीत उपदर्शितो दृष्टान्तः। न चावस्थयवस्थातः प्रागुत्तरकाले च रत्नानां नियतोपलम्भात् प्रमाणावस्थायाश्च प्रागुत्तरकाले नयानां तदभावादुदाहरणवैषम्यमिति वाच्यम्, प्रमाणस्यैकानेकात्मकत्वोपपत्तिमात्रार्थमावस्थावस्थात्मकोदाहरणोपादानात्, सर्वथा साम्ये दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावानुपपत्तेरिति। एतेन रत्नावलीदृष्टान्तेन समुदिता नयास्सम्यक्त्वव्यपदेशं लभन्ते, अर्थात् प्रमाणमित्याख्यामवाप्नुवन्तीत्युक्तं भवति, तच्च युक्तियुक्तम्, यतो रत्नावल्यां दलप्रचयलक्षणस्समुदायस्सम्भवति, न च नयानां स युक्तः, तेषां ज्ञानरूपत्वेनैकदा रत्नानामिव तत्सम्भवाभावात्, एककालावच्छेदेनैकस्यैव ज्ञानस्योपगमादित्यपि निरस्तम्, न ह्यत्र दलप्रचयलक्षणस्समुदाय उच्यते, किन्त्वितरनयविषयीकृतरूपाव्यवच्छेदकत्वलक्षणः, उक्ताव्यवच्छेदकत्वमेव चान्योन्यनिश्रितत्वं गीयते, तच्च प्रागेवोक्तम्, इदमेव च प्रवृत्तिनिमित्तीकृत्य तत्र सम्यक्त्वपदं प्रवर्तते, रत्नावलीदृष्टान्तोऽपि निमित्तभेदेन व्यपदेशभेदज्ञापनार्थमेव प्रोक्तः, न त्वेकैकव्यक्तिप्रचयलक्षणसमुदायस्वरूपज्ञापनार्थमित्युक्तदोषाभावात् ॥ २६ ॥

अथ-"असदकरणादुपादान,-ग्रहणात्सर्वसम्भवाभावात् ।
शक्तस्य शक्यकरणात्, कारणभावाच सत्कार्यम् ॥ १ ॥"

माङ्ख्यतत्त्वकौमुद्यामित्युक्ते कारणेषु शक्तिरूपेण सदैव कार्यमभिव्यक्तस्वरूपतयो त्पद्यत, दुग्धे दधिवत् तिलेषु तैलवदिति रत्नादिकारणेष्वावल्यादिकार्यं सदवेति साङ्ख्यः । दुग्धादेरेव दध्यादिरूपेणेव कारणानामेव कार्यरूपेणाव्यक्तस्वरूपतया व्यवस्थितत्वात् तदव्यतिरिक्त विकारमात्र कार्यं परिणमत एव, अर्थात् कारणमेव स्वाभिन्नकार्यरूपतया परिणमत इति साङ्ख्यविशेष', अभूत्वा भवन प्रागसतः सत्तासम्बन्धो वोत्पत्तिरित्युत्पत्ति पूर्वकालावच्छेदेन कारणे नैव कार्यं विद्यते, न वा कारणमेव कार्यरूपेण परिणमते, किन्तु समवायिकारणात् पृथग्भूत तत्र चासत् सामग्रीत समवेत कार्यमुत्पद्यते, तच्च न स्वतो विनश्यति किन्तु विनाशसामग्र्येति यावत्तदभावस्तावत्तन्न विनश्यतीति स्थिरभूतमिति नैयायिकवैशेषिकादय', बौद्धा अपि उत्तरकार्यानुकूलकुर्वद्रूपात्मकतन्निमित्तकारणसहकृतोपादानकारणेन तत्रासत्कार्यं क्षणिकमुत्पद्यते, स्वोत्पत्युत्तरकालभाविभावानपेक्षणेन स्वोत्पत्त्यव्यव हितोत्तरक्षणे निर्हेतुकस्यैव तद्विनाशस्य भावादित्यसत्कार्यवाद प्रतिपद्यन्ते । न कार्यं कारण चास्ति, द्रव्यमात्रमेव तत्त्वमित्यपरे, ब्रह्मैव सत्, जगत्तु तद्विवर्त्तरूपम्, मायायाश्चाऽज्ञान पदवाच्याया विकाररूपम्, तथा च ब्रह्मणो विवर्त्तोऽज्ञानविकारश्च जगदिति वेदान्तिनो वदन्ति । तथा चोक्तम्—

" सतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा, विकार इत्युदीरित ।
अतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा, विवर्त्त इत्युदीरित. ॥"

सतत्त्वतः तत्त्वविशिष्टस्य अन्यथाप्रथाऽन्यथाभावो विकार इति प्रोच्यते, यथा मृद्-त्वत्त्व मृच्च तद्विशिष्टाया मृद' घटमान.-घटाकारपरिणामो मृद्विकार इत्युच्यते, यथा चाऽज्ञानस्य मायाया जगदाकारेण परिणामोऽज्ञानविकार इत्युच्यते । अतत्त्वतस्तत्त्वरहित स्यान्यथाप्रथाऽन्यथाभावो विवर्त्त इत्युच्यते, यथा लूताशरीरावच्छिन्नचेतनस्य तन्त्वाकार-परिणामो न भवति किन्तु लूताशरीरस्य तथाभाव., अतो लूतापदवाच्यचैतन्यस्य तन्त्वा कारो विवर्त्त इत्युच्यते, लूताशरीरस्य तु विकार इत्येवोच्यते, एवमज्ञानोपाधिविशिष्टस्य ब्रह्मणो जगदाकारेण परिणामाऽभावेऽपि जगदाकारेण भासमानत्वात् जगत् ब्रह्मणो विवर्त्त इत्येवोच्यते, अज्ञानस्य तु साक्षादेव जगदाकारेण परिणममानत्वादज्ञानविकारो जगदि त्युच्यते । इत्येवं नानाभिप्रायवन्त एकान्तवादिनो रत्नावलीदृष्टान्तस्यापि पूर्वोपदर्शितैका नेकात्मकत्व नैव मन्यन्ते इति तद्रूपतया स्वयमेवासिद्धस्स परस्परसाकाङ्क्षसकलनयजनित नयप्रमाणात्मकदीर्घोपयोगरूपैकचैतन्यात्मकदार्ष्टान्तिकसिद्धये न प्रभविष्णुः, तस्य साध्य समत्वादित्येवमेकान्तवचद्वादिमतप्रदर्शनपूर्वकं तन्मतनिरासायाह—

इहरा समूहसिद्धो, परिणामकओव्व जो जहिं अत्थो ।
ते त च ण तं त चे-वत्ति णियमेण मिच्छत्तं ॥ २७ ॥

'इहरा' इतरथा उक्तप्रकाराऽनभ्युपगमे, 'समूहसिद्धो' रत्नानां समूहे सति सिद्धः निष्पन्नः समूहसिद्धः, स क इति चेद्, रत्नादिष्वावल्यादिः, तत्र तस्य सद्भावात्, रत्नमालादिरूपेण रत्नादीनामाविर्भावात्, 'परिणामकओव्व' परिणामकृतो वा, यथा क्षीरादिषु दध्यादिः, तस्य तत्परिणामरूपत्वात्, क्षीरादीनामेव दध्यादिरूपेण परिणमनादिति । वस्तु गत्या सर्वस्यैव परमाणुसमूहपरिणामोभयकृतत्वेऽपि 'समूहसिद्धः' 'परिणामकृतो वा' इति विकल्पाभिधानं किञ्चित्कार्यं समूहकृतं किञ्चिच्च परिणामकृतमिति लौकिकव्यवहारापेक्षया, "जो जहिं अत्थो" यो यत्रार्थः, स आवल्यादिर्दध्यादिर्वा यत्र रत्नादिषु क्षीरादिषु वा, 'ते त च' ते रत्नादयस्तदेवावल्यादिकं, समूहसमूहिनोरभेदात्, क्षीरादिकं वा तद्दध्यादिकमेव, तस्य तत्परिणामरूपत्वात्, परिणामपरिणामिनोश्चाऽभेदादिति सत्कार्यवादः । 'ण त' न कारणमेव कार्यम्, किन्तु तद्भिन्नमसदेवोत्पद्यते तदित्यसत्कार्यवादः, 'त चेवत्ति' सदन् च, न कार्यं न वा कारणम्, किन्तु द्रव्यमात्रं तत्त्वमिति तदेवेत्यपरे, ब्रह्ममात्रं वा तत्त्वमित्यद्वैतवादः । "इति णियमेण मिच्छत्त" 'इति' एवं नियमेनैकान्ताभ्युपगमे सति मिथ्यात्वम्, सर्व एव एते मिथ्यावादाः, नियमेनेत्युक्त्या कथञ्चिदभ्युपगमे अर्थात्कारणं कथञ्चित्कार्यात्मकम्, परिणामः कथञ्चित्परिणाम्यात्मकः, कार्यं कथञ्चित्कारणात्मकं, कारणं वा कथञ्चित्कार्यात्मकम्, एवं परिणामोऽपि कथञ्चित्परिणाम्यात्मकः, एवं द्रव्यतत्त्वमपि कथञ्चित्र कार्यं न वा कारणमित्येवमभ्युपगमे सर्वे चैते सम्यग्वादा एवेत्युक्तं भवति ।

"यदुत्पादव्ययध्रौव्य-योगिता न बिभर्त्ति वै ।
तादृशं शशशृङ्गादि-रूपमेव परं यदि ॥ १ ॥"

इत्युत्पादादिसिद्धिग्रन्थवचनाद् न किमपि वस्तु तथाविधं यन्न व्येति नोत्पद्यते न ध्रुवति, देवभावेन विनश्य मनुष्यभावेनोत्पन्नोऽहम्, कुण्डलभावेन विनश्याङ्गदभावेन हेमोत्पन्नमित्याद्यनुभवाद्वस्तुमात्रस्योत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्रितयधर्मवत्त्वयैव सिद्धेस्तत्तद्वस्तु तत्तदपेक्षया कार्यमकार्यञ्च, कारणमकारणञ्च, कारणे कार्यं सच्चासच्च, कारणं कार्यकाले विनाशवत् अविनाशवच्च, तथैव प्रतीतेरन्यथा चाप्रतीतेः । तदेव तत्तद्वस्तुनोऽनुगतव्यावृत्तस्वरूपतयैकानेकात्मकत्वान्मण्यनुस्यूतरत्नावलीदृष्टान्तस्याप्येकानेकात्मतयैव सिद्धेर्न साध्यसमत्वमिति तद्दृष्टान्तबलादाऽऽत्मानुस्यूतनयप्रमाणात्मकदीर्घोपयोगरूपचैतन्यस्याप्यापेक्षिकैकाऽनेकात्मकतयैव सिद्धिरप्यप्रत्यूहेति सिद्धम् । ननु पूर्वोक्ततत्तन्मतेषु नियमेन मिथ्यात्वे किं बीजमिति चेत्, तदप्याकर्णय सावधानीभूय, तथाहि—दुग्धादौ कारणे दध्यादिकं कार्यं सदेव' इति साङ्ख्यमतं, तन्मते हि सर्वे एव भावास्स्वतस्सन्त एव कारकैः क्रियन्ते,

नासन्तः, न हि स्वतोऽविद्यमाना शशविषाणादयः कश्चिदपि शक्यन्ते कर्तुम्, सिकतासु वा तैलम्, असदुत्पत्तौ तु सर्वत्राऽसत्त्वाऽविशेषात्त्रियमाभावात्सर्वस्मात्सर्वकार्योत्पत्तिस्स्या दिति, तन्न युक्तियुक्तम्, यतः पूर्वं सदेव कार्यं चेत्, तदा कारणव्यापारेण नैव किमपि कर्त्तव्यमिति तद्वैफल्यमेव, किञ्च सदर्थविषये कारकव्यापार इष्यमाणे कारकव्यापारानु परमप्रसङ्गः, किं हि तदोपलक्ष्य कारकाणि निर्वर्त्तयेरन् ? कार्यसत्तामिति चेत्, न, त्वन्मते तस्या प्रागपि भावात्, अथ पूर्वं शक्तिरूपेण कार्यं सत् नाभिव्यक्तयापीत्यनभिव्यक्त तत्तेना भिव्यक्तीक्रियत इति तस्माफल्यमेवेति चेत्, मैवम्, यतस्साऽभिव्यक्तिः सती चेत्, तदा त त्करणायोगात् कारणव्यापारवैफल्यमेव, असती चेत्, तदा पूर्वमसत्यास्तस्यास्तेन मदुपलक्षक रणेन असदकरणादित्यादिनाभ्युपोक्तसिद्धान्तभङ्गप्रसङ्ग', अथ कारणव्यापारेणावरणनिनाश क्रियत इति तस्माफल्यमित्यपि पक्षो न युक्तः, यतोऽन्धकारविहितघटानुपलम्भे आवारकी भूताऽन्धकारोपलम्भवत् कस्यचित्कार्यावारकस्योपलम्भस्स्यात् न च तदुपलम्भ, येन तद्वि नाशकरणेन कारणव्यापारसाफल्यं स्यात्, न च कारणमेव कार्यावारकमित्यपि वक्तु शक्यम्, तस्य तदुपकारकत्वेन प्रसिद्धे । ननु यद् यद्दर्शनप्रतिबन्धकं तत्तदावारकं, यथा घट दर्शनप्रतिबन्धकमन्धकारं घटावारकं, कार्यदर्शनप्रतिबन्धकञ्च कारणमिति तत्तदावारकमिति चेत्, तर्हि चक्षुषा घटाऽदर्शनेऽपि तत्स्वार्थनप्रत्यक्षवच्चक्षुषा कार्यादर्शनेऽपि तत्स्वार्थनप्रत्यक्ष-प्रसङ्गस्स्यात्, अथ कार्यदर्शनप्रतिबन्धकत्वेन कारणं कार्यावारकं न, किन्तु पटादिवद् व्यवधायकत्वेनेति चेत्, तदपि न युक्तम्, व्यवधायकस्य पटस्य मिथ्यादेर्वा ध्वंसे घटादेरुपलम्भवद् व्यवधायकस्य कारणीभूतमृत्पिण्डस्य ध्वंसेऽपि घटकार्योपलब्धिप्रसङ्गः, क्षीरनीरादिवदत्यन्तिकसंश्लेषेण तदावारकत्वे च तत्पृथग्भावं विना तदनुपलब्धिप्रसङ्गः, निराकरिष्यते चाग्रे सत्कार्यवाद इति न किञ्चिदेतत् । एतेन कारणमेव स्वाऽभिन्नकार्यतया परिणमत इत्येवं लक्षणानर्थान्तरपरिणामवादोऽपि प्रतिक्षिप्तोऽवसेयः, अभेदे विशेषण विशेष्यभावस्येव परिणामपरिणामिभावस्याप्ययोगात् । यदपि कारणेऽसदेव कार्यं सामग्रीत उत्पद्यत इत्यसत्कार्यवादात्मकं नैयायिकवैशेषिकमतं तदपि " असतः सत्तासमवाय उत्पत्तिरि"त्युत्पत्तिलक्षणस्य समवायघटितत्वेन समवायस्यैकान्तभिन्नावयविनश्च पूर्वं निराम करणान्निरस्तमवसेयम् । कारणे सर्वथाऽसदेव क्षणिकं कार्यं कुर्वद्रूपात्मकपूर्वकारणादुप जायत इत्यसत्कार्यवादात्मकं बौद्धमतमपि न सङ्गतम्, एकान्तक्षणिकवादस्यैवाऽसिद्धेः । अथ यत्सत्तत्क्षणिकमिति व्याप्तेस्सत्त्वहेतो क्षणिकत्वसिद्धिः, एवं कृतकत्वहेतोरप्यनित्य त्वसिद्ध्या क्षणिकत्वसिद्धिरिति चेत्, मैवम्, साध्यसाधनभावो भेदनिबन्धन एव, अन्यथा स्वात्मना स्वसिद्धिस्स्यादिति यत्सत्तत्क्षणिकमित्यत्र यत्कृतकं तदनित्यमित्यत्र च त्वन्मते पक्षसाध्यहेतूनां वस्तुगत्या स्वलक्षणरूपत्वेनाभेदात् साध्यसाधनधर्मभेदाऽसिद्धौ

सत्त्वहेतोः क्षणिकत्वस्य कृतकत्वहेतोश्चानित्यत्वस्यासिद्धेः । अथ सत्त्वक्षणिकत्वयोः कृतकत्वाऽनित्यत्वयोश्चाऽतद्व्यावृत्तिलक्षणतद्व्यावृत्तिरूपतया तद्भेदेन भेदस्वीकारान्नैष दोष इति चेत्, तदप्यसत्, यतस्तत्तद्व्यावृत्तिभेदो न स्वतः, तासां तुच्छरूपत्वेनाभ्युपगमात्स्वतो भेदस्याऽयोगात्, योगे वा भेदस्य तद्व्यावृत्तिभेदकत्वाद्वस्तुत्वं स्यात्, अन्यथा भेदस्य तत्तद्व्यावृत्तिभेदकत्वमेव न स्यात्, असद्रूपत्वात्, तथा च वस्तुत्वस्यानेकान्तात्मकत्वव्याप्यत्वेन व्याप्यस्य तस्य सत्त्वे व्यापकस्यानेकान्तात्मकत्वस्यापि सत्त्वात्तत्सिद्धेरिसिद्धं नस्समीहितम्, किञ्च तत्तद्व्यावृत्तीनामिव घटपटादिवस्तूनामेव स्वतो भेदोऽस्तु किमन्तर्गडुतद्व्यावृत्तिभेद कल्पनया । नन्वेवं तद्वन्नुगतप्रतीतिः कथं स्यादिति चेत्, उच्यते-वस्तुनस्सामान्यविशेषोभयात्मकतयाऽनेकान्तात्मकत्वात्सामान्यांशमादायानुगतप्रतीत्युपपत्तिस्स्यादेवेति । अथ व्यवच्छेद्यभेदात्तत्तद्व्यावृत्तिभेद इत्यपि न युक्तम्, भवन्मते क्षणिकेतरव्यावृत्तेस्सदितरव्यावृत्तेश्च एवमनित्येतरव्यावृत्तेः कृतकेतरव्यावृत्तेश्च व्यवच्छेद्यस्य परमार्थभूतस्य कस्यचिदभावात्तासां भेदाभावप्रसक्तेः, अथ व्यवच्छेद्यस्य पारमार्थिकस्य कस्यचिदभावेऽपि तस्य कल्पनया सत्त्वमस्त्येवेति काल्पनिकव्यवच्छेद्यभेदाद्भेदोऽस्त्विति चेत्, तदपि न सङ्गतम्, व्यवच्छेद्यस्य नित्यस्य कल्पना नित्येतरव्यावृत्त्या, अन्यथा नित्यानित्ययोरेकत्वापत्तिस्स्यात्, तथा च नित्येतरव्यावृत्त्यनित्येतरव्यावृत्त्योरन्योन्यव्यवच्छेद्यभेदेन भेदव्यवस्थितौ कथं नान्योन्याश्रयः, तथाहि-कल्पितनित्यस्य नित्येतरभिन्नतया सिद्धौ तद्व्यवच्छेदेनानित्यत्वसिद्धिः, अनित्यतरभिन्नतया अनित्यत्वस्य सिद्धौ च तद्व्यवच्छेदेन नित्यत्वसिद्धिरित्यन्योन्यापेक्षत्वादन्योन्याश्रयदोषापत्तितो नान्यतरस्यापि सिद्धिः, व्यावृत्त्योर्भिन्नतया चाऽसिद्धौ न साध्यसाधनभाव इत्यतो न क्षणिकत्वसिद्धिः । अथ तत्तद्व्यावृत्तीनां व्यवच्छेद्यभेदाद्भेदो मास्तु, बुद्धिप्रतिभासभेदात्तु स स्याद् तेन च साध्यहेत्वोर्भेद इति भेदनिबन्धनसाध्यसाधनभावात्सत्त्वहेतुना क्षणिकत्वसिद्धिरिति चेत्, तर्हि, शब्द इति बुद्धिप्रतिभासाच्छब्दत्वबुद्धिप्रतिभासस्य भेदेन शब्दाच्छब्दत्वस्य भेदात्तस्य साधनभावस्स्यात्, तथा च शब्दोऽनित्यः शब्दत्वादित्याद्यनुमानस्यापि प्रामाणिकत्वापत्त्या न शब्दत्वहेतुः प्रतिज्ञार्थैकदेशाऽसिद्धो हेतुस्स्यात्, अयम्भावः—प्रकृते पक्षेण शब्देन सम शब्दत्वहेतोरैक्यमाश्रित्य पक्षहेत्वोरैक्यात्प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वं शब्दत्वहेतोर्यदिष्टं तन्न स्यात्, पूर्वोक्तरीत्या शब्दशब्दत्वयोर्भेदाभ्युपगमात् । न च शब्द इति बुद्धिप्रतिभासाच्छब्दत्वमिति प्रतिभासस्य भेदो नेति वाच्यम्, आकारभेदस्य ज्ञानभेदप्रयोजकस्याऽत्रापि सद्भावात्, अन्यथैकमेव ज्ञानं स्यात्, आकारभेदेऽपि बुद्धिप्रतिभासभेदानभ्युपगमे विषयभेदासिद्ध्या शब्दशब्दत्वयोर्धर्मधर्मिभाव एव न स्यात् । अथ प्रतिभासभेदेऽपि व्यवच्छेद्यभेदाभावान्न शब्दशब्दत्वयोर्भेद इति शब्दत्वहेतोः प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वम्, नन्वेवं तर्हि भावाभिधायी शब्दत्वशब्दो द्रव्याभिधायी शब्दशब्द इति तयोः पर्यायत्वं स्यात्, धर्मभूतशब्दत्वाभिधायि

शब्दधर्मिभूतस्वलक्षणात्मकशब्दाभिधायिशब्दयोरेकार्थाभिधायित्वात् [illegible], अन्यथा प्रतिज्ञार्थैकदेशताऽपि न स्यात् । तच्च भवदभिप्रायेण [illegible] कृतकत्वाऽनित्यत्वयोस्साध्यसाधनभावः, भेदाभावात् । अथ यत्नानन्तरीयकत्वहेतु० [illegible] भेदनियतस्सम्बन्धः, अत्र तु स्वभाव एव हेतुरिति [illegible] नित्यकृतकयोरभेदाच्च नियतस्तादात्म्यसम्बन्ध एव, तथा च [illegible] त्वयोर्भेद एव कल्पनानिर्मितो न त्वभेदः, अतो [illegible] भेदनियततादात्म्यसम्बन्धाच्च गम्यगमकभाव इति युक्तं [illegible] विकल्पेन भेदेन निश्चीयमानं क्षणिकत्वाध्यवसायिनिश्चयेन [illegible] गमकम्, एवमेव कृतकत्वमनित्यत्वस्य, यतो विकल्प[illegible]नुमानद्वारा स्वलक्षणविषयत्वं, एवमनुमानद्वारा निश्चितविकल्पविषयत्वेन [illegible] श्रयासिद्धत्वम्, सत्त्वक्षणिकत्वयोः कृतकत्वानित्यत्वयोश्च [illegible] काल्पनिकभेदरूपत्वाच्च वा गम्यगमकभावाभावः, [illegible] वास्तवतयोर्वास्तविकाभेदनिबन्धनेतादात्म्यसम्बन्धादिति चेत्, स्यादेतत्, यदि स्वलक्षणस्य कुतश्चित्प्रमाणात् सिद्धिस्स्यात्, न चैव निरंशं तत्सिद्धम्, तथाभूतस्य [illegible] प्रतीयमानत्वात्, यादृग्भूतं कृतकत्वाद्यनेकधर्माध्यासितं प्रत्यक्षे सम्प्रतिभाति तन्न निरंशं, यतस्तदनुमानद्वाराऽऽयातसत्त्वक्षणिकत्वादिविकल्पप्रतिभासिना धर्माधर्मिभावेन [illegible] साध्यसाधनभाव उपपद्येत, न चानुमानत एव निरंशस्वलक्षणसिद्धिरिति वाच्यम्, तस्यासिद्धावनुमानस्यैवाप्रवृत्तेः । अथ विनाशः स्वप्रतियोग्युत्पत्तिक्षणाव्यवहितोत्तरक्षणभावी स्वप्रतियोग्युत्तरभाविभावानपेक्षत्वात्, यद् यदुत्पादने स्वोत्तरभाविभावानपेक्षं तत् स्वाव्यवहितोत्तरक्षण एव तदुत्पादकम्, यथाङ्कुरोत्पादनेऽन्त्या सामग्री [illegible] क्षणिकत्वं सेत्स्यतीति चेत्, तदप्यसङ्गतम्, शाल्यङ्कुरोत्पादने समग्रसामग्रीसमवधान[illegible]नपेक्षेऽपि यवबीजादिषु तदुत्पादकत्वाभावेन हेतोरनैकान्तिकत्वात्, अथ यद् यदुत्पादकस्वभावं तद् यदुत्पादने स्वोत्तरभाविभावानपेक्षं तत् स्वाव्यवहितोत्तरक्षणे तद् उत्पादयतीति नोक्तदोषः, यवबीजादीनां [illegible]ङ्कुरोत्पादकस्वभावाभावेन [illegible]नपेक्षत्वस्य हेतोस्तत्राभावादिति चेत्, तर्हि यस्मिन् क्षणे विनश्यत्स्वभावो यो भावस्तदव्यवहितोत्तरक्षणे तस्य नाशो भवतु, यश्च कृतकोऽपि भावः प्रथमक्षणे न तथास्वभावस्तस्य न तदव्यवहितोत्तरक्षणे [illegible] न [illegible] क्षणिकत्वम्, तथा च यत्सत् तत् क्षणिकमिति व्याप्त्यसिद्धेर्न [illegible] क्षणिकत्वं [illegible] । अथ कार्यक्रमः स्वातिरिक्तकारणक्रमात्, न तु स्वतः, यत्र न [illegible] न तत्र कार्यक्रमः, तथा च भावस्य स्वविनाशे न स्वातिरिक्त[illegible] [illegible] भावाच्च भावस्य ध्वंसोत्पादने विलम्ब इत्यायातं क्षणिकत्वमिति चेत्, [illegible] भिन्नशक्तिमत्या विचित्रप्रकारास्सामग्र्यो दृश्यन्ते, तत्र [illegible]

स्पादिका, काचिच्च नेत्यनश्वरात्मान सा जनयेत्, यथा विलक्षणात्पशुविशेषशृङ्गादेव शरो भवति, न सर्वस्मादित्यायात क्षणिकाक्षणिकस्वरूपत्व वस्तुन इति । अथान्ते विनाशित्वेनोप लब्धाना प्रतिक्षण ध्वंसो यदि न स्यात्तर्ह्यन्तेऽपि क्षणे ध्वंसप्रतीतिर्नोपपद्येत, द्वितीयक्षणेऽपि भावस्य स्थितिस्वीकारे सर्वदा स्थितिप्रसङ्गात्, तथाहि–किं भावस्य स्वरूपम्, द्विक्षणस्था यित्वमिति चेत्, तर्हि द्वितीयेऽपि क्षणे द्विक्षणस्थायित्वस्वभावस्यानतिक्रम एव, अतिक्रमे वा प्रथमक्षणे द्विक्षणस्थायित्वस्वभावस्य द्वितीयक्षणे एकक्षणस्थास्नुस्वभावस्य च भेदेन धर्मभेदाद्धर्मिणोरपि भिन्नत्व स्यात्, तथा चायात क्षणिकत्वमित्यतो द्वितीयेऽपि क्षणे तत्स्व भावस्वीकरणीय एव, स च स्वभावो न तृतीयक्षणवृत्तित्वमन्तरेण, एव तृतीयचतुर्थादिषूत्तरो त्तरक्षणेऽपि तत्स्वभावानपगम एव, अपगमे वा क्षणिकत्वप्रसङ्गः पूर्वोक्तरीत्या तदवस्थ इत्या ससार भावस्य स्थितेरविनाशाद्विनाशप्रतीतिर्दुर्लभा स्यात्, न चैवम्, अतस्तत्प्रतीत्यन्यथाऽ नुपपत्त्या प्रतिक्षण विनाशरिसद्ध्यति । किञ्चाद्ये क्षणे योऽभूत्स भवनलक्षणस्वभावस्स एव चेद् द्वितीयेऽपि क्षणे तदा तदाऽप्युत्पत्तिरेव, न स्थितिरित्यायात क्षणिकत्वम्, द्वितीयेऽपि क्षणे स्थितेरभावात् । अथ प्रथमक्षणे जन्मैव, न स्थितिः, द्वितीयेऽपि क्षणे स्थास्नुस्वभाव एव नोत्पदिष्णुस्वभाव इति विरुद्धधर्माध्यासाभावेन न क्षणिकत्वमिति चेत्, तर्ह्येकस्मिन् विरुद्धधर्माध्यासप्रसङ्गेन धर्मद्वयाऽयोगेन तद्धर्मिणोर्भिन्नत्व वाच्यम्, एवञ्च यस्य जन्म न तस्य स्थितिर्यस्य स्थितिर्न तस्यैव जन्म किन्त्वन्यस्यैव, तथा च जन्मक्षणवृत्तित्वतदन्य- क्षणवृत्तित्वप्रयुक्तस्थितेरभावादायात क्षणिकत्वम् । किञ्च परस्परभिन्नयोः पूर्वकालसम्बन्धि- त्वापरकालसम्बन्धित्वयोर्विरुद्धस्वभावत्वेन तद्भेदाद्धर्मिणोरपि भिन्नत्वमिति स्वभावभेदेन क्षणिकत्वस्यैव सिद्धेस्सिद्धा विनाश प्रत्यनपेक्षा भावस्येति चेत्, मैवम्, स्वहेतोरेव भूत भविष्यद्वर्त्तमानस्वभावत्वेन त्रिकालस्थायितया प्रथमक्षण एवोत्पन्नो भावः, तथाहि–भूत क्षणेऽभवँस्तिष्ठन् वर्त्तमानक्षणे भविष्यत्क्षणे स्थास्यन् स्वभाव इति त्रिस्वभावतया समुप जातो भावः, न च परापरकालसम्बन्धित्वस्य विरुद्धधर्मत्वम्, तत्स्वभावतयैवोत्पन्नत्वात्, अथ भविष्यत्क्षणे स्थास्यन् इत्यस्य भविष्यत्कालीनस्थितिमान् घट इत्यर्थः, स च न युक्त्युपपन्नः, यतस्समानकालीनयोरेव विशेषणविशेष्यभावः, न तु भिन्नकालीनयोरपि, तयो स्सम्बन्धायोगात्, तथा च भविष्यत्कालावच्छिन्नस्थितेर्वर्त्तमानकालेऽभावेन न तद्विशेष्यत्व मिदानीन्तनघटस्य, असदेतत्, तथाप्रतीत्यनुरोधेन तत्स्वीकारात्, तथा चानागतकालस्ये- दानीमभावेन तदवच्छिन्नस्थित्यभावेऽपि तद्विशेष्यत्व वर्त्तमानघटादिभावस्याविरुद्धमेव, अन्यथा सव्येतरगोविषाणवत् समानकालीनयोरपि सम्बन्धायोगस्समान एवेति विशेषण विशेष्यभावाऽभाव एव, तथाहि–किं समानकालीनयोः कार्यकारणभावस्तादात्म्य वा सम्बन्धः, नाद्यः, पूर्वापरवर्तिनोरेव तत्स्वीकारेण सिद्धान्तव्याकोपप्रसङ्गात्, नापि द्वितीयः, सर्वथाऽभेदे तदयोगात्, अन्यथा घटस्यापि घटतादात्म्यसम्बन्धात घटविशेष्यत्वापत्त्या

घटोघट इति प्रतीत्यापत्तिस्स्यात्। तस्मादुभयात्मकवस्त्वेव तत्त्वम्, तथा च वर्त्तमान भविष्यत्कालावच्छिन्नघटादिव्यक्तेरैक्येऽपि पूर्वापरकालात्मकविशेषणभेदेन कथञ्चिद्भेदस्तत्कारेण विशेषणविशेष्यभावोपपत्तेः स्थास्यन् वर्त्तमानो घट इति प्रतीत्युपपत्तिस्स्यादेवेति, न चैकस्मिन् स्थिरे पदार्थे पूर्वापरकालसम्बन्धित्वयोर्विरोधदोषाघ्रातत्वान्नोपपत्तिरिति वाच्यम् एव सत्येकस्य परमाणोः परमाणुषट्केन युगपत् सयोगसम्बन्धबलात्परमाणोरपि षट्त्व स्यात्, तदुक्तम्—"षट्केन युगपद्योगात् परमाणो षडशता" इति। तस्मादेकस्य परमाणोः तद्दिगवच्छेदेन तत्परमाणुना तदन्यदिगवच्छेदेन तदन्यपरमाणुना सह युगपत्सयोग सम्बन्धवत्स्थिरस्यापि पदार्थस्य पूर्वोत्तरकालावच्छेदेन पूर्वापरकालसम्बन्धोपपत्तेर्नापरापर कालसम्बन्धप्रयोज्यापरापरस्वभावभेदो विरुद्धः, येन विरुद्धधर्माध्यासेन भेदापत्त्या क्षणिकत्व सिद्ध स्यात्। एतेनैकस्य परमाणो' किं सर्वात्मनाऽपरपरमाणुभिरभिसम्बन्धः, किं वैकदेशेन, आद्ये सम्बन्धिद्वययोरेकपरमाणुरूपत्वापत्त्या परमाणुमात्र पिण्डस्स्यात्। द्वितीयविकल्पेऽपि त एकदेशा देशिभूतपरमाणुस्वरूपाः किं वा तद्भिन्नस्वरूपाः, आद्ये भिन्नैकदेशानामेवाभावान्नैकदेशेनाभिसम्बन्धः, द्वितीये च ते एकदेशा परमाणुभिस्सम्बद्धा असम्बद्धा वा, यद्यसम्बद्धास्तदा स्वमतक्षतिः, सम्बद्धाश्चेत्तदा सर्वात्मना, एकदेशेन वा, सर्वात्मनाऽभिसम्बन्धपक्षे एकदेशैकदेशिनोरभेदादेकदेशाऽभावान्नैकदेशेनाभिसम्बन्धः परमाणूनाम्। एकदेशेनैकदेशानामेकदेशिनाऽभिसम्बन्धपक्षेऽपि चैकदेशाना ततो भेदाभेद कल्पनाया तदवस्थः पर्यनुयोगोऽनवस्था च, न च प्रकारान्तर दृष्टम्, येन परमाणूनामभिसम्बन्धस्स्यादित्यतोऽनुपलभ्यमानसम्बन्धकल्पनायां प्रमाणाऽभावेन षट्केन युगपत्सम्बन्धात् परमाणोः षडशता स्यादित्युक्तमापादनमपि न युक्तियुक्तमिति कुचोद्यावकाशोऽपि निरस्तः, परमाणूनां द्रव्यनयेन निरंशतयैवाभ्युपगमेन कार्त्स्न्येनैकदेशेन चैकपरमाणोः परमाण्वन्तरेणाभिसम्बन्धाऽभावेऽपि इमौ सयुक्ताविति प्रतीत्यन्यथानुपपत्त्या प्रकारान्तरेणैव सम्बन्ध इति कल्पनाया एव प्रमाणभूतत्वात् अन्यथा परमाणूनामसम्बद्धानां जलधारणाद्यर्थक्रियाकारित्वमेवानुपपन्न स्यात्। रज्वादीना चैकदेशाकर्षणे तदपरदेशाकर्षणमुपलभ्यमान न स्यात्। अथाभावप्रयुक्तव्यवधानस्य योऽभावस्तल्लक्षणनैरन्तर्यमात्रादेव सयुक्तप्रतीत्याद्युपपत्तेः किमर्थान्तरसयोगकल्पनयेति चेत्, मैवम्, तद्भावमुखेन प्रतीयते न स्वभावमुखेनेति तस्य भावरूपत्वे नामान्तर एव विवादात्, तथा च भावमुखेन प्रतीयमानस्य नैरन्तर्यात्मकस्यापि सयोगस्यानभ्युपगमे कार्योत्पत्तिरहेतुका स्यादिति सोऽभ्युपगन्तव्य एव, तस्मात्पूर्वापरकालसम्बन्धयोगेऽपि स्वभावभेदानैकान्ततः क्षणिकत्वम्, किन्तु नीलपीताद्याकार समूहालम्बनज्ञाने यथा स्वरूपत एकत्वेऽपि नीलाकारत्वपीताद्याकारत्वरूपविभिन्नस्वभावत्वेनानेकत्वमविरुद्धं भवताऽभ्युपगत तथैकस्मिन्नप्यक्षणिकवस्तुनि तत्तत्कालसम्बन्धप्रयुक्तापरापरस्वभावभेदेन कथञ्चिदनेकत्वमविरुद्धमित्येकानेकत्वरूपतया प्रतीयमाने पदार्थे एकान्त

भेदानुपपत्त्या स्वप्रतियोग्युत्तरभाविभावानपेक्षत्वहेतोरसिद्धेः विनाशे स्वप्रतियोग्युत्पत्तिक्षणाव्यवहितोत्तरक्षणभावित्वसिद्धिर्नेति सिद्धम् । एतेन विनाशो निर्हेतुकः स्वप्रतियोग्युत्तरभाविहेत्वनपेक्षत्वादित्यनुमानेन निर्हेतुकत्वे सिद्धे विनाशः स्वप्रतियोग्युत्पत्त्यनन्तरमेव भवति निर्हेतुकत्वादित्यनुमानेन क्षणिकत्वसिद्धिरित्यपि निरस्तम्, मुद्गरादिना घटो ध्वस्त इति प्रतीतेर्विनाशस्य निर्हेतुकत्वस्यैवाऽसिद्धेः । किञ्चान्वयव्यतिरेकग्रहाधीन एव कार्यकारणभावग्रह इतीतरसकलकारणसद्भावे सति मुद्गरादिसत्त्वे घटध्वंस, तदभावे तदभाव इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां मुद्गरादेर्हेतुत्वे सिद्धे विनाशस्य निर्हेतुकत्वं निर्युक्तिकमेवेति पूर्वोक्तानुमानेन न क्षणिकत्वसिद्धिरिति । एतेन यो यन्मात्रहेतुको यो यदधीनत्वेन ध्रुवभावी वा स तदुत्पत्त्युत्तरक्षणेऽवश्यमभ्युपगन्तव्य इति सामान्यव्याप्तिमूलकं विनाशः स्वप्रतियोग्युत्पत्त्युत्तरक्षणेऽवश्यमभ्युपगन्तव्यः स्वप्रतियोगिमात्रहेतुकत्वात् स्वप्रतियोग्यधीनत्वेन ध्रुवभावित्वाद्वेत्यनुमानमपि निरस्तम्, ध्वंसवत्स्थितिरपि स्वाश्रयोत्तरक्षणेऽवश्यमभ्युपगन्तव्या स्वाश्रयमात्रहेतुकत्वात् स्वाश्रयाधीनत्वेन ध्रुवभावित्वाद्वेत्यापत्तिप्रसङ्गात् । अन्ततो यदेव हेमद्रव्यं कुण्डलरूपेणोत्पद्यते तदेवाङ्गदादिरूपेण विनश्यतीत्यादिप्रत्ययानुरोधेनोत्पादध्वंसयोरेकाधिकरणवृत्तित्वापापि द्रव्यरूपस्थित्यन्वयस्याभ्युपगन्तव्यत्वापत्तेश्चेति । अथाऽक्षणिके क्रमेण तत्तत्कार्यकारित्वस्वभावत्वे तत्तत्कार्यभेदेन तत्तत्कार्यतानिरूपितकारणत्वस्वभावानां भिन्नत्वात्स्वभावतद्वतोरभेदाद् यावन्तस्स्वभावास्तावद्भेदप्रसङ्गेनैकत्वमेव तस्य व्याहतं स्यात्, युगपदेव कार्यकारित्वस्वभावत्वे चानागतकार्याणामप्युत्पत्तिप्रसङ्गः, अविकलकारणत्वात्, तथा चैकक्षण एव सकलकार्योत्पत्तेर्द्वितीयक्षणेऽकिञ्चित्करत्वेन गगनारविन्दतुल्योऽक्षणिकभावस्स्यात् । न चैको भावः सकलकालकलाभाविनीर्युगपत्सर्वाः क्रियाः करोतीति प्रातीतिकमपि । किञ्च क्रमेणार्थक्रियां साधयन् स्थिरो भावो विवक्षिततत्तत्क्षणावच्छिन्नकार्यं प्रतीव तत्तदुत्तरक्षणावच्छिन्नकार्यं प्रति समर्थस्वभावः किंवाऽसमर्थस्वभावः, तत्र नाद्यपक्षो युक्तः, समर्थस्वभावस्य क्षेपाऽयोग इति विलम्बेन कार्यकरणे हेत्वभावेन कालान्तरभाविनीः क्रियाः प्रथमक्रियाकाल एव प्रसह्य कुर्यात्, समर्थस्य कालक्षेपाऽयोगात्, कालक्षेपाभ्युपगमे वाऽसामर्थ्यप्राप्ते, नापि द्वितीयपक्षस्सङ्गतः, असमर्थस्वभावत्वादुत्तरकालावच्छिन्नं तेन कार्यं नोत्पद्येत ततोऽर्थक्रियाकारित्वाभावात्तदानीमसद्रूपः स्यात् । अथोत्तरकालावच्छिन्नकार्यं प्रति पूर्वकालावच्छेदेनैवाऽसमर्थं न तूत्तरकालावच्छेदेनापीति चेत्तर्हि उत्तरपूर्वकालावच्छिन्नसामर्थ्यासामर्थ्यलक्षणविरुद्धधर्माध्यस्तत्वेनैकस्या अपि व्यक्तेर्भेदप्रसक्त्या स्थैर्यं न स्यात् । समर्थस्यापि सहकार्यपेक्षया विलम्ब इति चेत्, तर्हि तस्य सामर्थ्यमपरसहकारिसापेक्षवृत्तिकसञ्जातमिति भावस्स्वतोऽसमर्थस्वभावस्स्यात्, "सापेक्षमसमर्थम्" (पात० महा० ३. १–८) इति वचनात्, तस्य स्वतस्सामर्थ्ये वा सहकारिद्वारोपजायमानानि कार्याणि स नैवोपेक्षेत, अपि तु झटित्येव तानि घटयेत्, अन्यथा तत्सामर्थ्यस्वीकारोऽजागलस्तनवन्निष्फलकस्स्यात् ।

किञ्च ते सहकारिणः किञ्चित्करा अकिञ्चित्करा वेति विकल्पद्वयम्, अकिञ्चित्करत्वे सहकार्यपेक्षानुपपत्तेः, किञ्चित्करत्वादेव तदपेक्षेति चेत् तत्र पृच्छामः किं कारणस्य स्वरूपलाभार्थं सहकार्यपेक्षा, उतोपकारार्थम्, किं वा कार्यार्थमिति, न प्रथमः, स्वरूपस्य कारणाधीनस्य नित्यस्य वा पूर्वसिद्धत्वात्, न द्वितीयः, स्वयं समर्थेऽसमर्थे वोपकारस्यानर्थकत्वात्। नापि तृतीयः, कारणस्य कार्यानुकूलसामर्थ्ये सहकारिणमन्तरेणापि तत एव कार्योत्पत्तेः, कार्यानुकूलाऽसामर्थ्ये च सहकारिणस्सत्त्वेऽप्युक्तस्वभावस्य तदवस्थत्वादेव कार्यानुत्पत्तेस्सहकारिणोऽकिञ्चित्करत्वेन नापेक्ष्यत्वं सम्भवतीति कार्यार्थमपि तदपेक्षाऽयोगादिति, अनेकाधीनस्वभावतया कार्यमेवापेक्षत इति चेत्, न, कार्यस्य पूर्वमसिद्धत्वेनान्यस्याऽपेक्षाऽयोगात्। स्वतन्त्रकारणानुविधायित्वे च कार्यस्य स्वतन्त्रकारणतदन्यापेक्षत्वाऽयोगात्, अथवा केयमपेक्षा नाम, किं तैस्सह करोतीत्यन्वयपर्यवसितः स्वभावभेदः, उत तैर्विना न करोतीति व्यतिरेकपर्यवसायिस्वरूपविशेषः, आहोस्वित्तैरुपकृतः करोतीत्युपकारभेदः, आद्यपक्षे तैः सह करोतीत्यत्र सहकारिसाहित्यार्थकं तैस्सहेत्यन्तमुपलक्षणम्, किं वा विशेषणमिति विकल्पद्वयम्, यद्युपलक्षणं, तर्हि तस्य विशिष्टशरीराप्रविष्टत्वात्करोतीत्येतावन्मात्रस्य स्वभावत्वप्रसक्त्या सहकार्यऽसमवधानकालेऽप्युक्तस्वभावस्य सद्भावेन कार्योत्पत्तिप्रसङ्गस्स्यात्। यदि विशेषणं, तर्हि कर्तृत्ववत् सहकारिसाहित्यस्यापि स्वभावानुप्रविष्टत्वात् सहकारिणो न कदापि जह्यात्, प्रत्युत पलायमानानपि तान् गले पादेनाकृष्यानयेत्, अन्यथा स्वभावहानिप्रसङ्गात्, अत एव न द्वितीयोऽपि पक्षो युक्तः, पूर्ववत्सर्वदाऽकर्तृत्वप्रसङ्गात्। सहकारिविरहादेवाऽकर्तृत्वस्वभावश्चेत् तर्हि कालान्तरेऽपि स्वहेतुवशादुपसर्पतोऽपि सहकारिणः पराणुद्य न कुर्यादेव, तद्विरहप्रयुक्ताऽकर्तृत्वस्वभावत्वात्। अयम्भावः—तैर्विनेत्यस्य विशेषणत्वात्तस्योक्तस्वभावप्रविष्टत्वेन कदापि तत्परित्यागाऽभावेन सहकारिकालेऽप्युक्तस्वभावस्य सत्त्वेन तदानीमपि कार्यं न कुर्यादेवेति। अथ सहकारिषु सत्सु कर्तृस्वभावः, तद्विरहेऽकर्तृस्वभाव इति स्वभावद्वयमेवेति चेत्, तर्हि विरुद्धधर्माध्यासेनैकस्या अपि व्यक्तेर्नानात्वप्रसङ्गेन स्थिरत्वहानेः क्षणिकत्वसिद्ध्याऽस्माकमेव सिद्धिस्स्यात्, न चोक्तस्वभावद्वयस्य पूर्वोत्तरकालावच्छेदेनाभ्युपगमान्न विरुद्धधर्माध्यास इति वाच्यम् स्वभावतद्वतोरभेदात्स्वभावयोर्भेदे तदभिन्नधर्मिणोरपि भेदस्यावश्यम्भावात्, एकस्य धर्मिणस्स्वाभिन्नस्वभावद्वयायोगात्, योगे वा तद्वद् धर्मिणोऽपि द्वैतप्रसङ्गस्स्यात्, धर्मिण इव स्वभावद्वयस्यापि वैक्यप्रसङ्गस्स्यात् तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वनियमादिति। स्वभावतद्वतोर्भेदे हिमाद्रिविन्ध्याचलयोरिव सम्बन्धाऽयोगेन स्वभावयोर्धर्मिणि सत्त्वाऽयोगेन निस्स्वभावत्वनामतो धर्मिणः किञ्चित्कार्यकारित्वं न स्यादिति। तृतीयपक्षस्तु बहुदुःखानवस्थादुस्थः, तथाहि–सर्वदोषकारप्रसङ्गपरिहाय सहकारी कारणे उपकारं सहकार्यन्तरमपेक्ष्यैव करोतीत्यभ्युपगन्तव्यम्। सहकार्यन्तरमपि सहकारिण्युपकारं कुर्वत् सहकार्यन्तरमपेक्ष्यैव तं करोति, तदपि सहकार्यन्तरं सहकार्यन्तरे सहकार्य-

न्तरमपेक्ष्यैव न निष्पत्ते, एवमग्रेऽपीत्यनवस्थाऽऽद्या। सहकारिकृतोपकारेण समर्थेन सर्वदा कार्योत्पादप्रसङ्गभीत्योपकारान्तरमपेक्षणीयं स्यात्, तेनाप्यन्योपकारोऽपेक्षणीयस्स्यात्, तेनाप्यन्य इत्येवं द्वितीयाऽनवस्था। तथा सहकारिणा कर्त्तव्यस्योपकारस्य धर्म्यभेदे सहकारिणा धर्म्येवोत्पादितस्स्यात्, न चेदं युक्तम्, कारणीभूतस्य धर्मिणस्स्वसामग्रीत एवोत्पन्नत्वात्, धर्मिभेदे तु तस्य किमायातम्, भेदे सम्बन्धाऽयोगेन धर्मिणोऽनुपकृतत्वेन तदवस्थत्वात्। अथ भिन्नेनाप्युपकारेण धर्मिणि किञ्चिदुपकारान्तरमाधेयम्, तर्हि तेनापि तत्रान्यदाधेयं स्यादिति तृतीयाऽनवस्थाऽऽकाशतलावलम्बिनी स्यादिति तदेवमक्षणिके क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात्ततः क्रमाक्रमाभ्यां व्याप्ताऽर्थक्रिया व्यापकानुपलब्धिबलाद् व्यापकनिवृत्तौ निवर्त्तमाना व्याप्यमर्थक्रियाकारित्वं निवर्त्तयति, तदप्यर्थक्रियाकारित्वं व्यापकं निवर्त्तमानं स्वव्याप्यं सत्त्वं निवर्त्तयतीत्यक्षणिकस्यासत्त्वे सिद्धे प्रकारान्तराभावात् क्षणिक एव सत्त्वं विश्राम्यतीति सत्त्वक्षणिकत्वयोर्व्याप्तिसिद्ध्या क्षणिकत्वं सेत्स्यतीति चेत्, उच्यते, समाधिः क्षणिकेऽपि क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधस्याक्षणिकवादिनापि वक्तुं शक्यत एव, तथाहि—न हि कारणभेदमन्तरेण कार्यस्य भेद उपलभ्यते, अन्यथैकस्मादेव कारणादनेककार्योत्पत्तिर्भविष्यतीति भिन्नकार्योत्पत्त्यर्थं भिन्नकारणोपादानार्था प्रवृत्तिर्निष्फला स्यात्, तथा चैकस्मादेव प्रदीपाद् युगपदेव स्वोपादेय–स्वविषयकज्ञान–घटादिविषयकज्ञान–तमोऽभिभव–वर्त्तिविकारादयो भवन्ति, तत एकक्षणेऽप्येकस्य प्रदीपस्य कार्यभेदप्रयोजकस्वभावभेदेन भवन्मतेऽनेकत्वं स्यात्, एवं पूर्वरूपस्योपादानभावेनोत्तररूपं प्रति, सहकारिभावेन चोत्तररसादिकं प्रति कारणत्वादेकस्यापि पूर्वरूपस्यानेकत्वं स्यात्, स्वभावभेदमन्तरेण कार्यभेदाऽयोगात्, एकस्वभावजन्यत्वे च तेषां कार्याणामेकत्वापत्तेः, स्वभावभेदे चैकत्वस्य व्याहतेर्नैकस्य युगपदनेककार्यकारित्वमभीष्टं सिद्धं स्यादिति। अथ स्वभावभेदादेव कार्यभेदो नेष्यते किन्तूपादानभेदादेवेति चेद्, भवत्वेवं, तथापि स्वभावभेदोऽभ्युपगत एव, उपादानभावेन सहकारिभावेन चैकस्य प्रदीपादे रूपादिक्षणस्य वा युगपदनेककार्योत्पत्तावुपयोगाभ्युपगमात्। उपादानसहकारिस्वभावयोश्च परस्परं भेदात्, तथा च स्वभावभेदादेकस्या अपि प्रदीपादिव्यक्तेर्नानात्वप्रसङ्गः स्यादिति। अथैकस्मिन् कार्ये य एवोपादानभावस्स एव कार्यान्तरोत्पत्तौ सहकारिभाव इति तयोरभेदान्न स्वभावभेद इष्यत इति चेत्, तर्हि किं सहकारिरूपं कारणमभ्युपगम्यते किं वोपादानरूपम्, न तावदाद्यपक्षो युक्तः, उपादानस्यैवाभावात् कुतस्तद्भेदात्कार्यभेदः। न द्वितीयोऽपि पक्षः समीचीनः, यतः प्रदीपः स्वोपादेयकार्यं प्रति यथोपादानकारणं तथैव सहकार्यकार्यमात्रं प्रत्यपि, यथा पूर्वरूपमुत्तररूपं प्रत्युपादानकारणं तथैव रसादिकं प्रत्यपीत्युपादानभूतस्यैकत्वेनोपादानभेदात्कार्यभेद इति पक्षस्ते भिन्नानि कार्याणि न स्युः। एवमपि यदि क्षणिककारणस्यैकं कार्यं प्रत्युपादानभाव एवान्यकार्यं प्रति सहकारिभाव इति न शक्तिलक्षणस्वभावभेदः, तर्ह्यक्षणिकस्यापि कारणस्य पूर्वकाला

वच्छिन्नकार्यकारित्वमेवोत्तरकालावच्छिन्नकार्यकारित्वम्, न त्वन्यदिति कथं नानेककार्यकारिणोऽपि न स्याज्जनितलक्षणस्वभावभेदः कार्यसाङ्कर्यञ्च । न च पूर्वक्षणावच्छिन्नकार्योत्पादकसामर्थ्यमेव यद्युत्तरक्षणावच्छिन्नकार्यानुकूलसामर्थ्यं तर्हि तयोरभेदात्पूर्वक्षणावच्छेदेनैवोत्तरकार्यानुकूलसामर्थ्यसद्भावात् पूर्वक्षण एवोत्तरकार्योत्पत्तिप्रसङ्गस्स्यादिति वक्तव्यम्, क्षणिकेऽप्यस्य समानत्वात्, तथाहि—कारणस्य प्रथमक्षणावच्छिन्नत्वाद्यत्काले द्वितीयतृतीयादिक्षणावच्छिन्नकार्यानुकूलसामर्थ्यस्याभावे उत्तरकालेऽपि तत्कार्याणि न स्युरिति प्रथमक्षणेऽपि तादृशसामर्थ्यसद्भावेन युगपदेव तत्तत्कार्योत्पत्तिप्रसङ्गस्स्यात्, समर्थस्य क्षेपायोगादिति कार्यकारणयोरेककालीनत्वप्रसक्त्या कार्यकारणभाव एव विनश्येत् । नन्वाद्यक्षणे सहकारिविरहान्नोत्तरक्षणावच्छिन्नकार्योत्पत्तिप्रसङ्ग इति चेत्, तर्ह्यक्षणिकपक्षेऽपि तुल्यमेतत् । अथोक्तसामर्थ्यस्योत्तरक्षणघटितत्वेन तत्कालिना कारणेन पूर्वक्षणवर्तिनोत्तरक्षणावच्छेदेनैव तत्तत्कार्योत्पत्तिः, न तु प्रथमक्षणावच्छेदेनेति यदि ब्रूयास्तदाऽक्षणिकवादेऽपि समानमेतत् । तन्न क्षणिकपक्षे युगपत्कार्यकारित्वं युज्यते, नापि क्रमिककार्यकारित्वं क्षणिकत्वमूले प्रमाणपद्धतिमवलम्बते, सर्वकालमभिन्नस्वरूप एव वस्तुनि तस्य घटमानत्वात्, देशकृतस्य कालकृतस्य च क्रमस्य तत्र सम्भवात् । प्रतिक्षणविनाशिनि च भावे नानादेशव्याप्तिलक्षणस्य देशक्रमस्य नानाकालव्याप्तिलक्षणस्य कालक्रमस्य चासम्भवात् । यदाह —

" यो यत्रैव स तत्रैव, यो यदैव तदैव सः ।
न देशकालयोर्व्याप्ति,-र्भावानामिह विद्यते ॥ १ ॥" इति ।

अन्यथा तत्तत्पूर्वापरक्षणोत्पद्यमानघटपटमठादीनामपि क्रमवर्तितया एकसन्तानकारित्वेन क्रमिककार्यकारित्वप्रसङ्गरूपातिप्रसङ्गस्स्यात्, अथ यद्यपि सर्वे प्रतिक्षणमुत्पद्यमानाः क्षणिकपदार्था भिन्नभिन्ना एव तथापि पूर्वापरक्षणवर्तिनां तेषां सौगतमतानुसारं सादृश्यमापात्काल्पनिकैकत्वेन क्रमकारित्वम्, क्रमोत्पद्यमानघटपटादीनां तु तदभावान्न तथात्वमित्यपि न च वक्तव्यम्, सर्वतो व्यावृत्तवस्तुवादिना भिन्नेष्वभेदव्यवहारभ्रान्तिनिमित्तस्य वस्तुभूतसाधर्म्यस्याभावात्, न चैकपरामर्शप्रत्ययहेतुत्वेन सादृश्यमभ्युपगन्तव्यम्, चक्षूरूपालोकमनस्कारेष्वपि तस्य प्रसक्तेः, काल्पनिकसादृश्यस्य तादृशभ्रान्तिनिमित्तत्वे च कल्पनाया निरङ्कुशत्वेन सर्वत्र तत्प्रसङ्गात् । वास्तविकसादृश्यस्य चाभ्युपगमे तस्य यदि क्षणिकत्वमुररीकरोषि न तर्हि क्षणेभ्यः कश्चिद्विशेषः । अथाऽक्षणिकत्वमिति चेत्, तर्हि पर्यवसितं क्षणिकवादेन, अक्षणिकस्य सादृश्यस्य सद्भावात्, अभिहितञ्च न्यायमञ्जर्याम्—

" अथापि नित्यं परमार्थसन्तं, सन्ताननामानमुपैषि भावम् ।
उत्तिष्ठ भिक्षो फलितास्तवाशाः, सोऽयं समाप्तः क्षणभङ्गवादः ॥ १ ॥" इति

तदेव क्षणिके क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात्ततोऽर्थक्रियानिवृत्तौ तद्व्याप्य सत्त्वं व्यापकानुलब्धिबलेनैव निवर्त्तमानं गत्यन्तराऽभावादक्षणिक एवावकाशं लभत इति साध्यविपर्ययसाधनात्सत्त्वहेतुर्विरुद्ध इति न तेन क्षणिकत्वं सिध्यति। यच्च समर्थस्वभावस्य क्षेपाऽयोग इति विलम्बेन कार्यकरणे हेत्वभावेन कालान्तरभाविनीः क्रियाः प्रथमक्रियाकाल एव प्रसह्य कुर्यादिति पूर्वोक्तं, तत्र सहकारिसान्निध्ये सति क्षेपाऽयोग इति वदामः, तथा च सहकार्यसन्निधेर्विलम्बो युक्त एव, तथाहि—सहकारिषु सत्सु करोति तैर्विना न करोतीत्ययमस्य स्वभावो दर्शनबलादेवावगम्यते, एवंविधस्वभावस्य विरोधाभावादुभयवादिसिद्धत्वाच्च, यतः क्षणिकोऽपि हि कुर्वद्रूपो मान' सहकारिभिः सहैव करोतीति स्वभावो भवद्भिरभ्युपगन्तव्य एव। इतरथा सहकारि णामसहकारित्वप्रसङ्गस्स्यात्। ननु नैते सहकारिणः, किन्तु सहितकारिण इति चेत्, तर्ह्येकैकस्य सामर्थ्ये पृथगेव कार्यजननापत्तिः, असामर्थ्ये सहितकारित्वमपि न भवेत्, न हि पण्ढ इतरसहकृतोऽपि पुत्रोत्पादको दृष्ट इति। अतस्सहकारिभिस्सहैव करोतीति नियमे सति तैर्विना न करोतीति विपर्ययनियमोऽप्यागत एव, अतः सहकार्यसन्निधेर्विलम्बो युक्त एव। कारणस्य स्वरूपलाभार्थं सहकार्यपेक्षा उतोपकारार्थं किं वा कार्यार्थमिति विकल्प्य यदुक्तं, तदप्यसङ्गतमेव, यतः कारणस्य फलोपधानात्मककारणताशालिस्वरूपमेव सह कार्यपेक्षम्, सहकार्यपेक्षमेव च स्वरूपं सामर्थ्यशब्देनाप्युच्यते, तथा च सहकारिसत्ताधीन सत्ताकतया सामर्थ्यं सहकार्यपेक्षयैव स्वस्वरूपता बिभर्त्तीति तदपेक्षाऽऽवश्यकीति सह-कारिसहितस्यैव समर्थत्वान्न पूर्वोक्तदोष इति। यच्च तैस्सह करोतीत्यत्र सहकारिसाहित्यार्थ कस्य तैस्सहेत्यस्य विशेषणत्वे कर्तृस्वभावस्सहकारिसाहित्यस्यापि स्वभावानुप्रविष्टत्वात् सह कारिणो न कदापि जह्यादित्युक्तम्, तदपि तवाऽपि समानमेव, सहकार्यऽसाहित्ये सति न करोतीति नियमे सहकारिण' स्वकारणादागच्छतोऽपि निवार्य न कुर्यात्, तैर्विना हि न करोतीत्ययमस्य स्वभाव इति। तस्माद् यद्युपनिबन्धेन यदि सहकारिणस्स्वकारणादागच्छे-युस्तदा कुर्यात्, यदि नागच्छेयुस्तदा न कुर्यादित्येवंविधे स्वभावे न कश्चिद्दोष इति। स्या दवत्—तैस्सह करोति तैर्विना न करोतीति योऽस्य स्वभावः स पश्चादस्ति न वा, अस्तीति पक्षे कारणोत्पत्तिकाल इव कार्योत्पत्तिकालेऽपि व्यतिरेकस्वभावस्य विद्यमानत्वेन सहकारि साहित्ये सत्यपि कारणं कार्यं न कुर्यात्, अन्यथोक्तव्यतिरेकस्वभावहानिप्रसङ्ग इति। नास्तीति पक्षे सुतरां तद्वतोऽप्यभाव', न हि स्वभावमन्तरेण स्वभाविनस्सत्त्वं युक्तमित्य-स्मन्मताभ्युपगमः कुतस्स्यादिति चेत्, तदपि तवापि मते समानमेव, तैस्सह कुर्वतो योऽस्य तैर्विना न करोतीति स्वभावः स यद्यस्ति, तदा न कुर्यादेव, तथा च क्षणिक भाववादोऽप्युच्छिद्येत, क्षणिकभावस्य द्वितीयक्षणावच्छेदेनाप्यर्थक्रियाकारित्वाभावेना-लीकरूपत्वादिति। यदि स नास्ति, तदा व्यतिरेकव्यावृत्तावन्वयव्यावृत्तिरिति स्वरूप

हानिप्रसङ्गः। तथा च बाह्यवादोल्लिखितैव, अन्वयव्यतिरेकस्वभावद्वयमूर्त्तिकत्वात्क्षणिकभावस्य, स्वभावद्वयस्य च मिथोऽनुस्यूतत्वादेकस्याभावे तन्नियतद्वितीयस्याप्यभावेन निस्स्वभावत्वं स्यादिति भावः। निर्विशेषणत्वेन शुद्धस्वरूपधर्म्यस्त्येव, सहकारिभिर्विना न करोतीति व्यतिरेकस्वभावमात्रं तु तत्र नास्तीति चेत्, ममापि कार्याकरणकाले सहकारिसाहित्यस्य विशेषणस्याभावात्तद्विशिष्टान्वयस्वभावस्याभावेऽपि निर्विशेषणत्वेन शुद्धस्वरूप धर्म्यस्त्येवेति ममः समाधिः, अन्यत्सर्वमनभ्युपगतोपालम्भमात्रमित्युपेक्षणीयमेवेति। तदेव सुन्दोपसुन्दन्यायेनैकान्तक्षणिकाऽक्षणिकपक्षयोर्मिथः प्रतिहन्तृत्वान्नैकोऽप्येकान्तपक्षो युक्तः, किन्तु मिथस्सापेक्षभावेन स्याद्वादपक्ष एव युक्तः, गुडनागरसयोगजन्यद्रव्यान्तरस्य विलक्षणतया कफपित्तोभयनाशकत्ववत् कथञ्चित्क्षणिकाक्षणिकोभयरूपत्वेनानेकान्तात्मकवस्तुनो जात्यन्तररूपतया तत्र प्रत्येकपक्षभाविदोषविनाशकत्वेन निराबाधस्वरूपतयोभयपक्षभाविदोषशङ्काकलङ्काऽकान्दिशीकत्वात्। एतच्च सविस्तरमस्मत्कृतस्याद्वादबिन्दुतोऽवसेयम्। अभिहितञ्च कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्येणान्ययोगव्यवच्छेदिकायामपि—

" य एव दोषाः किल नित्यवादे, विनाशवादेऽपि समास्त एव।
परस्परध्वंसिषु कण्टकेषु, जयत्यधृष्यं जिन! शासनं ते ॥ २६ ॥" इति

ननु स्याद्वादपक्ष एव युक्त इत्यत्र को हेतुरिति चेत्, उच्यते, एकस्मिन्नेव देवदत्ते आपेक्षिकपुत्रपितृनप्तृभागिनेयादिनानाव्यवहारस्यापेक्षिकलघुत्वमहत्त्वादिव्यवहारस्य चान्यथाऽनुपपत्त्या वस्तुमात्रे धर्मित्वस्वभावेनैकत्वस्येव परमार्थभूतेनौपाधिकस्वभावभेदेनानेकत्वस्यापि वस्तुभूतस्यानुभूयमानत्वादित्येव जानीहि। अत एव कार्यतात्मकनिरूपकभेदेन कारणतात्मभावभेदस्तावदन्यैरप्येकत्रावश्यं स्वीकर्त्तव्य एव, अन्यथा विविक्तव्यवहारोच्छेदस्स्यात्, न च स्वभावभेदः काल्पनिक इति विविक्तव्यवहारोऽपि कल्पनाशिल्पिनिर्मित एवेति वाच्यम्। तथा सति—

" सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म, नेह नानास्ति किञ्चन।
आरामं तस्य पश्यन्ति, न तत्पश्यति कश्चन ॥ १ ॥"

इत्याद्युक्त्या ब्रह्ममात्रं जगदिति ब्रुवाणस्याभेदवादिवेदान्तिन एव विजयस्स्यात्, तैर्जगन्नानात्वस्य कल्पनामूलत्वेनाभ्युपगमात्। तस्मात्स्वभावभेदस्याऽपि परमार्थभूतत्वेन तत्प्रयोज्यानेकत्वस्यापि वास्तविकतयैकानेकस्वभावस्य वस्तुनः कथञ्चिन्नित्यानित्यतयैवार्थक्रियाक्षमत्वमवसेयमित्यलं पल्लवितेन, गौरवभीत्या नाधिकं प्रतन्यते। एतेनैकान्तद्रव्यमात्रवादोऽपि निरस्तः, कार्यकारणभावाभावे प्रवृत्तिनिवृत्त्युपेक्षाव्यवहाराऽभावेन निरीहं जगत्स्यात्, न च कार्यकारणभावः पारमार्थिको नास्ति, काल्पनिकस्त्वस्त्येवेति नोक्तदोष इति वाच्यम्, तस्यानेकप्रमाणसिद्धत्वेन सर्वलोकैरविगानेनाभ्युपगतत्वेन पारमार्थिकत्वात्, काल्प

निकल्वे च प्रमाणाऽभावादिति। यद्यपि ब्रह्मैकान्तवादस्तु पूर्वमेव निरस्तस्तथापि किञ्चि भिर स्यते, यच्च ब्रह्मैकान्तवादिना 'ब्रह्मैव सत्' इत्याद्युक्त तन्न समीचीनम्, सन् घटः सन् पट इत्यादिप्रत्यक्षात्मकप्रतीतौ चक्षुरिन्द्रियजन्यायां नीरूपस्य ब्रह्मण. सद्रूपस्य भानासम्भ- वेनोत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वलक्षणसत्त्वस्यैव कथञ्चिद् घटाद्यात्मकस्य चक्षुरादीन्द्रिययोग्य स्योक्तप्रतीतौ भासमानत्वेन सद्रूपस्य ब्रह्मणोऽसिद्धेः, उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वस्य कथ- ञ्चिदनुगतत्वेन सदशे उक्तप्रतीतेरनुगतावगाहित्वस्याप्युपपत्तेः, अतिरिक्तसत्तावादिनैया- यिकादिमते सादृश्यसत्तासम्बन्धस्य भेदाभेदादिविकल्पदूषितत्वेन भानापाकरणेऽपि जैनाभ्यु पगतोत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वस्य घटादिभिस्सम कथञ्चिद्भिन्नाभिन्नस्य विकल्पतो निरसितु मशक्यत्वात्, प्रपञ्चो मिथ्या दृश्यत्वादित्याद्यनुमानानां प्रपञ्चमिथ्यात्वसाधकानामपि मिथ्यात्वेन स्वयमेव वेदान्तिनाऽभ्युपगततया तैर्मिथ्यात्वसिद्धेरसम्भवाच्च सद्रूपस्य जगतो ब्रह्मविवर्त्तत्वमिति 'जगत्तद्विवर्त्तरूपम्' इत्यभिधानमप्यसङ्गताभिधानमेव, जीवकोटिव्य तिरिक्त ईश्वरो यथा न युक्त्या सिद्ध्यति तथा ब्रह्मापि, इति ब्रह्मप्रतिपादक आगमोऽष्टविध कर्मविनिर्मुक्त जीवात्मानमेव प्रतिपादयतीति न तेन जीवकोटिबहिर्भूतस्य ब्रह्मण' सिद्धि', यदा च ब्रह्मविवर्त्तरूप न जगत्, किन्तु प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धस्वस्वकारणप्रभवघटादिसत्य स्वरूपमेव, तदा ब्रह्मणि जगदारोपफलकतया दोषविधयाऽविद्याऽज्ञानादिपदवाच्याया परिणामिकारणात्मिकाया मायायाः कल्पनाऽपि युक्तिशून्यैवेति 'मायायाश्च अज्ञानपदवा च्याया विकाररूप जगत्' इति कथनमपि युक्तिरिक्तमेव, एवञ्च, 'तथा च ब्रह्मणो विवर्त्तः अज्ञानविकारश्च जगत्' इति निगमन दूरापेतम्, यदा न मायैव नास्ति तदा—

"अथ जीवो न कूटस्थ, विविनक्ति कदाचन।
अनादिरविवेकोऽय, मूलाविद्येति गम्यताम्॥ २५॥
विक्षेपावृतिरूपाभ्या, [illegible] व्यवस्थिता।
न भाति नास्ति कूट[illegible] ॥ २६॥
अविद्यावृतकूटस्थे, [illegible]
शुक्त[illegible] "

इत्यादिपञ्चद[illegible]
परीक्षकै, तथा चैते [illegible]
कार्यं किन्तु तद्भिन्नमे[illegible] न
या तत्त्वमिति नियमेनै[illegible]
तदेव [illegible]
तत्, किन्तु [illegible]

तदभावरूपाऽसत्त्वादिधर्मस्याऽप्येकस्मिन् वस्तुन्यनुभूयमानत्वेन तदात्मकत्वेनानेकान्तात्मकमेव, न च सत्त्वतदभावयोर्विरोधान्नैकत्र सत्त्वम्, येन तदुभयात्मकत्वेनानेकान्तात्मकं वस्तु प्रमाणकोटिप्रविष्टं स्यादिति वाच्यम्, प्राचीननैयायिकमते शाखायां वृक्षः कपिसंयोगी न मूले इत्यबाधितानुभवबलात् शाखामूलादिविभिन्नावच्छेदेनैकस्मिन्नेव वृक्षे कपिसंयोगतदभावयोरिव नव्यनैयायिकमते शाखामूलावच्छेदेन कपिसंयोगितदभेदयोरिव बौद्धमते चित्रज्ञाने नीलाकारत्वपीताकारत्वयोरिव स्वद्रव्यादिपरद्रव्यादितत्तन्निमित्तापेक्षया तयोरप्यविरुद्धत्वात्, अत एवाविरोधद्योतकस्यात्पदघटितमेव वाक्यं प्रयुञ्जते स्याद्वादतत्त्वज्ञाः ।

" अप्रयुक्तेऽपि सर्वत्र, स्यात्कारोऽर्थात्प्रतीयते ।
विधौ निषेधेऽन्यत्रापि, कुशलश्चेत्प्रयोजकः ॥ १ ॥ "

इत्युक्तेर्यत्रापि स्यात्पदाऽप्रयोगस्तत्रापि सर्वत्रार्थात्त प्रतिपत्तिः एकान्तव्यवच्छेदाय, शङ्खः पाण्डुरः पार्थो धनुर्धरः, नीलं सरोजं भवतीत्यप्रयोगस्यान्ययोगस्यात्यन्ताऽयोगस्य व्यवच्छेदायाप्रयुक्तमप्येवकारं प्रकरणसामर्थ्यात्तद्विदोऽवगच्छन्ति, तद्वदिति । विरुद्धधर्मद्वयस्य तत्तन्निमित्तापेक्षयाऽविरोधानभ्युपगमे नैयायिकवैशेषिकमते भ्रान्तज्ञाने धर्म्यपेक्षया प्रामाण्यं प्रकारापेक्षया चाऽप्रामाण्यमित्येवं प्रामाण्याप्रामाण्ये न स्याताम् । सांख्यमतेऽपि एकस्या एव प्रकृतेस्त्रिगुणात्मकत्वं न स्यात्, बौद्धमतेऽपि चैकस्मिन्नेव चित्रज्ञाने नीलाकारत्वपीताकारत्वादिकं न स्यात्, उत्तररूपं प्रति पूर्वरूपस्योपादानकारणत्वम् उत्तररसम्प्रति निमित्तकारणत्वमित्यपि न स्यात्, स्वीकृतयोक्तवादिभिः प्रामाण्याप्रामाण्याद्युक्तधर्माविरोधो भ्रान्तज्ञानाद्युक्तस्थलेष्विति तत्र स्याद्वादमवलम्बमानास्ते वादिनो यदि सलज्जास्तदा भगवन्तं मतं नैव निन्दन्ति, तन्निन्दायाः स्वपदकुठारप्रहारतुल्यत्वात् । यदुक्तं खण्डखाद्ये श्रीमहावीरस्तवापरनामके—

"साङ्ख्यः प्रधानमुपयंस्त्रिगुणं विचित्रां, बौद्धा धियं विशदयन्नथ गौतमीयः ।
वैशेषिकश्च भुवि चित्रमनेकमेकं, वाञ्छन् मतं न तव निन्दति चेत् सलज्जः ॥
४४ ॥ " इति ।

कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्रसूरिभिर्वीतरागस्तोत्रेऽप्युक्तम्—

" चित्रमेकमनेकं च, रूपं प्रामाणिकं वदन् ।
यौगो वैशेषिको वाऽपि, नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत् ॥ १ ॥ " इति

तथा चोक्तनीत्याऽनेकान्तात्मकतया वस्तुनि सिद्धे सर्वेऽपि सङ्ग्रहादयो नयाः परनयविषयाणामपि कथञ्चित्सद्रूपतया तदसत्त्वज्ञापनाऽसमर्थत्वाच्चात्र गजनिमीलिकान्यायेनौदासीन्यवृत्त्या वस्त्वेकदेशरूपस्वविषयपरिच्छेदरूपत्वाद्यद्वति तत्प्रकारकत्वेन सम्यग्ज्ञानरूपा

तद्विषयकस्य पर्यायार्थिकनयस्य प्रवृत्तिरेव न स्यात्, प्रवृत्तौ वा द्रव्यार्थिकनयनिरपेक्षैव तत्प्रवृत्तिर्भवेत्, यदा तु द्रव्यार्थिकनयस्य भेदरूपो विशेषरूपो यो व्यवहारस्स द्रव्यपृथिव्यादिरूपेण विशेषस्वरूपमपि स्वीकरोति तदा तद्विशेषावान्तरविशेषपरम्परापर्यालोचनया पर्यायार्थिकनयविषयः क्षणिकादिविशेषोऽपि भेदरूपो विचारमार्गमवतरत्येवेति सुकरा पर्यायार्थिकनयप्रवृत्तिस्तद्विषयेति, तदुभयनयापेक्षया कथञ्चिद्भेदसम्पृक्ताऽभेदात्मकमेव वस्त्वभ्युपगन्तव्यमिति भावः ॥ २९ ॥

एवं कथञ्चिदुभेदाभेदरूपं वस्तूपदर्श्य भेदस्य पर्यायार्थिकनयविषयस्य द्वैविध्यमाह—

सो उण समासओ च्चिय, वंजणणियओ य अत्थणियओ य ।
अत्थगओ य अभिन्नो, भइअव्वो वंजणवियप्पो ॥ ३० ॥

पर्यायार्थिकनयविषयविशेषात्मकभेदोऽपि शब्दनयनिबन्धनोऽर्थनयनिबन्धनश्चेति द्विभेदः, तत्र द्वितीयभेदरूपोऽर्थनयविषयोऽर्थपर्याय एकविध एव, अर्थनयेन सङ्ग्रहव्यवहारर्जुसूत्रलक्षणेनाभिन्नार्थपर्यायाभ्युपगमात्, शब्दनयविषयव्यञ्जनपर्यायं आद्यभेदलक्षणस्तु भिन्नोऽभिन्नश्चेति भेदद्वयात्मक, तत्र साम्प्रताख्यशब्दनये एकस्यार्थस्यानेकपर्यायशब्दो वाचक इत्यतो भिन्नः, समभिरूढनये एवम्भूतनये चैकस्यार्थस्यैक एव शब्दो वाचक इत्यतोऽभिन्न इति सङ्क्षिप्तार्थः । विस्तृतार्थस्त्वेवम्—'सो उण समासओ च्चिय' ■ इति तच्छब्दरूपम्, तच्छब्दश्च पूर्वोपदर्शितपरामर्शक इति स पर्यायनयविषयः पूर्वप्रदर्शितो विभाग पुनस्समासतः सङ्क्षेपतो द्विविध एव, द्विविधत्वमेवाह—'वंजणणियओ य अत्थणियओ य' व्यञ्जननियतश्च—व्यज्यते प्रकटीक्रियत बोध्यतेऽर्थोऽनेनेति व्यञ्जनं शब्दः, लक्षणया व्यञ्जनपदेन शब्दप्रधानत्वाच्छब्दनयो ग्राह्यः, तन्नियतः तन्निबन्धनः । अर्थनियतश्च—अर्थ्यते—परिच्छिद्यते इत्यर्थः, प्रकृतेऽर्थपदेनार्थप्रधानत्वादर्थनयो ग्राह्यः, तन्नियतः—तत्प्रयुक्तः, चस्समुच्चये । तत्र प्रथमं द्वितीयभेदस्यैकविधत्वमुपदर्शयितुमाह—' अत्थगओ य अभिण्णो ' अर्थगतश्च अभिन्नः, चशब्दस्तुशब्दार्थे, अर्थगतस्तु विभागोऽभिन्नः "अत्थप्पवरं सद्दोवसज्जणं वत्थुमुज्जुसुत्तंता" इति भाष्यवचनात्सङ्ग्रहव्यवहारर्जुसूत्रान्ता अर्थनयाः, शब्दोपसर्जनतयाऽर्थप्राधान्येनैव वस्तुः प्रत्ययोत्पत्तेः, ते चार्थप्रधानत्वाच्छब्दस्तद्धर्मभेदनार्थभेदं नाभ्युपगच्छन्तीति तद्विषयोऽर्थपर्यायोऽभिन्नः एकप्रकारः, सङ्ग्रहोऽसद्व्यवच्छेदेनाभिन्नमद्रूपार्थपर्यायं व्यवहारोऽद्रव्यव्यवच्छेदेनाभिन्नद्रव्यात्मकार्थपर्यायञ्च ऋजुसूत्रोऽतीतानागतव्यवच्छेदेनाभिन्नवर्त्तमानार्थपर्यायञ्च मनुत इति सङ्ग्रहाद्यर्थनयविषयस्य क्रमशोऽसदद्रव्यातीतानागतव्यवच्छिन्नाभिन्नार्थपर्यायरूपत्वात्, तद्विषयकार्थनयनियतः 'अर्थगतो विभागोऽभिन्नः' इत्युच्यते, अर्थनयविषयोऽर्थपर्याय एकविध इति भावः ।

पूर्वोक्ताद्यभेदस्य द्विविधत्व [illegible] वंजणवियप्पो ' भइअव्यो

व्यञ्जनविकल्पः, "सद्दप्पहाणमत्थोवसज्जणं सेसया विंति" इति भाष्यवचनादर्थोपसर्जनतया शब्दप्राधान्येन श्रोतु. प्रत्ययोत्पत्तेश्शब्दसमभिरूढैवम्भूताख्यशब्दनयत्रयविषयव्यञ्जनपर्यायो भाज्यो विकल्पनीयः, शब्दनये स्वस्ववाचकस्यानेकशब्दवाच्य एकोऽर्थः, समभिरूढादिनये शब्दतद्धर्मभेदेनार्थभेदाभ्युपगमादेकार्थवाचकपर्यायशब्दाभावात् पर्यायत्वेन शब्दनयाऽभ्युपगत शब्दभेदेन भिन्नोऽर्थः, तथा चैकस्यार्थस्यानेकशब्दो वाचक इत्यतो भिन्नो व्यञ्जनपर्याय', एकस्यार्थस्यैक एव शब्दो वाचक इत्यतोऽभिन्नो व्यञ्जनपर्याय इत्येवं स भिन्नोऽभिन्नश्चेत्यर्थः। अयम्भावः—शब्दनयस्तावत्समानलिङ्गाना समानवचनानां शब्दानां भेदेऽपि तद्वाच्यार्थभेद नाभ्युपैति घटकुटकुम्भकलशादिपर्यायशब्दभेदेऽपि तद्वाच्यस्यार्थस्य भानघटात्मकस्यैक्यात्, तथा च तन्मते समानलिङ्गसमानवचनान्तपर्यायशब्दभेदेऽप्यर्थैक्याभ्युपगमेनानेकाभिधानो भिन्नो व्यञ्जनविकल्पः, अत्राऽर्थस्याऽभेदेऽपि प्रधानीभूतवाचकशब्दभेदाद्भिन्नो व्यञ्जनपर्याय इति भावः। समभिरूढनयस्तु नैवमङ्गीकरोति, शब्दनयेन भिन्नलिङ्गभिन्नवचनाना स्त्री दारा आपो जलमित्यादिशब्दानामभ्युपगतस्याऽर्थभेदस्येव समभिरूढनयेन समानलिङ्गसङ्ख्यावचनानामपीन्द्रशक्रपुरन्दरादिशब्दानां घटकलशकुम्भनिपादिशब्दानाञ्च स्वस्ववाच्यार्थभेदस्याभ्युपगमात्, धातुप्रत्ययनिष्पन्नतत्तच्छब्दभिन्नभिन्नव्युत्पत्तिप्रतिपाद्यभिन्नभिन्नक्रियानिमित्तकाना तेषां भिन्नार्थत्वात्, निमित्तभेदाद्धार्थभेदो दृष्टः, छत्रिदण्ड्यादिवत्। तथा चेन्द्रपुरन्दरादिशब्दा न पर्यायात्मका भिन्नव्युत्पत्तिनिमित्तात्मकप्रवृत्तिनिमित्तत्वादित्य तत्तन्मते एकार्थं एकशब्दः, एकस्यार्थस्यैक एव शब्दो वाचक इत्यभिन्नो व्यञ्जनविकल्पः। एवम्भूतनयस्तु व्युत्पत्तिनिमित्तक्रिया यदैव य करोति तदैव तच्छब्दवाच्यस्सोऽर्थ इत्यभ्युपैति, नान्यदेति चेष्टासमय एव घटो घटशब्दवाच्यः, अन्यथाऽतिप्रसङ्गादिति तत्तत्क्रियाविशिष्टस्यार्थस्य तत्तत्क्रियाव्युत्पत्तिनिमित्तक एक एव शब्दो वाचक इति तन्मतेऽप्यभिन्नो व्यञ्जनविकल्प इति। ननु व्यञ्जनविकल्पश्शब्दात्मा, स च वस्त्वन्तरत्वान्न पुरुषादेर्द्रव्यस्य धर्मः, येनासौ तस्य व्यञ्जनपर्यायो भवेदिति, चेत्, नैवम्, नामनामवतोरभेदाश्रयणेन पुरुष इति वाचकशब्दोऽपि पुरुषरूपार्थस्य व्यञ्जनपर्याय इत्यभ्युपगमादिति ॥ ३० ॥

अथ यद्वस्तु सङ्ग्रहविषयेण सद्रूपेणैक व्यवहारविषयेण च द्रव्यत्वादिरूपेणैक ऋजुसूत्रादिपर्यायार्थिकनयविषयेण पूर्वोक्ततत्तद्विशेषरूपेणानेकमित्थेनमेकानेकस्वरूप प्रदर्श्य तदेव वस्तु त्रैकालिकानन्तार्थपर्यायव्यञ्जनपर्यायात्मकत्वादनन्तप्रमाणमित्युपदर्शयितुमाह—

> एगदवियम्मि जे अत्थपज्जया वयणपज्जया वावि।
> तीयाणागयभूया, तावइयं तं हवइ दव्वं ॥ ३१ ॥

चतुर्थचरणोक्त 'तं' इति यत्पद तेन सह यच्छब्दस्य सम्बन्धाद् 'एगदवियम्मि'

यस्मिन्नेकद्रव्ये जीवादौ 'जे' ये 'अत्थपज्जया' अर्थपर्यायाः–अर्थग्राहकाः सङ्ग्रह–व्यवहार–ऋजुसूत्राख्याः, तद्ग्राह्या वा तत्तदर्थाः, 'वयणपज्जया वावि' वा–अथवा, वचनपर्याया अपि, शब्द–समभिरूढ–एवम्भूताख्याः शब्दनया अपि ग्राह्यपदार्थस्यानन्तप्रमाणत्वे तत्तदर्थग्राहकतया परिणतानां नयानामप्यनन्तप्रमाणत्वमिति सूचनपराः, तद्विषयीभूता वस्त्वंशा वाऽपि, यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात्ते 'तीयाणागयभूया' अतीतानागतभूता अतीतानागतवर्त्तमानकालावच्छिन्नविवृत्तविवर्त्स्यमाननिवर्त्तमानानन्तपरिणामाः 'चतुर्थचरणोक्तस्य 'तावइयं' इत्यस्य यावच्छब्देन सह नित्यसाकाङ्क्षत्वाद् यावन्तः "तावइयं तं हवइ दव्वं" तावत्प्रमाणं तद्द्रव्यं भवति, पर्यायाणामानन्त्यात्कथञ्चित्तदभिन्नतन्नामकद्रव्यमपि तावत्प्रमाणं भवति, पुद्गलपर्यायत्वावच्छिन्नम्प्रति पुद्गलद्रव्यत्वेन पुद्गलद्रव्यस्योपादानभावः, न तु जन्यपृथिवीत्वावच्छिन्नम्प्रति पृथिवीत्वेन जन्यजलत्वावच्छिन्नं प्रति जलत्वेनेत्यादिरूपेण स, उपादानकारणत्वञ्च शक्तिविशेषरूपम्, न तु तदतिरिक्तं सखण्डरूपम्, तत्राभिव्यञ्जकनियमः पुद्गलत्वमवच्छेदकमित्यतो मयूराण्डकरसे शिरोग्रीवाचञ्चुनेत्रपिञ्छोदरचरणादितदनेकावयवतद्गततद्रूपरसाद्यनुकूलानन्तशक्तिवदुपादानीभूतपुद्गलपरमाणुष्वप्यतीतानागतवर्त्तमानानन्ततत्तत्पुद्गलपर्यायपरिणमनशक्तिसद्भावादनन्तकालेन विस्रसाप्रयोगादितत्तत्सामग्रीसमवधाने सति सर्वेण वस्तुना सर्वावस्थानां परस्परानुगमेनानादित्वादवस्थातुश्चावस्थानां कथञ्चिदनन्यत्वाद् घटादयस्सर्वे पदार्थाः पटपुरुषादिसर्वस्वरूपेणापि कथञ्चिद्विवृत्ता विवर्त्तन्ते विवर्त्स्यन्त इति सर्वं सर्वात्मकं कथञ्चिदिति स्थितम्, दृश्यते चैकं पुद्गलद्रव्यमतीतानागतवर्त्तमानद्रव्य–गुण–कर्म–सामान्य–विशेष–परिणामात्मकं युगपत्क्रमेणापि तत्तथाभूतमेव, एकान्ताऽसत उत्पादायोगात्, सतश्च निरन्वयविनाशासम्भवादिति। अत एव द्वादशारनयचक्राद्यश्लोकघटकव्यापिपदव्याख्यायां "एकः परमाणुर्वर्णगन्धरसस्पर्शपरिणामैः सप्रभेदैः स्वाभाविकैः पुरस्कृतैः पश्चात्कृतैश्च द्व्यणुकादिभिस्सामायोगिकैर्महास्कन्धपर्यन्तैर्वैस्रसिकैः प्रायोगिकैश्च कार्मणशरीरादिभिरभिसम्बध्यते" इत्युक्तं सङ्गच्छते।

संवदति चात्र–"एएसि णं भंते! परमाणुपोग्गलाणं साहणणाभेदाणुवाएणं अणंताणंता पोग्गलपरियट्टा समणुगंतव्वा भवंतीति मक्खाया? हंता गोयमा! एएसि णं परमाणुपोग्गलाणं साहणणा जाव मक्खाया॥ कइविहे णं भंते! पोग्गलपरियट्टे पण्णत्ते? गोयमा! सत्तविहा पो० परि० पण्णत्ता, तं जहा–ओरालियपोग्गलपरियट्टे वेउव्वियपो० तेयापो० कम्मापो० मणपो०परियट्टे वइपोग्गलपरियट्टे आणापाणुपोग्गलपरियट्टे" इति व्याख्याप्रज्ञप्तिद्वादशशतकचतुर्थोद्देशगदितभगवद्वचनमपीति॥ एएसि णमित्यादि, एतेषां अनन्तरोक्तस्वरूपाणां परमाणुपुद्गलानां परमाणूनामित्यर्थः, साहणणाभेयाणुवाएणंति–साहणणत्ति प्राकृतत्वात् संहनन–सङ्घातो, भेदश्च वियोजनं, तयोरनुपातो–योगः संहननभेदानुपातस्तेन, सर्वपुद्गलद्रव्यैः सह परमाणूनां संयोगेन वियोगेन चेत्यर्थः। अणंताणंतत्ति अनन्तेन गुणिता

अनन्ता अनन्ताऽनन्ताः, एको हि परमाणुद्व्यणुकादिभिरनन्ताणुकान्तैर्द्रव्यैस्सह सयुज्यमानोऽनन्तान् परिवर्त्तान् लभते, प्रतिद्रव्यं परिवर्त्तभावात्, अनन्तत्वाच्च परमाणूना, प्रतिपरमाणु चानन्तत्वात्परिवर्त्तानां परमाणुपुद्गलपरिवर्त्तानामनन्तानन्तत्वं द्रष्टव्यमिति । ' पुग्गलपरियट्ट 'त्ति-पुद्गलैः' पुद्गलद्रव्यैः सह परिवर्त्ताः-परमाणुना मीलनानि पुद्गलपरिवर्त्ता, ' समनुगन्तव्या ',' अनुगन्तव्या भवन्तीति हेतोः ' आख्याता ' ' प्ररूपिता भगवद्भिरिति गम्यते, मकारश्च प्राकृतशैलीप्रभवः ॥ अथ पुद्गलपरावर्त्तस्यैव भेदाभिधानायाह 'कइविहे णं'-मित्यादि, ओरालियपोग्गलपरियट्टेत्ति-औदारिकशरीरे वर्त्तमानेन जीवेन यदौदारिकशरीरप्रायोग्यद्रव्याणामौदारिकशरीरतया सामस्त्येन ग्रहणमसावौदारिकपुद्गलपरिवर्त्तः, एवमन्येऽपीति ॥ 'तावइय त हवइ दव' इति जात्येकवचनप्रयोगादेकैकं द्रव्यं सर्वं सर्वद्रव्यार्थतया सर्वपर्यायार्थतया च प्राक् विपरिवर्ति पश्चाद् विपरिवर्त्तिष्यते चेति तत्तदेकैकं द्रव्यमपि सर्वात्मकमवबोद्धव्यं भवति, तस्यातीतानागतवर्त्तमानसर्वद्रव्यपर्यायार्थतया परिणमनस्वभावत्वात् । एकवाक्यतया संवदति चात्र—

" जे एग जाणइ से सव्व जाणइ ।
जे सव्व जाणइ से एग जाणइ ॥ सू० १२२ ॥ "

इत्यस्याऽऽचाराङ्गसूत्रोक्तस्य व्याख्यायां यः कश्चिदविशेषितः 'एकं' परमाण्वादिद्रव्यं पश्चात्पुरस्कृतपर्यायं स्वपरपर्यायं वा 'जानाति' परिच्छिनत्ति स सर्वं स्वपरपर्यायं जानाति, अतीतानागतपर्यायिद्रव्यपरिज्ञानस्य समस्तवस्तुपरिच्छेदाविनाभावित्वात्, इदमेव हेतुहेतुमद्भावेन लगयितुमाह-' जे सव्व ' इत्यादि, यः सर्वं समारोदरविवरवर्ति वस्तु जानाति स एकं घटादिवस्तु जानाति, तस्यैवातीतानागतपर्यायभेदैस्तत्तत्स्वभावापत्त्याऽनाद्यनन्तकालतया समस्तवस्तुस्वभावगमनादिति । तदुक्तम्—

" एगदवियस्स जे अत्थपज्जवा, वयणपज्जवा यावि ।
तीयाणागयभूया, तावइय त हवइ दव्व ॥ १ ॥ "

इत्युक्तमिति, एतच्चाग्रे विवेचयिष्यते ॥ ३१ ॥

एकैकद्रव्यमर्थपर्यायव्यञ्जनपर्यायैस्त्रैकालिकानन्तपरिणामात्मकत्वेनानेकान्तात्मकमिति प्रतिपाद्याधुना पुरुषतदीयबालाद्यवस्थादृष्टान्ताभ्यां क्रमेण व्यञ्जनपर्यायस्य त्रिकालानुयायित्वेन जन्मादिमरणावधिस्थूलकालस्थायितयाऽनुगताभेदप्रत्ययहेतुत्वम्, अर्थपर्यायाणाञ्च सूक्ष्मवर्त्तमानकालमात्रवर्तित्वेन प्रतिक्षणसूक्ष्मपरिणामरूपतया तत्तत्क्षणापेक्षभिन्नभिन्नस्वरूपत्वेन भेदप्रत्ययहेतुत्वमिति पुरुषद्रव्यस्य व्यञ्जनपर्यायेणाभेदः, अर्थपर्यायैश्च भेद इत्येकानेकत्वेनानेकान्तात्मकत्वमुपदर्शयितुमाह—

युगपदाऽभिन्नैकस्वरूपतया पुरुषः पुरुष इत्येवमुच्यमानं निरपमनिकल्प भेदं न प्रतिपद्यते इति भावः। नन्वेतावता पुरुषद्रव्यस्यैकान्तेनानिकल्परूपत्वमेव प्राप्तं, तच स्याद्वादविरुद्धमित्यवस्तस्य सविकल्परूपत्वप्रतिपादनेन कथञ्चिद्भेदाभेदात्मकस्याद्वादरूपताप्रतिपादनायोत्तरार्द्धमाह—" बालाइवियप्प " इत्यादि। 'से' तस्य पुरुषद्रव्यस्य 'अत्थपज्जाओ' अर्थपर्याय अर्थपर्यायग्राहिऋजुसूत्रादिनयः, उपचारेण विषयेण विषयिणो ग्रहणात्, 'पुण' पुनः 'बालाइवियप्प' बालादिविकल्प बालकुमारादिभेदं 'पासइ' पश्यति, व्यञ्जनपर्यायमतेनाभिन्नमपि पुरुषद्रव्यमर्थपर्यायग्राहिऋजुसूत्रादिनयविषयबालादिपर्यायस्वरूपतया भेदमप्यश्नुत इति भावः ॥ ३४ ॥

एतावत्प्रबन्धेन निर्विकल्प–सविकल्पोभयस्वरूपतया प्रतिपादिते पुरुषादिवस्तुनि सति एकान्तेन सविकल्पमेव निर्विकल्पमेव वा तद्वस्तु प्रतिपादयन् स्वीयवस्तुतत्त्वानभिज्ञतामेव विदुषां चेतसि प्रत्याययतीत्युपदर्शयन्नाह—

सवियप्प–णिव्वियप्पं, इय पुरिसं जो भणेज्ज अवियप्पं।
सवियप्पमेव वा णिच्छएण, ण स निच्छिओ समए ॥ ३५ ॥

'सवियप्प–णिव्वियप्पं' सविकल्पनिर्विकल्प, सविकल्पश्च निर्विकल्पश्चेति अनयोस्समाहारः सविकल्पनिर्विकल्पं तत्तदपेक्षोपस्थापकस्यात्पदद्योत्यानेकान्तात्मकतदुभयधर्मापन्नस्यात्सविकल्पं स्यान्निर्विकल्पं 'पुरिसं' पुरुषं तदुभयपदघटितसमभङ्ग्यात्मकमहावाक्यजबोधविषयं पुरुषद्रव्यं 'जो' यः प्रतिपादकोऽविदितयथार्थवचनः "अवियप्पं सवियप्पमेव वा इय" एवेत्यस्योभयत्रान्वयात्, अविकल्पमेव सविकल्पमेव चेति "णिच्छएण" निश्चयेन एकान्तेन 'भणेज्ज' भणेत् ब्रूयात् 'ण स णिच्छिओ समए' स एकान्ततत्त्वप्रतिपादकः, समये सम्यग् ईयते परिच्छिद्यते इति समयः, यथावस्थितोऽर्थः, तस्मिन्, निश्चितं निश्चयः तदस्यास्तीति निश्चितः, अर्श आदित्वादच्प्रत्ययः, सम्यगर्थ इत्यर्थके समय इत्यत्र सप्तम्या विषयत्वार्थकत्वेन यथाऽवस्थितार्थविषयकनिश्चयवान्न स इत्यर्थः, दुर्नयाभिनिवेशान्नयाज्ञत्वाद्वा सम्पूर्णानेकान्तवस्तुस्वरूपाऽपरिच्छेदाद्वा न यथार्थतत्त्वज्ञ इति भावः। नन्वेवं तर्हि सम्पूर्णानेकान्तात्मकवस्तुस्वरूपविषयकं निराकाङ्क्षपरिपूर्णबोधमाधातुं प्रतिपादकः प्रतिपाद्यस्य कथं प्रभवतीति चेत्, उच्यते, यदा कथञ्चिद्भेदाभेदोभयात्मके वस्तुनि व्यञ्जनपर्यायापेक्षया स्यादभिन्न एव पुरुषः, बालाद्यर्थपर्यायापेक्षया स्याद् भिन्न एव पुरुषः, युगपत्तदुभयार्पणया स्यादवक्तव्य एव, क्रमिकोभयार्पणया स्यादभिन्न एव स्याद्भिन्न एव च, व्यञ्जनपर्यायविवक्षया युगपत्तदुभयार्पणया च स्यादभिन्नः स्यादवक्तव्य एव, बालाद्यर्थपर्यायविवक्षया युगपत्तदुभयविवक्षया च स्याद्भिन्नः स्यादवक्तव्य एव, क्रमिकतदुभयार्पणया युगपत्तदुभयार्पणया च स्यादभिन्नः स्याद्भिन्नः स्यादवक्तव्य एव, एवं स्वद्रव्यक्षेत्रकाल-

भावापेक्षया स्यादस्त्येव घटः, परद्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षया स्यान्नास्त्येव घट इत्यादिपरस्पर-साकाङ्क्षवाक्यसप्तकसमाहारस्वरूपसप्तभङ्गीभावमापन्नं महावाक्यमेव प्रयुङ्क्ते सदैव, तथैव प्रतिपादयतश्च निपुणत्वं भवति, वस्तुनो यथास्वरूपं तथैव प्रतिपादनात्, स्यात्पदाऽला-ञ्छितैकवाक्यमात्रप्रतिपादने तु तस्याऽनैपुण्यमेव स्यात्, यतः प्रतिपाद्यस्याज्ञानसंशयविप-र्ययनिरासार्थमेव वाक्यं प्रयुज्यते, नान्यथा, तत्र घटगतास्तित्वस्वरूपेऽनभिज्ञं संशयितं भ्रान्तं वा प्रत्यज्ञानादिनिरासार्थं यदि स्यात्पदाऽलाञ्छितं घटोऽस्तीत्येतावन्मात्रं प्रयुज्यते तदास्तित्वधर्मसमभिव्याहृतस्यात्पदद्योत्यस्वद्रव्यक्षेत्रकालभावरूपापेक्षोक्तेरभावात्ततः सर्व-प्रकारेणास्तित्वमेव घटस्य निश्चिनुयात्प्रतिपाद्यः, न च सर्वथाऽस्तित्वं घटे वर्त्तते, तथा सति घटत्वात्मकस्वस्वरूपेणेव पटत्वमठत्वादिपररूपेणापि घटस्यास्तित्वे प्राप्ते घटस्य सर्वात्मकत्व-प्रसङ्गः, न हि पटादीनां पटादिस्वरूपता पटत्वादिनाऽस्तित्वमन्तरेणान्या, आपादनश्चात्र घटो यदि पटत्वकटत्वमठत्वादिनाऽस्तित्ववान् स्यात् तदा पटकटमठाद्यात्मकस्स्यात्, पटकटा-दिवत्, यद्वा स्वद्रव्यरूपेणेव परद्रव्यरूपेणापि सत्त्वे स्वाश्रयद्रव्यप्रतिनियमो न स्यात्। अथ संयोगविभागादेरनेकद्रव्याश्रयत्वेऽपि तद्द्रव्यप्रतिनियमो न विरुध्यत एव तद्वत्प्रकृतेऽपीति चेत्, न, तस्यानेकद्रव्यगुणत्वेनानेकद्रव्यस्यैव स्वद्रव्यत्वात्, स्वानाश्रयद्रव्यान्तरस्य परद्रव्य-त्वात्, ततोऽपि सत्त्वे स्वाश्रयद्रव्यप्रतिनियमव्याघातस्य तदवस्थत्वात्, परद्रव्यरूपेणेव स्वद्रव्यरूपेणापि कस्यचिदसत्त्वे सकलद्रव्यानाश्रयत्वप्रसङ्गाद्दिष्टद्रव्याश्रयत्वं न स्यात्, तथा स्वाधारक्षेत्ररूपेणेव पराधारक्षेत्ररूपेणापि सत्त्वे कस्यचित्प्रतिनियतक्षेत्रवृत्तित्वव्यवस्थितिर्न स्यात्, परक्षेत्ररूपेणेव स्वक्षेत्ररूपेणापि चाऽसत्त्वे निःक्षेत्रतापत्तिस्स्यात्, तथा स्वकाला-पेक्षयेव परकालापेक्षयाऽपि सत्त्वे प्रतिनियतकालवृत्तित्वव्यवस्थितिर्न स्यात्, परकालापेक्षयेव स्वकालापेक्षयाप्यसत्त्वे सकलकालावृत्तित्वं स्यात्, स्वभावरूपेणेव परभावरूपेणापि सत्त्वे प्रतिनियतभावात्मकत्वं न स्यात्, परभावरूपेणेव स्वभावरूपेणाप्यसत्त्वे निरवशिष्टभावशालि-त्वमपि न स्यात्, न च घटोऽस्तीत्यत्र घटपदसमभिव्याहारादस्तिपदं घटत्वेनाऽस्तित्वं बोधयतीति न सर्वप्रकारेणास्तित्वप्रसक्तिः स्यात्पदाऽप्रयोगेऽपीति वाच्यम्, एवं सति घटे सत्त्वाभावप्रतिपादनेच्छयोच्चरिते घटो नास्तीति वाक्येऽपि घटपदसमभिव्याहारेण नास्ती-त्यस्य घटत्वेन नास्तित्वप्रतिपादकत्वमेव स्यात्, न चैवमभ्युपगन्तुं युक्तम्, एकस्यैवैके-नैव रूपेणास्तित्वनास्तित्वयोर्विरोधात्। न च घटोऽस्तीत्यनेन घटत्वपटत्वादिना केनापि प्रकारेणास्तित्वं न प्रतिपाद्यते, किन्तु सामान्यत एवास्तित्वं घटस्य, तच्चाबाधितमेवेति वाच्यम्, यतो घटोऽस्तीत्यनेन घटे सामान्यतोऽस्तित्वस्य ज्ञाने तस्य कथञ्चिदस्तित्व-सर्वथाऽस्तित्वयोः साधारणतया साधारणधर्मज्ञानस्य च संशयकारणत्वेन घटः कथञ्चिदस्ति-न वेति संशयस्स्यात्, संशयस्य च जिज्ञासाम्प्रति कारणत्वेन संशये सति घटे कथञ्चिद-स्तित्वज्ञानं मे जायतामित्याकारा जिज्ञासाऽपि न निरोद्धुं शक्या, न च तादृशी स्वीय

जिज्ञासा तदभिलापकप्रश्नवाक्यं किं घटः स्यादस्ति न वेत्याकारमन्तरेण प्रतिपाद्यः पुमान् प्रतिपादकं पुमांसमवगमयितुं प्रभविष्णुरिति प्रतिपाद्येनोक्तस्वरूपे प्रश्नवाक्ये उच्चारिते सति तथाविधेन तेन तस्य जिज्ञासाविशेषमवगम्य प्रतिपादकः प्रतिपाद्यपुरुषीयजिज्ञासाकारणसंशयनिवृत्तिर्यादृशवाक्यात्स्यात्तादृशमेवोत्तरवाक्यं प्रयुञ्जीत, तच्च घटः स्यादस्त्येवेत्याकारं प्रथमभङ्गरूपमेव, तत्रास्तित्वधर्मसमभिव्याहृतस्यात्पदं स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षास्फोरकमिति निमित्तभेदेनाविरोधद्योतनेन द्रव्याद्यपेक्षप्रतिनियतस्वरूपप्रतिपत्तये स्यात्पदं प्रयोक्तव्यम्, यतस्तत्तदपेक्षागर्भतत्तदनेकपर्यायकरम्बितत्वाद् वस्तुनस्तथा तथा प्रयोगे तत्तदपेक्षालाभार्थं स्यात्कारमेव प्रयुञ्जते सर्वत्र प्रामाणिकाः, अन्यथा निराकाङ्क्षमेव सर्वं वाक्यं प्रसज्येत, एवं येन रूपेणास्तित्वं तेनैव रूपेण नास्तित्वरूपानिष्टार्थनिवृत्तयेऽवधारणार्थकमेवकारपदमपि प्रयोक्तव्यमेव । उक्तञ्च खण्डखाद्येऽष्टमश्लोकटीकायाम्—" निमित्तभेदेनाविरोधद्योतनार्थं स्यात्पदस्य अवधारणार्थं च एवकारस्य प्रतिभङ्गं प्रयोग इति "। अयम्भावः—एवकारप्रयोगे घटो नील एवेत्यत्र सर्वावयवावच्छिन्ननीलत्ववत् सर्वत्र घट इत्यतस्स्वद्रव्यक्षेत्रादिपरद्रव्यक्षेत्रादिसर्वावच्छिन्नसत्त्वप्रतीतौ तदपवादाय स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावात्मकनियतावच्छेदकस्फोरणार्थं स्यात्पदप्रौव्ये येन रूपेणाऽस्तित्वं तेनैव रूपेण नास्तित्वरूपाऽनिष्टार्थनिवृत्त्यर्थं सावधारणः प्रयोगो युक्त एव, तथा च स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावरूपेण प्रधानतया घटेऽस्तित्वविवक्षयाऽसत्त्वोपसर्जनसत्त्वप्रतिपादनपरः प्रथमभङ्गः, वक्त्रा स्यादस्त्येवेत्याद्यभङ्गेऽभिहिते श्रोत्रा तेन कथञ्चिदस्तित्वे ज्ञाते तस्य प्रथमभङ्गप्रविष्टस्यात्पदमहिम्ना किं घटे नास्तित्वधर्मोऽस्ति न वेति संशयस्समुद्भवति, तेन च मे घटे नास्तित्वधर्मज्ञानं जायतामिति जिज्ञासोद्भवति, तथा च किं घटेऽस्तित्वमिव नास्तित्वमप्यस्ति ? येन स्यात्कार उपादीयत इति प्रश्ने क्रियमाणे परद्रव्यादिना कथञ्चिन्नास्तित्वधर्मोपदर्शनार्थं स्यान्नास्त्येवेति द्वितीयभङ्गः प्रयुङ्क्ते वक्ता, तत्र सर्वं हि वाक्यं सावधारणमिति न्यायमनुसृत्य क्रियमाणैवकारप्रयोगेण नास्तित्वस्यावधारणादसम्भवाशङ्काव्यवच्छेदेऽप्येकान्तनास्तित्वधर्मप्रसक्त्या तत्कथं कथञ्चिदस्तित्वविरुद्धं तत्र सङ्गतमित्याशङ्कोत्तिष्ठते, तद्व्यवच्छेदार्थं स्यात्पदप्रयोगः, तेन परद्रव्यादिना कथञ्चिन्नास्तित्वप्रतीत्या सोपशाम्यतीति स सार्थक एव, एकान्तवचनं मिथ्यावचनमिति जिनप्रवचनतत्त्ववेदिनो मिथ्यावादित्वपरिजिहीर्षया सर्वमपि वाक्यं स्यात्कारपुरस्सरमेव भाषन्ते, न तु जात्वपि स्यात्कारनिरहितम्, तद्विरहितवाक्यस्यैकान्तावधारणवाक्यरूपत्वेन " ओहारणीं भासां नेव भासेत " " अवधारणीं भाषां नैव भाषेत " इत्यनेन तन्निषेधात्, यद्यपि च लोकव्यवहारपथमवतीर्णा न सर्वत्र सर्वदा साक्षात् स्यात्पदं प्रयुञ्जते, तथापि तत्राऽप्रयुक्तोऽपि सामर्थ्यात् स्याच्छब्दो द्रष्टव्यः, प्रयोजकस्य कुशलत्वात् ।

उक्तञ्च—" अप्रयुक्तोऽपि सर्वत्र, स्यात्कारोऽर्थात्प्रतीयते ।
विधौ निषेधेऽन्यत्रापि, कुशलश्चेत्प्रयोजकः ॥ १ ॥ " इति ।

आद्येन द्वितीयेन च भङ्गेन क्रमार्पिते स्वद्रव्यक्षेत्राद्यवच्छेदेन कथञ्चिदस्तित्वे परद्रव्यक्षेत्राद्यवच्छेदेन कथञ्चिन्नास्तित्वे च ज्ञाते सति सहार्पितास्तित्वनास्तित्वोभयस्योपस्थितिसम्भवेन प्राधान्येन युगपत् स्वद्रव्यादिपरद्रव्याद्यवच्छेदकभेदेन तदुभयमस्ति न वेति संशये सति तन्मूलकतद्धर्मजिज्ञासाप्रभवतद्धर्मप्रश्नसमुद्भवे युगपत्प्राधान्येनास्तित्वनास्तित्वोभयधर्मसद्भावेऽपि तथा तत्प्रतिपादकस्य कस्यचिदेकपदस्य समासविग्रहान्यतरात्मकवाक्यस्य वाऽभावात्स्यादवक्तव्य एव घट इत्याकारकस्य तृतीयभङ्गस्यावतारसम्भवत्येव, न च "पुष्पदन्तावेकोक्त्या शशिभास्करौ" इति कोशररसादेकोक्त्या प्राधान्येन चन्द्रत्वसूर्यत्वोभयरूपेण चन्द्रसूर्योभयप्रतिपादकपुष्पदन्तशब्दवत् "तौ सत्" ३।२।१२७। इति पाणिनीयसूत्रेण प्राधान्येन 'शतृशानच्' इत्युभयसङ्केतितसच्छब्दवच्च प्राधान्येन सत्त्वाऽसत्त्वोभयधर्मसङ्केतितयत्किञ्चिदेकशब्देन युगपत् प्राधान्येन सत्त्वासत्त्वोभयधर्मस्य प्रतिपादनसम्भवात्तद्रूपेण वक्तव्य एव घट इति नोभयधर्मयुगपत्प्राधान्यविवक्षायामपि स्यादवक्तव्य एव घट इति तृतीयभङ्गावतारस्सम्भवतीति वाच्यम्, पुष्पदन्तपदेन चन्द्रत्वेन चन्द्रस्य सूर्यत्वेन सूर्यस्य युगपत्प्रतीतावपि चन्द्रत्वसूर्यत्वयोरेकेनोभयत्वेनाऽननुगमनात्तथाबोधस्य समूहालम्बनबोधात् साक्षात्परम्परया निरूप्यनिरूपकभावाऽनापन्नभिन्नप्रकारतानिरूपितभिन्नविशेष्यतानिरूपकाच्चन्द्रनिष्ठविशेष्यतानिरूपितचन्द्रत्वनिष्ठप्रकारतानिरूपितोभयत्वनिष्ठावच्छेदकतानिरूपितसूर्यत्वनिष्ठप्रकारतानिरूपितसूर्यनिष्ठविशेष्यतानिरूपकत्वेन साक्षात्परम्परया परस्परनिरूप्यनिरूपकभावापन्नविषयताकस्य वैलक्षण्येऽपि नैकधर्मिणि चन्द्रत्वसूर्यत्वोभयधर्मस्य बोधनम्। यद्वा पुष्पदन्तपदं चन्द्रे सूर्ये च शक्तमित्याकारकशक्तिग्रहमहत्त्वादेकोच्चारणान्वभावेन चन्द्रत्वसूर्यत्वविशिष्टप्रकारात्पुष्पदन्तपदाच्चन्द्रत्वप्रकारकत्वे सति सूर्यत्वप्रकारको बोधः, तत्र चन्द्रत्वसूर्यत्वयोर्द्वयोरपि पुष्पदन्तपदप्रवृत्तिनिमित्तत्वेन रूपेणैकीकृतयोरपि नैकधर्मिणि बोधनम्, प्रकृते तु सत्त्वासत्त्वोभयस्य सत्त्वत्वेनाऽसत्त्वत्वेन युगपदेवैकत्र धर्मिणि बोधनमभीप्सितमिति न पुष्पदन्तपदं तथा बोधने समर्थमिति न तद्दृष्टान्तबलात्तथाबोधनसमर्थमेकपदं कल्पयितुं शक्यम्, सत्पदमपि सत्त्वेनैकधर्मेणैव शतृशानचोर्बोधनसमर्थमिति न तद्दृष्टान्तस्याप्यवकाशः, न च सत्त्वासत्त्वोभयसङ्केतितमप्युभयपदं प्राधान्येन सत्त्वत्वेनासत्त्वत्वेन च तदुभयप्रतिपादकं, किन्तूभयत्वेनैवेति व्यासज्यवृत्तिधर्मेणोभयत्वेन रूपेणास्तित्वनास्तित्वधर्मद्वयावच्छिन्नबोधस्योभयपदात्सम्भवेऽपि तादृशबोधाकारं 'उभयम्' इत्येवं स्यादिति नोभयपदादपि सत्त्वत्वेनाऽसत्त्वत्वेन युगपत्प्राधान्येन सत्त्वासत्त्वयोः प्राधान्येनास्तित्वनास्तित्वोभयाकारो बोधस्सम्भवतीति नोभयपदेनापि तथा वक्तव्यो घट इति सत्त्वत्वेनासत्त्वत्वेन युगपत्प्राधान्येन सत्त्वासत्त्वोभयप्रतिपादकवचनाभावात् स्यादवक्तव्य एव घट इति तृतीयभङ्गस्सम्भवत्येवेति। न चावक्तव्यत्वधर्मो विधिनिषेधात्मा नैति न

तृतीयभङ्गप्रतिपाद्यतामेतीति वाच्यम्, धर्मधर्मिणोः कथञ्चिदभेदाश्रयणेनावक्तव्यत्वाऽऽश्रययोरस्तित्वनास्तित्वयोर्विधिनिषेधरूपत्वे तदाश्रितावक्तव्यत्वस्यापि तथात्वात्, तृतीयभङ्गविषयत्व तु तस्यास्तित्वनास्तित्वाभ्यां कथञ्चिद्भेदविवक्षयैवोपपादनीयम्, अवक्तव्यत्वस्य धर्मिणि सत्त्वमस्तित्वनास्तित्वावच्छेदकोभयाऽवच्छेद्यमिति भावनीयम् ॥ चतुर्थभङ्गप्रतिपाद्यस्य क्रमार्पितकथञ्चिदस्तित्वनास्तित्वोभयस्याद्यद्वितीयभङ्गप्रतिपाद्याभ्यां कथञ्चिदस्तित्वनास्तित्वाभ्यां कथञ्चिद्व्यतिरिक्तत्वेन तत्तदभावप्रकारकसंशयो नाद्यभङ्गजन्यकथञ्चिदस्तित्वनिश्चयस्य द्वितीयभङ्गजन्यकथञ्चिन्नास्तित्वनिश्चयस्य च प्रतिबन्ध्य इति स स्यादेवेति तज्जन्यजिज्ञासादिक्रमेण चतुर्थभङ्गस्सुघट एवेति। स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव घट इति वाक्यात् क्रमार्पितस्यादऽस्तित्वनास्तित्वोभयधर्मवन्तमहं घटं जानामीत्यनुभवाच्च स भङ्गोऽतिरिक्त एव, तत्र स्यात्कारेण सत्त्वासत्त्वावच्छेदकधर्मयोरेव परामर्शाज्जात्यन्तरत्वस्यार्थसिद्धत्वादिति । अत्रेदमवधेयम्—न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके, यः शब्दानुगमादृते । अनुविद्धमिव ज्ञानं, सर्वं शब्देन भासते ॥ १ ॥ इति वाक्यपदीयोक्तेश्शब्दविशिष्टस्यैवार्थस्य ज्ञाने भानमिति भर्तृहरिमतप्रवर्त्तकनयेन शब्दगतस्य क्रमस्यार्थेऽध्यारोपणाच्चतुर्थभङ्गेऽर्थगततया क्रमभानं भावनीयम्, अथवा शब्दगतोऽर्थगतो वा क्रमो नावभासत एव, किन्तु 'एकत्र द्वयम्' इतिरीत्या तत्र ज्ञानमुपजायते, तदाकारविशेषोपलक्षकमेव 'क्रमात्' इत्यभिधानम्, अत एव विधिनिषेधयोः क्रमार्पितत्वं शाब्दे न भासते। एवं पञ्चमादिभङ्गोत्थापकाः संशयास्सूपपादा इति तन्निवर्त्तकानां पञ्चमादिभङ्गानां सद्भावो ज्ञातव्यः, तृतीयादिभङ्गानां प्रथमभङ्गद्वयमूलकत्वात् तत्सिद्धौ तन्नान्तरीयकतदुत्तरभङ्गानां सुतरां सिद्धिभावात्, न चैवमभ्युपगमे सप्तभङ्गानां प्रतिभङ्गं संशयजिज्ञासादिना व्यवधाने सति एकधर्मिविशेष्यकव्यस्तसमस्तविधिनिषेधात्मकसप्तधर्मप्रकारकसमुच्चयबोधजनकत्वं न स्यादिति प्राश्निकप्रश्नज्ञानप्रयोज्यत्वे सति एकवस्तुविशेष्यकाविरुद्धविधिप्रतिषेधात्मकसप्तधर्मप्रकारकबोधजनकसप्तवाक्यपर्याप्तसमुदायत्वरूपसप्तभङ्गीलक्षणक्षतिस्स्यादिति वाच्यम्, यतः पुनरव्यवधानेनोपस्थितिकल्पनया सप्तभङ्गीभावमापन्नानां भङ्गानां तादृशसमुच्चयात्मकबोधजनकत्वं स्यादेव। उक्तसप्तभङ्गीलक्षणतात्पर्यमप्येवं ज्ञेयम्—एकवस्तुविशेष्यकसत्त्वासत्त्वादिसप्तधर्मप्रकारकशाब्दबोधजनकतापर्याप्त्यधिकरणं वाक्यं सप्तभङ्गीति, विरोधस्फूर्त्तौ वाक्यस्याबोधकत्वेनैवाविरुद्धेत्यस्य गतार्थत्वात्, प्रश्नस्य च क्वाचित्कत्वाच्छिष्यजिज्ञासयेव क्वचिद्गुरोर्जिज्ञापयिषयैव सप्तभङ्गीप्रयोगसङ्गतेः प्राश्निकेत्यादिविशेषणस्यापि लक्षणेऽप्रवेशात्, नानावस्तुषु सत्त्वासत्त्वादिबोधकवाक्येऽतिप्रसङ्गवारणायैकवस्तुविशेष्यकेति, एकत्र रूपरसादिसप्तधर्मबोधकेऽतिप्रसङ्गवारणाय सत्त्वासत्त्वादीति, खण्डवाक्ये तद्वारणाय पर्याप्तिनिवेशः, प्रमाणसप्तभङ्गीवन्नयसप्तभङ्ग्या अपि लक्ष्यत्वान्न तत्रातिव्याप्तिः, प्रमाणनयसप्तभङ्ग्योः पृथक्

पृथक् लक्ष्यत्वे त्वाद्यायां वाक्ये सकलादेशत्व द्वितीयायाश्च विकलादेशत्व विशेषण देयम्, एव मेदामेदनित्यत्वानित्यत्वादिविरुद्धधर्मापेक्षामेदप्रयोज्याविरोधद्योतकस्यात्पदलाञ्छितसप्तभङ्ग्यन्तररचना ज्ञातव्या, वस्तुनोऽनन्तधर्मात्मकत्वेन प्रतिधर्म सप्तभङ्गीप्रवृत्तेः। तदुक्तम्—

" धर्मे धर्मेऽन्य एवार्थो, धर्मिणोऽनन्तधर्मणः।
अङ्गित्वेऽन्यतमान्तस्य, शेषान्तानां तदङ्गता ॥ १ ॥ "

तत्र धर्मे धर्मे प्रतिधर्ममित्यर्थः। अर्थ इति प्रयोजनादिरित्यर्थ। अनन्तधर्मवतो धर्मिणः प्रतिधर्म सप्तभङ्गीकथन प्रधानीभूतैकैकधर्ममुद्दिश्यैकधर्मिविशेष्यकसप्तविधधर्मप्रकारकबोधाच द्विपयकसशयाज्ञानभ्रान्तज्ञाननिवृत्तिफलकमिति भावः। अन्यतमान्तस्येति-सप्तविधधर्मान्यतमधर्मस्येत्यर्थ, अङ्गित्वे-प्रधानत्वे, शेषान्तानाम्-तद्भङ्गप्रविष्टस्याच्छब्दसूचिततदितरधर्माणाम्। तदङ्गता तद्गुणभावः। प्रधानगुणभावश्च वक्तुर्विवक्षाधीन एव। एतेन ननु यदि विवक्षितेनैकेन केनचिद्भङ्गेन विवक्षितधर्मस्येव तदितरधर्माणामपि प्रतिपादने तेनैव शेषभङ्गजन्यतदितरधर्मप्रतिपत्तिफलसिद्धेश्शेषभङ्गनिरूपण व्यर्थमेवेत्यारेकाऽपि निरस्ता, विवक्षितभङ्गेन प्रधानतया तदितरधर्मप्रतिपत्त्यनुत्पादनादिति। ननु नयास्तत्तद्वादीययावद्वचनप्रकारास्तावन्त एवेति केन नयेनेय सप्तभङ्गी प्रवृत्ता केन चेयमिति कथ निश्चेतव्यमिति चेत्, उच्यते, आद्यभङ्गस्य प्रतिपाद्यो यो धर्मः प्रधानभूत स यन्नयविचाराऽऽधीनसिद्धिकस्तद्धर्मप्रतिपादकाद्यभङ्गघटितसप्तभङ्गी तन्नयप्रयुक्ताऽभ्युपगन्तव्या, तदुक्त खण्डखाद्ये-" यत्र मूल भङ्गार्थो यन्नयविचाराधीनसिद्धिकस्तत्सप्तभङ्ग्यां तदीयत्वव्यवहारात्" इति। अत एव—

धीग्राह्ययोर्न हि भिदाऽस्ति सहोपलम्भात्, मातिरिक्तेन परिणामगुणेन भेदः।
इत्थं तथागतमतेऽपि हि सप्तभङ्गी, सङ्गीयते यदि तदा न भवेद्विरोधः ॥३८॥

इत्युक्त सङ्गच्छते, ग्राह्यग्राहकयोस्स्यादभेद एव, स्याद्भेद एव, स्यादभेदस्याद्भेदोभय मेव, स्यादवक्तव्य एवेत्यादिसप्तभङ्ग्यां स्यादभेद एवेत्याद्यभङ्गस्य प्रतिपाद्योऽभेदरूपो यः प्रधानार्थस्स तथागतदृष्ट्यैव सिद्ध इत्यत उक्तसप्तभङ्ग्या तदीयत्वव्यवहारात्तथागतमतेऽपि सप्तभङ्गीप्रकथने न भगवत्सिद्धान्तविरोध., सर्वमतव्यापकत्वाद् भगवद्दर्शनस्येति भावः ॥३५॥

तदेवमेकैकवस्तु प्रतिधर्म सप्तभङ्गीप्रतिपाद्यसप्तधर्मोपेतमिति वचनेन तथैव प्रतिपादयन् वक्ता यथार्थवक्ता भवति, नान्यथेति गाथासमूहैस्सप्तविकल्पोत्थाननिमित्तमुपदर्शयन् प्रथम माद्यभङ्गत्रयोत्थाननिमित्तमाह—

अत्थतरभूएहि य णियएहि य दोहि समयमाईहिं।
वयणविसेसाईय, दव्वमवत्तव्वयं पडइ ॥ ३६ ॥

"अत्थतरभूएहि य," अर्थान्तरभूतैश्च परपर्यायैः ' णियएहि य ' निजकैश्च स्वपर्यायैः, अर्थान्तरभूतः पटत्वादिः, निजो घटत्वादिः, ताभ्या निजार्थान्तरभूताभ्या क्रमेण घटस्स्या-

तृतीयभङ्गप्रतिपाद्यतामेतीति वाच्यम्, धर्मधर्मिणोः कथञ्चिद्भेदाश्रयणेनावक्तव्यत्वाऽऽश्रययोरस्तित्वनास्तित्वयोर्विधिनिषेधरूपत्वे तदाश्रितावक्तव्यत्वस्यापि तथात्वात्, तृतीयभङ्गविषयत्वं तु तस्यास्तित्वनास्तित्वाभ्यां कथञ्चिद्भेदविवक्षयैवोपपादनीयम्, अवक्तव्यत्वस्य धर्मिणि सत्त्वमस्तित्वनास्तित्वावच्छेदकोभयाऽवच्छेद्यमिति भावनीयम् ॥ चतुर्थभङ्गप्रतिपाद्यस्य क्रमार्पितकथञ्चिदस्तित्वनास्तित्वोभयस्याद्यद्वितीयभङ्गप्रतिपाद्याभ्यां कथञ्चिदस्तित्वनास्तित्वाभ्यां कथञ्चिद्व्यतिरिक्तत्वेन तत्तदभावप्रकारकसंशयो नाद्यभङ्गजन्यकथञ्चिदस्तित्वनिश्चयस्य द्वितीयभङ्गजन्यकथञ्चिन्नास्तित्वनिश्चयस्य च प्रतिबध्य इति स स्यादेवेति तज्जन्यजिज्ञासादिक्रमेण चतुर्थभङ्गस्सुघट एवेति। स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव घट इति वाक्यात् क्रमार्पितस्यादऽस्तित्वनास्तित्वोभयधर्मवन्तमहं घटं जानामीत्यनुभवाच्च स भङ्गोऽतिरिक्त एव, तत्र स्यात्कारेण सत्त्वासत्त्वावच्छेदकधर्मयोरेव परामर्शाज्ज्ञाप्यन्वयत्वस्यार्थसिद्धत्वादिति। अत्रेदमवधेयम्–न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके, यः शब्दानुगमादृते। अनुविद्धमिव ज्ञानं, सर्वं शब्देन भासते ॥ १ ॥ इति वाक्यपदीयोक्तेश्शब्दविशिष्टस्यैवार्थस्य ज्ञाने भानमिति भर्तृहरिमतप्रवर्त्तकनयेन शब्दगतस्य क्रमस्यार्थेऽध्यारोपणाच्चतुर्थभङ्गेऽर्थगततया क्रमभानं भावनीयम्, अथवा शब्दगतोऽर्थगतो वा क्रमो नावभासत एव, किन्तु 'एकत्र द्वयम्' इतिरीत्या तत्र ज्ञानमुपजायते, तदाकारविशेषोपलक्षकमेव 'क्रमात्' इत्यभिधानम्, अत एव विधिनिषेधयोः क्रमार्पितत्वं शाब्दे न भासते। एवं पञ्चमादिभङ्गोत्थापकाः संशयास्सूपपादा इति तन्निर्वचनकाना पञ्चमादिभङ्गाना सद्भूावो ज्ञातव्यः, तृतीयादिभङ्गाना प्रथमभङ्गद्वयमूलकत्वात् तत्सिद्धौ तन्नान्तरीयकतदुत्तरभङ्गानां सुतरां सिद्धिभावात्, न चैवमभ्युपगमे सप्तभङ्गानां प्रतिभङ्गं संशयजिज्ञासादिना व्यवधाने सति एकधर्मिविशेष्यकव्यस्तसमस्तविधिनिषेधात्मकसप्तधर्मप्रकारकसमुच्चयबोधजनकत्वं न स्यादिति प्राश्निकप्रश्नज्ञानप्रयोज्यत्वे सति एकवस्तुविशेष्यकाविरुद्धविधिप्रतिषेधात्मकसप्तधर्मप्रकारकबोधजनकसप्तवाक्यपर्याप्तसमुदायत्वरूपसप्तभङ्गीलक्षणक्षतिस्स्यादिति वाच्यम्, यतः पुनरव्यवधानेनोपस्थितिकल्पनया सप्तभङ्गीभावमापन्नानां भङ्गाना तादृशसमुच्चयात्मकबोधजनकत्वं स्यादेव। उक्तसप्तभङ्गीलक्षणतात्पर्यमप्येवं ज्ञेयम्–एकवस्तुविशेष्यकसत्त्वासत्त्वादिसप्तधर्मप्रकारकशाब्दबोधजनकतापर्याप्त्यधिकरणं वाक्यं सप्तभङ्गीति, विरोधस्फूर्तौ वाक्यस्याबोधकत्वेनैवाविरुद्धत्वस्य गतार्थत्वात्, प्रश्नस्य च क्वाचित्कत्वाज्जिज्ञासयेव क्वचिद्गुरोर्जिज्ञापयिषयैव सप्तभङ्गीप्रयोगसङ्गतेः प्राश्निकेत्यादिविशेषणस्यापि लक्षणेऽप्रवेशात्, नानावस्तुषु सत्त्वासत्त्वादिबोधकवाक्येऽतिप्रसङ्गवारणायैकवस्तुविशेष्यकेति, एकत्र रूपरसादिसप्तधर्मबोधकेऽतिप्रसङ्गवारणाय सत्त्वासत्त्वादीति, खण्डवाक्ये तद्वारणाय पर्याप्तिनिवेशः, प्रमाणसप्तभङ्गीवन्नयसप्तभङ्ग्या अपि लक्ष्यत्वान्न तत्राव्याप्तिः, प्रमाणनयसप्तभङ्ग्योः पृथक्

पृथक् लक्षणत्वे स्यादाद्यायां वाक्ये सकलादेशत्व द्वितीयायाश्च विकलादेशत्व विशेषण देयम् , एव मेदामेदनित्यत्वानित्यत्वादिविरुद्धधर्मापेक्षामेदप्रयोज्याविरोधद्योतकस्यात्पदलाञ्छितसप्तमङ्गयन्तररचना ज्ञातव्या, वस्तुनोऽनन्तधर्मात्मकत्वेन प्रतिधर्मं सप्तमङ्गीप्रवृत्तेः । तदुक्तम्—

" धर्मे धर्मेऽन्य एवार्थो, धर्मिणोऽनन्तधर्मणः ।
अङ्गित्वेऽन्यतमान्तस्य, शेषान्ताना तदङ्गता ॥ १ ॥ "

तत्र धर्मे धर्मे प्रतिधर्ममित्यर्थः । अर्थ इति प्रयोजनादिरित्यर्थः । अनन्तधर्मवतो धर्मिणः प्रतिधर्मं सप्तमङ्गीकथन प्रधानीभूतैकैकधर्मबुद्धिविषयैकधर्मिविशेष्यकसप्तविधधर्मप्रकारकबोधाच द्विपयकसशयाज्ञानभ्रान्तज्ञाननिवृत्तिफलकमिति भावः । अन्यतमान्तस्येति–सप्तविधधर्मान्यतमधर्मस्येत्यर्थः, अङ्गित्वे–प्रधानत्वे, शेषान्तानाम्–तत्तद्भङ्गप्रविष्टस्याच्छब्दसूचिततदितरधर्माणाम् । तदङ्गता तद्गुणभाव. । प्रधानगुणभावश्च वक्तुर्विवक्षाधीन एव । एतेन ननु यदि विवक्षितेनैकेन केनचिद्भङ्गेन विवक्षितधर्मस्येव तदितरधर्माणामपि प्रतिपादने तेनैव शेषभङ्गजन्यतदितरधर्मप्रतिपत्तिफलसिद्धेश्शेषभङ्गनिरूपण व्यर्थमेवेत्यारेकाऽपि निरस्ता, विवक्षित भङ्गेन प्रधानतया तदितरधर्मप्रतिपत्त्यनुत्पादनादिति । ननु नयास्सप्तशब्दादीयपावद्वचनप्रकारास्तावन्त एवेति केन नयेनेय सप्तभङ्गी प्रवृत्ता केन नेयमिति कथ निश्चेतव्यमिति चेत् , उच्यते, आद्यमङ्गस्य प्रतिपाद्यो यो धर्मः प्रधानभूत. स यन्नयविचाराऽऽधीनसिद्धिकस्तद्धर्मप्रतिपादकाद्यमङ्गघटितसप्तमङ्गी तन्नयप्रयुक्ताऽभ्युपगन्तव्या, तदुक्त खण्डखाद्ये–" यत्र मूलभङ्गार्थो यन्नयविचाराधीनसिद्धिकस्तत्सप्तमङ्ग्यां तदीयत्वव्यवहारात्" इति । अत एव—

धीग्राह्ययोर्न हि भिदाऽस्ति सहोपलम्भात्, भातिस्थिरकेन परिणामगुणेन भेदः ।
इत्थ तथागतमतेऽपि हि सप्तभङ्गी, सङ्गीयते यदि तदा न भवेद्विरोधः ॥३८॥

इत्युक्त सङ्गच्छते, ग्राह्यग्राहकयोस्स्यादमेद एव, स्याद्भेद एव, स्यादमेदस्याद्भेदोभयमेव, स्यादवक्तव्य एवेत्यादिसप्तमङ्ग्यां स्यादमेद एवेत्याद्यमङ्गस्य प्रतिपाद्योऽमेदरूपो यः प्रधानार्थस्स तथागतदृष्ट्यैव सिद्ध इत्यत उक्तसप्तमङ्ग्या तदीयत्वव्यवहारात्तथागतमतेऽपि सप्तमङ्गीप्रकथने न भगवत्सिद्धान्तविरोधः, सर्वमतव्यापकत्वाद् भगवद्दर्शनस्येति भावः ॥३५॥

तदेवमेकैकवस्तु प्रतिधर्मं सप्तमङ्गीप्रतिपाद्यसप्तधर्मोपेतमिति वचनेन तथैव प्रतिपादयन् वक्ता यथार्थवक्ता भवति, नान्यथेति गाथासमूहैस्सप्तविकल्पोत्थाननिमित्तमुपदर्शयन् प्रथममाद्यभङ्गत्रयोत्थाननिमित्तमाह—

अत्थतरभूएहि य णियएहि य दोहि समयमाईहिं ।
वयणविसेसाईय, दव्वमवत्तव्वय पडइ ॥ ३६ ॥

"अत्थतरभूएहि य," अर्थान्तरभूतैश्च परपर्यायैः 'णियएहि य' निजकैश्च स्वपर्यायै, अर्थान्तरभूरः पटत्वादिः, निजो घटत्वादिः, ताभ्यां भिन्नार्थान्तरभूताभ्यां क्रमेण घटस्स्या–

त्सत्त्वेन स्यादसन्नेवेति द्वौ भङ्गौ भवतः। 'दोहि समयमाईहिं' द्वाभ्यामादिभ्यां प्रागुक्ताभ्यां प्रकाराभ्यां समकं युगपद्विवक्षितमिति शेषः 'दव' द्रव्यं 'वयणविसेसाईयं' वचनविशेषातीतं सत्तथाविधवचनवाच्यताऽनापन्नं सद् 'अवत्तव्वं पडइ' अवक्तव्यकं पतति तृतीयभङ्गविषयतामास्कन्दतीति गाथार्थः। अष्टसहस्र्यां त्वेनमर्थं कृतः–अर्थान्तरभूतः पटादिः निजो घटादिः, ताभ्यां द्वाभ्यां सदसत्त्वं घटवस्तुनः प्रथमद्वितीयभङ्गनिमित्तं प्रधानगुणभावेन भवतीति सोपस्कारं व्याख्येयम्। 'समयमाईहिं' इत्यनन्तरं तुर्गम्यः, द्वाभ्यामिति चानुवर्तते, ममक्रमादिरादानं ययोस्ताभ्यां सहार्पिताभ्यां तु द्वाभ्यामित्यर्थः। वचनविशेषातीतं वचनस्य विशेषः शक्तिः, तमतीतमनाक्रान्तं सत्तथाविधवाचकाविषयीभूतमिति यावत्, द्रव्यं घटादि अवक्तव्यम्, पतति अशक्तिमाराद्वक्तव्यताशिखरे स्थातुं न शक्नोति, अवक्तव्यतां वा पततीति। अयम्भावः—अनुयोग्युपस्थापकसमानविभक्तिकप्रतियोग्युपस्थापकपदसमभिव्याहृतनञो भेदप्रत्यायकत्वेन शाखायां वृक्षः कपिसयोगी न मूले इत्यबाधितानुभवबलाद्यथा शाखावच्छेदेन य एव वृक्षः कपिसयोगी स एव मूलावच्छेदेन कपिसयोगिभेदवानिति नव्यनैयायिकैरभ्युपगतं, यद्वोक्तप्रतीत्या कपिसयोगतदत्यन्ताभावयोरव्याप्यवृत्तित्वेनैकस्मिन्नेव वृक्षे शाखामूलावच्छेदेन कपिसयोगतदत्यन्ताभावमत्त्वं प्राचीननैयायिकैरभ्युपगतं, तथैव स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षया घटस्सन् परद्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षया चासन्निित्यबाधितानुभवबलात् स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावावच्छेदेन य एव घटस्सन् कथञ्चित्तादात्म्यसम्बन्धेन सदाश्रयः सत्त्ववान् वा, स एव घटः परद्रव्यक्षेत्रकालभावावच्छेदेनासन्कथञ्चित्तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकसद्भेदवानिति यद्वा सत्त्वात्यन्ताभाववानिति सद्भेदयोस्सत्त्वतदत्यन्ताभावयोर्वा सामानाधिकरण्यमभ्युपगन्तव्यम्, कपिसयोगितद्भेदयोरिव सद्भेदयोः कपिसयोगतदभावयोरिव सत्त्वतदत्यन्ताभावयोर्वाऽव्याप्यवृत्तित्वाऽभ्युपगमे बाधकाभावात्, तथा च सत्त्वं स्वाभावसमानाधिकरणं स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगिभूतधर्मत्वात् कपिसयोगवदित्यनुमानेन सत्त्वेऽव्याप्यवृत्तित्वसिद्धौ तदन्यथाऽनुपपत्त्याऽभ्युपगम्यमानस्यावच्छेदकत्वविशेषस्य स्वद्रव्यादौ स्वीकारः, तथा च स्वद्रव्यक्षेत्रादावऽवच्छेदकता सत्त्वादिधर्मस्याव्याप्यवृत्तित्वोपोद्बलिका, तामुपादायैव स्यात्पदप्रवृत्तिरुपेयत इति। ननु प्रतियोग्यनवच्छेदकस्याभावावच्छेदकत्वे तत्त्वस्य सर्वत्राविशेषात् परद्रव्यक्षेत्रादेरिव प्रमेयत्वादेरपि सत्त्वाभावावच्छेदकत्वं स्यादिति तदपेक्षयाऽपि घटे सत्त्वाभावस्स्यात्, स चानुभवबाधितः, न हि कोऽपि तत्त्वज्ञः प्रमेयत्वेन घटोऽसन्निति वक्तीति चेत्, नैवम्, उक्तातिप्रसङ्गस्यानुभवत्रिनिगमनेनैव निवारणात्, अनुभवश्चात्र घटो मृद्द्रव्यस्य पाटलिपुरक्षेत्रस्येदानींतनकालस्य च घटत्वात्मकभावस्य रक्तत्वात्मकभावस्य वाऽपेक्षया सन् तन्तो राजगृहस्यातीतानागतकालस्य पटत्वस्य नीलत्वस्य वाऽपेक्षयाऽसन्नित्याकारकः। न तु प्रमेयत्वाद्यपेक्षयाऽसन्नित्याकारक इति,

प्रतियोग्यनवच्छेदकत्वस्य सर्वत्राविशेषेऽप्युक्तविनिगमकादेव प्रतियोग्यनवच्छेदकमपि किञ्चिदेव कस्यचिदभावस्य वृत्त्यावच्छेदक न तु सर्वस्येति प्रमेयत्वेन घटस्य सत्त्वे प्रमेयत्ववतः पटादेर्घटात्मकत्व स्यादिति सर्वस्य सर्वात्मकत्वापत्तितो यदि घटत्वेन घटस्सन् न प्रमेयत्वे नेत्यनुभवस्तदा स्वभावत्व परभावत्वञ्च विवक्षाधीनमिति प्रमेयत्वस्यापि परभावत्वेन विवक्षितत्वात् तस्याप्यभावावच्छेदकत्वमिष्टमेवेत्युक्तातिप्रसङ्गस्याभासरूपत्वमेवेत्याद्यपक्षः। अथवा परद्रव्याद्यपेक्षयेत्यस्य प्रतियोग्यनवच्छेदकावच्छेदेनेत्यर्थः। एवञ्च प्रमेयत्व न सत्त्वात्मकप्रतियोग्यवच्छेदकमिति प्रमेयत्वावच्छेदेन घटो न सन् इति द्वितीयभङ्गार्थो युक्त एवेत्यर्थ इति द्वितीयपक्षः। परद्रव्यादेर्यथाश्रुतार्थपरतायामपि प्रमेयत्वस्य परभावरूपतयाऽभावावच्छेदकत्वमिष्टमित्याशयेन प्रमेयत्वस्य परभावत्व विवक्षया पूर्वमुक्तम्, इदानीं तु तस्य परभावत्व भवतु मा वा, प्रतियोग्यनवच्छेदकत्वादेव प्रतियोग्यनवच्छेदकपदेन तस्यापि ग्रहणसम्भवात् प्रतियोग्यनवच्छेदकावच्छेदेनेत्यनेन प्रमेयत्वावच्छेदेनेत्यपि लभ्यते इति भाव', यदि चाऽस्तित्वनास्तित्वयोर्विरुद्धयोरेकत्रापेक्षाभेदेन सत्त्वोपपत्तये स्वद्रव्यादीनां प्रतियोगिभूतस्य सत्त्वस्यावच्छेदकत्व परद्रव्यादीना सत्त्वाभावस्यावच्छेदकत्वमित्येव कल्पना नाद्रियते, किन्तु सत्त्वासत्त्वयोः प्रकृते विशिष्टस्वरूपयोरेव प्रथमद्वितीयभङ्गविषयत्वम्, तथा च स्वद्रव्याद्यवच्छिन्न यत्सत्त्व प्रथमभङ्गविषयः परद्रव्याद्यवच्छिन्नसत्त्वनिष्ठप्रतियोगिताकाभावरूप यदसत्त्व द्वितीयभङ्गविषयस्तयोः परस्पराभावरूपत्वाभावादेव न विरोध इत्येतावदेव प्रथमद्वितीयभङ्गयोरनिरुद्धार्थकत्वोपपत्तिरिति द्वितीयभङ्गो व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावपर एव, व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावश्चाऽभ्युपगम्यते एव " यदि च घटत्वेन पटो नास्तीति प्रत्यय' स्वरसवाही लोकानां तदा व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाववारण गीर्वाणगुरोरप्यशक्यम् " इति वदता शिरोमणिनापि। अत एव—

"अव्याप्यवृत्तिगुणिभेदमुदीर्य नव्या ऽभाव प्रकल्प्य च कथ न शिरोमणे त्वम्।
स्याद्वादमाश्रयसि सर्वविरोधिजैत्र,भूमः पसार्य निजपाणिमिति त्वदीयाः॥४५॥"

इति शिरोमणिं प्रति शिक्षावचनमपि सङ्गच्छते। ननु व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्य केवलान्वयित्वेन प्रकृतधर्मिमात्राऽसाधारणधर्मत्वाभावादव्यावर्त्तकत्वेन तत्प्रतिपादकभङ्गस्य वैयर्थ्यमिति चेत्, मैवम्, नास्त्येव घट इत्येतावन्मात्रोक्तावेवकारप्रतिपाद्यसर्वथा नास्तित्वस्य प्रसक्तौ तद्वारणार्थं स्यात्कारप्रयोगः, यथा चित्रे घटे नील एवेति प्रयुक्ते सर्वथा नीलत्वप्रसक्तौ तद्वारणार्थं स्यात्कारप्रयोग इति स्यात्कारलाञ्छितद्वितीयभङ्गस्य व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावबोधकस्यापि सार्थकयादिति तृतीयपक्षः। एव घटत्वेन पटो नास्तीति प्रतीत्या घटत्वावच्छिन्नपटनिष्ठप्रतियोगिताकाभावविषयिकया सिद्धस्य व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्येव शशशृङ्गे गोशृङ्गत्वेन नास्तीत्यादि-

प्रतीत्या शशीयत्वावच्छिन्नशृङ्गनिष्ठाधिकरणतानिरूपकगोवृत्तित्वाभावपर्यवसानको यश्शशीयत्वेन शृङ्गे गोवृत्तित्वाभावस्तद्विषयिकया सिद्धस्य व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नानुयोगितानिरूपकाभावस्याप्यवबोधको द्वितीयभङ्गस्समर्थनीय इति चतुर्थपक्षः। तथा चाद्यपक्षे स्वद्रव्याद्यवच्छेदेन घटस्सन्नेवेत्याद्यभङ्गजन्यस्य घटे स्वद्रव्याद्यवच्छेदेन सत्त्वप्रकारकनिश्चयस्य सत्त्वेऽपि घटासत्त्वस्य स्वसमानाधिकरणाभावप्रतियोगित्वलक्षणाऽव्याप्यवृत्तितया तज्ज्ञानानास्कन्दितपरद्रव्याद्यवच्छिन्नघटासत्त्वनिश्चयः परद्रव्याद्यवच्छेदेन घटोऽसन्नेवेति द्वितीयभङ्गजन्यस्स्यादेव, तद्वत्तानिश्चयस्य संशयनिश्चयसाधारणाऽव्याप्यवृत्तित्वज्ञानानास्कन्दिततदभावप्रकारकबुद्धित्वावच्छिन्नं प्रत्येव प्रतिबन्धकत्वात्, प्रकृते तदभावप्रकारकबुद्धिश्च भङ्गघटकैवकारव्यवच्छेद्यस्य येन रूपेण यत्सत्त्वं तद्रूपेण तदसत्त्वस्य ज्ञानात्मिकैव, न तु परद्रव्याद्यवच्छिन्नतदसत्त्वनिश्चयात्मिकेति तत्सत्त्वे बाधकाऽभाव एव, एवं सर्वत्र ज्ञेयम्। द्वितीयपक्षे परद्रव्यादेः प्रमेयत्वस्य च प्रतियोग्यनवच्छेदकत्वात्तदवच्छेदेन घटासत्त्वनिश्चयः घटसत्त्वनिश्चयकालेऽपि पूर्वरीत्या स्यादेव। तृतीयपक्षे चाद्यभङ्गजन्यस्वद्रव्याद्यवच्छिन्नघटसत्त्वनिश्चयकालेऽपि द्वितीयभङ्गेन परद्रव्यादेर्घटगतसत्त्वनिष्ठप्रतियोगितायां व्यधिकरणत्वात्तद्धर्मावच्छिन्नसत्त्वनिष्ठप्रतियोगिताकाभावविषयकनिश्चयः पटत्वेन पटोऽस्तीति वाक्यजन्यनिश्चयकाले घटत्वेन पटो नास्तीति वाक्यजन्यघटत्वरूपव्यधिकरणधर्मावच्छिन्नपटनिष्ठप्रतियोगिताकाभावनिश्चयवज्जन्यते, तयोः प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावाभावात्। चतुर्थपक्षे तु शशशृङ्गे गोवृत्तित्वं नास्तीत्यादिप्रतीत्या शशीयत्वेन शृङ्गे गोवृत्तित्वाभावविषयिकया सिद्धस्य व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नानुयोगितानिरूपकाभावस्याप्यवबोधकेन द्वितीयभङ्गेन परद्रव्याद्यवच्छिन्नघटनिष्ठविशेष्यतानिरूपितसत्त्वनिष्ठप्रतियोगितानिरूपकाभावनिष्ठप्रकारतानिरूपकनिश्चयोऽप्युररीकर्त्तव्य इति। न चास्य द्वितीयभङ्गस्यानेकप्रकारेणोपपादनेऽपसिद्धान्तत्वप्रसङ्ग इति वाच्यम्, भगवत्प्रवचनस्य नानाप्रतिपत्तिप्रकारबहुलत्वादिति। अत्राधिक खण्डखाद्ये पञ्चत्वारिंशच्छ्लोकटीकातोऽवसेयम्। स्वद्रव्याद्यपेक्षया सत्त्वस्य परद्रव्याद्यपेक्षयाऽसत्त्वस्येत्येवं युगपत्सत्त्वासत्त्वोभयस्य प्राधान्यविवक्षायां तत्प्रतिपादने समर्थमेकं पदं नास्तीति पूर्वमेव विवृतम्, समासवाक्यं विग्रहवाक्यमपि च किञ्चिन्न विद्यते, तथाहि–समासविधावपि न तावद्बहुव्रीहिरत्र समर्थः, तस्यान्यपदार्थप्रधानत्वेन चित्रगुरित्यादौ विशेष्यविशेषणभावापन्नयोरेव समासघटकपदार्थयोः समासाऽघटकाऽन्यपदार्थे विशेषणत्वस्य दृष्टत्वेन प्रकृतेऽन्यपदार्थप्राधान्याभावेन तदसम्भवात्, नाप्यव्ययीभावः, तस्य पूर्वपदार्थस्यैव प्रधानतया बोधकतायाः उपगङ्गमित्यादौ गङ्गासामीप्यादिरूपार्थावबोधाद् वैयाकरणसम्मतत्वेन पूर्वपदार्थमात्रप्रधानकबोधस्य प्रकृतेऽनिष्टत्वेन तस्याऽप्यऽप्रवृत्तेः, नापि द्वन्द्वः, तस्य तद्धर्मनिष्ठप्रकारतानिरूपितनिरवच्छिन्नतद्धर्मिनिष्ठविशेष्यत्वाऽभिन्नतद्धर्मनिष्ठावच्छेदकतानिरूपिततद्धर्मिनिष्ठविशेष्यताकत्वे सति धर्मान्तरनिष्ठप्रकारतानिरूपितनिरवच्छिन्नधर्म्यन्तरनिष्ठविशेष्यत्वा-

भिन्नधर्मान्तरनिष्ठावच्छेदकतानिरूपितधर्म्यन्तरनिष्ठविशेष्यतानिरूपितद्वित्वनिष्ठप्रकारतानिरूपकबोधजनकत्वस्यैव धवखदिरावित्यादौ दृष्टत्वेन तृतीयभङ्गे तादृशबोधजनकत्वाभावेन तस्याप्यप्रवृत्तेः, तृतीयभङ्गेनाऽस्तित्वत्वेन नास्तित्वत्वेन रूपेण प्रधानतया सहार्पितास्तित्वनास्तित्वोभयविवक्षासद्भावेनेतरेतरात्मकेन द्वन्द्वेन च दर्शितरीत्या तादृशोभयबोधजनकत्वासम्भवेन प्रकृते तस्यानुपयोग एव। नापि समाहाररूपोऽपि सः, यतस्तेन वाक्त्वच छत्रोपानहमित्यादौ समासघटकपदार्थसमाहारविशेष्यकबोधस्यैवोत्पादः, न च प्रकृते तथाबोध इष्ट इति तस्याप्यत्राप्रवृत्ते, नापि तत्पुरुषः, तस्योत्तरपदार्थप्रधानत्वेन राजपुरुष इत्यादावुत्तरपदार्थविशेष्यकबोधजनकत्वात्, अत्र च तदभावात्, अत एव तत्पुरुषविशेषरूपस्य कर्मधारयस्याप्यत्र न सम्भवः, तद्घटकपदार्थानां विशेषणविशेष्यभावस्य नियमेन भानात्, कृष्णसर्प इत्यादौ पूर्वपदार्थप्रकारकोत्तरपदार्थविशेष्यकबोधजनकत्वात्, अत्र च तथाऽनभ्युपगमात्, अत एव तद्विशेषो द्विगुरपि न सम्भवति, तस्य सङ्ख्यावाचिपूर्वपदकत्वनियमात्, अत्र च सङ्ख्यावाचिपूर्वपदस्यैवाभावात्, न च समासान्तरसद्भावोऽस्ति, येन तद्वाच्यताऽपि शक्यसम्भावना स्यात्, न चैकशेषवृत्त्या तथाबोधसम्भवो, रामश्च रामश्च रामौ रामश्च रामश्च रामश्च रामा इत्यादौ सरूपाणामेकशेषस्य विधानात्, प्रकृते तु सरूपताभावेनैकशेषविधानस्याशक्यत्वात्, विरूपाणामपि समानार्थानामेकशेषस्य दृष्टत्वात्, प्रकृते तु समानार्थकत्वाभावात्, अन्यस्य चैकशेषविधायकविधेस्तत्तच्छब्दविषयकत्वेन तस्याप्यत्रासम्भवित्वात्। न च विग्रहवाक्येनापि तथाबोधप्रत्याशा कर्त्तव्या, विग्रहवाक्यस्य वृत्तिसमानार्थकत्वनियमात्, वृत्तेश्च तादृशार्थाऽबोधकत्वे निश्चिते विग्रहवाक्यस्य तादृशार्थबोधकत्वस्य सुतराम सम्भवात्। तथा चोक्तनीत्याऽस्तित्वनास्तित्वोभयात्मके वस्तुनि युगपदस्तित्वनास्तित्वोभयप्रतिपादकवचनाभावाद् युगपदस्तित्वनास्तित्वोभयात्मना घटेऽवक्तव्यत्वं सिद्धमिति तद्विषयकतृतीयभङ्गप्रवृत्तिरसङ्गच्छत एवेति, तृतीयभङ्गघटकस्यात्पद तु सहार्पितास्तित्वनास्तित्वोभयात्मकोऽर्थो न सर्वथा वचनागोचरः, तथा सत्यवक्तव्यशब्दप्रतिपाद्योऽपि स न स्यात्, किन्तु कथञ्चिदवक्तव्य एवेति सूचयितुमिति। अवधारणार्थश्चैवकारपदमिति। न चावक्तव्यत्वस्यास्तित्वनास्तित्वोभयात्मकत्वे आद्येन भङ्गेनास्तित्वस्य द्वितीयेन च नास्तित्वस्य ज्ञाने तदुभयज्ञानं सञ्जातमेवेत्ययं तृतीयभङ्गो निष्फलत्वेनोपादेयो नेति वाच्यम्, सहार्पितास्तित्वनास्तित्वात्मकाऽवक्तव्यत्वज्ञानस्याद्याभ्यां भङ्गाभ्यामनुत्पाद्यस्योत्पादकतया साफल्येनोपादेयत्वात्, यतो न हि सहार्पितयोस्सदसत्त्वयोस्स्याद्वक्तव्य एवेति भङ्गेनाभिधानम्, किं तर्हि? तथार्पितयोस्तयोस्सर्वथा वक्तुमशक्तेरवक्तव्यत्वस्य धर्मान्तरस्य तेन भङ्गेन प्रतिपादनमिष्यते। अत एव तत्सत्त्वे प्रत्याद्यभङ्गजन्यस्वद्रव्याद्यवच्छिन्नसत्त्वनिश्चयस्य द्वितीयभङ्गजन्यपरद्रव्याद्यवच्छिन्ननास्तित्वनिश्चयस्य च कथमपि प्रतिबन्धकत्वाऽसम्भवेन तज्जन्यजिज्ञासादिक्रमेण तृतीयभङ्गावतारस्सुघट एव।

एवं चतुर्थादिभङ्गोत्थापकास्संशयास्समुपपाद्या इत्युक्तं प्रागेव । ननु स्वद्रव्यादीनां सत्त्वस्य परद्रव्यादीनां चासत्त्वस्यावच्छेदकत्वमङ्गीकृत्य प्रथमद्वितीयतृतीयभङ्गा उपपादिताः, परं स्वद्रव्यादीनां स्वाधिकरणत्वमेव परद्रव्यादीनाञ्च स्वाभावाधिकरणत्वमेव प्रतीतिपथमवतरति, न त्ववच्छेदकत्वं, भावस्यावच्छेदकत्वं तु स्वरूपसम्बन्धरूपं किञ्चिदधिकरणवृत्तिस्वरूपं सत्त्वं यद्युपेयते तदाऽऽधेयत्वस्य सखण्डधर्मत्वात् सखण्डधर्माणाञ्च सावच्छिन्नत्वनियमाद् युज्येतापि, यदि तु घटत्वादिवत्सत्त्वमपि अखण्डधर्मविशेष एव तदा घटत्वादीनां यथा न सावच्छिन्नत्वं तथा सत्त्वादिलक्षणास्तित्वादेरपि न सावच्छिन्नत्वमिति न तदवच्छेदकत्वं स्वभावभूतस्यापि घटत्वादेरिति स्वद्रव्याद्यवच्छेदेन घटादेस्सत्त्वस्यैवाभावात्, एवं परद्रव्याद्यवच्छेदेन घटादेरसत्त्वस्याभावात्तदुभयाभावे तन्निबन्धनाऽवक्तव्यत्वस्याप्यभावाच्चोक्तभङ्गत्रयासम्भवः, तदभावे च प्रथमद्वितीयसंयोगजस्य चतुर्थस्य, प्रथमतृतीयसंयोगजस्य पञ्चमस्य, द्वितीयतृतीयसंयोगजस्य षष्ठस्य, प्रथमद्वितीयतृतीयसंयोगजस्य सप्तमस्य चाभावादुक्तसप्तभङ्गसमाहाररूपा सप्तभङ्गी न सिद्धिपथमवतरतीति चेत्, उच्यते, अवच्छेदकत्वकल्पना हि प्रतीत्यनुसारेण भवति, तत्र धर्ममात्रं सखण्डमखण्डं वाऽव्याप्यवृत्तितयैव प्रतीयत इति सावच्छिन्नत्वे धर्मत्वमेव प्रयोजकं, न तु सखण्डधर्मत्वं, घटत्वादेरपि च किञ्चिदपेक्षया घटादौ प्रतीत्युपपत्तये सावच्छिन्नत्वं स्वीक्रियत एव, घटस्य द्रव्यपर्यायोभयात्मनः घटत्वं न मृद्द्रव्यापेक्षया, किन्तु पृथुबुध्नोदराद्याकारलक्षणपर्यायापेक्षयैव, इत्थञ्च यद् यदपेक्षया प्रतीयते तस्य तदवच्छिन्नत्वं प्रतीतिशरणैरभ्युपेयम्, प्रतीयते च घटादेरस्तित्वं स्वद्रव्याद्यपेक्षया, नास्तित्वञ्च परद्रव्याद्यपेक्षयेति स्वद्रव्यादीनां सखण्डस्याखण्डस्य वा सत्त्वस्यावच्छेदकत्वम्, एवं परद्रव्यादीनामसत्त्वस्य तथाभूतस्यावच्छेदकत्वम्, यदा च प्रतीत्यनुरोधेनैवावच्छेदकव्यवस्थाऽऽस्थीयते, तदा सङ्कोचविकाशशालिदेशे सति सङ्कुचितदेशापेक्षया सत्त्वप्रतीतौ तद्देशावच्छिन्नदेशस्यावच्छेदकत्वम्, देशदेशस्य वाऽवच्छेदकत्वम्, विकाशदेशापेक्षया सत्त्वप्रतीतौ च तद्देशस्य तद्व्यापकदेशस्य वाऽवच्छेदकत्वं स्यादेव, एवं कालादेरपि सूक्ष्मस्थूलरूपतयाऽपेक्षाश्रयणेन सत्त्वप्रतीतौ तथाऽवच्छेदकत्वमवसेयम्, एवञ्चावच्छेदकसङ्कोचविकासाद्यपेक्षया सत्त्वासत्त्वोभयधर्मव्यवस्थितौ तत्प्रतिपत्त्यर्थं तद्विवक्षातस्स्यादस्त्येव घट इति प्रथमभङ्गस्य स्यान्नास्त्येव घट इति द्वितीयभङ्गस्य च सिद्धौ सत्यां स्वस्वनिमित्तभेदापेक्षया युगपदेकत्र वर्त्तमानस्य सत्त्वासत्त्वोभयस्य युगपदेव प्राधान्यविवक्षया प्रतिपत्त्यर्थं वक्ता समुत्सुकोऽपि तथा प्रतिपादकवचनमप्रेक्षमाणस्स्यादवक्तव्य एव घट इत्येवं तृतीयभङ्गं प्रयोक्तुमर्हति, तथाहि युगपत्प्राधान्येन तदुभयप्रतिपादकं समासवचनं तावन्न सम्भवति, प्रकृते बुबोधयिषितस्य प्राधान्येन युगपदुभयस्य प्रतिपादनेऽन्यपदार्थप्रधानस्य बहुव्रीहेरसामर्थ्यात्, अव्ययीभावस्य चात्रानधिकारात्, उभयपदार्थप्रधानस्यापि द्वन्द्वस्य द्रव्यवृत्तेः प्रकृतार्थाप्रतिपादकत्वात् 'गुण

वृत्तेरपि तस्य गुणानां द्रव्यद्वारेणैव तिष्ठत्यादिक्रियाधारत्वेन द्रव्याश्रितगुणप्रतिपादकत्वतः प्राधान्येन गुणद्वयप्रतिपादकत्वाभावात्, उत्तरपदार्थप्रधानस्य तत्पुरुषस्याप्यर्थेऽप्रवृत्तेः, सङ्ख्यावाचिपूर्वपदस्य द्विगोरपि प्रकृते प्रवृत्त्यभावात्, गुणाधारद्रव्यविषयत्वात्, कर्मधारयोऽपि सत्त्वासत्त्वोभय युगपत्प्राधान्येन प्रतिपादयितु सामर्थ्यं नालम्बते, समासान्तरञ्च नास्त्येवेति न समासवचन युगपत्प्राधान्येन विवक्षितसत्त्वासत्त्वोभयप्रतिपादक समस्तीति सिद्धम्, वृत्त्यसम्भिन्नार्थत्वाद् व्यासवाक्यमपि तथाभूतगुणद्वयप्रतिपादक नास्त्येव, शतृशानचयोस्सङ्केतितसच्छब्दवत्किमपि वचन तथाभूतगुणद्वयसङ्केतित यदि भवेत्तदा विकल्पप्रभवशब्दवाच्यत्व स्यात्, विकल्पानां च युगपदप्रवृत्तेर्नैकदा तयो स्तद्वाच्यतासम्भवः, समूहालम्बनात्मकविकल्पो यद्यपि युगपदुभयग्रहणपटुस्तथापि तत्प्रभवपदाना बुद्धिविशेषविषयतावच्छेदकत्वोपलक्षितनानाशक्यतावच्छेदकत्वेन परमार्थतो नानार्थस्थानीयत्वेन तेभ्यः प्रकरणादिनियन्त्रितप्रतिनियतैकार्थबोधस्यैवैकदा सम्भवात्, सदसदुभयसङ्केतितपदस्य पुष्पदन्तादिवद्वित्वेनैवोभयप्रतिपादकत्वेन द्वित्वावच्छिन्नस्य तस्यैकत्वावच्छिन्ने निराकाङ्क्षत्वादन्वयो न सम्भवतीत्यतो द्वित्वेन सत्त्वासत्त्वोभयस्य प्राधान्य, न तु सत्त्वस्य असत्त्वस्य च स्वस्वासाधारणधर्मरूपेण प्राधान्य युगपद्विवक्षित ततः प्रतिपत्तु शक्यमिति तथाऽवाच्यत्वस्यैव सिद्धेः, अत एव वस्त्वादिपद सदसदुभये न सङ्केत्यते, द्वित्वावच्छिन्नस्य तस्यैकत्वावच्छिन्नान्वयाऽयोग्यत्वेन तथा प्रतिपादनासम्भवात्, किन्तु सदसदुभयात्मकैकजात्यन्तरे सङ्केत्यते जैनैः, घटस्य घटत्वमघटव्यावृत्तौ सत्यामेव सम्भवतीति घटे घटशब्दप्रवृत्तिनिमित्ते घटत्वेऽभ्युपगम्यमाने पटाद्यर्थप्रतिषेधस्तत्राभ्युपगत एव भवतीति न घटे पटाद्यर्थप्रतिषेधस्यासम्बद्धता, स्वद्रव्याद्यपेक्ष्यसत्त्व-परद्रव्याद्यपेक्ष्याऽसत्त्वयोः समानसंवित्संवेद्यता मानसबोध एव, न शाब्दबोधे, 'शाब्दी ह्याकाङ्क्षा शब्देनैव प्रपूर्यते' इति न्यायात्, तथा च स्वद्रव्यादिना सत्त्वप्रतिपादकप्रथमभङ्गवत्परद्रव्यादिनाऽसत्त्वप्रतिपादकद्वितीयभङ्गोऽप्यावश्यक इति न प्रथमभङ्गेन द्वितीयभङ्गस्य गतार्थता, एवमुक्तदिशाऽवक्तव्यत्वप्रतिपादकतृतीयभङ्गोऽप्यावश्यकः, अथवा सर्वं सर्वात्मकमिति साङ्ख्यमतव्यवच्छेदाय द्वितीयभङ्ग उपादीयते, प्रथमभङ्गेन घटस्य घटत्वप्रतिपत्तावपि पटत्वादिव्यवच्छेदप्रतीत्यभावात् न साङ्ख्यमतव्यवच्छेदो भवेत्, द्वितीयभङ्गेन पटत्वादिनाऽसत्त्वप्रतिपत्तौ तद्व्यवच्छेदस्याऽवश्यम्भावात् १, घटस्य नामस्थापनाद्रव्यभावभेदेन चातुर्विध्ये सति तत्रैकविधस्य विधित्सितत्वमन्यविधस्य चाविधित्सितत्वमिति यद्विधित्सित रूप तद्रूपेणास्तित्वमिति तत्प्रतिपादकः प्रथमभङ्गः, यदविधित्सित रूप तद्रूपेण नास्तित्वमिति तत्प्रतिपादको द्वितीयो भङ्गः, विधित्सिताविधित्सितप्रकाराभ्या युगपद्वक्तु न शक्यते इति युगपदवाच्यत्वप्रतिपादकः तृतीयो भङ्गः, कथ न वक्तु शक्यते इत्यत्र

तथाऽभिधेयपरिणामरहितत्वाभावस्येत्येवोत्तरम्, एवमग्रेऽपि, यथा विविदिसतरूपेण घटस्तथा ऽविधित्सितरूपेणापि यदि घटः स्यात् तर्हि प्रतिनियतनामादिव्यवहारोच्छेद एव भवेत्, एवञ्च व्यवहाराभावो व्यवहर्त्तव्याभावादेवेति विधित्सितरूपस्याप्यभावे सर्वाभाव एव भवेत्, तथा यथाऽविधित्सितप्रकारेण घटोऽघटस्तथा विधित्सितप्रकारेणाऽप्यघटः स्याचदा घटस्य सर्वप्रकारेणाभावे घटसत्त्वनिबन्धनव्यवहार एव निलीयेत, इति विधित्सितरूपेण घटत्वम विधित्सितरूपेणाऽघटत्वमिति तत्प्रतिपादकौ प्रथमद्वितीयभङ्गौ, विधित्सितरूपमविधित्सित-रूपव्यवच्छेदमन्तरा न सम्भवति, अविधित्सितरूपव्यवच्छेदो विधित्सितरूपमन्तरा न सम्भवतीति विधित्सिता विधित्सितनिषेधयोरेकस्यैवैकान्तस्याभ्युपगमे तदितराभावे तस्या प्यभाव इत्यभिधेयाभावादभिधानस्याप्यभाव इत्यवाच्य इति तृतीयभङ्गः, नन्वनेकगुणवति वस्तुनि एकगुणरूपेण विधित्सा प्रयोजनानुरोधिनी भवतु नाम नेयं रूपान्तरावच्छिन्नसत्त्वां विरुणद्धि, रूपवत्त्वेन घटस्य विधित्सायामपि रसवत्त्वेन तत्सत्ताया अनपायादिति चेत्, न, गुणात्मकसत्ताया गुणरूपत्वेऽपि व्यावहारिक्यास्तस्यास्तदभिधेयपरिणामपर्यवसितत्वेन विधित्सानुसारित्वात्, एवञ्च नामरूपेण विधित्सितस्य घटस्य नामरूपाभिधेयपरिणाम वत्त्वमेव नाविधित्सितरूपाभिधेयपरिणामवत्त्वमर्थात्तद्रूपेणाभिधेयो न भवतीत्यतोऽविधित्सि तरूपेण घटोऽघट एवेति एवमग्रेऽप्याक्षेपपरिहारौ वाच्यौ ॥ २ ॥

नामादिचतुष्टयप्रकारेषु प्रतिनियतस्थापनासंस्थानविशेषस्वरूप एव घटो यदाऽभिम तस्तदा प्रतिनियतस्थापनासंस्थानस्वरूपेण घटः, इतरेण चाघट इति प्रथमद्वितीयौ, ताभ्यां युगपत्प्रधानतया विवक्षिताभ्यामभिधातुमशक्यत्वादवाच्य एव घट इति तृतीयो भङ्गः, यथा विवक्षितस्वासाधारणसंस्थानरूपेण घटो घटस्तथाऽन्यघटगतसंस्थानस्वरूपेणापि यदि घट स्तदैकस्य सर्वघटात्मकत्वमासज्यते। अथ यथेतरसंस्थानादिरूपेणाघटस्तथा विवक्षितसंस्थान स्वरूपेणाप्यघटस्तदा घटार्थिनः पटादाविव तत्राप्यप्रवृत्तिः स्यात्, उक्तदिशा घटत्वाघटत्व योरुभयोरप्येकत्रभावे तन्मध्यादेकान्तेनैकस्याभ्युपगमे तथाभूतस्य प्रमाणाविषयत्वाद-सत्त्वादवाच्यो घटः ॥ ३ ॥

संस्थानविशेषस्वरूपेण स्वीकृतेऽपि घटे यन्मध्यावस्थाया पृथुबुध्नोदरादिलक्षण संस्थान तद्घटस्य निज रूप तद्रूपेण घटो घटः, पूर्वोत्तरावस्थे कुशूलकपालादिलक्षणे संस्थाने अर्थान्तररूपं तद्रूपेण घटोऽघट इत्येव प्रथमद्वितीयभङ्गौ, युगपत्प्रधानतया विवक्षिता भ्यां ताभ्यां वक्तुमसामर्थ्यादवाच्य एव घट इति तृतीयो भङ्गः, यथा पृथुबुध्नोदराद्याकार-लक्षणमध्यावस्थास्वरूपेण घटस्तथा यदि कुशूलकपालादिलक्षणपूर्वोत्तरावस्थास्वरूपेणापि घटः स्यात्तदा तस्य त्रिकालावस्थायिनोऽनाद्यनन्तत्व प्रसज्येत, यदि यथा पूर्वोत्तरावस्था-स्वरूपेणाघटस्तथा मध्यावस्थारूपेणाप्यघटस्तदा कचिदपि कालेऽवर्त्तमानस्य तस्य शशशृङ्गादे

रिव सर्वदाऽसत्त्वमेवानुषज्यत इति कदाचिदपि घटार्थिनस्तत्र प्रवृत्तिर्न स्यात्, निरुक्तोभयरूपमप्यादेकान्तत एकरूपस्याभ्युपगमे तु तदेकान्तरूप नास्त्येव यस्त्वितराति सर्वदाऽभाव एवेत्यसत्त्वादेवावाच्य' ॥ ४ ॥

तस्मिन्नपि मध्यावस्थारूपे घटे वर्तमानक्षणरूप निज, तेन रूपेण सत्त्वात्प्रथमभङ्ग', अवर्तमानक्षणस्वरूपमर्थान्तररूप तेन रूपेणासत्त्वाद् द्वितीयो भङ्ग', ताभ्यां युगपदभिधातुमशक्यत्वादवाच्यलक्षणस्तृतीयभङ्ग', अत्रेय मीमांसा–यदि वर्तमानक्षणस्वरूपो घटो वर्तमानक्षणवत्पूर्वोत्तरक्षणयोरपि भवेत्तदा पूर्वोत्तरक्षणयोर्वर्तमानत्वमनन्वयमापतेत्, विभिन्नकालीनयोराधाराधेयभावाभावाद्वर्तमानक्षणस्वरूपस्य वर्तमानक्षणेनैव सम्बन्धादित्यतीतानागतकालाभावप्रसक्त्या तदभावे तदपेक्षस्य वर्तमानक्षणमात्रस्याप्यभावः प्रसज्येत, यथा यद्यतीतानागतक्षणरूपतया घटोऽघटस्तथा वर्तमानक्षणरूपतयाऽप्यघटस्तर्हि सर्वदा घटाभावप्रसक्त्या घटार्थिनस्तत्र प्रवृत्तिर्न स्यात्, तयोरेकान्तैकरूपाभ्युपगमेऽप्येकान्तस्याभावादेवावाच्य० ॥ ५ ॥

एव क्षणपरिणतिरूपस्य घटस्य चक्षुरिन्द्रियजन्यप्रतिपत्तिविषयत्व निवक्षितत्वान्निजं रूप तेन सत्त्वादाद्यो भङ्ग', अन्येन्द्रियजन्यप्रतिपत्तिविषयत्वमविवक्षितत्वादर्थान्तर, तेनासत्त्वाद् द्वितीयो भङ्ग', ताभ्यां युगपदादिष्टो वक्तुमशक्यत्वात्तृतीयो भङ्ग', तथाहि यथा लोचनजन्यप्रतिपत्तिविषयत्वेन घटो घटस्तथा यदीन्द्रियान्तरजन्यप्रतिपत्तिविषयत्वेनापि घटः तदा लोचनजन्यप्रतिपत्तिविषयभावपरिणतिस्वरूपे इन्द्रियान्तरजन्यप्रतिपत्तिविषयभावपरिणतिप्रवेश आवश्यक इति चक्षुरिन्द्रियजन्यप्रतिपत्तिविषयत्वस्य एवेन्द्रियान्तरजन्यप्रतिपत्तिविषयत्वमितीन्द्रियान्तरकल्पनावैयर्थ्यप्रसङ्गः, चक्षुरिन्द्रियस्वरूपमपि यदीन्द्रियान्तरस्वरूप भवेत् तदैव चक्षुरिन्द्रियजन्यप्रतिपत्तिविषयत्वपरिणतिरिन्द्रियान्तरजन्यप्रतिपत्तिविषयत्वपरिणतिरितीन्द्रियसङ्करप्रसङ्गश्च, यथा यदीन्द्रियान्तरजन्यप्रतिपत्तिविषयत्वेन घटो न घटस्तथा चक्षुरिन्द्रियजन्यप्रतिपत्तिविषयत्वेनापि न घटस्तदा तस्याऽरूपत्व प्रसज्येत, उक्तरूपद्वयमप्यादेकान्तेनैकरूपाभ्युपगमे इतरापेक्षस्य तस्येतराऽभावेऽभावादवाच्य एव ॥ ६ ॥

लोचनजप्रतिपत्तिविषये तस्मिन्नेव घटे घटशब्दवाच्यता निज रूप तद्रूपेण सत्त्वात्प्रथमो भङ्ग', कुटादिशब्दवाच्यत्वमर्थान्तरम्, तद्रूपेणासत्त्वाद् द्वितीयो भङ्गो, युगपत्ताभ्यामिष्टस्तयाऽभिधेयपरिणामाभावादवाच्य इति तृतीयो भङ्गः, यथा घटशब्दवाच्यत्वेन घटस्तथा यदि कुटशब्दवाच्यत्वेनापि घटस्तदाऽन्यशब्दवाच्यस्याप्येकशब्दवाच्यत्वस्य स्वहस्तितत्वात्–यथा घटशब्दादन्य० कुटशब्दः तथा पटमठादिशब्दा अपि घटशब्दादन्य एवेति कुटशब्दवाच्यस्य यथा घटशब्दवाच्यत्व तथा पटमठादिशब्दवाच्यानामपि घटशब्दवाच्यत्वमित्येव सर्वस्यैकशब्दवाच्यत्वप्रसङ्गेन त्रिजगत एकशब्दवाच्यत्वप्रसक्तिः, एकशब्दवाच्यस्य

वाऽनेकशब्दवाच्यत्वस्याङ्गीकृतत्वात् घटस्य कुटादिशब्दवाच्यत्ववत्पटादिशब्दवाच्यत्वस्यापि प्रसक्तिरिति घटे पटशब्दवाच्यत्वप्रतिपत्तौ तत्स्वरूपसन्निविष्टाशेषशब्दवाच्यत्वप्रतिपत्तिप्रसङ्गे सति घटशब्दप्रतिपत्तिवत्तद्वाचकसमस्तशब्दप्रतिपत्तिप्रसङ्गः, अर्थे वाच्यतायाः शब्दे वाचकतायाश्च समानसंवित्संवेद्यत्वादेकप्रतिपत्तावन्यप्रतिपत्तेरवश्यम्भावात्, एवं कुटादिशब्देनावाच्यो घटो यदि घटशब्देनाप्यवाच्यस्स्याचदा स्ववाच्यप्रतिपत्त्यर्थं शब्द उच्चार्यते नान्यथेति घटशब्दाऽवाच्यस्य घटस्य घटशब्दोच्चारणेऽपि न प्रतीतिरिति घटशब्दोच्चारण वैयर्थ्यं स्यात्, तयोरेकान्ताभ्युपगमे त्वेकान्तैकरूपस्य घटस्यासत्त्वादेव सङ्केतद्वारेणापि न तद्वाचकः कश्चिच्छब्दः इत्यवाच्य एव ॥ ७ ॥

अथवा घटशब्दाभिधेयस्य तस्यैव घटस्योपादेयान्तरङ्गोपयोगरूप निज रूप तेन सत्त्वात्प्रथमभङ्गः, हेयबहिरङ्गाऽनुपयोगरूपमर्थान्तर तेनासत्त्वाद्द्वितीयो भङ्गः, ताभ्यां युगपदादिष्टो घटस्तथाऽभिधेयपरिणामाभावात्तद्वाचकस्य कस्यचिदभावादवाच्य इति तृतीयो भङ्गः, यथाऽर्थक्रियाक्षमादिरूपेण घटस्तथा यदि हेयबहिरङ्गानर्थक्रियाकार्यंऽसन्निहितरूपेणापि घटस्स्यात्तर्हि पटादीनामपि घटत्व स्यात्, यथा हेयबहिरङ्गानर्थक्रियाकार्यंऽसन्निहितरूपेणाघटस्तथा यदि उपादेयादिरूपेणाप्यघटः स्यात्तदाऽन्तरङ्गस्य वक्तृश्रोतृगतहेतुफलभूतघटाकारावबोधकविकल्पोपयोगस्याप्यभावे घटस्याप्यभावप्रसङ्ग इत्यवाच्यः, एकान्ताभ्युपगमेऽप्येकान्तस्याभावादेव वक्तृश्रोतृगतहेतुफलभूतघटाकारावबोधकविकल्पोपयोगस्याभावे घटस्याभावप्रसङ्ग इत्यवाच्यः ॥ ८ ॥

अथवा तस्मिन्नेवोपयोगस्वरूपे घटेऽभिमतार्थावबोधकत्व निज रूप तेन सत्त्वात्प्रथम भङ्गः, अनभिमतार्थानवबोधकत्वमर्थान्तररूप तस्य स्वगतत्वेऽप्यर्थान्तरत्वेन विवक्षणात्, तेन रूपेणासत्त्वाद्द्वितीयो भङ्गः, ताभ्यां युगपदादिष्टस्तथाभिधेयपरिणत्यभावात्तथावाचकस्याप्यभावादवाच्य इति तृतीयो भङ्गः, यथाऽभिमतार्थप्रतिपादकत्वेनोपयोगलक्षणो घटो घटस्तथाऽनभिमतार्थानवबोधकत्वरूपेणापि यदि घटः स्यात्तदा प्रतिनियतोपयोगाभावः प्रसज्यते अभिमतार्थप्रतिपादकत्वानभिमतार्थानवबोधकत्वयोर्वैलक्षण्येन तदुभयाध्यासितस्य प्रतिनियत स्वाभावात्, उपयोगस्य प्रतिनियतत्वाभावे च विविक्तरूपोपयोगप्रतिपत्तिर्न स्यात्, यथाऽनभिमतार्थानवबोधकत्वेनाघटस्तथा यद्यभिमतार्थावबोधकत्वलक्षणविवक्षितोपयोगस्वरूपेणाप्यघटः स्यात् तदुक्तदिशा पटादिरप्यपटादिरिति सर्वाभावः, यथा घटस्याघटत्व तथा पटादेरप्यघटत्वमिति पटादितो घटस्याविशेषप्रसङ्गश्च, पटाद्यविशिष्टत्वेन घटस्या प्रतीत्या तथाऽऽपादनस्येष्टापादनत्वासम्भवात्, तयोरेकस्यैवैकान्ततयाऽभ्युपगमे त्वेकान्तस्याप्रतीत्यैवासत्त्वेन सर्वाभावाविशेषप्रसङ्गतादवस्थ्यादवाच्यः ॥ ९ ॥

अथवा घटस्य घटत्व निज रूपमसाधारणत्वात्, तेन रूपेण सत्त्वात्प्रथमो भङ्गः, सत्त्वम-

सत्त्वं चार्थान्तररूपं साधारणत्वादिति तद्रूपेणासत्त्वाद्द्वितीयो भङ्गः, अभेदेन ताभ्यां निर्दिष्टो घटोऽवक्तव्य इति तृतीयो भङ्गः, तथाहि–यस्मन् स घट इत्येवं सत्त्वमनूद्य घटत्वं यदि विधीयते तदा घटत्वस्य सत्त्वव्यापकत्वात्सर्वेषां भवतां घटरूपत्वप्रसक्त्या घटस्य सर्वगतत्व प्रसङ्गः, न चायं प्रसङ्ग इष्टापत्तिरूपत्वेन परिहर्तुं शक्यः, विभिन्नप्रतिभासबोधप्रतिनियत व्यवहारविलोपापत्तेस्तथाऽभ्युपगमेऽनिष्टत्वात्, तथा योऽसन् स घट इत्येवमसत्त्वमनूद्य यदि घटत्वं विधीयते, तदा विधिस्सन् निषेधोऽसन्निति निषेधरूपस्य प्रागभावादिचतुष्कस्य घटत्वेन व्याप्तेर्घटत्वप्रसङ्गः, अत्र यः कश्चिद्विधिर्भाव. स सन् भवतीत्युपदर्शनमात्रमेतत्, तेन भावमात्रस्य विधित्वेऽपि प्रकृते विधीयमानस्य घटत्वस्य भावरूपत्वेन विधित्वं बोध्यम्। अथ घटत्वमनूद्य सदसत्त्वे विधीयेते तदा घटत्वं यत्तदेव सदसत्त्वे इति घटमात्रं ते प्रसज्येयातां, तथा च पटादीनां प्रागभावादीनां चाभावप्रसक्तिरिति प्राक्तनन्यायेन विशेषणविशेष्यलोपात् सन् घट इत्येवमप्यवक्तव्योऽसन् घट इत्येवमप्यवक्तव्यस्स्यात्, यतः सन् घट इति, असन् घट इति, घटः सन्निति, घटोऽसन्नित्येव केनापि प्रकारेण घटो वाच्यो न भवति, तस्मादवाच्य। अनेकान्तपक्षे तु कथञ्चिदवाच्यो, न तु सर्वथा, अभेदवादकृततद्दोषस्य भेदवादेन परिहारादिति न कश्चिद्दोषः। न च भेदैकान्तेऽपि घटत्वमनूद्य सत्त्वासत्त्वयोः समवायविशेषणताभ्यां विधानान्नाय दोष इति वाच्यम्, अतिरिक्तसमवाय विशेषणतयोर्मानाभावेन भेदैकान्तस्यैवावाच्यत्वादिति ॥ १० ॥

घटस्य प्रतिक्षणमन्यान्यपरिणतिरर्थपर्यायोऽनन्यगामित्वान्निज रूपं, तद्रूपेण सत्त्वात्प्रथमभङ्गः, व्यञ्जनपर्यायस्तु घटशब्दप्रवृत्तिनिमित्तं घटत्वं सकलघटसाधारणत्वादर्थान्तरं तद्रूपेणासत्त्वाद् द्वितीयो भङ्गः, अभेदेन ताभ्यां निर्देशेऽव्यक्तव्यत्वात्तृतीयो भङ्गः, अत्र यो व्यञ्जनपर्यायस्स घटार्थपर्याय इत्येवं व्यञ्जनपर्यायमनूद्य यदि घटार्थपर्यायविधिः तदा व्यञ्जनपर्यायोऽर्थपर्याय एवेत्यर्थपर्यायाणां भिन्नत्वात्तदात्मको व्यञ्जनपर्यायो नैक इत्येकानुगतव्यञ्जनपर्यायनिबन्धनानुगतव्यवहारविलोपः। अथ योऽर्थपर्यायस्स व्यञ्जनपर्याय इत्येवमर्थपर्यायमनूद्य व्यञ्जनपर्यायविधिस्तदाऽर्थपर्यायो व्यञ्जनपर्याय एवेति व्यञ्जनपर्यायस्य नित्यत्वात्तदात्मकार्थपर्यायस्य नित्यत्वापत्तेरकार्यत्वं स्यात्, घटस्य तु कार्यतयैवानुभवो नाऽकार्यतयेति तथाभूतस्य तस्याभावादवाच्यः, अनेकान्तपक्षे त्वर्थव्यञ्जनपर्यायाभ्यां सत्त्वासत्त्वयोर्युगपत्प्रधानतया विवक्षितयोरभिधातुमशक्यत्वात्कथञ्चिदवाच्यः ॥ ११ ॥

यद्वा सत्त्वमर्थान्तरभूतम्, तस्य विशेषवदेकत्वेनानन्वयिरूपत्वाच्च शब्दवाच्यत्वमिति तद्रूपेणावाच्यो घटः, अत्र सत्त्वस्यार्थान्तरत्वविवक्षा पर्यायनयमूलकप्रथमभङ्गाश्रयणकृता, अनन्वयित्वञ्च तस्यैकमेकत्रैव निरंशमवस्थातुमर्हतीति समाश्रयणेन, अनुगतस्यैव प्रवृत्ति निमित्तत्वाच्छब्दवाच्यत्वमित्यननुगतत्वान्न शब्दवाच्यत्वमिति बोध्यम्। अन्त्यविशेषो निज

रूपं तस्याप्यनन्वयित्वादवाच्यत्वमिति तद्रूपेणाप्यवाच्यो घटः, प्रत्येकावक्तव्याभ्यां ताभ्यां युगपदादिष्टोऽपि घटोऽवक्तव्यः, अनेकान्तपक्षे तु कथञ्चिदवक्तव्यः ॥ १२ ॥

अथवा साङ्ख्यमते प्रतिनियतार्थक्रियाकारितावच्छेदकैक्यपरिणतिलक्षणसन्द्भुतरूपाना पन्नाः सत्त्वरजस्तमोऽभिधाना गुणा अर्थान्तरम्, प्रतिनियतार्थक्रियाकारितावच्छेदकैक्य परिणतिलक्षण सन्द्भुतरूप घटस्य निजम्, ताभ्यामादिष्टो घटोऽवक्तव्यः, यतः निरुक्तैक्य परिणतिलक्षणस्य सन्द्भुतरूपस्य सत्त्वरजस्तमस्सु भावे सत्त्वरजस्तमसामभावप्रसक्तिः, तेषां परस्परवैलक्षण्येनैव सत्त्वादिरूपत्वात्, सन्द्भुतरूपत्वे च वैलक्षण्याभावादभाव इति सन्द्भुत रूपाः सत्त्वादयः घट इत्यत्र सन्द्भुतरूपा इति विशेषण सत्त्वादय इति विशेष्य, तत्र विशेष्यी-भूतानां सत्त्वादीनामभावात् सन्द्भुतरूपासत्त्वादय इति वक्तु न शक्यत इत्यवाच्यः, सत्त्वरज-स्तमस्सु सन्द्भुतरूपस्याऽभावे असतस्सन्द्भुतरूपस्योत्पादादसत्कार्योत्पादप्रसङ्गः, न च सत्का-र्यवादिभिस्साङ्ख्यैरसत्कार्योत्पादोऽभ्युपगम्यते, यदि च तद्राद्धान्तोच्छेदभीतिमगणयित्वैव तथोपेयते तदा सत्त्वादिषु सन्द्भुतरूपत्व विशेषणमास्तीति विशेषणाभावात्सन्द्भुतरूपासत्त्वा-दय इति वक्तु न शक्यत इत्यवाच्यः, यदैक्यपरिणतिस्तेषा भवति तदानीं सन्द्भुतरूपस्य सद्भावान्न विशेषणाभाव इति चेत्, न, कालभेदेन सन्द्भुतरूपासन्द्भुतरूपयोरेकत्र समावेशा भ्युपगमेऽनेकान्तप्रवेशात्, प्राक् शक्तिरूपेण सन्द्भुतरूप तेषु समस्ति, न च शक्तिरूपेण सन्द्भुतरूपमस्य सत्त्वादिवैलक्षण्यव्याहन्त्, व्यक्त्या तु घटसामग्रीत एव सन्द्भुतरूप स्यादिति चेत्, व्यक्तेरभ्याविर्भावलक्षणायाः प्राक् सन्द्भुतरूपस्य तेषु सत्त्वे तेषामभावप्रसक्ति', असत्त्वे असत्कार्यवादप्रसङ्ग इत्येव सदसद्विकल्पग्रासात् । अथ नैयायिकादीनां यथा भूतले घटसत्त्वदशायां सतोऽपि घटाभावस्य न सम्बन्धः, किन्तु तदपसारणदशायामेव तदपसारण-कालावच्छिन्नस्वरूपात्मा सम्बन्धः, तथा ममापि सन्द्भुतरूपस्य प्राक्सत्त्वेऽपि प्राकाला वच्छिन्नस्वरूपात्मा न सम्बन्धो, घटसामग्रीसम्पत्तौ च सम्बन्धलाभाद्व्यवहारसिद्धिरिति चेत्, न, उभयोरपि वादिनोर्यथोक्तसम्बन्धस्याऽनेकान्त विनाऽवाच्यत्वादिति दिक् ॥ १३ ॥

अथवा असद्दृतरूपा रूपादयो ह्यर्थान्तरभूताः, सद्दृतरूपत्व सामूहिकप्रत्ययग्राह्य निजम्, ताभ्यामादिष्टो घटोऽवक्तव्यः यथा ह्यरूपादिव्यावृत्तरूपा रूपादयः तर्हि रूपादीनां घटताऽ-वाच्या, अरूपादित्वाद् घटस्य, न हि परस्परविलक्षणबुद्धिग्राह्या रूपादय एकानेकात्मक प्रत्ययग्राह्याऽरूपादिरूपघटता प्रतिपद्यन्त इति रूपादीनामेकानेकप्रत्ययग्राह्यत्वलक्षणसद्दृत रूपतायामरूपादित्वप्रसङ्गतो रूपादित्वं नास्तीति सद्दृतरूपा रूपादयो घट इत्यत्र सद्दृत रूपत्व विशेषण रूपादयश्च विशेष्या इति विशेष्यीभूताना रूपादीनां विलोपात्सद्दृत-रूपा रूपादयो घट इत्येव वक्तु न शक्यते इत्यवाच्यः, यदि चारूपव्यावृत्तत्वेन रूपा-दीनां नोपगम' किन्त्वरूपत्वेनैव, एवमपि रूपादय एव न भवन्तीति तेषामभावे के

सहृतरूपतया विशेष्याः ? येन सहृतरूपा रूपादयो घटो भवेदित्येवमप्यवाच्यः, अनेकान्तवादे च कथञ्चिदवाच्यः ॥ १४ ॥

अथवा घटो रूपादिमानिति यदुच्यते तत्र रूपादयोऽर्थान्तरभूता, मतुवर्थो निजः, ताभ्यामादिष्टो घटोऽवक्तव्यः, रूपाद्यात्मकैकाकारावभासप्रत्ययविषयव्यतिरेकेणापररूपसम्बन्धस्यानवगतेः रूपादिमानित्यत्र विशेष्यस्य सम्बन्धस्याभावाद्रूपादिमान् घट इति वक्तु न शक्यत इत्यवाच्यः, घटात्मकैकाकारप्रतिभासग्राह्यघटस्वरूपव्यतिरेकेण नापरस्य रूपादेः प्रतिभास इति रूपादिमानित्यत्र मतुवर्थविशेषणस्य रूपादेरभावादपि रूपादिमान् घट इति वक्तु न शक्यत इत्यवाच्यः, अनेकान्ते तु कथञ्चिदवाच्यः ॥ १५ ॥

अथवा बाह्योऽर्थान्तरभूतः, उपयोगस्तु निजः, ताभ्यामादिष्टोऽवक्तव्यः, तथाहि य उपयोगः स घट इत्येवमुपयोगत्वमनूद्य घटत्वं यदि विधीयते तर्ह्युपयोगमात्रं घट इति सर्वोपयोगस्य घटत्वप्रसक्त्या निमित्तोपयोगनिबन्धनविभिन्नस्वरूपलक्षणप्रतिनियतस्वरूपाभावात्तथा वक्तु न शक्यत इत्यवाच्यः। अथ यो घटस्स उपयोग इत्येवं घटत्वमनूद्योपयोगत्वं विधीयते तदाऽर्थात्मक उपयोग इत्युपयोगस्यार्थरूपप्रसक्त्याऽर्थातिरिक्तस्य तद्ग्राहकस्यापरस्योपयोगस्याभावाद् घटाद्यर्थस्याभावात्कथं नावाच्यो घटः ॥ १६ ॥

इत्येवमुपदिष्टाः षोडशावक्तव्यविकल्पाः, तत्रैकादशसु विकल्पेषु प्रथमद्वितीयभङ्गानन्तरमवक्तव्यभङ्गप्रवृत्तिः, द्वादशादिषु पञ्चसु प्रथमत एवावक्तव्यभङ्गप्रवृत्तिः, तत्रोपाध्यायभगवन्त इत्थमनेकान्तव्यवस्थाया व्यभिचारमावेदयन्ति—" अत्र च निजार्थान्तरपर्यायैरनेकान्तोपजीविनैगमव्यवहारविशुद्धितारतम्योपदर्शकमतिदृष्टान्तनीत्या यथाक्रमसङ्कलितक्रमेण युगपद्यादिष्टैरुपदर्शितेषु षोडशस्ववक्तव्यविकल्पेषु मध्ये एकादशसु त्रयोऽपि भङ्गाः सम्भवन्ति, द्वादशादिषु च पञ्चसु च स्वतन्त्रैरन्ते नयार्पितैस्तैः प्रत्येकं समुदाये च सर्वथाऽवक्तव्यत्वभङ्ग एवोत्तिष्ठते—स च बाधितः सन् कथञ्चिदवक्तव्यत्वे पर्यवस्यति, तस्य कथञ्चित्त्व च भङ्गद्वयाधीनम्, इत्थं च त्रयाणां भङ्गानां क्रमाभिधानमेव सम्प्रदायसिद्धमिति। व्युत्पत्तिमहिम्ना ततोऽपि स्याद्वादविदुषो भङ्गत्रयमभव इति विवेकः, इत्थं च यत्पशुपालेनोक्तम्—" सर्वत्रानेकान्ताभ्युपगमे ' सर्वमस्ति स्वरूपेण पररूपेण नास्ति च ' इति वचनमेवानुपपन्नम्, स्वपररूपयोरप्यनिर्धारणादिति " तदपास्तं द्रष्टव्यम्, पूर्वं नयविशेषेण स्वपररूपयोः सङ्कोचविकासावुपजीव्य तदनुसारेणैव सप्तभङ्गीप्रपञ्चः, अवच्छिन्नमप्रतिपक्षधर्मद्वयाभिधानस्थले एकान्ततोऽवच्छेदकनिर्णयस्य तथाप्यमावात्, इदानीं गोष्ठे गौर्न तु वाजिशालायामित्यादौ शुद्धगोष्ठादरप्यवच्छेदकत्वस्य निर्णेतुमशक्यत्वात्, इह कोणे गोष्ठे गौर्नापरकोणे इति प्रतिसन्धाने एतत्कोणावच्छिन्नगोष्ठस्यैतत्कोणस्य वा तथात्वसम्भवात्, अवच्छेदकावच्छेदकस्यावच्छेदकसङ्कोचस्य वाऽपरिस्फूर्तौ शुद्धावच्छेदकपुरस्कारेण

तत्परिस्फूर्त्तौ तु सावच्छिन्नप्रकृतावच्छेदकपुरस्कारेणैव प्रतिनियतदेशदेशावच्छेदेन वा निर्णयस्त्वावयोः समानः, देशदेशस्य नावच्छेदकत्वमिति तु नीलपीतकपालिकारब्धकपालसमवेतघटनीलप्रत्यक्षान्यथानुपपत्त्या परेण वक्तुमशक्यम्, तत्र नीलकपालिकावच्छिन्नचक्षुस्संयुक्तसमवायसम्बन्धावच्छिन्नाधारतयैव घटे नीलप्रत्यक्षोपपादनात्, इयांस्तु विशेषः–यत्परेषां देशदेशस्यावच्छेदकत्वं स्वाभाविकसम्बन्धविशेषेण, अस्माकं तु वैज्ञानिकसम्बन्धविशेषेण, तत्र परेषां परम्परासम्बन्धेन गोष्ठकोणस्य साक्षात्सम्बन्धेन कोणावच्छिन्नगोष्ठस्य गवावच्छेदकत्वमिति कोणे गौर्न तु गोष्ठे इति धक्ष्मेक्षिकानुपपत्तिः, अस्माकं तु मध्यमनैगमभेदकृतवैज्ञानिकसम्बन्धेन गोष्ठकोण एव तथात्वं न तु गोष्ठ इति तदुपपत्तिः, न च कोणे गौर्न तु गोष्ठे इति सूक्ष्मेक्षिका न भवत्येव, किन्तु न तु सम्पूर्णे गोष्ठ इत्येव, सा च यावत्कोणेषु गवावच्छेदकतावच्छेदकत्वपर्याप्त्यभावमवगाहत इति परेषामपि नानुपपत्तिरिति वाच्यम्, एवं सति सम्पूर्णकोणेऽपि तदभावात्कोणे गोष्ठे गौरित्यस्याप्यनुपपत्तेर्नयविशेषकृतसम्बन्धं विना न विचित्रप्रतीत्युपपत्तिरित्यधिकं नयरहस्यादौ" इति । ननु सङ्ग्रहनयविषयं महासामान्यस्वरूपं सत्त्वमखण्डमेकं निरवच्छिन्नं प्रतिपादयन् प्रथमभङ्गः प्रवर्त्तत इति कथमस्य स्वद्रव्याद्यपेक्षया सन् घट इत्येवरूपता, निरवच्छिन्नस्वरूपे निरुक्तसत्त्वे स्वद्रव्याद्यपेक्षत्वस्य स्वद्रव्याद्यवच्छिन्नत्वलक्षणस्याऽसम्भवात्, तथापि तथाप्रतिपादने तत्प्रतिपादकस्य प्रथमभङ्गस्य बाधितार्थकत्वापत्तिः, एवं निरुक्तसत्त्वप्रतिपक्षभूताऽसत्ताऽपि तदभावरूपैका निरवच्छिन्नेति न तस्या अपि परद्रव्याद्यवच्छिन्नत्वलक्षणं परद्रव्याद्यपेक्षत्वमिति व्यवहारनयविषयनिरुक्तासत्त्वप्रतिपादनप्रवणो द्वितीयभङ्गोऽपि परद्रव्याद्यपेक्षयाऽसन् घट इत्येवं रूपो न सम्भवति, निरवच्छिन्नस्यापि निरुक्तासत्त्वस्य सावच्छिन्नतया प्रतिपादने वा तथातत्प्रतिपादकस्य तस्यासम्भवितार्थप्रतिपादकत्वेन बाधितार्थकत्वापत्तिः, एवं भङ्गद्वयस्य बाधितार्थकत्वे तत्सापेक्षाणां तदनन्तरप्रवृत्तिकानां तृतीयादिभङ्गानामपि बाधितार्थकत्वं स्यात्, तथा च निरुक्तसप्तभङ्गसमष्टिस्वरूपा सप्तभङ्ग्यपि बाधितार्थविषयाऽप्रमाणतामास्कन्दतीति सप्तभङ्गीवाक्यं प्रमाणवाक्यमिति राद्धान्तो जैनानां न सङ्गतिमञ्चतीति चेत्, न, धर्मत्वेन हेतुना धर्ममात्रस्याव्याप्यवृत्तित्वं साधयतां स्याद्वादिनां मते निरवच्छिन्नत्वाखण्डत्वैकत्वादीनां महासामान्यसत्त्वगतानामव्याप्यवृत्तित्वेन महासत्ताया अखण्डत्वादिवत्सखण्डत्वादेरप्युपगमात्, सत्तायां सखण्डत्वाद्यभङ्गाद्वे अखण्डत्वादेस्तत्राव्याप्यवृत्तित्वस्यैव प्रमाणसिद्धस्यापलापतो महासामान्यस्य सत्त्वस्याखण्डत्वाद्येकान्ताकलितस्य दुर्नयात्मकसङ्ग्रहविषयत्वेऽपि सुनयात्मकसङ्ग्रहविषयत्वात्, सप्तभङ्गी च सुनयाश्रिता सुनयविषयप्रतिपादनप्रवणभङ्गसप्तकरूपैवेति तस्या अबाधितार्थकत्वात्प्रामाण्यमेव, द्वितीयभङ्गोऽप्युक्तदिशा नाखण्डत्वाद्येकान्ताकलितसत्त्वाभावलक्षणाऽसत्त्वप्रतिपादनप्रवणः, किन्त्वनेकान्ताखण्डत्वाद्यास्पदासत्त्वप्ररूपणकुशल एव, किञ्च महासामान्यरूपा

खण्डस्वरूपत्वेऽपि तत्सम्बन्धि नावच्छेदकं स्वद्रव्यादिकम्, येन तद्घटितस्वरूपत्वादखण्ड स्वरूपत्वं तस्य व्याहतं स्यात्, किन्तु स्वद्रव्यादिना स्वद्रव्याद्यवच्छेदेन स्वद्रव्याद्यपेक्षया वा घटादेः सत्त्वमित्यादिप्रतीतिसिद्धं सत्त्वस्वरूपासंश्लिष्टस्यापि स्वद्रव्यादेरवच्छेदकत्वं सत्त्वनिरूपितं स्वीकरणीयमेव, एवं निरुक्तसत्त्वाभावलक्षणाखण्डासत्त्वनिरूपितमवच्छेदकत्वमपि परद्रव्यादिना परद्रव्याद्यवच्छेदेन परद्रव्याद्यपेक्षया वा घटादेरसत्त्वमित्यादिप्रतीतिसिद्धमसत्त्वस्वरूपासंश्लिष्टस्यापि परद्रव्यादेः स्वीकरणीयमेव, एकस्यैव महासामान्यलक्षणस्य सत्त्वस्य सङ्ग्रहनयविषयत्वे स्वद्रव्यादिकं नास्त्येव, निरुक्तसत्त्वनिरूपितमवच्छेदकत्वादिकमपि नास्तीति कथं सप्तधाभिन्नमङ्ग स्वद्रव्याद्यपेक्षया सत्त्वं प्रतिपादयेदिति तु नाशङ्कनीयम्, तथा सति तत्र प्रतिपाद्यपुरुषोऽपि नास्ति, प्रतिपादकः प्रमाताऽपि नास्ति, किञ्चिद्वचनमपि नास्तीति सङ्ग्रहः केवलं महासामान्यमेकमखण्डं स्वीकरोतीत्यस्यापि वचनस्य महासत्तावचनात्मकस्याभावात्सङ्ग्रहवक्तुमशक्यमेवेति व्यवहारमात्रोच्छेद एव स्यात्, तस्मादेकान्तसङ्ग्रहनयाभिनिवेशपरित्यागेनैव वचनादिप्रवृत्तिरिति प्रमाणविषयीकृते सत्त्वासत्त्वाद्यनेकान्तात्मके वस्तुनि घटादौ सत्त्वं सङ्ग्रहनयविषयो यद्येकान्तेन स्यात्तदा तत्प्रतिपक्षीभूतमसत्त्वं व्यवहारनयविषयस्तच्च न स्याद्विरोधादिति तद्विरोधभञ्जनाय स्याद्वादी स्यात्पदेन निमित्तभेदं तयोरुपदर्श्य विरोधमपहस्तयति, निमित्तभेदेन तत्र सत्त्वं विषयीकुर्वतः सङ्ग्रहस्यासत्त्वं विषयीकुर्वतो व्यवहारस्य सुनयत्वमुपपद्यत इति सुनयाश्रिता सप्तभङ्गी प्रमाणतामासादयतीति, घटे स्वद्रव्याद्यपेक्षया सत्त्वं, महासामान्यमपि घटस्यैव स्वद्रव्यादिस्वरूपनियतं सङ्कुचितस्वरूपं भवति, एवमसत्त्वादिकमपीति बोध्यम्। ननु सर्वस्य वस्तुनः सदसदात्मकत्वे सत्ता यथा सर्वगतैका तथाऽसत्ताऽपि सर्वगतैकैव, एवञ्च सत्तैव असत्ता तु विशेषणभेदाद्भिद्यते इति प्राचीनोक्तिः कथं सङ्गच्छतीति चेत्, उच्यते, सत्ता सङ्ग्रहनयविषयः, सङ्ग्रहनयश्चैकमनेकानुगतं सामान्यमभ्युपैतीत्यतः सा भवत्येकैव, यद्यपि तस्या अपि घटसत्ता पटसत्ता मठसत्तेत्येवं घटवृत्तित्व-पटवृत्तित्व-मठवृत्तित्वादिविशेषणभेदाद्भेदो भवितुमर्हति तथापि विशेषणभेदाद्भेद औपचारिक एव, उपचारश्च सङ्ग्रहनयेन नेष्यत इत्यतो न तन्नयेन विशेषणभेदाद्भेदः, किन्तु विशिष्टशुद्धयोरैक्यमेवेति, असत्ता सत्ताप्रतिपक्षभूता तदभावरूपा सम्मतत्वेका, किन्तु व्यवहारनयविषयतयाऽभ्युपगता सा, व्यवहारनयश्च विशेषास्वादनप्रवणो न किञ्चित्सर्वानुगतमेकमभ्युपैतीत्यतो न सैका, उपचारबहुलश्च व्यवहारः, पन्था गच्छति कुण्डिका स्रवति गिरिर्दहतीत्याद्युपचारस्य तेनाभ्युपगमात्, तथा च विशेषणभेदाद्भेदं गत्वैवानुगता सा व्यवहारनयविषय इति युक्तमुक्तमसत्ता तु विशेषणभेदाद्भिद्यत इति, यदेव स्वरूपसत्त्वं विभिन्नघटपटादीनां व्यवहारनयविषयस्तदेव परद्रव्याद्यपेक्षयाऽसत्त्वमित्युच्यते, तच्च विशेषरूपत्वादेवानुगतसामान्यरूपसत्तायाः प्रतिपक्षभूतमपि भवतीति बोध्यम्, घटादेः स्वरूपसत्त्वस्य

महासामान्यस्वरूपसत्त्वस्य वा प्रतिपत्तये सन् घटोऽस्ति घट इत्यादेर प्रयुज्यते, अतोऽस्ति शब्दप्रतिपाद्य सत्त्वमेव, न तु वृत्तित्वम्, अन्यत्र नित्यद्रव्येभ्य आश्रितत्वमिहोच्यते इत्यादिवचनतो नित्यद्रव्यभिन्नस्यैव वृत्तिमत्त्वलक्षणमाश्रितत्वमुररीकुर्वतो नैयायिकादेरपि गगनमस्ति आत्माऽस्ति ईश्वरोऽस्तीत्यादावस्तीत्यस्य वृत्तित्वार्थकत्वासम्भवात् सत्त्वमेवाऽर्थोऽभ्युपगन्तव्यमित्यवतरति, अस्तित्व सत्त्वलक्षण विधिस्वरूप यथा वस्तुधर्मस्तथा नास्तित्वमपि तत्प्रतिपक्षभूत विधिनिषेधात्मनो वस्तुनो धर्म एव, अस्तित्ववत्तस्याप्यखण्डत्वमेवेति घटो नास्तीत्यस्याप्यखण्डस्वरूपाऽसत्त्ववान् घट इत्येवार्थः, न तु अभावप्रतियोगित्ववान् घट इति, अभावस्य निषेधरूपत्वेऽपि प्रतियोगित्वस्य विधिरूपत्वेन तयोर्नाभिषेधात्मकत्वाव्यवस्थानात्, भूतले घटोऽस्तीत्यादावपि सप्तम्या आधारत्वमर्थ इति प्राचीनमते तत्र प्रकृत्यर्थस्याधेयत्वसम्बन्धेनान्वय ,तस्य च घटे निरूपकत्वसम्बन्धेनान्वय इति, सप्तम्या आधेयत्वमर्थ इति नव्यमते तत्र प्रकृत्यर्थस्य निरूपितत्वसम्बन्धेनान्वय',तस्य च स्वरूपसम्बन्धेन घटेऽन्वय इति भूतले घट इत्येतावन्मात्रतो भूतलनिष्ठाधारतानिरूपको घट इति भूतलनिरूपिताधेयत्ववान् घट इति वा बोध' सम्भवत्येवेति अस्तीत्यधिक पद स्वरूपसत्त्व महासामान्यलक्षणसत्त्व वा प्रतिपादयदेव साफल्यमश्नुते, एवञ्च भूतलनिष्ठाधारतानिरूपको घटः सत्त्ववानिति भूतलनिरूपिताधेयत्ववान् घटः सत्त्ववानिति वा बोधो भूतले घटोऽस्तीति वाक्यप्रभवः, तत्र उद्देश्यतावच्छेदकावच्छेदेन विधेयान्वय इति नियमाद्भूतलनिष्ठाधारतानिरूपकत्वस्य भूतलनिरूपिताधेयत्वस्य वा सत्त्वावच्छेदकत्वमायात्येवेति, धर्मिवाचकपदोत्तरसप्तमीविभक्तिसमभिव्याहारे नञाऽत्यन्ताभावः प्रतीयते इति नियमाद्भूतले घटो नास्तीत्यतो भूतलविशेष्यकघटाभावप्रकारकबोधस्य सम्भवेऽपि तत्र भूतलनिरूपितवृत्तित्वाभावप्रकारकघटविशेष्यकबोधोऽप्यनुभूयते, नञऽसमभिव्याहारस्थले यद्धर्मप्रकारकयद्विशेष्यकबोधो भवति नञ् समभिव्याहारे तद्धर्माभावप्रकारकतद्विशेष्यकबोध उपजायत इति नियमात् । नञः समानार्थक एव नास्तीति न तत्रास्तीत्यधिकमिति घटविशेष्यकभूतलनिरूपितवृत्तित्वाभावप्रकारकस्यैव बोधस्योक्तन्यायात् सम्भवेऽपि भूतले घटानधिकरणत्वस्याप्यर्थतः प्रतीतिसम्भवेन भूतलावच्छेदेन घटे नास्तित्वस्यापि सत्त्वाभावलक्षणासत्त्वस्वरूपस्याप्यवगमः सम्भवत्येव, अथवा भूतलनिष्ठाधारतानिरूपकत्व भूतलनिरूपिताधेयत्व वा घटस्य स्वरूपसत्त्वमेव, भूतलसयुक्ततयोत्पन्नस्यैव घटस्य तद्रूपेण प्रतीतेः, कार्यसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रयोगितानवच्छेदकधर्मवत्त्वस्य कारणत्वरूपत्वे दण्डत्वमेव कारणत्व तदवच्छेदक च, तथैव भूतलनिष्ठाधारतानिरूपकत्वादिकमेव स्वरूपसत्त्व तदवच्छेदकञ्चेति, एव भूतलनिष्ठाधारतानिरूपकत्वाभावो भूतलनिरूपितवृत्तित्वाभावो वाऽसत्त्व तदवच्छेदकञ्चेति। यत्र चाधिकरणवाचकपदसमवधान नास्ति तत्रास्तिपदात्सत्त्वमेव प्रतीयते न तु वृत्तित्वम्, सनिरूपकस्य तस्य निरूपकमन्तरेण प्रतीत्यसम्भवादिति दिक् ॥ ३६ ॥

अथ विधिमुख्यविषयताकबोधजनक आद्यभङ्गः, निषेधमुख्यविषयताकबोधजनको द्वितीयभङ्गः, युगपद्विधिनिषेधात्मनाऽवक्तव्यत्वमुख्यविषयताकस्तृतीयभङ्ग इत्येवं प्राधान्येनैकैकधर्मप्रतिपादकं भङ्गत्रयं निरवयववाक्यरूपं प्रतिपाद्याधुना क्रमात्सत्त्वासत्त्वोभयमुख्यविषयताकबोधजनकं स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येवेति क्रमतो विधिनिषेधकल्पनया चतुर्थभङ्गं सावयववाक्यरूपं प्रतिपादयितुमाह—यद्वाऽऽद्येन भङ्गेन प्राधान्येन सत्त्वे द्वितीयेन च प्राधान्येनासत्त्वे तृतीयेन च प्राधान्येनाऽवक्तव्यत्वे प्रतिपादिते सति घटादिवस्तु *प्राधान्येनैकैकधर्माक्रान्तमिव तत्* स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येवेत्येवं क्रमार्पितोभयधर्माक्रान्तमस्ति न वेति संशये सति तत्प्रमया क्रमेण स्यादस्तित्वस्यान्नास्तित्वोभयधर्मविषयज्ञानं मे जायतामिति जिज्ञासया तादृशोभयधर्मविषयकप्रश्नवाक्यं घटादिकं क्रमेण स्यादस्ति स्यान्नास्ति न वेत्याकारकमुच्चारयतः श्रोतुः तदीयजिज्ञासाविशेषं तथाविधेन प्रश्नेनावगम्य वक्ता जिज्ञासाकारणसंशयनिवृत्तिर्यादृशवाक्यात्स्यात् तादृशमेवोत्तरवाक्यरूपं घटादिकं क्रमेण स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येवेत्याकारकं चतुर्थभङ्गं प्रतिपादयन्नाह—यद्वा विवक्षाकृतप्रधानभावसदाद्येकधर्मात्मकस्यापेक्षितापराऽशेषधर्मक्रोडीकृतस्य वाक्यार्थस्य स्यात्कारपदलाञ्छितवाक्यात्प्रतीतेः स्यादस्त्येव घटः । १ । स्यान्नास्त्येव घटः । २ । स्यादवक्तव्य एव घटः । ३ । इत्येतद्भङ्गत्रयं प्रतिपाद्य विवक्षाविरचितद्वित्रिधर्मानुरक्तस्य स्यात्कारपदसमुचितसकलधर्मस्वभावस्य धर्मिणो वाक्यार्थरूपस्य स्यात्पदाङ्कितचतुर्याद्भिङ्गवाक्यात् प्रतिपत्तेस्स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव घटः । १ । स्यादस्त्येव स्यादऽवक्तव्य एव घटः । २ । स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्य एव घटः । ३ । स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव च स्यादवक्तव्य एव घटः । ४ ॥ इत्येतद्वक्ष्यमाणभङ्गचतुष्टयं द्वित्रिसंयोगात्मकं प्रतिपादयिषुस्तत्राद्यभङ्गं मूलाद्यभङ्गापेक्षया चतुर्थभङ्गं प्रतिपादयितुमाह—

अह देसो सब्भावे, देसोऽसब्भावपज्जवे णियओ ।
तं दवियमत्थि नत्थि य, आएसविसेसियं जम्हा ॥ ३७ ॥

'अह'—यदा, देसो—देशो वस्तुनः एकदेशः अवयवः 'सब्भावे' सद्भावे अस्तित्वे, णियओ—नियतः—सन्नेवेत्येव निश्चितः 'देसो' अपरश्च देशः 'असब्भावपज्जवे' असद्भावपर्याये नास्तित्वाख्ये, णियओ—इत्यस्यात्राप्यनुकर्षणान्नियतः—असन्नेवेत्येवं नियमेनावगतः, ननु वस्त्वेकदेशरूपस्य वस्त्ववयवस्य नियतं क्रमार्पितं स्यात्सत्त्वं स्यादसत्त्वं चेत्येव पूर्वार्द्धेन वचसा प्रतिपादितम्, श्रोत्रा जिज्ञासया पृष्टञ्च घटादिवस्तु किं क्रमार्पितसत्त्वासत्त्वोभयधर्मान्वितमस्ति न वेति, तथा चार्थान्तरदोषस्स्यादिति चेत्, सत्यम्, तथाऽप्यत्राऽवयवेभ्योऽवयविनः कथञ्चिदभेदो विवक्षित इति अक्षिगतकाणत्वयोगात्पादगतखञ्जत्वयोगाच्च काणः खञ्जश्च देवदत्त इत्यत्रेवावयवधर्माणामवयविनि व्यपदेशाच्चतुर्थभङ्ग

प्रवृत्तेर्नोक्तदोष इति अवयवगतसत्त्वासत्त्वधर्माभ्यामवयव्यपि तथाधर्माक्रान्तो वाच्य इत्याह– 'त दवियमत्थि णत्थि य' तद्द्रव्यमस्ति च नास्ति चेति भवति, तत्र हेतुमाह–" आएस विसेसिय जम्हा" यस्मात्तद्द्रव्यमादेशविशेषितम्, आदेशेनोभयप्रधानावयवभागेन विशेषितम्, सत्त्वासत्त्वोभयप्रधानकावयवद्वयाभेदेनार्पितं तद् द्रव्यं यस्मादिति यावत्, तथाहि– एकोऽवयवोऽस्तित्वविशिष्टोऽपरश्च नास्तित्वविशिष्ट इत्यस्तित्वनास्तित्वधर्माश्रयावयवाभ्यां सह यद्द्रव्यमभिन्नतया विवक्ष्यते तद्द्रव्यमस्ति नास्ति चेति व्यवह्रियते, यथा स्वद्रव्यक्षेत्र कालभावैर्विभक्तो घटः स्वद्रव्यादिरूपेणास्ति, परद्रव्यादिरूपेण च स एव नास्ति, अवय वेन विशिष्टधर्मेण विभज्यैकमादिश्यमानं सुप्रसिद्धमेव, यथैक एव पुरुषो विवक्षितपर्यायेण बालादिना परिणतः, कुमारादिना चापरिणत इति। अत्र यस्मात्तद्द्रव्यमादेशविशेषित मित्यस्योभयप्रधानावयवाभेदेनाऽर्पितं स्वाश्रयसमवायित्वरूपपरम्परासम्बन्धावच्छिन्नधर्म द्वयप्रकारतानिरूपितैकविशेष्यताकौपादानिकबोधेच्छाविषयीकृतमिति यावत्, इत्यष्टसह-रूपामर्थः कृत इति। अत्र यथा श्रुते घटपदस्य देशपरस्यावृत्त्या प्रकारताद्वयनिरूपितविशे-ष्यताद्वयशालिन एव बोधस्य जननादौपादानिकबोधपर्यन्तानुधावनम्, एवमग्रेऽपि बोध्यम्। नन्वाद्यभङ्गेनाऽपि स्वद्रव्यादिना घटस्सन्निति द्वितीयभङ्गेनापि च परद्रव्यादिना घटोऽ सन्निति विभज्यत एव घट इत्याद्याभ्यां भङ्गाभ्यां कोऽस्य भङ्गस्य विशेष इति चेत्, उच्यते, तत्रास्तित्वनास्तित्वावच्छेदकद्वारा विभागेऽप्यवयवद्वारा विभागाभावः, अत्र तु तद्द्वारा विभाग इत्यस्य विशेषो ज्ञेय इति। नन्वत्रावयवावयविनोः कथञ्चिद्भेदादवयवद्वारा 'कुण्ठो देवदत्तः' इत्यत्रेव तद्धर्माणामवयविनि व्यपदेशः कृतः, न तु साक्षादित्यवयवद्वारा विभागकरण एव किं बीजमिति चेत्? सावयवनिरवयवात्मकवस्तुनस्तथाप्रतिपत्तिजनक-सावयवनिरवयवत्वशबलैकस्वरूपवाक्यत्वेन तादृशवाक्यस्य प्रामाण्यरक्षार्थम्, अर्थात् एक-स्यापि वस्तुनस्सावयवनिरवयवत्वरूपतया द्विविधत्वे तत्प्रतिपादकवाक्यस्यापि सावयव निरवयवतया द्विविधत्वे सत्येव याथार्थ्येन तत्प्रतिपादकत्वं सम्भवति, तत एव च तत्रार्थे तस्य प्रामाण्यमपि निर्वहतीति सूचितं भवति ॥ ३७ ॥

एकस्य देशस्य सत्त्वेन प्राधान्यविवक्षणेनापरस्य च युगपत्सत्त्वासत्त्वोभयरूपेण प्राधा न्यविवक्षणेन द्वितीयभङ्गं मूलाद्यभङ्गापेक्षया पञ्चमभङ्गं प्रतिपादयितुमाह—

सब्भावे आइट्ठो, देसो देसो य उभयहा जस्स।
त अत्थि अवत्तव्व, च होइ दवियं वियप्पवसा ॥ ३८ ॥

'जस्स' यस्य घटादेर्धर्मिणः, 'देसो' एको देशोऽवयव, 'सब्भावे' सद्भावेऽस्ति त्वेऽव्यक्तव्यत्वानुविद्धस्वभावे 'आइट्ठो' आदिष्टो विवक्षितः, अन्यथा तदसत्त्वप्रसङ्गात्, न ह्यव-यवधर्मावनिभक्ततामन्तरेण विवक्षितधर्मास्तित्वमस्य सम्भवति, खरविषाणादेरिव, 'देसो य'

तस्यैव धर्मिणोऽपरो देशश्च 'उभयहा' उभयथा, अस्तित्वनास्तित्वोभयप्रकारेण युगपदेव 'आइट्ठो' इत्यस्यात्राप्यनुकर्षणात् आदिष्टः अस्तित्वानुविद्ध एवावक्तव्यत्वस्वभावे विवक्षितः, अन्यथा तदसत्त्वप्रसक्तेः, न ह्यस्तित्वाभावे उभयाप्रविभक्तता शशशृङ्गादेरिव तस्य सम्भविनी। उक्तप्रकारादेशेन द्रव्यं किं स्वरूपं प्रतिपादकेन प्रतिपादितं भवतीत्यत आह—'तं अत्थि अवत्तव्वं च होइ दवियं' तद्द्रव्यमस्त्यवक्तव्यञ्च भवति, ननु घटाद्यवयविद्रव्यस्यैवैको देशोऽव्यक्तव्यत्वानुविद्धस्वभावेऽस्तित्वेऽपरश्चास्तित्वोपरक्तावक्तव्यत्वस्वभावे पूर्वार्द्धेन विवक्षित इति द्रव्यं कथं तथाविधं प्रतिपादकेन व्यपदिष्टं भवतीत्याशङ्कानिवृत्त्यर्थमाह—"वियप्पवसा" इति, विकल्पवशादुक्तोभयधर्माक्रान्तदेशद्वारेण धर्मिणो विवक्षावशात्। अयम्भावः-तद्धर्मविकल्पवशाद्धर्मयोस्तथापरिणतयोस्तथाव्यपदेशे धर्म्यपि तद्द्वारेण तथैव हि व्यपदिश्यते। ननु प्रथमतृतीयभङ्गाभ्यामेवैतद्भङ्गकार्यसिद्धेः किमनेन भङ्गेनेति चेत्, उच्यते, आद्येन भङ्गेन संशयजिज्ञासामात्रप्रश्नद्वारा द्रव्येऽस्तित्वमात्रं, तृतीयभङ्गेन चावक्तव्यत्वमात्रमेव प्रतिपाद्येनाधिगन्तुमिष्टं, प्रतिपादकेनापि देशाविशेषितद्रव्य एव केवलधर्मविवक्षया तथैवाऽऽद्यतृतीयभङ्गाभ्यां प्रतिपादितम्, अनेन भङ्गेन तु प्रतिपाद्येन संशयजिज्ञासामूलके किं द्रव्यमस्ति चाऽव्यक्तव्यञ्चास्ति न वेति पुनः प्रश्ने कृते प्रतिपादकेन प्रतिपाद्यप्रश्नानुरोधेनानन्तधर्मात्मकस्य धर्मिण उक्तोभयधर्माक्रान्तदेशद्वारोभयधर्माक्रान्तत्वेन प्रतिपादयितुमिष्टत्वादस्य ताभ्यां भङ्गाभ्यां स्फुटः एव भेद इति। अत्रेदमवधेयम्-तद्द्रव्यमस्त्यवक्तव्यञ्च भवतीत्यत्र चकारबलात् 'एकत्र द्वन्द्व' इति न्यायेन विदेशे दण्डी कुण्डली चेत्यत्र विभिन्नदेशावच्छेदेन चैत्रे [illegible] प्रकृते घटे विभिन्नदेशावच्छेदेनाऽस्तित्वाऽवक्तव्यत्वयोः परस्पराऽविशेषणीभूतयो[illegible] भानं स्यादित्यत प्रकृतेऽस्त्यवक्तव्यपदयोर्देशाऽस्तित्वविशिष्टदेशाऽवक्तव्य[illegible] तात्पर्यानुपपत्त्या लक्षणा स्वीकार्या, तयोश्च तादात्म्येन वैशिष्ट्यबोध[illegible], अयमेव परस्परानुवेधाऽर्थोऽपि द्रष्टव्य इति। चतुर्थभङ्गेऽप्युभयप्रधानात्[illegible] पदेशादत्रापि च तस्यैव विशेषस्याऽविशिष्टत्वादिति दिक् ॥ ३८ ॥

देशेऽसत्त्वस्य देशे च युगपत्सत्त्वासत्त्वोभयोर्विवक्षणेन तृतीयभङ्ग[illegible] षष्ठभङ्गं प्रतिपादयितुमाह—

> आइट्ठोऽसब्भावे, देसो देसो य उभयहा जस्स।
> तं णत्थि अवत्तव्वं, च होइ दवियं वियप्पवसा ॥ ३९ ॥

'जस्स' यस्य घटादिवस्तुनः 'देसो' देश एकोऽवयवः, 'असब्भावे' असद्भावे 'आइट्ठो' आदिष्टः, असत्त्वेनायमित्यवक्तव्यत्वानुविद्धेऽसत्त्वे [illegible], 'देसो य' अपरश्च देशोऽसत्त्वानुविद्धे 'उभयहा' युगपत् सत्त्वासत्त्वोभय[illegible]

'आइट्ठो' इत्यस्यात्राप्यनुकर्षणात् आदिष्टः निरूपितः 'त नत्थि अवत्तव्वं च होइ दविय वियप्पवसा' तद् द्रव्य नास्ति चावक्तव्य च भवति विकल्पवशात्, अयम्भावः-यद्यप्यनेन भङ्गेन तत्तद्पर्यायवाचकैरुक्तधर्माक्रान्ताविति प्रतिपादित तथाप्यन्वयिनि तद्व्यपदेशयावय वाऽभेदोपचाराद्वयनिरूपद्रव्यमपि तद्व्यपदेशमासादयति। देशानुपरक्तद्वितीयतृतीयभङ्गव्युदासेनाय षष्ठो भङ्गः प्रवर्त्तते ॥ ३९ ॥

देशेऽस्तित्वस्य देशे नास्तित्वस्य देशे च युगपदस्तित्वनास्तित्वोभयोर्विवक्षायां चतुर्थ भङ्ग मूलाद्यभङ्गापेक्षया सप्तमभङ्ग प्रतिपादयितुमाह—

सब्भावासब्भावे, देसो देसो य उभयहा जस्स।
त अत्थि नत्थि अवत्त-व्वय च दविय वियप्पवसा ॥ ४० ॥

'जस्स' यस्य देशिनो 'देसो' देश एकः। 'सब्भावासब्भावे' सद्भावे सत्त्वे नियतः, 'देसो य' देशश्च द्वितीयः असद्भावे असत्त्वे, तृतीयस्तु 'उभयहा' सत्त्वासत्त्वोभयप्रकारेण युगपदादिष्ट इत्येवं सद्रूपासद्रूपावक्तव्यरूपव्यपदेश्यदेशाऽभेदोपचाराद्द्रव्यमप्यस्ति च नास्ति चावक्तव्यञ्च भवतीत्याह-'त अत्थि नत्थि अवत्तव्वं च दविय विअप्पवसा' इति। अनया विशिष्टविवक्षयाऽऽद्यभङ्गत्रयव्युदासः, एते च परस्परसाकाङ्क्षस्वभावेन सप्तभङ्गयात्मकाः प्रत्येक स्वार्थं प्रतिपादयन्ति, नान्यथेति प्रत्येक तत्समुदायो वा सप्तभङ्गात्मकः प्रतिपाद्यमपि तथाभूत दर्शयतीति सम्प्रदायविदो वदन्ति। तत्र प्रतिपर्याय जिज्ञासितसप्तधर्मप्रकारकैकधर्मिविशेष्यकशाब्दबोधजनकत्वपर्याप्त्यधिकरणमहावाक्यत्वरूपसप्तभङ्गीत्व समुदाय एव, निरुक्तजनकत्वाधिकरणवाक्यत्वरूप च तत्प्रत्येकमपीति विवेकः, अत एव स्यात्पदार्थलाञ्छितनिवक्षितधर्मावधारकत्वेन स्वार्थमात्रप्रतिपादनप्रवणत्वेन च द्विधा सुनयरत्नमुदाहरन्ति, आद्य सप्तभङ्ग्यात्मकमहावाक्यैकवाक्यतापन्नवाक्ये, अन्त्यञ्चोदासीने धर्मान्तरोपादानप्रतिषेधाऽकारिणि, इत्थञ्च स्यादस्तीत्यादि प्रमाणम्, तेनास्तित्वत्वेन रूपेणास्तित्वस्य तदभिन्नस्वेतरसकलधर्माणाञ्च प्रतिपादनात्। अयम्भावः-अस्तिपदेन स्यात्पद लाञ्छितेन स्वेतरानन्तधर्माभिन्नास्तित्वत्वेन रूपेणास्तित्व धर्मिणि प्रतिपाद्यते, तदानीं प्रकार तया भासमानेऽस्तित्वेऽभेदसम्बन्धेन तद्विशेषणतया धर्मान्तराणामपि प्रथमभङ्गजन्यबोधे मानमिति तद्विशिष्टस्य माने तस्यापि मानमिति न्यायेन धर्मान्तराणामपि धर्मिणि मानमिति प्रकारमुद्रया सर्वधर्मावगति' प्रथमभङ्गात्। अथवाऽस्तित्वधर्मस्य स्यात्पद महिम्ना स्वस्वेतरानन्तधर्मात्मकत्वसम्बन्धेन धर्मिणि प्रकारतया मानम्, तथा चाऽस्तित्वेतराऽशेषानन्तधर्मात्मकत्वस्य ससर्गविधया धर्मिणि मानम्। तथा च स्वाभिन्नानन्तधर्मात्मकत्वससर्गेण स्वाश्रयविशेष्यकैकधर्मप्रकारकबोध', एवञ्च धर्मान्तराणां पदान्तरादनुपस्थितत्वेऽपि ससर्गविधया शाब्दबोधे भानस्योपपत्तिः, अनुपस्थितस्यार्थस्य प्रकारविधया

मानानुपगमेऽपि संसर्गविधया मानाभ्युपगमे न काऽपि क्षतिः। एवं द्वितीयादिभङ्गजन्यबोधेऽपि प्रकृतधर्मात्मकत्ववत् तदितराशेषानन्तधर्मात्मकत्वस्यापि प्रकारविधया संसर्गविधया वोक्तदिशा मानमालोचनीयमिति। अत्राष्टसहस्रीविवरणे इत्थं विवेचितम्-प्रमाणवाक्यानां सर्व० पदैर्मिलित्वा प्राधान्येनानन्तधर्मात्मकवस्तुबोधन एव तात्पर्यम्, वेदान्तवाक्यानामिवाखण्डब्रह्मबोधने, तथा च स्यादस्त्येव द्रव्यमित्यतः स्वेतरसकलधर्मात्मकत्वसम्बन्धेनास्तित्ववदेव द्रव्यमिति प्राथमिकबोधानन्तरं तस्मादनन्तधर्मात्मकमेव सर्वं वस्त्विति तात्पर्योपादानिकबोधः सकलादेशजन्यस्स्वीक्रियते, स च द्रव्यार्थिकार्पणयाऽनुपचरितैकविशेष्यताकः पर्यायार्पणया चोपचरितैकविशेष्यताक इति तात्पर्यार्थमादाय तत्र न प्रधानैकार्थत्वव्याघातः, सकलादेशान्यार्थं एव गुणप्रधानभावेन बोधकत्वनियमस्य चरितार्थत्वादित्यादि। स्यात्पदाऽलाञ्छितोऽवधारणैकस्वभावः अस्त्येवेत्यादिदुर्नयः, एवकारेणेतरधर्मतिरस्कारेणैकान्तास्तित्वस्य तत्प्रतिपाद्यतयाऽभिमतस्य शशशृङ्गकल्पतयाऽसत्त्वाद् यथार्थतद्विषयकबोधस्यासम्भवेन तज्जनकत्वाऽसम्भवात्। अस्तीत्यादिकः सुनयः, न तु स स्यात्कारैवकारविनिर्मुक्तत्वेन धर्मान्तरोपादानप्रतिषेधाऽकरणात् स्वार्थमात्रप्रतिपादनप्रवणोऽपि व्यवहाराङ्गम्, स्यादस्त्येवेत्यादिकस्तु सुनय एव व्यवहारकारणम्, स्वपरानुवृत्तव्यावृत्तवस्तुविषयकप्रवर्तकवाक्यस्य व्यवहारकारणत्वात्। स्यादस्त्येवेत्यत्रास्तित्वरूपं यत्सामान्यं तदेवानुगतरूपं तदात्मकतया कथञ्चिदस्तित्वस्य विपरीतं सर्वथाऽस्तित्वं कथञ्चिदस्तित्वात्मकत्वावच्छेदकावच्छेद्यनास्तित्वश्च तदेव तत्रावर्तमानत्वाद्व्यावृत्तरूपं व्यवच्छेद्यं, तद्व्यावृत्ततया च वस्तुनो भासमानत्वादुक्तवाक्यजन्यबोधस्य तथाविधार्थप्रवृत्तिजनकत्वेन तज्जनकोक्तवाक्यस्य स्वपरानुवृत्तव्यावृत्तवस्तुविषयकप्रवृत्तिजनकबोधजनकत्वेन व्यवहारकारणत्वमुपपद्यत एवेति। एवं स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येवेत्यादिसप्तभङ्गीवद् वस्तु स्यान्नित्यमेव।१। स्यादनित्यमेव।२। स्यादवक्तव्यमेव।३। क्रमतः स्यान्नित्यमेव स्यादनित्यमेव।४। इत्यादिसप्तभङ्ग्यपि नेया, यथायोगमेतत्सप्तभङ्गीव्यवस्थापनप्रक्रिया नयप्रमाणापेक्षया योजनीया, अत्र च नित्यत्वानित्यत्वादिव्यवहारे आकाशघटादौ द्रव्यार्थत्वपर्यायार्थत्वयोस्तुल्यत्वदाकाशत्वघटत्वादीनां च स्यात्पदद्योतनमर्यादया प्रतिष्ठा ग्रहात्रातिप्रसङ्गः, नयवाक्येऽपि यद्धर्मविशिष्टविशेष्यवाचकपदसमभिव्याहारेण नित्यत्वादिविशिष्टवाचकं पदं प्रयुज्यते तद्धर्मावच्छेदेन तत्र नित्यत्वादिबोधन एव तत्साकाङ्क्षमित्याकाशमनित्यं घटो नित्य इत्यादेर्नयवाक्यस्य न प्रयोग इति बोध्यम्। नन्वनन्तधर्मात्मके वस्तुनि प्रतिपर्यायं सप्तैव भङ्गा इत्यत्र किं बीजमिति चेत्, उच्यते, संशयजिज्ञासाप्रतिपाद्यपर्यनुयोगानां कार्यकारणभावापन्नानां सप्तविधत्वात् तत्प्रयुक्तभङ्गा अपि सप्तविधा एव, संशयादीनां सप्तविधत्वमपि स्वगोचरास्तित्वादिधर्माणां सप्तविधत्वस्यैवोपपत्तेः, तथा च नाधिकभङ्गावकाशः। तथाहि-प्रथमद्वितीयभङ्गप्रतिपाद्यसत्त्वासत्त्वयोः क्रमेण विवक्षणे चतुर्थभङ्गप्रवृत्तिः, युगपद्विवक्षणे तृतीयभङ्गप्रवृत्तिः प्रथमतृतीयभङ्गसंयोगे पञ्चमभङ्ग—

स्स्यात्, द्वितीयतृतीयभङ्गसंयोगे षष्ठभङ्गानर्थकास्स्यात्, प्रथमद्वितीयतृतीयसंयोगे सप्तमभङ्गो लब्धस्स्यात्, प्रथमचतुर्थादिभङ्गकल्पनाया पौनरुक्त्यदोषापत्तिस्स्यादिति। किञ्च प्रथमचतुर्थसंयोगे न भङ्गान्तरप्रवृत्तिः प्रथमभङ्गप्रतिपाद्यचतुर्थभङ्गप्रतिपाद्ययोर्धर्मान्तरत्वेनाप्रतीतेः सत्त्वद्वयस्याऽसम्भवात्, विवक्षितस्वरूपादिना सत्त्वस्यैकयात्, तदन्यस्वरूपादिना द्वितीयस्य सत्त्वस्य सम्भवेऽपि विशेषादेशात्तत्प्रतिपक्षभूताऽसत्त्वस्यापि परस्य भावादपरधर्मसप्तकसिद्धेः सप्तभङ्ग्यन्तरसिद्धिस्स्यात्। एवं द्वितीयचतुर्थभङ्गसंयोगेनापि न भङ्गान्तरप्रवृत्तिः, पूर्ववन्नास्तित्वद्वयाऽभावात्, न चात्र युगपदस्तित्वनास्तित्वोभयापेक्षया स्यादवक्तव्य एव घट इति तृतीयभङ्गप्रवृत्तिवदस्तित्वादिप्रत्येकनिमित्तापेक्षया वक्तव्यत्वमप्यस्तीति तत्प्रतिपादकस्याद्वक्तव्य एव घट इत्यष्टमभङ्गोऽपि किन्न स्यादित्याशङ्कनीयम्, यतो न हि स्याद्वादिनामयमभ्युपगमो यावन्तो धर्मा घटे सम्भवन्ति तावद्धर्मप्रतिपादका भङ्गा एकस्यां सप्तभङ्ग्यां निवेशनीया इति, तथा सत्यनन्तभङ्ग्येव स्यात्, न तु सप्तभङ्गी, किन्तु सप्तविधसंशयजिज्ञासापर्यनुयोगवशादस्तित्वादिप्रत्येकधर्माणामविरोधेन विधिनिषेधकल्पनया सप्तधर्मप्रतिपादिका सप्तभङ्गीत्येवाभ्युपगमः, तथा चात्रापि वक्तव्यत्वधर्मं प्रधानीकृत्य तद्विधिनिषेधकल्पनया सप्तधर्मप्रतिपादिका स्याद्वक्तव्यत्वधर्मप्रतिपादकप्रथमभङ्गोत्थापिताकाङ्क्षाक्रमेण जायमानाऽन्यैव सप्तभङ्गीत्यभ्युपगन्तव्यम्। अनन्तधर्मात्मके वस्तुनि प्रतिधर्मं सप्तभङ्ग्या नियतत्वादिति। ननु सप्तभङ्गीजन्याखण्डशाब्दबोध इव किमन्यज्ञानेऽपि सप्तधर्मावभासो भवति न वेति चेत्, तत्प्रतिभासे स्याद्वादव्युत्पत्तेरपि प्रयोजकतया स्याद्वादाऽव्युत्पन्नस्य प्रत्यक्षादिज्ञाने तदप्रतिभासेऽपि तद्व्युत्पन्नस्य ज्ञाने तत्प्रतिभासो भवत्येव, अत एव न्यायाचार्यैःश्रीमद्यशोविजयोपाध्यायैर्महावीरस्तवे प्रत्यभिज्ञाविचारे—

"पर्यायतो युगपदप्युपलब्धभेद, किं न क्रमेऽपि हि तथेति विचारशाली।
स्याद्वादमेव भवतः श्रयते स भेदा–भेदक्रमेण किमु न स्फुटयुक्तियुक्तम्॥२७॥"

इति पद्येन शाब्दबोधातिरिक्तस्यापि भेदाभेदोभयात्मकस्यार्थविषयकस्य प्रत्यभिज्ञानस्यापि स्यादभिन्न एव स्याद्भिन्न एवेत्यादिसप्तभङ्गीसमभिरूढसप्तधर्मविषयकत्वमावेदितम्, व्युत्पादितश्चैतदेव तट्टीकायां न्यायखण्डखाद्याभिधायां तैरेव–"एवञ्च स्यात्स एव स्यादऽस एवेत्यादिसप्तभङ्गक्रमानुरोधी प्रत्यभिज्ञानबोधी वक्तव्य इत्यर्थः। एवं सति तदिदन्तास्पदाभेदविषयकमेव प्रत्यभिज्ञानमिति प्रवादस्य कथमुपपत्तिरिति चेत्, स्याद्वादव्युत्पन्नापेक्षयेति प्रतीहि। स्याद्वादव्युत्पत्तेः केहोपयोगः शाब्दबोध एव तदुपयोगादिति चेत्, न, तत्प्रभवसंस्कारोत्पन्नमतिज्ञानद्वारा तत्र तदुपयोगात्, अत एव कारणसाम्राज्यमपि दर्शितम्, तथाऽनुभवस्मरणयोः तत्प्रयोज्यक्षयोपशमद्वारकयोस्तथाप्रत्यभिज्ञानकारणयोः सत्त्वात्, उद्देश्यविधेयभावविपर्ययस्याप्यैच्छिकत्वात्। वस्तुतः करेखाविशेषवत्

शतवर्षंजीवीत्युपदेशश्रवणानन्तरमयं करेखाविशेषवानिति ज्ञाने सति यथाऽयं शतवर्ष-जीवीति सङ्कलनात्मकं प्रत्यभिज्ञानम्, तादृशविषये मानान्तरानवकाशात्, तथा सर्वं वस्तु सप्तभङ्गीसमभिरूढधर्मात्मकमित्युपदेशं श्रुतवत इदं वस्त्विति ज्ञानानन्तरमेवेदं सप्तभङ्गीस-मभिरूढवत्त्वाश्रयाऽभिन्नमिति प्रत्यभिज्ञानं व्युत्पन्नानां न दुर्घटमिति दिक्" इति ग्रन्थेन। एतेन वाक्यरचनां प्रति वाक्यार्थज्ञानस्य कारणत्वेनैकैकभङ्गस्य सप्तभङ्ग्याश्च प्रयोक्तृज्ञाने प्रत्यक्षाद्यात्मके तत्तद्भङ्गप्रतिपाद्यतत्तद्धर्मस्य सप्तभङ्गीप्रतिपाद्यसप्तधर्माणाञ्च प्रतिभासनं स्यादित्याशङ्काऽपीष्टत्वेन निराकृतेति। यतो यदा परोक्षज्ञानात्मके प्रत्यभिज्ञाने क्षयोपशम-विशेषात्स्याद्वादव्युत्पत्तिसहकृतात्सप्तभङ्गीसमभिरूढसप्तधर्मभानं युक्तितो निष्टङ्कितं तदा प्रत्य-क्षेऽपि तथैव सामग्रीसम्पत्त्या तथाभानस्य को वारयितेति विदाङ्कुर्वन्तु सुधियः। ननु किं वाक्यं पूर्णोत्तरं किञ्चांशोत्तरमिति जिज्ञासापुरस्सरं प्रश्नोद्भवे किमुत्तरमिति चेत्, उच्यते, स्वेतरांशौदासीन्येन स्वविषयस्वरूपमात्रप्रतिपादनपरं प्रतिभङ्गरूपं वाक्यमंशोत्तरम्, तस्य खण्डवाक्यरूपतया देशजिज्ञासानिवर्त्तकत्वात्, अनन्तधर्मात्मके वस्तुन्येकैकपर्यायमाश्रित्य क्रमेण युगपद्वा विधिनिषेधप्रधानभावेनोत्पद्यमानस्यात्कारलाञ्छितसप्तविधधर्मप्रकारकसप्त-विधसंशयमूलकसप्तविधजिज्ञासाऽधीनसप्तविधप्रश्नतद्विषयविषयकज्ञानहेतुकप्रतिपिपादयिषा-पूर्वकाऽविरुद्धसप्तविधधर्मप्रकारकैकधर्मिविशेष्यकशाब्दबोधजनकत्वपर्याप्तिमत्साक्षात्परम्परया टितवदुत्थापिताऽऽकाङ्क्षानिवर्त्तकत्ववन्निवर्त्तनीयाकाङ्क्षोत्थापकत्वान्यतरवत्सप्तभङ्गात्मकमहा-वाक्यमेव च पूर्णोत्तरम्, प्रतिपर्यायं विधिनिषेधप्रकारापेक्षया सप्तभिरेव धर्मैर्जिज्ञासितस्य वस्तुनस्तावद्भिरेव धर्मैरभिधानेन श्रोतुरभिलषितबोधोपपत्तेर्निरामान्तरानुदयादुक्तवाक्यस्य शान्ताकाङ्क्षत्वात्। ननु यद्यपि महावाक्यार्थबोधे तत्तत्खण्डवाक्यार्थबोधस्य कारणत्वेन भवतु पूर्वं तत्तत्खण्डवाक्यार्थबोधः, पश्चान्महावाक्यार्थबोधः, तथापि स्वद्रव्यक्षेत्रादिरूपेण घटस्स्यादस्त्येवेति प्रथमभङ्गरूपखण्डवाक्यतः स्वद्रव्यक्षेत्राद्यवच्छिन्नप्रधानीभूतकथञ्चिद-स्तित्वप्रकारकघटविशेष्यकबोधः प्रथमं, पश्चात्परद्रव्यादिरूपेण घटस्स्यान्नास्त्येवेति द्वितीय-भङ्गजन्यः परद्रव्याद्यवच्छिन्नप्रधानीभूतकथञ्चिन्नास्तित्वप्रकारकघटविशेष्यकबोधः ततश्च तृतीयादिभङ्गजन्यबोध इत्येवं सप्तविधबोधक्रमे को हेतुरिति चेत्, तत्र वाक्यक्रम-गर्भतात्पर्यज्ञानमेव हेतुः, यद्वा पूर्वपूर्वभङ्गजन्यशाब्दबोधानामुत्तरोत्तरभङ्गजन्यशाब्दबोध-कारणत्वेन कारणक्रमात्कार्यक्रम इति सामान्यनियमावष्टम्भेन तादृशकारणक्रम एव हेतुः। यदुक्तं खण्डखाद्ये न्यायाचार्यस्तातपादश्रीयशोविजयोपाध्यायैः—" औदासीन्येन स्वार्था-वधारणमात्रपरत्वेऽप्यंशोत्तरम्। सप्रतिपक्षधर्मद्वयस्थले सप्तधर्मजिज्ञासया सप्तभिः प्रश्नैर्मिथः-साकाङ्क्षसप्तभङ्गात्मकमहावाक्यस्यैव पूर्णोत्तरत्वात्, सकलं हि वस्तु यावद्धर्मैर्जिज्ञासितं तावद्धर्माऽभिधान एव वाक्यं निराकाङ्क्षं भवति, भङ्गार्थबोधक्रमो वाक्यक्रमगर्भतात्पर्य-

ज्ञानात्, आद्यभङ्गादिजन्यबोधस्य द्वितीयादिभङ्गजन्यशाब्दबोधे हेतुत्वाच्चेति।" अत्र केचिदाचार्यास्तृतीयचतुर्थभङ्गयोर्व्यत्यासमिच्छन्ति। अत एव पूज्यश्रीमद्वादिदेवसूरिभिः 'स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येवेति क्रमतो विधिनिषेधकल्पनया। तृतीयः ४-१७। स्यादवक्तव्यमेवेति युगपद्विधिनिषेधकल्पनया चतुर्थः। ४-१८। इति सूत्रद्वय तृतीयचतुर्थभङ्गप्रदर्शकं प्रणीतम्, न्यायाचार्यश्रीयशोविजयोपाध्यायैरपि पूर्णोत्तरात्मक महावाक्यं स्वरूपतस्तथैव प्रदर्शितम्। तथाहि—बीज स्यादङ्कुराऽक्षेपकार्येव। १। स्यादङ्कुराक्षेपकार्येव। २। स्यादुभयमेव। ३। स्यादवक्तव्यमेव। ४। स्यादङ्कुराऽक्षेपकार्येव स्यादवक्तव्यमेव। ५। स्यादङ्कुराक्षेपकार्येव स्यादवक्तव्यमेव। ६। स्यादङ्कुराऽक्षेपकार्येव स्यादङ्कुराक्षेपकार्येव स्यादवक्तव्यमेव च। ७। इति प्रमाणोत्तर युक्तमिति। अस्तित्वादिधर्मः स्वाभावसमानाधिकरणः स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगिभूतधर्मत्वात्, धर्मत्वाद्वा कपिसयोगवदित्यनुमानेनास्तित्वादान्याप्यवृत्तित्वसिद्धौ तदन्यथाऽनुपपत्त्याभ्युपगम्यमानशाखामूलात्मकभिन्नभिन्नावच्छेदकावच्छेदेनैकस्मिन् वृक्षे कपिसयोगतदभावयोरिव घटाद्येकैकवस्तुषु तत्तत्पर्यायार्पणया भिन्नभिन्ननिमित्तरूपावच्छेदकावच्छेदेन सत्त्वतदभावभेदाभेदनित्यत्वानित्यत्वादिमर्यधर्माणां सत्त्वेन निमित्तभेदापेक्षया तत्तदभावप्रतिपादनरूपकथञ्चिद्विरुद्धात्मा यस्स्याद्वादस्सोऽपि सप्तभङ्ग्यपेक्ष एव, नैकभङ्गापेक्षः, तेनैकस्यैव प्रकारस्य प्रतिपादनेन सप्तविधजिज्ञासाऽपूर्वेश्यान्त्वाकाङ्क्षात्वाभावात्। ननु "इय सप्तभङ्गी प्रतिभङ्ग सकलादेशस्वभावा विकलादेशस्वभावा च" ॥ ४३ ॥ इति प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारग्रन्थरचनादेकस्यापि भङ्गस्य विकलादेशत्ववत् सकलादेशत्वात्—

"कालात्मरूपसम्बन्धाः, संसर्गोपक्रिये तथा।
गुणिदेशार्थशब्दाश्चे,—त्यष्टौ कालादयस्स्मृताः ॥ १ ॥"

इति यथोक्तकालादिभिरष्टाभिर्द्वारैः पर्यायार्थिकनयसापेक्षद्रव्यार्थिकनयेनाऽभेदप्राधान्याद् द्रव्यार्थिकनयसापेक्षपर्यायार्थिकनयेनाभेदोपचाराद्वा यौगपद्येन प्रमाणप्रतिपन्नानन्तधर्मात्मकस्य वस्तुन एकधर्ममुखेन तदन्येषां सर्वेषां धर्माणां प्रतिपत्तिजनकत्वेनास्तित्वाद्यैकैकधर्मज्ञानेऽपि तद्धर्मद्वारा तदभिन्ननिखिलधर्मावबोध इति तद्घटकतया समग्रधर्मप्रतिपत्तिरन्येनापि भङ्गेन सञ्जातैवेति सप्तभङ्गकल्पनया किम्, तथापि तथाकल्पने आद्येन भङ्गेन यदेव प्रमाणप्रतिपन्नानन्तधर्मात्मकं वस्तु प्रतिपादनीय तदेव द्वितीयादिनेत्यैक्यात् पौनरुक्त्य स्यादिति चेत्, सत्यम्, तथापि भावार्थाऽनवबोधान्न युक्तम्, आद्यादिभङ्गेन स्वद्रव्यक्षेत्रादिनिमित्तापेक्षकास्तित्वादिमुखेन तदभिन्ननास्तित्वाद्यनन्तधर्मात्मकस्य वस्तुनः प्रतिपादनेऽपि परद्रव्यक्षेत्रादिनिमित्तापेक्षकनास्तित्वादिमुखेन तेनाऽप्रतिपादितस्यानन्तधर्मात्मकवस्तुनो द्वितीयादिभङ्गेन प्रतिपादनेन पौनरुक्त्याऽभावात्, तस्मादेकस्यापि भङ्गस्य वस्तुनि तत्प्रतिपाद्यैकधर्मद्वारा तदभिन्नतदितराशेषधर्मप्रतिपादकत्वेऽपि तत्रैतन्निमित्तापेक्षयाऽस्य धर्म

एतदपेक्षया चाय धर्म इति पृथग्विवेचन नैकभङ्गेनोपपादयितु शक्यम्, किन्तु सप्तभङ्ग्यैव
तदुक्त खण्डखाद्ये–' सकलादेशमहिम्नैकग्रहेऽपि सर्वग्रहात्, निमित्तभेदविवेचनस्य च सप्त
भङ्ग्यैवोपपत्तेरिति । ' अस्तित्वनास्तित्वादिधर्मकारणत्वतदभावयोरप्यव्याप्यवृत्तित्वमे
कस्या अपि कारणताया' केनापि रूपेण स्याद्वाद विना नियन्तुमशक्यत्वात्, स्याद्वादस्यै
काधिकरणवृत्तित्वतन्त्रप्रयोज्यभिन्नभिन्नतत्तदवच्छेदकावच्छिन्नतत्तदभावस्वीकारात्मैव,
चात्र विरोध, अपेक्षाभेदेन तत्तदभावाभ्युपगमात्, तथापि तत्त्वे एकस्मिन्नेव वृक्षे शाख
मूलावच्छिन्नकपिसयोगतदभावाभ्युपगमस्येदमेतदपेक्षया ह्रस्वमेतदपेक्षया च महदि
प्रतीतिसिद्धैकाधिकरणवृत्तिभिन्नापेक्षकह्रस्वत्वदीर्घत्वाभ्युपगमस्य च विरोधदोषदुष्टत्व स्यात्
किञ्च विरोधस्य किं लक्षणमिति वाच्यम्, तावदेकाधिकरणाऽवृत्तित्व तद्, एकसम्बन्धे
प्रतियोगिमत्यपि सम्बन्धान्तरावच्छिन्नप्रतियोगिताकतदभावस्य परैरपि स्वीकारेण तत्त
भावयोर्विरुद्धयोरप्यविरोधस्स्यात् । नापि येन सम्बन्धेन यस्य यदधिकरण तस्मिन्नधिकर
तत्सम्बन्धावच्छिन्नतन्निष्ठप्रतियोगिताकाभावस्यावृत्तित्व तत्, एकरूपेण तद्वत्यपि रूपान्तरे
तदभावस्य भावात् । नापि रूपविशेषस्योक्तविरोधलक्षणकोटौ निवेशेऽपि निस्तार', ते
रूपेण तेन सम्बन्धेन तद्वत्यपि कालान्तरे तेनैव रूपेण तेनैव सम्बन्धेन तदभावस्य भावात्
नापि कालविशेषस्य तत्र प्रवेशेऽपि निर्वाहः, वर्त्तमानकालावच्छेदेन प्रतियोगिमत्य
वर्त्तमानकालावच्छेदेनैव तदभावस्य देशभेदेन स्वीकारात्, तस्माद् यद्रूपेण यत्सम्बन्धे
यत्कालावच्छेदेन यद्देशावच्छेदेन यस्य यदधिकरणं तद्रूपावच्छिन्नतत्सम्बन्धावच्छिन्न
तन्निष्ठप्रतियोगिताकाभावस्य तत्कालावच्छेदेन तद्देशावच्छेदेन तस्मिन्नधिकरणेऽवृत्तित्व
मित्येव तस्य लक्षण वाच्यम्, तादृशलक्षणविरोधस्य भिन्नभिन्ननिमित्तरूपावच्छेदकाव
च्छेदेनास्तित्वनास्तित्वभेदाऽभेदादीनामेकत्र स्वीकृतौ न भवति सम्भावकाश' । अ
एव स्यादस्ति स्यान्नास्तीत्यादौ सर्वत्राविरोधद्योतनाय स्यात्पद प्रयुज्यते स्याद्वादतत्त्वज्ञै
तथा च कस्या अपि कारणतायास्स्याद्वादनियन्त्रितत्वे च सिद्धे सापि सप्तभङ्गीमुपादाये
सम्भवति, अत एव " सप्तभङ्गीविधिमारूढत्वेनार्थक्रियाकारित्वम् " इति प्राचीनोक्तिर
सङ्गच्छते । ननु कार्यकारणभावग्रहोऽन्वयव्यतिरेकाभ्या जायते, तौ च बीजत्वेन बीज
सत्त्वेऽङ्कुरत्वेनाऽङ्कुरभवन तदभावे तदभाव इत्येवरूपावेव, न च तौ कथञ्चिद्घटिताविति
कथ कारणतात्वव्यापकत्व स्याद्वादस्येति चेत्, मैवम्, यतो नैवमन्वयोऽभ्युपगमार्ह
तथा सति कुशूलस्थदशायामपि बीजमङ्कुरोत्पादक स्यात्, स्याच्च क्षेत्रस्थतादशाया यावद
ङ्कुरोत्पादक बीजम्, किन्तु स्वेतरसकलकारणसमवहितस्य बीजस्य कस्यचिद् बीजत्वेन
सत्त्वे कस्यचिदेवाङ्कुरस्याङ्कुरत्वेनोत्पादक बीजमित्येव स्वरूप, व्यतिरेकोऽपि तद्घटित
तदभावयोरेवेति कथ न कथञ्चिद् घटितत्व तयो', उक्तविशेषणस्यैव कथञ्चिद्रूपत्वात्,
उक्तान्वयव्यतिरेकगृहीतस्य यावत् किञ्चिद्बीज तावत्कथञ्चिद् यावदङ्कुरजनकम्, यावान्

कश्चिदङ्कुरस्तादात्म्यात् कथञ्चित् यावद्बीजजन्य इत्याद्याकारस्यैव कार्यकारणभावग्रहस्य स्याद्वादसंस्कृतात् ऊहप्रमाणात् सिद्धेः कारणतावच्छेदकत्व स्याद्वादस्य सिद्ध्यत्येव । ननु कारणं स्यात्कार्यकारणमित्येकेनैव भङ्गेन कारणत्वे कथञ्चित्त्वसिद्धौ किं तत्र सप्तभङ्गीकल्पनयेति चेत्, मैवम्, प्रथमभङ्गोक्तौ किं कारणं स्यादकार्यकारणं न वेत्यादि संशयोत्पत्तेस्तज्जिज्ञासा तत्प्रश्नद्वारा भङ्गान्तरप्रवृत्तेरावश्यकत्वेन नैकभङ्गमात्रेण निराकाङ्क्षप्रतिपत्तिर्जायते, किन्तु सप्तभङ्ग्यैव,तस्या एव पूर्णोत्तरत्वात्, यादृशेन बोधेन प्राश्निकस्याकाङ्क्षोपशाम्यति तादृशबोधस्यैव परिपूर्णबोधत्वेन तं प्रति जनकत्वात्, तदुक्तं खण्डखाद्ये–" यावति विचारे कश्चिद्विधिः पूर्यते तावत एव प्रमाणत्वादिति । एतेन सप्तभङ्गीजन्यबोधस्य तत्तदभावप्रकारकत्वात्संशयात्मकत्वं स्यादित्यारेकाऽपि निरस्ता, एकत्र धर्मिणि विरुद्धनानाधर्मप्रकारकं ज्ञानं संशय इति लक्षणे एकस्मिन्नेव वृक्षे विभिन्नावच्छेदेन कपिसंयोगतदभावप्रकारकज्ञानस्य प्रमात्मकस्य संशयत्वं मा प्रसाङ्क्षीदित्येतदर्थं विरुद्धेति नानाधर्मविशेषणं परेणापि स्वीक्रियत इति धर्मविशेषणतया संसर्गतया वा विरोधभानं संशये नियतमेव, विरोधभाने चाव्याप्यवृत्तित्वज्ञानं प्रतिबन्धकमिति तदभावः कार्यसहभावेन प्रतिबन्धकाभावविधया कारणम्, सप्तभङ्गीघटकस्यात्पदेन चानेकान्तार्थस्य द्योतकेन वाचकेन वाऽव्याप्यवृत्तित्वमेव धर्मेऽवभासत इति कार्यसहभावेन कारणीभूतस्याव्याप्यवृत्तित्वज्ञानाभावस्य प्रतिबन्धकाभावस्याभावादेव सप्तभङ्गीजन्यज्ञाने विरोधभानस्याभावे तन्नियतस्य संशयत्वस्याप्यनवकाशात् । अत एव शिरोमणिस्तु निपुणंमन्यः प्राह–स्यादिति तिङन्तप्रतिरूपको निपातोऽनेकान्तवाची, दिगम्बरा वस्तुनः सत्त्वासत्त्वानिर्वचनीयत्वानि अनिर्धारितानि प्रतिजानते, तथाहि–सप्तभङ्गीनामकं नयमाचक्षते, स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादवक्तव्यं, स्यादस्ति नास्ति च, स्यादस्ति चावक्तव्यश्च, स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च, स्यादस्तिनास्ति चावक्तव्यश्चेति, वस्तु सत्त्वाश्रय इत्यनिर्धारितम्, तथाऽसत्त्वाश्रय इति, अनिर्वचनीयत्वाश्रय इति, सत्त्वासत्त्वाश्रय इति, सत्त्वाऽनिर्वक्तव्यत्वाश्रय इति, असत्त्वाऽनिर्वक्तव्यत्वाश्रय इति, सत्त्वासत्त्वाऽनिर्वक्तव्यत्वाश्रय इति । एवं सप्तधाऽप्यनिर्धारितमित्यर्थः । तथा च स्यात्पदस्यानिर्धारणार्थत्वाद्विरोध्युभयगोचरज्ञानस्य संशयत्वेनाप्रमाणत्वाच्च सप्तभङ्गीनयो न प्रमाणमिति । इत्थं वदतश्शिरोमणेः स्याद्वादस्वरूपाऽनभिज्ञता प्रकटीकृता महोपाध्यायेन न्यायखण्डखाद्ये–" न ह्येकत्र नानाविरुद्धधर्मप्रतिपादकस्स्याद्वादः, किन्त्वपेक्षाभेदेन तदविरोधद्योतकस्यात्पदसमभिव्याहृतं वाक्यविशेषः स इति, द्योतिते च तदविरोधे संशयानवकाशस्यैवाऽभावात् कथं स्वहृदयगतमनवधारणमस्मास्वारोप्यते शिरोमणिना " इत्याद्युत्तरग्रन्थेन ॥ अयम्भावः—यद्यपीत्थमेवेति निश्चयस्तद्विरोधिधर्मान्तररूपत्वाभाव एव भवतीति नार्हन्मते तथानिश्चयस्सम्भवति, विरोधिधर्मान्तराभ्युपगमात् । तथा च सत्त्वमेवेति वा असत्त्वमेवेति वा अनिर्वचनीयमेवेति वा सदसदुभयरूपमेव वेत्यादि नार्हता निश्चिन्वन्तीत्यनिर्धारितत्वं सत्त्वादीनामित्येव नार्ह

न्मतम्, स्वद्रव्याद्यपेक्षया वस्तुनि सत्त्वमेव, नासत्त्वम्, परद्रव्याद्यपेक्षया चासत्त्वमेव, न सत्त्वम्, एककालावच्छिन्नस्वद्रव्यादिपरद्रव्याद्युभयनिमित्तापेक्षयाऽनिर्वचनीयमेव, न त्वेकैकरूपमित्येवमुत्तरभङ्गेऽपि तत्तन्निमित्तापेक्षया तत्तद्रूपमेव वाच्यमिति यन्निमित्तापेक्षया सत्त्वादि तन्निमित्तापेक्षया तद्विरोध्यसत्त्वादिरूपाऽभावेन तत्तन्निमित्तापेक्षयेदमित्थमेवेति निश्चयसद्भावेन सत्त्वादीनां निर्धारितरूपत्वेनैवाभ्युपगमात्, तथापि तत् अर्हन्मततयाऽभ्युपगम्य शिरोमणिना सत्त्वादीनामनिर्धारितत्वं प्ररूपितमिति तस्य सुस्पष्ट एवान्ध्यमेवेति। एतेन सप्तभङ्ग्यादिखण्डनपरं " नैकस्मिन्नसम्भवात् ॥ २ । २ । ३३ ॥ इति शारीरकमीमांसा सूत्रमपि निरस्तम्, तदुक्तिप्रत्युक्तीनां पूर्वोक्तसाम्यात्, यथैकस्मिन् वस्तुन्यस्तित्वधर्मविषयकपर्यनुयोगवशादविरोधेन व्यस्तसमस्तविधिनिषेधकल्पनया स्यात्पदलाञ्छितसप्तधर्मप्रकारवाक्प्रयोगलक्षणसप्तभङ्गी प्रदर्शिता तथैव तदन्यभेदनित्यत्वाद्येकैकधर्मापेक्षयाऽपि सप्तभङ्गी ज्ञेया, एवञ्च वस्तुनोऽनन्तधर्मात्मकत्वेन तदपेक्षया सप्तभङ्गीनामानन्त्यं यदायातं तदप्यभीष्टमेवार्हतैः। एतेनैकस्मिन् वस्तुनि विधीयमाननिषिध्यमानानन्तधर्मात्मकत्वेन तदपेक्षयाऽनन्तभङ्गप्रसक्त्या सप्तभङ्गीति वचो न युक्तमित्यारेकाऽपि निरस्ता, यत एकैकपर्यायमाश्रित्य वस्तुनि विधिनिषेधकल्पनाभ्यां व्यस्तसमस्ताभ्यां सप्तैव भङ्गाःसम्भवन्ति, एवंविधाःसप्तभङ्गाश्च अनन्ताः प्रतिपर्यायं सप्तभङ्गीभावात् पर्यायाणाञ्चैकवस्तुन्यनन्तत्वादिति, यदुक्तं तार्किकवादिदेवसूरिभिः—" एकत्र वस्तुनि विधीयमाननिषिध्यमानानन्तधर्माभ्युपगमेनानन्तभङ्गीप्रसङ्गादसङ्गतैव सप्तभङ्गीति न चेतसि निधेयम् ॥ ४ । ३७ ॥ विधिनिषेधप्रकारापेक्षया प्रतिपर्यायं, वस्तुन्यनन्तानामपि सप्तभङ्गीनामेव सम्भवात् ॥ ४ । ३८ ॥ इति। एतेन स्यात्पदमनेकान्तवाचकमिति स्यात्सन् घटः स्यादसन् घट इत्यादिसप्तभङ्गी वचनमनर्थकम्, स्यात्सन् घट इत्येकभङ्ग उक्तेऽपि तदुपदर्शकस्यात्पदादेव सत्त्वासत्त्वादिधर्मसप्तकप्रत्यवलक्षस्यापि स्याच्छब्दार्थकुक्षिप्रविष्टत्वात्तद्बोधोपपत्तेरित्यप्यारेका निरस्ता, सामान्यतोऽनेकान्तस्य प्रतिपत्तावपि विशेषार्थिना विशेषस्यानुप्रयोगात्, वृक्षो न्यग्रोध इति वचनवत्। अयम्भावः स्यात्पदादनेकान्तपदाद्वा एकान्तबुद्धिविलक्षणबुद्धिविशेषविषयतावच्छेदकत्वेनैवानन्तधर्मान्तर्गतसप्तधर्मबोधेऽपि प्रातिस्विकरूपेण तद्बोधनार्थं विशेषप्रयोगोऽवश्यमाश्रयणीयः। यथा वृक्ष इत्युक्ते वृक्षत्वेन न्यग्रोधबोधेऽपि न्यग्रोधत्वेन तद्बोधार्थं विशेषप्रयोग आश्रीयते तथा प्रकृतेऽपि। स्यात्पदस्यानेकान्तत्वद्योतकत्वपक्षे तु न्यायप्राप्त सदसदादिवचनम्, सदसदादिशब्दोक्तस्य स्वरूपपररूपचतुष्टयादिना सत्त्वासत्त्वादिविशिष्ट वस्तुनस्स्याच्छब्देन द्योतनादिति ग्रन्थगौरवभीत्या नाधिकं वितन्यते ॥ ४० ॥

अथोक्तसप्तभङ्ग्या केन नयेन को भङ्ग इति जिज्ञासया शिष्येण ... मति यस्य यस्य भङ्गस्य मूलभूतो यो ... अधि... त्तया सूरिराह—

एव सत्तवियप्पो, वयणपहो होइ अत्थपज्जाए।
वंजणपज्जाए पुण, सवियप्पो णिव्वियप्पो य (उ) ॥ ४१ ॥

'एव' उक्तप्रकारेण, 'सत्तवियप्पो' सप्तविकल्पः सप्तभेदः, 'वयणपहो' वचनपथो वचनमार्गः, 'होइ अत्थपज्जाए' भवत्यर्थपर्याये विषयस्य विषयिणि लक्षणया तद्ग्राहिण्यर्थे नये सङ्ग्रहव्यवहारर्जुसूत्रलक्षणे। सप्ताप्यनन्तरोक्ता भङ्गा अर्थनये भवन्तीति भावः। तत्र प्रथमो भङ्गः सङ्ग्रहे सामान्यग्राहिणि, द्वितीयो भङ्गो व्यवहारे विशेषग्राहिणि, तृतीयभङ्गस्तु ऋजुसूत्रे सूक्ष्मवर्त्तमानक्षणग्राहिणि, एकदोभयार्पणाया वर्त्तमानक्षणनियतत्वात्, चतुर्थः सङ्ग्रहव्यवहारयोः, पञ्चमः सङ्ग्रहर्जुसूत्रयोः, षष्ठो व्यवहारर्जुसूत्रयोः, सप्तमः सङ्ग्रहव्यवहारर्जुसूत्रेषु। वस्त्वेकांशग्राही नय इत्येकैकधर्मविषयकैनैकैकनयेनैकैकधर्मप्रतिपादकाद्यभङ्गत्रय प्रवृत्तिः। धर्मद्वयस्य नयद्वयविषयत्वाद्द्विविषयकेण नयद्वयेन भङ्गद्वयसंयोगोत्था धर्मद्वयप्रतिपादकाश्चतुर्थपञ्चमषष्ठभङ्गाः प्रवृत्ताः, सप्तमभङ्गस्त्वाद्यभङ्गत्रयसंयोगोत्थो धर्मत्रय प्रतिपादक इति धर्मत्रयस्य नयत्रयविषयत्वात्तद्विषयकेण नयत्रयेण स प्रवृत्त', तथाहि—अर्थनयानाश्रित्य विचारे कर्त्तव्ये अस्तित्वस्य सामान्यस्य सङ्ग्रहविषयत्वेन तत्प्रतिपादको भङ्ग० सङ्ग्रहनयात्प्रवर्त्तते, सामान्यरूपस्यास्तित्वस्य विशेषग्राहिव्यवहारनयाऽविषयत्वेन तत्प्रतिपक्षभूत नास्तित्व व्यवहारनयविषय इत्यतो नास्तित्वप्रतिपादको द्वितीयभङ्गस्तस्मात्प्रवर्त्तते, अवक्तव्यत्वप्रतिपादकस्तु तृतीयो भङ्ग ऋजुसूत्रनयात्प्रवर्त्तते, यतस्सङ्ग्रहव्यवहारौ न युगपदस्तित्वनास्तित्वे आदिशतः, अस्तित्वस्य सङ्ग्रहविषयत्वेऽपि नास्तित्वस्य तदविषयत्वेन तस्य स्वानभिमतस्यादेशे एव नास्तित्वस्य व्यवहारविषयत्वेऽप्यस्तित्वस्य तदविषयत्वेन तस्य स्वानभिमतस्यादेशेऽनिष्टसाधनत्वप्रतिसन्धानात्, ऋजुसूत्रस्तु युगपदस्तित्वनास्तित्वे आदेष्टुमर्हति। यद्यपि परमार्थतोऽस्तित्वनास्तित्वे परमार्थतो वर्त्तमानक्षणमात्रवर्त्यर्थावगाहिन ऋजुसूत्रस्य न विषयौ तथापि तन्मते सावृत्तत्वेन रूपेण ते तद्विषयतां गच्छत एव, कल्पितेनापि रूपेण युगपदादिष्टयोस्तयोरवक्तव्यत्वप्रतिपादको भङ्गः पारमार्थिक एव, विषयस्याबाधितत्वात्, यथा धूमत्वेनारोपिताद् धूलिपटलाल्लिङ्गाद् पारमार्थिकादपि वस्तुगत्या वह्निमति देशे वह्न्यनुमितिरबाधितविषयकत्वात्पारमार्थिकी। क्रमार्पितास्तित्वनास्तित्वप्रतिपादकश्च चतुर्थभङ्ग' सङ्ग्रहविषयस्यास्तित्वस्य व्यवहारनयविषयस्य नास्तित्वस्य च प्रतिपादकत्वाचाभ्यांप्रवर्त्तते। एव सङ्ग्रहविषयस्यास्तित्वस्यर्जुसूत्रविषयस्य चावक्तव्यत्वस्य प्रतिपादकत्वाचाभ्यां पञ्चमभङ्गः प्रवर्त्तते। तथैव व्यवहारनयविषयस्य नास्तित्वस्यर्जुसूत्रविषयस्य चावक्तव्यत्वस्याभिधायित्वाचाभ्यां षष्ठभङ्ग उत्तिष्ठते, सप्तमभङ्गश्च सङ्ग्रहविषयस्यास्तित्वस्य व्यवहारविषयस्य नास्तित्वस्यर्जुसूत्रविषयस्य चाऽवक्तव्यत्वस्य प्रतिपादकत्वाचैरुद्भवतीति। अत्र यद्धर्मप्रकारकमङ्ग्रहाख्यबोधः प्रथमभङ्गफलत्वेनाभिमतस्तद्धर्माभावप्रकारको व्यवहाराख्यो बोध एव द्वितीयभङ्गफलत्वेनैष्टव्यः,

अत एव स्याद् घट इति प्रथमभङ्गफलत्वेन घटत्वप्रकारकव्यवहाराख्यो बोधोऽभिमत इति घटत्वाभावप्रकारको व्यवहाराख्यो बोध स्यादघट इति द्वितीयभङ्गफलतया ज्ञातव्य., तेन घटत्वलक्षणसामान्यविषयकमुद्रहनीलघटत्वलक्षणविशेषविषयकव्यवहाराभ्या 'स्याद् घट स्यान्नीलः' इत्याकारको यौ प्रथमद्वितीयभङ्गौ तद्घटितसप्तभङ्गीप्रवृत्तिर्न सम्भवति, न वा सामान्यमेकमाश्रित्यैकवचनमिति तद्विषयकम्भङ्गद्व, अनेकान् विशेषान् समाश्रित्य बहुवचनमिति तद्विषयको व्यवहार इति ताभ्यां 'स्याद्घटः स्याद्घटा.' इत्येव रीत्याऽपि भङ्गान्तरवृद्ध्याऽष्टभङ्ग्यादिप्रवृत्तिरपि सम्भवतीत्यवधेयम्। शब्दनयानाश्रित्य विचारोपदर्शनार्थं सूत्रार्द्धमाह—'वजणपज्जाए पुण' व्यञ्जनपर्याये पुनः, विषयस्य विषयिणि लक्षणया शब्दनये पुनः 'सवियप्पो' सविकल्पः, साम्प्रताख्याद्यभेदात्मकशब्दनये पर्यायशब्दवाच्यता विकल्पसद्भावेऽप्यर्थस्यैकत्वात्। अयम्भाव —घटकुटविपकुम्भकलशादिपर्यायशब्दभेदेऽपि घटरूपस्यार्थस्य न भेद इति सञ्ज्ञाभेदेऽप्यर्थाऽभेदाभ्युपगन्तरि तस्मिन्नये सविकल्पः, तन्नये घटवाचकस्यावत्पर्यायशब्दवाच्यत्वावच्छिन्न एको घटोऽस्त्येवेति प्रथमभङ्गस्यास्तित्व सामान्याभिधायकस्य प्रवृत्तिभावात्, पर्यायशब्दवाच्यताविकल्पसद्भावाच्च। समभिरूढैवम्भूताख्यद्वितीयतृतीयभेदात्मकशब्दनये 'णिव्वियप्पो य' निर्विकल्पश्च, द्रव्यार्थात्मसामान्यलक्षणान्निर्गतस्य पर्यायरूपस्य विकल्पस्याभिधायकत्वादुक्तद्वितीयभेदयो, तथाहि समभिरूढस्य मते घटशब्दस्य योऽर्थः स न कुम्भकलशादिशब्दानां, किन्तु व्युत्पत्तिनिमित्तभेदेन भिन्नभिन्न एवार्थः, सञ्ज्ञाभेदनियतार्थभेदाभ्युपगन्तृत्व समभिरूढत्वमिति लक्षणस्य सैद्धान्तिकैरुक्तत्वात्तेन नयेन सञ्ज्ञाभेदेनार्थभेदस्याभ्युपगमेन यत्र सञ्ज्ञाभेदस्तत्र व्युत्पत्तिनिमित्तक्रियाभेदप्रयोज्यार्थभेदस्यावश्यम्भावात्। अत्रेदमवधेयम्–शब्दविषये शास्त्रे व्युत्पत्तिपक्षोऽव्युत्पत्तिपक्षश्चेति पक्षद्वयमुररीकृतम्, अव्युत्पत्तिपक्षे सर्वे शब्दा सिद्धा एव, नैषा व्युत्पादनाय शब्दशास्त्ररूपप्रयास आश्रयणीयो भवति। व्युत्पत्तिपक्षे तु सर्वे शब्दा धातुना व्युत्पादनीया', अतस्सङ्क्षेपेण तेषां व्युत्पत्तिसाधनाय व्याकरणनिरुक्तादिक प्रवृत्तम्। अत एवाह–नाम च धातुजमाह निरुक्ते, व्याकरणे शकटस्य च तोकम्। यन्न विशेषपदार्थसमुत्थ, प्रत्ययतः प्रकृतेश्च तदूह्यम् ॥१॥ इति। अस्यायमर्थ.–निरुक्तनामके ग्रन्थे तद्रचयिता तथा स्वरचिते व्याकरणे शाकटायन सर्वाणि नामानि प्रातिपदिकानि धातुजानि तत्तद्धातुभि. प्रकृतिभूतैः तान् तान् प्रत्ययागमानुबन्धादीन् कल्पयित्वा व्युत्पादितानि भवन्तीत्याह। एवञ्च येषा नाम्ना निरुक्ते व्याकरणे च व्युत्पादन नास्ति तेषामपि नाम्नां व्युत्पादनमूहनीयमित्याशयेनाह–यन्नेत्यादि। यन्नाम निरुक्ते व्याकरणे च विशेषपदार्थेन प्रकृतिप्रत्ययविशेषेण समुत्थ व्युत्पादित नास्ति तत् प्रत्ययत' प्रत्ययविशेषकल्पनया प्रकृते. प्रकृतिविशेषकल्पनया अनुबन्धादिकल्पनया चोह्य व्युत्पाद्यम्, अत एव "उणादयो बहुल" इति सूत्र प्राणायि पाणिनिना। तदवदति चात्र।

"सञ्ज्ञासु धातुरूपाणि, प्रत्ययाश्च ततः परे ।
कार्याद् विद्यादनुबन्ध-मेतच्छास्त्रमुणादिषु ॥ १ ॥" इति ।

व्युत्पत्तिपक्षश्च समभिरूढनयाद्विनिर्गत इति तत्प्रकृतिभूतस्स नयो व्युत्पत्तिपक्षावलम्बी सर्वे शब्दाः क्रियानिमित्ताः, धातुजत्वात्, अत एव भिन्नार्थाः, निमित्तभेदाच्चार्थभेदो दृष्टः, छत्रिदण्ड्यादिवदित्यभ्युपगच्छति, एवञ्च तन्मते नैमित्तिक्येव सञ्ज्ञाऽभ्युपगता। हन्तैवं पारिभाषिकशब्दस्यानर्थकत्वमापन्नमिति चेदापन्नमेव, किं हन्तेति फूत्कारेण । तदुक्तं तत्त्वार्थे "पारिभाषिकी नार्थतत्त्वं ब्रवीति, यदृच्छामात्रप्रवृत्तत्वात्" इति । तथा च येषां नाम्नां व्युत्पत्तिः शास्त्रे विशेषरूपेण न प्रदर्शिता तेषामपि अर्थानुसारेण प्रकृतिभूतान् धातून् प्रत्ययांश्च तत्र कार्यानुसारेण अनुबन्धादींश्च कल्पयित्वा साधनं कर्त्तव्यम् । तदेवं पर्यायशब्दानामपि व्युत्पत्तिनिमित्तक्रियाभेदादवश्यमर्थभेद इत्यतो वर्त्तमाननाम्नि लिङ्गादिनाप्येकेनैव ध्वनिनाऽभिधीयमानोऽर्थस्समभिरूढनये सम्यगुक्तो भवति, नान्यथेति । एवम्भूतनयमतेऽपि यद्यपि तत्तत्क्रियालक्षणव्युत्पत्तिनिमित्तभेदान्नैमित्तिकेनाप्यर्थेन भिन्नेन भाव्यमिति घटकुटकुम्भादिशब्दा भिन्नार्था एव, घटनकुटनकुम्भनादिक्रियालक्षणव्युत्पत्तिनिमित्तभेदात्, तथापि यदा कदा घटनक्रियायामपि घट एव, यदा कदा कुटनक्रियायामपि कुट एवेति विवक्षितक्रियामुपलक्षणीकृत्य तस्यां सत्यामसत्यां वोपलक्षणविधया तद्विशिष्टं विवक्षितशब्दार्थमभ्युपगच्छति समभिरूढनयः, एवम्भूतनयस्तु ततोऽपि सूक्ष्मेक्षिकापर्यालोचनतत्पर इति नैनमभ्युपगच्छति, किन्तु व्युत्पत्तिनिमित्तीभूततत्तत्क्रियां विशेषणीकृत्यैव तत्सम्बन्धकाल एव तद्विशिष्टमर्थं विवक्षितशब्दाभिधेयं मनुते, न त्वन्यदेति विवक्षितशब्दव्युत्पत्तिनिमित्तक्रियापरिणतिकाल एव तद्वस्तु, न प्राक् पश्चाद्वा, तथाहि परमैश्वर्यानुभवनकाल एवेन्द्रः, अन्यदाऽनिन्द्रः, इन्द्रोपयोगकाल एव वोपयोगेन्द्रः, तत्क्षणानन्तरं तत्पूर्वं वाऽनिन्द्रः, पश्चात्तदुपरमात् पूर्वं तदभावात्, पूर्दारणकाले तदुपयोगे वा पुरन्दरः, अन्यदा पुरन्दरो न, प्रतिक्षणाविक्षणमित्वाद्वस्तुनः, यस्मिन् क्षणे योऽर्थोऽनाकारविज्ञानवादे ज्ञानार्थयोर्विषयविषयिभावसम्बन्धस्वीकाराद् बुद्धिविषयः साकारविज्ञानवादे विषयविषयिभावः सम्बन्धो न, किन्त्वाकाराकारिभावसम्बन्धोऽभ्युपगत इति तेन सम्बन्धेन विज्ञानगतत्वमर्थस्येति बुद्धिस्थो वा तस्मिन्नेव क्षणे ■ शब्दार्थ इति तेन नयेन शब्दव्युत्पत्तिप्रतिपाद्यक्रियाकाल एव शब्दवाच्योऽर्थोऽभ्युपगतः । न तु सर्वदा, अत एव पदवाच्यप्रवृत्तिनिमित्ताऽभिन्नव्युत्पत्तिनिमित्तक्रियाकालव्यापकपदार्थमवाऽभ्युपगमपर एवम्भूतनय इति मनीषिणस्तन्निष्कर्षमाहुः, तथा च घटो नाम घटवाचकपारत्पर्यायशब्दवाच्यः शब्दनये एकोऽस्येव, समभिरूढैवम्भूतयोर्नास्त्येवेति द्वौ भङ्गौ लभ्येते, लिङ्गसङ्ख्याकालकारकपुरुषादिभेदेन शब्दनयो भिन्नभिन्नक्रियाप्रवृत्तिनिमित्तकसञ्ज्ञाभेदेन समभिरूढश्च पूर्वोक्तप्रकारेण भिन्नकालावच्छिन्नक्रियाभेदेनैवम्भूतश्च भिन्नमर्थमभ्युपगच्छतीत्युक्तप्रकारेण भिन्नस्यार्थस्यैकशब्दावाच्य-

त्वाद्येषु त्रिषु नयेषु स्यादवक्तव्य इति तृतीय भङ्ग. । प्रथमद्वितीयभङ्गसंयोगे चतुर्थः, प्रथमद्वितीयचतुर्थेषु भङ्गेष्वेव चानभिधेयसंयोगे पञ्चमषष्ठसप्तमा वचनमार्गा भवन्ति, अथवा प्रदर्शितस्वरूपा सप्तभङ्गी सङ्ग्रह–व्यवहार–ऋजुसूत्रेष्वेवार्थनयेषु भवतीत्याह—' एव सत्तवियप्पो ' इत्यादि । 'एव सत्तवियप्पो ' पूर्वनीत्या सप्तविकल्पः सप्तभेदः "वयणपहो होइ अत्थपज्जाए" वचनपथः वचनमार्गो भवति अर्थपर्याये, विषयस्य विषयिणि लक्षणया अर्थनये ' वंजणपज्जाए उण " व्यञ्जनपर्यायेऽत्रापि विषयस्य विषयिणि लक्षणया शब्दनये साम्प्रतसमभिरूढैवम्भूताख्यनयत्रयात्मके पुनः " सवियप्पो णिव्वियप्पो य " सविकल्पो निर्विकल्पश्च, आद्यद्वितीयावेव भङ्गौ भवत इति । एतदात्पर्यार्थश्चैवम्—अर्थनय एव सप्तभङ्गाः, शब्दादित्रिनयेषु त्वाद्यौ द्वावेव भङ्गौ, यो ह्यर्थमाश्रित्य अवक्तव्य सङ्ग्रह-व्यवहार ऋजुसूत्राख्यो मति ज्ञानात्मकः प्रत्ययः प्रादुर्भवति सोऽर्थनय , अर्थवशेन तदुत्पत्तेः, अर्थप्ररूपणायां प्रवीणत्वे नार्थं प्रधानतयाऽसौ व्यवस्थापयति, शब्द तु स्वप्रभवमुपसर्जनतया व्यवस्थापयति, तत्प्रयोगस्य परार्थत्वात् । यस्तु श्रोतरि शब्दश्रवणादुद्गच्छति श॒ब्द–समभिरूढ–एवम्भूताख्य. प्रत्ययः श्रुतज्ञानात्मकः शब्दवाच्यार्थगोचर , तस्य शब्दः प्रधानम्, तद्वशेन तदुत्पत्तेः, अर्थस्तूपसर्जनम्, तदुत्पत्तावनिमित्तत्वात् स शब्दनय उच्यते, तत्र च वचनमार्गः सविकल्प–निर्विकल्पतया द्विविध , सविकल्प सामान्यम्, निर्विकल्पः पर्यायः, तदभिधानाद्वचनमपि तथा व्यपदिश्यते । तत्र शब्दस्सञ्ज्ञाभेदेऽप्यभिन्नमर्थमङ्गीकरोति, समभिरूढश्च तदानीं पूर्वं पश्चाद्वा व्युत्पत्तिनिमित्तक्रियापरिणतिभावेन निरधिगतार्थो निवक्षितशब्दवाच्य एवेति शब्दप्रतिपाद्यक्रियायां सत्यामसत्यामप्यभिन्नमर्थं प्रतिपादयतीति शब्दसमभिरूढाभिप्रायेण सविकल्पो वचनमार्गः प्रथमभङ्गरूपः, सञ्ज्ञाक्रियाभेदेनाभिन्नार्थप्रतिपादकत्वेऽपि भेदजिज्ञासारूपविकल्पसाहित्यात्, एवम्भूतस्तु कालभेदेन क्रियाभेदाद् भिन्नमेवार्थं विवक्षितशब्दस्य प्रतिपादयति, यतो यदा घटते तदैवासौ घट , न पुनरघटत घटिष्यते वा तदा घट इति व्यपदेष्टु युक्तः, सर्ववस्तूनां घटताप्रसङ्गात्, तस्य घटनसमयात्प्राक् पश्चाद्वा घटव्यपदेशभाजादयतीत्येतदपेक्षया निर्विकल्पो द्वितीयभङ्गरूपो वचनमार्गः । तदुत्तरभेदजिज्ञासारूपविकल्पविरहादिति भङ्गद्वयमेवावतिष्ठते, अवक्तव्यभङ्गस्तु व्यञ्जननये न सम्भवत्येव, यतः शब्दश्रवणोद्भूतश्रोत्रभिप्रायो व्यञ्जननयः, स च शब्दश्रवणादर्थं प्रतिपद्यते, न शब्दाऽश्रवणात्, अवक्तव्य त्वेकशब्देनोभयधर्मोपरक्तवस्तुविवक्षायामेकेन केनापि श॒ब्दे नैकदा न वाच्यमिति शब्दाप्रतिपाद्यत्वात्साऽवक्तव्यभङ्गको व्यञ्जनपर्याये सम्भवतीत्यभिप्रायवता व्यञ्जनपर्याये तु सविकल्पनिर्विकल्पौ प्रथमद्वितीयावेव भङ्गावभिहितावाचार्येण । ' य ' शब्दस्य गाथायामेवकारार्थत्वादिति ।

॥ सप्तभङ्गीप्रकरण समाप्तम् ॥

धर्मं धर्ममपेक्ष्य वाक्यरचनाऽर्थेऽनन्तधर्मात्मके,
या प्रश्नैर्विधिपर्युदासभिदया सा सप्तधा नाष्टधा।
यद्धर्माः किल सप्त नाष्ट पुनरुक्तत्वात्यदोषोद्भवात्,
सन्देहा अपि सप्त तद्विषयका नैयत्यतस्तद्भवाः ॥ १ ॥
जिज्ञासा अपि सप्त तत्र तदनु प्रश्नाश्च सप्त प्रति
पाद्यानां प्रतिपादकप्रतिवचास्यत्रापि सप्तैव वै।
इत्थं सागमयुक्तितो मितिनयापेक्षा प्रमात्वं गता,
तद्गर्भा प्रभुभारती विजयतां या श्रोतृवाक्शुद्धिदा ॥ २ ॥ युग्मम् ॥

अथ गजनिमीलिकान्यायेनेतरांशौदासीन्येनैकांशावगाहिसङ्ग्रहाद्येकैकद्वित्रिनयाधीनप्रवृत्तिकसप्तभङ्गीस्वरूपं प्रतिपाद्य सप्तभङ्गीप्रवर्तकसङ्ग्रहादिनयमूलभूतद्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकयोर्मध्ये एकान्तपर्यायार्थिकनयवादं प्रदर्श्य तत्राप्रामाण्यं प्रदर्शयितुमाह—

जह दवियमप्पियं तं, तहेव अत्थित्ति पज्जवणयस्स।
ण य स समयपन्नवणा, पज्जवणयमेत्तपडिपुण्णा ॥ ४२ ॥

यदर्थक्रियाकारि तदेव सत्, अर्थक्रियाकारि च वर्त्तमानक्षणवर्त्येव वस्त्विति तदेव सत्, तद्विषयिकैव प्रतीतिः प्रमात्मिकेति तया कारणभूतया 'जह दवियमप्पियं' यथा वर्त्तमानक्षणसम्बन्धित्वप्रकारेण, अग्रे तच्छब्दोपादानाद् यत्तदोर्नित्यसम्बन्धाद् यदित्यध्याहृत्य यद्द्रव्यमर्पितं प्रतिपादयितुमभीष्टं 'तं तहेव अत्थित्ति' तत्तथैवास्ति तद्द्रव्यं वर्त्तमानक्षणसम्बन्धित्वप्रकारेणैवास्ति, सत्स्वरूपतां बिभर्त्ति, नातीतानागतकालसम्बन्धित्वप्रकारेण, अतीतानागतकालसम्बन्धिनोर्विनष्टानुत्पन्नत्वेनासद्रूपत्वादिति 'पज्जवणयस्स' पर्यायार्थिकनयस्य पर्यायार्थिकनयवादस्य एतदनन्तरं "अभिप्रायः" इति शेषः, एतदेकान्तपर्यायार्थिकनयवादमन्तव्यं श्रोतृगतयथार्थप्रतीत्यऽजनकत्वान्नैव प्रमाणमिति ज्ञापनायानेकान्तवादी उत्तरार्द्धमाह—'ण य स समयपण्णवणा पज्जवणयमेत्तपडिपुण्णा' न च स समयप्रज्ञापना पर्यायनयमात्रप्रतिपूर्णा, न इति प्रतिषेधे, तच्छब्दस्य पूर्वपरामर्शकत्वात् स इत्यनेन पूर्वव्यावर्णितस्वरूपैकान्तपर्यायार्थिकनयवादः परामृश्यते, समयः सम्यग् ईयते परिच्छिद्यत इति समयः, अर्थः, तस्य प्रज्ञापना प्रकर्षेण असंदिग्धाऽविपर्यस्तस्वरूपत्वेन ज्ञाप्यन्ते बोध्यन्ते श्रोतृबुद्धावर्था विषयीक्रियन्तेऽनया सा प्रज्ञापना, श्रोतृगतप्रमात्मकाऽर्थबोधजनिका प्ररूपणेति यावत्, एवम्भूता सा 'पज्जवणयमेत्तपडिपुण्णा' पर्यायनयमात्रप्रतिपूर्णा, अत्र मात्रपदस्येतरवारकत्वाद्द्रव्यनयनिरपेक्षे केवले पर्यायनये प्रतिपूर्णा पुष्कला, "सर्वं वाक्यं क्रियया परिसमाप्यते" इति वचनादध्याहृतायां 'सम्पद्यते' इति क्रियाया पूर्वोक्तनञोऽन्वयात् सम्पद्यते, न स पूर्वोक्तवादः श्रोतृगतसम्यगर्थप्रत्ययं कर्तुं शक्नोतीति न स ,यथा-

स्थितवस्तुस्वरूपप्ररूपणात्मक इति यावत्। एकान्तपर्यायनयप्रतिपाद्यैकान्तक्षणिकतत्त्वस्य यत्र मे हर्षः प्रागभूत्तत्रैव विषादो द्वेषो भयादिर्वा वर्तते, अहमेव पूर्वं हर्षवानासम्, सम्प्रति विषादादिमान् वर्ते नान्य इत्येवं हर्षविषादादिविचित्रप्रतिपत्त्या हर्षविषादादिपर्यायपूर्वोत्तरीकृतचत्पर्यायानुगतात्मद्रव्याभ्यां भेदसवलिताभेदविषयिकया बाधितत्वादिति। यद्वा 'स' इति एकान्तपर्यायार्थिकनयवादः परामृश्यते, तस्याऽप्रमाणत्वे हेतुमाह–"ण य समयपण्णवणा पज्जवणयमेत्तपडिपुण्णा" यतः समयप्रज्ञापना पर्यायनयमात्रप्रतिपूर्णा न च सम्पद्यते, सर्वं वाक्यं क्रियया परिसमाप्यत इति न्यायादध्याहृतायां सम्पद्यत इति क्रियाया पूर्वोक्तनञोऽभिसम्बन्धादित्यन्वयः, समयप्रज्ञापनेति–समयः सम्यग् ईयते परिच्छिद्यत इति समयः–अर्थः, प्रज्ञापना–प्रकर्षेणासदिग्धाविपर्यस्तस्वरूपेण ज्ञापना प्रज्ञापना यथार्थप्रत्यायनेतियावत्, समयस्य प्रज्ञापना समयप्रज्ञापना, पर्यायनयमात्रप्रतिपूर्णेति–अत्र मात्रपदस्येतरवारकत्वाद् द्रव्यार्थिकनयनिरपेक्षे केवले पर्यायार्थिकनये प्रतिपूर्णा सम्पूर्णेत्यर्थः। तथा चैकान्तपर्यायार्थिकनयवादो न प्रमाणात्मकः प्रतिपूर्णसमयप्रज्ञापनाऽनात्मकत्वात् एकान्तद्रव्यार्थिकनयवादवदित्यनुमानेन तत्राप्रामाण्यं सिद्ध्यति। न चात्र हेतोरसिद्ध्या न तत्सिद्धिरिति वाच्यम्, एकान्तपर्यायार्थिकनयवादः सम्यगर्थप्रत्ययजनकयथार्थप्ररूपणात्मको न, अध्यक्षबाधितैकान्ततत्त्वप्रतिपादकत्वात्, एकान्तद्रव्यार्थिकनयवादवदित्यनुमानेन तादृशप्ररूपणात्मकत्वाभावसिद्ध्या पूर्वोक्तहेतुसिद्धितः प्रामाण्याभावसिद्धेरिति भावः ॥ ४२ ॥

अथैकान्तपर्यायार्थिकनयवाद इवैकान्तद्रव्यार्थिकनयवादोऽपि सम्यगर्थानुभवज्ञानाजनकत्वसाम्यान्न प्रमाणार्ह इत्युपदर्शयितु प्राक्तदभिप्रायमाह—

पडिपुण्णजोव्वणगुणो, जह लज्जइ बालभावचरिएण।
कुणइ य गुणपणिहाणं, अणागयसुहोवहाणत्थं ॥ ४३ ॥

'पडिपुण्णजोव्वणगुणो' यौवनमेव गुणो यौवनगुणः प्रतिपूर्णः सम्पूर्णतां गतो यौवनगुणो यस्य स एवंविधः पुरुषः सद्गुरूपान्ते सद्धर्मश्रवणे जागृतविवेकः 'लज्जइ' लज्जते त्रपते, केनेति करणाकाङ्क्षायामाह 'बालभावचरिएण' बालभावचरितेन बालभावे बाल्यावस्थायां चरितेन, चौर्यपरदारगमनादिकमतिनिन्द्यं कृत्यमशुभकर्मवशीभूतोऽहं दुर्जनसङ्गत्या कृतवानिति स्मृतिविषयतां गतेन। अतो य एव बाल आसीत् स एव युवा, 'अहमेव पूर्वं चौर्याद्यनुष्ठितवान्' इति लज्जानिबन्धनाभेदप्रत्यभिज्ञानाद् बालयूनोरभेदसिद्धेः, 'जह' यथा इत्युदाहरणार्थो गाथायामुपन्यस्तः, ततो यथाऽतीतवर्तमानयोरेकत्वं साधितं, तथाऽनागतवर्तमानयोरेकत्वं साधयितुमुत्तरार्द्धमाह–'कुणइ य गुणपणिहाणं' चः पुनरर्थे, करोति गुणेषु धर्मविषयोत्साहवैराग्यादिषु प्रणिधानं मनोवाक्कायैकाग्र्यम्, तत्किमर्थमित्यत आह–'अणागयसुहोवहाणत्थं' अनागतं भावि यत्सुखं तस्योपधानार्थं प्राप्त्य

र्थम्, प्रणिधान हि भाविसुखैककारण कृतिसाध्यश्चेतीष्टसाधनत्वज्ञानात्कृतिसाध्यत्वज्ञानाच्च भाविसुखप्राप्त्यर्थं प्रणिधानानुकूलकृतिमान् भवति, तथा च य एव प्रणिधानकर्त्ता स एव भाविसुखप्राप्तिमानित्यभेदप्रतिसन्धानाद्वर्त्तमानानागतयोरैक्य सिद्धमिति ॥ ४३ ॥

कालत्रयावच्छिन्नाभिन्नवस्तुप्रतिपादिकामेकान्तद्रव्यार्थिकनयमतप्ररूपणां प्रदर्श्य सा, ऽपि न यथावस्थितार्थानुभवज्ञानजनिकेति न परिपूर्णेति प्रतिपादयितुमाह—

ण य होइ जोव्वणत्थो, बालो अन्नो वि लज्जइ ण तेण ।
ण वि य अणागयवयगुण–पसाहण जुज्जइ विभत्ते ॥ ४४ ॥

'ण य होइ जोवणत्थो बालो' न च भवति यौवनस्थो बालः, बाल एव यूनो भावो यौवन तस्मिन् तिष्ठतीति यौवनस्थो न च भवति, किन्तु कथञ्चित्ततो भिन्न एव स भवति, अन्यथा "अयमिदानीं युवा, न बालः" इति भेदप्रतिभासोऽप्रामाणिकस्स्यात्, न च बालस्वभावाऽपरित्यागे युवस्वभावपरिग्रहोऽपि सम्भवति, उत्तरस्वभावे पूर्वस्वभावपरित्यागस्य हेतुत्वात्, एतेन प्राप्तयौवनगुणः पुरुषो बालभावसदृचारमीयानुष्ठानस्मरणा छ्छज्जत इत्यतो बाल एव युवा, न तु ततो भिन्नस्स इति बालयूनोः पूर्वोक्तैकान्ताऽभेदो निरस्तः, नन्वेन तर्हि युवत्वकाले यूनि बालत्वावच्छिन्नप्रतियोगिकभेद एवैकान्तोऽस्तु 'इदानीं युवा न बाल इति प्रतीते.' इत्याशङ्कायामाह–"अन्नो वि लज्जइ ण तेण" अन्योऽपि लज्जते न तेन बालचरितेन, पुरुषान्तरवत्, अयम्भावः—बालयूनोरेकान्तभेदश्चेत्तर्हि बालावस्थायामनुष्ठितदुराचरणः पुमान् पूर्वमहमस्पृश्यगोचरसस्पर्शादिव्यवहार कृतवानिति स्मरणतः तरुणावस्थायां लज्जां न प्राप्नुयात्, पुरुषान्तरवत्, लज्जा च प्राप्नोति, तस्माद्यौवनस्थः पुरुषः कथञ्चिद्बालादनन्योऽपीत्यभ्युपगन्तव्यम्, ननु केन रूपेण बालयूनोः स्याद्भेदस्स्यादभेदश्चेति चेत्, उच्यते, बालत्वेन युवत्वेन भेद., इदानीं युवाऽह न बाल इति तत्तदवस्थाभेदप्रतीतेः, य एवाह बालोऽभव स एवाह साम्प्रत युवाऽस्मि' इति तत्तदवस्थानुगतात्माऽभेदप्रत्यभिज्ञानादात्मत्वेन रूपेण चाभेद इति जानीहि, बालयुवाद्यवस्थाऽनुगतधर्म्यनभ्युपगमे तु बालयुवाद्यवस्थाया अप्यभावप्रसङ्गस्स्यात्, धर्म्यभावे तद्धर्माणामप्यसत्वात्, न हि सर्पाद्यभावे कुण्डलाद्यवस्थायास्सम्भवोऽस्तीति । यत्तु आत्मा बालाद्यवस्थाभेदान्न निवर्त्तते, भिद्यते वा, नित्यैकरूपत्वात्तस्य, अपि तु बालाद्याः शरीरस्यैव नानाविधावस्था इति शरीरमेव तत्तदवस्थाभेदेन निवर्त्तते भिद्यते वा, परिमाणभेदेन तद्वच्छरीरभेदादिति नैयायिकादीना मतम्, तदप्यसत्, 'अह बालः अह युवा' इत्यादि प्रतीत्या बालत्वाद्यवस्थानामहन्त्वसामानाधिकरण्यस्य सिद्धेरात्मन एव बालत्वाद्यवस्थाः, न तु शरीरस्य, प्राग् 'बालोऽहमासम्, इदानीं युवास्मि' इत्याद्यनुभवादहतास्पदस्यात्मनोऽनुगतात्मत्वस्वरूपेणाभिन्नस्यापि तदीयबाल्ययौवनाद्यनुगतावस्थाभेदेन भिन्नत्वात्, अत

एव पूर्वावस्थारूपेण विनाशेनोत्तरावस्थारूपेणोत्पादेनात्मत्वेन रूपेण ध्रौव्येण च विनाशोत्पादध्रौव्यात्मकस्य तस्य सिद्धिः। न च गौरोऽहमित्यादिप्रतीतौ गौरत्वांशे भ्रान्तत्वमिव बालोऽहमित्यादिप्रतीतौ बालत्वांशे भ्रान्तत्वमेवेति वाच्यम्, तत्र भ्रान्तत्वकल्पनाया बीजाभावात्। आत्मन्येव बाल्यादितत्तदवस्थानामबाधितानुभवसिद्धत्वात्, यत आत्मनश्शरीरपरिमाणनियतपरिमाणत्वतया पूर्वं व्यवस्थापितत्वेनाहारादिपुद्गलोपचयापचयप्रयोज्यशरीरपरिमाणभेदे शरीरसंयुक्तात्मपरिमाणभेदोऽप्यवश्यमावी, परिमाणभेदे च तद्वतोऽपि कथञ्चिद्भेदः, स एव च बाल्याद्यवस्थात्मकः, तत्तत्परिमाणावच्छिन्नात्मन एव बाल्ययुवत्वाद्यवस्थारूपत्वात्, गौरोऽहमिति प्रतीतिरपि दृष्टान्तीकृता न गौरत्वांशे भ्रान्ता, आमवक्षय कथञ्चिन्मिथः प्रदेशानुप्रविष्टशरीरात्मनोः कथञ्चिदभेदेन तदाश्रितरूपादिशानादीनामन्योन्यानुप्रवेशेनात्मन्यपि कथञ्चिद् गौरत्वस्य सत्त्वात्। ननु स्वस्वभावतो नीरूपे आत्मनि गौरत्वस्य शरीरसम्बन्धोपाधिप्रयुक्तत्वात्तदंशे सा प्रतीतिः काल्पनिक्येवेति चेत्, तर्हि कुण्डलित्वस्य कुण्डलसम्बन्धोपाधिप्रयुक्तत्वात् कुण्डली चैत्र इति प्रतीतिरपि तदंशे प्रामाणिकी न स्यात्। वस्तुतस्तु आत्मा नैकान्तनित्यः, पूर्वं तत्पक्षस्य निरस्तत्वात्, किन्तु कथञ्चिदेव, अत एवात्मनोऽसङ्ख्येयप्रदेशमयत्वेन तत्प्रदेशसङ्कोचविकाशाभ्यां शरीरपरिमाणवृद्धिहानिवच्छरीरसंयुक्तात्मपरिमाणस्यापि वृद्धिहानी इति सप्ताऽयोगोलके परस्परप्रदेशानुप्रविष्टवह्न्ययसोरिव मिथः प्रदेशानुपक्तशरीरात्मनोरप्येकलोलीभाव इति तद्रूपेण तत्त्वभिन्नस्याऽऽत्मनोऽपि बालाद्यवस्था अभ्युपगन्तव्या एव। एवञ्चातीतवर्तमानयोः कथञ्चिद्भेदाभेदसिद्धौ तद्वद्वर्तमानानागतयोरपि कथञ्चिद्भेदाभेदावेनाभ्युपगन्तव्याविति साधयितुमुत्तरार्द्धमाह 'ण वि य अणागयवयगुणपसाहण जुज्जइ विभत्ते' नाऽपि च अनागतवयोगुणप्रसाधन युज्यते अविभक्ते। अनागत वय. अनागतवयः तस्मिन्, भाविवृद्धावस्थायामित्यर्थः, गुणः सुखात्मकोऽनागतवयोगुणः, तस्य प्रसाधन कारणे कार्योपचारात् प्रसाधनार्थमुत्साहः, तथा च नापि चानागतवृद्धावस्थायां सुखप्रसाधनार्थमुत्साहो यौवनस्थस्य युज्यते, कस्मिन् सति इत्यत आह—'विभत्ते' अत्राकारप्रश्लेषादविभक्ते वर्तमानानागतयोरभेदे सति, अभेदपक्षे ह्यनागतवृद्धत्वावस्थाया अपि वर्तमानयुवत्वावस्थारूपत्वेन प्राप्तव्यसुखादेर्युवत्वावस्थायामेव प्राप्तत्वादिति। तस्मान्नाभेदैकरूप वस्तु, इदानीमय युवा न वृद्ध इत्याकारकभेदव्यवहृतिप्रतिभासबाधितत्वात्। नन्वेवन्तर्ह्येकान्तभेद एवास्त्वित्यारेकानिरासार्थं 'विभत्ते' इत्यस्य विभक्ते एकान्तभेदे इत्यप्यर्थोऽत्र कर्तव्यः, तथा च यूनि वृद्धस्यैकान्तभेदे प्राप्तव्यसुखार्थमुत्साहो न युज्येत, यन्नदत्तीयानागतसुखप्रसाधनार्थं देवदत्ते उत्साहादर्शनात्, एवञ्चातीतवर्तमानयोरिव वर्तमानानागतयोरप्यनुगतात्मत्वस्वरूपेणाभेदः, तत्तदवस्थाभेदेन च भेदोऽनुगतव्यावृत्तप्रतीतिसिद्ध इति कथञ्चिद्भेदाभेदात्मकमेव तत्त्वमभ्युपगन्तव्यम्, अन्यथा सकलव्यवहारोच्छेदप्रसक्तिस्स्यादिति ॥ ४४ ॥

एवं कथञ्चिद्भेदाभेदात्मकस्य पुरुषतत्त्वस्य यथा बालादिकालरूपातीतकालावच्छिन्नकृत चौर्याऽस्पृश्यस्पर्शक्रीडादिदोषनिन्दाऽनागतवृद्धावस्थाकालीनसुखप्रसाधनानुकूलोत्साहाभ्यां सम्बन्धस्तथैव कथञ्चिद्भेदाभेदात्मकस्य तस्य जात्यादिभिर्नीलादिभावैश्च सम्बन्ध इति दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकोपसंहारार्थमाह—

जाइ-कुल-रूव-लक्खण,-सण्णा-सम्बन्धओ अहिगयस्स ।
बालाइभावदिट्ठ,-विगयस्स जह तस्स सबंधो ॥ ४५ ॥

जाति-कुल-रूप-लक्षण-सञ्ज्ञा-सम्बन्धतोऽधिगतस्य, तत्र जातिः पुरुषत्वादिका, कुलं प्रतिनियतपुरुषजन्यत्वम्, रूपं चक्षुर्ग्राह्यत्वलक्षणम्, लक्षणं तिलकरेखादि सुखदुःखादिसूचकम्, सञ्ज्ञा प्रतिनियतशब्दाभिधेयत्वम्, एभिर्यः सम्बन्धस्तदात्मपरिणामः, 'सबंधओ' इत्यत्र सम्बन्धपदोत्तरं तृतीयार्थे तमिल्, तथा च जन्मत आरभ्य मरणपर्यन्ताऽवस्थायिभिर्जात्यादिभिर्यस्सम्बन्धः तेन, चक्षुषाऽधिगतो घट इत्यत्र यथा चक्षुराश्रित्य ज्ञातो घट इत्यर्थस्तथाऽत्रापि सम्बन्धमाश्रित्येत्यर्थः, 'अहिगयस्स' अधिगतस्य ज्ञातस्य, जात्यादिभिस्सर्वदा पुरुषस्य सम्बन्धभावाचदात्मकत्वेनाऽभिन्नावभासविषयस्य, यद्वा 'सबंधओ' अत्र तृतीयार्थे बहुत्ववाचकस्तमिल् प्रत्ययः, सम्बन्धश्चात्र जन्यजनकभावः, तथा च जाति कुलरूपलक्षणसञ्ज्ञासम्बन्धैः 'अहिगयस्स' अभेदप्रत्यभिज्ञानविषयस्य, जन्मादिमरणपर्यन्तं न कदापि जात्यादिस्वभावान् पुरुषः परिजहातीति तद्रूपैरभिन्नस्वभावस्येति यावत्। एतेनाभेदं प्रतिपाद्य भेदप्रतिपादनायोत्तरार्द्धमाह—'बालाइभावदिट्ठविगयस्स' इत्यादि, बालादिभावदृष्टविगतस्य, बालादिभावैर्दृष्टे प्रत्यक्षगोचरैर्विगतस्य ध्वस्तस्य पूर्वबालादिपर्यायेण ध्वंसे सति तस्यार्थान्तरभावगमनलक्षणतयाऽवश्यमुत्तरयुवादिपर्यायेणोत्पाद इति बालयुवादिभावैर्विनाशोत्पादात्मकस्य, पूर्वोक्तजात्यादिभिरभिन्नस्यापि बालयुवादितत्पर्यायरूपेण पुरुषस्य भेदप्रतीतेर्भिन्नस्वभावस्य 'जहा तस्स सबंधो' यथा तस्य पुरुषस्य सम्बन्ध उक्तप्रकारेण भेदाभेदपरिणतिरूपः, चाक्षुषाद्यध्यक्षतोऽनुगतव्यावृत्तस्वरूपतया भेदाभेदात्मकत्वप्रतीतेरिति ॥ ४५ ॥

आध्यात्मिकाध्यक्षतोऽपि तथाप्रतीतेस्तथाभूतमेव तद्वस्त्विति दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकोपसंहारद्वारेण प्रतिपादयन्नाह—

तेहिं अतीताणागय,-दोसगुणदुगंच्छणऽब्भुवगमेहिं ।
तह बंध-मोक्ख-सुह-दुक्खपत्थणा होइ जीवस्स ॥ ४६ ॥

'तेहिं' ताभ्याम्, 'अतीताणागयदोसगुणदुगच्छणऽब्भुवगमेहिं' अतीतानागतदोषगुणजुगुप्साऽभ्युपगमाभ्यां यथाऽतीतदोषजुगुप्साऽनागतगुणाभ्युपगमाभ्यां कथञ्चिद्भेदाभेदात्मकस्य पुरुषद्रव्यस्य सिद्धिः, तथा दार्ष्टान्तिकेऽपि "तह बंध-मोक्ख-सुह-

दुक्खपत्थणा होइ जीवस्स" बन्धमोक्षसुखदुःखप्रार्थना तत्साधनोपादानपरित्यागद्वारेण बालयुवाद्यात्मरूपुरुषद्रव्यस्यानन्तसिद्धकथञ्चिद्भेदाभेदात्मकस्यैव जीवद्रव्यस्य भवति, तथाहि-य एवाह पूर्वं बद्ध आसम् स एवाह साम्प्रतं मुक्त इत्यबाधितबन्धमोक्षसामानाधिकरण्यानुभवाद् य एवात्मा बद्धस्स एवात्मा मुच्यते इत्येकस्यैवात्मनो पूर्वोत्तरकालावच्छेदेन बन्धमोक्षौ भवत इति बद्धावस्थामुक्तावस्थानुगतस्वस्वरूपेण तस्याऽभेदः, इदानीं संसारकारागारे मायावशजालीबद्धोऽहं न ततो मुक्तः, यद्वा इदानीं मुक्तोऽहं न रागद्वेषपरिणतिरज्जुबद्ध इत्यबाधितप्रतीतेर्बद्धत्वेन मुक्तत्वेन च तस्य भेदः, एवं च ममाह पूर्वं दुःखयभूवं स एवाहमिदानीं सुखी सञ्जात इत्यबाधितसुखदुःखसामानाधिकरण्यप्रतीतिबलादहम्पद वाच्यस्यात्मनो सुखदुःखावस्थानुगतस्यात्मत्वस्वरूपेणाभेदः, इदानीमहं दुःखी न तु सुखी, यद्वाऽधुना सुख्यहं न तु दुःखीत्यबाधितप्रत्ययात्, यद्वा संसारसुखमपि मधुलिप्तखड्गधाराऽऽस्वादनजन्यसुखमिवायत्यां दुःखजनकत्वाद् दुःखमेवेति संसारे दुःख्येवाहं न तु सुखीत्यबाधितप्रत्ययाच, तस्य सुखित्वेन दुःखित्वेन च भेद इत्येव कथञ्चिद्भेदाभेदात्मकस्य जीवद्रव्यस्य संसारकारागारात्मकभावबन्धो हेयः, अनल्पदुःखहेतुत्वाद्, द्रव्यकारागारबन्धवदित्यनुमानसिद्धहेयभावस्य बन्धस्य तत्साधनपरित्यागद्वारेण संसारकारागारतो मुक्तिरुपादेया, अनल्पसुखहेतुत्वाद्, द्रव्यकारावासमुक्तिवदित्यनुमानसिद्धोपादेयभावस्य मोक्षस्य च तत्साधनोपादानद्वारेण संसारबन्धो मे मुच्यतु मुक्तिश्च जायतामित्याकारिका प्रार्थना सुखं मे भूयात् दुःखं च मा भूदित्याकारिका सुखसाधनोपादानद्वारा सुखस्य दुःखसाधनपरित्यागद्वारा दुःखस्य च मा भवति। न च जीवस्यैव पूर्वोत्तरभवानुभवितुरभावात्तद्बन्धाभावेन ततस्तन्मुक्तेरप्यभाव इति वाच्यम्, "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" इति सत्त्वान्यथानुपपत्त्योत्पादादित्रयात्मकस्य तस्यानाद्यनन्तस्य सिद्धेः, तथाहि-अहं यते, जानाम्यहमित्यादिप्रत्ययादात्मसिद्धिः, न चाहम्पदवाच्यो देह इति वाच्यम्, मृतदेहवद्देहत्वभूतत्वमूर्तत्वरूपादिमत्त्वादिना देहस्याऽचेतनत्वाद्, न च भूतसमुदायपर्यवसितं चैतन्यं, प्रतिदिनं तस्यान्याऽन्यत्वे पूर्वपूर्वदिवसानुभूतस्याऽस्मरणप्रसङ्गात्, नापि प्रत्येकपर्यवसितम्, करचरणाद्यवयवविगमे तदनुभूतस्य स्मरणाऽयोगात्, देहस्यैव चैतन्ये च बालस्य स्तन्यपानादौ प्रथमप्रवृत्त्यऽभावप्रसङ्गस्स्यात्, प्रवृत्तिं प्रतीष्टसाधनत्वज्ञानस्य कारणीभूतस्याभावात्, इह जन्मन्यननुभूतस्येष्टसाधनत्वस्य स्मरणाऽयोगात्, जन्मान्तरानुभूतस्य च तस्यानुभवितरि भस्मसाद्भूते सत्यन्येनाऽस्मरणात्। अथोक्तकार्यकारणभावस्यैवाभाव इति न च वाच्यम्, अनुभवादीनां प्रवृत्त्यन्तानां कार्यकारणभावस्येहैव जन्मनि निश्चितत्वात्, कारणाभावे कार्याभावस्य सुलभत्वात्, अन्यथा तु तत्त्वव्यवस्थैव न स्यात्, न चाहम्पदवाच्यानीन्द्रियाण्येवेति वाच्यम्, तेषामप्युक्तयुक्त्याऽचेतनत्वेनैव सिद्धेः, किञ्च योऽहं घटमद्राक्षं सोऽहं तं स्पृशामीत्येककर्तृकघटचाक्षुषस्पार्शना

श्रयत्वस्य चक्षुरादावसम्भवात्तद्व्यतिरिक्तात्मसिद्धिः, न च मनोऽप्यहपदवाच्यम्, तस्य चक्षुरादिवत् करणत्वेनैवानुमानात्सिद्धेः, ननु पूर्वभवानुभवोत्तरभवस्मरणयोरेककर्तृकत्वेन परलोकात्मसिद्धिर्भवतु, तत्पूर्वतरभवे तु कथं तत्सिद्धिरिति चेत्, उच्यते, पूर्वजन्मन्यपि प्रथमप्रवृत्त्यनुरोधेन तत्पूर्वस्य एव तत्तत्पूर्वस्य जन्मनस्सिद्धेर्वीतरागजन्मादर्शनन्यायेना-नादित्वेनैव तस्य सिद्धिः, अनादित्वे च सिद्धे आत्मा अनन्तः अनादिभावत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं, यथा घट इत्यनुमानेनानन्तत्वसिद्धेरनाद्यनन्तत्वसिद्धिरिति । एतत्सर्वं पूर्वमेव साधितमिति किं पिष्टपेषणेन ? नन्वात्मनोऽनाद्यनन्तत्वसिद्ध्या स्थैर्यमेव सिद्धं स्यात्, न तूत्पादव्ययाविति चेत्, मैवम्, य एवाहं पूर्वं मनुष्यादिरूपेणास स एवाहं देवरूपेणोत्पन्न इत्यबाधितप्रतीत्यैवोत्पादादित्रयात्मकतयैव सिद्धेः, न च मनुष्यदेवाद्यवस्था शरीरस्यैव न त्वात्मन इति नोक्तं युक्तमिति वाच्यम्, यतो मनुष्याद्यवस्थाप्रयोज्यो गुणविशेष आत्मनि घटेत, एतत्पक्षः पूर्वमेव निरस्त इति ग्रन्थगौरवभीत्या नाधिकमुच्यत इति ॥ ४६ ॥

अथ कर्मपुद्गलसङ्घातोपगूढस्य जीवस्य कार्मणशरीरस्य चात्मत्वेन शरीरत्वेन स्वस्वगताऽसाधारणधर्मेण भेद इव जीवकर्मप्रदेशयोरविभक्तत्वात्तद्रूपेणासाधारणधर्मेणाऽभेदोऽपीति प्रतिपादयितुं यथाऽविभक्तत्वं तयोस्तथा तत् सदृष्टान्तमाह—

अण्णोण्णाणुगयाणं, इमं व तं व त्ति विभयणमजुत्तं ।
जह दुद्ध-पाणियाणं, जावंत विसेसपज्जाया ॥ ४७ ॥

" अण्णोण्णाणुगयाण " अन्योन्यानुगतयोरेकलोलीभावेन परस्परानुप्रविष्टप्रदेशयोरात्मकर्मणोः " इमं व तं व त्ति " इदं वा तद्वा ' इति–' इदं कर्म अयश्चात्मा ' इति ' विभयणमजुत्त–विभजनं पृथक्करणं, अयुक्तम् अघटमानकम्, तयोः पृथक्कर्तुमशक्यत्वात्, न हि दृष्टान्तं विना दार्ष्टान्तिकसिद्धिर्भवितुमर्हतीति तत्साधनार्थं तत्र दृष्टान्तमाह—' जह दुद्ध-पाणियाणं ' यथा दुग्धपानीययोः परस्परप्रदेशानुप्रविष्टयोः, किं परिमाणोऽयमविभागो जीवकर्मप्रदेशयोरित्याशङ्कायां तन्निवृत्त्यर्थमाह—' जावंत विसेसपज्जाया ' यावन्तो विशेष-पर्यायाः–तावानिति शेषः, यावन्तो विशेषपर्यायास्तावत्सु अयमात्मा इदं कर्म इति विभजनं कर्तुमशक्यत्वादऽघटमानकम्, अयम्भावः—" एगमेगेण जीवस्स पएसे अणंतेहिं णाणावरणिज्जपोग्गलेहिं आवेढिए परिवेढिए " इत्यागमवचनाद् वह्नितप्तायःपिण्डवत् सर्वात्मप्रदेशैस्सह कर्मसम्बन्धः, न तु सर्पकञ्चुकवद् बहिस्त्वक्पर्यन्तभागवर्तिप्रदेशमात्रेण सहेत्यात्मकर्मणोः प्रतिप्रदेशमन्योन्यानुस्यूतत्वादन्त्यप्रदेशमभिव्याप्याऽविभागः, न चैवं तर्हि तद्विभागो न स्यादिति वाच्यम्, यतो हंसेन स्वचञ्च्वा क्रियमाणक्षीरनीरविवेकवज्जीवेन विशुद्धतमध्यानानुभवचञ्च्वा सोऽपि कर्तुं शक्यत एवेति । तावत्पर्यन्तमेवाऽविभाग इति नियमने को हेतुरिति चेत्, उच्यते, अन्त्यविशेषपर्यन्ता एव सर्वविशेषाः, अन्त्य इति विशेषणाऽन्यथा-ऽनुपपत्तेः, इतराव्यावर्तकत्वादिति भावः ॥ ४७ ॥

ननु जीवकर्मणोरन्योन्यानुप्रवेशे सति तदाश्रितगुणानामप्यन्योन्यानुप्रवेशस्स्यादित्या त्मगतज्ञानादयो देहे स्युः देहगतरूपादयोऽप्यात्मनीति चेत्, तथास्तु का नाम नः क्षतिः, सिद्धान्ते तथैवाभ्युपगमात् । तदेवाऽऽह—

रूवाइपज्जवा जे, देहे जीवदवियम्मि सुद्धम्मि ।
ते अण्णोण्णाणुगया, पण्णवणिज्जा भवत्थम्मि ॥ ४८ ॥

" रूवाइपज्जवा जे " रूपादिपर्याया ये, आदिपदेन रसगन्धस्पर्शादयो ग्राह्याः, ' देहे ' शरीरे तदाश्रिता इति यावत्, ये च ' जीवदवियम्मि सुद्धम्मि ' जीवद्रव्ये शुद्धे-आत्मस्वरूपेणात्मद्रव्ये शुद्धे, वस्तुगत्याऽऽत्मा नीरूप इत्यतो रूपाद्यनिशिष्टे, तदाश्रिता इति यावत्, ज्ञानादयो गुणा. ' ते अण्णोण्णाणुगया ' ते अन्योऽन्यानुगताः, देहवर्तिरूपादयो देहाभिन्नत्वा दात्मनि आत्मगतज्ञानादयो जीवाऽभिन्नत्वाद्देहे ' पण्णवणिज्जा भवत्थम्मि ' प्रज्ञापनीया भवस्थे-समारिणि, ' गौरोऽहं जानामि ' इत्यादिविषयस्तथैवोपपत्तेः, तस्याः प्रामाण्यनिश्चयस्य तु प्रागेव कृतत्वादिह नाधिक तन्यते। तदेव न धूर्ध्वगतिस्वभावस्य तुम्बिकादेर्मृदादिसम्बन्धव्यतिरेकेण समुद्रेऽधोगमन दृष्टमित्यत पुद्गलोपष्टम्भव्यतिरेकेणोर्ध्वगतिस्वभावस्यात्मनोऽन्यदिग्गमनासम्भवेन भवान्तरे स्थूलशरीरसम्बन्धित्व न स्यादिति तदन्यथाऽनुपपत्त्या स्थूलशरीरसम्बन्धप्रयोजकतया पौद्गलिककार्मणाख्यसूक्ष्मशरीरस्यान्तरालेऽप्यभ्युपगन्तव्यत्वेनात्मकर्मप्रदेशयोरन्योन्यानुगमात्तदाश्रितगुणानामप्यन्योन्यानुप्रवेश आमवक्षय सिद्ध इति । यद्वा ' भवत्थम्मि ' इत्यत्राकारप्रश्लेषादभवस्थे, असमारिणि, न च ससारावस्थायां देहात्मनोरन्योन्यानुबन्धाद्भवतु देहे चैतन्यादिमत्त्वम्, आत्मनि च रूपादिमत्त्वम्, सिद्धावस्थायां तु कथ तत्प्रासङ्गिमान्यम्, तत्र देहाभावेनान्योन्यानुप्रवेशाऽभावात्तयोरिति वक्तव्यम्, तदवस्थायामपि देहाद्याश्रितरूपादिग्रहणपरिणतज्ञानदर्शन पर्यायद्वारेणात्मनस्तथाभिधत्वात्तथाव्यपदेशसम्भवात् । अयम्भावः-तत्र शरीरस्याभावेऽपि कथञ्चिद्भेदाभेदस्य सम्बन्धव्यापकत्वेन ज्ञानज्ञेययोरपि विषयविषयिभावसम्बन्धव्यापकः कथञ्चिद्भेदाभेद एवेति मुक्तात्मगतज्ञानदर्शनयोर्देहाश्रितरूपादिविषयकत्वेन कथञ्चिद्रूपाभिन्नत्वम्, तथा च तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वमिति नियमेन रूपाद्यभिन्नज्ञानाभिन्ने मुक्तात्मनि रूपाद्यभिन्नत्वेन रूपादिमत्त्वमपि ज्ञानाद्यभिन्नाद्विषयीभूताद्रूपादेरभिन्ने देहे ज्ञानादिमत्त्वमपि च सम्भवत्येव । अत एव देहात्मनो रूपादिज्ञानादीनाञ्चान्योन्यानुप्रवेशात्कथञ्चिदेकत्वमनेकत्व मूर्तत्वममूर्तत्वञ्च सिद्धिकोटिमुपढौकत इति ॥ ४८ ॥

आत्मन एकत्वानेकत्वप्रभावनायैवाह—

एव एगे आया, एगे दंडे य होइ किरिया य ।
करणविसेसेण य तिविहजोगसिद्धी वि अविरुद्धा ॥ ४९ ॥

'एव' अनन्तरोदितप्रकारेण 'एगे आया' एक आत्मा, यस्मिन् येषामनुप्रवेशस्ते तदात्मका एवेति व्याप्तेर्मनो-वाक्-कायद्रव्याणामात्मन्यनुप्रवेशान्मनःप्रभृतयः आत्म स्वरूपा एव न तद्व्यतिरिक्तास्त इत्येक आत्मा, अत एव दण्डादीनामेकत्वमाह "एगे दंडे य होइ किरिया य" एको दण्ड एका क्रिया च भवति, मनोवाक्कायेषु दण्डक्रियाशब्दौ प्रत्येकमभिसम्बन्धनीयौ, मनोदण्ड-वचनदण्ड-कायदण्डभेदेन त्रिविधस्यापि दण्डस्य, मनःक्रिया-वाक्क्रिया-कायक्रियाभेदेन च त्रिविधाया अपि क्रियाया एकात्माऽभिन्नत्वादेको दण्डः, एका च क्रिया भवति। अत एव स्थानाख्यतृतीयाङ्गैकस्थाने "एगे आया (सू० २) एगे दंडे (सू० ३) एगा किरिया (सू० ४) इत्यादिसूत्रोक्तमपि सङ्गच्छते। आत्मन एकत्व प्रतिपाद्यानेकत्वप्रतिपादनायोत्तरार्द्धमाह-" करणविसेसेण य तिविहजोगसिद्धी वि अविरुद्धा" इति, करणविशेषेण च मनो-वाक्-कायात्मककरणत्रयेण सह कथञ्चिदभिन्नत्वात्कर्तृभूतस्यात्मनोऽपि त्रिविधयोगरूपत्वात् त्रिविधयोगसिद्धिरप्यात्मनो ऽविरुद्धैव, तत एकस्य सतस्तस्य त्रिविधयोगात्मकत्वादनेकत्वमित्यात्मा नैकान्तैकस्वरूपः किन्त्वेकानेकात्मकत्वादनेकान्तस्वरूप एवेति सिद्धम् ॥ ४९ ॥

नन्वेवमात्मपुद्गलयोरन्योऽन्यानुप्रवेशादेकात्मकत्वे बाह्याभ्यन्तरविभागाभावः प्रसज्येत, ओमिति चेत्, तर्हि अन्तर्हर्षविषादाद्यनेकनिवर्तात्मकमेकं चैतन्यम्, बहिर्बाल-कुमार-यौवनाद्यनेकावस्थात्मकमेकं शरीरमध्यक्षतः संवेद्यत इत्यस्य विरोधस्स्यादिति चेत्, सत्यम्, न च युक्तम्, आत्मभिन्नत्वाभिन्नत्वाभ्यां तदभावेऽपि मानसत्वामानसत्वाभ्यां तद्व्यपदेशात्, तदाह—

ण य बाहिरओ भावो, अब्भंतरओ य अत्थि समयम्मि।
नोइंदियं पुण पडुच्च होइ अब्भतरविसेसो ॥ ५० ॥

पूर्वार्द्धस्यायमर्थः—सर्वस्यैव मूर्ताऽमूर्तादिरूपतयाऽनेकान्तात्मकत्वान्न च बाह्यो भावः, अभ्यन्तरश्च अस्ति समये, अयं बाह्यः, अयश्चाभ्यन्तर इति जैनसिद्धान्ते वास्तविकविभागाभावात्। नन्वेवं तर्हि किं प्रतीत्याऽभ्यन्तर इति व्यपदेश इत्याशङ्कायां तन्निवृत्त्यर्थं सूत्तरार्द्धमाह-"णोइंदियं पुण पडुच्च होइ अब्भतरविसेसो" इति, 'अब्भतरो भावो' इत्यप्यत्र पाठः 'णोइंदियं पुण पडुच्च'-नोइन्द्रियं मनः पुनः प्रतीत्य 'होइ' भवति "अब्भतरविसेसो" अभ्यन्तरविशेष, अयमभ्यन्तरो भाव इति व्यपदेशः, तस्यात्मपरिणतिरूपस्य पराऽप्रत्यक्षत्वात्, अस्यायमभिप्रायः-भावमनस उपयोगरूपमननव्यापारलक्षणत्वेन तस्य चात्मपरिणतिरूपत्वेन तद्रूपे अन्तर्हर्ष-विषादाद्यनेकनिवर्तात्मकचैतन्ये द्रव्यमनोजन्यमानसप्रत्यक्षरूपस्वसंवेदनविषयत्वेनाभ्यन्तरव्यपदेशः, तदविषये [बाल-कुमाराद्यवस्थात्मकदेहादौ बाह्येन्द्रियजन्यप्रत्यक्षविषयत्वाद् बाह्यव्यपदेश इति पदार्थस्तत्र्यापक मूर्तामूर्तोभयरूपत्वबाधर्हन्मतेऽपि बाह्याभ्यन्तरविभागो नानुपपन्न इति। अत्रेदं चिन्त्यम्-

यद्यन्मूर्तं तत्तदुत्पद्यते, घटवत्, मूर्तत्वात्माऽभ्युपगतस्स्याद्वादिभिः, अत उत्पन्नस्स्यादिति चेत्, नैवम्, तथाव्याप्तेरभावात्, मनसैव व्यभिचारात्। एतेन मूर्तत्वादात्मा सावयवस्स्यात्, ओमिति चेत्तर्हि घटवत्तस्य विनाशस्स्यादित्यापत्तिरपि निरस्ता, मनसो मूर्तत्वेऽपि सावयवत्वाभावात्। किञ्चाष्टकर्मपुद्गलसङ्घातोपगूढत्वात् सशरीरत्वाच्च भवस्थात्मनो मूर्तत्वं, तेन च सावयवत्वमभ्युपगतं स्याद्वादिभिः, न तु स्वरूपत इति शरीरानुगतात्मस्वरूपेणैवोपचितस्य क्षिपतविनाशश्चापादनीयस्स्यात्, न तु शुद्धात्मत्वस्वरूपेण, तद्रूपेणामूर्तत्वाभ्युपगमात्, तथा च शरीरानुप्रवेशप्रयुक्तात्मीयबालकुमाराद्यात्मकपूर्वोत्तरपर्यायाभ्युपगमाधिनाशावभ्युपगम्येते एवेत्युक्तप्रसङ्गो तदाभासावेव। एतेन देहात्मनोर्मिथोऽनुप्रवेशे तनुरदात्मनस्सावयवत्व स्यादित्यापादनमपि कथञ्चिदिष्टापत्त्या निरस्तम्। अत एव देहवदेवात्मनस्सावयवत्वेन कार्यत्वापत्तिरपि निरस्ता, प्रागसत सत्त्वालाभरूपस्य कार्यत्वस्य त्रिकालानुगते शुद्धात्मद्रव्येऽसम्भवात्, तत्तद्बालकुमाराद्यवस्थाविशिष्टात्मनि पूर्वाकारपरित्यागेनोत्तराकारोपादानरूपस्य तत्तत्पर्यायनियतस्य च तस्याऽविरोधात्, न च सावयवत्वे तस्य प्राक्प्रसिद्धसमानजातीयावयवारभ्यत्वप्रसक्तिरित्यपि वाच्यम्, तथा व्याप्त्यसिद्धेः, घटाशे व्यभिचारात्, मृत्पिण्डात्कपालिकानिष्पत्तिः, ततः कपालनिष्पत्तिः, तत कपालद्वयसंयोगाद् घटोत्पत्तिरिति नैयायिकप्रक्रिया न प्रामाणिकी, यत उक्तक्रममन्तरेणैव मृत्पिण्डात्संस्थानविशेषरूपेण परिणतात् कपालद्वयसंयुक्तावस्थात्मकस्य घटस्योत्पत्तिस्साक्षाद् दृश्यते, अर्थात् मृद्द्रव्यमेव मृत्पिण्डपर्याय पूर्वतन परित्यज्योत्तरघटपर्यायरूपेण परिणमत इति परिणामवाद एव प्रमाणकोटिमुपढौकते। अत एव मुद्गरप्रहारनिपतितपरमाणूनां निश्लेषो यत्र तत्राशेषावयवविशिष्टपर्यायस्त्यक्त्वाऽवशिष्टावयवविशिष्टपर्यायतयैवोर्ध्वतासामान्यात्मकघटस्य परिणमनं भवति, न तु तत्रावयवविभागपूर्वकद्रव्यारम्भकसंयोगनाशाद् द्व्यणुकादिनाशक्रमेण घटस्य नाशः। तदनन्तरं पुनरपि परमाणुक्रियादिक्रमेण द्व्यणुकाद्युत्पत्तिद्वारा घटान्तरोत्पत्तिः, अन्यथा पुद्गलानां विघटनघटनस्वभावत्वेन प्रतिक्षणं कतिपयपरमाणुसंश्लेषविश्लेषमात्राद् घटादावपि स्थैर्याऽसिद्धिप्रसक्तिरिति तद्दृष्टान्तेन वस्तुत्वव्यापकं क्षणिकत्वं साधयन् बौद्ध एव विजयेत, अस्मन्मते तु तत्तत्पर्यायपराहत्यावपि पूर्वापरपर्यायानुगतोर्ध्वतासामान्यात्मकघटस्य स्थैर्यमेव, अत एव प्रतिक्षणोत्पादादित्रैलक्षण्यसिद्धिः, एतेन तत्रापि घटादयो न नश्यन्ति, कतिपयावयवनाशेऽप्यवशिष्टावयवानाश्रित्य कार्यावस्थानसम्भवात्, अन्यथा प्रत्यभिज्ञानाद्यनुपपत्तिरेवेति मीमांसकैर्यदुच्यते, तदपि निरस्तम्, अवयवावयविनोः कथञ्चिदभिन्नत्वेन कतिपयावयवविश्लेषे तद्विशिष्टतया विनाशस्य शिष्टावयवविशिष्टतयोत्पत्तेश्चावश्यम्भावात्, प्रत्यभिज्ञानं तु समागसन्तत्यनुगाम्यूर्ध्वतासामान्यात्मकघटविषयकमेवेति न किञ्चिदप्यनुपपद्यं जिनानुगानाम्। स्यादेतत् मिथोऽनुप्रवेशेनाविभक्तस्वरूपतया देहात्मनोरभेदे तनुवत्तनुमतोऽपि चाक्षुषप्रत्यक्षापत्तिरिति चेत्, तदपि तत्त्वानभिज्ञताप्रत्यक्षमेव, यथाऽभावप्रतियोगिकाऽभावाधिकरणकाभावस्याधिकरणात्मकत्वमिति नियमाद् घटाभावघटाभावभेदयोरभिन्नत्वेन घटा

भावत्वेन रूपेण घटाभावज्ञाने तेन रूपेण घटाभावभेदस्य भानमिष्यते, न तु घटाभावभेदत्वरूपेण, तेन रूपेण तज्ज्ञानम्प्रति प्रतियोगिज्ञानस्य कारणत्वात्, तस्य च पूर्वमभावात्, तथा देहत्वेन रूपेण देहचाक्षुषज्ञानेऽपि तेन रूपेण देहाभिन्नात्मनो भानं भवति, न त्वात्मत्वरूपेण, तद्रूपेणात्मनो नीरूपत्वेन चाक्षुषप्रत्यक्षाऽयोग्यत्वादेवेति । एतेन वपुरवयवच्छेदे आत्मीयावयवच्छेदाभ्युपगमे छिन्नावयवे पृथगात्मत्वप्रसक्तिः, अनभ्युपगमेऽन्योन्यानुप्रवेशत्वव्याघात इत्युभयतः पाशारज्जुरिति निरस्तम्, छिन्नावयवे कम्पोपलम्भान्यथाऽनुपपत्त्या छेदस्य एकान्तच्छिन्नावयवस्य देहमम्बद्धात्मप्रदेशेऽननुप्रवेशे सति तत्रात्मान्तरत्वप्रसक्तिदोषभीत्या पद्मनालतन्तुवत् शरीरानुप्रविष्टात्मप्रदेशसम्बद्धत्वाद्च्छेदस्य चाभ्युपगमात् । अदृष्टनिमित्तकं शरीरानुगतात्मप्रदेशैस्सह छिन्नावयवप्रविष्टप्रदेशानां पश्चात्सङ्घटनमप्यविरुद्धम्, तत्रोत्तरकाले कम्पानुपलब्धिलिङ्गसद्भावात् । न च छिन्नभागस्यान्यत्र गमनात्तत्र कम्पादर्शनमिति वाच्यम्, प्रतिदेहमात्मन एकत्वेन शेषस्यापि देशान्तरगमनापत्तेः । अथ तत्रैव विनष्टत्वात्कम्पादर्शनमिति चेत्, तर्हि शेषस्यापि विनाशप्रसक्तिः, आत्मन एकत्वेनाविभागरूपत्वात्, तस्माच्छिन्नप्रदेशानामन्यत्रागतेस्तत्राऽमरत्वादविनष्टत्वाच्च खण्डितवनानुप्रवेशोऽवसीयते, गत्यन्तराऽभावात्, न चाऽनेकधाच्छिन्नावयवसम्बद्धाऽन्तरालवर्त्यात्मप्रदेशानां कोऽपि पुमान् हस्तपादादिना केनापि शस्त्रेण वाऽऽबाधां व्याबाधां वा छविच्छेदं वा दग्धता वा कर्तुं शक्नोति, अग्राह्यगोचरत्वात्, बादरपुद्गलस्यैव तद्गोचरत्वदर्शनात् । उक्तञ्च पञ्चमाङ्गेऽष्टमशतके तृतीयोद्देशके-अह भंते ! कुम्मे कुम्मावलिया गोहा गोहावलिया गोणा गोणावलिया मणुस्से मणुस्सावलिया महिसे महिसावलिया एएसिण दुहा विहा वा संखेज्जहा वा छिन्नाण जे अंतरा तेऽवि ण तेहिं जीवपएसेहिं फुडा, हंता फुडा । पुरिसेण भंते ! ते अंतरे हत्थेण वा पादेण वा अंगुलियाए वा सलागाए वा कट्ठेण वा कलिंचेण वा आमुसमाणे वा संमुसमाणे वा आलिहमाणे वा विलिहमाणे वा अन्नयरेण वा तिक्खेण सत्थजाएण आच्छिंदमाणे वा विच्छिंदमाणे वा अगणिकाएण वा समोडहमाणे तेसिं जीवपदसाण किंचि आबाहं वा विबाहं वा उप्पायइ, छविच्छेदं वा करेइ, नो इणट्ठे समट्ठे, नो खलु तत्थ सत्थं संकमइ, इति । प्रदेशानां शृङ्खलावयवन्यायेन सम्बद्धत्वादेव चैकस्यैव महर्द्धिकदेवस्य स्वीयप्रदेशविशिष्टानेकरूपनिर्माणेन परस्पर सङ्ग्रामकरणमपि युज्यते, नान्यथा, उक्तञ्च पञ्चमाङ्गेऽष्टादशशतके सप्तमोद्देशके ' देवेण भंते ! महड्ढिए जाव महसक्खे रूवसहस्सं विउव्वित्ताए पभू !, अन्नमन्नेण सद्धिं संगामं संगामित्तए, हंता पभू ! ताओ णं भंते ! बोंदिओ किं एकजीवफुडाओ अणेकजीवफुडाओ, गोयमा ! एगजीवफुडाओ णो अणेकजीवफुडाओ, तेसि णं भंते ! बोंदीण अंतरा किं एगजीवफुडा अणेगजीवफुडा, गोयमा ! एगजीवफुडा, नो अणेगजीवफुडा । पुरिसेण भंते ! अंतरेण हत्थेण वा एवं जहा अट्ठमसए ततिए उद्देसए जाव नो खलु तत्थ सत्थं संकमइ " इति । एतेन प्ररोहाद्या-

पादनमपीष्टतया व्याख्यातम्, शरीरात्मच्छेदादिविषये इयांस्तु विशेषः—शरीरस्य छिन्नावयवत्वेनोत्पत्तिस्तच्छेदः, आत्मच्छेदस्तु वपुस्सम्बद्धात्मप्रदेशानां कतिपयानां शृङ्खलावयवन्यायेन छिन्नावयवेऽनुप्रवेश इति, छिन्नशरीरावयवप्ररोहस्तज्जातीयोत्पत्तिः, आत्मप्रदेशप्ररोहस्तु तत्रैवानुप्रवेश इति । अत एव सावयवत्वमुत्पत्तिमत्त्वं विनाशित्वं चोक्तम्, गृहान्तर्वर्तिप्रदीपप्रभावत् सङ्कोचविकाशशालित्वेन तस्य न्यायप्राप्तत्वात् । अयम्भावः—य एव कुन्थ्वादिशरीरस्थ आत्मा अल्पाल्पतरतत्तच्छरीरपरिमाणनियतपरिमाणपरिणतिमान् स एव हस्त्यादिशरीरस्थो महन्महत्तरतत्तच्छरीरपरिमाणनियतपरिमाणपरिणतिमान् भवतीति कारणीभूततत्तच्छरीरनामकर्मपरिणतिवैचित्र्यप्रभवतत्तच्छरीरपरिमाणनियततत्तदात्मपरिमाणपरिणतिवैचित्र्यान्यथाऽनुपपत्त्याऽऽत्मप्रदेशानामल्पाधिकक्षेत्रावगाहित्वलक्षणसङ्कोचविकाशशालित्वमेकस्यैव प्रदीपस्याल्पाल्पतरमहन्महत्तरगृहारमकाश्रयवर्तित्वान्यथानुपपत्त्या तदवयवानां सङ्कोचविकाशशालित्ववदभ्युपगन्तव्यम् । एतेनात्मा विभुर्नित्यमहत्त्वात्, गगनवदित्यपि निरस्तम्, आत्मपरिमाणपरिणतिविशेषे शरीरनामकर्मणो हेतुत्वेन तज्जन्यत्वाचास्य नित्यत्वासिद्ध्या हेतोस्स्वरूपासिद्धत्वात् । नन्वेवं तत्तच्छरीरपरिमाणभेदेनैकस्यैवात्मनः परिमाणभेदाभ्युपगमे नानात्वापत्तिः, परिमाणभेदे द्रव्यभेदनियमादिति चेत्, नैवम्, यथा रूपनाशं प्रति न नियमेन समवायिकारणनाशस्य हेतुत्वं, पीलुपाकवादिनये परमाणुरूपनाशस्य पिठरपाकवादिनये चावयविरूपनाशस्याश्रयनाशमन्तरेणापि विलक्षणतेजस्संयोगलक्षणपाकतस्सम्भवात्, तथा परिमाणनाशं प्रत्यपि नियमतो नाश्रयनाशस्य हेतुत्वम्, तदाधारभूतद्रव्ये सत्येवाहृताहारद्रव्योपचयापचयाभ्यामवगाहनापरिणामविशेषजननद्वारा पूर्वपरिमाणनाशस्य परिमाणान्तरोत्पादस्य च सम्भवादित्येकस्मिन्नेव घटे श्यामरक्तादिरूपभेदेऽपि घटाभेदवत् परिमाणभेदेऽप्यात्माऽभेदोपपत्तेः । ननु तथापि पूर्वपरिमाणविशिष्टस्यात्मन उत्तरपरिमाणविशिष्टस्य चात्मनो विशेषणभेदाद्भेदोऽपरिहार्य इति चेत्, न, यतो विशिष्टरूपेण भेदश्शुद्धरूपेण चाऽभेद इष्ट एवेति नानयोर्विरोधः । इत्थमेव च कथञ्चित्क्षणभेदसमर्थनं सङ्गच्छते, एतेन बालयुवशरीरादेरिवात्मन उत्पत्तिस्स्यादित्यपि निरस्तम्, यतस्स्वाधिकरणक्षणध्वंसानधिकरणक्षणसम्बन्धरूपा सा तत्तत्पर्यायनियता शुद्धात्मद्रव्ये न सम्भवत्येव, स्वपदेन शुद्धात्मद्रव्यग्रहणे तदधिकरणक्षणध्वंसाधिकरणमेव सर्वोऽपि क्षण इति तदधिकरणक्षणध्वंसानधिकरणक्षणस्याऽप्रसिद्धेः, विशिष्टस्वाधिकरणक्षणध्वंसानधिकरणक्षणसम्बन्धरूपा तु सात्मद्रव्येऽपि सम्भविनी तन्नियतविनाशश्च न निषिध्येते, तत्र विशिष्टस्वपदेन बालयुवशरीरादिपरिमाणनियतपरिमाणविशिष्टात्मद्रव्यादिग्रहणसम्भवादिति । एतेन देहात्मनोरन्योन्यानुप्रवेशित्वे देहस्य भस्मसाद्भावे देहिनोऽपि तथात्वप्रसक्तिरिति निरस्तम्, क्षीरनीरयोरन्योन्यानुप्रवेशित्वेनैकत्वेऽपि क्षीरे क्वाथ्यमाने प्रथममुदकक्षयेऽपि व्यभिचारात्, न च तत्र लक्षण-

मेदेन मेदाक्षैकक्षयेऽप्यपरस्य क्षय इति वाच्यम्, देहात्मनोरपि " भोगायतन चेष्टाऽऽश्रयं वा शरीरम् " ज्ञानाधिकरणमात्मेति नैयायिकैरपि लक्षणमेदस्योक्तत्वात् । एतेन देहात्मनोरन्योन्यानुप्रवेशित्वेऽप्याकाशवदात्मनि न शरीरपरतन्त्रतेत्यपि निरस्तम्, तन्निमित्तस्य मिथ्यात्वादेरात्मनि सद्भावात्, आकाशे च तदभावात्, न च शरीरायत्तत्वे सति तस्य मिथ्यात्वादिबन्धहेतुभिर्योग', तस्माच्च तत्प्रतिबद्धत्वमितीतरेतराश्रयत्वमित्यपि वाच्यम्, अन्योन्यकार्यकारणभावबलेन पारतन्त्र्यमिथ्यात्वप्रवाहानादित्वाभ्युपगमात्, बीजाङ्कुरवत् । न च शरीरद्वाराऽऽत्मनो रूपित्वे आद्यप्राणसंयोगलक्षणजन्मनः प्राक् शरीराभावेनात्मनोऽरूपित्व स्यादिति वाच्यम्, भवान्तरस्थूलशरीरसम्बन्धान्यथाऽनुपपत्तित आभवक्षयमात्मनस्सदा तैजसकार्मणशरीरसम्बन्धित्वेन तद्द्वारा रूपित्वोपपत्तेः । तदेवमात्मा स्वस्वरूपतोऽमूर्त्तस्सन् कर्मपुद्गलैस्सहैकल्लोलीभावेनाविभक्तस्वरूपतया मूर्त्तोऽपीति कथञ्चिन्मूर्त्तामूर्त्तोभयस्वरूपोऽभ्युपगन्तव्य इति नाधिक विस्तरभयाद्विस्तन्यते ॥ ५० ॥

अथ स्वेतरनयनिरपेक्षेण द्रव्यार्थिकेन पर्यायार्थिकेन चैकान्तनयेन स्वस्वमतानुसारिणी यथा प्ररूपणा क्रियते तथा प्रदर्शयितुमाह—

दव्वट्ठियस्स आया बंधइ कम्म फल च वेएइ ।
बीयस्स भावमेत्त न कुणइ ण य कोइ वेएइ ॥ ५१ ॥

' दव्वट्ठियस्स ' द्रव्यास्तिकस्य द्रव्यास्तिकनयस्य, इय प्ररूपणेति शेष', 'आया बंधइ' आत्मा कालत्रयस्थाय्येकात्मा द्रव्यात्मकः ' बंधइ ' बध्नाति सम्बद्धीकरोति, किमिति कर्माकाङ्क्षायामाह–'कम्म' कर्म, तत्फल स्वात्मैव भुङ्क्ते, किम्वाऽन्य इत्याशङ्कानिवृत्त्यर्थमाह-'फल च वेएइ' फलञ्च तत्कार्यसुखदुःखात्मक वेदयते अनुभवति, य एवात्मा यत्कर्म करोति स एव तत्फल भुङ्क्ते, तन्मते तत्कर्मकर्तुस्तत्फलभोक्तुश्चैक्यात् । नन्वेव तर्हि पर्यायार्थिक नयोऽपि किं तथैवानुमनुते किं वाऽन्यथेत्याशङ्कायामुत्तरार्द्धमाह–' बीयस्स ' द्वितीयस्य पर्यायार्थिकनयस्य इय प्ररूपणेति शेषः । ' भावमेत्त ' भावमात्र सव्यवहारोपयुक्तपूर्वोत्तर क्षणिकतत्तज्ज्ञानलक्षणप्रवृत्तिसन्ताने आलयविज्ञानरूपेण सन्तन्यमानान्यान्यात्मैव, न तु स्थिरात्मा, अयम्भावः–यत्सत्तत्क्षणिक, यथा विद्युदादि, सँश्चात्मा, ततस्स क्षणिक इति क्षणिकविज्ञानात्मक एवात्मा, न तु ज्ञानाश्रयः, तन्मते गुणगुणिभावाभावात् । अत एव ' ण कुणइ ण य कोइ वेएइ ' न करोति न च कश्चिद्वेदयते, तत्फल भुङ्क्ते । पर्यायनयो हि द्रव्य स्थिरीभूत नाभ्युपगच्छति, किन्तु पर्यायमेव, स चोत्पादव्ययलक्षण इत्युत्पत्तिक्षणाव्यवहितोत्तरक्षणविनाशशालिनो विज्ञानरूपात्मनः कर्मकर्तृत्वतदनुभवितृत्वाऽयोगात् ॥ ५१ ॥

ननु द्रव्यार्थिकनये आत्मा बध्नाति कर्म फलञ्च वेदयत, इत्युक्तम्, न चैतावता य एवात्मा कर्मकर्त्ता स एव तत्फलभोक्ता चेति निर्णीयते कर्म बध्नाति चैवात्मा

तत्फलं भुङ्क्ते इत्येतावताऽपि चरितार्थत्वात्, उभयोरप्यात्मत्वाऽविशेषादित्याशङ्कां दूरीकृत्य य एव कर्त्ता स एव भोक्ता इत्येतत्प्रतिपादयितुम्, एवं न करोति न च कश्चिद्वेदयते इत्युक्त्या पर्यायास्तिकनयमते उत्पत्तिमनन्तरध्वंसिनं कर्तृत्वभोक्तृत्वाऽसम्भव इत्युक्तम्, तर्हि तन्मते कर्त्ता भोक्ता च नास्त्येवेति चेत्, अस्त्येव, किन्तु य कर्त्ता स न भोक्ता, यतः कर्तृत्वमुत्पत्तिक्षणे भोक्तृत्वञ्च तदव्यवहितोत्तरक्षणे, तदानीं च पूर्वक्षणवर्तिनः कर्त्तुः क्षणिकत्वेन विनष्टत्वात्, किन्त्वन्य एवेत्येतत्प्रतिपादयितु चाऽऽह—

दव्वट्ठियस्स जो चेव, कुणइ सो चेव वेयए णियमा।
अण्णो करेइ अण्णो, परिभुंजइ पज्जवणयस्स ॥ ५२ ॥

'दव्वट्ठियस्स' द्रव्यास्तिकस्य, एतदनन्तरं मत इति शेषः, 'जो चेव कुणइ सो चेव वेयए णियमा' य एव च करोति स एव च वेदयते तत्फलं भुङ्क्ते नियमात्, तन्मते आत्मनो नित्यत्वात्, 'पज्जवणयस्स' पर्यायनयस्य, अत्रापि मते इति शेषः। 'अण्णो करेइ अण्णो परिभुंजइ' अन्यः करोति अन्यश्च परिभुङ्क्ते, वस्तुमात्रस्य क्षणिकत्वेनात्मनोऽपि प्रतिक्षणमन्यान्यत्वात्, यस्मिन् क्षणे उत्पद्यते तस्मिन्नेव क्षणे करोति, "भूतिर्येषां क्रिया सैव, कारकं सैव चोच्यते" इति वचनात्, तदव्यवहितोत्तरक्षणे स विनष्टः, तदन्य आलयविज्ञानसन्तानगतस्वरूपेणोत्पन्नश्च तत्फलमनुभवति ॥ ५२ ॥

अथ द्रव्यास्तिकनये एकान्तनित्यात्मनि वर्त्तमानकालावच्छिन्नकर्मकर्तृत्वस्वभाव इवोत्तरकालावच्छिन्नकर्मकर्तृत्वस्वभाव इदानीमस्ति न वा, अस्ति चेत्, तदा वर्त्तमानकाल एवोत्तरकालीनकर्मसम्बन्धात्मककार्योत्पत्तिप्रसङ्ग। अथ कारणान्तरविरहान्नोक्तप्रसङ्ग इति चेत्, तर्हि कारणान्तरेण किञ्चिदुपक्रियते न वा, उपक्रियते चेत्, तर्हि स उपकारः पूर्वमस्ति न वा, अस्ति चेत्, तर्हि पूर्वमपि कर्मसम्बन्धात्मककार्योत्पत्तिप्रसङ्गः, नास्ति चेत्, तदा स उपकारस्वभावः पूर्वं नास्ति पश्चादुत्पन्न इति स्वभावाऽनित्यत्वेन तद्धर्मिणोऽप्यनित्यत्वप्रसङ्गः। अथ नोपक्रियते, तर्हि कारणान्तरापेक्षा व्यर्थैव। अथ सम्भूय कार्यं क्रियत इत्येतावता कारणान्तरापेक्षेति चेत्, तर्हि सम्भूयकार्यकरणस्वभावः पूर्वमस्ति न वा, अस्तीति चेत्, तर्हि पूर्वमपि कर्मबन्धात्मककार्योत्पत्तिप्रसङ्ग, अथ पूर्वं नास्ति, इदानीमस्तीति चेत्, तर्हि स्वभावभेदेन तद्धर्मिणोऽपि भेदप्रसङ्गः, अत एव न वेति द्वितीयनिषेधपक्षोऽपि न युक्त, उत्तरकालावच्छिन्नकर्मकर्तृत्वस्वभाव पूर्वं नास्ति पश्चादस्तीति तत्तदभावरूपविरुद्धधर्माध्यासाद्धर्मिणो भेदप्रसक्तेः, तस्मादेकान्तनित्यात्मनि कर्मकर्तृत्वस्वभावो नोपपद्यते, एवमुक्तयुक्त्यैकान्तनित्ये फलभोक्तृत्वस्वभावोऽपि नोपपद्यत इति। एवं पर्यायनयेऽपि प्रतिक्षणमात्मनोऽन्यान्यत्वे य एवात्मा कर्म करोति स एव तत्फलं भुङ्क्ते इति व्यवहारबाधस्स्यात्, अथ पूर्वापरविज्ञानव्यक्त्यात्मकात्मभेदेऽप्यालयविज्ञानसन्तानैक्यादेव स व्यवहार इति चेत्,तर्हि भङ्ग्यन्तरेणात्मैवाभ्युपगतस्स्यात्, तदेवमिथ परस्परनिरपेक्षद्रव्यार्थिकपर्यायार्थिक

नयोक्तिर्न युक्ता, निराकाङ्क्षबोधाऽजनकत्वेनाप्रमाणभूतत्वादिति सा न स्वसमयप्ररूपणा, किन्तु परस्परसापेक्षतत्तन्नयमापेक्षसप्तभङ्ग्यात्मकस्याद्वादोक्तिरेव युक्ता, शान्ताकाङ्क्षतया पूर्णोत्तरत्वेन निराकाङ्क्षाबाध्यबोधजनकत्वादिति सैव स्वसमयप्ररूपणेत्युपपादनायाह–यद्वा द्रव्यपर्यायोभयात्मके आत्मादिवस्तुनि पर्यायनयप्रतिपादितार्थानां सत्यत्वसाधने द्रव्यार्थिकनययुक्तयो द्रव्यार्थिकनयव्युत्पादितार्थानाञ्च सत्यत्वसाधने पर्यायार्थिकनययुक्तयस्तुल्यवदेवोज्जृम्भन्त इति नैकत्र क्वचन पक्षपातो विधेयः, किन्तु स्याद्वादेनोभयोपग्रह उररीकर्त्तव्य इति प्रतिपादनायाह—

जे वयणिज्जवियप्पा, सजुज्जंतेसु होंति एएसु ।
सा ससमयपण्णवणा, तित्थयराऽऽसायणा अण्णा ॥ ५३ ॥

'जे वयणिज्जवियप्पा' ये वचनीयविकल्पाः–वक्तु योग्य वचनीयमऽभिधेयं वस्तु तस्य विकल्पास्तत्प्रतिपादका वचनप्रकाराः 'सजुज्जंतेसु' संयुज्यमानयोः अन्योन्यसापेक्षयोः 'एएसु' अनयोः द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयवाक्ययोः 'होंति' भवन्ति, ते च स्यान्मूर्त्त एवात्मा ।१। स्यादमूर्त्त एवात्मा ।२। स्यादवक्तव्य एवात्मा ।३। स्यान्मूर्त्त एव स्यादमूर्त्त एवात्मा ।४। स्यान्मूर्त्त एव स्यादवक्तव्य एवात्मा ।५। स्यादमूर्त्त एव स्यादवक्तव्य एवात्मा ।६। स्यान्मूर्त्त एव स्यादमूर्त्त एव स्यादवक्तव्य एवात्मा ।७। एवं स्यान्नित्य एवात्मा ।१। स्यादनित्य एवात्मा ।२। इत्यादयः । यत्र व्युत्पन्नपुरुषापेक्षया मङ्गद्वयप्रवृत्तिस्तत्रापि तदधीनसप्तभङ्गीप्रवृत्तिरपि वक्तृतात्पर्यभावाद् भावनीया, तत्प्रवृत्तिमन्तरेण स्यान्नित्यत्वस्याद् निरयत्वादिस्यादेकत्वस्यादनेकत्वादिमप्तधर्मविषयकबोधस्यैवानुत्पत्तेः । 'सा ससमयपण्णवणा' सा एषा स्वसमयप्रज्ञापना सम्यगवैपरीत्येनेयन्ते अप्यन्ते वा ज्ञायन्ते जीवादयोऽर्था अनेनेति समयः, सिद्धान्तः, स्वस्य समयः स्वसमयः, तस्य प्रज्ञापना निदर्शना, जिनेन्द्रप्रणीतागमप्ररूपणा, यद्वा स्वस्य अर्हत्प्रवचनस्य सम्यक् प्रमाणान्तराऽविसंवादित्वेनेयते परिच्छिद्यते इति समयः, तत्त्वभूतार्थः, तस्य प्रज्ञापना प्रकर्षेण संशयविपर्ययादिराहित्येन ज्ञापना प्रज्ञापना अबाध्यानेकान्तात्मकार्थविषयकप्ररूपणा, यथार्थबोधजनकत्वात्, 'अण्णा' अन्या स्वान्यनयनिरपेक्षैकैकनयप्ररूपणा स्वतन्त्रनयद्वयप्ररूपणा च "तित्थयराऽऽसायणा" तीर्थकरस्याशातना अधिक्षेपः, तत्प्ररूपणोत्तीर्णत्वात्, उत्सर्गतः स्याद्वाददेशनाया एव सम्यक्त्वप्रयोजिकायाः तीर्थकरेण विहितत्वात् । "संकेज याऽसंकितभाव भिक्खू विभज्जवाय च वियागरेज्जा । भासादुयं धम्मसमुट्ठितेहिं, वियागरेज्जा समया सुपण्णे" ॥ २२ ॥ इति सूत्रकृताङ्गचतुर्दशाऽध्ययनोक्तगाथायां 'विभज्जवाय च वियागरेज्जा' इत्युक्तेः । एष विभज्यवादः प्रवचनसारभूतः, एतद्बोधनेनैव प्रवचनस्य फलवत्त्वात् । नन्वेवं तर्हि कालिकश्रुते नयैर्व्याख्या न कर्त्तव्येति कथमुक्तमिति चेत्, उच्यते समाधिः, तत्राशेषनयप्रतिषेध आचार्यविनेयविशिष्टबुद्ध्यभावापेक्ष एवोक्तः, श्रोतृवक्तृ-

निर्मलविशिष्टबुद्ध्युत्कर्षसद्भावे तु सम्प्रत्यपि श्रोतृधीपरिकर्मणानिमित्त नयव्याख्याऽनुमतैव, उक्तञ्च भाष्ये "भासिज्ज नित्थरेण वि नयमयपरिणामणाममत्थम्मि। तदसत्ते परिकम्मणमेगनएण पि वा कुज्जा ॥२२७८॥" इति, सुगमा, नवर वा शब्दाद् नयद्वयेन त्रयेण वा शिष्यमतिपरिकर्मणां कुर्यात्, तथाविधमतिमान्द्ये तु नैकमपि नय भाषेत, इत्येतदपि दृष्टव्यम् ॥ ५३ ॥

अथोत्सर्गतो निखिलनयचतुर प्रपश्चितज्ञ प्रतिपत्तारमुद्दिश्य अहमेवास्यार्थस्य वेत्ता नापर इत्येवमौद्धत्य परिहरद्भि॰ स्याद्वादतत्त्वज्ञैः पारमेश्वरप्रवचनपरिणतबुद्धिभिराद्यचरमलक्षणमापाद्येन परस्परसापेक्षद्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकोभयनयोक्तिरूपप्रमाणवाक्यात्मिका स्याद्वादप्ररूपणा कर्त्तव्या, तस्या एव परिपूर्णवस्तुप्रतिपादकत्वात्, न तु निरपेक्षप्रत्येकनयोक्तिरूपैकान्ततत्त्वप्ररूपणा, तस्या मिथ्यारूपत्वादिति प्रतिपाद्य अपवादतस्तु द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकान्यतरनयमेकतरनयप्रियञ्च श्रोतृजनमुद्दिश्य स्याद्वादप्रतिपत्तियोग्यतामाधातु तदज्ञावैकनयप्ररूपणाऽपि कर्त्तव्या, तयाऽपि स्याद्वादप्रतिपादनयोग्यतां कर्तु शक्यत्वात्, 'असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा, तत॰ सत्य समीहते' इति न्यायादिति प्रतिपादयितुमाह—

पुरिसज्जाय तु पडुच्च जाणओ पन्नवेज्ज अन्नयर।
परिकम्मणाणिमित्त, दाएहि सो विसेस पि ॥ ५४ ॥

'पुरिसज्जाय' पुरुषजात प्रतिपन्नद्रव्यपर्यायान्तरस्वरूप श्रोतार, 'पडुच' प्रतीत्य आश्रित्य, उद्दिश्येति यावत् 'जाणओ' ज्ञक॰ स्याद्वादतत्त्वज्ञः 'पन्नवेज अन्नयर' प्रज्ञापयेत् आचक्षीत अन्यतरत्, द्रव्य वा पर्याय वा यदज्ञातम्, द्रव्य ज्ञात्वा तदङ्गीकर्त्तार श्रोतारम्प्रति पर्यायमेव, पर्याय ज्ञात्वा तद्दूरीकर्तार तम्प्रति द्रव्यमेव प्ररूपयेत्, किमर्थमेन प्रज्ञापयेदित्याशङ्कानिवृत्त्यर्थ तत्फलमाह—'परिकम्मणाणिमित्त' परिकर्मणानिमित्त, श्रोत्रा योऽज्ञातोंऽशस्तद्विषयकबुद्धिपाटवार्थम्, न हि प्रत्येकतत्तदशज्ञानाभावे निखिलाशनिशिष्टार्थज्ञान भवितुमर्हतीति द्रव्यांशपर्यायांशविशिष्टवस्तुज्ञाने द्रव्यांशविषयकज्ञान पर्यायांशविषयकज्ञानञ्च हेतुरित्यज्ञाताशज्ञानेन तद्विषयकबुभुत्सुत्कर्षे सति परिकर्मितमतये श्रोत्रे 'दाएहि सो विसेस पि' दर्शयिष्यति स स्याद्वादाभिज्ञ विशेषमपि, द्रव्यपर्याययोः परस्पराऽविनिर्भागरूप द्रव्य पर्यायसयुक्त पर्यायाश्च द्रव्यावियुक्ता इत्येव लक्षण स्याद्वादविशेषमपि, अन्यथैकांशविषयकविज्ञानस्य विपर्ययरूपता स्यात्, तदितराऽभावे तद्विषयस्याऽप्यभावात्, ततश्चेयमेकनयदेशनाऽपि परस्परसापेक्षद्रव्यपर्यायोभयात्मकवस्तुविषयकस्याद्वादज्ञानोत्पादकत्वाद्भावतस्स्याद्वाददेशनैवेत्येकनयदेशनाया एकान्तविषयाऽसत्यत्वेन तद्विषयिकाया अयथार्थज्ञानजनकत्वान्मिथ्यारूपतया स्वरूपतोऽसत्यत्वेऽपि स्याद्वादव्युत्पादकतया फलतस्सत्यत्व भावनीयम्।

इति श्रीसम्मतितर्कमहार्णवावतारिकाख्याया सम्मतितर्कटीकाया
प्रथमकाण्ड समाप्तिमगात् ॥

॥ अथ प्रशस्तिः ॥

अर्हत्प्रभूक्ताखिलतत्त्वमित्थ-मेवेति सद्दर्शनशुद्धिहेतोः ।
द्रव्यानुयोगस्य सुसूक्ष्मतत्त्व-रत्नैर्भृतस्सम्मतितर्कनाम्नः ॥ १ ॥

ग्रन्थस्य पूज्याभयदेवसूरि,-दृब्धाऽऽद्यगाथा विवृतिर्विशाला ।
तत्र प्रवेशोऽल्पधियामशक्यो, मत्वेति तेषामवगाहनार्थम् ॥ २ ॥

तरीममायामवतारिकाख्य-वृत्तौ कृतायां समयानुगायाम् ।
यर्षाब्धदाबादपुरे प्रभूता-र्हद्रव्यचैत्याप्रतिरूपशोभे ॥ ३ ॥

श्रीन्यायवाचस्पतियुक्तशास्त्र-विशारदाचार्यपदाश्रितेन ।
श्रीसूरिसम्राड्गुरुपट्टद्धिचातु-र्मास्याऽऽवसद्दर्शनसूरिणेय ॥ ४ ॥

तुल्यास्यकान्तेश्शशिनाथविद्वत्-संगीयमानाच्छगुणोत्करस्य ।
श्रीनेमिसूरेः सुगुरोः प्रभावात्, श्रीविक्रमाब्दे त्रिपयून्ययुग्मे(२००३) ॥५॥

श्रीमार्गशीर्षे सितपक्ष एकादश्यां तिथौ चाऽऽदिमकाण्डटीका ।
आयुष्यदन्त शुणाकाङ्क्षिचित्ते, पूर्ति गताऽपूर्वमुद तनोतु ॥६॥ षड्भिः कुलकम् ।

इति दूषमाकालनिशादिवाकरकल्पत्वेनावाप्तयथार्थाभिधान-प्रवचनोपनिषद्वेदि-महा
तर्कवादिशिरोमणि—श्रीसिद्धसेनदिवाकरभगवत्प्रणीतस्याखिलनयसमर्दगहनस्य
सम्यग्दर्शनविशुद्धिकृद्द्रव्यानुयोगतत्त्वरत्नरत्नाकरस्य सकलतत्त्वपरनयपरिशुद्धि-
विधायकमहातर्कसङ्घटितस्य "श्रीसम्मतितर्कप्रकरणस्य" सार्वतत्त्वामृतर-
ससङ्गविसमवाप्तसुवर्णभावालङ्कृता ऽखर्वगर्ववादिवृन्दाप्रधृष्य प्राज्ञपार्षद्गण
चमत्कारकृद्वाणीविलाससमुद्भूतानुपममव्यप्राणहृदखण्डप्रमोदभरप्रसृ-
तशशभृद्धवलकीर्तिभरधवलितभूवलय-भव्यात्मसम्यग्दर्शनाति-
विशुद्धिकृदनल्पमहातीर्थसमुद्धारविहितकक्ष-श्रीतपागच्छनभोन-
भोमणि-सूरिसम्राड्-भट्टारकाचार्य-श्रीविजयनेमिसूरीश्वर
पट्टनभोभास्करसमवाप्त न्यायवाचस्पति-शास्त्रविशारद-
बिरुदभट्टारकाचार्य-श्रीविजयदर्शनसूरीश्वर
विरचितायां सम्मतितर्कमहार्णवावतारि-
काख्यटीकायां प्रथमकाण्ड समाप्तिमगात् ॥

॥ श्रीसम्मतितर्कप्रकरणम् ॥



॥ द्वितीयकाण्डम् ॥

मङ्गलाचरणम्

यत्पादपद्माच्छरसाय नित्यम्, योगीन्द्रदेवेन्द्रनरेन्द्रवृन्दम् ।
द्विरेफति श्रीमधुमत्यभिख्य-पुराधिपस्सोऽस्तु शिवाय वीरः ॥ १ ॥

क्षान्त्यादयो भान्ति गुणाश्च यस्मिन्, विशेषतो ह्याश्रयसद्गुणेन ।
दुग्धं स्वभावाद्धवलं तथाऽपि, चकास्ति शङ्खाश्रयतो विशिष्य ॥ २ ॥

धुराश्रिता य जिनशासनस्य, निधिं धियां दूषणतोऽतिदूरम् ।
नमामि तं श्रीविजयादिनेमि-सूरिं गुरुं सूरिकदम्बसूरम् ॥ ३ ॥ युग्मम् ।

एवं सामान्यं न विशेषविकलं विशेषा अपि न सामान्यविकलाः खपुष्पवदसत्त्वात्, तदुक्तम्—निर्विशेषं हि सामान्यं, भवेत् खरविषाणवत् ।
सामान्यरहितत्वेन, विशेषास्तद्वदेव हि ॥ १ ॥ इति ।

तथा चान्योन्याऽनुस्यूतत्वात्तयोस्तदुभयात्मकं ज्ञेयस्वरूपं प्रतिपाद्याधुनोपयोगोऽप्युपसर्जनीभूतविशेषाकारप्रधानीभूतसामान्याकारदर्शनोपसर्जनीभूतसामान्याकारप्रधानीभूतविशेषाकारज्ञानस्वरूपद्वयात्मकः प्रमाणम्, अयम्भावः—उपयोगो दर्शनज्ञानोभयात्मक इति य एव दर्शनोपयोगस्स एव ज्ञानोपयोगतया ज्ञानोपयोगश्च दर्शनोपयोगतया परिणमत इति दर्शनत्वेन ज्ञानत्वेन भिन्नमपि दर्शनं ज्ञानञ्चोपयोगस्वरूपतयाऽभिन्नमित्यनेकान्तस्वरूपतया तदुभयात्मक उपयोगः प्रमाणम्, न त्वेकान्तभिन्नदर्शनात्मको न चैकान्तभिन्नज्ञानात्मकस्सः । एतेन सामान्यग्राहिदर्शनमेव प्रमाणमित्येकान्तद्रव्यार्थिकनयमतं, विशेषग्राहिज्ञानमेव प्रमाणमित्येकान्तपर्यायार्थिकनयमतं निरस्तम्, एकान्तभिन्नदर्शनज्ञानयोरप्रमाणत्वात्, तदेवोपदर्शयितुं द्वितीयकाण्डमारिप्सुः सिद्धान्तपाथोधिश्रीसूरिर्द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकाभिमतप्रत्येकदर्शनज्ञानस्वरूपप्रतिपादिकां गाथामाह—

जं सामण्णग्गहणं, दंसणमेयं विसेसियं नाणं ।
दोण्ह वि णयाण एसो, पाडेक्कं अत्थपज्जाओ ॥ १ ॥ ५५ ॥

" जं सामण्णग्गहणं दसणमेय " यत् सामान्यग्रहण दर्शनमेतत्, द्रव्यास्तिकनयमते यदनुगतस्वरूपेण प्रतीतौ भासते तदेव सत्, भासते च तत्र तद्रूपेण सामान्यमेवेति तदेव सत्, न विशेषाः, तेषामननुगतत्वेन तत्राप्रतिभासनादिति सामान्यमेव तन्मते वस्तु, तदेव गृह्यतेऽनेन तत्सामान्यग्रहणम्, यद्वा गृह्यतेऽनेनेति ग्रहणम्, सामान्यस्य ग्रहण सामान्यग्रहणम्, तत्किमित्यत आह—'दसणमेय' दर्शनमेतत्, द्रव्यार्थिकस्य मते इति शेषः। 'विसेसिय' विशेषित विशेषविषयकम्, अत्र सामान्यग्रहणमित्यस्माद् ग्रहणमित्यस्य विच्छिद्य विशेषविषयकमित्यर्थकेन ' विसेसिय ' इत्यनेन सम्बन्धः, तथा च विशेषात्मकवस्तुविषयकं यद्ग्रहण तत् ' नाण ' ज्ञानम्, पर्यायास्तिकस्य मत इति शेषः। यद्वा पर्यायास्तिकनयस्य मते वहनदोहनादितत्तत्क्रिया वाहगवादितत्तद्विशेषैरेव भवन्ति, न सामान्येनेत्यर्थक्रियाकारित्वात्त एव सद्रूपाः, न सामान्यमिति तदात्मकमेव वस्त्वभिमतम्, एतच्च प्रागेव विस्तृतमिति नेह प्रतन्यते, तथा च विशेप एव गृह्यते येन तद्विशेषग्रहण ज्ञानमित्यभिधीयते, विशेषितमिति पद लक्षणया विशेषग्रहणपरमित्यभिप्रायः। ' दोण्ह वि नयाण ' द्वयोरपि अनयोर्नययोः ' एसो पाडेक्क अत्थपज्जाओ ' एप प्रत्येकमर्थपर्यायः, अर्थं विषय पर्येति अवगच्छति यः सोऽर्थपर्यायः, ईदृग्भूतार्थग्राहकत्वमित्यर्थः। द्रव्यार्थिकनयेन सामान्यमात्र ग्रहणात्मक दर्शनमभ्युपगतम्, पर्यायार्थिकनयेन तु विशेषमात्रग्राहक ज्ञानमुरीकृतमिति भावः। "कतिविहे ण भते! उवओगे पन्नत्ते? गोयमा! दुविहे उवओगे पण्णत्ते, त जहा—सागारोवओगे य अणागारोवओगे य " इति प्रज्ञापनाऽष्टाविंशतितमपदेऽभिधानात्, उपयोगस्साकारानाकारभेदाभ्यां द्विविधः, तत्राकारः प्रतिनियतोऽर्थग्रहणपरिणामः, "आगारो अ विसेसो " इति वचनात्, सहाऽऽकारेण वर्तत इति साकारः, स चासावुपयोगश्च साकारोपयोगः, सचेतने अचेतने वा वस्तुनि उपयुञ्जान आत्मा यदा सपर्यायमेव वस्तु परिच्छिनत्ति तदा स उपयोगस्साकार इत्युच्यते, न विद्यते यथोक्तरूप आकारो यत्र सोऽनाकारः, स चासावुपयोगश्चानाकारोपयोगः, यो वस्तुनः सामान्यरूपतया परिच्छेदः सोऽनाकारोपयोगः, तत्रानाकारोपयोगो दर्शन, साकारोपयोगस्तु ज्ञानमित्युच्यते। तत्र द्रव्यार्थिकनयेन दर्शनमात्र प्रमाणतया पारमार्थिकमभ्युपगतम्, पर्यायार्थिकनयेन तु ज्ञानमात्र, न तु दर्शनमिति प्रत्येकनयार्पणा—

" ज सामण्णग्गहणं, गहण इयरोवसज्जण च्चेव।
अत्थस्स दसण तं, विवरीतं होइ नाण तु ॥ १ ॥ " इति

धर्मसङ्ग्रहणीवचनादुभयनयार्पणया तु सामान्यप्रधान विशेषोपसर्जन ग्रहण दर्शन विशेषप्रधान सामान्योपसर्जन ग्रहण ज्ञानम्, तथा च तौ द्वावप्युपयोगावुपसर्जनीकृततदितराकारौ प्रधानीकृतस्वस्वविषयावभासकत्वेन प्रवर्तमानौ प्रमाणम्, न तु निरस्तेतराकारौ,

इतरांशविकलैकांशरूपविषयाभावेन निर्विषयतया प्रमाणत्वानुपपत्तेः, ननु भवत्येव तथापि किं ज्ञानोपयोगो दर्शनोपयोगो वा सर्वदा सर्वजीवेषु प्रवर्त्तते किंवा कदाचित्, सामग्र्यभावादिति चेत्, उच्यते, "उपयोगो लक्षणं" इति २-८। तत्त्वार्थसूत्रवचनात् उपयोगो लक्षणमात्मनः, तच्चाग्नेरुष्णत्ववत्स्वरूपलक्षणम्, न तु चैत्रस्य दण्डवत्तटस्थलक्षणमिति लक्ष्यलक्षणयोः कथञ्चिदभेदाल्लक्षणभूतोपयोगं परिहृत्यैकक्षणमात्रमपि कोऽपि लक्ष्यभूत आत्मा नैवावतिष्ठते, लक्ष्यतावच्छेदकसमनियतधर्मो हि लक्षणमिति यदा कदाऽप्युपयोगलक्षणाभावे जीवे लक्ष्यतावच्छेदकीभूतं जीवत्वमपि न स्यात्, व्यापकाभावे व्याप्याभावस्यावश्यम्भावात्। नन्वुत्पत्तिकालावच्छेदेन निर्गुणमेव पृथिव्यादिद्रव्यमुत्पद्यते, अत एव प्रतियोगिव्यधिकरणत्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावाऽप्रतियोगिभूतगन्धादिवत्त्वमेव पृथिव्या देर्लक्षणम् पर्यवसायितयोच्यते नैयायिकेन, तद्वत्प्रकृतेऽपीत्युपयोगाभावस्यापि कदाचिदात्मनि सद्भावेऽपि प्रतियोगिव्यधिकरणत्वाभावात्र स प्रतियोगिव्यधिकरणत्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावः, किन्त्वन्यात्यन्ताभाव एवेति तदप्रतियोगिभूतोपयोगवत्त्वलक्षणस्यात्मनि सर्वदा सङ्घटनान्नाजीवत्वप्रसङ्ग इति चेत्, मैवम्, न हि प्रथमक्षणे निर्गुणं घटादिद्रव्यमुत्पद्यते, द्वितीयक्षणे च तत्र गुणोत्पत्तिरिति केनाप्यनुभूयते, अनुभूयते च यदैव मृत्पिण्डादिपूर्वपर्यायं परित्यज्य घटाद्युत्तरपर्यायतया परिणमते मृद्द्रव्यं तदैव तत्र नीलपीतादिपूर्वपर्यायविनाशेनोत्तररक्तादिपर्यायोत्पादः, अत एव समवायस्य गुणगुणिनोरेकान्तभेदस्य च पूर्वमेव निषिद्धत्वात्समवाय्यादिकारणत्रयात्कार्योत्पत्तिरिति कारणगुणपूर्वकः कार्यगुण इति च नैयायिकवैशेषिकप्रवादस्याप्रामाण्यमवसेयमिति। यदुक्तं तत्त्वार्थप्रथमाध्यायतृतीयसूत्रटीकायाम्—"परिणामोऽचेतनपरमाण्वादीनां शुक्लादिरित्यादि। तत्त्वार्थचतुर्विंशतितमसूत्रभाष्ये "स्पर्शादयः परमाणुषु स्कन्धेषु च परिणामजा एव भवन्ति" इत्यादि॥ "तेऽपि हि शुक्लादयः कृष्णादित्वेन परिणमन्ते वर्णादिसामान्यमजहन्तः" इत्युक्तं तत्त्वार्थपञ्चमाध्यायैकचत्वारिंशत्सूत्रटीकायामिति। एवमेव देवमनुष्यादि–बालयुवादिपूर्वोत्तरपर्यायानुगाम्यात्मद्रव्यात्मनि पूर्वस्य दर्शनात्मकस्य ज्ञानात्मकस्य वोपयोगपर्यायस्योत्तरेण ज्ञानात्मकेन दर्शनात्मकेन वोपयोगेन रूपेण परिणामो भवतीति तदुल्लङ्घ्य आत्मा न कदाप्यवतिष्ठते, सुषुप्त्याद्यवस्थोत्तरकालावच्छेदेन व्यक्तीभूतज्ञानलिङ्गेन तत्पूर्वकालावच्छिन्नाऽव्यक्तज्ञानस्य पयसि सर्पिष इवानुमीयमानत्वेन सुषुप्तिकालेऽप्यव्यक्तज्ञानमभ्युपगम्यत एवेति, तत्र श्वासप्रश्वासादिसन्तानोऽव्यक्तचैतन्यप्रयुक्त एव, कथमन्यथा तत्र श्वासोच्छ्वासादिसन्तानोपपत्तिस्स्यात्, अत एव सुप्तमूर्च्छितादीनां जलसेकादिप्रतिकारेणाव्यक्तचैतन्यमेवाभिव्यज्यत इत्यनुभव, सुषुप्त्युत्थितस्य 'सुखमहमवाप्सं न किञ्चिदवेदिषम्' इत्यनुभवस्तु न किञ्चित्पदोपरागेणाव्यक्तज्ञानमेवावगाहते। स्यादेतत् इन्द्रियवृत्तिनिरोधेन सुषुप्तौ ज्ञानमनुपपन्नम्, "द्रव्याध्यक्षे त्वचो योगो मनसा ज्ञानकारणम्" इति, कारिका-

क्लीबवचनाद् अन्यज्ञानसामान्ये त्वङ्मनोयोगस्य कारणत्वेन तदानीं त्वचं त्यक्त्वा पुरीतति नाडीवर्त्तमानेन मनसा ज्ञानाऽजननादिति चेत्, मैवम्, द्रव्येन्द्रियेष्वप्युपरोधेऽपि तदानीं भावेन्द्रियजज्ञानसम्भवात्, दर्शनावरणकर्मप्रकृतिकार्यविशेषरूपायाः सुषुप्तेर्व्यक्तचक्षुर्दर्शनादेरेवोपघातित्वात्। युक्तश्चैतत्–निश्चयतोऽविकलकारणस्यैव कार्योत्पत्तिव्याप्यत्वात्, अविकलञ्च कारणं ज्ञाने उपयोगेन्द्रियमेव, तच्चात्मलिङ्गत्वाल्लिङ्गमन्तरेण लिङ्गिनोऽनुपपत्तेः सुषुप्तिकालेऽपि लब्धसत्ताकं कथं न स्वकार्यं ज्ञानं जनयेदिति। अत एव—

"जह सुहुमं भाविंदियनाणं दव्विंदियावरोहे वि" इति।
जं किर बउलाईणं, दीसइ सेसेंदियोवलम्भो वि।
तेणत्थि तदावरणक्खओ–वसमसम्भवो तेसिं ॥ ३०० ॥

इति च विशेषावश्यकभाष्योक्तेरेकेन्द्रियजीवेष्वपि द्रव्येन्द्रियपञ्चकाभावेऽपि स्पर्शनेन्द्रियादिभावेन्द्रियपञ्चकज्ञानं सिद्धान्तेऽभ्युपगतम्, एतत्सर्वं सविस्तरमस्मत्प्रणीततत्त्वार्थविवरणटीकायामुक्तमिति तत एवावसेयम्। तादृशोपयोगक्रमे च देशकालादिनियन्त्रितक्षयोपशमक्रम एव नियामक इति विभावनीयम्। ननु भवन्मतेऽपि केवलदर्शनावरणकेवलज्ञानावरणकर्मणोस्सर्वघातिप्रकृतित्वेन केवलदर्शनावरणेन सर्वथाऽऽत्मीयदर्शनगुणं केवलज्ञानावरणेन सर्वात्मनाऽऽत्मीयज्ञानगुणं चाऽऽवृतमित्युपयोगशून्योऽप्यात्मा कथं नेति चेत्, तदपि न मनोरमम्, वस्तुतत्त्वानवबोधात्, तथाहि–केवलज्ञानावरणस्य स्वावार्यः केवलज्ञानगुणः, स च यद्यपि तेन सर्वात्मनाऽऽव्रियते, तथापि सर्वजीवानां केवलज्ञानस्यानन्ततमो भागोऽनावृत एवावतिष्ठते, केवलज्ञानावरणस्यापि तदावरणे सामर्थ्याभावात्। यदाहुः पूज्यश्रीदेवर्द्धिवाचकवरा नन्दीसूत्रे—"सव्वजीवाण पि य णं अक्खरस्स अणंतभागो निच्चुग्घाडिओ चिट्ठइ" इति। अयञ्चानावृतोऽनन्ततमभागस्वभावः केवलज्ञानावरणाऽऽवृतस्य जीवस्य घनपटलछन्नस्य रवेर्मन्दप्रकाश [illegible] मन्दप्रकाश इत्युच्यते। तत्र हेतुः केवलज्ञानावरणमेव, केवलज्ञानव्यावृत्तज्ञानत्वव्याप्यजातिविशेषावच्छिन्ने तद्धेतुत्वस्य शास्त्रोक्तत्वात्। ननूक्तकार्यकारणभावस्तदैव शोभेत यद्युत्कटे स्पष्टप्रकाशप्रतिबन्धके मन्दप्रकाशजनकत्वं दृष्टिगोचरं स्यात्, न चैवम्, भित्त्यादौ तस्याऽदर्शनादिति चेत्, मैवम्, सूर्यस्पष्टप्रकाशप्रतिबन्धके उत्कटे सान्द्राभ्राद्यावरणे मन्दप्रकाशजनकत्वस्य सर्वलोकानुभवसिद्धत्वात्, न चानावृतानन्ततमभागो मन्दप्रकाशसञ्ज्ञकोंऽशः केवलज्ञानस्यैव, अंशांशिनोश्च कथञ्चिदभेद इत्येकस्मिन्नेवावृतत्वानावृतत्वलक्षणविरुद्धधर्माध्यासोऽनिष्ट आपद्येतेति वाच्यम्, एकस्मिन् तन्त्वात्मकेंऽशेऽनावृतेऽपि पट आवृत इति प्रतीतिबलात् पटात्मकांशिद्रव्यापेक्षयाऽऽवृतत्वमेकतन्त्वाऽऽत्मकांशाऽपेक्षया चाऽनावृतत्वमितिवदत्रापि केवलज्ञानांश्यपेक्षयाऽऽवृतत्वमनन्ततमभागांशाऽपेक्षया चाऽनावृतत्वमित्येवमुभयोपपत्तावर्पितद्रव्यपर्यायात्मना कथञ्चिद्भेदाभेदवादे बाधका

भावात् । कथं तर्हि केवलज्ञानावरणस्य सर्वघातित्वमिति चेत् ,उच्यते, यथाऽतिबहले जलद पटले समुन्नते बहुतरप्रभाया आवृतत्वात् सर्वाऽपि सूर्याचन्द्रमसोः प्रभाऽनेनावृतेति व्यवहार प्रवर्त्तते, अथ चाद्यापि काचित् दिनरजनीविभागजनिका तत्प्रभा प्रसरति, " सुट्ठु वि मेह समुदए होइ पहा चंदसूराणं " इति नन्दीसूत्रवचनादनुभवसिद्धत्वाच्च, तथाऽनभ्युपगमे दिनरजनीविभागाभावस्स्यात्, तथाऽत्रापि प्रबलकेवलज्ञानावरणाऽऽवृतस्यापि केवलज्ञान स्याऽनन्ततमो भागोऽनावृत एवास्ते, तथास्वाभाव्यादेव, यदि पुनस्तमप्यावृणुयात् तद जीवोऽजीवत्वमेव प्राप्नुयात् । यदुक्तं नन्दीसूत्रे—" जइ पुण सो वि आवरिज्जा, ता जीवो अजीवत्तणं पाविज्जा " इति । सोऽपि चावशिष्टोऽनन्ततमो भागो जलधरानावृत दिनकरकरप्रसर इव कटकुड्यादिभिर्मति–श्रुता–ऽवधि–मनःपर्यायज्ञानावरणैरावियते, तथापि काचित् निगोदावस्थायामपि ज्ञानमात्राऽवतिष्ठते, अन्यथाऽजीवत्वप्रसङ्गस्स्यात् । तत्र सर्व निकृष्टज्ञानमात्रा सूक्ष्मनिगोदाऽपर्याप्तकानां प्रथमसमयोत्पन्नजीवानामभिधीयते, तस्मात्प्रभृ विज्ञानविशुद्धिर्भवति । उक्तञ्च—

> " सर्वनिकृष्टो जीवस्य दृष्ट उपयोग एष वीरेण ।
> सूक्ष्मनिगोदाऽपर्याप्तकानां स च भवति विज्ञेयः ॥ १ ॥
> तस्मात्प्रभृतिज्ञानविवृद्धिर्दृष्टा जिनेन जीवानाम् ।
> लब्धिनिमित्तैः करणैः कायेन्द्रियवाङ्मनोदृग्भिः ॥ २ ॥ " इति

मतिज्ञानादिविषयभूतांश्चार्थान् यान् छद्मस्थात्मा न जानीते तत्र प्रतिबन्धकः केवल ज्ञानावरणोदयो न भवति, तस्याऽनन्तपदार्थविषयकप्रत्यक्षज्ञानोत्पत्तावेव प्रतिबन्धकत्वात् किं तर्हि ? मतिज्ञानावरणाद्युदय एवेति । एवं केवलदर्शनावरणस्य समस्तवस्तुस्तोमसामा न्यावबोध आवार्यः, तं सर्वं हन्तीति सर्वघाति अभिधीयते, तदनन्ततमभागं त्विदमपि सामर्थ्याभावान्नावृणोति, सोऽपि चानावृतोऽनन्ततमभागश्चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनावरणैराव्रियते तथापि काचिन्निगोदावस्थायामप्यव्यक्तदर्शनमात्राऽवतिष्ठते, अत्रापि जलधरदृष्टान्तादि भावना पूर्ववदेव, छद्मस्थात्मा यान् चक्षुर्दर्शनादिविषयानर्थान् न पश्यति तत्र प्रतिबन्धक केवलदर्शनावरणोदयो न भवति, तस्य निखिलसामान्यविषयकदर्शनोत्पत्तावेव प्रतिबन्धक त्वात्, किं तर्हि ? चक्षुर्दर्शनावरणाद्युदय एवेति । तथा च केवलज्ञानावरणावृतस्यात्मनो घनपटलाच्छादितस्य सूर्यस्येव योऽनन्ततमभागात्मको मन्दप्रकाशः सोऽपान्तरालावस्थित मतिज्ञानाद्यावरणक्षयोपशमभेदसम्पादितं नानात्वं भजते, यथा घनपटलावृतसूर्यमन्दप्रकाशो ऽपान्तरालावस्थितकटकुड्याद्यावरणविवरप्रदेशभेदतः, स च नानात्वं क्षयोपशमानुरूपं तथ प्रतिपद्यमानः स्वस्वक्षयोपशमानुसारेणाभिधानभेदमश्नुते, यथा मतिज्ञानावरणक्षयोपशम जनितः स मन्दप्रकाशो मतिज्ञानं, श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमजनितः श्रुतज्ञानम्, अवधिज्ञाना

वरणक्षयोपशमजनितोऽवधिज्ञानम्, मनःपर्यायज्ञानावरणक्षयोपशमजनितो मनःपर्यायज्ञानमिति। केवलज्ञानावरणीयेन सर्वात्मनाऽऽवृतेऽपि केवलज्ञाने तद्गतमन्दविशिष्टविशिष्टतरविशिष्टतमज्ञानप्रकाशरूपाः क्षायोपशमिकभावात्मका एते मतिज्ञानादयश्चत्वारोऽपि भेदाः सर्वथा केवलज्ञानावरणापगमे सति तदुत्पन्नस्य केवलज्ञानस्य—

" पणग खलु पडिवाए, तत्थेगो देवभावमासज्ज।
मणुए रोगपमाया, केवलमिच्छत्तगमणे वा ॥ १३७ ॥ "

इति बृहत्कल्पभाष्ये तत्क्षयोपशमनाशकतायाः प्रतिपादितत्वात्तेन मतिज्ञानाद्यावरणक्षयोपशमनाशे सति न भवन्ति, तदानीं मतिज्ञानाद्यावरणक्षयोपशमरूपनिमित्ताभावात्, केवलज्ञानव्यावृत्तज्ञानत्वव्याप्यजातिविशेषावच्छिन्ने केवलज्ञानावरणस्य हेतुत्वेन तदभावाच, अत एव न मतिज्ञानावरणक्षयादिनाऽपि तदानीं मतिज्ञानाद्युत्पादनप्रसङ्गः, अत एव मतिज्ञानादेर्विभावगुणत्वमिति प्रसिद्धिः। तथा च सिद्धमेतन्निमित्तभेदाद् ज्ञानं पञ्चविधमिति, तदपि प्रमाणेन विचार्यमाणं प्रत्यक्षपरोक्षद्वयरूपमेव भवति, तदन्यप्रमाणानां तत्रैवान्तर्भावात्, यथा च तेषां तदन्तर्भावस्तथा व्युत्पादितमस्मत्प्रणीततत्त्वार्थविवरणटीकायामिति तत एवाऽवसेयं विस्तरार्थिना, नेह ग्रन्थगौरवभीत्या विस्तार्यते। ननु तथापि पञ्चज्ञानमध्ये त ज्ञानं प्रत्यक्षप्रमाणमिदञ्च परोक्षप्रमाणमिति विवेको नावधृत इति चेद्, सोऽप्युच्यते—अक्षमिन्द्रियं प्रतिगतं कार्यत्वेनाश्रितं यज्ज्ञानं तत्प्रत्यक्षम्, इन्द्रियजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षमित्यर्थः, तत्स्वरूपञ्च मतिज्ञानम्, तद्व्यवहारनयतो यद्यपि प्रत्यक्षप्रमाणम्, लोकेऽपीन्द्रियजन्यज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वेन व्यवहारात्, अत एव विशेषावश्यकभाष्येऽपि—" इंदियमणोभवं जं तं संववहारपच्चक्खं " इत्युक्तम्। तथापि निश्चयनयतस्तत्परोक्षमेव, तद्धटकाक्षशब्दस्यात्मार्थत्वेन ततो द्रव्येन्द्रियाणि द्रव्यमनश्च पुद्गलमयत्वात् पराणि वर्तन्ते—पृथग्वर्तन्त इत्यर्थः, तेभ्यो यदक्षस्यात्मनो ज्ञानमुदयते, न तु साक्षात्, तत्परोक्षम्, यदभिहितं भाष्ये—

" अक्खस्स पोग्गलकया जं दव्विन्दियमणा परा तेण।
तेहिं तो जं नाणं परोक्खमिह तमणुमाणं व ॥ ९० ॥ " इति।

परोक्षलक्षणस्येन्द्रियमनोनिमित्तकज्ञानपर्यवसायितया तद्रूपत्वात्तस्य। श्रुतज्ञानं तु परोक्षमेव परनिमित्तज्ञानरूपत्वात् अनुमानवत्। यदुक्तं नन्दीसूत्रे—परोक्खं नाणं दुविहं पन्नत्तं तं जहा—आभिणिबोहियनाणपरोक्खं च सुअनाणपरोक्खं च। अक्षो जीवः, तं प्रति साक्षाद्गतमिन्द्रियनिरपेक्षं वर्तते यज्ज्ञानं तत्प्रत्यक्षम्। यदुक्तं भाष्ये—

" जीवो अक्खो अत्थव्वावण-भोयणगुणण्णिओ जेण।
तं पइ वट्टइ नाणं जं पच्चक्खं तयं तिविहं ॥ ८९ ॥ " इति।

इदमपि व्युत्पत्तिनिमित्तमेव, नैश्चयिकं प्रवृत्तिनिमित्त तूत्पत्ताविन्द्रियमनोनिरपेक्षत्वम् स्वस्वावरणकर्मक्षयोपशमक्षयान्यतरसहकृतात्ममात्रजन्यत्व वा, तदेव च निश्चयप्रत्यक्ष लक्षणम्, तदाक्रान्तश्चावधिज्ञानादित्रयमिति तन्निश्चयप्रत्यक्षप्रमाणरूपम्। यदभिहित नन्दीसूत्रे—" से किं त नोइंदिअपच्चक्ख ? नोइंदियपच्चक्ख तिविह पन्नत्त, त जहा— ओहिनाणपच्चक्ख मणपज्जवनाणपच्चक्ख केवलनाणपच्चक्ख " इति। ननु व्यावहारिक नैश्चयिकप्रत्यक्षानुगत किं लक्षणमिति चेत्, अर्थसाक्षात्कारित्वमेवेत्यवेहि, तच साक्षात्करोमि स्पष्टमवैमीति प्रतीत्योरेकाकारत्वात्तदभिन्नस्पष्टतालक्षणम्। स्पष्टता यद्यपि ज्ञानावरणक्षयोपशमजन्यतावच्छेदकजातिरूपतया तत्क्षयजन्यतावच्छेदकजातिरूपतया च द्विविधा, तथापि स्पष्टताद्वय स्पष्टतात्वेनानुगतीकृत्य स्पष्ट प्रत्यक्षमित्येवानुगत लक्षण कर्त्तव्यम्, स्पष्टलक्षणप्रत्यक्षमपि शास्त्रे गुणमुख्यभेदेन द्विविध प्रोक्तम्, यदुक्तम्—" स्वार्थसवेदन स्पष्टमध्यक्ष मुख्यगौणत. " इति। तत्राद्यमसर्वपर्यायद्रव्यविषयमिन्द्रियानिन्द्रियप्रभवम स्मदाद्यध्यक्ष विशद सव्यवहारनिमित्त मतिज्ञानात्मकम्, तदपि निश्चयतस्तु परोक्षमेव, श्रुत ज्ञानवत् इन्द्रियाद्यपेक्षकत्वेनाविशदत्वात्। द्वितीयमप्युत्पत्तावात्ममात्रापेक्ष विकलसकल भेदेन द्विविधम्, तत्र विकल अवधिज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमजन्यरूपिद्रव्यमात्रविषयकाव धिज्ञानमन:पर्यायज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमजन्यमनोद्रव्यपर्यायमात्रसाक्षात्कारिमन:पर्यायज्ञा नभेदेन द्विविधम्, सकल तु केवलज्ञानावरणक्षयजन्यनिखिलद्रव्यनिखिलपर्यायावगाहि- केवलज्ञानरूपमेकविधमेवेति। अत्र बहु वक्तव्य तथापि ग्रन्थगौरवभीतेर्नोच्यते, विस्तरार्थि- नाऽस्मत्सन्दृब्धतत्त्वार्थविवरणटीकातोऽवसेयमिति।

ननु लक्षणाधीना लक्ष्यव्यवस्थितिरित्यत्र लक्ष्यीभूते प्रमाणे तदितराप्रमाणभिन्नत्वज्ञापक, प्रमाण प्रमाणस्वरूपतया व्यवहर्त्तव्यमित्याकारकव्यवहारप्रयोजकश्च तल्लक्षणमेवेति तत्किमिति चेत्, उच्यते, स्वार्थसवेदन प्रमाणमिति। तदर्थश्चैवम्—स्वयोग्योऽर्थस्स्वार्थ', तस्य सवेदन विशदतया निर्णयस्वरूपम्, तेन सशयविपर्ययाऽनध्यवसायलक्षणस्य ज्ञानस्य प्रमाणता- परिहार एव सन्मात्रगोचरस्य स्वसमयप्रसिद्धस्य दर्शनस्य व्यवहारानङ्गस्य तथाऽज्ञानरूप- स्येन्द्रियकारकसाकल्यादेश्च नैयायिकादिपरिकल्पितस्याऽविकल्पस्य वा सौगतपरिकल्पितस्य प्रामाण्यनिरास: कृत:। यद्वा स्व चार्थश्च स्वार्थौ तयो' सवेदन यथावस्थितत्वेन निश्चय: स्वार्थसवेदनम्, तत्र ज्ञानजन्यज्ञाततालिङ्गकातीन्द्रियज्ञानानुमानवादिनो भाट्टानामेकात्म समवेतोत्तरज्ञानेनाऽनुव्यवसायेन व्यवसायप्रत्यक्षमिति वादिना नैयायिकधुराशिमिश्राणां प्रधानविवर्त्तत्वेनाचेतनज्ञानवादिनां कापिलानां च मतमपाकर्त्तु स्वशब्दसदृब्दनम्, पारमा र्थिकपदार्थसार्थापलापिविज्ञानाद्वैतवादिमाध्यमिकवेदान्तिना मतं निरसितुमर्थपदोपादानम्, सम्पूर्णप्रमाणलक्षणवाक्येन पुन. परपरिकल्पितस्यार्थोपलब्धिहेतुत्वस्याविसवादकत्वस्यान

धिगतार्थाधिगन्तृत्वादेश्च प्रमाणलक्षणता परिक्षिप्ताऽवसेयेति, स्वपरव्यवसायिज्ञानं प्रमाणमिति लक्षणमप्युक्तस्वरूपमेवेत्यत्रैव गतार्थम्, तथापि किञ्चिद्व्याख्यायते-प्रतिपाद्यानुसारेण यथायोगं लक्ष्यं लक्षणं वा द्वयं वा विधीयते, परप्रतिपत्तये हि वाक्यमुच्चारयन्ति मनीषिणः, मोहपारतन्त्र्यवशात् परे चाऽनेकविधास्तद्विषये सशयाना विप्रतिपद्यमानाश्चोपलभ्यन्त इति स्वपरव्यवसायिज्ञानस्य प्रमाणत्वे विपर्ययसंशयानध्यवसायाः कस्यचित्सम्भुत्पद्यन्ते, तत्प्रतिक्षेपाय तु प्रत्यक्षधदहनन्यायेनाप्राप्तं प्रमाणं विधीयते, तथा च विवादास्पदं ज्ञानं प्रमाणं स्वपरव्यवसायिज्ञानत्वादित्यनुमानेन तत्र प्रमाणत्वं सिद्धिकोटिमुपढौकयन्ति कृतिनः। तथा मोहपारतन्त्र्याधीनयथार्थतत्त्वानभिज्ञत्वादेव प्रमाणस्य स्वपरव्यवसायिज्ञानत्वे कस्यचित्पुंसस्ते समुद्भवन्ति, प्रमाणं स्वपरव्यवसायिज्ञानं न किन्तु कल्पनापोढत्वेन निर्विकल्पकज्ञानरूपमेवेत्यभ्युपगन्तुर्बौद्धस्येवेति तदपनोदाय तं प्रति स्वपरव्यवसायिज्ञानत्वं विधेयीकृत्य विवादास्पदं प्रमाणं स्वपरव्यवसायिज्ञानं प्रमाणत्वान्यथाऽनुपपत्तेरित्यनुमानेन स्वपरव्यवसायिज्ञानत्वं सिद्धिसौधमारोपणीयम्, एवं प्रमाणप्रमेयापलापिशून्यवादिनम्प्रति समग्रं विधेयम्। तथा कदाचिल्लक्षणासिद्धये लक्ष्यणाशस्यैव व्यापारणा, यथा ज्ञानं स्वव्यवसायि परव्यवसायित्वान्यथाऽनुपपत्तेरिति। अत्र यौगास्सङ्गिरन्ते-" उक्तप्रमाणलक्षणं न युक्तिमद्भवम्, यतो ज्ञानं प्रदीपवत्स्वप्रकाशात्मकत्वेन स्वपरव्यवसायिज्ञानरूपमिति सिद्धौ तत्सिद्ध्यति, न च तदद्यापि सिद्धम्, यतो ज्ञानस्य बाह्यार्थविषयकत्वेन तत्र परव्यवसायित्वं प्रमाणगोचरमपि न च स्वव्यवसायित्वं प्रमाणमार्गमनुभवति, स्वसंवेदनज्ञानस्यैवाऽसिद्धेः, तथाहि-अयं घट इति ज्ञाने घटविषयकत्वे किम्मानमिति चिन्तायामनुव्यवसाय एव मानत्वेन प्रदर्शनीयः, तस्य घटविषयकत्वविशिष्टज्ञानविषयकत्वेन विशेषणविधया घटविषयकत्वस्यापि तत्र मानात् तेन तत्सिद्धेः, यद्विषयकं यज्ज्ञानं तेन तत्सिद्धिरिति व्याप्तेः, तदनुपदर्शने घटज्ञाने घटविषयकत्वमेव न तु पटविषयकत्वमित्यत्र विनिगमकाभावेन सर्वविषयकत्वं निर्विषयकत्वं वाऽऽपद्येत, तच्चानिष्टम्, न च किमनुव्यवसायप्रदर्शनेन, यज्ज्ञानं यदाकारं तज्ज्ञानं तद्विषयकमिति सामान्यव्याप्त्यैवाय घट इति ज्ञानस्य घटाकारत्वेन घटविषयकत्वसिद्धिस्स्यादेवेति वाच्यम्, बौद्धमते घटाकारत्वपटाकारत्वादेर्ज्ञानधर्मत्वेऽपि तन्मते वास्तवविषयविषयिभावस्यैवाऽभावेन तन्मताश्रयणस्याऽयुक्तत्वेन प्रकृते न्यायनयमत्रलम्ब्यैव विचारस्य प्रवर्तितव्यतया तन्मते घटाकारत्वस्य घटविषयकत्वाद्यतिरिक्तस्याभावेनात्माश्रयापत्त्या निरुक्तव्याप्त्या तस्य साधयितुमशक्यत्वात्, तन्मताश्रयणेऽपि वा तज्ज्ञाने घटाकारत्वमेव, न तु पटाकारत्वमित्यत्रानुव्यवसायं विना मानान्तरं न पश्यामः, तथा चानुव्यवसायस्य घटविषयकज्ञानवानहमित्याकारत्वेन व्यवसायविशेष्यकघटविषयकत्वप्रकारकतया व्यवसाये घटविषयकत्वसिद्धावपि व्यवसाये व्यवसायविषयकत्वानवगाहनेन व्यवसायविषयकत्वाऽसिद्धेः व्यवसायविषयत्वविषयकत्वं सुतरामसिद्धम्, न हि घटानवगाहि

ज्ञानस्य घटविषयकत्वविषयकत्वं केनाप्यनुमन्यते, तथा च व्यवसाये स्वविषयत्वरूपस्व-प्रकाशत्वस्याऽसिद्ध्या स्वप्रकाशज्ञानाऽसिद्धिरायातैव, न च सर्वज्ञानानां घटमहं जानामीत्या-द्याकारत्वात् प्रत्यक्षेणैव व्यवसायात्मकज्ञाने स्वविषयकत्वसिद्धिरिति ज्ञाने स्वसंविदितत्वं प्रत्यक्षसिद्धमेवेति वाच्यम्, तादृशानुव्यवसायस्य घटोऽयमिति व्यवसायोत्तरकालभावित्वेन भिन्नत्वेनैवानुभवात्। किञ्च घटमहं जानामीत्यस्य घटविषयकज्ञानवानहमित्यर्थकत्वेन कर्तृभूतमात्मानं तत्र कर्मद्वारा ज्ञानं तत्र च घटविषयकत्वं विशेषणविधयाऽवगाहमानं तज्ज्ञानं तेष्वेवात्मज्ञानविषयकत्वेषु प्रमाणं स्यात्, न तु व्यवसायात्मकज्ञाने स्वविषयत्वेऽपि, न हि घटज्ञानतद्विषयकज्ञानयोरभेदोऽद्यापि सिद्ध इति ज्ञानस्य स्वविषयकत्वमेव नास्ति, स्वविषयकत्वविषयकत्वं तु दुरापेतम्, तथा च यज्ज्ञानं यद्विषयकत्वाभाववत् तज्ज्ञानं तद्विषयकत्वे प्रमाणं न भवितुमर्हतीति नियमबलादेव घटमहं जानामीत्यनुव्यव-सायप्रत्यक्षं न व्यवसायगतस्वविषयकत्वे प्रमाणम्। अथ तदपि घटज्ञानविषयकत्वं विशे-षणविधयाऽवगाहत एवेति चेत्, तर्हि घटज्ञानज्ञानतानित्याकारप्रसङ्गस्स्यादिति चेत्, अत्र समाधीयते-" एकस्मादेव विषयावभाससिद्धेः किं द्वयकल्पनया" इति नियमबलादेव पूर्वमयं घट इति व्यवसायः तदनन्तरं घटमहं जानामीत्यनुव्यवसाय इति ज्ञानद्वयकल्पनं बाधा गौरवमात्रसम्पादकतयाऽनुपादेयत्वेन लाघवात् व्यवसाय एव कर्तृकर्मक्रियावगाह्य-नुव्यवसायाकारतयोपादेयः, तादृशानुव्यवसाये च ज्ञानविषयकत्वे विवादाभावेन तस्य स्वा-ऽभिन्नत्वेन स्वविषयत्वमप्यविवादसिद्धमेव। न्यायमते प्रतियोगिताऽनुयोगिता विशेष्यता प्रकारता च यथाश्रयस्वरूपा नातिरिक्ता तथा जैनमतेऽपि स्वविषयत्वस्य स्वस्मादनतिरि-क्तत्वेन ज्ञानात्मकत्वमाने तदात्मकविषयताया अप्यवश्यम्भानमिति स्वविषयत्वविषयक-त्वमप्ययत्नसिद्धमेवेति भवति स्वप्रकाशत्वसिद्धिः, एतेन घटमहं जानामीति ज्ञाने ज्ञानाव-भासेऽपि तद्विषयत्वं नावभासत इति ज्ञानस्य स्वविषयकत्वमेव नास्ति, स्वविषयत्वविषयकत्वं तु दुरापेतमित्याद्यर्थकं यदुक्तं प्राक् तन्निरस्तमवसेयम्, विषयता हि विषयस्वरूपैव, नाति-रिक्तः पदार्थ इति व्यवसायात्मकविषयभाने तत्स्वरूपाया विषयताया भानमपि न्याय्यमेव, तथा च घटमहं जानामीति ज्ञाने ज्ञानविषयत्वं सर्वैरपि स्वीक्रियत इति ज्ञानस्वरूपज्ञाननिष्ठ-विषयत्वविषयकत्वमपि तत्र स्वीकर्णीयमेव, पूर्वोक्तनीत्या व्यवसायस्यानुव्यवसायाभिन्नत्वेन तत्रापि तथात्वमयत्नसिद्धमेवेति, एतेन स्वस्यैव स्वविषयत्वे अभेद एव विषयविषयिभाव-स्स्वीकृतस्स्यात्, न चासौ युक्तः, भेदनियतत्वात्तस्येत्यपि निरस्तम्, भेदनियतो विशेषण-विशेष्यभाव० कथमभेद इत्यपि वक्तुं शक्यत्वात्, तस्माद् घटाभावे घटाभाव इति 'स्वस्मिन्' स्वविशेषणत्वप्रतीत्यन्यथानुपपत्त्या यथा स्वभावविशेषादभेदे विशेषणविशेष्यभावस्तथा प्रकृतेऽभेदेऽपि स्वभावविशेषादेव विषयविषयिभाव इति प्रतीहि। कोऽसौ स्वभावविशेष इति चेत्, उच्यते, शर्करायाः कीदृशं माधुर्यमिति केनचित्प्रश्ने कृते न प्रत्युत्तरं दातुमशक्यमपि

धिगतार्थाधिगन्तृत्वादेश्च प्रमाणलक्षणता परिक्षिप्ताऽवसेयेति, स्वपरव्यवसायिज्ञानं प्रमाणमिति लक्षणमभ्युक्तस्वरूपमेवेत्यत्रैव गतार्थम्, तथापि किञ्चिद्व्याख्यायते–प्रतिपाद्यानुसारेण यथायोगं लक्ष्यं लक्षणं वा द्वयं वा विधीयते, परप्रतिपत्तये हि वाक्यमुच्चारयन्ति मनीषिणः, मोहपारतन्त्र्यवशात् परे चाऽनेकविधास्तत्तद्विषये संशयाना विप्रतिपद्यमानाश्चोपलभ्यन्त इति स्वपरव्यवसायिज्ञानस्य प्रमाणत्वे विपर्ययसंशयानध्यवसायाः कस्यचित्समुत्पद्यन्ते, तत्प्रतिक्षेपाय स भस्मदग्धदहनन्यायेनाप्राप्तं प्रमाणं विधीयते, तथा च विवादास्पदं ज्ञानं प्रमाणं स्वपरव्यवसायिज्ञानत्वादित्यनुमानेन तत्र प्रमाणत्वं सिद्धिकोटिमुपढौकयन्ति कृतिनः। तथा मोहपारतन्त्र्याधीनयथार्थतत्त्वानभिज्ञत्वादेव प्रमाणस्य स्वपरव्यवसायिज्ञानत्वे कस्यचित्पुमस्ते सम्प्लवन्ति, प्रमाणं स्वपरव्यवसायिज्ञानं न किन्तु कल्पनापोढत्वेन निर्विकल्पकज्ञानरूपमेवेत्यभ्युपगन्तुर्बौद्धस्येवेति तदपनोदाय तं प्रति स्वपरव्यवसायिज्ञानत्वं विधेयीकृत्य विवादास्पदं प्रमाणं स्वपरव्यवसायिज्ञानं प्रमाणत्वान्यथाऽनुपपत्तेरित्यनुमानेन स्वपरव्यवसायिज्ञानत्वं सिद्धिसौधमारोपणीयम्, एवं प्रमाणप्रमेयापलापिशून्यवादिनम्प्रति समग्रं विधेयम्। तथा कदाचिल्लक्षणांशसिद्धये लक्षणांशस्यैव व्यापारणा, यथा ज्ञानं स्वव्यवसायि परव्यवसायित्वान्यथाऽनुपपत्तेरिति। अत्र यौगास्संगिरन्ते–" उक्तप्रमाणलक्षणं न युक्तिसङ्गतम्, यतो ज्ञानं प्रदीपवत्स्वप्रकाशात्मकत्वेन स्वपरव्यवसायिज्ञानरूपमिति सिद्धौ तत्सिद्ध्यति, न च तदद्यापि सिद्धम्, यतो ज्ञानस्य बाह्यार्थविषयकत्वेन तत्र परव्यवसायित्वं प्रमाणगोचरमपि न च स्वव्यवसायित्वे प्रमाणमावमनुभवति, स्वसंवेदनज्ञानस्यैवाऽसिद्धेः, तथाहि–अयं घट इति ज्ञाने घटविषयकत्वे किम्मानमिति चिन्तायामनुव्यवसाय एव मानत्वेन प्रदर्शनीयः, तस्य घटविषयकत्वविशिष्टज्ञानविषयकत्वेन विशेषणविधया घटविषयकत्वस्यापि तत्र मानात् तेन तत्सिद्धेः, यद्विषयकं यज्ज्ञानं तेन तत्सिद्धिरिति व्याप्तेः, तदनुपदर्शने घटज्ञाने घटविषयकत्वमेव न तु पटविषयकत्वमित्यत्र विनिगमकाभावेन सर्वविषयकत्वं निर्विषयकत्वं वाऽऽपद्येत, तचानिष्टम्, न च किमनुव्यवसायप्रदर्शनेन, यज्ज्ञानं यदाकारं तज्ज्ञानं तद्विषयकमिति सामान्यव्याप्त्यैवायं घट इति ज्ञानस्य घटाकारत्वेन घटविषयकत्वसिद्धिस्स्यादेवेति वाच्यम्, बौद्धमते घटाकारत्वपटाकारत्वादेर्ज्ञानधर्मत्वेऽपि तन्मते वास्तवविषयविषयिभावस्यैवाऽभावेन तन्मताश्रयणस्याप्राऽयुक्तत्वेन प्रकृते न्यायनयमवलम्ब्यैव विचारस्य प्रवर्तितव्यतया तन्मते घटाकारत्वस्य घटविषयकत्वाद्यतिरिक्तस्याभावेनात्माश्रयापत्त्या निरुक्तव्याप्त्या तस्य साधयितुमशक्यत्वात्, तन्मताश्रयणेऽपि ना तज्ज्ञाने घटाकारत्वमेव, न तु पटाकारत्वमित्यत्रानुव्यवसायं विना मानान्तरं न पश्याम, यथा चानुव्यवसायस्य घटविषयकज्ञानवानहमित्याकारत्वेन व्यवसायविशेष्यकघटविषयकत्वप्रकारकतया व्यवसाये घटविषयकत्वसिद्धावपि व्यवसाये व्यवसायविषयकत्वानवगाहनेन व्यवसायविषयकत्वाऽसिद्ध्या व्यवसायविषयत्वविषयकत्वं सुतरामसिद्धम्, न हि घटानवगाहि

ज्ञानस्य घटविषयकत्वविषयकत्वं केनाप्यनुमन्यते, तथा च व्यवसाये स्वविषयत्वरूपस्व-प्रकाशत्वस्याऽसिद्ध्या स्वप्रकाशज्ञानाऽसिद्धिरापतेव, न च सर्वज्ञानानां घटमहं जानामीत्याद्याकारत्वात् प्रत्यक्षेणैव व्यवसायात्मकज्ञाने स्वविषयकत्वसिद्धिरिति ज्ञाने स्वसंविदितत्वं प्रत्यक्षसिद्धमेवेति वाच्यम्, तादृशानुव्यवसायस्य घटोऽयमिति व्यवसायोत्तरकालभावित्वेन भिन्नत्वेनैवानुभवात्। किञ्च घटमहं जानामीत्यस्य घटविषयकज्ञानवानहमित्यर्थकत्वेन कर्तृभूतमात्मानं तत्र कर्मद्वारा ज्ञानं तत्र च घटविषयकत्वं विशेषणविधयाऽवगाहमानं तज्ज्ञानं तेष्वेवात्मज्ञानविषयकत्वेषु प्रमाणं स्यात्, न तु व्यवसायात्मकज्ञाने स्वविषयत्वेऽपि, न हि घटज्ञानतद्विषयकज्ञानयोरभेदोऽद्यापि सिद्ध इति ज्ञानस्य स्वविषयकत्वमेव नास्ति, स्वविषयकत्वविषयकत्वं तु दुरापेतम्, तथा च यज्ज्ञानं यद्विषयकत्वाभाववत् तज्ज्ञानं तद्विषयकत्वे प्रमाणं न भवितुमर्हतीति नियमबलादेव घटमहं जानामीत्यनुव्यवसायप्रत्यक्षं न व्यवसायगतस्वविषयकत्वे प्रमाणम्। अथ यदपि घटज्ञानविषयकत्वं विशेषणविधयाऽवगाहत एवेति चेत्, तर्हि घटज्ञानज्ञानवानित्याकारप्रसङ्गस्स्यादिति चेत्, अत्र समाधीयते—" एकस्मादेव विषयावभाससिद्धेः किं द्वयकल्पनया " इति नियमबलादेव पूर्वमयं घट इति व्यवसायः तदनन्तरं घटमहं जानामीत्यनुव्यवसाय इति ज्ञानद्वयकल्पनाया गौरवमात्रसम्पादकतयाऽनुपादेयत्वेन लाघवात् व्यवसाय एव कर्तृकर्मक्रियावगाह्यनुव्यवसायाकारतयोपादेयः, तादृशानुव्यवसाये च ज्ञानविषयकत्वे विवादाभावेन तस्य स्वाऽभिन्नत्वेन स्वविषयत्वमप्यविवादसिद्धमेव। न्यायमते प्रतियोगिताऽनुयोगिता विशेष्यता प्रकारता च यथाश्रयस्वरूपा नातिरिक्ता तथा जैनमतेऽपि स्वविषयत्वस्य स्वस्मादनतिरिक्तत्वेन ज्ञानात्मकत्वमाने तदात्मकविषयताया अप्यवश्यम्भानमिति स्वविषयत्वविषयकत्वमप्ययत्नसिद्धमेवेति भवति स्वप्रकाशत्वसिद्धिः, एतेन घटमहं जानामीति ज्ञाने ज्ञानावभासेऽपि तद्विषयत्वं नावभासत इति ज्ञानस्य स्वविषयकत्वमेव नास्ति, स्वविषयत्वविषयकत्वं तु दुरापेतमित्याद्यर्थकं यदुक्तं प्राक् तन्निरस्तमवसेयम्, विषयता हि विषयस्वरूपैव, नातिरिक्ता पदार्थ इति व्यवसायात्मकविषयभाने तत्स्वरूपाया विषयताया भानमपि न्याय्यमेव, तथा च घटमहं जानामीति ज्ञाने ज्ञानविषयत्वं सर्वैरपि स्वीक्रियत इति ज्ञानस्वरूपज्ञाननिष्ठविषयत्वविषयकत्वमपि तत्र स्वीकरणीयमेव, पूर्वोक्तनीत्या व्यवसायस्यानुव्यवसायाभिन्नत्वेन तत्रापि तथात्वमयत्नसिद्धमेवेति, एतेन स्वस्यैव स्वविषयत्वे अभेदं एव विषयविषयिभावस्वीकृतस्स्यात्, न चासौ युक्तः, भेदनियतत्वाचस्येत्यपि निरस्तम्, भेदनियतो विशेषणविशेष्यभाव. कथमभेद इत्यपि वक्तुं शक्यत्वात्, तस्माद् घटाभावे घटाभाव इति 'स्वस्मिन्' स्वविशेषणत्वप्रतीतेरन्यथानुपपत्त्या यथा स्वभावविशेषादभेदे विशेषणविशेष्यभावस्तथा प्रकृतेऽभेदेऽपि स्वभावविशेषादेव विषयविषयिभाव इति प्रतीहि। कोऽसौ स्वभावविशेष इति चेत्, उच्यते, शर्करायाः कीदृशं माधुर्यमिति केनचित्प्रश्ने कृते न प्रत्युत्तरं दातुमशक्यमपि

तेन तन्निराकर्तुमप्यशक्यं यथा तयोक्तस्वभावविशेष आख्यातुमशक्योऽपि प्रत्याख्यातुमप्यशक्य एवेति। येऽप्यत्र ज्ञानं स्वविषये घटादौ व्यवहारं प्रवर्त्तयत्स्वविषयेऽपि स्वस्मिन् व्यवहारं प्रवर्त्तयति, ज्ञानान्तरेण ज्ञानव्यवहारोपगमे गौरवं स्यादिति स्वव्यवहारशक्तत्वमेव स्वविषयत्वम्, तथाऽभेदेऽपि सम्भवत्येवेति स्वप्रकाशवादिप्रभाकरानुयायिनो वदन्ति, तन्मतमप्यसङ्गतमेव, यतस्स्वव्यवहारशक्तत्वं स्वव्यवहारानुकूलशक्तिमत्त्वं, शक्तावनुकूलत्वं च न जनकत्वं शक्तेरतीन्द्रियत्वेनाश्रयमात्रापेक्षत्वेन च तत्र स्वातन्त्र्येणान्वयव्यतिरेकाऽसम्भवात्, किन्तु जनकतावच्छेदकत्वम्, तच्च शक्तौ तदा स्यात् यदि शक्तिमत्त्वेन रूपेण ज्ञानस्य स्वव्यवहारं प्रति कारणत्वं भवेत्, तच्च न सम्भवति, यतो यदि शक्तिर्जनकतारूपैवाभ्युपगम्यते तदा तस्यैव स्वावच्छेदकत्वाद् व्यक्तमात्माश्रयः। अथ जनकतातो व्यतिरिक्ता सेति चेत्तदा तस्याः पदार्थान्तरत्वाभ्युपगमेनोक्तात्माश्रयदोषोद्धारेऽपि कारणत्वज्ञानं प्रति कारणतावच्छेदकज्ञानस्य कारणत्वेन ज्ञाने स्वव्यवहारकारणत्वज्ञानार्थं शक्तिज्ञानमपेक्षणीयम्, तच्च स्वव्यवहारशक्तं ज्ञानमित्याकारकं न कारणत्वग्रहं विना, शक्तेरतीन्द्रियत्वेन कारणत्वग्रहाधीनग्रहकत्वादित्यन्योन्याश्रयदोषापत्तिस्स्यादिति। नन्वनुव्यवसाये घटज्ञानविषयकत्वस्याप्यवगाहने घटज्ञानज्ञानवानित्याकारप्रसङ्गस्स्यादित्युक्तं किं विस्मृतं? न विस्मृतम्, ज्ञानस्येदं जानामीदं ज्ञानं जानामीत्युभयाकारत्वेनाऽभ्युपगमात्। नन्वेकमेव ज्ञानं घटं जानामि घटज्ञानं जानामीत्याकारद्वयशालि चेत्तदाऽऽकारद्वयवत्तयैव तदभिलप्येत, न च तथाऽभिलप्यत इत्यतो नाकारद्वयशालि तत्, न चैकं विरुद्धाकारद्वयशालि युज्येतापि, तथा सत्येकमेव न स्यादिति चेद्, नैवम्, यतो घटावगाहनांशघटज्ञानावगाहनांशयोर्भेदेन ज्ञानस्यापि कथञ्चिद्भेदस्स्वीक्रियत एव, ततो घटमहं जानामीति घटज्ञानमहं जानामीति चाभिलापभेदः, तत्र च विवक्षैव कारणम्, यदा परावबोधार्थं घटविषयकत्वेन ज्ञानं वक्ता वक्तुमिच्छति तदा घटं जानामीत्यभिलापः, यदा च घटविषयकज्ञानविषयकत्वेन तदा घटज्ञानं जानामीत्यभिलाप इति नाभिलापभेदो ज्ञानस्य सर्वथा भेदव्यवस्थापकः, न वा कथञ्चिदेकत्वाभ्युपगन्तृस्वप्रकाशवादिमते कथञ्चिद्भेदस्याप्यऽनुपपत्तिरिति। एतेन स्वविषयत्वे सिद्धे ज्ञानान्तरकल्पनागौरवसहकृतं ज्ञानगोचरताया ग्राहकं प्रत्यक्षं स्वप्रकाशतायां प्रमाणं, तेन च मानेन तस्य स्वविषयताविषयतासिद्धिरित्यन्योन्याश्रय इत्याशङ्कापि निरस्ता, लाघवाद् व्यवसायस्यैव ज्ञानविषयत्वेनानुभूयमानानुव्यवसायरूपत्वेनाभ्युपगमे सति पूर्वोक्तरीत्या स्वप्रकाशत्वसिद्धेः। अयम्भावः—यद्ययं घट इति ज्ञानमाश्रित्य स्वप्रकाशत्वं साध्येत तदोक्तदिशाऽन्योन्याश्रयः स्यात्, यतस्तस्य ज्ञानविषयकत्वेनाननुभवात्, स्वविषयकत्वस्य प्रमाणान्तरेणैव साध्यत्वापत्तेः, न चैवम्, घटमहं जानामीत्यनुव्यवसायमाश्रित्यैव स्वप्रकाशत्वं व्यवस्थाप्यते, तत्र च ज्ञानविषयत्वमनुभवसिद्धमेव, न प्रमाणान्तरायत्तास्साध्यम्, विषयतापन्नस्य च व्यवसायात्मकज्ञानस्य लाघवेन विषयितापन्नेनानु

व्यवसायात्मकज्ञानेनाऽभेदे च सिद्धे स्वविषयत्वमपि सिद्धमेव, तदेव च स्वप्रकाशत्वमिति क्काऽन्योन्याश्रय इति। ननु ज्ञानं स्वप्रकाशात्मकमित्यस्य स्वेनैव स्वस्य प्रकाशः स्वप्रकाशः तदात्मकमित्यर्थः स्वीकृतो जैनैः, तथा च स्वं स्वात्मनैव प्रकाशयति ज्ञानमिति सिद्धम्, अत एव "स्वस्य व्यवसायः स्वाभिमुख्येन प्रकाशनं बाह्यस्येव तदाभिमुख्येन करिकलभकमहमात्मना जानामीति" १-१७ प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारसूत्रोक्तमपि सङ्गच्छते, तच्च न युक्तम्, स्वात्मनि क्रियाविरोधात्, न हि सुतीक्ष्णोऽपि करवालः कदाचित् स्वं विदारयति, न च विचित्रगतिसञ्चारचतुराऽपि नर्त्तकी निजस्कन्धमधिरोढुं शक्नोतीति चेत्, अहो भवदीयाज्ञानविलासः, येन स्वदर्शनप्रसिद्धमपीश्वरज्ञानमाबालगोपालप्रसिद्धमपि वा प्रदीपालोकादिकं स्वपरप्रकाशकं नावधारयति, न हि त्रिजगत्कर्तृज्ञानं स्वप्रकाशे ज्ञानान्तरमपेक्षते, नापि प्रदीपदिनकराद्यालोकाः स्वस्वरूपप्रकाशने प्रकाशान्तरमपेक्षन्ते, प्रतीतिविरोधात्। एतेन घटमहं जानामीत्यादेर्ज्ञानस्य कर्तृकर्मक्रियावगाहित्वे सत्येव तादृशत्रिपुटीप्रत्यक्षात्स्वसंवेदनज्ञानसिद्धिस्स्यात्, न च तत्रितयावगाहित्वं तत्र सम्भवति, क्रियायाः कृतेर्वा समवायित्वलक्षणकर्तृत्वस्य परसमवेतक्रियाजन्यफलशालित्वलक्षणस्य करणव्यापारविषयत्वलक्षणस्य वा कर्मत्वस्य धात्वर्थत्वलक्षणस्य कृतिजन्यत्वलक्षणस्य वा क्रियात्वस्यायोग्यत्वेन तत्राभासमानत्वादित्यपि निरस्तम्, उक्तलक्षणतत्त्रितयाभानेऽपि आश्रयत्वलक्षणकर्तृत्वस्य विषयत्वलक्षणकर्मत्वस्य विशेषणीभूतज्ञानत्वलक्षणक्रियात्वस्य च भाने बाधकाभावात्, आश्रयत्वादित्रयाणामाश्रयरूपत्वाऽभ्युपगमेन तद्भाने तद्भानस्यावश्यम्भावात्। एतेन विशिष्टबुद्धिम्प्रति विशेषणज्ञानं कारणमिति नियमेन विशेषणीभूतज्ञानं पूर्वं नैव ज्ञातमिति जानामीत्यत्रापि तस्य विशेषणतया कथं भानं स्यात्, येन स्वसंवेदनज्ञानसिद्धिस्स्यादित्याशङ्काऽपि निरस्ता, पूर्वं विशेषणीभूतस्याभावस्यास्याऽज्ञानेऽप्यभाववद्विशिष्टबोधात्तत्र व्यभिचारवारणाय समानवित्तिवेद्यभिन्नविशेषणज्ञानत्वेन विशिष्टबुद्धौ हेतुत्वं वाच्यम्, एवञ्च जानामीति ज्ञानविशिष्टात्मज्ञाने ज्ञानरूपविशेषणस्यात्मसमानवित्तिवेद्यत्वेन तज्ज्ञानं न हेतुरिति ज्ञानस्य पूर्वमज्ञातत्वेऽपि विशेषणत्वोपपत्तेस्स्वसंवेदनज्ञानस्यैव सिद्धेः। न चाहं सुखीत्यादिप्रत्यये आत्मभानेऽपि ज्ञानस्याभानाश्च तस्य तत्समानवित्तिवेद्यत्वमिति वाच्यम्, अहं सुखीत्यस्याप्यहं सुखं साक्षात्करोमीत्याकारत्वात्, अनभ्यासादिदोषेण तदनभिलापात्। नन्वर्थनिश्चयत्वेन ज्ञानस्य प्रवर्त्तकत्वाद् घटपटाद्यर्थमात्रविषयकमेव ज्ञानमभ्युपगन्तुमर्हमिति चेत्, तदप्यसङ्गतम्, यतो व्यवसायस्यानुव्यवसायरूपतया स्वविषयकत्वेनाधिकविषयकत्वेऽपि तस्यार्थविषयकत्वेन प्रवर्त्तकत्वमप्यविरुद्धमेव, इष्टतावच्छेदकप्रकारकप्रवृत्तिविषयविशेष्यकज्ञानत्वेन प्रवर्त्तकत्वात्, तादृशज्ञानत्वस्य च स्वसंवेदनज्ञानेऽप्यक्षतिरेवेति तत्प्रवर्त्तकं स्यादेवेति नोक्तदोष इति। ननु प्रत्यक्षविषयतायाः प्रत्यक्षजनकत्वव्याप्यत्वनियमात् स्वसंवेदनपक्षेऽनुव्यवसायात्मकप्रत्यक्षाजनकस्य व्यवसायस्य कथमनुव्यवसायात्मकप्रत्यक्ष

विषयत्वमिति चेत्, तदप्यसुन्दरम्, अतीतानागतार्थानामीश्वरसाक्षात्कारजनकत्वाऽभावेऽपि तत्र तत्साक्षात्कारविषयत्वस्य सद्भावेनोक्तव्याप्तौ व्यभिचारात्, दोषविशेषजन्यसाक्षात्कारविषयेऽप्येव व्यभिचारो द्रष्टव्यः। उक्तव्यभिचारवारणाय दोषविशेषाजन्य-जन्यप्रत्यक्षविषयत्वं यत्र तत्र प्रत्यक्षजनकत्वमिति व्याप्तिकरणे हेतुघटकप्रत्यक्षे उक्तविशेषणदानवत्स्वसंवेदनज्ञानभिन्नत्वविशेषणदानेऽपि दीयतां दृष्टिः, येन सर्वं समञ्जसं स्यात्। एतेनेन्द्रियसन्निकर्षोत्पन्नं प्रत्यक्षमिति प्रत्यक्षलक्षणमानात् पूर्वं व्यवसायात्मकज्ञानेन सहेन्द्रियसन्निकर्षस्याभावात्कथं तत्प्रत्यक्षमित्यपि निरस्तम्, चक्षुषः प्राप्यकारित्वाऽसिद्धेस्तस्याऽर्थेन सह सन्निकर्षाभावाच्चाक्षुषसंवेदने तस्य लक्षणस्याऽघटमानत्वेनाऽव्यापकत्वात्, तथाहि चक्षुरप्राप्तार्थप्रकाशकं अधिष्ठानाऽसम्बद्धार्थग्राहकेन्द्रियत्वात् मनोवदित्यनुमानेन चक्षुषोऽप्राप्तार्थप्रकाशकत्वे सिद्धे तत्पार्थेन सन्निकर्षाभावेऽपि प्रत्यक्षज्ञानोत्पादकत्वसिद्ध्योक्तलक्षणम् व्याप्तिदोषसवलितत्वान्न युक्तम्, न च चक्षुषोऽसन्निकृष्टार्थप्रत्यक्षजनकत्वे प्रत्यक्षस्य प्रतिनियतविषयकत्वं न स्यादिति स्वजनकसन्निकर्षाश्रयत्वं प्रत्यक्षविषयत्वे तन्त्रं वाच्यमिति चक्षुषोऽर्थेन सह सन्निकर्षः प्रत्यक्षविषयत्वप्रयोजकोऽवश्यमभ्युपगन्तव्य इति नोक्तलक्षणमव्यापकमिति वाच्यम्, तत्तत्प्रतिनियतविषयत्वे स्वावरणकर्मक्षयोपशमादिलक्षणयोग्यताया एव तन्त्रत्वात्, तथा च प्रत्यक्षज्ञानस्य यद्विषयत्वावच्छेदेन साऽऽविर्भवति तद्विषयकत्वमेव भवति, नान्यविषयकत्वम्, एवं विषयस्यापि स्वावच्छेद्याविर्भूतावरणकर्मक्षयोपशमादिलक्षणयोग्यताविशिष्ट जन्यतासम्बन्धेन यज्ज्ञानं तद्विषयत्वमेव, नान्यज्ञानविषयत्वमित्युक्तं प्राक्। अत एव परोक्षज्ञानस्यार्थसन्निकर्षाद्यऽजन्यतया परेणाभिप्रेतस्य प्रतिनियतविषयकत्वव्यवस्थोपपत्तिस्सङ्गच्छते। एतेनार्थाजन्यत्वे ज्ञानस्य कथं प्रतिकर्मव्यवस्था? तदुत्पत्तितदाकारताभ्यां हि सोपपद्यते, अर्थाऽनुत्पन्नस्यातदाकारस्य च ज्ञानस्य सर्वार्थान् प्रत्यविशिष्टत्वादिति बौद्धमतमपि निरस्तम्, अर्थोत्पत्तिमन्तरेणाप्यावरणक्षयोपशमलक्षणया योग्यतयैव प्रतिनियतार्थप्रकाशकत्वोपपत्तेः, अर्थाद् ज्ञानोत्पत्तावपि च कारणीभूता तादृशयोग्यताऽवश्यमाश्रयणीया, अन्यथाऽशेषार्थसान्निध्येऽपि कुतश्चिदेवार्थात् कस्यचिदेव ज्ञानस्य जन्मेति कौतस्कुतोऽयं विभाग इति। यदि च चक्षुषः प्राप्तार्थप्रकाशकत्वं स्यात्तर्हि वह्नि-खड्गाद्यर्थेन सह संयोगे तस्य दाहच्छेदापत्तिस्स्याद्, हस्तादेरिव, जलादिसंयोगे च शीतत्वं स्यात्, ननु मुहुर्मुहुस्सूर्यकिरणजलावलोकने दाहशैत्ये अपि भवत एवेतीष्टापत्त्या ततश्चक्षुषः प्राप्यकारित्वमेव सिद्ध्यतीति चेत्, मैवम्, यतश्चक्षुस्स्वयमुत्प्लुत्यादित्यमण्डलादिसमाक्रान्त-प्रदेशं गत्वा समाश्लिष्य न रूपं परिच्छिनत्ति, किन्तु रविकिरणादिकमेव चक्षुर्देशमागच्छतीत्येतावन्मात्रेणैव दाहलक्षणोपघातोपपत्तेः, शीतलजल-घृत-चन्द्राद्यवलोकने तु "मणेस्स अणुग्गह पिव उवघायाभावओ सोम्म" इत्युक्तेर्दाहलक्षणोपघाताभावत एव शैत्यलक्षणानुग्रह उपचर्यत इत्युपचरितस्यैव तस्य सद्भावाच्च। यच्च चक्षुर्देशं स्वतः प्राप्तेन मूर्तिमता चन्द्र-

किरणेनेन्द्रनीलमणिकिरणेन च वस्तुगत्या शैत्यं भवति, तदपि चक्षुषस्तत्र गमनाभावेन सम्बद्धार्थग्राहकत्वाभावाद् विषयदेशमप्राप्तेनापि तेन रूपपरिच्छेदोपपत्तेश्च न तदप्राप्यकारित्वक्षतिमावहति, यदि स्वत एव चक्षुरर्थेन सह संयुज्य तत्प्रत्यक्षं जनयेत्तर्हि चक्षुषः सूर्यमरीचिदर्शनादुपघातो यथा तथा करवालदर्शनादपि स स्यात्, न चैवं भवतीति चक्षुरप्राप्तार्थप्रत्यक्षं करोतीति सिद्धम्। तदिदमुक्तं भाष्यकृता—"लोअणमपत्तविसयं मणोव्व अमणुग्गहाइसुण्णत्ति।" अनेन भाष्यगाथापूर्वार्द्धेन लोचनमप्राप्तग्राह्यार्थविषयकबोधजनकं ग्राह्यवस्तुकृतानुग्रहोपघातशून्यत्वात् मनोवदित्यनुमानं प्रदर्शितम्। अत एवाग्रे "गन्तुं न रूवदेसं पासइ" इत्युक्तम्। अथ जाग्रदवस्थायां स्वप्नावस्थायां वा देहान्मनो निर्गत्य मेरुशिखरस्थजिनप्रतिमादिना ज्ञेयेन संश्लिष्यते, लोकेऽप्यनुभवसिद्धमेतत्, यतस्तत्रापि वक्तारो वदन्ति—अमुत्र मे मनो गतमिति, अतो मनसः प्राप्यकारित्वान्मनोवदिति दृष्टान्तस्साध्यविकल इति, तदुक्तं पूर्वपक्षमाशङ्क्य भाष्ये—

"णणु नेएण मणो संबज्झइ जग्गओ य सिमिणे वा।
सिद्धमिदं लोयम्मि वि अमुगत्थगओ मणो मेत्ति ॥ २१३ ॥"

इति चेत्, उच्यते समाधिः—"मनो न ज्ञेयेन सह संश्लिष्यते ज्ञेयकृतानुग्रहोपघाताभावात् लोचनवत्, इतरथा तोयचन्दनादिचिन्तनकाले स्पर्शनेन्द्रियवन्मनोऽप्यनुगृह्येत, दहन-विष-शस्त्रादिचिन्तनसमये च तद्वदेवोपहन्येत, न चैवम्, तस्माल्लोचनवदप्राप्यकार्येव मनः। अमुत्र मे मनो गतमिति तु भ्रान्तिरेव। उक्तञ्चोत्तरपक्षमाश्रित्य भाष्ये—

"नाणुग्गहो-वघायाभावाओ लोयणं व सो इहरा।
तोय-जलणाइचिन्तणकाले जुज्जेज्ज दोहिं पि ॥ २१४ ॥"

किञ्च मनस्तावद्द्विधा द्रव्यमनो भावमनश्चेति, तत्र किं द्रव्यमनो भावमनो वा मेर्वादिविषयसन्निधौ गच्छेत्, न तावद्द्वितीयविकल्पो युक्तः, भावमनसश्चिन्ताज्ञानपरिणामरूपत्वात्, तस्य च जीवादव्यतिरिक्तत्वाज्जीव एव भावमनो भवति, जीवात्मकभावमनश्च देहमात्रव्यापित्वाच्च देहाद्बहिर्निःसरत् प्रमाणगोचरम्। यद्देहमात्रवृत्ति न तस्य देहाद्बहिर्निःसरणमुपपद्यते, तद्गतरूपादिवत्, देहमात्रवृत्ति च जीवात्मकभावमनः, तस्मान्न तद्बहिर्निस्सरति। उक्तञ्च भाष्ये—

"दव्वं भावमणो वा वएज्ज जीवो य होइ भावमणो।
देहव्वावित्तणओ न देहबाहिं तओ जुओ ॥ २१५ ॥"

जीवस्य देहमात्रव्यापित्वञ्च प्रागेव निर्णीतमिति। अथैवं तर्हि द्रव्यमनो विषयदेशं व्रजतीत्यात्मकायपक्षोऽस्तु, यतो बहिर्निर्गतं द्रव्यमनः प्राप्य विषयं परिच्छिनत्ति, करणत्वात्, प्रदीप-मणि-चन्द्र-सूर्यादिप्रभावदिति ... सोऽपि पक्षो न युक्तः, यतः करणं द्विधा

भवति, शरीरगतमन्तःकरणम्, तद्बहिर्भूतं बाह्यकरणञ्च, तत्रेदं द्रव्यमनोऽन्तःकरणमेवात्मनः, ततो यदन्तःकरणं तच्छरीरस्थमेव विषयं परिच्छिनत्ति, स्पर्शनवत्, अन्तःकरणञ्च द्रव्यमनः, प्रदीप-मणि-चन्द्रप्रभादिकं तु बाह्यकरणमात्मन इति साधनविकलो दृष्टान्तः। ननु शरीरस्थमपि मूर्त्तत्वेन सक्रियत्वात्पद्मनालतन्तुन्यायेन तद्बहिर्निस्सरतु, कोऽत्र दोष इति चेत्, तर्हि स्पर्शनेन्द्रियादेरपि तद्वदेव बहिर्निर्गमनप्रसङ्गात्, तस्माद् यदन्तःकरणं तच्छरीराद्बहिर्न निर्गच्छति स्पर्शनेन्द्रियादिवदित्यभ्युपगन्तव्यम्, युक्तञ्चैतत् अनन्तसंयोगाद्यऽकल्पनलाघवात्। सुखदुःखादिसाक्षात्कारोऽपि न मनस्संयुक्तसमवायादिसन्निकर्षात्, येन मनसः प्राप्यकारित्वं स्यात्, समवायस्य पूर्वमेव निरासकरणात्, किन्तु मनस्सहकृततदावरणीयकर्मक्षयोपशमलक्षणयोग्यतावशादेवेति। अभिहितञ्च भाष्ये—

" अह करणभावओ तस्स तेण जीवो वियाणेज्जा ॥ २१७ ॥
करणत्तणओ तणुसंठिएण जाणिज्ज फरिसणेण व।
पत्तोच्चिय हेऊओ न नीइ बाहिं फरिसण व ॥ २१८ ॥" इति

ननु जाग्रदवस्थायां मा भूद् मनसो विषयप्राप्तिः, स्वापावस्थायां तु भवत्वसौ, अनुभवसिद्धत्वात्, तथाहि—" अमुत्र मेरुशिखरादिगतजिनायतनादौ मदीयं मनो गतम्" इति सुप्तैः स्वप्नेऽनुभूयत एवेति मनसः प्राप्यकारित्वमेवेति चेत्, मैवम्, उक्तानुभवस्य भ्रान्तिरूपत्वात्, वृत्ताकारतया भ्रम्यमाणालातचक्रानुभववत् तद्विषयस्याऽसत्यत्वात्, तथाहि—यथोल्मुकं वृत्ताकारतयाऽऽशु भ्रम्यमाणं भ्रान्तिवशादचक्रमपि चक्रतया प्रतिभासमानं न सत्यम्, अचक्ररूपताया एव तत्राऽवितथत्वात्, भ्रमणोपरमे स्वभावस्थस्य तथैव दर्शनात्। एवं स्वप्नानुभवोपलब्धं मनोमेरुगमनादिकमपि वस्तु न सत्यम्, स्वप्नोपरमे तदभावात्, तदभावश्च जाग्रदवस्थायां देहस्थस्यैव मनसोऽनुभूयमानत्वादिति। ननु स्वप्नावस्थायां मेर्वादौ गत्वा जाग्रदवस्थायां निवृत्तं तद्भविष्यतीति चेत्, मैवम्, यथा कदाचिदात्मीयं मनः स्वप्ने मेर्वादौ गतं कश्चित् पश्यति तथा कोऽपि शरीरमात्मानमपि नन्दनतरुकुसुमावचयादि कुर्वन्तं तद्गतं पश्यति, न च तत्तथैव, इह स्थितैस्सुप्तस्य तस्यात्रैव दर्शनात्, द्वयोर्वपुषोर्द्वयोश्चात्मनोरसम्भवात्, कुसुमपरिमलाध्वजनितपरिश्रमाद्यनुग्रहोपघाताभावाच्चेति। अभिहितञ्च—

" सिमिणो न तहारूवो वभिचाराओ अलायचक्कं व।
वभिचारो य सदंसणसुवघाया-णुग्गहाभावा ॥ २२४ ॥
इह पासुत्तो पेच्छइ सदेहमन्नत्थ, नय तओ तत्थ।
न य तग्गयोवघाया-णुग्गहरूवं विबुद्धस्स ॥ २२५ ॥"

अयम्भावः—स्वप्ने जिनस्नात्रदर्शनादिकं विज्ञानं स्वप्नानन्तरं जाग्रत्पुंसो हर्षादिकं तत्फलं भविष्यत्फलापेक्षया स्वप्नस्य निमित्तत्वञ्च तस्मात्स्वप्ननिमित्तादवश्यभाविभविष्य-

स्फलस्यानुभवसिद्धत्वादिति तेन निवारयितुं शक्यम्, किन्तु यदैव मनसो मेरुगमनक्रियादिकं युक्त्या नोपपद्यते तदैव निषिध्यते, न त्वेतानि विज्ञानादीनि, युक्त्युपपन्नत्वात्। न चैतैरभ्युपगतैरपि मनसः प्राप्यकारिता काचित्सिद्ध्यतीति। तदेवं भावमनसो द्रव्यमनसश्च बहिश्चारित्वाभावादप्राप्यकार्येव मन इति मनोवदिति दृष्टान्तो न साध्यविकल इति सिद्धम्। नाप्युक्तदृष्टान्तो साधनसत्त्वकत्वानुग्रहोपघाताननुत्पन्नहेतुविकलः, यतो यदि मनसो ज्ञेयेन सह सम्पर्कः स्यात्तर्हि जल-चन्दनादिचिन्तनकाले पिपासानिवृत्तिशैत्यादिलक्षणानुग्रहः, वह्निविषकत्वालादिचिन्तनकाले च दाह-स्फोट-पाटनादिलक्षणोपघातश्च स्यात्। न च तौ भवतः, तस्माच्च साधनविकलो मनोदृष्टान्त इति तस्मिन् दृष्टान्ते गृहीतव्याप्तिकेनो-क्तहेतुना लोचनमप्राप्यकारित्वेन सिद्ध्यति। अथ चक्षुषस्तैजसत्वेन रश्मिमत्त्वम्, रश्मयश्च चक्षुष एव निर्गत्य रविकिरणवत् तमर्थं सम्प्राप्य तत्प्रत्यक्षमुत्पादयन्ति, अनुद्भूतस्पर्शत्वेन तैजसत्वेन तेषां वह्न्यादिवन्न दाहजनकत्वम्, दाहं प्रति तदुद्भूतस्पर्शस्यैव तैजसत्वेनैव कारणत्वात्, न वा तेषां तैजसत्वेन रविरश्मीनामिव कृष्णादिभिरभिघातादिस्पोरस्थानं इति सिद्धं चक्षुषः प्राप्यकारित्व-मिति चेत्, तदप्ययुक्तमेव, चक्षुषस्तैजसत्वस्यैवासिद्धेः, न च चक्षुस्तैजसं रूपादिषु मध्ये रूपस्यैवाभिव्यञ्जकत्वात् प्रदीपवदित्यनुमानात्तत्सिद्धिरिति वाच्यम्, रूपप्रत्यक्षजनके चक्षुःसंयुक्तसमवायसन्निकर्षे तैजसत्वप्रयोजकत्वाभावात्पुनर्हेतोरप्रयोजकत्वेन व्यभिचारात्। तथा-प्यस्मिन् हेतौ द्रव्यत्वे सतीति विशेषणोपादानमपि न युक्तम्, मृत्तिकादिगतनिष्पादिमत्त्वस्य जनकाञ्जनादिना व्यभिचारात्। ननु रूपस्यैवाभिव्यञ्जकत्वमिह रूपविषयकप्रमात्मक-प्रत्यक्षजनकत्वम्, अञ्जनादिना तु निष्पादिसाक्षात्कारो न प्रमात्मक इत्यञ्जनादौ प्रमा-घटितोक्तहेतोरभावान्न तत्र व्यभिचार इति चेद्, नैवम्, निष्पादिसाक्षात्कारे प्रमात्वस्य तत्त्वादिप्रत्यक्षवदनन्यहेतुना सिद्धेरुक्तहेतोर्व्यभिचारित्वात्। एतेन रूपसाक्षात्कारसाधारण-कारणं तैजसं रूपाऽव्यञ्जकत्वे सति स्फटिकाद्यन्तरितार्थप्रत्युपग्राहकत्वात् प्रदीप-वदित्यपि निरस्तम्, अञ्जनविशेषेण व्यभिचारात्। अथाञ्जनादिभिन्नत्वे सतीति हेतौ विशेषणोपादानान्नोक्तव्यभिचार इति चेद्, तर्ह्यप्रयोजकोऽयं हेतुः प्रत्यक्षजनकमुक्तादौ भवदभ्युपगतसत्त्वस्याप्यसाधारणकारणत्वेनाभिमतत्वात्, चक्षुःप्रदीपयोरपि तथाऽभ्युपग-मात्, रूपप्रत्यक्षं प्रति कारणत्वाऽसिद्धेश्च, सम्प्रति चक्षुषः चक्षुष्ट्वेन प्रदीपस्य च प्रदीपत्वे-नैव कारणत्वाभ्युपगमात्। एतेन स्वप्नादिदर्शनादिकं प्रत्यक्षस्य मनसैव निष्पादिसाक्षात्कारः तत्र च चाक्षुषत्वारोप इत्यतो निष्पादिकं चक्षुषा साक्षात्करोमीति भ्रान्त एव प्रत्यक्ष-त्वबुद्धानुमानं नाञ्जनादिना व्यभिचारः, हेतौ प्रमेति विशेषणोक्ते सति प्रमात्मकत्वासु-प्रत्यक्षाजनकत्वात्तस्य, तथा च इत्याञ्जनादिभिन्नत्वे सतीति विशेषणं न देयमित्यपि निरस्तम्, व्यभिचारज्ञानानिवर्त्तकतर्काभावेनाप्रयोजकत्वादुक्तहेतोः। न च तत्र...

ऽभ्युपगन्तुमपि शक्यम्, अञ्जनादेः पृथक्प्रमाणत्वापत्तेः, मनो यदसाधारणं सहकारिकारण समासाद्य बहिर्गोचरां प्रमां जनयति तस्य प्रमाणान्तरत्वनियमात् । किञ्च स्वसिद्धान्तकदाग्रहावेशेन चक्षुषि पूर्वोक्तहेतुना तैजसत्वस्य तेन च तत्र रश्मिवत्त्वस्याऽभ्युपगमेऽपि तद्रश्मयो विषयदेशं गताः किं गोलकेनाऽसम्बद्धाः प्रत्यक्षजनकतयाऽभ्युपगम्यन्ते, किं वा सम्बद्धाः, आद्यपक्षेऽपि किं निखिला रश्मयस्तथाविधा उत कतिपये इति विकल्पद्वयम् । तत्र नाद्य विकल्पो युक्तः, तथा सति चक्षुरपि निर्गतं स्यात्, यतोऽशेषावयवानां देशान्तरगमने तदविष्वग्भूतावयविनोऽपि तथात्वमेव युक्तियुक्तम्, तथा च चक्षुर्विहीनस्य गोलकस्य निस्तेजस्त्वात्पुरुषाणामन्धत्वप्रसङ्गस्स्यात् । किञ्च वस्तुनि नेत्राभिमुखे सत्यपि नेत्रदोषाद् यदेव पुराऽस्पष्टत्वेनाऽवभासते अञ्जनादिभिर्नयनसंस्कारे तदेवेदानीं यथाऽवस्थितस्वरूपेण स्पष्टं प्रकाशते इत्यविगानेन सर्वैरेवानुभूयते, गोलक निहितोऽञ्जनादिसंस्कारश्चक्षुश्शब्द वाच्यत्वेनाभ्युपगतानां गोलकस्थनेत्ररश्मीनामुपकारं करोतीति तत्र युज्येत, सामस्त्येन विषयदेशस्थितानां तेषां प्रत्यक्षजनकत्वाभ्युपगमे तु तेषामेवाञ्जनादिना संस्कार उपयोगिता मानहेत्, ते च रश्मयो गोलकाऽसंयुक्ता इति तदनधिष्ठानस्य गोलकस्य प्रत्यक्षाजनक त्वात्तत्राञ्जनादिना संस्कारस्य नैरर्थक्यमेव स्यात्, तथैव पक्ष्मपुटोन्मीलनस्यापि निरर्थकत्वमूह्यम् । यथा घटानयनकारणतन्तुसम्बद्धहस्ते आनयनकार्याक्षमत्वापनोदाय तत्र संस्कारो विधीयमानस्साफल्यमनुभवति, न च छिन्नत्वेनासम्बद्धे तदवयवे । अथ पूर्वं रश्मीनां नेत्रस्थत्वेन तत्राञ्जनादिसंस्कारपक्ष्मपुटोन्मीलनयोस्तद्गतिप्रयोजकत्वेन नानर्थकत्वमिति चेत्, स्यादेतद्रश्मीनां गोलकसम्बद्धत्वपक्षे, असम्बद्धत्वपक्षे तु न गोलकस्य कश्चिद्विशेषः । अथ तत्र गतानां रश्मीनां गोलके पुनरावर्त्तनाभ्युपगमेन नोक्तदोष इति चेत्, नैवम्, आवर्त्तमानानामपि तेषां गोलकासम्बद्धत्वेऽन्धत्वप्रसङ्गस्य वारयितुमशक्यत्वात् । गोलकसम्बद्धत्वे च तैर्गोलकानुपक्तकामलादिप्रत्यक्षापत्तिस्स्यात् । तदेव खड्गधारासमानस्वच्छतरपुद्गलसमूहात्मकाऽभ्यन्तरनिर्वृत्तीन्द्रियगतोपकरणेन्द्रियाख्यशक्तियोगितया चक्षुरस्तत्तद्विषयकज्ञानावरणीयकर्मक्षयोपशमसहकृतस्य विषयमप्राप्तस्याऽपि प्रत्यक्षजनकत्वसम्भवे तैजसचक्षुःकल्पनमप्यनर्थकमेव । नन्वेवं तर्हि दूरवर्त्तिनां मेर्वादीनामपि किमिति न प्रत्यक्षमिति चेत्, उच्यते, यस्मिन् पदार्थे ज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमलक्षणतद्ग्रहणयोग्यत्वं तस्यैव प्रत्यक्षं भवतीत्युक्तयोग्यत्वाभावादेवेति जानीहि । अथैतद्दोषभयादाद्यपक्षोक्तद्वितीयविकल्पपक्ष एवाश्रीयत इति चेत्, तदपि न मनोरथं पूरयितुं पारयति, यतो यावन्तो रश्मयो विषयसम्बन्धभाजस्तावन्तः पूर्वमपि गोलकेनाऽसम्बद्धा एवेति गोलकस्याञ्जनादिनोपकारे तत्रस्थरश्मय एवोपकृताः, न तु विषयसम्बन्धभाज इति तदीयाऽनुपकृतस्वभावस्य पूर्ववदविचलितस्य सत्त्वे सति न कश्चिदञ्जनादिना विशेषः । किञ्च तेऽवयवा रश्मयो यदि गोलकससक्तरश्मिसम्बन्धसर्वथाऽसंयुक्ता एव तदा चक्षुषोऽपि नाश

आपत्तिः, तेषां वा तदवयवत्वाभावः, न ह्यवयविनः पदार्थस्यैकत्र स्थितस्यावयवानां खण्डीभूयासंयुक्तत्वेन परत्र गमने तस्य स्वरूपावस्थानं केनाप्यभ्युपगम्यते, न हि घटावयवकपालस्य परदेशगमने घटस्य स्वरूपावस्थानं पामरा अपि प्रतीयन्तीति। ननु तर्हि यथा सहस्रांशुरश्मयः प्रदीपरश्मयो वा तत्सम्बद्धा विषयदेशं गत्वा प्रकाशन्ते तथा नयनरश्मयोऽपीत्यर्थको द्वितीयपक्ष एवोररीक्रियत इति तेषां तत्तद्विषयं प्रति गमनस्य तत्तदर्थप्रकाशकत्वस्य चान्यथाऽनुपपत्त्याऽभ्युपगम्यमानस्य पक्ष्मपुटोन्मीलनस्य गोलक-सम्बद्धत्वेऽपि तदुभयार्थत्वेन न वैयर्थ्यमिति चेत्, तदपि अपार्थकम्, तेषां गोलकानुषक्तविनिर्-गतावयविनः प्रकाशकत्वापत्तेः, यतो न हि प्रदीपरश्मीनां स्वाधिष्ठानसंयुक्तशलाकाया-प्रकाशकत्वं काचकूपिकान्तर्गतानां प्रदीपरश्मीनां ततो निर्गच्छतां काचकूपिकासम्बद्धार्थ-प्रकाशाजनकत्वं च दृष्टम्। अथाधिष्ठानापेक्षयाऽत्यन्तासत्त्वमावश्यकमिति कारण[illegible] इति चेत्, तर्हि गोलकसम्बद्धाञ्जनशलाकाया अग्रावच्छेदेनाप्यनुपलब्धिप्रसङ्गात्। अथ यद्देशेन तस्यास्तत्र सम्पर्कस्तद्देशावच्छेदेनैवाप्रत्यक्षत्वम्, गोलकदेशावच्छेदेनैवाञ्जनशलाका-संसर्गस्य तत्प्रत्यक्षम्प्रति प्रतिबन्धकत्वादिति चेत्, नैवम्, प्रतिबन्धकत्व[illegible]-त्वयोरेकस्मिन् वस्तुनि विरुद्धयोरपि भिन्नभिन्नदेशावच्छेदेनाविरोध[illegible]-योरभ्युपगमे तद्धर्मभेदेन कथञ्चिदभिन्नधर्मिणोऽपि भिन्नत्व[illegible] स्यादिति भवतामपि स्याद्वादामृतरसास्वादप्रसङ्गः स्यात्, स्याद्वादस्यानेकान्ते तथैवाभ्यु-पगमात्। किञ्च चक्षूरश्मीनामुदीचीम्प्रति गमने तद्दिग्वर्तिघनतमिस्रसम्पर्कयोगे यथा तत्प्रत्यक्षं तथा तद्दिग्वर्तिकाञ्चनाचलोपलम्भोऽपि स्यात्, उभयत्र संयोगाविशेषात्। दूरत्वदोषस्य तद्रश्मिगतिप्रतिबन्धकत्वे च निशाकरस्याप्यप्रत्यक्षत्वं स्यात्। अथ सहस्रां-शुभिर्नेत्ररश्मीनां शुद्धिभावात्तत्र तेषां गमनेन तत्संयोगात्प्रत्यक्षमिति चेत्, तर्हि हिमकरां-शुभिरपि तद्रश्मिशुद्धिभावाऽविशेषात्तैमिर्यविशुद्धानां तेषां सुमेरुं प्रत्यभिसर्पणात् कथं न तत्प्रत्यक्षं स्यात्। अथ रविकराणां तिग्मत्वेन नेत्ररश्मीनां प्रतिघातकत्वात् तैस्तद्रश्मिप्रति-हतो नोक्तदोष इति चेत्, तर्हि सहस्रांशुकिरणव्याप्तपदार्थमात्रानुपलम्भप्रसङ्गः स्यात्, यतो न हि रविकिरणेषु काञ्चनाचलापेक्षया नेत्ररश्मिप्रतिघातकत्वं घटपटाद्यपेक्षया तद-भावश्चेति वक्तुं शक्यम्, शक्यत्वे वा स्याद्वादस्यैव साम्राज्यं स्यात्। अथ यद्यदर्थ-प्रकाशकं चक्षुस्तदर्थप्राप्तत्वाऽविशेषात् सर्वमपि स्थितानागतवस्तुनिकुरम्बं प्रकाशयेदिति चेत्, तदप्यसङ्गतम्, चक्षुषो योग्यार्थग्रहणस्वाभाव्यात्, यतो योग्य एवार्थे तत् प्रकाश-नात्, अन्यथा चक्षुरसंयुक्तसमवायसन्निकर्षो यथा रूपत्वे तथा रसत्वेऽपीति रसाद्यु-पोदयप्रसङ्गेनान्येन्द्रियाणां वैयर्थ्यं स्यात्। एतेन चक्षुषो विषयमप्राप्य प्रकाशकत्वा-भ्युपगमे कुड्यादिव्यवहितवस्तुनोऽपि प्रत्यक्षं स्यादित्यपि निरस्तम्, विषयनियमप्रयोजका-ऽभावकूटरूपयोग्यताया अत्र अञ्जनाञ्जनपुञ्जदृष्टान्त[illegible]गमात्।

अञ्जनादिजन्यव्यवहितार्थचाक्षुषप्रत्यक्षम्प्रति चाञ्जनादिनिष्ठैव शक्तिलक्षणा योग्यता कारणमिति। किञ्च चक्षूरश्मीनां प्राप्तार्थप्रकाशकत्वाभ्युपगमे भित्त्यादेरिव स्फटिकादेरपि नेत्ररश्मिगतिप्रतिबन्धकत्वेन तद्व्यवहितार्थानामप्यनुपलब्धिस्स्यात्। यदि च स्फटिकादेरतिस्वच्छत्वाम्न नायनरश्मिगतिप्रतिबन्धकत्वमिति विभाव्यते, तदा प्राप्यकारित्वपक्षे तद्रश्मिगतितजन्यविभागपूर्वसंयोगनाशोत्तरदेशसंयोगादिकल्पनाया गौरवाल्लाघवाच्चाक्षुषज्ञानाऽप्रतिबन्धकत्वमेव स्फटिकादेः कल्प्यताम्, एवं भित्त्यादेरपि तद्रश्मिगतिप्रतिबन्धकत्वापेक्षया लाघवाच्चाक्षुषप्रत्यक्षं प्रत्येव प्रतिबन्धकत्वं कल्पनीयम्, एतेन चक्षुः प्राप्तार्थपरिच्छेदकं व्यवहितार्थाऽप्रकाशकत्वात्, यद् यद् व्यवहितार्थाऽप्रकाशकं तत्तत्प्राप्तार्थपरिच्छेदकम्, यथा प्रदीपः, व्यवहितार्थाऽप्रकाशकञ्च चक्षुः, तस्मात् प्राप्तार्थपरिच्छेदकमिति व्योमशिवमतमपि निरस्तम्, व्यवहिताऽर्थाऽप्रकाशकत्वहेतुसिद्धयर्थं व्यवहितार्थाऽप्रकाशकत्वं चक्षुषः कथमिति कथताप्रश्ने तदुत्तरतया व्यवधानस्य नेत्ररश्मिगतिप्रतिबन्धकत्वं वाच्यं स्यात् कथमन्यथा व्यवहितार्थप्रत्यक्षं न स्यात्। एवञ्च सति व्यवहितार्थाऽप्रत्यक्षस्याऽव्यवहितार्थप्रत्यक्षस्य चोपपत्तये व्यवधानस्य चाक्षुषज्ञानप्रतिबन्धकत्वं तदभावकूटस्य च चाक्षुषज्ञानकारणत्वमेवाभ्युपगम्यताम्, येन क्लिष्टकल्पना परिहृता स्यात्, तयोः प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावस्त्वेवम्–स्वप्राचीस्थपुरुषस्य नियततासम्बन्धेन घटादिचाक्षुषप्रत्यक्षम्प्रति स्वप्रतीचीवृत्तित्वसम्बन्धेन भित्त्यादीनां प्रतिबन्धकत्वम्, एवं स्वप्रतीचीस्थपुरुषीयघटादिसाक्षात्कारम्प्रति स्वप्राचीवृत्तित्वसम्बन्धेन तेषां तत्त्वम्, तथा स्वोदीचीस्थपुरुषीयघटादिसाक्षात्कारम्प्रति स्वदक्षिणवृत्तित्वसम्बन्धेन तेषां तत्त्वमूह्यम्, यदि च तदपनयनादिक्रियातत्तदुत्तरदेशादीनामेव संयोगनियामकत्वेनानतिप्रसङ्गात्कुड्यादीनां न प्रतिबन्धकत्वमिति मतं तदापि तत्तन्नयनोन्मीलनस्य चाक्षुषज्ञानं प्रति परम्पराकारणत्वकल्पनापेक्षया "यस्य हेतुत्वापेक्षया तद्धेतोरेव हेतुत्वम्" इति न्यायेन लाघवाच्चाक्षुषज्ञानं प्रति तस्य साक्षात्कारणत्वकल्पनमेव ज्यायः, किमनन्तसंयोगादिकल्पनया। एतेनेन्द्रियसन्निकर्षजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षमिति स्वसिद्धान्तसिद्धसामान्यलक्षणाऽनुगमाऽनुरोधेन प्रत्यक्षत्वावच्छिन्नम्प्रति इन्द्रियसन्निकर्षत्वेनेन्द्रियसन्निकर्षस्य कारणत्वे 'यत्सामान्ययोः कार्यकारणभावस्तद्विशेषयोरपि सः' इति न्यायावलम्बनेन चाक्षुषप्रत्यक्षम्प्रत्यनन्तसंयोगानां चक्षुस्संयोगत्वेनाऽनुगमस्य तद्रूपेणानुगतं कारणत्वञ्चाभ्युपगम्यत इति तदुत्तरकालभाविगौरवं फलमुखं न दोषाय, तदुक्तं चिन्तामणिकारेण, "प्रत्यक्षविशेषे इन्द्रियार्थसन्निकर्षविशेषो हेतुरनुगत एव" इत्यपि निरस्तम्, प्रत्यक्षसिद्धसामीप्यसम्बन्धेनैव चाक्षुषप्रत्यक्षोपपत्तेरतीन्द्रियसंयोगकल्पनायां प्रमाणाभावात्, कार्यलिङ्गकेन कारणानुमानेन तत्सिद्ध्यभ्युपगमे चोक्तसम्बन्धेन तस्यान्यथासिद्धत्वात्। न चैवं तर्हि चक्षुरप्राप्यविषयं तत्प्रत्यक्षज्ञानकारीति स्वसिद्धान्तभङ्गप्रसङ्ग इति वाच्यम् चक्षुस्सन्निकर्षद्वारा प्रत्यक्षजनकमिति चक्षुस्स्वविषयं घटादिकं

संयुज्य तत्प्रत्यक्षं करोतीति न्यायमतनिरास एवोक्तसिद्धान्तस्य तात्पर्यात्। किञ्च चक्षूरश्मीनां विषयैस्सह संयोगानन्तरं तत्प्रत्यक्षोत्पादकत्वाभ्युपगमे युगपदेव शाखानिशाकरयोः प्रत्यक्षं न स्यात्, युगपदुभयसंयोगाभावात्। अथ यद्यपि चक्षूरश्मीनामतिवेगाच्छाखासंयोगानन्तरमविलम्बेनैव शीतकरसंयोगादनुक्रमेणैव शाखायाश्चन्द्रमसश्च साक्षात्कारस्तथापि शतपत्रसूचीवेधदृष्टान्तबलेन तत्र यौगपद्याभिमान एवेति चेत्, तर्हि प्रथमे क्षणे शाखासंयोगः, द्वितीये च शाखानिर्विकल्पश्चन्द्रमस्संयोगश्च, तृतीये शाखासविकल्पज्ञानं चन्द्रमोनिर्विकल्पज्ञानञ्च, चतुर्थे शाखाज्ञानज्ञानं चन्द्रनिर्विकल्पज्ञानं चन्द्रमस्सविकल्पज्ञानञ्च, शाखानिर्विकल्पज्ञाननाशश्च, पञ्चमे शाखां साक्षात्करोमीत्यनुव्यवसायज्ञानं, चन्द्रज्ञानज्ञानस्वनिर्विकल्पज्ञानं, शाखासविकल्पज्ञाननाशश्च, चन्द्रनिर्विकल्पज्ञाननाशश्च, षष्ठक्षणे चन्द्रमसं साक्षात्करोमीत्यनुव्यवसायश्चन्द्रसविकल्पज्ञाननाशश्शाखाज्ञानत्वनिर्विकल्पज्ञाननाशश्चेति प्रक्रियया क्रमेणैव तदुभयानुव्यवसायोत्पत्त्यभ्युपगमात् युगपदेव शाखाचन्द्रमसौ साक्षात्करोमीत्यनुव्यवसायानुपपत्तिस्स्यात्। न च क्रमिकोत्पन्नशाखाचन्द्रसाक्षात्कारानुभवजनितक्रमिकसंस्कारद्वयस्य युगपदेव प्रबोधात्तदुत्पन्नाया शाखाचन्द्रोभयावगाहिन्यां स्मृतावेव साक्षात्कारत्वारोपाच्छाखाचन्द्रमसौ युगपदेव साक्षात्करोमीत्यनुव्यवसाय इति साम्प्रतम्, तादृगारोपादिकल्पनायां प्रमाणाभावात्। न च तिर्यग्भावावस्थितयोश्शाखाचन्द्रमसोर्युगपन्नेत्रतेजसा संयोगाच्चोक्तानुपपत्तिरिति वाच्यम्, सन्निहितव्यवहितयोर्युगपत्संयोगेऽतिप्रसङ्गात्। अथ नेत्राद्बहिर्निर्गततेजसाऽर्धसंयोगसमकालमेव बाह्यालोकसहकारेणान्यचक्षुरारम्भादेकस्य चक्षुषश्शाखयाऽन्यस्य च चन्द्रमसा संयोगाद् युगपच्छाखाचन्द्रमसोर्ग्रह इति चेत्, नैवम्, उद्भूतरूपवदालोकात्मकतेजःसंसर्गेणाऽनुद्भूतरूपवत्तेजोविशेषात्मकचक्षुराऽऽरम्भस्यायोगात्, योगे वा बाह्यचक्षुषा पृष्ठावस्थितवस्तुग्रहप्रसङ्गादित्यधिकं गौरवभीत्या नोच्यते। तदेवं चक्षुर्मनसोः प्राप्यकारित्वाऽसिद्ध्या इन्द्रियसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमिति प्रत्यक्षलक्षणाऽसङ्गतेः एवं व्यवसायात्मकज्ञानेन सह मनस्संयुक्तसमवायसन्निकर्षस्याभावेऽपि ज्ञानस्य स्वप्रकाशात्मकत्वादेवानुव्यवसाये मानोपपत्तेस्तत्प्रत्यक्षं सदस्त्येवेति स्वपरव्यवसायिज्ञानं प्रमाणमिति सिद्धम्। अत एव ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षमिति प्रत्यक्षलक्षणमपि न युक्तम्, ज्ञायमानलिङ्गस्यैवानुमितिकरणत्वमित्यभ्युपगन्तृप्राचीननैयायिकमतेऽनुमितेरपि ज्ञानाकरणकत्वात्तत्रातिव्याप्तेः। किञ्चोपयोगात्मकमात्मव्यापारमन्तरेण कस्या अपि स्वपरव्यवमितेरभावात् स एव तत्र प्रमाणम्, व्यापारीभूतोपयोगलक्षणं तदपि स्वार्थव्यवसितिफलान्न सर्वथा व्यतिरिक्तम्, किन्तु कथञ्चित्, एतच्च विवेचयिष्यते, तथा च स्वपरार्थविषयकप्रत्यक्षप्रमाणमात्रस्यापि ज्ञानकरणकत्वादुक्तलक्षणमसम्भवदोषग्रस्तत्वादुपेक्षणीयमेवेति। एतेनार्थोपलब्धिहेतुः प्रमाणमिति प्रमाणलक्षणमाचक्षत वाचस्पतिमिश्रा इत्यपि निरस्तम्, यत इन्द्रियसन्निकर्षो वा साक्षादुपलब्धौ फले व्याप्रियते, न तु प्रमाता, तस्य कर्तृत्वात्, न वा प्रमेय, यतः

तस्य प्रत्यक्षादन्यत्रोपलब्धौ हेतुत्वमेव नास्ति, प्रमाणविषयमात्रेणोपयुज्यमानत्वादिति यदीन्द्रियादिकं तत्सन्निकर्षादिकं वा साक्षादर्थोपलब्धौ हेतुरिति तदेव सूक्ष्मदर्शिनोऽस्य मते प्रमाणं, तर्हि स्वपरव्यवसायिज्ञानमेव प्रमाणतयाऽभ्युपगन्तुमुचितम्, यथार्थपरिच्छेदफलस्य साक्षात्तत एव भावात्, यथा च ज्ञानरूपादपि प्रमाणात्तत्फलं स्वार्थव्यवसित्यात्मकं कथञ्चिद्भिन्नं तथा निर्णेष्यते। "अव्यभिचारिणीमसन्दिग्धामर्थोपलब्धिं विदधती बोधाबोधस्वभावा सामग्री प्रमाणम्, बोधाबोधस्वभावा हि तस्य स्वरूपम्, अव्यभिचारादिविशेषणार्थोपलब्धिसाधनत्वं लक्षणम्" इति न्यायमञ्जर्यां जरन्नैयायिकजयन्तभट्टोक्तमपि लक्षणं न युक्तियुक्तम्, यतस्सामग्री कारकसाकल्यरूपा, कारकसाकल्यस्य चाबोधस्वभावस्याज्ञानरूपत्वेन स्वपरव्यवसायिज्ञानफलोत्पादने साधकतमत्वाभावान्न प्रमाणत्वम्, किञ्चार्थप्रमितिफलं प्रति नाऽव्यवधानेन सामग्री प्रमाणम्, उपयोगरूपभावेन्द्रियस्वभावज्ञानेन तस्या व्यवधानात्, नाप्यव्यवहितव्यापारत्वेन साधकतमत्वाज्ज्ञानं प्रमाणं तद्धेतुत्वात्तु सामग्र्यपि प्रमाणमित्येवं स्वरूपव्यवधानेन, तथा सति सा प्रधानं प्रमाणं न स्यात्, औपचारिकं तु तत् को नाम प्रामाणिको नाभ्युपैति। एवं सकलानां कारकाणां साधारणासाधारणस्वभावानां साकल्यस्य परिसमाप्त्या सर्वत्र वर्त्तमानस्य कथं साधकतमत्वमित्यपि विचारणार्हं सुबुद्धिधनैः। अथोपात्तविषयाणामिन्द्रियाणां वृत्तौ सत्यां बुद्धेस्तमोऽभिभवे सति यः सत्त्वसमुद्रेकः सोऽध्यवसाय इति वृत्तिरिति ज्ञानमिति चाख्यायते, बुद्धिवृत्तिरेव च पुरुषमुपरञ्जयन्ती प्रमाणम्, तदुपरक्तो हि पुरुषः प्रतिनियतविषयद्रष्टा सम्पद्यत इति साङ्ख्यमतमपि न च विदुषां हृदयङ्गमम्, तथाऽभ्युपगमे यो हि महान् जानाति बुद्ध्यतेऽध्यवस्यति न तस्यार्थदर्शनात्मकं तत्फलम्, अचेतनत्वान्महतः, यस्य च पुंसोऽर्थदर्शनं न स जानाति न बुद्ध्यते नाध्यवस्यति, तथा च ज्ञानादिधर्मयोगः प्रमाणं पुंसि न विद्यते, किन्तु बुद्धौ, तत्फलमर्थदर्शनं च बुद्धौ न वर्त्तते, किन्तु पुरुष इति भिन्नाधिकरणत्वं प्रमाणफलयोः प्राप्तम्, न च तत् प्रमाणगोचरचारि। अथ स्वच्छतया पुंसि बुद्धिवृत्त्यनुपातिनि बुद्धिधर्माध्यारोपाद् ज्ञानादिधर्मयोगोऽपि तत्र विद्यत इत्यर्थद्रष्टैव पुमान् ज्ञाता। बुद्धावपि चेतनाकारसंस्पर्शलक्ष्यमाणायामिव पुरुषधर्माध्यारोपात् साप्यर्थदर्शनफलवतीति न भिन्नाधिकरणत्वदोष इति चेत्, तर्हि स्ववाचैव मिथ्यात्वं ख्यापितं स्यात्, चिद्धर्मो हि बुद्धौ मिथ्या, बुद्धिधर्मश्च चिति मृषेत्यभ्युपगमात्, साङ्ख्यमतञ्च निखिलं पूर्वमेव निरस्तम्, निरस्यते चेति नात्राधिकं विभियते। यदप्यनधिगतार्थावगाहिज्ञानं प्रमाणमित्यभिधीयते मीमांसकैः, तदपि न साम्प्रतम्, प्रमाणस्य गृहीततदितरविषयप्रवृत्तस्य प्रामाण्ये विशेषाभावात्।

ननु गृहीतविषये प्रवृत्तं प्रमाणं किं कुर्यादिति चेत्, उच्यते, तद्विषयेऽभ्यासपाटवेन दृढतरनिश्चयात्मकप्रमान्तरोत्पत्त्या संस्कारदृढीकरणमेवेति, तत्फलं किमिति चेत्, प्रवृत्तिनिवृत्त्यादिकमेव, चन्दनघनसारहारमहिलाद्युपादेये पुनः पुनरुपलभ्यमाने प्रीत्यतिशय

लक्षणसंस्कारमहिम्ना प्रवृत्तिः, द्वये विषधरकण्टकादौ विषये पुनः पुनः परिदृश्यमाने मनः सन्तापात्मकद्वेषसंस्कारवशान्निवृत्तिः, शास्त्रीयविषये बन्धादौ निवृत्तिः, संवरादौ च प्रवृत्ति स्स्वसंवेदनसिद्धैवानुभूयते, तथाऽनभ्युपगमे धारावाहिकज्ञानमप्यप्रमाणं स्यात्, तस्याधिगतार्थाऽधिगन्तृत्वात्। एवं प्रत्यभिज्ञानमप्यप्रमाणं स्यात्, स्याच्च प्रत्यक्षाधिगतस्याप्यर्थस्य सिषाधयिषया तार्किकैः क्रियमाणाऽनुमितिरप्यप्रमाणम्। तस्मादनधिगतार्थग्राहित्वे त्यज्यतामाग्रहः। अथैवं तर्हि स्मृतेरपि प्रामाण्यं स्यादिति चेत्, भवतु नाम प्रत्यभिज्ञानवत्तत्रापि स्वपरव्यवसायित्वात् प्रामाण्यम्, का नाम नः क्षतिः, जिनानुगैस्तथैव स्वीकृतत्वात्। उक्तञ्च स्याद्वादरत्नाकरे—

" अथाधिगतगन्तृत्वे, प्रामाण्यं स्यात् स्मृतेरपि ।
यदि स्यात् किं तदा जातं, क्षुण्णं जैनेन्द्रशासनं ॥ १ ॥" इति

अथ प्रत्यभिज्ञाने इदानीन्तनाऽस्तित्वं प्रमेयमधिकं प्रतिभासत इति न तद्दृष्टान्तबलात्स्मृतेः प्रामाण्यमभ्युपगन्तुं युक्तमिति चेत्, मैवम्, स्मृतावप्यतीतकालोपलक्षितार्थस्याधिकस्य प्रतिभासनात्। न चानर्थजन्यत्वादपि तस्या अप्रामाण्यम्, तस्याऽप्रामाण्यप्रत्यप्रयोजकत्वात्, अन्यथा घनाघनघनाडम्बरलिङ्गेन वृष्टिधर्मिणि भविष्यत्त्वस्यानुमानमप्यप्रमाणं स्यात्, तद्विषयीभूतस्य भविष्यत्त्वस्येदानीमसद्रूपत्वात्, एवं करीषदर्शनोद्बुद्धधूमस्मरणेनातीतवह्न्यनुमानमप्यप्रमाणं स्यात्, अतीतवह्नेस्तदानीमभावात्, तदेवं मीमांसकाभ्युपगतप्रमाणसामान्यलक्षणमपि न मङ्गलमर्हतीति। यच्च बौद्धाः पुनरविसंवादकत्वं प्रमाणसामान्यलक्षणमाचक्षते, तदुक्तं प्रमाणवार्त्तिके–" प्रमाणमविसंवादिज्ञानम् " २–१ इति, तत्र ज्ञानेऽविसंवादकत्वं यथावगतार्थप्रापकत्वलक्षणम्, अत एव " प्रापणशक्तिः प्रामाण्यम् " इत्युक्तमिति, तदप्यश्लीलम्, यतो नीलनिर्विकल्पज्ञानावगतं नीलस्वलक्षणम्, न च तत्प्राप्यते, तस्य क्षणिकत्वेन प्रवृत्तिकालेऽतिक्रान्तस्वरूपतया तदभावात्, अथ " यत्रैव जनयेदेनां तत्रैवास्य प्रमाणता " इत्युक्तेर्नीलनिर्विकल्पज्ञानं नीलांशे नीलं नीलमिति विकल्पोत्पादकत्वात्तदंशे प्रमाणम्, उक्तविकल्पद्वारा नीलार्थप्रापकत्वात्। तद्गृहीते क्षणिकत्वांशे च तद्विकल्पानुत्पादकत्वादप्रमाणं, स्थैर्येऽप्यप्रमाणम्, विपरीतारमायकलुषितत्वादिति, चेत्, यद्येवं मन्यसे, तर्हि सुतरामिदं प्रमाणलक्षणं दुःस्थम्, यतोऽस्मिन् प्रक्रमे विकल्पो न स्वलक्षणविषयः, किन्तु तत्सन्तानावगाहित्वेन तदध्यवसायरूप इति सोऽर्थप्रापणं प्रति प्रमाणस्य व्यापार इति वर्णितवानसि, तच्च न युक्तम्, यतो यथा तत्त्वं न तथाध्यवसायः, यथाऽध्यवसायो न तथा तत्त्वमिति यथा मरीचिस्वलक्षणदर्शनमुदकाध्यवसायजननादप्रमाणमेव स्वलक्षणदर्शनमपि तद्विपरीतसन्तानाध्यवसायजननादप्रमाणीभवेदिति। किञ्च सन्ताने काल्पनिकेऽध्यवसिते सति दृश्याभिमुखः किमिति प्रवर्तते,

निर्विकल्पविकल्पयोरथयोरेकत्वाध्यवसायादिति चेत्, तर्हि मुख्यवृत्त्या स्वयं निर्विकल्पज्ञानं नार्थक्रियार्थिनां तत्समर्थेऽर्थे संवादिप्रवृत्तिजनकत्वेनाविसंवादकं प्रमाणम्, किन्तु व्यवहारोपयुक्तोक्ताध्यवसायद्वारैवेत्युपचरितं तस्य प्रामाण्यं स्यात्, तस्मादनुपचरितमविसंवादकत्वं प्रमाणस्य लक्षणमिच्छद्भिः परीक्षकैर्व्यवहारार्थमेव प्रमाणान्वेषणं क्रियत इति तद्धेतोर्निर्विकल्पोत्तरकालभाविनो निश्चयात्मकविकल्पस्यैव प्रामाण्यमभ्युपगन्तव्यम्, न तु निर्विकल्पज्ञानस्य, तस्य साक्षाद्व्यवहाराऽप्रवर्त्तकत्वेन शिखण्डिकल्पत्वात्। एवं हि परम्परापरिश्रमः परिहृतो भवति, सन्तानस्यावस्तुभूतत्वेन तद्विषयकत्वाद्विकल्पस्याप्रामाण्ये कथं तन्निमित्तो व्यवहारोऽविसंवादी ?। अथ यस्मिन् स्वलक्षणभूतेऽर्थे यन्निर्विकल्पज्ञानं सञ्जातं तन्मूलकात्तत्सन्तानविषयकविकल्पात्प्रवृत्तौ मूलभूतवस्तुसन्तानीयार्थप्राप्त्या व्यवहारोऽविसंवादीति चेत्, स्यादेतत् सन्तानसिद्धौ, न च तत्सिद्धं, भेदाभेदविकल्पाभ्यामनुपपद्यमानत्वात्, तच्च प्रागेवोक्तं क्षणिकप्रक्रियानिरासे। तदेवं बौद्धाभ्युपगतप्रमाणलक्षणमपि न युक्तियुक्तमिति सिद्धम्। एतेन बाह्यार्थाऽभावेन तदालम्बनाभावान्निरालम्बनमेव ज्ञानं प्रमाणमिति स्वसंवेदनज्ञानाद्वैतवादियोगाचाराख्यबौद्धमतमपि निरस्तम्, इदं नीलमिति ज्ञानवज्ज्ञानं नीलमित्यपि प्रतीतिप्रसङ्गस्स्यात्। कथं च बाह्यार्थाऽसत्त्वे प्रतीतौ तदुल्लेखोऽपि स्यात्, वासनाऽभ्यासादिति चेत्, नैवम्, अर्थमन्तरेण वासनाया अप्यनुपपत्तेः, अर्थानुभवसमाहितो हि संस्कारो वासना कथ्यते, सा कथमसदर्थप्रतिभासहेतुस्स्यात्। भवतु वाऽन्यादृशी वासना भवदभ्युपगता तथापि सा बाह्यार्थाभावे वनकुसुमसौरभप्रतीतिं किमित्युपजनयति न गगनारविन्दसौरभप्रतीतिमिति कुतस्त्यो नियमः। किञ्च ग्राह्यग्राहकावभिन्नौ विशेषतो नीलतद्धियावभिन्ने इत्यत्र को हेतुः, नियमेन सहोपलम्भ एवेति चेत्, तन्न तस्य पूर्वमेव निरस्तत्वात्। अधिक गौरवभीत्या न प्रपञ्च्यते तदेवं स्वप्रकाशस्येव ज्ञानप्रकाशस्यापि बाह्यार्थप्रकाशकत्वोपपत्तेस्तन्मतमपि न युक्तियुक्तम्। ज्ञाततफलानुमेयो ज्ञानव्यापारो ज्ञानादिशब्दवाच्यः प्रमाणमिति मीमांसकमतं प्रमाणप्रमेयोभयनिह्नवशून्यवादिमतञ्चाद्यकाण्ड एव निरस्तमिति किं पिष्टपेषणेन ?। तदेवं तीर्थान्तराभिहितलक्षणस्य प्रमाणस्य निरवद्यस्याऽसिद्धेस्सिद्धं स्वपरव्यवसायिज्ञानं प्रमाणमिति स्वपरव्यवसायिज्ञानपर्यवसायि स्वार्थसंवेदनं प्रमाणमिति च। ननु प्रमीयते यथावन्निश्चीयते वस्तुतत्त्वं येन तत्प्रमाणमिति करणे ल्युट्प्रत्ययनिष्पन्नस्य प्रमाणपदस्य प्रमाकरणार्थकत्वेन स्वार्थसंवेदनस्य प्रमाकरणत्वे तत्फलं किमिति चेत्, उच्यते, स्वार्थव्यवसितिरेव, नन्वहो जैनानामपूर्वैव विचारचातुरी, यतस्तथाऽभ्युपगमे स्वार्थव्यवसितिरूपप्रमात्मकज्ञप्तिफलस्य स्वाभिन्नोपयोगेन्द्रियमेव करणं जिनानुगैरभ्युपगतं स्यादित्येकस्मिन्नेव ज्ञाने प्रमाणत्वप्रमात्वविरोध एव दुरुद्धरो दोषस्स्यादिति चेत्, स्यादेतत्, यद्येकस्वभावेन तदुभयाभ्युपगमस्स्यात्, न चैवम्, पावको दहत्यौष्ण्येनेत्यत्र पावके दहनक्रिया युगपद्दाहकत्वस्वभावेनौष्ण्यञ्चौष्ण्यत्वस्वभावेनैव साधकतमत्वस्वभावेन ज्ञाने प्रमाणत्व

ज्ञप्तिक्रियात्वस्वभावेन प्रमाफलत्वमित्येवमुररीकारात्, घटाभावीयप्रतियोगितावान् घट इत्यत्र प्रतियोगिताया प्रतियोग्यात्मकत्वपक्षे एकत्रैव घटत्वेन प्रतियोगितात्वेनाश्रयत्वाश्रितत्ववत्, प्रतियोगिताया अवच्छेदकात्मकत्वपक्षे घटाभावीयप्रतियोगिता घटत्वावच्छिन्नेत्यत्रैकत्रैव घटत्वत्वेन प्रतियोगितात्वेनावच्छेदकतानवच्छिन्नत्ववच्च नैव तत्र स्वभावभेदापेक्षयोस्तयोः कोऽपि विरोध इति। ननु परशुधादिकरणस्योद्यमननिपातनादिव्यापारद्वारा दार्वादिद्वैधीभावात्मकं भिन्नमेव फलं दृश्यते, न त्वभिन्नं कुत्रापि, अभेदे कार्यकारणभावाभावादिति चेत्, प्रदीपः स्व स्वेनैव प्रकाशयतीति प्रतीतेः प्रदीपात्मनः कर्तुः कथञ्चिदभिन्नस्य प्रकाशात्मककरणस्य प्रकाशनक्रियायाश्च प्रदीपात्मिकायाः कथञ्चिदभेदस्य व्यवस्थापितत्वात् प्रकाशनक्रियात्मकफलस्य स्वाभिन्नप्रदीपः करणमित्यत्रापि दीयतां दृष्टिः, यदि च करणस्य भिन्नेनैव फलेन भाव्यमित्यत्राग्रहस्तदा मत्यादिक्षायोपशमिकप्रमाणानां भिन्नं फलमादानहानधीः, उपादित्साजनिका जिहासाजनिका च बुद्धिरिति यावत्, उपेक्षा बुद्धिश्च। अतः प्रमाणफलं प्रमाणात् कथञ्चिद्भिन्नमभिन्नम् प्रमाणफलत्वान्यथाऽनुपपत्तेरिति सिद्धम्। क्षायिककेवलज्ञानस्य त्वौदासीन्यं फलमवेहि, केवलिभगवतां हेयस्य संसारतत्कारणस्य हानात्, उपादेयस्य च मोक्षतत्कारणस्योपादानात् सिद्धप्रयोजनत्वेन प्रवृत्तिनिवृत्तिनिरीहत्वादिति। सूत्रद्वयं चात्र "पारम्पर्येण केवलज्ञानस्य तावत्फलमौदासीन्यम्।" ६-४। "शेषप्रमाणानां पुनरुपादानहानोपेक्षाबुद्धयः।" ६-५। इति प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारसूत्रद्वयमिति दिक् ॥ १ ॥

अन्योन्यानुस्यूतसामान्यविशेषात्मकं च प्रमाणप्रमेयरूपं वस्तुतत्त्वेऽनेकान्तदृष्ट्या व्यवस्थितं द्रव्यार्थिकनयविवक्षायां तन्मतेन सामान्यमात्रग्रहणलक्षणदर्शनस्यैव प्रमाणत्वेनाभ्युपगमात्तद्गोचरसामान्यमेव सत्, न विशेषाः, पर्यायार्थिकनयविवक्षायां तन्मतेन विशेषमात्रग्रहणलक्षणज्ञानस्यैव प्रमाणतयोररीकरणात्तद्गोचरविशेषा एव सन्तः, न सामान्यमित्युपदर्श्य तदुभयनयविषयविषयकप्रमाणार्पणायां तु द्रव्यपर्यायौ सामान्यविशेषेत्यपराख्यावुपसर्जनीकृततदितराकारप्रधानीभूतस्वाकारदर्शनज्ञानग्राह्यावन्योन्याऽविनाभाविनावेव सद्भूताविति गौणप्रधानभावेन सामान्यविशेषोभयग्राहकदर्शनज्ञानरूपं प्रमाणमिति दर्शयन्नाह—

दव्वट्ठिओ वि होऊण दसणे पज्जवट्ठिओ होइ।
उवसमियाईभावं पडुच्च णाणे उ विवरीयं ॥ २ ॥ ॥ ५६ ॥

प्राधान्येन सामान्यांशग्रहणपरिणामे दर्शनेऽपि गौणतया विशेषांशग्रहणपरिणामो न निवृत्त, नापि प्राधान्येन विशेषांशग्रहणपरिणामे ज्ञाने गौणतया सामान्यांशग्रहणपरिणामो निवृत्त इति तात्पर्यार्थः। शब्दार्थस्त्वेवम्-' दवट्ठिओ वि ' द्रव्यार्थिकोऽपि, अत्र द्रव्या-

र्थिकस्य नयात्मकज्ञानरूपत्वाद्विषयिणा नयेन विषयो द्रव्यार्थरूपो गृहीतः, यद्वा द्रव्यमेवार्थो द्रव्यार्थः ततस्स्वार्थे प्रत्यये सति द्रव्यार्थिक इति रूप निष्पद्यते, तथा च द्रव्यार्थोऽपीत्यर्थः । तथा च ' दसणे दवट्ठिओ वि होऊण ' दर्शने सामान्यविषयके आत्मा द्रव्यार्थरूपोऽपि भूत्वा सामान्यग्रहणपरिणामोऽपि भूत्वा, तदैव ' पज्जवट्ठिओ होइ ' पर्यायास्तिको भवति, पर्यायास्तिकनयविषयविशेषग्रहणपरिणामोऽपि भवति, यदा हि सामान्यरूपतया आत्मा दर्शनविषयतामम्पन्नो भवति तदा स्वीयविशेषस्वभावमपि नैव परिजहाति, तदुभयस्वभावस्याविनाभावित्वात्, यदा च विशेषरूपतयाऽऽत्मा ज्ञानविषयीभूतो भवति, तदापि स्वीयसामान्यस्वभावमपि नैव परित्यजतीति स सामान्यपर्यालोचने दर्शने सामान्यग्रहण परिणामरूपेण प्रवृत्तोऽप्युपात्तविशेषग्रहणपरिणामः, न हि विशिष्टेन रूपेण विना सामान्य सम्भवति, एव विशेषग्रहणोन्मुखे ज्ञाने विशेषग्रहणपरिणामरूपेण प्रवृत्तोऽप्युपात्तसामान्य ग्रहणपरिणामः, न ह्यनुगतसामान्यस्वरूप परित्यज्य विशेषा अपि प्रमाणभाव भजन्ते । एतदवाह—' उवसमियाईभाव पडुच ' औपशमिकादिभाव प्रतीत्य इति, औपशमिक-क्षायिक-क्षायोपशमिकादीन् भावान् अपेक्ष्याऽऽत्मनो विशेषरूपत्वेन ' णाणे उ विवरीय ' ज्ञाने तु विपरीत विशेषग्रहणपरिणामे ज्ञाने तु पूर्वोक्तसामान्यग्रहणपरिणामदर्शनतो विपरीतम्, अस्य भावप्रधाननिर्दिष्टत्वाद्वैपरीत्यमित्यर्थः, अत एव ' ज सामण्णग्गहण गहणम् ' इत्यादिपूर्वोक्तधर्मसग्रहणीगाथाया प्रथमैकवचनान्त "विवरीय होइ नाण तु" इत्युक्तम् । अयम्भाव'—ज्ञाने हि प्राधान्येन विशेषाकारतया भासमानस्सन् गौणतयाऽऽत्माद्यर्थस्सामान्याकारतयाऽपि प्रतिभासते, तथा च दर्शने सामान्यस्य विशेषरहितस्य ज्ञाने च विशेषाणा सामान्यरहितानामप्रतीयमानत्वादात्माद्यर्थो विशेषरूपस्सन् स एव सामान्यरूपोऽपि भवतीति सामान्यविशेषौ मिथोऽविनाभूतावेव प्रतीयेते इति प्रमाणार्पणया तदुभयात्मक एवात्माद्यर्थ इति सिद्धम् । पूज्यपादाभयदेवसूरिकृततट्टीकामनुसृत्य त्वौपशमिक-क्षायिक-क्षायोपशमिकादीन् भावान् अपेक्ष्य विशेषरूपत्वेन ज्ञानस्वभावाद्वैपरीत्य सामान्यरूपता प्रतिपद्यते, विशेषरूपस्सन् स एव सामान्यरूपोऽपि भवतीत्याद्यर्थोऽनुसन्धेयः ॥ २ ॥

ननु यथाऽनाकारोपयोगसाकारोपयोगौ दर्शनज्ञानाख्यौ छद्मस्थानां छाद्मस्थिकोपयोग स्वाभाव्यात्क्रमेण भवतः, तथाहि—यदा चक्षुर्दर्शनाद्यन्यतमदर्शनोपयोगोपयुक्तश्छद्मस्थात्मा तदा न मतिज्ञानाद्यन्यतमज्ञानोपयोगोपयुक्तः, यदा च मतिज्ञानाद्यन्यतमज्ञानोपयोगोपयुक्तस्तदा न चक्षुर्दर्शनाद्यन्यतमदर्शनोपयोगोपयुक्त इत्येकतर एवोपयोगो भवत्येकस्मिन्समये, "जुगव नत्थि दो उवओगा" इति वचनात्, न तु युगपद्दर्शनज्ञानोपयोगौ द्वौ, तथास्वाभाव्यात्, तथैव किं केवलिभगवतां केवलदर्शनोपयोगकेवलज्ञानोपयोगौ क्रमेण भवतः, किं वा युगपदेकस्मिन्नेव समये द्वावपि तौ, किं वा यदेव केवलज्ञान तदेव केवलदर्शनमिति चेत्, उच्यते, अत्र स्वस्वगुरुसम्प्रदायाविच्छिन्नवाचनापरम्पराऽऽपा-

तच्छास्त्रीयतत्तन्नयगर्भितज्ञानमप्यतत्प्रयोज्याचार्यीयतत्तन्नयाधीनविवक्षाभेदप्रयुक्तमतत्त्रयम्, तथापि न कस्मिंश्चिदपि मतेऽप्रामाण्यशङ्का कर्त्तव्या, भगवत्प्रवचनस्य तत्तन्नयाधीनप्रवृत्तिकत्वेन यथोपपन्नतत्तन्नयप्रयोज्यसूत्रार्थगोचरत्वात्पक्षत्रयाणाम्, अत एव शासनानुरागशुभोपायवत्सु अविच्छिन्नगुरुपरम्पराऽऽयातसूत्रतात्पर्यमपक्षपातेन वदत्सु सूरिभगवत्सु केषुचिदपि मिथ्याभिनिवेशित्वाऽऽरोपोऽपि न कर्त्तव्यः, वीतरागप्रभुप्रणीतशास्त्रतात्पर्यबाधप्रतिसन्धानपूर्वकान्यथाश्रद्धानाऽभावात्, एतत्तत्त्वमग्रे विवेचयिष्यते इति नात्राधिक तन्यते। अत्र युगपदुपयोगद्वयवादिनां पूज्यपादश्रीमल्लवादिप्रभृतीनामेव मतम्–केवलदर्शनकेवलज्ञानोपयोगौ युगपद्भवतः, एकसमयावच्छिन्नस्वस्वसामग्रीजन्यत्वात् युगपदाविर्भूतस्वसावरणाद्वा, यावेवम् तावेवम्, यथा रवेः प्रकाशतापाविति। " जुगवं दो नत्थि उवओगा " इति सिद्धान्तवचनात् महातार्किकशिरोमणितातपादश्रीसिद्धसेनदिवाकरस्तु नैव मन्यते, किन्तु एकेनैव सिद्धे किं द्वयकल्पनयेति न्यायेन यदेव केवलज्ञानं तदेव केवलदर्शनमित्येक एव धर्मो, केवलदर्शनकेवलज्ञानभेदव्यवहारस्तु तत्र ज्ञानत्वदर्शनत्वधर्मद्वयकल्पनाप्रयुक्त एव, न तु वस्तुगत्येति। पूज्यपादश्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणादीनां सिद्धान्तमवलम्बमानानां मतश्चैवम्–" सव्वाओ लद्धीओ सागारोवओगोवउत्तस्स भवइ " इत्यार्षवचनस्य विनिगमकत्वात् केवलज्ञानस्यापि लब्धित्वात्साकारोपयोगकाले तस्य भावादाद्ये समये तत्, न च तदैव केवलदर्शनोपयोगोत्पत्तिः " जुगवं दो नत्थि उवओगा " इति सिद्धान्तवचनात्, किन्तु द्वितीयसमये, केवलदर्शनोपयोगस्य क्रमभावित्वेनार्थसिद्धत्वात्तदानीम्। अथ छद्मस्थज्ञानदर्शनोपयोगापेक्षया तद्वचनमिति चेत्, नैवम्, विशेषानभिधानात्, छद्मस्थोपयोगविषयत्वेनोक्तसिद्धान्तवचनस्य सङ्कोचकरणे बीजाभावात्। तदनु क्रमिकोपयोगद्वयधारायास्स्वरसत एव प्रवृत्तेस्तृतीयसमये केवलज्ञानोपयोगः, चतुर्थे क्रमायातः केवलदर्शनोपयोगः। एवमग्रेऽपीत्येव सर्वकालं प्रतिक्षणं क्रमिक एक एव केवलज्ञानकेवलदर्शनान्यतरोपयोग इति। ननु लोके क्रमिकसामग्रीभेदादेव क्रमिककार्यभेदो दृश्यते, न चात्र स इति कथं केवलिनां क्रमिकोपयोगरूपकार्यभेद इति चेत्, नैवम्, केवलज्ञाने केवलज्ञानान्योपयोगसहकृतकेवलज्ञानावरणक्षयस्य केवलदर्शने च केवलज्ञानोपयोगसहकृतकेवलदर्शनावरणक्षयस्य हेतुत्वेनात्रापि क्रमिकसामग्रीभेदस्य सत्त्वात्, आद्यकेवलज्ञानात्पूर्वं केवलदर्शनस्याभावाद्व्यभिचारस्स्यादतः केवलदर्शनोपयोगसहकृतेत्यनुक्त्वा केवलज्ञानान्योपयोगसहकृतेति केवलज्ञानकारणकोटावुक्तम्। नन्वेवं तर्हि तथोत्पन्नयोः केवलज्ञानोपयोगः केवलदर्शनोपयोगश्च, तन्नाशस्तु समयान्तरे न स्यादेव, नाशकहेत्वभावादित्यपि न चाशङ्कनीयम्, अर्हत्प्रवचनस्यानेकनयसमूहमयत्वात्तत्तन्नयविनिवेशेन प्राधान्येन तत्तत्कार्योपयोगिनीत्यृजुसूत्रनयावलम्बनेन भावमात्रस्य विनाशस्वभावनियतत्वेन स्वनाशम्प्रति स्वाऽव्यवहितोत्तरक्षणवर्त्तिभावानपेक्षणेन स्वत एव नाशः, अत

एव स निर्हेतुक इति तन्मतेनोच्यत इति केवलज्ञानस्य केवलदर्शनस्यापि च स्वत एव क्षणान्तरे विनाशात्। यद्वोक्तनयमतेन स्वस्य स एव नाशक इति केवलज्ञानस्य केवल दर्शनस्य च विनाशे प्रतियोगिन एव हेतुत्वात् द्वितीयक्षणे स स्यादेवेति भावनीयम्। अत्र केवलज्ञानकेवलदर्शने एकात्मनि युगपदुत्पद्येते न वा, केवलज्ञान स्वसमानाधिकरण-केवलदर्शनोत्पत्तिक्षणोत्पत्तिक न वेत्यर्थपर्यवसायिनी प्रथमा विप्रतिपत्तिः, केवलज्ञानकेवल दर्शने क्रमेणैकात्मनि समुत्पद्येते न वा, केवलज्ञान स्वसमानाधिकरणकेवलदर्शनोत्पत्तिक्षणा-व्यवहितपूर्वक्षणोत्पत्तिक न वेत्यनुगतार्था च द्वितीया इत्याद्या उक्तमतत्रयाणां साधारण्यो विप्रतिपत्तयः। आद्यविप्रतिपत्तौ विधिपक्षो महनीयमान्यपूज्यपादश्रीमल्लवादिसिद्धसेन-दिवाकराणाम्, तत्रापि केवलज्ञान स्वसमानाधिकरणकेवलदर्शनसमानकालीनमपि केवल दर्शनाद्भिन्नमेवेति तातपादश्रीमल्लवादिनः। प्रवचनोपनिषद्वेदिवादिमुख्यश्रीसिद्धसेनदिवाक रास्तु तत् केवलदर्शनादभिन्नमेवेति प्राहुः। निषेधपक्षो भगवच्छ्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणा दीनामिति। द्वितीयविप्रतिपत्तौ चोक्तवैपरीत्येन विध्यंशे निषेधांशे च ज्ञेयम्। नन्वेव विप्रतिपत्तौ सत्यां किमत्र तत्त्व सत्यमित्याशङ्कायां 'यथोद्देश निर्देश' इति न्यायात्प्रथम युगपदुपयोगद्वयवादिमतप्रदर्शनायाह—

> मणपज्जवणाणंतो णाणस्स य दरिसणस्स य विसेसो।
> केवलनाण पुण दंसण ति णाण ति य समाण ॥ ३ ॥ ५७ ॥

'मणपज्जवणाणंतो' मनःपर्यायज्ञानमन्त पर्यवसान यस्य स मनःपर्यायज्ञानान्तः, स कः कस्य चेत्याशङ्कायामाह—'णाणस्स य दरिसणस्स य विसेसो' ज्ञानस्य च दर्शनस्य च विश्लेषः पृथग्भाव इति भाष्यम्। अत्रानुक्तमपि छद्मस्थोपयोगत्व हेतुर्द्रष्टव्यः। तथा च प्रयोगः—चक्षुरचक्षुरवधिज्ञानानि चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनेभ्यः पृथक्कालानि छद्मस्थोपयोगात्मकज्ञान त्वात्, श्रुतमनःपर्यायज्ञानवत्, सङ्केतस्मरणोद्बुद्धवाच्यवाचकभावसम्बन्धतोऽर्थस्मरणद्वारा पदज्ञानजन्यतद्वाच्यार्थविषयके तत्तत्पदार्थोपस्थितिद्वारा पदसमूहरूपवाक्यार्थविषयके वा श्रुतज्ञाने यानि चिन्त्यमानपदार्थानुगुणानि सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियजीवैः काययोगेन गृहीतानि मनोवर्गणाद्रव्याणि मनोयोगेन च मनस्त्वेन परिणमितानि तत्पर्यायविषयके मनःपर्याय ज्ञाने चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनपृथक्कालत्वसाध्यसिद्धेर्न दृष्टान्तासिद्धिरिति। अत्र दर्शनत्रयपृथ-क्कालत्व कुत्रापि एकस्मिन्नसिसाधयिषितम्, यच्च स्वदर्शनपृथक्कालत्व सिसाधयिषित तच्चोक्त दृष्टान्तयोर्विद्यत इति दृष्टान्ताऽसिद्ध्याऽत्र सावरणत्व हेतु कर्त्तव्यः, व्यतिरेकी च प्रयोगः। ननु चक्षुरचक्षुरवधिज्ञानानि स्वस्वदर्शनपृथक्कालानि सावरणत्वात् यन्नैव तन्नैवमिति व्यतिरे-क्यनुमानेऽपि व्यतिरेकदृष्टान्तीभूते केवलज्ञाने स्वदर्शनपृथक्कालत्वाभावो हेतुरथापि नैव सिद्ध इति दृष्टान्ताऽसिद्धिस्तदवस्थैवेति चेत्, तर्हि तज्जन्यत्वमेव हेतुः क्रियताम्, यद् यज्जन्य तत्ततः

पृथक्कालमिति सामान्यव्याप्तौ यथा दण्डाद् घट इति दृष्टान्तस्य सर्वाऽविवादेन सिद्धत्वान्न दृष्टान्तासिद्धिरित्युक्तं ज्ञानबिन्दौ न्यायाचार्यैः शब्दान्तरेण। यथा चक्षुर्ज्ञानादिकं चक्षुर्दर्शनादिजन्यमित्यतस्ततः पृथक्कालं तथा केवलज्ञानं केवलदर्शनजन्यं नेति न केवलदर्शनपृथक्कालं किन्तु तदुभयमेकसमयावच्छिन्नोत्पत्तिकम् अव्यवहितपूर्वसमयावच्छिन्नस्वस्वसामग्रीजन्यत्वात्, मतिज्ञानश्रुतज्ञानलब्धिद्वयवदित्याशयेनोत्तरार्द्धमाह–'केवलनाणं पुण' केवलज्ञानं पुनः 'दसणं ति' दर्शनमिति-दर्शनोपयोग इति, 'नाणं ति य' ज्ञानमिति च ज्ञानोपयोग इति च 'समाणं' समानं तुल्यकालम्, तुल्यकालीनोपयोगद्वयात्मकः केवलाख्यो बोध इत्यर्थः। प्रयोगश्चात्र–केवलिनो ज्ञानोपयोगदर्शनोपयोगावेककालीनौ युगपदाविर्भूतस्वभावत्वात्, यावेवम् तावेवम्, यथा रवेः प्रकाशतापौ ॥ ३ ॥

अयमभिप्राय आगमविरोधीति केषांचिन्मतम्, तानधिक्षिपन्नाह—

केई भणंति जइआ जाणइ तइआ ण पासइ जिणोत्ति।
सुत्तमवलंबमाणा तित्थयराऽऽसायणाऽभीरू ॥ ४ ॥ ५८ ॥

'केई' केचित् पूज्यपादश्रीजिनभद्रानुयायिनो 'भणंति' भणन्ति, प्रतिपादयन्ति, किं भणन्तीति कर्माकाङ्क्षायामाह–'जइया' इत्यादि, 'जइया' यदा 'जाणइ' जानाति 'तइया' तदा 'ण पासइ' न पश्यति, कर्तुराकाङ्क्षायामाह–'जिणोत्ति' जिन इति 'सुत्तमवलंबमाणा' सूत्रमवलम्बमाना "केवली णं भंते! इमं रयणप्पभं पुढविं आगारेहिं हेऊहिं उवमाहिं दिट्ठतेहिं वण्णेहिं संठाणेहिं पमाणेहिं पडोयारेहिं जं समयं जाणति तं समयं पासइ, जं समयं पासइ तं समयं जाणइ? गोयमा! नो इणट्ठे समट्ठे, से केणट्ठेण भंते! एवं वुच्चति–केवली णं इमं रयणप्पभं पुढविं आगारेहिं० जं समयं जाणति नो तं समयं पासति, जं समयं पासइ नो तं समयं जाणइ? गोयमा! सागारे से नाणे भवति, अणागारे से दंसणे भवति, से तेणट्ठेण जाव णो तं समयं जाणति, एवं जाव अहे सत्तमे" इति प्रज्ञापनात्रिंशत्तमपश्यत्ताख्यपदगतसूत्रमवलम्बमानाः, अस्य च सूत्रस्य किञ्चायमर्थस्तेषामभिमतः—केवली-सम्पूर्णबोधः, णमिति वाक्यालङ्कारे, भन्ते इति भगवन् 'इमां रत्नप्रभां पृथिवीमाकारहेत्वादिभिरष्टाभिः करणभूतैः 'जं समयं जाणइ तं समयमिति' कालाध्वनोरत्यन्तसंयोग इति २–३–५ इति सूत्रेण द्वितीया अधिकरणसप्तमीबाधिका, तेन 'जं समयं जानाति' यस्मिन् समये जानाति 'तं समयं पासइ' तस्मिन् समये पश्यति? यस्मिन् समये पश्यति तस्मिन् समये जानाति? इति भगवता श्रीगौतमेन प्रश्ने कृते भगवानाह—गौतम! नायमर्थस्समर्थः, नैव यस्मिन् समये जानाति तस्मिन्नेव समये पश्यतीत्यर्थो युक्त्युपपन्नः, ततोऽन्यस्मिन् समये जानाति अन्यस्मिंश्च समये पश्यतीति भावः, पुनश्च भगवन्तं पृच्छति, से केणट्ठेण भंते! इत्याद्युच्चारणीयम्,

भगवानाह—"सागारे से नाणे भवति अणागारे से दंसण हवइ त्ति" साकारं विशेषग्राहि 'से' तस्य केवलिनो ज्ञानं भवति, अनाकारं अतिक्रान्तविशेषं सामान्यग्राहि दर्शनं भवति "जं सामण्णग्गहणं दंसणमेयं विसेसियं नाणं" इति वचनात्। ज्ञानदर्शने चैकसमयावच्छेदेन मिथो विरुद्धे, परस्पराभावनान्तरीयकत्वात्, परमाणुगतशीतोष्णत्ववत्, अत्र परमाणुगतेति विशेषणाद् जैनमते एकस्मिन्नवयविन्येकसमयावच्छेदेन भिन्नावयवावच्छेदेन शीतोष्णत्वयोस्सत्त्वेऽपि न क्षतिः, एकस्मिन् परमाणौ शीतोष्णत्वयोर्निरुद्धयोरेकसमयावच्छेदेनाऽनभ्युपगमात्। उक्तानुमानेन केवलज्ञानकेवलदर्शने मिथो विरुद्धे इति सिद्धे सत्येकस्मिन्नेव समये निरावरणस्यापि केवलिनस्ते तथाविधे युगपद्भवितुं नार्हतः। न चैकस्मिन्नात्मनि साकारताऽनाकारतालक्षणज्ञानत्वदर्शनत्वोभयात्मकविरुद्धधर्मशाल्यभिन्नकेवलोपयोगोऽपि सम्भवति, तथा च विशेषग्राहिज्ञानोपयोगः सामान्यग्राहिदर्शनोपयोगान्तरितः, सामान्यावलम्बिदर्शनोपयोगश्च विशेषप्रतिभासिज्ञानोपयोगान्तरितः, तत्स्वाभाव्यादिति युगपदनेकप्रत्ययानुत्पत्तौ स्वभाव एव कारणं नान्यत्, यथा सन्निहितेऽपि च द्वयात्मके विषये सर्वविशेषानेव केवलज्ञानं सर्वसामान्यानि च केवलदर्शनं गृह्णातीत्यत्रानयोस्स्वभाव एव कारणम्, तथा प्रकृतेऽपि। प्रयोगश्चात्र—एकात्मगते केवलज्ञानकेवलदर्शने पृथक्कालीने एकसमयावच्छेदेन परस्परविरुद्धस्वभावत्वात्, एकपरमाणुगतशीतोष्णत्ववत्, क्रमभाविस्वभावत्वाद्वा चक्षुर्ज्ञानश्रोत्रज्ञानवत्। अथवा केवलज्ञानकेवलदर्शने मिथोऽन्तरिततयैवाऽभ्युपगन्तव्ये तत्स्वाभाव्यात्, यस्य यत्स्वभावस्स तथैवाऽभ्युपगन्तव्यः, यथा केवलज्ञानस्य विशेषग्राहकत्वस्वभावः केवलदर्शनस्य च सामान्यग्राहकत्वस्वभाव इति। एते च व्याख्यातारः किम्भूता इत्याशङ्कायामाह—'तित्थयराऽऽसायणाऽभीरू' तीर्थकराऽऽशातनाऽभीरवः तीर्थकराऽऽशातनाया अभीरवः। तीर्थकरमाशातयन्तो न बिभ्यतीति यावत्। एवं हि निःसामान्यस्य निर्विशेषस्य वा वस्तुनोऽभावेन न किञ्चिज्जानाति केवली न किञ्चित्पश्यतीत्यधिक्षेपस्यैव पर्यवसानात्। न चान्यतरमुख्योपसर्जनविषयतामपेक्ष्योभयग्राहित्वेऽपि उपयोगक्रमाऽविरोधः, मुख्योपसर्जनभावेनोभयग्रहणस्य क्षयोपशमविशेषप्रयोज्यत्वात्, केवलज्ञाने छद्मस्थज्ञानीययावद्विषयतोपगमे अवग्रहादिसङ्कीर्णरूपताप्रसङ्गात्, सामान्यज्ञानपूर्वकं विशेषज्ञानं विशिष्टबुद्धौ विशेषणज्ञानस्य कारणत्वादिति छद्मस्थज्ञानीयक्रमानुसारेण केवलिनोऽपि पूर्वं केवलदर्शनं तदनु केवलज्ञानमिति क्रमप्रसङ्गाच्च। उक्तसूत्रस्य तु भवदुक्तोऽर्थो न च समीचीनतामञ्चति, यतोऽस्मिन् सूत्रे समयमिति पदं न समयाख्यकालवाचकम्, किन्तु समकं तुल्यमित्यर्थवाचकम्, तथा च "अथ केनार्थेन भदन्त! एवमुच्यते, केवली इमां रत्नप्रभां पृथिवीं यैराकारादिभिः समकं तुल्यं जानाति न तैराकारादिभिस्तुल्यं पश्यति, यैराकारादिभिः समकं तुल्यं पश्यति न तैराकारादिभिस्समकं तुल्यं जानातीति प्रश्ने कृते तत्प्रतिवचनमिदालम्बनप्रदर्शकम्, केवलिनो ज्ञानं साकारं भवति, तस्य दर्शनं चानाकारं भवतीत्यतो

भिन्नालम्बनावेतौ प्रत्ययावित्याहुः प्राचीनाः। ज्ञानबिन्दावुपाध्यायमतल्लिश्रीयशोविजया-स्त्वत्रैवं समालोचयन्ति–अत्र यद्यपि 'ज समय' इत्यत्र 'ज' इति अस्मात् प्राकृत लक्षणात्, यत्कृतमित्यत्र 'ज कय' इति प्रयोगस्य लोकेऽपि दर्शनादिति वक्तुं शक्यते, तथापि तृतीयान्तपदवाच्यैराकारादिभिः यैस्समक यत्समकमिति लुप्ततृतीयान्तसमासस्य यत्पदार्थस्य समकपदार्थस्य चान्यूनानतिरिक्तधर्मविशिष्टस्य रत्नप्रभायां भिन्नलिङ्गत्वाद नन्वय इति 'यत्समकम्' इत्यादि क्रियाविशेषणत्वेन व्याख्येयम्, रत्नप्रभाकर्मकाकारादि-निरूपितयावदन्यूनानतिरिक्तविषयताकज्ञानवान् न तादृशयावदन्यूनानतिरिक्तविषयताक दर्शनवान् केवलीति फलितोऽर्थः। यदि च तादृशस्य विशिष्टदर्शनस्य निषेध्यस्याऽप्रसिद्धेर्न तन्निषेधः, 'असतो नत्थि निसेहो' विशेषा० गा० १५७४ इत्यादिवचनादिति सूक्ष्म-मीक्ष्यते, तदा क्रियाप्रधानमाख्यातमिति वैयाकरणनयाश्रयणेन रत्नप्रभाकर्मकाकारादि-निरूपितयावदन्यूनानतिरिक्तविषयताकं ज्ञानं न तादृशं केवलिकर्तृकं दर्शनमित्येव बोधः, सर्वनयात्मके भगवत्प्रवचने यथोपपन्नान्यतरनयग्रहणे दोषाभावादिति। अत्र न तादृश केवलिकर्तृकं दर्शनमित्यस्य रत्नप्रभाकर्मकाकारादिनिरूपितयावदन्यूनानतिरिक्तविषयता कत्वाभाववत् केवलिकर्तृकं दर्शनमिति पर्यवसितोऽर्थः। तेन ज्ञानतुल्यविषयताकदर्शनस्याऽ-प्रसिद्धत्वेऽपि न क्षतिरिति ॥ ४ ॥

युगपदुत्पत्यविकलकारणकं यद् यद् तत्तद् युगपदुत्पद्यते यथा रूपोत्पत्तिकाले रसः, यथा वाऽऽदित्यप्रकाशोत्पत्तिकाले प्रतापः, युगपदुत्पत्त्यविकलकारणकञ्च केवलज्ञानोत्पत्तिकाले केवलदर्शनम्, तस्मात् केवलज्ञानोत्पत्तिकाल एव तेनैव साकमुत्पद्यते केवलदर्शनमित्याह—

केवलणाणावरणक्खयजायं केवलं जहा णाणं।
तह दंसणंपि जुज्जइ णियआवरणक्खयस्संते ॥ ५ ॥ ५९ ॥

'केवलणाणावरणक्खयजायं' केवलज्ञानावरणक्षयजातं कारणीभूते केवलज्ञानावरण क्षये सति जातं तेनोत्पन्नं 'केवलं जहा णाणं' केवलं यथा ज्ञानम्, यथा निखिलविशेष ग्राहकस्वभावं केवलज्ञानं 'तह दंसणं पि जुज्जइ' तथा दर्शनमपि युज्यते निखिलसामान्य ग्राहकस्वभावं केवलदर्शनमपि युज्यते, कदेत्यत आह–'णियआवरणक्खयस्संते' निजा वरणक्षयस्यान्ते दर्शनावरणक्षयानन्तरक्षणे, द्वादशगुणस्थानस्य चरमसमये केवलज्ञानावरण क्षयकेवलदर्शनावरणक्षयरूपकारणद्वयस्य युगपत्सद्भावे तत्कार्यभूते केवलज्ञानकेवलदर्शने युगपदेवोत्पद्येताम् अव्यवहितपूर्वसमयावच्छेदेन तदुभयोत्पत्तिकारणसद्भावात् युगपदुत्पद्य-मानाऽऽदित्यप्रकाशतापवत् परमाणौ रूपरसादिवद्वा। ननु केवलज्ञानकेवलदर्शने सम कालीनकेवलज्ञानावरणक्षयकेवलदर्शनावरणक्षयहेतुके अपि क्रमभावित्वस्वभावादेव क्रमेणै-वोत्पद्येते, न हि स्वभावे पर्यनुयोग इति न्यायादिति चेत्, युक्तिबलसाम्राज्ये सति न हि

स्वभावमात्रेण सन्तोष्टव्यम्, यतो युगपत्कार्यद्वयोत्पादकाऽतुलसमबलकारणद्वयसद्भावेऽपि स्वभावमात्रेण कार्यक्रमाभ्युपगमे सर्वत्र स्वभावेनैव निर्वाहे कारणमात्रस्यैवोच्छेदप्रसङ्गस्स्यात्, तथा सति स्वभाववादस्यैव साम्राज्यं स्यात्, तस्मादनन्यगत्या कार्योत्पत्तिस्वभावः कारणे नैव कार्यक्रमस्वभावोऽपि कारणक्रमेणैव जननीय इत्यभ्युपगन्तव्यम्, न चात्र कारणक्रमः, येनाभिलषितकार्यक्रमोऽपि स्यात्, एतेन सर्वव्यक्तिविषयकत्वसर्वजातिविषयकत्वयोः पृथगेवावरणक्षयकार्यतावच्छेदकत्वादर्थतस्तदवच्छिन्नोपयोगद्वयसिद्धिरित्यपि निरस्तम्, तत्सिद्धावपि तत्क्रमाऽसिद्धेः, आवरणद्वयक्षयकार्ययोः समप्राधान्येनार्थगतेरसमराच। न च मतिश्रुतज्ञानावरणयोर्युगपत्क्षयोपशमेऽपि यथा तदुपयोगक्रमस्तथा केवलज्ञानकेवलदर्शनावरणयोर्युगपत्क्षयेऽपि केवलिन्युपयोगक्रमस्स्यादिति शङ्कनीयम्, तत्र श्रुतोपयोगे मतिज्ञानस्य हेतुत्वेन शब्दादौ प्रत्यक्षादिनाऽसभ्याः प्रतिबन्धकत्वेन चोपयोगक्रमसम्भवात्, अत्र तु क्षीणावरणत्वेन परस्परकार्यकारणभावप्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावाभावेन विशेषात् ॥ ५ ॥

एतदेवाह—भण्णइ खीणावरणे, जह मइनाणं जिणे ण संभवइ।
तह खीणावरणिज्जे विसेसओ दंसणं नत्थि ॥ ६ ॥ ६० ॥

'भण्णइ' भण्यते, निश्चित्योच्यते 'खीणावरणे' क्षीणावरणे, क्षीणं घनघातिकर्मचतुष्टयमावरणं यस्य स तथा तस्मिन्, अस्य 'जिणे' इत्यनेनान्वयादेवम्भूते जिने 'जह मइनाणं' यथा मतिज्ञानं मत्यादिज्ञानम् अवग्रहादिचतुष्टयरूपं वा मतिज्ञानं 'ण संभवइ' न सम्भवति 'तह खीणावरणिज्जे' तथा क्षीणावरणीये तस्मिन्नेव 'विसेसओ' विश्लेषतः पृथग्भावतो ज्ञानोपयोगसमयभिन्नसमये इति यावत् 'दंसणं नत्थि' दर्शनं नास्ति, न सम्भवति, क्रमोपयोगत्वस्य मतिज्ञानाद्यात्मकछाद्मस्थिकज्ञानत्वव्याप्यत्वात्, विशिष्टबुद्धिम्प्रति विशेषणज्ञानस्य कारणत्वमिति नियमेन पूर्वं सामान्यालम्बनोपयोगः पश्चाद्विशेषालम्बनोपयोग इति क्रमोपयोगत्वस्य चावग्रहाद्यात्मकत्वव्याप्यत्वात्, केवलज्ञानकेवलदर्शनयोः क्रमोपयोगत्वे तत्त्वापत्तिस्स्यात्, व्याप्यसत्त्वे व्यापकस्यावश्यम्भावात्, उक्ततर्कबलेनानुमानप्रयोगश्चात्रैवम्—केवलज्ञानकेवलदर्शने एकसमयावच्छिन्नोत्पत्तिके एकसमयवर्त्तिसामग्रीकत्वात्, यद्यदेकसमयवर्त्तिसामग्रीकं तत्तदेकसमयावच्छिन्नोत्पत्तिकं "सम्मत्तचरित्ताइ जुगवं" इति वचनात् 'सम्मत्तेण समगं सव्वं देसं च कोइ पडिवज्जे' इति पञ्चसङ्ग्रहवचनाच्च एककालीनदर्शनमोहनीयकर्मक्षयोपशमचारित्रमोहनीयकर्मक्षयोपशमवतः कस्यचित्पुंसः सम्यग्दर्शनचारित्रे इव ॥ ६ ॥

न केवलं सम्भवादिनोऽनुमानविरोधः, अपि त्वागमविरोधोऽपीत्याह—

सुत्तम्मि चेव साई-अपज्जवसियं ति केवलं वुत्तं।
सुत्तासायणभीरूहिं, तं च दट्ठव्वयं होइ ॥ ७ ॥ ६१ ॥

'सुत्तम्मि' केवलज्ञानकेवलदर्शनयोस्साद्यपर्यवसितत्वाभिधायके "केवलनाणी णं पुच्छा

गोयमा ! साइ अपज्जवसिए" "केवलदंसणी ण पुच्छा गोयमा ! सातीए अपज्जवसिए" इति प्रज्ञापनाऽष्टादशपदोक्तसूत्रे 'चेव' चेव-निश्चयेन "साइ-अपज्जवसिय त्ति केवल वुत्त" साद्यपर्यवसितमिति साद्यनन्तमिति 'केवल' केवलज्ञान केवलदर्शनञ्चोक्तम् । क्रमोपयोगे तु द्वितीयसमये तयोः पर्यवसानमिति कुतोऽपर्यवसितता ? । तेन 'सुत्तासायणमीरूहिं' सूत्राशातनाभीरुभि 'त च दट्ठव्व होइ' तच्च द्रष्टव्यक भवति । चोऽप्यर्थः, न केवल 'केवली ण भंते ! इम रयणप्पभ पुढविं' इत्याद्युक्तसूत्रस्य यथाश्रुतार्थानुपपत्तिमात्रम्, किन्त्वस्य साद्यपर्यवसितत्वाभिधायकस्य सूत्रस्य विरोधोऽपीति भावः । न च यथा मतिज्ञानादिकमुत्पन्न सत् मिथ्याभावादिनाशी "नट्ठम्मि उ छाउमत्थिए नाणे केवलनाण उवज्जइ" इति वचनात् केवलज्ञाननाशी वा प्रतिपतति, न च तथास्वभावे केवलज्ञानकेवलदर्शने, तयोः क्षायिकत्वादिति त साद्यपर्यवसिते स्यातामिति वाच्यम्, केवलज्ञानकेवलदर्शनयो क्रमिकोत्पादपक्षे यस्मिन् समये यस्य नोत्पत्तिस्तस्मिन् समये तस्याभावेन सपर्यवसितत्वमेव स्यात् । अथ तदानीं व्यक्तिरूपेण तत्सत्त्वाभावेऽपि लब्धिरूपेण तत्सत्त्वमस्त्येव, तथा च तद्रूपेण क्वापि प्रतिपाताभावेनापर्यवसितत्व तयोस्स्यादेवेति चेत्, तर्हि केवलज्ञानत्वावच्छिन्ने केवलदर्शनत्वावच्छिन्ने च विवादापन्न क्रमिकत्व प्रसाधनीयमिति तद्धर्मरूपेण तत्रापर्यवसितत्वमभिलषित सिद्ध न स्यात्, प्रत्युत लब्धिरूपेण तत्सिद्ध स्यात्, केवलज्ञानत्वधर्मरूपेण केवलदर्शनत्वधर्मरूपेण तत्रापर्यवसित त्वमस्ति न वेति सशये सति प्रश्ने कृते यद्रूपेण जिज्ञासित तद्रूपेणैव तदुत्तरदानेनैव निराकाङ्क्षबोधभावाजिज्ञासानिवृत्तिस्स्यात्, नान्यथा, न च लब्धिपक्षे तत्सम्भव इति । न च मतत्रयेऽपि द्वितीयसमये प्रथमसमयावच्छिन्नयोस्तयोर्विनष्टत्वाद्द्वितीयसमयावच्छिन्नयोस्तयोश्चोत्पादादपर्यवसितत्व न स्यादिति वाच्यम्, तत्तत्समयविशिष्टत्वेनोत्पादविनाशशालित्वेऽपि केवलज्ञानत्वावच्छिन्न-केवलदर्शनत्वावच्छिन्नतदीयसन्तानस्य दीपशिखासन्तानवदविच्छेदात्, अत एवोत्पादादित्रैलक्षण्योपपत्तिः । एव प्रथमसमयवर्त्तिनो यान् निखिलाननन्त पदार्थान् स्वस्वानन्तपर्यायविशिष्टान् वर्त्तमानप्रथमसमये वर्त्तमानस्वरूपेण तदनन्तरद्वितीयादिसमयवर्त्तिनस्ताननागतस्वरूपेण तत्पूर्ववर्त्तिनश्च तानतीतस्वरूपेण जानन्ति पश्यन्ति च, द्वितीयसमये च प्रथमसमयवर्त्तिनस्तान् षड्गुणहानिवृद्धिभाव प्राप्तानतीततया द्वितीयसमयवर्त्तिनश्च तान् षड्गुणहानिवृद्धिभाव प्राप्तान् वर्त्तमानतया अतीताश्च षड्गुणहानिवृद्धिभावप्राप्तानन्तपर्यायविशिष्टान् तानेकसमयाधिकातीतस्वरूपेणाऽनागतांश्च तद्विशिष्टान् तानेकसमयन्यूनानागतस्वरूपेण जानन्ति पश्यन्ति च, एवमग्रेऽपि, तथा च प्रदर्शितप्रकारेण वर्त्तमानादिस्वभावविशिष्टार्थग्राहकयो केवलज्ञानकेवलदर्शनयोस्तत्तत्समयविशिष्टार्थग्राहकत्वपरिणतिभेदेन प्रतिक्षणमुत्पादादित्रैलक्षण्यसिद्धिः । एव द्रव्यमात्रस्य प्रतिक्षण पर्यायभेदेन

मिश्ररूपत्वात्सद्रूपज्ञेयपरिणतिभेदेन तद्ग्राहकत्वपरिणतिभेदतस्तयोः प्रतिक्षण त्रैलक्षण्यमिद्धि र्भावनीया, सर्वञ्चैतद् भवन्मते तयोर्न सङ्घटते, तत्तत्समये तदुभयान्यतरस्यैव सद्भावेन तदुभयाभावात् । तथा च तत्तत्क्षणेऽन्यतरधर्मिणोऽभावेन तत्र त्रैलक्षण्यधर्मस्य सुतरामभाव एव, न चास्मन्मतेऽपि निकलप्रकाशपरिणामेन नष्टा ध्रुवा चेतनैव त्रयोदशगुणस्थानकाद्य क्षणे सम्पूर्णप्रकाशरूपकेवलज्ञानतया परिणता, अत एव त्रैलक्षण्योपपत्तिः, या चाद्यसमये केवलज्ञानस्वरूपेण परिणता सैव द्वितीयसमये केवलदर्शनरूपेण तृतीयसमये च केवलज्ञान स्वरूपेण च परिणमते, अत एव प्रतिक्षण त्रैलक्षण्यसिद्धिरिति, सा चानुकेवलज्ञानोत्पत्ति केवलोपयोगस्वरूप नैव कदापि परिजहातीति तद्रूपेण तस्यास्सर्वदा प्रवृत्तत्वेन तद्रूपेण केवलज्ञानकेवलदर्शनयोरपर्यवसितत्व स्यादेवेति वाच्यम्, केवलोपयोगस्वरूपेण तयोरपर्य वसितत्वाभ्युपगमे द्वितीयक्षणेऽपि तयोस्सद्भावप्रसक्तिः, अन्यथा तदभिन्नत्वाऽयोगस्स्यात्। किञ्च केवलज्ञानत्वकेवलदर्शनत्वात्मकस्वस्वासाधारणधर्मरूपेण साद्यपर्यवसितत्वञ्चाऽभि- लषित तयोस्सिद्ध न स्यात् । तदेव क्रमाभ्युपगमे तयोरागमविरोध इत्युपसहरन्नाह—

सतमि केवले दसणम्मि, नाणस्स सभवो नत्थि ।
केवलनाणम्मि य दसणस्स तम्हा सनिहणाइं ॥ ८ ॥ ६२ ॥

केवलज्ञानत्वेन केवलदर्शनत्वेन च स्वस्वासाधारणधर्मेण द्वयोः क्रमिकत्वेऽन्यतरकाले ऽन्यतराभावप्रसङ्ग इत्याशयेनाह—' सतमि केवले दसणम्मि ' सति केवले दर्शने, केवल- दर्शने सति ' नाणस्स ' ज्ञानस्य केवलज्ञानस्य ' सभवो नत्थि ' सम्भवो नास्ति । " केवलनाणम्मि य दसणस्स " केवलज्ञान च सति दर्शनस्य, एतदनन्तर 'सभवो नत्थि' इत्यनुकर्षणीयम् । ' तम्हा सनिहणाइ ' तस्मात्सनिधने, अत्र ' दुवयणे बहुवयण ' इति प्राकृतनियमाद्विवचनस्थाने बहुवचनम् । निधनमन्तो विनाशस्तेन सहिते सनिधने, प्रसक्ते इति शेषः । तथा च केवलज्ञानकेवलदर्शनयोरन्यतरकालेऽन्यतराऽभावाच्च सनिधने सविनाशे प्राप्ते, एव च सति तदपर्यवसितत्वप्रतिपादकोक्तागमविरोधस्सुस्पष्ट एवेति भावः । अत्र ' तम्हा अनिहणाइ ' इति ज्ञानबिन्दौ पाठः, तस्य चाऽयमर्थः—स्वरूपतो द्वयोः क्रमिकत्वे ऽन्यतरकालेऽन्यतराभावप्रसङ्गः, तथा चोक्तवक्ष्यमाणदूषणगणोपनिपातः, तस्माद् द्वावप्युप योगौ केवलिनः स्वरूपतोऽनिधनावित्यर्थः ॥ ८ ॥

इत्थ ग्रन्थकृदक्रमोपयोगद्वयाभ्युपगमेन क्रमोपयोगवादिन पर्यनुयुज्य स्वपक्ष दर्शयितुमाह—

दसणनाणावरणक्खए समाणम्मि कस्स पुव्वयर (यरो) ।
होज्ज सम उप्पाओ हदि दुवे नत्थि उवओगा ॥ ९ ॥ ६३ ॥

' दसणनाणावरणक्खए समाणम्मि ' दर्शनज्ञानावरणक्षये समाने निखिलसामान्य

प्रतिभासिकेवलदर्शनावरणक्षयो यस्मिन् समये तस्मिन्नेव समये निश्शेषविशेषावगाहिकेवलज्ञानावरणक्षय इत्येकसमयावच्छेदेन दर्शनज्ञानावरणक्षयलक्षणे तदुभयकारणे समाने सति ‘ कस्स पुव्वपर ’ कस्य प्रथमतरमुत्पादो भवेत् ? उभयसामग्रीसद्भावेऽप्यन्यतरोत्पादे तदितरस्याप्युत्पादप्रसङ्गस्स्यात् । लोके क्रमिकसामग्रीभेदादेव क्रमिककार्यभेदो दृश्यते, न चात्र स इति कथं केवलिभगवतां क्रमिकोपयोगरूपकार्यभेदः । अन्यतरसामग्री अन्यतरप्रतिबन्धिकेति चेत्तर्हि विनिगमनाविरहादुभयोरप्यभावप्रसङ्गस्स्यात् । ननु “सव्वाओ लद्धीओ सागारोवओगोवउत्तस्स ” इत्याद्यार्षवचनमेव केवलज्ञानकेवलदर्शनक्रमोत्पादे प्रमाणम्, यतः केवलज्ञानस्य लब्धित्वात्साकारोपयोगसमये तदुत्पत्तेराद्यसमये केवलज्ञानोपयोग', न च तत्समय एव केवलदर्शनोपयोगोत्पत्ति', किन्तु द्वितीयसमय एव “जुगवं दो नत्थि उवओगा ” इति सिद्धान्तवचनादिति पूर्वमवोक्तमिति चेत्, सत्यमुक्तम्, न तु युक्तियुक्तमुक्तम्, एतद्वचनस्य साकारोपयोगोपयुक्तस्य लब्धियौगपद्य एव साक्षित्वात्, उपयोगक्रमाक्रमयोरौदासीन्यात्, केवलज्ञानकेवलदर्शनयोर्यौगपद्येनापि निर्वाहेऽर्थाद्दर्शनऽनन्तरोत्पत्त्यसिद्धे', एकक्षणोत्पत्तिककेवलज्ञानयोरेकक्षणन्यूनाधिकायुष्कयो केवलिनो. क्रमिकोपयोगधाराया निर्वाहयितुमशक्यत्वाच्च, अयोगिगुणस्थानचरमक्षणे एकस्य केवलिनो धाराक्रमेण केवलज्ञानं स्यात्, तदन्यस्य च दर्शनमिति तदव्यवहितोत्तरसिद्धिसमयेऽपि तथा स्यात्, न चेष्टमुक्तम्, सिद्धिलब्धेस्साकारोपयोगकाल एव भावादिति । ननूक्तबाधकबलाद्भिन्नसमयावच्छेदेन केवलज्ञानकेवलदर्शनयोरुत्पादो माऽभ्युपगम्यताम्, अभ्युपगम्यतामेकसमयावच्छेदेन स , बाधकाभावादित्याशङ्कत आराध्यपादश्रीमल्लवादी ‘ होज्ज सम उप्पाओ ’ भवेत् सममेककालमुत्पादस्तयो , एकसमयावच्छिन्नकारणद्वयसद्भावे सत्येकसमयावच्छेदेनैव कार्यद्वयस्यापि भावात् । अत्र ‘होज्ज व समओप्पाओ’ इत्यपि ज्ञानबिन्दुपाठः–भवेद्वा समयमेककालमुत्पादस्तयोरित्यर्थः । एकोपयोगी महनीयमान्यश्रीसिद्धसेनदिवाकरस्स्वसिद्धान्तं निष्टङ्कयति–‘ हदि दुवे नत्थि उवओगा ’ ज्ञायतां द्वावुपयोगौ न स्तः एकदेति, सामान्यविशेषपरिच्छेदात्मकत्वात् केवलज्ञानस्य, यदेव ज्ञानं तदेव दर्शनमित्यत्रैव निर्भर., उभयहेतुसमाजे समूहालम्बनोत्पादस्यैव अन्यत्र दृष्टत्वात् नात्रापरिदृष्टकल्पनाक्लेश इति भाव' ॥९॥

अखिलसामान्याखिलविशेषोभयविषयकसमूहालम्बनज्ञानाभ्युपगमे सत्येव केवलिनस्सर्वज्ञतासम्भव , नान्यथेत्याह—

> जइ सव्वं सायार, जाणइ एक्कसमयेण सव्वण्णू ।
> जुज्जइ सयावि एवं, अहवा सव्वं न जाणाइ ॥ १० ॥ ६४ ॥

‘ जइ सव्वं सायार ’ यदि सर्वं सामान्यविशेषात्मकं जगत् साकारं तत्तज्जातिव्यक्तिवृत्तिधर्मविशिष्टम्, साकारमिति क्रियाविशेषणं वा निरवच्छिन्नतत्तज्जातिविषयप्रकारतानिरूपि



तत्तद्व्यक्तिनिष्ठविशेष्यतासहितं परस्परं यावद्द्रव्यपर्यायनिरूपितविषयतासहितं वा यथा स्यात्तथेत्यर्थः। "जाणइ एक्कसमयेण सवण्णू" जानाति एकसमयेन सर्वज्ञः, पश्यति चेति शेषः, "जुज्जइ सयावि एव" तदा युज्यते 'सदाऽपि' सर्वकाल 'एव' सर्वज्ञत्वं सर्वदर्शित्वं च तस्येत्यर्थः। अयम्भावः-सामान्यविशेषोभयात्मकत्वाद्वस्तुनो यदा सर्वं विशेषात्मकं जानाति तदैव विशेषानुस्यूतसामान्यमपि सर्वं पश्यति, तत्पश्यन् वा तदविनिर्भागवृत्तं निखिलविशेषमपि तदैव जानाति, निखिलसामान्यविषयताकत्वे सति निखिलविशेषविषयताकावबोधैकरूपत्वात् सर्वज्ञोपयोगस्य, तथाऽभ्युपगमे सत्येव तस्य सर्वज्ञत्वं सर्वदर्शित्वं सदापि युज्यते। 'अहवा' अथवा एतद्वैपरीत्ये सति "सव्वं न जाणइ" सर्वं न जानाति, सामान्यविशेषोभयात्मकं निश्शेषपदार्थमात्रं सर्वज्ञो न जानीयात्, एकदेशोपयोगवर्त्तित्वात्, मतिज्ञानिवत्, एकदेशोपयोगवर्त्ती च क्रमोपयोगपक्षे युगपदुपयोगद्वयपक्षे च सर्वज्ञः, तस्मात्सर्वं स न जानीयात्, तथा चोभयमतेऽसर्वज्ञत्वमसर्वदर्शित्वञ्च तस्य स्यात्, न च तथाऽभ्युपगन्तुं युक्तमिति प्रतिक्षणं सर्वदर्शित्वसर्वज्ञत्वान्यथानुपपत्त्या निखिलसामान्यविशेषपरिच्छेदात्मकं यदेव केवलज्ञानं तदेव केवलदर्शनमित्यभ्युपगन्तव्यमिति स्थितम् ॥ १० ॥

अव्यक्तत्वादपि पृथग्दर्शनं केवलिनि न सम्भवतीत्याह—

परिसुद्धं सायारं, अवियत्तं दंसणं अणायारं।
ण य खीणावरणिज्जे, जुज्जइ सुवियत्तमवियत्तं ॥ ११ ॥ ६५ ॥

'परिसुद्ध' परिशुद्ध-व्यक्तस्वरूपं ज्ञानमिति शेषः। तत्र हेतुमाह-'सायारमिति' साकारमिति, यत्साकारं तद्व्यक्तस्वरूपम्, यथा घटोऽयमिति ज्ञानम्। 'अवियत्त दंसण' अव्यक्तं दर्शनम्, तत्र हेतुमाह-'अणायारमिति' अनाकारमिति, यदनाकारं तदव्यक्तम्, यथा घटत्वविषयकनिर्विकल्पज्ञानम्, चक्षुर्दर्शनादिकं वा, न च क्षीणावरणेऽर्हति व्यक्तताऽव्यक्तते युज्येते इत्याह-'ण य खीणावरणिज्जे जुज्जइ सुवियत्तमवियत्तं' न च क्षीणावरणीये-क्षीणं निस्सत्ताकमावरणीयमात्मज्ञानादिगुणाच्छादकं घातिकर्म यस्य तस्मिन् सर्वज्ञे युज्यते सुव्यक्तमव्यक्तम्। अयम्भावः-दर्शनं स्वसामग्रीबलादव्यक्तस्वरूपमुपजायत इति तस्याऽव्यक्तता स्वरूपम्, ज्ञानञ्च व्यक्तस्वरूपमुपजायत इति तस्य व्यक्तता, न च क्षीणावरणीये सर्वज्ञे ते युज्येते, तस्य जगन्निखिलसामान्यविशेषोभयात्मकतत्त्वाना करामलकवत् सुव्यक्ततयैव प्रत्यक्षभावात्। तस्मात् सामान्यविशेषज्ञेयसंस्पर्श्युभयैकस्वभाव एवायं केवलिप्रत्यय इत्यभ्युपगन्तव्यम्। न च सामान्यविशेषाख्यग्राह्यद्वित्वात् केवलदर्शनकेवलज्ञानाख्यग्राहकद्वित्वेनापि भाव्यमिति नियमोऽस्ति, केवलज्ञानस्य ग्राह्यानन्त्येनानन्ततापत्तेः। अथ ज्ञानभेदप्रयोजको न विषयभेद इति चेत्, तर्हि ग्राह्यद्वित्वाद् ग्राहकद्वित्वमित्यप्याग्रहो मुच्यताम्, आवरणद्वय

मभ्युपगन्तव्यम्, तत्र च दर्शनावरणक्षयजन्यतावच्छेदकव्यक्तत्वधर्मोऽभ्युपगन्तव्यः, तद पेक्षया धर्मिकल्पनातो धर्मकल्पना लघीयसीति न्यायेन सिद्धकेवलिप्रत्यये ज्ञानत्वधर्मस्येव दर्शनत्वधर्मस्यैव कल्पना श्रेयस्तरी, ताभ्यां धर्माभ्यामेव च ज्ञानदर्शनयोर्भेदः, न तु धर्मि भेदन, केवलिप्रत्ययश्च व्यक्तस्वरूप एव, तथाऽभ्युपगमे न तत्र कोऽपि दोष इति ॥ ११ ॥

क्रमिकोपयोगपक्षे युगपदुपयोगद्वयपक्षे च दूषणान्तरमाह—

अदिट्ठं अण्णाय च केवली एव भासइ सया वि।
एगसमयम्मि हंदी वयणविगप्पो ण संभवइ ॥ १२ ॥ ६६ ॥

एवेत्यस्य अदिट्ठमित्यत्र अण्णायमित्यत्र चान्वयात् क्रमिकोपयोगपक्षे ज्ञानकाले 'अदिट्ठं' अदृष्टमेव–दर्शनकाले च 'अण्णाय' अज्ञातमेव, युगपदुपयोगद्वयपक्षे च सामान्यांशे ऽज्ञातमेव विशेषांशे चादृष्टमेव " केवली भासइ सया वि " केवली भाषते सदाऽपि, तेन को दोष इत्याशङ्कायां तत्र दोषप्रदर्शनायोत्तरार्द्धमाह ग्रन्थकृत्–'एगसमयम्मि' एकस्मिन् समये सर्वांशे ज्ञात दृष्टश्च भगवान् भाषत इत्येष 'वयणविगप्पो ण संभवइ' वचनविकल्पो वचनस्य विकल्पो विशेषो मत्पक्षे न सम्भवतीति गृह्यताम्। अथ केवलदर्शने मुख्यवृत्त्या यद्यपि निखिलतत्त्वजातय एव प्रतिभासन्ते तथापि गौणवृत्त्या निखिलतत्त्वव्यक्तिमानमपि तत्र भव त्येव, एवं केवलज्ञानमपि तद्वैपरीत्येन ज्ञेयमिति गौणविषया विषयान्तरग्रहणादुक्तवचनविक ल्पोपपत्तिस्स्यादेवेति चेत्, तर्हि, भ्रान्तछद्मस्थेऽपि तथाप्रयोगप्रसङ्गस्स्यात्, यदा कदाचित् गुणग्राहिकतया ज्ञानदर्शनविषयस्यैव पदार्थस्य तद्बुद्धावनुप्रवेशादिति स्मर्तव्यम् ॥ १२ ॥

उक्तपक्षद्वये अज्ञातदर्शित्वात् अदृष्टज्ञातृत्वाच्च भगवतस्सर्वज्ञत्वं न सम्भवतीत्युप-दर्शनायाह—

अण्णाय पासंतो, अदिट्ठं च अरहा वियाणंतो।
किं जाणइ किं पासइ, कह सव्वणूत्ति वा होइ ॥ १३ ॥ ६७ ॥

'अण्णाय पासंतो' अज्ञात पश्यन् 'अदिट्ठं च अरहा वियाणंतो' अदृष्टञ्च अर्हन् विजानानः 'किं जाणइ किं पासइ' किं जानाति किं वा पश्यति? न किञ्चिदपीत्यर्थः। अयम्भावः–अत्र काकुपाठात् किम्पदं निषेधार्थतात्पर्यकम्। तथा च त्वं किं जानासि? अर्थात्त्व किमपीत्यत्रेव जगत्येतद्विषय को जानाति? न कोऽपीत्यत्रेव ईश्वरे किं मानमिति निरीश्वरवादिप्रश्नवाक्ये किम्पदतात्पर्यं न किमपीत्यत्रेव वा किं सर्वं जानाति किं सर्वं पश्यति? अर्थात् न किमपि, अशेषपर्यायविशिष्टनिखिलतत्त्ववस्तुविषयकदर्शनज्ञानाभावा त्तस्य। 'कह सव्वण्णुत्ति वा होइ' कथं सर्वज्ञ इति वा भवति, सर्वज्ञ इत्यस्य भावप्रधान प्रयोगत्वाल्लक्षणया सर्वज्ञत्वार्थकत्वेन कथं वा तस्य सर्वज्ञता भवेत्? न कथमपीत्यर्थः।

सामान्यांशविशेषांशद्वयशालिनिखिलवस्तुगतैकैकांशग्राहिणः केवलदर्शनस्य केवलज्ञानस्य चाऽपरिपूर्णतत्त्वग्राहकत्वादिति ॥ १३ ॥

केवलज्ञानकेवलदर्शनयोरन्यूनानधिकमह्त्वकविषयकत्वेनाऽप्येकत्वमित्याह—

केवलनाणमणंतं, जहेव तह दंसणं पि पण्णत्तं ।
सागारग्गहणाहि य, णियमपरित्तं अणागारं ॥ १४ ॥ ६८ ॥

'केवलनाणमणंतं जहेव' केवलज्ञानमनन्तार्थविषयकत्वादनन्तं यथैव 'तह दंसणं पि पण्णत्तं' तथा दर्शनमपि केवलदर्शनमपि प्रज्ञप्तं अनन्तमित्यस्याङ्गस्याऽत्राप्यन्वयः । यदि केवलज्ञानकेवलदर्शनयोरेकत्वं न स्यात्तदाऽल्पविषयकत्वात् केवलदर्शनमनन्तं न स्यात्, तथा च 'अणंते केवलनाणे अणंते केवलदंसणे" इत्याद्यागमविरोधः प्रसज्येत । ननु केवलज्ञानात्केवलदर्शनस्य भेदे तदनन्तं न स्यादिति कुत इत्याशङ्कानिवृत्त्यर्थमुत्तरार्द्धमाह- "सागारग्गहणाहि" इत्यादि । यतस्माकारग्रहणादनन्तविशेषग्राहिज्ञानात् 'अणागारं' अनाकारं सामान्यमात्रावलम्बि केवलदर्शनं 'णियमपरित्तं' नियमेनैकान्तेनैव परीतं मल्पम्-अल्पविषयकं भवतीति विषयभेदात् कुतोऽनन्तता तस्य । युगपदुपयोगद्वयवादी तु दर्शनमनन्तं प्रज्ञप्तमित्यस्याः प्रतिज्ञायाः 'सागारग्गहणाणि य णियमऽपरित्तं' इत्यकार प्रश्लेषात् साकारं विशेषे गतं यत्सामान्यं तस्य यद्ग्रहणं दर्शनं तस्य नियमोऽवश्यम्भावस्ते नापरीतमपरिमाणमित्यर्थकरणेन साकारगतग्रहणनियमेनापरीतत्वादिति हेतुमभिधत्ते, यद्यापरीतं तदनन्तं यथा केवलज्ञानम्, अपरीतं च केवलदर्शनं तस्माचदनन्तम् । न च पक्षीभूते केवलदर्शने अपरीतत्वहेतोरभावात् स्वरूपासिद्धो हेतुरिति वाच्यम्, सामान्यविकलविशेषाणां प्रमाणागोचरत्वेन यावन्तो विशेषाः केवलज्ञाने प्रतिभासन्ते तावन्त्यखण्डमखण्डोपाधिरूपाणि जातिरूपाणि वा सामान्यानि केवलदर्शनेऽप्यवभासन्त एवेति नियमेन विशेषाणामानन्त्येन तत्समसङ्ख्यकसामान्यानामपि तथात्वादुक्तहेतुसिद्धेरिति भावः ॥ १४ ॥

अथ केवलज्ञानकेवलदर्शनयोः क्रमिकत्वाभ्युपगमे तयोरपर्यवसितत्वादिकं न स्यादित्यभेदवाद्युक्तदूषणस्य क्रमवादिना पूर्वार्द्धेन क्रियमाणं यत् समाधानमुत्तरार्द्धेन तत्प्रतिममाधत्ते अभेदवादी—

भण्णइ जह चउनाणी जुज्जइ णियमा तहेव एयं पि ।
भण्णइ ण पंचनाणी जहेव अरहा तहेयं पि ॥ १५ ॥ ६९ ॥

'भण्णइ' भण्यते-अभेदवाद्युक्तं पूर्वोक्तं दूषणं समाधीयते, क्रमवादिना 'जह' यथा दृष्टान्तोपदर्शनं, छाद्मस्थिकज्ञानव्यक्तीनामुपयोगापेक्षयोत्कृष्टतोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तस्थितिकत्वेन परिणामवाद्यर्हन्मतेन मतिज्ञानाद्युपयोगानां श्रुतज्ञानाद्युपयोगरूपेण परिणमनात्

तेषां जीवस्वाभाव्यादेव क्रमेणैव प्रवृत्तिः, अत एव सम्यक्त्वोत्पत्तिकाले समकालं मतिश्रुते लब्धिमात्रमङ्गीकृत्य प्रोच्येते, न तूपयोगम्, उक्तञ्च–" इह लद्धिमइसुयाइं समकालाइं न तूवओगो सिं " इति। मतिश्रुतावधिमनःपर्यायज्ञानानि न युगपद्भवन्ति, भिन्नकालावच्छिन्नभिन्नसामग्र्युत्पद्यमानत्वात्, चाक्षुषरासनादिज्ञानवत्, प्रत्यक्षानुमानादिवदेत्यनुमानेनापि यौगपद्यनिषेधेनार्थतः क्रमभावित्वसिद्धिश्चेद्यतः क्रमोपयोगप्रवृत्तोऽपि " चउ नाणी जुंजइ णियमा " चतुर्ज्ञानी युज्यते नियमात्, अपर्यवसितमतिज्ञानादिचतुर्ज्ञानो ज्ञातदृष्टमापी ज्ञाता द्रष्टा च नियमाद्युज्यते, तल्लब्धिमात्रात्। उक्तञ्च चतुर्ज्ञानित्वमेकस्यापि जीवस्य पञ्चमाङ्गेऽष्टमशतकद्वितीयोद्देशकसूत्रे–" जे चउनाणी ते आभिणिबोहियनाणी सुयनाणी ओहिनाणी मणपज्जवनाणी। न च मत्यादिज्ञानानां लब्धिरूपत्वे सिद्धे सत्येव तेषामपर्यवसितत्वादिकं स्यादिति वाच्यम्, " नाणलद्धीण भंते! कइविहा पन्नत्ता? गोयमा! पंचविहा पन्नत्ता, तं जहा–आभिणिबोहियनाणलद्धी जाव केवलनाणलद्धी " इति पञ्चमाङ्गाष्टमशतकद्वितीयोद्देशकसूत्रेण तथा लब्धिरूपत्वस्य आभिणिबोहियनाणलद्धीण भंते! जीवा किं नाणी अन्नाणी? गोयमा! नाणी नो अन्नाणी? अत्थेगतिया दुन्नाणी चत्तारि नाणाइं भयणाए" इत्यादिसूत्रेणाभिनिबोधिकज्ञानलब्धिकानां केषाञ्चि जीवानां मतिश्रुतज्ञानयोः केषाञ्चिच्च मतिश्रुतावधिज्ञानानां मतिश्रुतमनःपर्यवज्ञानानां वा केषाञ्चिच्च मतिश्रुतावधिमनःपर्यायज्ञानानां लब्ध्यपेक्षया यौगपद्यस्य च, मत्यादिज्ञानत्रयस्य च " उक्कोसेण छावट्ठिं सागरोवमाइं साइरेगाइं " मनःपर्यायज्ञानस्य च " उक्कोसेण देसूणा पुव्वकोडी " इति सिद्धान्तोक्तस्थितिकस्यैतावत्कालपर्यन्तमपर्यवसितत्वस्य च प्रतिपादनात्। न चैतावत्कालान्तमुपयोगाऽपेक्षयोक्तस्थितिकत्वं तेषां सम्भवति, उत्कृष्टतोऽपि छाद्मस्थिकज्ञानोपयोगस्यान्तर्मुहूर्तिकत्वात्। एतेनानुपयोगात्मकतया युगपदवस्थितसत्ताकानां मत्यादिचतुर्ज्ञानानां बोधस्वभावता चेत्, तदा स्वस्वयोग्यार्थविषयकज्ञानोपयोगेनापि सदा नियमेन भवितव्यमेव, अन्यथा जडस्वभावतया बोधस्वभावत्वाऽनुपपत्तिरित्यादिव्यारेकाऽपि निरस्ता, उक्तहेतोरुक्तनियमे मानाभावात्, कथमन्यथा " इहभविए भंते! नाणे परभविए नाणे तदुभयभविए नाणे? गोयमा! इहभविए वि नाणे परभविए वि नाणे तदुभयभविए वि नाणे " इति भगवतीप्रथमशतकप्रथमोद्देशकसूत्रोक्तमेतद्भवोत्पन्नस्य मतिश्रुतज्ञानद्वयस्य मतिश्रुतावधिज्ञानत्रयस्य चेहभवे परभवे तदुभयभवे परतरभवे चानुगमनं सङ्गच्छते, एतद्भवे देहेन्द्रियादेरसद्भावेऽप्यन्तरालगतौ तदभावेन तद्रूपकारणाभावेन स्वस्वयोग्यार्थविषयकज्ञानोपयोगस्यैवाभावात्तदपेक्षया मतिश्रुतज्ञानाद्यनुगमनाभावात्। तस्मादत्र स्वस्वयोग्यार्थविषयकज्ञानानुकूलशक्त्यपरनामलब्ध्यपेक्षयैव मतिज्ञानादिचतुष्टयस्यैककालावच्छिन्नस्वभिन्नज्ञानसामानाधिकरण्यलक्षणं यौगपद्यमवसेयम्। उक्ताशयेनैव भगवतोमास्वातिना— "एकादीन्येकस्मिन् भाज्यानि त्वाचतुर्भ्यः"। १। ३१। इति सूत्रं प्रणीतम्।"

' तहेव एय पि ' तथैवेतदपि, केवलज्ञानकेवलदर्शनयोरन्यतरोपयोगप्रवृत्तावपि केवली अपर्यवसितकेवलज्ञानी अपर्यवसितकेवलदर्शनी ज्ञातदृष्टभावी चेत्यादिक्रमपि सार्वदिककेवल ज्ञानदर्शनशक्तिसमन्वयादुपपद्यत एवेत्यर्थ । ' भण्णइ ' भण्यते-अक्रोत्तर दीयते एकत्व-वादिना, ' ण पच णाणी जहेव अरहा तहेयंपि ' न पञ्चज्ञानी यथैवार्हन् तथैतदपि । " नट्ठम्मि य छाउमत्थिए नाणे केवलनाण उववज्जइ " आव० नि० गाथा ५३९ इति वचनात्केवलज्ञानोत्पत्तिर्मतिज्ञानादिचतुष्टयस्य क्षायोपशमिकस्य घातिकर्मक्षये सति क्षयोपशमरूपकारणस्याऽभावादभावे सत्येव भवति, अत एवैककालावच्छिन्नमत्यादिज्ञान-चतुष्टयाऽसमानाधिकरण केवलज्ञानमिति गीयते सैद्धान्तिकै'। तत्क्षयोपशमनाशकतायाश्च ' पणग खलु पडिवाए ' इत्यादिबृहत्कल्पभाष्यगाथोक्तप्रकारेण पूर्वमेव प्रतिपादितत्वात्केव लिनि क्षयोपशमाभावेन क्षायोपशमिकाना मत्यादिज्ञानानामभावाद् यथैवार्हन्न पञ्चज्ञानी तथैतदपि क्रमवादिना यदुच्यत—भेदतो ज्ञानवान् दर्शनवांश्चेति तदपि न भवतीत्यर्थ । मत्याद्यावरणक्षयेऽपि एकदेशग्राहिणो मतिज्ञानादेरिव ज्ञानदर्शनावरणक्षयेऽनेकदेशग्राहिणो ज्ञानस्य दर्शनस्य च केवलिनि भेदेनानुपपत्तेरिति भाव । इयांस्तु विशेष'—पदभेदेनापि केवलज्ञाने केवलदर्शनसंज्ञा सिद्धान्तसम्मता, न तु मतिज्ञानादिसंज्ञेति, तत्र हेतु अन्वर्थोप-पत्त्यनुपपत्ती एव द्रष्टव्ये । तथाहि-केवल सम्पूर्ण दृश्यतेऽनेनेति केवलदर्शनमित्यन्वर्थोप पत्तिसङ्घटनात्केवलदर्शनसंज्ञा तत्र युक्ता, मतिज्ञानादिसंज्ञा तु न युक्ता, मनन मति मति ज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमसहकृतचक्षुरादीन्द्रियसापेक्ष यज्ज्ञान तन्मतिज्ञानम्, श्रोत्रेन्द्रिय द्वारिका श्रुतानुसारिण्यभिलापप्लावितार्थोपलब्धिश्श्रुतज्ञानम्, रूपिद्रव्यमात्रविषयक यज्ज्ञान तदवधिज्ञानम्, मनोद्रव्यपर्यायमात्रसाक्षात्कारि यज्ज्ञान तन्मनःपर्यायज्ञानमित्यन्वर्थोप-पत्त्यभावात्तत्र, क्षायोपशमिकभावातीतत्वात् केवलज्ञानस्येति अयञ्च प्रौढिवाद । वस्तुत. क्रमवादे " केवली यदा जानाति तदा पश्यति " इत्यादेरनुपपत्तिरेव, यतस्तत्र दृश् धातोर्दर्शन आख्यातस्य चाश्रयत्व वर्त्तमानत्वञ्चार्थ, तथा च पश्यतीत्यस्य वर्तमान कालीनदर्शनाश्रय इत्यर्थ', न च स सङ्घटते, तदानीं दर्शनाभावात् । न च क्रमवादे केवलिनि यत्समयावच्छेदेन ज्ञानोत्पत्तिस्तत्समयावच्छेदेन दर्शनोत्पत्त्यभावेन दर्शनाश्रय त्वाऽभावेऽप्यत्र लब्धेराख्यातार्थत्वेन दर्शनलब्धिसद्भावात्तदपेक्षयोक्तप्रयोगोपपत्तिरिति वाच्यम्, देवदत्तो घट यदा नैव पश्यति तदानीमपि ' स घट पश्यति ' इति प्रयोग प्रसङ्गात्, घटदर्शनलब्धेस्तदानीमपि विद्यमानत्वात् । ननु सर्व सर्वेऽपि सर्वादर्शनवेलाया मपि चक्षुष्मान् सर्व पश्यति, न त्वन्ध इत्यादिप्रयोगस्य कथमुपपत्तिरिति चेत्, उच्यते, अत्रानन्यगत्या लब्धेर्योग्यताया वाऽऽख्यातार्थत्वाऽभ्युपगमेऽपि न तु सर्वत्राऽप्यय न्यायोऽनुसरणीयः, सुप्तश्चक्षुष्मान् सर्व पश्यतीत्यादरपि प्रसङ्गात् । निद्राकालेऽपि लब्धे

त्वसद्भावात् । न च सिद्धान्ते विना विशेषविशेषणमप्रसिद्धार्थे पदवृत्तिरवधार्यते, षट्षष्टिसागरोपमस्थितिकत्वादिकमपि मतिज्ञानादेर्लब्ध्यपेक्षयैवेति दुर्वचम्, एकस्या एव क्षयोपशमरूपलब्धेस्तावत्कालमनवस्थानात्, द्रव्यक्षेत्राद्यपेक्षया विचित्रापरापरक्षयोपशमसन्तानस्यैव प्रवृत्त्युपगमात् । किन्तु एकजीवावच्छेदेन अज्ञानातिरिक्तनिरोधसामग्र्यसमवहितषट्षष्टिसागरोपमक्षणत्वव्याप्यत्वसजातीयोत्पत्तिकत्वे सति तदधिकक्षणानुत्पत्तिकत्वस जातीयत्वरूप तत्पारिभाषिकमेव वक्तव्यम्, अत्र व्यक्तज्ञानोत्पत्त्यव्यवहितपूर्वक्षणातिरिक्तक्षणे नियमतोऽज्ञानात्मकविरोधिसामग्रीसमवधानस्य भावाद्विरोधिसामग्र्यसमवहितषट्षष्टिसागरोपमक्षणत्वमप्रसिद्धमतोऽज्ञानातिरिक्तेति विशेषणम् । एवमन्यदप्यूह्यम् ॥ १५ ॥

क्रमेण युगपद्वा परस्परनिरपेक्षत्वविषयपर्यवसितज्ञानदर्शनोपयोगौ केवलिन्यसमर्थार्थग्रहणात्मकत्वान्मत्यादिज्ञानचतुष्टयवन्न स्त इति दृष्टान्तभावनापूर्वमाह—

पण्णवणिज्जा भावा, समत्तसुअनाणदंसणाविसओ ।
ओहि मणपज्जवाण य(उ), अण्णोण्णविलक्खणाविसओ ॥१६॥७०॥

अभिलापयोग्यपर्यायैरेव स्थूलैः कालान्तरस्थायिभिर्व्यञ्जनपर्यायापराभिधानैश्चेतनाचेतनस्य सकलवस्तुनोऽभिलाप्यत्वप्रतीतेरभिलाप्यत्वभावत्वमनभिलापयोग्यपर्यायैरेव सूक्ष्मैः प्रतिक्षणभाविभिरर्थपर्यायाऽपरनामधेयैस्सर्वस्यानभिलाप्यत्वप्रतीतेरनभिलाप्यस्वभावत्वमिति स्याद्वादरत्नाकरपञ्चमपरिच्छेदाष्टमसूत्रटीकोक्तेः, इह जगति भावा अभिलापयोग्यव्यञ्जनपर्यायानभिलापयोग्यार्थपर्यायापेक्षया प्रज्ञापनीयाप्रज्ञापनीयभेदेन द्विविधाः, तत्राऽप्रज्ञापनीयाः प्रतिक्षणभाविसूक्ष्माऽर्थपर्यायत्वेनावचनगोचरताऽऽपन्नाः केवलिसगवज्ज्ञानगोचरा अपि न श्रुतज्ञानगोचराः, तदनन्तभागवर्त्तिनां प्रज्ञापनीयानामेव तद्गोचरत्वादित्याह–'पण्णवणिज्जा भावा' इति–प्रज्ञापनीयाः प्रकर्षेण संशयविपर्ययादिराहित्येन ज्ञापयितुं योग्याः, प्रज्ञाप्यन्ते प्ररूप्यन्ते इति प्रज्ञापनीया वा कालान्तरभाविस्थूलव्यञ्जनपर्यायपर्यवसायिवचनपर्यायत्वेन श्रुतज्ञानगोचरा इति यावत्, भावा ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्लोकान्तर्निविष्ट–भू–भवन–विमान–ग्रह–नक्षत्र–तारका–केन्द्रादयः,ते किंस्वरूपाः ? इत्याह—'सम्मत्तसुअनाणदंसणाविसओ' समस्तश्रुतज्ञानदर्शनाविषयः, समस्तश्रुतज्ञानस्य द्वादशाङ्गवाक्यात्मकस्य दर्शनाया दर्शनप्रयोजिकायास्तद्वाक्योपजाताया बुद्धेर्विषय आलम्बनम् । नन्वस्यां गाथायां श्रुतज्ञानवन्मतिज्ञानमपि कथं न तथा भावितमिति चेत्, अत्र समाधीयते, "मतिश्रुतयोर्निबन्धः सर्वद्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु" ॥ १ ॥ २७ ॥ इति तत्त्वार्थसूत्रेण मतिश्रुतज्ञानयोरसर्वपर्यायविशिष्टसर्वद्रव्येषु विषयनियमः प्रदर्शित इति तयोरसर्वपर्यायसर्वद्रव्यविषयकत्वेन तुल्यार्थत्वप्रतिपादनान्मतिज्ञानमपि श्रुतज्ञानविषयविषयकमेव,

न हि पूर्वकालावच्छेदनागृहीतशब्दसङ्केतादेरव्युत्पन्नस्य मतिज्ञानं जायत इति श्रुतज्ञानपरिकर्मितमतेर्मतिज्ञानोपयुक्तस्य तत्कालावच्छेदेन श्रुतपरिपाटीमन्तरेणापि पदत्वाभ्यामाजायमानस्याऽसर्वपर्यायधर्मास्तिकायादिसर्वद्रव्यविषयकमानसज्ञानस्यैव मतिज्ञानत्वात्। यदुक्तं विशेषावश्यकभाष्ये—

"आएसो त्ति व सुत्तं, सुउवलद्धेसु तस्स मइनाणं।
पसरइ तब्भावणया, विणावि सुत्ताणुसारेण ॥ ४०५ ॥" इति॥

ननु श्रुतपरिकर्मितमतेश्श्रुतोपलब्धेष्वर्थेषु यज्ज्ञानं तच्छ्रुतमेव, कथं मतिज्ञानमिति चेत्, उच्यते, अत एवोक्तगाथाया 'तब्भावणया विणा वि' इत्युक्तेस्तन्मतिज्ञानम्, तद्भावनया विनापि-श्रुतोपयोगमन्तरेण तद्वासनामात्रत एव यद् द्रव्यक्षेत्रकालभावेषु प्रवर्त्तते तत्सूत्रादेशेन मतिज्ञानमिति भावः। तथा च मतिश्रुतयोरसर्वपर्यायसर्वद्रव्यविषयकतया तुल्यार्थत्वादेव मतिरपि श्रुतवदसर्वार्थग्रहणात्मकतया भावितैवेति भावनया प्रस्तुतगाथायां श्रुतज्ञानान्मतिज्ञानं पृथङ्नोक्तमिति। अत्रेदं चिन्त्यम्—ननु यदि धर्मास्तिकायादिद्रव्याण्यनन्तपर्यायात्मकलीढान्येव वस्तुत्वं बिभ्रति तदा मतिश्रुतज्ञानाभ्यामनन्तपर्यायविशिष्टतयैव तद्ग्रहणेन भवितव्यमिति चेत्, मैवम्, तदितरसकलकारणसद्भावे सति मतिश्रुतज्ञानग्रहणयोग्यत्वसत्त्वे मतिश्रुतज्ञानसत्त्वम्, तदभावे तदभाव इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां तद्ग्रहणयोग्यत्वस्य कारणत्वसिद्धेर्मतिश्रुतज्ञानयोरसाधारणत्वेनानन्तपर्यायविशिष्टतया तद्ग्रहणयोग्यत्वस्यैवाभावात्ताभ्यामनन्तपर्यायविशिष्टतया तद्ग्रहणसम्भवनाऽभावात्। तथाहि—मतिज्ञानं तत्तदिन्द्रियानिन्द्रिययोग्यार्थग्राहकम्, तत्र च योग्यता मतिज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमलक्षणैवेति या यस्य यस्य विषयस्य तस्य तस्य मतिज्ञानेन ग्रहणम्, नान्यस्य, तेन धर्मिग्रहणे न सर्वे तद्गता पर्याया गृह्यन्ते, किन्तु कतिपया योग्या एव, न हि चक्षुषा योग्यदशस्थघटधर्मिग्रहणे तद्गता अनन्तास्स्वपरपर्याया गृह्यन्ते, किन्तु रूपसङ्ख्यासंयोगादिनियतसङ्ख्यकाश्चक्षुर्विषयभावमापन्ना एवेति। नन्वेवं तर्हि धर्माधर्माकाशास्तिकायादीनां द्रव्याणामतीन्द्रियत्वान्नैव मतिज्ञानेन ग्रहणं स्यादियमसर्वतत्पर्यायग्रहणे का वार्त्तेति मतेरसर्वपर्यायसर्वद्रव्यविषयनिबन्ध इत्ययुक्तमुक्तमिति चेत्, न, व्यवहारकालात्पूर्वं श्रुतेन संस्काराधानरूप उपकारः कृतो यस्य पुंसस्तस्य मतिज्ञानोपयोगकाले पूर्वप्रवृत्तसंस्काराधायकश्रुतानपेक्षस्याऽसर्वपर्यायधर्मास्तिकायाद्यतीन्द्रियविषयकस्यापि मानसमननरूपमतिज्ञानस्य प्रवृत्तेः, व्युत्पन्नपुंसः कतिपयपर्यायविशिष्टपरमाण्वाद्यतीन्द्रियविषयकमानसज्ञानस्यैव, अनन्तपर्यायग्रहणे तु मनो नैव व्याप्रियते, तथाशक्त्यभावात्, केवलज्ञानगम्यत्वात्तेषाम्, यदभ्यधायि भाष्यकारेण—

"आएसो त्ति पगारो, ओहादेसेण सव्वदव्वाइं।
धम्मत्थिआइयाइं, जाणइ न उ सव्वभेएणं ॥ ४०३ ॥" इति।

श्रुतज्ञानमपि श्रुतानुसारेण जायते, तत्र श्रुत सङ्केतविषयपरोपदेशः श्रुतग्रन्थश्चेति शक्तिस्मरणद्वारा तद्वाच्यार्थगोचरेण तेन श्रुतज्ञानेन नैकैकद्रव्यगताः सर्वे स्वस्वाऽसाधारणधर्मरूपेण पर्याया अभिलाप्यानभिलाप्यात्मका विषयीक्रियन्त इति श्रुतज्ञानी सर्वद्रव्याणि जानन्नपि न तद्गतान् तान् पर्यायान् सर्वान् जानीते, तेषां सर्वेषां श्रुतज्ञानावरणीयकर्मक्षयोपशमलक्षणयोग्यत्वस्याऽभावादेवेति । अवधिमनःपर्याययोर्भिन्नविषयकत्वमभिधातुमुत्तरार्द्धमाह–" ओहिमणपज्जवाण उ अण्णोण्णविलक्खणा विसओ " अवधिमनःपर्याययोः पुनरन्योन्यविलक्षणा विषय', मात्रा इत्यस्याऽत्राऽप्यनुकर्षणात् अन्योन्यविलक्षणा भावा विषय इत्यर्थः। अवधिज्ञानस्य रूपिद्रव्यमात्र विषयः ' रूपिष्ववधेः । १ । २८ । इति तत्त्वार्थसूत्रस्य नियमपरतया तेनावधिज्ञाने रूपिद्रव्यत्वसमनियतविषयताकत्वस्यैव प्रतिपादनात् । यतः " परमोहिन्नाणविओ, केवलमन्तोमुहुत्तमित्तेण ६८९ । इति विशेषावश्यकभाष्योक्तेर्यदुत्पत्त्यनन्तरमन्तर्मुहूर्त्तकालमात्रेण नियमेन केवलज्ञानमुत्पद्यते इत्येव लक्षणेन सुविशुद्धेनापि ' रूवगय लहइ सव " इति भाष्योक्तेस्सर्वलोकान्तर्गतपरमाण्वादिभेदभिन्ननिखिलपुद्गलद्रव्यविषयकेण केवलज्ञानभास्करोदये प्रथमप्रभास्फोटकल्पेन परमात्मविशुद्धिमुत्पन्नेन परमावधिज्ञानेन रूपीण्येव द्रव्याण्यवधिज्ञानी जानीते, तान्यपि न सर्वपर्यायविशिष्टानि, किन्तु 'पेच्छइ चउरगुणाइ जहण्णओ मुत्तिमताइ " ८०७ इति भाष्यवचनात् जघन्यत एकैकद्रव्यापेक्षया चतुःपर्यायविशिष्टानि " पइदव्व सखाईयपज्जवाइ च सवाइ " ८०८ इति भाष्योक्तेरुत्कृष्टतस्त्वेकैकद्रव्यमाश्रित्यासङ्ख्येयपर्यायविशिष्टानि अवधिज्ञानी जानीते । ननु यद्यवधिज्ञानी उत्कृष्टतोऽपि कृत्स्नलोकवर्त्तिनिखिलानि रूपीण्येव द्रव्याणि जानीते तर्हि लोकप्रमाणान्यलोकेऽसङ्ख्यखण्डानि परमावधिः पश्यति, उक्तञ्च–परमोहि असखेज्जा लोकमित्ता " इत्यादि। ततः क्षेत्रस्यारूपित्वात्तत्कथ सङ्गच्छते इति चेत्, उच्यते, यदि तत्र तानि रूपिपुद्गल द्रव्याणि द्रष्टव्यानि स्युस्तदा पश्येदेवावधिज्ञानी, न च तानि तत्र सन्तीत्यतस्सामर्थ्यमात्र वर्णनमेतदिति नोक्तविरोधः । उक्तञ्च भाष्यकृता—

" सामत्थमेत्तमेय, जइ दट्ठव्व हवेज्ज पेच्छेज्जा ।
न य त तत्थत्थि जओ, सो रूविनिबन्धणो भणिओ ॥६०५॥" इति

मनःपर्यायज्ञानस्य च ' मुणइ मणोदव्वाइ नरलोए सो मणिज्जमाणाइ ' ८१३ इत्युक्तेर्मानुषक्षेत्रे सज्ञिपञ्चेन्द्रियजीवेन काययोगेन गृहीत्वा मनोयोगेन मनस्त्वेन परिणमितानि मानसिकविचारानुगुणानि अनन्तपरमाणुनिष्पन्नानि मनोद्रव्याणि विषय' । स च विषयोऽवधिज्ञानविषयसमसङ्ख्यको न, किन्तु तदनन्ततमभागरूपः " तदनन्ततमभागे मनःपर्यायस्य " १–२९ । इति तत्त्वार्थसूत्रेण यानि रूपीणि द्रव्याण्यवधिज्ञानी जानीते ततोऽनन्ततमभागे मन'पर्यायज्ञानस्य विषयनिबन्धो भवतीति प्रतिपादनात्। ननु यदि मनःपर्यायज्ञानी अव

धिज्ञानविषयस्यानन्ततमभागरूपाणि अवधिज्ञानिनस्सकाशाद्बहुतरपर्यायाणि मनोद्रव्याण्येव जानीते तर्हि किं स सञ्ज्ञिजीवैर्मनसा चिन्तितं बाह्यवस्तु नैव जानातीति चेत्, क आह ? न जानातीति, तर्हि किं वेत्ति ? अवगच्छत्येव यद्यवधिज्ञानं स्यात्तदा तेन सञ्ज्ञिजीवैश्चिन्तितमपि, नो चेत्तदेङ्गिताकारं दृष्ट्वा ततोऽयमाचार्यभगवान् ईदृशाभिप्रायवान् ईदृशेङ्गिताकाराऽन्यथानुपपत्तेरित्येवमनुमानेनासौ तेजासी जिनयमूर्त्तिः पूज्याचार्याभिप्रायं जानाति ।

" जाणइ य पिहु जणो वि हु, फुडमागारेहिं माणसं भावं ।
एमेव य तस्सुवमा, मणदव्वपगासिए अत्थे ॥ ३६ ॥ " इति

बृहत्कल्पभाष्यवचनात्, यद्वा मलीमसं प्रशान्तं वा मुखाकारं चेष्टाविशेषवत्त्वं वा दृष्ट्वा ततोऽयं पुरुषो दुर्मनाः सुमना वा दृश्यमानेदृशमुखाकारस्येदृशचेष्टावत्त्वस्य वाऽन्यथानुपपत्तेरित्यनुमानेनान्यप्राकृतपुरुषोऽन्यपुरुषस्य स्फुटं मानसं भावं वेत्ति यथा तथा मनोद्रव्यपरिणामं स्तम्भाद्यविनाभाविनं दृष्ट्वा ततो मनोद्रव्याणामीदृशपरिणामान्यथानुपपत्तेरनेन सञ्ज्ञिजीवेनेदं स्तम्भादि वस्तु मूर्त्तमात्मादममूर्त्तं वा चिन्तितमस्तीत्यनुमानेन मूर्त्तामूर्त्ते अपि द्रव्ये मनःपर्यायज्ञानी वेत्ति, न तु साक्षादध्यक्षता, यतश्चिन्तको मूर्त्तं परमाण्वादिकममूर्त्तमात्मादिकं ज्ञानादिकं च वस्तु चिन्तयेत्, न च मनःपर्यायज्ञानी मूर्त्तं परमाण्वादिकममूर्त्तं धर्मास्तिकायादिद्रव्यं चिन्तितज्ञानादिगुणादिकं च वस्तुमात्रं साक्षाद् जानाति, ततो ज्ञायते मनोद्रव्याणां तथाऽवस्थाकारपरिणामान्यथानुपपत्तिलिङ्गकानुमानादेव चिन्तनीयं वस्त्ववगच्छतीति, उक्तञ्च विशेषावश्यकभाष्ये—" तेणावभासिए उण जाणइ बज्झेऽणुमाणेणं " इति । भावमनःपर्यायग्राहकत्वे सति साक्षात्तद्व्यतिरिक्तद्रव्यपर्यायाऽग्राहकं यज्ज्ञानं तन्मनःपर्यायज्ञानमिति पर्यवसिततल्लक्षणम्, एतत्सर्वविवेचनमस्मत्प्रणीततत्त्वार्थविवरणटीकातोऽवसेयमिति । तथा च सिद्धमेतन्मतिश्रुतावधिमनःपर्यायज्ञानानि तत्तत्क्षयोपशमकारणभेदप्रयुक्तपरस्परविलक्षणविषयकत्वेनासर्वार्थानीति ॥ १६ ॥

अत एव तेषां चतुर्णां विभागो युज्यते, न तु केवलिनि केवलज्ञानकेवलदर्शनयो र्विभाग उपपद्यते, सर्वार्थत्वात्तयोरिति सहेतुकदार्ष्टान्तिकोपपादनायाह—

तम्हा चउव्विभागो जुज्जइ, ण उ नाणदंसण जिणाणं ।
सयलमणावरणमणंत-मक्खयं केवलं जम्हा ॥ १७ । ७१ ॥

' तम्हा चउविभागो जुज्जइ ' तस्मादुक्तहेतोः चतुर्विभागः चतुर्णां मतिज्ञानादीनां विभागो युज्यते तत्तत्क्षयोपशमरूपकारणभेदात्, ' न उ नाणदंसण जिणाणं ' न तु ज्ञानदर्शनयोः केवलज्ञानकेवलदर्शनयोर्जिनानां क्षीणरागद्वेषादीनां केवलिनाम्, ' नाणदंसणत्ति ' अविभक्तिको निर्देशः सूत्रत्वात् । तत्र हेतुप्रदर्शनायोत्तरार्द्धमाह—सयलेत्यादि—सकलमना

वरणमनन्तमक्षयं केवलं यस्मादिति। यस्मात्केवलं केवलज्ञानं सकलविषयकत्वात्सकलं परिपूर्णम्, पदार्थसर्वव्यापकविषयताकमिति यावत्। तत्कुत इत्याशङ्कानिवृत्त्यर्थं तत्र हेतुमाह—अनावरणम्, निश्शेषावरणमलरहितम्, अनावरणत्वाच्चत्सकलम्, न च प्रदीपोऽनावरणोऽपि न सकलार्थान् प्रकाशयतीति व्यभिचारस्तन्निवृत्त्यर्थं विशेषणान्तरमाह—अणतं यदन्तरहितमपर्यवसितमनाकं तत् सकलार्थविषयकं, न च प्रदीपोऽन्तरहित इति न तत्र व्यभिचारः। यद्वाऽनन्तार्थग्रहणप्रवृत्तम्, प्रदीपस्तु परिमितार्थग्रहणप्रवृत्त इति न तेन व्यभिचारः, तदपि कुतः ?, यतोऽक्षयम्, यथा भास्करस्य जगत्प्रकाशस्वभावोऽपि समुन्नतघनाघनपटलाडम्बरेणावृत. प्रतिकूलवायवादिना सर्वथा तद्विगमे सति सर्वकलाभिरभिव्यक्तोऽपि पुनरतिप्रबलवायुनाऽऽनीयमानमेघपटलाडम्बरेणाच्छाद्यते तद्वदात्मकेवलप्रकाशोऽतिनिविडतमज्ञानावरणकर्मावरणेनावृतश्शुक्लध्यानादिना निश्शेषतस्तद्विध्वंसे सति सर्वथाऽभिव्यक्तो न पुनराव्रियते, तत्प्रतिरोधकनव्यकर्मबन्धाभावात्, विरोधिगुणान्तराभावेन नापि पश्चात्तत्क्षयः, ततश्च तस्यानन्तत्वमिति भावः, तस्मादक्रमोपयोगद्वयात्मक एक एव केवलोपयोग इत्यभ्युपगन्तव्यम्। तत्रैकत्व व्यवस्थया, द्व्यात्मकत्वञ्च नृसिंहत्ववदाधिकजात्यन्तररूपत्वमित्येके, माषे स्निग्धोष्णत्ववद्व्याप्यवृत्तिजातिद्वयरूपत्वमित्यपरे, महनीयमान्यमतिवैभवन्यायाचार्यश्रीयशोविजयोपाध्यायास्तु केवलत्वमावरणक्षयात्, ज्ञानत्वं जातिविशेष., दर्शनत्वञ्च विषयताविशेषो दोषक्षयजन्यतावच्छेदक इत्याहुः ॥ १७ ॥

केवलज्ञानकेवलदर्शनैक्यमभ्युपगच्छन् ग्रन्थकारस्स्वपक्षे आगमविरोधं परिहरन्नाह—

परवत्तव्वयपक्खा, अविसिट्ठा तेसु तेसु सुत्तेसु।
अत्थगईअ उ तेसिं, वियजण जाणओ कुणइ ॥ १८ ॥

"परवत्तव्वयपक्खा अविसिट्ठा" परवक्तव्यकपक्षाऽविशिष्टाः, वक्तुं योग्यानि वक्तव्यानि तान्येव वक्तव्यकानि परैर्वैशेषिकादिभिर्वक्तव्यकानि परवक्तव्यकानि, तेषां पक्षा अभ्युपगमाः "युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिः" "नागृहीतविशेषणा विशिष्टबुद्धिः" इत्यादिरूपास्ते 'अविसिट्ठा' अविशिष्टा अभिन्ना एकार्थप्रतिपादका इति यावत् "तेसु तेसु सुत्तेसु" भगवन्मुखाम्भोजविनिर्गतेषु तेषु तेषु सूत्रेषु "जं समयं पासइ नो तं समयं जाणइ" इत्यादिषु अभ्युपगमाः प्रतिभासन्ते, नन्वेवं तर्हि तेषां सूत्राणां किं तथैव व्याख्या कर्त्तव्या किं वाऽन्यथेत्याशङ्कानिवृत्त्यर्थमुत्तरार्द्धमाह—'अत्थगइअ उ' तु-शब्दस्यावधारणार्थत्वादर्थगत्यैव सामर्थ्येनैव 'तेसिं वियजण जाणओ कुणइ' तेषां व्यञ्जनं ज्ञकः करोति, तेषां सूत्राणां व्यञ्जनं द्वादशाङ्ग्यात्मकप्रवचनाऽविरोधेनार्थव्यक्तीकरणम्, व्याख्यानमिति यावत्, जानातीति ज्ञः स एव ज्ञकः, अर्हदागमयथार्थज्ञाता करोति "जं समयं पासइ नो तं समयं जाणइ" इत्येतत्सूत्रं श्रुतावधिमनःपर्यायकेवलिसनकविविधकेवल्यन्यतराऽपेक्षयैव चरितार्थम्,

न तु केवलकेवलत्वपक्षया, तस्याऽसर्वगताप्रासे' । 'सोमिला दव्वट्ठयाए एगे अहं नाणदंसण-ट्ठयाए दुविहे अहं' इति सूत्रमपि ज्ञानत्वदर्शनत्वाभ्यां ज्ञानदर्शनभेदविवक्षयैवोक्तमिति सूरेरभिप्रायः ॥ १८ ॥

यद्वा ननु यदेव केवलज्ञानं तदेव केवलदर्शनमित्येवं केवलज्ञानकेवलदर्शनैक्ययोरङ्गीकारपरे भवन्मतेऽपि—केवली णं भंते ! इमं रयणप्पभं इत्यादिसूत्रे 'जं समयं' इत्यादौ यत्समकमित्यादर्थो न सर्वस्वरसिद्ध', तादृशप्रयोगे तथाविवरणाभावात्, तथा पञ्चमाङ्गेऽष्टादशशतके दशमोद्देशके "सोमिला दव्वट्ठयाए एगे अहं नाणदंसणट्ठयाए दुविहे अहं" इत्यनेनोत्पन्नकेवलज्ञानेन भगवता स्वयमेव स्वात्मनो ज्ञानदर्शनरूपभिन्नपर्यायापेक्षया द्वित्वविशिष्टत्वोक्त्या केवलज्ञानकेवलदर्शनयोरस्पष्टार्थभेदप्रतिपादनादुक्तागमविरोधोऽपि, यद्धर्मविशिष्टविषयावच्छेदेन भेदनयार्पणं तद्धर्मविशिष्टापेक्षयैव द्वित्वादस्याकाङ्क्षत्वात्, अत्र यद्धर्मपदेन ज्ञानत्वदर्शनत्वयोर्ग्रहणं, तद्विशिष्टं ज्ञानं दर्शनञ्च, तद्विषयो विशेषः सामान्यञ्च, तदवच्छेदेनात्मनो भेदनयस्य भेदग्राहिनयस्यार्पणं विवक्षणं, विशेषात्मना सामान्यात्मना च आत्मनो भेदव्यवस्थापनम्, तद्धर्मविशिष्टापेक्षयैव केवलज्ञानत्वविशिष्टापेक्षया केवलदर्शनत्वविशिष्टापेक्षयैव च द्वित्वाद० साकाङ्क्षत्वात्, आत्मनि द्वित्वादरन्वय "नाणदंसणट्ठयाए दुविहे अहं" इति वाक्यस्य साकाङ्क्षत्वादित्यर्थः । अन्यथाऽनिष्प्रसङ्गात् इत्याशङ्क्य युक्तिसिद्ध स्वसूत्रार्थो ग्राह्य०, तेषां स्वसमयपरसमयादिविषयभेदेन विचित्रत्वादित्यभिप्रायवानाह सूरिः—

परवत्तव्वयपक्खा, अविसुद्धा तेसु तेसु अत्थेसु ।
अत्थगईअ उ तेसिं, विअंजणं जाणओ कुणइ ॥ १८ ॥ ७२ ॥

श्रीयशोविजयोपाध्यायैरिय गाथैवं विवृता ज्ञानबिन्दौ, "परवत्तव्वयपक्खा" परवक्तव्यकपक्षा' परेषां वैशेषिकादीनां यानि वक्तव्यकानि तेषां पक्षा० "अविसुद्धा तेसु तेसु अत्थेसु" अविशुद्धास्तेषु तेष्वर्थेषु सूत्रे तत्तन्नयपरिकर्मणादिहेतो० निबद्धाः, नन्वेवं तर्हि ते किं तथैव स्याद्वादतत्त्वज्ञेन माह्या उतान्यथेत्याशङ्कायां तद्विवृत्त्यर्थमुत्तरार्द्धमाह—'अत्थगईअ उ' तुशब्दस्यावधारणार्थत्वात् अर्थगत्यैव सामर्थ्येनैव 'तेसिं विअंजणं' तेषामर्थानां व्यञ्जनं व्यक्तिं सर्वप्रवादमूलद्वादशाङ्ग्यऽविरोधेन 'जाणओ कुणइ' ज्ञो ज्ञाता करोति । तथा च 'जं समयं पासइ' इत्याद्यर्थयथाश्रुतार्थे केवली श्रुतावधिमनःपर्यायकेवलान्यतरो ग्राह्य० परमावधिकाधोऽवधिकछद्मस्थातिरिक्तविषयं स्नातकादिविषयं वा तादृशसूत्रप्रवृत्तौ तत्र परतीर्थिकवक्तव्यताप्रतिबद्धत्वं वाच्यम्, एवमन्यत्रापीति दिक् ॥ १८ ॥

अथ मनःपर्यायज्ञानं पटुक्षयोपशमप्रभवत्वाद् विशेषमेव गृह्णदुत्पद्यते, न सामान्यमिति तद्विषयस्य विशेषैकरूपत्वादेव तज्ज्ञानत्वेनैव निर्दिष्टं सूत्रे, अक्रमज्ञानोपयोगदर्शनोपयोग

वरणमनन्तमक्षयं केवलं यस्मादिति। यस्मात्केवलं केवलज्ञानं सकलविषयकत्वात्सकलं परिपूर्णम्, पदार्थतत्त्वाशेषविषयत्वाकमिति यावत्। तत्कुत इत्याशङ्कानिवृत्त्यर्थं तत्र हेतुमाह–अनावरणम्, निश्शेषावरणमलरहितम्, अनावरणत्वाच्चत्सकलम्, न च प्रदीपोऽनावरणोऽपि न सकलार्थान् प्रकाशयतीति व्यभिचारस्तन्निवृत्त्यर्थं विशेषणान्तरमाह—अणतयदन्तरहितमपर्यवसितमत्ताक तत् सकलार्थविषयकं, न च प्रदीपोऽन्तरहित इति न तत्र व्यभिचारः। यद्वाऽनन्तार्थग्रहणप्रवृत्तम्, प्रदीपस्तु परिमितार्थग्रहणप्रवृत्त इति न तेन व्यभिचारः, तदपि कुतः ?, यतोऽक्षयम्, यथा भास्करस्य जगत्प्रकाशस्वभावोऽपि समुन्नतघनाघनपटलाडम्बरेणावृत प्रतिकूलवाय्वादिना सर्वथा तद्विगमे सति सर्वकलाभिरभिव्यक्तोऽपि पुनरतिप्रबलवायुनाऽऽनीयमानमेघपटलाडम्बरेणाच्छाद्यते तद्वदात्मकेवलप्रकाशोऽतिनिविडतमज्ञानावरणकर्मावरणेनावृतश्शुक्लध्यानादिना निश्शेषतस्तद्विध्वंसे सति सर्वथाऽभिव्यक्तो न पुनराव्रियते, तत्प्रतिरोधकनव्यकर्मबन्धाभावात्, विरोधिगुणान्तराभावेन नापि पश्चात्तत्क्षयः, ततश्च तस्यानन्तत्वमिति भाव., तस्मादक्रमोपयोगद्वयात्मक एक एव केवलोपयोग इत्यभ्युपगन्तव्यम्। तत्रैकत्व व्यक्त्या, द्व्यात्मकत्वञ्च नृसिंहत्ववदांशिकजात्यन्तररूपत्वमित्येके, मापे स्निग्धोष्णत्ववद्व्याप्यवृत्तिजातिद्वयरूपत्वमित्यपरे, महनीयमान्यमतिवैभवन्यायाचार्यश्रीयशोविजयोपाध्यायास्तु केवलत्वमावरणक्षयात्, ज्ञानत्व जातिविशेष., दर्शनत्वञ्च विषयताविशेषो दोषक्षयजन्यतावच्छेदक इत्याहुः ॥ १७ ॥

केवलज्ञानकेवलदर्शनैक्यमभ्युपगच्छन् ग्रन्थकारस्स्वपक्षे आगमविरोध परिहरन्नाह—

परवत्तव्वयपक्खा, अविसिट्ठा तेसु तेसु सुत्तेसु।
अत्थगईअ उ तेसिं, वियजण जाणओ कुणइ ॥ १८ ॥

"परवत्तव्वयपक्खा अविसिट्ठा" परवक्तव्यकपक्षाऽविशिष्टाः, वक्तु योग्यानि वक्तव्यानि तान्येव वक्तव्यकानि परैर्वैशेषिकादिभिर्वक्तव्यकानि परवक्तव्यकानि, तेषां पक्षा अभ्युपगमा' "युगपज्ज्ञानानुत्पत्ति" "नागृहीतविशेषणा विशिष्टबुद्धिः" इत्यादिरूपास्तैः 'अविसिट्ठा' अविशिष्टा अभिन्ना एकार्थप्रतिपादका इति यावत् "तेसु तेसु —" भगवन्मुखाम्भोजनिर्गतेषु तेषु तेषु सूत्रेषु "ज समय पासइ नो त समय जाणइ' दिषु अभ्युपगमा. प्रतिभासन्ते, नन्वेव तर्हि तेषां सूत्राणां किं तथैव व्याख्या कर्त्तव्य. वाऽन्यथेत्याशङ्कानिवृत्त्यर्थमुत्तरार्द्धमाह—'अत्थगईअ उ' तु-शब्दस्यावधारणार्थत्वाद. गत्यैव सामर्थ्येनैव 'तेसिं वियजण जाणओ कुणइ' तेषां व्यञ्जन ज्ञक' करोति, तेषां सूत्राणां व्यञ्जनं द्वादशाङ्ग्यात्मकप्रवचनाऽविरोधेनार्थव्यक्तीकरणम्, व्याख्यानमिति यावत्, जानातीति ज्ञ' स एव ज्ञक., अर्हदागमयथार्थज्ञाता करोति "[illegible] पासइ नो त स[illegible] जाणइ" इत्येतत्सूत्र श्रुतावधिमनःपर्यायकेवलिसद्भावत्रिविधकेव[illegible] चारि

न तु केवलकेवलापेक्षया, तस्याऽसर्वज्ञताप्राप्तेः । 'सोमिला दव्वट्ठयाए एगे अहं नाणदंसण-ट्ठयाए दुविहे अहं' इति सूत्रमपि ज्ञानत्वदर्शनत्वाभ्यां ज्ञानदर्शनभेदविवक्षयैवोक्तमिति सूरेरभिप्रायः ॥ १८ ॥

यद्वा ननु यदेव केवलज्ञानं तदेव केवलदर्शनमित्येवं केवलज्ञानकेवलदर्शनैक्योरीकारपरे भवन्मतेऽपि—'केवली णं भंते ! इमं रयणप्पभं' इत्यादिसूत्रे 'जं समयं' इत्यादौ यत्समकमित्याद्यर्थो न सर्वस्वरसिद्धः, तादृशप्रयोगे तथानिराकरणाभावात्, तथा पञ्चमाङ्गेऽष्टादशशतके दशमोद्देशके "सोमिला दव्वट्ठयाए एगे अहं नाणदंसणट्ठयाए दुविहे अहं" इत्यनेनोत्पन्नकेवलज्ञानेन भगवता स्वयमेव स्वात्मनो ज्ञानदर्शनरूपभिन्नपर्यायापेक्षया द्वित्वविशिष्टत्वोक्त्या केवलज्ञानकेवलदर्शनयोस्स्पष्टाक्षरैर्भेदप्रतिपादनादुक्तागमविरोधोऽपि, यद्धर्मविशिष्टविषयावच्छेदेन भेदनयार्पणं तद्धर्मविशिष्टापेक्षयैव द्वित्वादस्साकाङ्क्षत्वात्, अत्र यद्धर्मपदेन ज्ञानत्वदर्शनत्वयोर्ग्रहणं, तद्विशिष्टं ज्ञानं दर्शनञ्च, तद्विषयो विशेषः सामान्यञ्च, तदवच्छेदेनात्मनो भेदनयस्य भेदग्राहिनयस्यार्पणं विवक्षणं, विशेषात्मना सामान्यात्मना च आत्मनो भेदव्यवस्थापनम्, तद्धर्मविशिष्टापेक्षयैव केवलज्ञानत्वविशिष्टापेक्षया केवलदर्शनत्वविशिष्टापेक्षयैव च द्वित्वादेः साकाङ्क्षत्वात्, आत्मनि द्वित्वादरन्वये "नाणदंसणट्ठयाए दुविहे अहं" इति वाक्यस्य साकाङ्क्षत्वादित्यर्थः । अन्यथाऽतिप्रसङ्गात् इत्याशङ्क्य युक्तिसिद्ध एव सूत्रार्थो ग्राह्यः, तेषां स्वसमयपरसमयादिविषयभेदेन विचित्रत्वादित्यभिप्रायवानाह सूरिः—

परवत्तव्वयपक्खा, अविसुद्धा तेसु तेसु अत्थेसु ।
अत्थगईअ उ तेसिं, विअंजणं जाणओ कुणइ ॥ १८ ॥ ७२ ॥

श्रीयशोविजयोपाध्यायैरियं गाथा विवृता ज्ञानबिन्दौ, "परवत्तव्वयपक्खा" परवक्तव्यकपक्षाः परेषां वैशेषिकादीनां यानि वक्तव्यकानि तेषां पक्षाः "अविसुद्धा तेसु तेसु अत्थेसु" अविशुद्धास्तेषु तेष्वर्थेषु सूत्रे तत्तन्नयपरिकर्मणादिहेतो निबद्धाः, नन्वेवं तर्हि ते किं तथैव स्याद्वादवेदिना ग्राह्या उतान्यथेत्याशङ्कायां तन्निवृत्त्यर्थमुत्तरार्द्धमाह—'अत्थगईअ उ' तुशब्दस्यावधारणार्थत्वात् अर्थगत्यैव सामर्थ्येनैव 'तेसिं विअंजणं' तेषामर्थानां व्यञ्जनं व्यक्तिं सर्वप्रवादमूलद्वादशाङ्गाऽविरोधेन 'जाणओ कुणइ' ज्ञो ज्ञाता करोति । तथा च 'जं समयं पासइ' इत्यादेर्यथाश्रुतार्थे केवली श्रुतावधिमनःपर्यायकेवल्यन्यतरो ग्राह्यः परमावधिकाधोऽवधिकछद्मस्थातिरिक्तविषयं स्नातकादिविषये वा तादृशसूत्रप्रवृत्तौ तत्र परतीर्थिकवक्तव्यताप्रतिबद्धत्वं वाच्यम्, एवमन्यत्रापीति दिक् ॥ १८ ॥

अथ मनःपर्यायज्ञानं पटुक्षयोपशमप्रभवत्वाद् विशेषमेव गृह्णदुत्पद्यते, न सामान्यमिति तद्विषयस्य विशेषैकरूपत्वादेव तज्ज्ञानत्वेनैव निर्दिष्टं सूत्रे, अक्रमज्ञानोपयोगदर्शनोपयोग—

द्वयात्मकैककेवलोपयोगस्तु तद्विषयस्य सामान्यविशेषभेदेन द्विविधत्वात्तदुभयांशे सर्वथाऽऽवरणकर्मक्षयसद्भावात् तद्ग्राहिज्ञानधर्मिणि एकत्वेऽपि तदुभयग्रहणोन्मुखत्वेन केवलज्ञानत्वेन केवलदर्शनत्वेन च भिन्नप्रकारेण 'केवलनाणे केवलदंसणे' इत्यादिसूत्रे निर्दिष्ट इत्युपपादनायाह—

> जेण मणोविसयगया-ण दंसणं नत्थि दव्वजायाण।
> तो मणपज्जवणाणं, णियमा णाणं तु निद्दिट्ठं ॥ १९ ॥ ७३ ॥

'जेण मणोविसयगयाण' येनेति हेत्वर्थे तृतीयाभिधानात्, यस्माद्धेतोर्मनोविषयगतानां मनःपर्यायज्ञानविषयतां प्राप्तानां संज्ञिजीवैः काययोगेन गृहीत्वा मनोयोगेन मनस्त्वेन परिणमितानां 'दव्वजायाण' द्रव्यजातानां बाह्यपदार्थचिन्तनानुगुणमनोद्रव्यविशेषाणां बाह्यचिन्त्यमानार्थविषयकानुमितिजनकतौपयिकविशेषरूपस्यैव सद्भावात् 'दंसणं नत्थि' दृश्यतेऽनेन तद्दर्शनमिति विग्रहसिद्धं दर्शनं सामान्यविषयकं नास्ति "तो मणपज्जवनाणं णियमा णाणं तु निद्दिट्ठं" अत्र तुरवधारणार्थे, ततो मनःपर्यायज्ञानं नियमाज्ज्ञानमेव निर्दिष्टम्। यद्वा दृश्यते यत्तद्दर्शनमिति विग्रहेण दर्शनपदग्राह्यं सामान्यं नास्ति 'तो' ततः प्राह्यस्य सामान्यस्याभावे सति मुख्यतया तद्ग्रहणोन्मुखदर्शनाभावात् 'मणपज्जवणाणं णियमा णाणं तु निद्दिट्ठं' तुशब्दस्यावधारणार्थत्वाद् मनःपर्यायज्ञानं विशेषाकारत्वान्नियमाज्ज्ञानमेव निर्दिष्टम्, आगम इति शेषः। केवलं तु सामान्यविशेषोभयविषयकैकोपयोगरूपत्वात्केवलज्ञानकेवलदर्शनोभयात्मकमेकमेव "केवलनाणे केवलदंसणे" इत्यादितत्सूत्रमपि केवलज्ञानत्वकेवलदर्शनत्वधर्मभेदेन धर्मिभेदप्रतिपादनपरमेव, न तु वस्तुगत्या धर्मिभेदप्रतिपादनपरमित्यागमे तदेकमेव निर्दिष्टमिति भावः ॥ १९ ॥

सूत्रे उभयरूपत्वेन परिपठितत्वादप्युभयरूपं केवलम्, न तु क्रमिकसामग्र्या क्रमेणोत्पादादेककालावच्छिन्नभिन्नसामग्रीतो भिन्नभिन्नविषयकत्वेन युगपदुत्पादाद्वेत्यभिप्रायवानाह सूरिः—

> चक्खुअचक्खुअवहिकेवलाण समयम्मि दंसणवियप्पा।
> परिपढिया केवलनाणदंसणा तेण ते अण्णा(तेण विय अण्णा) ॥२०॥७४॥

'चक्खुअचक्खुअवहिकेवलाण' चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां 'समयम्मि' समये अर्हदागमे—"कइविहे णं भंते! दंसणे पण्णत्ते? गोयमा! चउविहे, तं जहा—चक्खुदंसणे, अचक्खुदंसणे, ओहिदंसणे, केवलदंसणे" इत्यनेन 'दंसणवियप्पा' दर्शनस्य विकल्पा भेदा 'परिपढिया' परिपठिता—भणिताः, 'तेण' तस्माद्धेतोः "केवलनाणदंसणा ते अण्णा" केवलज्ञानदर्शने ते अन्ये, भिन्ने, अत्र 'तेण विय अण्णा' इत्यपि पाठो ज्ञानबिन्दौ,

चक्षुरादिजन्यज्ञानवदेव केवलं ज्ञानमध्ये पाठात् ज्ञानमपि, दर्शनमध्ये पाठाच्च दर्शनम् पीत्येकमेव तत् ज्ञानपदेन दर्शनपदेन च व्यवहार्यमिति परिभाषामात्रमेतदिति ग्रन्थकृत स्तात्पर्यम् ॥ २० ॥

मतिज्ञानादेः क्रम इव केवलस्याक्रमेऽपि तस्मिन् केवलोपयोगेऽखिलसामान्यविषयकत्व नाखिलविशेषविषयकत्वमृते, तदपि तद्विना न, अल्पज्ञत्वप्रसक्तेरित्यतः सामान्यविशेषाजहद्-वृत्त्यैकोपयोगरूपतया ज्ञानत्व दर्शनत्वञ्चेत्येकदेशिमतमुपन्यस्यति—

दंसणमुग्गहमेत्तं घडोत्ति निव्वण्णा हवइ नाणं ।
जह इत्थ केवलाण वि विसेसणं एत्तिय चेव ॥ २१ ॥ ७५ ॥

मतिरूपे बोधे 'दंसणमुग्गहमेत्तं' दर्शनमवग्रहमात्र इद तदित्येव निर्देशानर्हम् । 'घडोत्ति निव्वण्णा हवइ नाणं' घट इति-पुरोवर्तिपदार्थे अयं घट इति निर्वर्णना निर्वर्णयितु निश्चयेन व्यपदेष्टु योग्या निर्वर्णना, तदाकाराभिलाप इत्यर्थः । 'हवइ नाणं' भवति ज्ञान मतिज्ञानम् । ननु निश्चयात्मिका वर्णना घटोऽयमित्याकाराभिलापरूपा द्रव्यश्रुतम्, कथ मतिज्ञानमिति चेत्, उच्यते, कारणे कार्योपचारात्, तथा च घटाकाराभिलापजनक यज्ज्ञान तन्मतिज्ञानमिति भावः । उक्तदृष्टान्तस्य दार्ष्टान्तिके योजनामाह-" जह इत्थ केवलाण वि " यथा तथेत्यनयोर्नित्यमभ्यन्वाचचेत्यध्याहारात् यथाऽत्र मतिरूपे बोधे तथा केवलयोरपि, यथा च मतिज्ञानात्केवलस्य वैलक्षण्य तथा चाह-'विसेसणं एत्तिय चेव' एतावन्मात्रेण विशेषः, एकमेव केवलं सामान्यांशे दर्शनं विशेषांशे च ज्ञानमित्यर्थः ॥ २१ ॥

एकदेश्येव क्रमिकभेदपक्ष दूषयति--

दंसणपुव्वं नाणं नाणनिमित्तं तु दंसणं नत्थि ।
तेण सुविणिच्छियामो दंसणनाणा ण अण्णत्तं ॥ २२ ॥ ७६ ॥

'दंसणपुव्व नाणं' दर्शन सामान्यज्ञान पूर्वं यस्मिन् तद्दर्शनपूर्वं ज्ञानम्, दर्शनं प्राक् पश्चाद् ज्ञानमित्येव पूर्वापरीभावश्छाद्मस्थिकोपयोगावस्थायां भवति, यतो न हि सामान्य-मनुपलभ्य कोऽपि क्षायोपशमिकज्ञानवान् विशेषमुपलभते, तथा च क्रिमप्येतदिति प्राक् सामान्यमुपलभ्यैव तत्पश्चाद् विशेषोपलम्भाद् दर्शननिमित्तक ज्ञान छद्मस्थोपयोगदशायां प्रसिद्धम्, न चाय क्रमः केवल्युपयोगावस्थायाम्, पूर्व केवलदर्शनस्याभावेऽपि केवल ज्ञानस्य लब्धिरूपत्वेन साकारोपयोगोपयुक्ते पुंसि आद्यक्षण एवोत्पत्तेः, अथैवमुत्पद्यतामाद्य क्षणे तत्, तत्पश्चाद्द्वितीयक्षणे तन्निमित्त दर्शन मनिष्पत्तीत्याशङ्कानिवृत्त्यर्थमाह-'णाणणि मित्तं तु दंसणं नत्थि ' ज्ञान निमित्त यस्य तज्ज्ञाननिमित्त तु दर्शन नास्ति कुत्रापि,

तथाऽप्रसिद्धेः 'तेण सुविणिच्छियामो' तेन सुविनिश्चिनुमः 'दसणनाणा ण अण्णत्त' दर्शनज्ञाने नान्यत्वम्, न क्रमापादितभेदम्, केवलिनि भजत इति शेषः। क्रमाभ्युपगमे हि केवलिनि ज्ञाननिमित्तक दर्शनमभ्युपगन्तव्य स्यात्, तत्कारण तु प्रागेवोक्तम्, न च तद् दृष्टमनुभूत चेत्यदृष्टकल्पना न प्रामाणिकीति भावः। 'दसणणाणाण अण्णत्त' इति सम्मति पाठः, तदर्थस्तु भगवताऽभयदेवसूरिणा "तेनाप्यवगच्छाम: कथञ्चित्तयोर्भेद इति, अयञ्च क्षयोपशमनिबन्धनः क्रम, केवलिनि च तदभावादक्रम इत्युक्तम्" इत्येव कृतः॥ २२॥

यदुक्त मतिरूपे बोधे अवग्रहमात्र दर्शनमित्यादि तदयुक्तमतिव्याप्तेरित्याह—

जइ ओग्गहमेत्त द-सण ति मण्णसि विसेसिअ नाणम्।
मइनाणमेव दसण--मेव सइ होइ निप्फण्णं॥ २३॥ ७७॥

'जइ' यदि मत्यवबोधे "ओग्गहमेत्त दसण ति" अवग्रहमात्र दर्शनमिति "विसेसिय णाणं" विशेषित ज्ञानमिति च 'मण्णसि' मन्यसे 'एव सइ' एव सति "मइनाणमेव दसण होइ निप्फण्ण" मतिज्ञानमेव दर्शन निष्पन्न प्राप्त भवति, भवत्वेव सिद्धम्, को दोष इति चेत्, सोऽपि श्रूयताम्, "कइविहे ण भते! उवओगे पण्णत्ते? गोयमा! दुविहे उवओगे प० त० सागारोवओगे य अणागारोवओगे य, सागारोवओगे ण भते! कतिविधे प०? गो०! अट्ठविहे प०, त० आभिणिबोहियनाणसागारोवओगे, सुयनाणसागारोवओगे, ओहिनाणसागारोवओगे, मणपज्जवनाणसागा० केवलनाणसागा० मतिअन्नाणसा० सुयअन्नाणसा० विभगणाणसा०। अणागारोवओगे ण भते! कतिविहे प०? गो०! चउविहे प०, त० चक्खुदसणअणागारोवओगे, अचक्खुदसणअणा०, ओहिदसणअणा०, केवलदसणअणागारोवओगे य" इति प्रज्ञापनैकोनत्रिंशत्तमोपयोगाख्य पदायसूत्रविरोधप्रसङ्गस्स्यादिति। अस्मिन्सूत्रे मतिज्ञानाख्यसाकारोपयोगतोऽनाकारदर्शनोपयोगस्य भेदेन प्रतिपादनात्, मतिज्ञानस्याष्टाविंशतिभेदोक्तिविरोधाच्च॥

यद्वा मतिज्ञानमेवावग्रहात्मना दर्शनम्, अपायात्मना च ज्ञानमिति यदुक्त इष्टान्ता षष्टम्भार्थमेकदेशिना तद्दूषयन्नाह—

जइ उग्गहमित्त द-सण ति मण्णसि विसेसिआ नाण।
मइनाणमेव दसण-मेव सइ होइ निप्फण्ण॥

इति ज्ञानबिन्दुपाठः। तस्यायमर्थः—यदि मतिरेवावग्रहरूपा दर्शनम्, विशेषिता सा ज्ञानमिति मन्यसे, तदा मतिज्ञानमेव दर्शनमेव सति प्राप्तम् तद्भिन्न तस्येति सिद्ध भवति, न चैतद्युक्तम् "स द्विविधोऽष्टचतुर्भेद:" [तत्त्वार्थ० अ० २, सू० ९] इति सूत्रविरोधादित्यर्थः॥ २३॥

एव सेसिंदियद-सणम्मि णियमेण होइ ण य जुत्त।
अह तत्थ णाणमित्त, घेप्पइ चक्खुम्मि वि तहेव॥ २४॥

" एवं सेसिंदियदंसणम्मि णियमेण होइ " एवं श्रोत्रेन्द्रियदर्शने नियमेन भवति, एवं पूर्वोक्तनीत्या श्रोत्रेन्द्रियघ्राणेन्द्रियादिदर्शनेष्वप्यवग्रहमात्रं दर्शनमित्यभ्युपगमे मतिज्ञानमेव तदिति नियमेन स्यात्, तच्च न युक्तमित्याह–' ण य जुत्तं ' इति, पूर्वोक्तसूत्रविरोधादवस्थ्यात् । ' अह तत्थ नाणमित्तं घेप्पइ ' अथ तत्र ज्ञानमात्रं गृह्यते, श्रोत्रादीन्द्रियेषु दर्शनमपि मत्यज्ञानमेव गृह्यते, मात्रशब्दस्य दर्शनव्यवच्छेदकत्वात्, तद्व्यवच्छेदश्च क्वचिदप्यागमे श्रोत्रदर्शनं घ्राणदर्शनमित्यादिव्यवहाराभावात्, श्रोत्रज्ञानं घ्राणज्ञानमित्यादिव्यपदेशस्तु शास्त्रे दृश्यत एवेति, तदुत्तरमाह–' चक्खुम्मि वि तहेव ' चक्षुष्यपि तथैव, गृह्यतामिति शेषः, चक्षुरिन्द्रियेऽपि तज्जन्यावग्रहश्चक्षुर्ज्ञानमेव न तु चक्षुर्दर्शनमिति स्वीक्रियताम् । अथ तत्र दर्शनमिति चेत्, तर्हि श्रोत्रेन्द्रियादावपि तथैवाभ्युपगम्यताम्, युक्तेस्तौल्यादिति ॥ २४ ॥

कथं तर्हि शास्त्रे चक्षुर्दर्शनादिप्रवाद इत्याशङ्कायां तत्कारणमाह–

नाणमपुट्ठे जो अविसए अ अत्थम्मि दंसणं होई ।
मुत्तूण लिङ्गओ ज अणागयाईयविसएसु ॥ २५ ॥

" नाणमपुट्ठे जो " चक्षुषोऽप्राप्यकारित्वात् घटादिविषयमप्राप्यैव ज्ञानं चक्षुः करोतीत्यतोऽस्पृष्टेऽर्थे चक्षुषा य उदेति प्रत्ययस्तद् ज्ञानमेव सत् 'दंसणं होइ' दर्शनं भवति, चक्षुर्दर्शनमित्युच्यते, परमाणावुष्णस्पर्शवदुभयसमावेशवच्चाक्षुषे ज्ञानत्वदर्शनत्वधर्मद्वयसमावेश इति भावः, इत्थं श्रीसिद्धसेनदिवाकरमते चाक्षुषज्ञानावरणचाक्षुषदर्शनावरणकर्मापि परमार्थत एकम्, कार्यविशेषत उपाधिभेदतो वा नैकमिति सिद्धम् । तदुक्तं स्तुतौ ग्रन्थकृतैव–

चक्षुर्दर्शनविज्ञानं, परमाण्वौष्ण्यपरोक्ष्यवत् ।
तदावरणमप्येकं, न वा कार्यविशेषतः ॥ निश्चय० ८ इति ॥

तच्च प्रागेव विवृतम् । ' अविसए य अत्थम्मि '–इन्द्रियाणामविषये च परमाण्वादावर्थे ' नाण जो ' इत्यस्याप्यन्वयात् मनसा य उदेति प्रत्ययस्तद् ज्ञानमेव सत् ' दंसणं होइ ', अचक्षुर्दर्शनमित्युच्यते । नन्वेवं तर्कानुमित्यादिकमपि ज्ञानमस्पृष्टेऽविषये चार्थे मनसोपजायत एवेति तत्रापि दर्शनत्वापत्तिरित्याशङ्कायामुक्तातिप्रसङ्गनिवृत्तये उत्तरार्द्धमाह–'मुत्तूणेत्यादि' लिङ्गतोऽनागताऽतीतविषयेषु यज्ज्ञानमुदेति तन्मुक्त्वा । अत्र जमित्यस्य नाणमित्यनेनान्वयः । यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात्तदित्यपि दृश्यम् । अयम्भावः–सातिशयोन्नतत्वादिधर्मोपेतवारिवाहलिङ्गोपलम्भेनाऽयं कालः आसन्नमविष्यद्वृष्टिक इत्यनुमित्यात्मकं पुनर्वसूदयलिङ्गदर्शनेन पुष्यनक्षत्र मुहूर्तान्ते उदेष्यतीत्यनुमित्यात्मकं वा कृत्तिकोदयान्यथानुपपत्तिलिङ्गज्ञानेन मरणिर्मुहूर्ताद्यधिकपूर्वकालोदयवतीत्यनुमित्यात्मकं श्यामताविशेषं दृष्ट्वा धूमलिङ्गस्मरणेनैतद्देश आसन्नातीतवह्निमानित्यनुमित्यात्मकं वाऽनागतातीतविषयकं यज्ज्ञानमुदेति तन्मुक्त्वेति,

इदमुपलक्षणं-भावनाजन्यज्ञानातिरिक्तपरोक्षज्ञानमात्रस्य, तस्यास्पृष्टाविषयार्थस्यापि दर्शनत्वेनाव्यवहारात् । भावनाजन्यस्य लवादौ कामिन्यादिज्ञानस्य परोक्षस्यापि दर्शनत्वेन व्यवहारादुपलक्षणासम्भवाद्भावनाजन्यज्ञानातिरिक्तेति परोक्षज्ञानस्य विशेषणम् ॥ २५ ॥

ननु यद्यस्पृष्टाविषयार्थविषयकं ज्ञानं दर्शनमित्यभ्युपगम्यते तर्हि मनःपर्यायज्ञानमपि तथाविधत्वात्तद्रूपं स्यादिति तत्रातिप्रसङ्ग इति पूर्वार्द्धेनाशङ्कयोत्तरार्द्धेन तदुत्तरमाह—

मणपज्जवनाणं द-सणंति तेणेह होइ ण य जुत्तं ।
भण्णइ नाणं णोइ-दियम्मि ण घडादओ जम्हा ॥ २६ ॥

' मणपज्जवनाणं दंसणंति ' मनःपर्यायज्ञानं दर्शनमिति 'तेणेह होइ' तेनोक्तलक्षणेनात्र सिद्धं भवति, परकीयमनोगतानां घटादीनामालम्ब्यानां तत्रासत्त्वेनास्पृष्टेऽविषये च घटादावर्थे तस्य भावात् । ' ण य जुत्त ' न च युक्तम्, एतदिति शेषः । मनःपर्यायज्ञानस्य आगमे दर्शनत्वेनानभिहितत्वात् ' भण्णइ ' भण्यते, तदुत्तरमिति शेषः 'नाणं णोइंदियम्मि' ज्ञानं नोइन्द्रिये, अयम्भावः-सञ्ज्ञिजीवैः काययोगेन गृहीता ये मनोवर्गणापुद्गला मनोयोगेन मनस्त्वेन परिणामितास्तन्मयं मनो नोइन्द्रियसञ्ज्ञयाऽर्हच्छास्त्रे गीयत इति मनोद्रव्यार्थग्राहकत्वेन प्रवर्त्तमानं मनःपर्यायबोधरूपं ज्ञानमेव, न तु दर्शनम्, तत्र हेतुमाह-' ण घडादओ जम्हा ' यस्मादस्पृष्टा घटादयो नास्य विषय इति शेषः । नित्यं तेषां लिङ्गानुमेयत्वात् । अयम्भावः-मनःपर्यायज्ञानी द्रव्यमनश्चिन्तनीयान् तान् बाह्यान् घटादीन् तादृशमनःपरिणामाऽन्यथानुपपत्तिलिङ्गतोऽनुमानेन जानाति, न तु साक्षात् । उक्तञ्च भाष्यसुधाऽम्बुनिधिना—

" तेणावभासिए उण जाणइ बज्झेऽणुमाणेणं " ८१४ इति ।

एतच्च प्रागेव विवृतम् । मनस्त्वरूपेण परिणता मनोवर्गणास्तु परात्मगता अपि स्वाश्रयात्मस्पृष्टजातीया एवेति न तदंशेऽपि दर्शनत्वप्रसङ्ग इति । परकीयमनोगतार्थाकारविकल्प एवास्य ग्राह्यः, तस्य चोभयरूपत्वेऽपि छाद्मस्थिकोपयोगस्यापरिपूर्णार्थग्राहित्वाच्च मनःपर्यायज्ञाने दर्शनत्वासम्भव इत्यप्याहुः ॥ २६ ॥ किञ्च—

मइसुयनाणणिमित्तो छउमत्थे होइ अत्थउवलंभो ।
एगयरम्मि वि तेसिं ण दंसणं दंसणं कत्तो ॥ २७ ॥

' मइसुयणाणणिमित्तो ' मतिश्रुतज्ञाननिमित्तः ' छउमत्थे होइ अत्थउवलंभो ' छद्मस्थे अक्षीणमोहादिघातिकर्मणि भवत्यर्थोपलम्भः, आगमे तथैवोक्तत्वात्-' एगयरम्मि वि तेसिं ' तयोरेकतरस्मिन्नपि तदुभयान्यतरस्मिन्नपीत्यर्थः ' ण दंसणं ' न दर्शनं, सम्भवतीति शेषः, न तावदवग्रहो दर्शनम्, तस्य ज्ञानात्मकत्वात् । ततः ' दंसणं कत्तो ? ' दर्शनं कुतः ? नास्तीत्यर्थः ॥ २७ ॥

नन्वस्पृष्टेऽर्थे श्रुतज्ञान भवत्तत्किमिति दर्शन न भवेदित्याशङ्कानिवृत्त्यर्थमाह—

ज पच्चक्खग्गहण ण इति सुअनाणसम्मिया अत्था ।
तम्हा दसणसद्दो ण होइ सयले वि सुअनाणे ॥ २८ ॥

'ज' यस्मात् 'पच्चक्खग्गहण न इति' प्रत्यक्षग्रहण न यन्ति, न यान्ति वा । यन्तीति क्रिया कर्तृमपेक्षेति तत्कर्तृभूतानर्थानाह-"सुअनाणसम्मिया अत्था" इति श्रुतज्ञानेन सम्यग्मीयन्त निश्चीयन्त इति श्रुतज्ञानसम्मिताः, अर्थ्यन्ते परिच्छिद्यन्ते ज्ञान विषयीक्रियन्त इत्यर्थाः । अयम्भावः-श्रुतज्ञानप्रमिता अर्थाः प्रत्यक्षेण न गृह्यन्ते, अक्षमि न्द्रिय प्रतिगत कार्यत्वेनाश्रित प्रत्यक्षमिति व्युत्पत्त्याऽक्षजस्यैव व्यावहारिकप्रत्यक्षत्वात् । पर्यवसितार्थमुत्तरार्द्धेनाह-तम्हेत्यादि 'तम्हा' तस्मात्-श्रुतज्ञानस्याक्षजत्वाभावात् परो क्षार्थग्राहकत्वाच्च 'सयले वि सुयनाणे' सकलेऽपि श्रुतज्ञाने 'दसणसद्दो न होइ' दर्शन शब्दो न भवति, न प्रवर्तते, श्रुतज्ञान चक्षुर्दर्शनाचक्षुर्दर्शनशब्दवाच्य न भवतीति तत्तदा त्मक नेति भाव' । तथा च व्यञ्जनावग्रहाऽविषयार्थप्रत्यक्षत्वमेव दर्शनत्वमिति पर्यवसन्नम् । प्रत्यक्षपदादेव श्रुतज्ञानवदनुमित्यादव्यावृत्तौ परोक्षभिन्नत्वे सतीति विशेषण न देयम् । 'मुत्तूण लिङ्गओ ज' इत्युक्तस्याप्यत्रैव तात्पर्य द्रष्टव्यम् । इत्थ चाप्रधारणमादायेत्यादाविवा चक्षुर्दर्शनमित्यत्रापि नअर्थः पर्युदासात्मक एवाभावो ग्राह्य, न त्वघट भूतलमनुष्यमरण्य मित्यादाविवात्यन्तनिषेधकृत् प्रसज्यात्मकः, पर्युदासश्च सदृग्ग्राहीति अचक्षुर्दर्शनपदेन मानसदर्शनमेव ग्राह्यम्, न तु श्रोत्रदर्शनघ्राणदर्शनादिकम्, अप्राप्यकारित्वेन मनस एव चक्षुर्भिन्नत्वे सति तत्सदृशत्वात् ।

पुट्ठ सुणेइ सद्द रूव पुण पासए अपुट्ठ तु ।
गध रस फास च बद्धपुट्ठ वियागरे ॥ ५ ॥

इत्यावश्यकश्लोके' श्रोत्रघ्राणजिह्वास्पर्शनेन्द्रियाणां प्राप्तार्थविषयकप्रत्यक्षजनकत्वेनाप्रा प्तार्थविषयकप्रत्यक्षजनकचक्षुस्सादृश्याभावादिति । प्रज्ञापनोपयोगाख्यपदटीकायां तु-अच क्षुषा चक्षुर्वर्जशेषेन्द्रियमनोभिर्दर्शन स्वस्वविषये सामान्यग्रहणमचक्षुर्दर्शनम् । ततोऽनाकारो पयोगशब्देन विशेषणसमास इत्येव "अचक्खुदसणअणागारोवओगे" इत्यस्यार्थ कृत., तथा च तत्राऽचक्षुर्दर्शनपदवाच्य श्रोत्रघ्राणरसनास्पर्शनन्द्रियमनोदर्शनमित्युक्त भवति ॥२८॥

नन्वेव दर्शनत्वस्य पारिभाषिकरूपत्वेऽवधिदर्शनमपि सिद्ध न स्यात्, तस्य व्यञ्जना वग्रहाविषयार्थग्राहित्वेऽपि व्यवहारतः प्रत्यक्षत्वाभावादित्याशङ्कां समाधत्ते—

ज अपुट्ठा भावा ओहिण्णाणस्स होंति पच्चक्खा ।
तम्हा ओहिण्णाणे दसणसद्दो वि उवउत्तो ॥ २९ ॥

'ज' यस्मात् 'अपुट्ठाभावा' अस्पृष्टा भावाः परमाण्वादयः ते किमित्याह– 'ओहिण्णाणस्स होइ पच्चक्खा' अवधिज्ञानस्य भवन्ति प्रत्यक्षाः, अश्नुते व्याप्नोति ज्ञानात्मना सर्वार्थान्, अश्नाति वा सर्वान् समृद्ध्यादीन्, पालयति भुङ्क्ते चेति 'उणादिनिपातनात्' अक्षो जीवः, तं प्रति साक्षाद् गतमिन्द्रियनिरपेक्षं वर्तते यत्तत्प्रत्यक्षमिति व्युत्पत्तिसिद्धं नैश्चयिक-प्रत्यक्षमवधिज्ञानमपि, अवधिज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमसहकृतात्ममात्रजन्यत्वेन तत्रेन्द्रियाद्य-पेक्षत्वाऽभावादित्यवधिज्ञानप्रत्यक्षविषया भवन्ति, तथा चोक्तदर्शनत्वपर्यवसितलक्षणघट-कीभूतप्रत्यक्षपदेन सांव्यवहारिकप्रत्यक्षपारमार्थिकप्रत्यक्षसाधारणप्रत्यक्षत्वावच्छिन्नं ग्राह्यम्, तथाविधञ्चावधिज्ञानमपीति तदात्मकमवधिदर्शनं सिद्धं भवति । तदेवोत्तरार्द्धेनाह—

"तम्हा ओहिण्णाणे दंसणसद्दो वि उवउत्तो" तस्मादवधिज्ञाने दर्शनशब्दोऽप्युपयुक्तः, दर्शनाभिधाननिमित्तस्योक्तलक्षणस्य सद्भावेन सावकाश इति ॥ २९ ॥

अवधिज्ञाने पारमार्थिकविकलप्रत्यक्षत्ववत् केवलज्ञानेऽपि पारमार्थिकसकलप्रत्यक्षत्वं सद्भावेनोक्तलक्षणमव्याहतमित्याह—

ज अपुट्ठे भावे, जाणइ पासइ य केवली नियमा ।
तम्हा तं नाणं दंसणं च अविसेसओ सिद्धं ॥ ३० ॥

'ज अपुट्ठे भावे' यस्मादस्पृष्टान् भावान् 'केवली नियमा' करामलकवत्केवलश्रिया विश्वविश्वतत्त्वं कलयन् केवली नियमात्–अवश्यम्भावेन, 'जाणइ पासइ य' जानाति पश्यति च, सामान्यविशेषोभयप्राधान्येन, न तु गौणप्रधानभावेन, तस्य क्षायोपशमिक-ज्ञाननिबन्धनत्वात्, केवलिनस्तु क्षायोपशमिकभावातीतत्वात्तज्ज्ञानं क्षायोपशमिक-ज्ञानात्मकमिति तन्निमित्तकसामान्यविशेषगौणप्रधानभावस्य तत्राभावात् । 'तम्हा तं नाणं दंसणं च' तस्मात्तत्केवलोपयोगरूपं ज्ञानं दर्शनञ्चोभयरूपं 'अविसेसओ सिद्धं' उभयाभिधाननिमित्तस्याविशेषात्सिद्धम्, अयम्भावः—केवलावबोधो न क्रमिकज्ञानोपयोग-दर्शनोपयोगान्यतरात्मकः, न वा युगपज्ज्ञानोपयोगदर्शनोपयोगभेदेनोपयोगद्वयात्मकः, अपि त्वेक एव धर्मी उभयाभिधाननिमित्तसद्भावाज्ज्ञानदर्शनोभयात्मक इति । मनःपर्याय-ज्ञानस्य तु व्यञ्जनावग्रहाविषयार्थकप्रत्यक्षत्वेऽपि बाह्यविषये व्यभिचारेण स्वग्राह्यतावच्छेदका-वच्छेदेन प्रत्यक्षत्वाभावान्न दर्शनत्वमिति निष्कर्ष इत्युक्तं ज्ञानबिन्दौ । अयम्भावः—ऋजु-मतिविपुलमतिभेदतो द्विविधेनाऽपि चानेन मनःपर्यायज्ञानेन तत्तदर्थचिन्तनपरिणतानि मनोद्रव्याण्येव गृह्यन्ते, चिन्त्यमानास्स्तम्भकुम्भादयस्तु बाह्याः पदार्था अनुमानेनैवाऽ-वगम्यन्ते, तावत्पर्यन्तमेकोपयोगाभ्युपगमेऽनुमित्यात्मकज्ञानस्य पक्षसाध्यरूपे विषयांशे परोक्षत्वेऽपि मितिमात्रांशे स्वप्रकाशत्वपक्षे प्रत्यक्षत्ववन्मनोद्रव्यांशे प्रत्यक्षत्वेऽप्यत्र बाह्यांशे परोक्षत्वमुपपादनीयम्, एकान्तप्रत्यक्षता तु स्वग्राह्यावच्छेदेनैव वाच्या, लैङ्गिके एकान्त-

परोक्षतया अपीत्थमेवोपपत्तेः । न्यायाचार्यमहोपाध्यायपूज्यपादश्रीयशोविजयकृततत्त्वार्थप्रथमाध्यायचतुर्विंशतितमसूत्रभाष्यविवरणोक्त्यनुसारेण तात्पर्यमेकोपयोगपक्षे यदि मनःपर्यायज्ञाने मनोद्रव्यवत् संज्ञिजीवचिन्तनीयघटादिबाह्यपदार्था अपि तद्विशेषणतया प्रतिभासन्ते तदा तन्मनःपर्यायज्ञानं तद्ग्राह्यमनोद्रव्यं तदवच्छेदेन मनःपर्यायज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वेऽपि स्वग्राह्यतावच्छेदको घटादिबाह्यांशस्तदवच्छेदेन परोक्षत्वेन प्रत्यक्षत्वाभावान्न दर्शनत्वम्, अत्रत्यं विवेचनमस्मदन्यतरत्त्वार्थविवरणगूढार्थदीपिकातोऽवसेयमिति ॥ ३० ॥

तस्माद् द्व्यात्मक एक एव केवलावबोध इति फलितं स्वमतमाह सूरिः—

साई अपज्जवसियं, ति दो वि ते ससमयं हवइ एवं ।
परतित्थियवत्तव्वं, च एगसमयंतरुप्पाओ ॥ ३१ ॥

पूर्वोक्तरीत्या केवलावबोधो द्व्यात्मक एक एवेत्यभ्युपगमे स्वसमयः, अन्यथा परसमय इति तात्पर्यार्थः । एतद्गाथायास्तु पूज्यामयदेवसूरिमिश्रैरेवमर्थः कृत—द्वे अपि ते ज्ञानदर्शने यदि युगपन्न जाता भवतस्तदा स्वसमयः—स्वसिद्धान्तः साद्यपर्यवसिते इति घटते, यस्तु तयोरेकसमयान्तरोत्पादः " यदा जानाति तदा न पश्यति " इत्येवमभिधीयते स परतीर्थिकशास्त्रं नार्हद्वचनं नयाभिप्रायेण प्रवृत्तत्वादिति । न्यायाचार्यश्रीयशोविजयोपाध्यायाभिप्रायेण त्वेवं गाथाशब्दार्थः । ' साई अपज्जवसियं ति ' साद्यपर्यवसितं केवलं शास्त्रे प्रोक्तमिति हेतोः ' दो वि ते ' द्वे अपि ते ज्ञानदर्शने, उभयशब्दवाच्यं तदिति यावत् । ' एवं ' एवमभ्युपगमे सति ' ससमयं हवइ ' स्वसमयः स्वसिद्धान्तोऽयं भवति, यस्त्वत्र ' एगसमयंतरुप्पाओ ' यस्त्वेकसमयान्तरोत्पादः, तयोर्मन्यत इति शेषः, तत् " परतित्थियवत्तव्वं " परतीर्थिकवक्तव्यं परतीर्थिकशास्त्रम् नार्हद्वचनं नयाभिप्रायेण प्रवृत्तत्वादिति ॥३१॥

जिनप्रज्ञप्तनिखिलतत्त्वविषयकं भावतो यत्समूहालम्बनश्रद्धानं तल्लक्षणं सम्यग्दर्शनमपि मतिज्ञानस्यैव सम्यग्रुचिरूपो योऽपायांशस्तद्रूपमेव, न ज्ञानादृतेऽन्यद्दर्शनमस्ति, पृथग्विभागादिप्रक्रिया तु गोबलीवर्दन्यायात्, अत एव सम्यग्दर्शनत्वं सम्यग्ज्ञानत्वव्याप्यजातिविशेषः, विषयताविशेषो वा, तदवच्छिन्ने च दर्शनावरणक्षयोपशमानामेकशक्तिमत्त्वादिना हेतुत्वमिति ज्ञानावरणविशेष एव दर्शनावरणमित्यभिप्रेत्याह—

एवं जिणपण्णत्ते सद्दहमाणस्स भावओ भावे ।
पुरिसस्साभिणिबोहे दंसणसद्दो हवइ जुत्तो ॥ ३२ ॥

' एवं ' अनन्तरोक्तविधिना ' जिणपण्णत्ते ' अस्य ' भावे ' इत्यनेनान्वयाज्जिनप्रज्ञप्तान् भावान् ' भावओ सद्दहमाणस्स ' भावतः सम्यग्रुचिरूपतया श्रद्दधानस्य समूहालम्बनतया रुच्याऽवगृह्णत. ' पुरिसस्साभिणिबोहे दंसणसद्दो हवइ जुत्तो ' पुरुषस्याभिनिबोधे मतिज्ञानापायांशरूपे दर्शनशब्दो भवति युक्तः, जिनप्रज्ञप्तजीवाजीवादिपदार्थनवकविषयकसमूहालम्बन-

ज्ञानविशेषरूपाया रुचेः सम्यग्दर्शनशब्दवाच्यत्वात्, तथोक्तरुचिरूपं सम्यग्दर्शनं मुख्यम्, भाक्तं च तद् अनेकान्तागमवासनोपनीतं सर्वाऽनेकान्तताऽवगाहिघटाद्यपायात्मकमपीति भावः ॥ ३२ ॥

ननु यस्मिन्नात्मनि सम्यग्ज्ञानं तस्मिन्नियमेन सम्यग्दर्शनम्, तद्व्यतिरेकेण सम्यग्ज्ञानत्वस्यैवानुपपत्तेरितिवद् यस्मिन् रुचिरूपं दर्शनं तस्मिन्नियमेन सम्यग्ज्ञानमस्ति न वेत्याशङ्कायामाह—

सम्मन्नाणे णियमे-ण दंसणं दंसणे उ भयणिज्जं ।
सम्मन्नाणं च इमं, ति अत्थओ होइ उववण्णं ॥ ३३ ॥

' सम्मन्नाणे णियमेण दंसणं ' सम्यग्ज्ञाने नियमेन दर्शनं सम्यग्दर्शनम्, " दंसणे उ भयणिज्जं " दर्शने तु पुनर्भजनीयम् अस्ति न वेति विकल्पनीयम्, सम्यग्ज्ञानमिति शेषः । अनेकान्ततत्त्वविषयकरुचिलक्षणसम्यग्दर्शने सति तदस्ति, एकान्ततत्त्वविषयकरुचिलक्षणदर्शने सति तन्नास्तीति भाव. । अविशेषितदर्शनेन सह भजनोक्तावपि सम्यक्पदविशेषणे नैव भजनेत्याशयेनोत्तरार्द्धमाह—सम्मन्नाणं चेत्यादि । ' इमं " इदमदसोः प्रत्यक्षे " इति वचनात् इदंशब्दप्रयोगः प्रत्यक्षविषय एवार्थे भवतीतीदमित्यस्य सम्यग्दृष्टिप्रत्यक्षविषयीभूतमित्यर्थ. । अस्य च सम्यग्ज्ञानमित्यनेनान्वयः, चशब्दात्सम्यग्दर्शनम् । तथा चेदं सम्यग्ज्ञानं सम्यग्दर्शनमित्यर्थत उपपन्नं भवति, अर्थापत्तिसिद्धमित्यर्थः, अयञ्चार्थः तत्त्वार्थविवरणमनुसृत्योक्तः । यद्वा ' सम्मन्नाणं च इमं ति ' अत. सम्यग्ज्ञानं चेदपदग्राह्य सम्यग्दर्शनञ्चेति " अत्थओ होइ उववन्नं " अर्थतः सामर्थ्यादेकमेवोपपन्नं भवति, तथा च सम्यग्दर्शनं मतिज्ञानापायांशरूपत्वाज्ज्ञानविशेषरूपमेव, मिथ्यादर्शनमपि तद्ज्ञानविशेषरूपमेवेति सिद्धम् ॥ ३३ ॥

सूत्रे च सादपर्यवसितं केवलज्ञानं दर्शितमिति तत्त्वमजानानाः केचिदत्र व्याचक्षते, केवलज्ञानस्य प्रतिबन्धकं केवलज्ञानावरणमिति सर्वथा तदुच्छेदं सत्येव तदुत्पद्यत इति कारणोपजायमानत्वाद् घटादिवत् तत्सादि, न चोत्पन्नं सत्पुनर्विनश्यति प्रबलतरतद्विरोधिगुणान्तराभावेन तद्विनाशकसामग्र्यभावात्, न च कर्मान्तरेण पुनराव्रियते तत्, कारणाऽभावेन तदावारकनव्यकर्मबन्धाभावात्, विनाशाभावाच्च न पुनरुत्पद्यते, विनाशपूर्वकत्वादुत्पादस्येति पुनरुत्पादविनाशानात्मकं तत्खलु, अत एवापर्यवसितमिति, तन्मतनिरासायाह—

केवलणाणं साई अपज्जवसियं ति दाइयं सुत्ते ।
तेत्तियमित्तोत्तूणा केइ विसेसं ण इच्छंति ॥ ३४ ॥

' केवलणाणं साई अपज्जवसियं ति ' केवलज्ञानं सादपर्यवसितमिति ' दाइयं सुत्ते ' दर्शितं सूत्रे ' तेत्तियमित्तोत्तूणा ' तावन्मात्रेण दृप्ता.-एतावन्मात्रेण गर्विताः ' केइ विसेसं

ण इच्छति ' केचन विशेष विशेषपर्याय पर्यवसितत्वात्मक सन्तमपि नेच्छन्ति नाभ्युपगच्छन्ति । ननु किं ते सम्यग्वादिनः किं वा नेति चेत्, नेति जानीहि ॥ ३४ ॥ तदेवाह—

जे संघयणाईया भवत्थकेवलिविसेसपज्जाया ।
ते सिज्झमाणसमये ण होंति विगयं तओ होइ ॥ ३५ ॥

' जे संघयणाईया ' ये संहननादय'—वज्रर्षभनाराचसंहननादयो यद्यपि शरीरधर्मत्वेन तत्पर्यायास्तथापि भवस्थकेवल्याऽऽत्मतच्छरीरयोर्दुग्धपानीययोरिवान्योन्यसम्बद्धतयैव व्यवस्थितेर्भवस्थकेवलिविशेषपर्याया इत्याह—'भवत्थकेवलिविसेसपज्जाया ' इति, भवे तिष्ठतीति भवस्थ', स चासौ केवली—केवलज्ञानवान् भवस्थकेवली, तस्य विशेषपर्याया. " ते सिज्झमाणसमये न होंति " ते सिध्यत्समये सिद्धस्वरूपावाप्तिसमये न भवन्ति, अपगच्छन्तीत्यर्थ. । भवस्थकेवलिविशेषपर्यायतया तद्ध्वंसे सति किं भवतीत्याशङ्कायामाह—" विगय तओ होइ " विगत ततो भवति । भवस्थकेवलिविशेषपर्यायापगमे भवस्थकेवलज्ञानपर्यायतया केवलज्ञान विध्वस्त भवति । अयम्भावः—उक्तभवस्थकेवलिविशेषपर्यायनाशे तद्विशिष्ट केवल्यात्मविनाश , विशेषणनाशे तद्विशिष्टनाशस्याप्यवश्यम्भावात्, शिखाविनाशे शिखी विनष्ट इति प्रतीते , न चात्रापि शिखात्मकविशेषणस्यैव नाश , न तद्विशिष्टस्य इति वाच्यम्, एकान्ततया भेदेऽभेदे च विशेषणविशेष्यभावस्यावस्थाऽवस्थातृभावस्य चाऽयोगेन कथञ्चिद्विनाशस्यापि भावात्, तादृशात्मविनाशे च केवल्यात्माऽव्यतिरिक्त केवलज्ञानमपि तद्द्वारा विनष्टमिति ॥ ३५ ॥

अथ केवलमविनापर्यवसितस्यापि केवलज्ञानस्य पूर्वपर्यायात्मकभवस्थकेवलज्ञान पर्यायतया सिद्धिप्रथमसमये विनाशवत्सिद्धकेवलज्ञानपर्यायलक्षणोत्तरपर्यायरूपेणोत्पत्तिरप्यवश्यम्भाविनी, अपर्यवसितभावस्यापि तत्तदवस्थाविशेषनिपतनाशोत्पादानवश्यम्भावात् अन्यथा त्रैलक्षण्यासिद्धिरस्यादिति प्रतिपादयितुम्, यद्वा विनाशस्योत्पत्तिनियतत्वात्केवलज्ञानस्य भवस्थकेवलज्ञानरूपपूर्वपर्यायरूपेण विनाश प्रतिपाद्य सिद्धकेवलज्ञानपर्यायात्मकोत्तरपर्यायरूपेणोत्पत्तिं प्रतिपादयितुमाह—

सिद्धत्तणेण य पुणो, उप्पण्णो एस अत्थपज्जाओ ।
केवलभावं तु पडुच्च, केवलं दाइयं सुत्ते ॥ ३६ ॥

' सिद्धत्तणेण य पुणो' सिद्धत्वेन—अनादिमन्तस्यात्मकाञ्चनोपलसयोगस्येवानादिजीवकर्मसयोगस्य सोपाय यत्सस्था विच्छेदस्त प्रयुक्ता-सकर्मसयोगपृथग्भावलक्षण यत् सिद्धत्व अस्य पूर्वं सिद्धत्व नासीत् किन्त्वधुनैव तत्सञ्जातमिति प्रतीतिसिद्धेन तेन रूपेण एष सिद्धस्थकेवलज्ञानाख्यार्थपर्याय उत्पन्नः, आगमतः सचालाभादित्याह—" उप्पण्णो एस अत्थप

ज्ञानविशेषरूपाया रुचेः सम्यग्दर्शनशब्दवाच्यत्वात्, तथोक्तरुचिरूपं सम्यग्दर्शनं मुख्यम्, भाक्तं च तत् अनेकान्तागमवासनोपनीतं सर्वोऽनेकान्ततोऽवगाहिघटाद्यपायात्मकमपीति भावः ॥ ३२ ॥

ननु यस्मिन्नात्मनि सम्यग्ज्ञानं तस्मिन्नियमेन सम्यग्दर्शनम्, तद्व्यतिरेकेण सम्यग्ज्ञानत्वस्यैवानुपपत्तेरितिवद् यस्मिन् रुचिरूपं दर्शनं तस्मिन्नियमेन सम्यग्ज्ञानमस्ति न वेत्याशङ्कायामाह—

सम्मन्नाणे णियमे-ण दसणं दंसणे उ भयणिज्जं ।
सम्मन्नाणं च इमं, ति अत्थओ होइ उववण्णं ॥ ३३ ॥

'सम्मन्नाणे णियमेण दंसणं' सम्यग्ज्ञाने नियमेन दर्शनं सम्यग्दर्शनम्, "दंसणे उ भयणिज्जं" दर्शने तु पुनर्भजनीयम् अस्ति न चेति विकल्पनीयम्, सम्यग्ज्ञानमिति शेषः। अनेकान्ततत्त्वविषयकरुचिलक्षणसम्यग्दर्शने सति तदस्ति, एकान्ततत्त्वविषयकरुचिलक्षणदर्शने सति तन्नास्तीति भावः। अविशेषितदर्शनेन सह भजनोक्तावपि सम्यक्पदविशेषणे नैव भजनेत्याशयेनोत्तरार्द्धमाह—सम्मन्नाणं चेत्यादि। 'इमं' "इदमदसोः प्रत्यक्षे" इति वचनात् इदंशब्दप्रयोगः प्रत्यक्षविषय एवार्थे भवतीतीदमित्यस्य सम्यग्दृष्टिप्रत्यक्षविषयीभूतमित्यर्थः। अस्य च सम्यग्ज्ञानमित्यनेनान्वयः, चशब्दात्सम्यग्दर्शनम्। तथा चेदं सम्यग्ज्ञानं सम्यग्दर्शनमित्यर्थत उपपन्नं भवति, अर्थापत्तिसिद्धमित्यर्थः, अयञ्चार्थः तत्त्वार्थविवरणमनुसृत्योक्तः। यद्वा 'सम्मन्नाणं च इमं ति' अत. सम्यग्ज्ञानं चेदपदप्राप्तं सम्यग्दर्शनञ्चेति "अत्थओ होइ उववन्नं" अर्थतः सामर्थ्यादेकमेवोपपन्नं भवति, तथा च सम्यग्दर्शनं मतिज्ञानापायांशरूपत्वाज्ज्ञानविशेषरूपमेव, मिथ्यादर्शनमपि तदज्ञानविशेषरूपमेवेति सिद्धम् ॥ ३३ ॥

सूत्रे च साद्यपर्यवसितं केवलज्ञानं दर्शितमिति तत्तत्त्वमजानानाः कश्चिदत्र व्याचक्षते, केवलज्ञानस्य प्रतिबन्धकं केवलज्ञानावरणमिति सर्वथा तदुच्छेदे सत्येव तदुत्पद्यत इति कारणोपजायमानत्वाद् घटादिवत् तत्सादि, न चोत्पन्नं सत्तत्पुनर्विनश्यति प्रबलतरतद्विरोधिगुणान्तराभावेन तद्विनाशकसामग्र्यभावात्, न च कर्मान्तरेण पुनरावियते तत्, कारणाऽभावेन तदावारकनव्यकर्मबन्धाभावात्, विनाशाभावाच्च न पुनरुत्पद्यते, विनाशपूर्वकत्वादुत्पादस्येति पुनरुत्पादविनाशानात्मकं केवलम्, अत एवापर्यवसितमिति, तन्मतनिरासायाह—

केवलणाणं साई अपज्जवसियं ति दाइयं सुत्ते ।
तेत्तियमित्तोत्तूणा केइ विसेसं ण इच्छंति ॥ ३४ ॥

'केवलणाणं साई अपज्जवसियं ति' केवलज्ञानं साद्यपर्यवसितमिति 'दाइयं सुत्ते' दर्शितं सूत्रे 'तेत्तियमित्तोत्तूणा' तावन्मात्रेण दृप्ता –एतावन्मात्रेण गर्विताः 'केइ विसेसं

इच्छति ' केचन विशेष विशेषपर्याय पर्यवसितत्वात्मक सन्तमपि नेच्छन्ति नाभ्युपग
न्ति। ननु किं ते सम्यग्वादिनः किं वा नेति चेत्, नेति जानीहि ॥ ३४ ॥ तदेवाह—

जे सघयणाईया भवत्थकेवलिविसेसपज्जाया।
ते सिज्झमाणसमये ण होंति विगयं तओ होइ ॥ ३५ ॥

' जे सघयणाईया ' ये संहननादयः—वज्रर्षभनाराचसंहननादयो यद्यपि शरीरधर्मत्वेन
र्यायास्तथापि भवस्थकेवल्याऽऽत्मतच्छरीरयोर्दुग्धपानीययोरिवान्योन्यमम्बद्धतयैव व्य
त्वतेर्भवस्थकेवलिविशेषपर्याया इत्याह—'भवत्थकेवलिविसेसपज्जाया' इति, भवे तिष्ठतीति
स्थः, स चासौ केवली-केवलज्ञानवान् भवस्थकेवली, तस्य विशेषपर्यायाः " ते सिज्झ
समये न होंति " ते सिध्यत्समये सिद्धस्वरूपावाप्तिसमये न भवन्ति, अपगच्छन्तीत्यर्थः।
स्थकेवलिविशेषपर्यायतया तद्ध्वंसे सति किं भवतीत्याशङ्कायामाह—" विगयं तओ
" विगतं ततो भवति। भवस्थकेवलिविशेषपर्यायापगमे भवस्थकेवलज्ञानपर्यायतया
लज्ञान विध्वस्त भवति। अयम्भावः—उक्तभवस्थकेवलिविशेषपर्यायनाशे तद्विशिष्ट
त्यात्मविनाश, विशेषणनाशे तद्विशिष्टनाशस्याप्यवश्यम्भावात्, शिखाविनाशे शिखी
ष्ट इति प्रतीते, न चात्रापि शिखात्मकविशेषणस्यैव नाश, न तद्विशिष्टस्य इति वाच्यम्,
न्ततया भेदेऽभेदे च विशेषणविशेष्यभावस्यावस्थाऽवस्थावद्भावस्य चाऽयोगेन कथञ्चि
नाशस्यापि भावात्, तादृशात्मविनाशे च केवल्यात्माऽव्यतिरिक्त केवलज्ञानमपि
द्वारा विनष्टमिति ॥ ३५ ॥

अथ केवलभावेनापर्यवसितस्यापि केवलज्ञानस्य पूर्वपर्यायात्मकभवस्थकेवलज्ञान
यितया सिद्धिप्रथमसमये विनाशवत्सिद्धकेवलज्ञानपर्यायलक्षणोत्तरपर्यायरूपेणोत्पत्तिर
वश्यम्भाविनी, अपर्यवसितभावस्यापि तत्तदवस्थाविशेषनियतनाशोत्पादावश्यम्भावात्
न्यथा त्रैलक्षण्यासिद्धिस्स्यादिति प्रतिपादयितुम्, यद्वा विनाशस्योत्पत्तिनियतत्वात्केवल
नस्य भवस्थकेवलज्ञानरूपपूर्वपर्यायरूपेण विनाशं प्रतिपाद्य सिद्धकेवलज्ञानपर्यायात्मको-
पर्यायरूपेणोत्पत्तिं प्रतिपादयितुमाह—

सिद्धत्तणेण य पुणो, उप्पण्णो एस अत्थपज्जाओ।
केवलभावं तु पडुच, केवलं दाइयं सुत्ते ॥ ३६ ॥

' सिद्धत्तणेण य पुणो ' सिद्धत्वेन—अनादिमन्तरयागतकाञ्चनोपलसंयोगस्येवानादिजीव-
संयोगस्य सोपाय यत्सर्वथा विच्छेदस्तत्प्रयुक्तात्मकर्मसर्वांशपृथग्भावलक्षणं यत् सिद्धत्व
त्य पूर्वं सिद्धत्वं नासीत् किन्त्वधुनैव तत्समजातमिति प्रतीतिसिद्धेन तेन रूपेण एष सिद्ध-
केवलज्ञानाख्यार्थपर्याय उत्पन्नः, प्रागसतः सत्त्वलाभादित्याह—" उप्पण्णो एस अत्थप

आओ" इति । एतद्भावमपेक्ष्यैवोक्त नन्दीसूत्रे–"केवलनाणे दुविहे पण्णत्ते भवत्थकेवलनाणे य सिद्धकेवलनाणे य " इति । नन्वेव तर्हि केवलज्ञानमपर्यवसित किमपेक्ष्य शास्त्रे गदितमित्याशङ्कानिवृत्त्यर्थमुत्तरार्द्धमाह—' केवलभावमित्यादि ' । केवलभाव तु प्रतीत्य–अपेक्ष्य, "केवल–दाइय सुत्ते" केवलज्ञान दर्शित सूत्रे, अपर्यवसितमिति शेषः। तत्तत्पूर्वोत्तरपर्यायपरित्यागोपादानभावेन विनाशोत्पत्तिशीलमपि प्रतिक्षणज्ञेयपरिणतिभेदेन समयभेदेन च प्रतिक्षणभिन्नस्वरूपमपि च केवलज्ञान नैव कदापि तत्तत्पूर्वोत्तरपर्यायानुगत केवलभाव केवलोपयोगभाव द्रव्यपर्याययोः कथञ्चिदभेद इति कथञ्चिदात्मद्रव्याव्यतिरिक्तत्वात् तन्नित्यत्वेन तद्द्वारा नित्यस्वरूप परिजहातीत्येतावता तदपर्यवसितमिति सिद्धान्ते गीयते इति भावः। तथा च केवलज्ञानस्य घातिकर्मचतुष्टयक्षयेणोत्पत्तिभावात्तत्सादिः तदनन्तर शुद्धस्वभावव्यञ्जनपर्यायापेक्षितद्ध्रुवसत्ताविनाशकभावाभ्यभावात् प्रतिक्षण ज्ञेयभेदप्रयुक्तनिखिलतत्तज्ज्ञेयावगाहित्वस्वभावभेदतत्तत्समयविशिष्टत्वस्वभावभेदभिन्नकेवलज्ञानानन्तार्थपर्यायानुगतव्यञ्जनपर्यायात्मकेन केवलभावेन न तत्कदाऽपि विनश्यति, विनाशाभावाच्च न तद्रूपेण तत्पुनरुत्पद्यत इति तदुभयाभावात् केवलज्ञानोत्पत्तिप्रथमसमयादेव केवलभावेन सर्वदा ध्रुवत्वादपर्यवसितम्, अष्टकर्मविगमेन सिद्धस्वरूपावाप्तौ केवलज्ञानस्य पुनः पूर्ववत्सिद्धत्वेन सिद्धस्थकेवलज्ञानाख्योऽर्थपर्याय उत्पन्न इति भवस्थकेवलज्ञानपर्यायसिद्धकेवलज्ञानपर्यायाभ्यां विनाशोत्पत्तिभावात्तत्सादिमपर्यवसितमप्यभ्युपगन्तव्यम्, अन्यथा त्रैलक्षण्याऽनुपपत्त्या सत्त्वमपि न स्यात्, न स्याच्च केवलज्ञान स्यात्साद्यपर्यवसित स्यात्सादिसपर्यवसितमित्यादिरूपेण सप्तभङ्गीसङ्घटनाऽपि तत्रेति भावनीयम् ॥ ३६ ॥

ननु जीवोऽनादिनिधनः केवलज्ञान पुनस्साद्यपर्यवसितम्, तथा च केवलज्ञान जीवस्वरूपाद्भिन्न विरुद्धधर्माध्यस्तत्वात्, यच्च यतो विरुद्धधर्माध्यस्त तत्ततो भिन्न, यथा घटात्पट, जीवाद्विरुद्धधर्माध्यस्त च केवलज्ञान, तस्मात्तद्भिन्नमिति केवलज्ञानस्यात्मस्वरूपतामाश्रित्य तस्योत्पादविनाशाभ्यां केवलज्ञानस्य तौ भवत इत्युपपादन कथ युक्तियुक्तमित्याशङ्कते—

जीवो अणाइनिहणो केवलणाण तु साइयमणत ।
इय थोरम्मि विसेसे कह जीवो केवल होइ ॥ ३७ ॥

' अणाइनिहणो ' आदि च निधनमन्तश्च आदिनिधने, ते न विद्येते यस्य सो अनादिनिधन', एवम्भूतः क इत्याह—' जीवो ' जीवति–प्राणान् धारयतीति जीवः । ' केवलणाण तु साइय ' केवलज्ञान तु सादिक, आदिना सह वर्त्तत इति सादिकम् आदिमत्, पुनस्तद्विशिनष्टि–' अणत ' न विद्यते अन्तो यस्य तदनन्तम्–अपर्यवसितम्, ' इअ थोरम्मि

नयोर्घटपटवदत्यन्तभेदात् ' कह जीवो केवल होइ ' कथं जीवः केवलं भवेत्? कथं जीवस्वरूपं केवलज्ञानं भवेत्? ॥ ३७ ॥

ननु भवतु तयोर्विरुद्धधर्माध्यासः, तेन किमित्यत आह—

तम्हा अण्णो जीवो अण्णे णाणाइपज्जवा तस्स ।
उवसमिआईलक्खणविसेसओ केइ इच्छंति ॥ ३८ ॥

' तम्हा अण्णो जीवो ' तस्माद्विरुद्धधर्माध्यासादन्यो जीवो ज्ञानादिपर्यायेभ्य इति शेषः । ' अण्णे णाणाइपज्जवा तस्स ' तस्य जीवस्य ज्ञानादिपर्याया अन्ये जीवादिति शेषः । लक्षणभेदादपि तयोर्भेद इति प्रतिपादयितुमाह–उवसमियाईलक्खणविसेसओ ' औपशमिकादिलक्षणविशेषतः । अयम्भावः–ज्ञानदर्शनयोः क्षायिकक्षायोपशमिकान्यतरात्मको भावो लक्षणम्, जीवस्य तु पारिणामिकभावो लक्षणमित्येवं लक्षणभेदाज्ज्ञानदर्शनादिपर्याया जीवाद्भिन्ना इति ' केइ इच्छंति ' केचिद्व्याख्यातारः इच्छन्ति–अभ्युपगच्छन्ति ॥ ३८ ॥ तन्मतं निरसितुमाह—

अह पुण पुव्वपयुत्तो अत्थो एगंतपक्खपडिसेहे ।
तहवि उयाहरणमिणं ति हेउपडिजोयणं वुच्छं ॥ ३९ ॥

' अह पुण ' अथ पुनः, पद्यप्यय ' एगंतपक्खपडिसेहे ' एकान्तपक्षस्य द्रव्यपर्यायैकान्तभेदाभेदवादस्य यः प्रतिषेधः तल्लक्षणः ' अत्थो ' अर्थः—

दव्वं पज्जयविउयं दव्वविउत्ता य पज्जया नत्थि ।
उप्पायट्ठिइभंगा हंदि दवियलक्खणं एयं ॥ १ । १२ ॥

इत्यादिना द्रव्यपर्यायौ कथञ्चिद्भिन्नाभिन्नौ परस्परविविक्तयोस्तयोः कदाचनाप्यप्रतिभासनादित्येवमनेकप्रकारेण ' पुव्वपयुत्तो ' पूर्वमेव प्रयुक्तो योजितः पूर्वप्रयुक्तः, अनेकान्ततत्त्वव्यवस्थापनात् ' तहवि ' तथापि ' ' हेउपडिजोयणं ' कथञ्चिद्भेदाभेदप्रसाधकस्य हेतोः केवलज्ञानपक्षे आत्मनः कथञ्चिद्भेदाभेदसाध्येन सह प्रतियोजनं नियतसाहचर्यलक्षणव्याप्तिप्रदर्शकप्रमाणविषयं ' उयाहरणमिणति वोच्छं ' उदाहरणमिदमिति वक्ष्ये ॥३९॥ तदेवाह—

जह कोइ सट्ठिवरिसो तीसइवरिसो नराहिवो जाओ ।
उभयत्थ जायसद्दो वरिसविभाग विसेसेइ ॥ ४० ॥

' जह कोइ ' यथा कश्चित् पुरुषः ' सट्ठिवरिसो ' षष्ठिवर्षः सर्वायुष्कमाश्रित्येति शेषः । ' तीसइवरिसो नराहिवो जाओ ' त्रिंशद्वर्षसमनराधिपो जातः, ' उभयत्थ ' उभयत्र मनुष्ये राजनि च ' जायसद्दो ' अयं मनुष्यो जातः, अयञ्च राजा जात इत्येवं प्रयुक्तो जात-

शब्दोऽय ' वरिसविभाग विसेसेइ ' वर्षविभाग विशेषयति दर्शयति, पष्टिवर्षायुष्कस्य पुरुष सामान्यस्य त्रिंशद्वर्षस्स नराधिपपर्यायोऽय जात, कथञ्चिदभेदसापेक्षभेदात्मकत्वात् पर्यायस्य, त्रिंशद्वर्षीयनराधिपपर्यायात्मकत्वेन चाय पुरुषः पुनर्जात', कथञ्चिद्भेदसापेक्षाभेदात्मकत्वात्सामान्यस्य । अयम्भावः—जन्मादिमरणकालपर्यन्तं पष्टिवर्षायुष्क पुरुषसामान्य राजकुमारपर्याययुवराजपर्यायनराधिपपर्यायानुगतमभिन्नमेव, सर्वेषु पूर्वोत्तरपर्यायेषु पुरुषोऽय पुरुषोऽयमित्यनुगतप्रतीतेः यदनुगतप्रतीतिविषयभूत तदभिन्नम्, स्थासकोशकुशूलादिपर्यायानुगतमृद्द्रव्यवत् । पूर्वोत्तरकालावच्छिन्नपूर्वापरपर्यायानुगतत्वेनोर्ध्वतासामान्यारूपस्य पुरुषद्रव्यस्यैव च राजकुमारयुवराजनराधिपाः पर्याया इति पर्यायस्वरूपतया तद्भिन्नमपि, पुरुषद्रव्यमेव राजकुमारत्वेन युवराजत्वेन नराधिपत्वेन चोत्पन्नमिति व्यवहृतेः । न च पुरुषद्रव्य तत्पर्याययोरेकान्तभेदाऽसङ्कथमस्तदन्यभिन्नमिति नाभिन्नपुरुषद्रव्यस्वरूपतया राजकुमारादिपर्याया अभिन्नाः, विभिन्नराजकुमारादिपर्यायतया पुरुषद्रव्यमपि नैवाऽभिन्नमिति वाच्यम्, यत एकान्तभेदे सम्बन्धाऽयोगेन पुरुषद्रव्यस्यैत राजकुमारादिपर्याया इति व्यवहृतिरेव न स्यात् । नन्वेव तर्हस्तु तयोरेकान्ताऽभेद एव, तैलस्य धारेति प्रतीतिवत् राहोशिर इति प्रतीतिवदभेदेऽपि पुरुषस्यैते राजकुमारादिपर्याया इति प्रतीत्युपपत्तेरिति न कथमपि कथञ्चिद्भेदाभेदावकाश इत्यपि न च वाच्यम्, जन्मादिमरणान्तकालवर्त्तित्वेनानुगत पुरुषद्रव्यमेक, राजकुमारादिपर्यायास्तु पुरुषद्रव्यस्यैवावस्थाविशेषा', तत्तत्कालोत्पन्नत्वेन भिन्नस्वरूपा इति पुरुषद्रव्यतत्पर्याययोर्विरुद्धधर्माध्यासाद्भेदेनाप्युपलब्धेर्नैकान्ताभेदस्तयोः, तथा च तयोर्मिथो नान्तरीयकतयैकतराऽभावे तदन्यस्याप्यभावाचो प्रमाणापर्णया कथञ्चिद्भिन्नाभिन्नौ, तथैव प्रतीयमानत्वादित्यभ्युपगन्तव्यम् ॥ ४० ॥ दृष्टान्त प्रसाध्य दार्ष्टान्तिके तदुपनयमाह—

> एवं जीवदव्वं, अणाइणिहणमविसेसिय जम्हा ।
> रायसरिसो उ केवलि–पज्जाओ तस्स स विसेसो ॥ ४१ ॥

' एव ' पूर्वोक्तदृष्टान्तनीत्या ' जीवदव्व अणाइनिहण ' जीवद्रव्यमनादिनिधनम् आदि च निधनञ्च आदिनिधने ते न विद्येते यस्य तदनादिनिधनम्, आद्यन्तरहितम्, कस्मादेव मित्यत आह—' अविसेसिय जम्हा ' यस्मादविशेषितम्–यथा पुरुषद्रव्य निर्विशेषितम् सामान्यरूप तथा जीवद्रव्यमपि निर्विशेष सामान्यरूपम् । अथ सामान्यं विशेषविकलमसद्रूपमिति पुरुषसामान्यस्य नराधिपत्वात्मको यो विशेष प्रागुक्तस्तत्सदृशो जीवद्रव्यस्य सामान्यरूपस्य को विशेष इत्याशङ्कानिवृत्त्यर्थमुत्तरार्द्धमाह–रायसरिसो इत्यादि । ' रायसरिसो उ ' राजसदृशस्तु पष्टिवर्षायुष्कत्रिंशद्वर्षीयराजत्वपर्यायसदृशस्तु ' केवलिपज्जाओ ' केवलिपर्यायः केवलित्वपर्याय, कालज्ञानात्मकपर्याय इति यावत् ' तस्स स विसेसो ' तस्य ऊर्ध्वतासामान्यात्मकतथाभूतजीवद्रव्यस्य स केवलित्वपर्यायो विशेषः । तथा च

पुरुषद्रव्यस्य राजत्वपर्यायः प्रागमन्नेनोत्पन्नस्तद्वज्जीवद्रव्यस्य केवलित्वपर्यायोऽपि पूर्वमसन्ने वोत्पन्न इति द्रव्यपर्याययोः कथञ्चिदभेदात्तदभिन्नजीवद्रव्यमपि तद्रूपेण कथञ्चिदुत्पन्नम्, केवलज्ञानञ्च छाद्मस्थिकज्ञाने नष्टे सत्येवोत्पद्यते इति प्राक्तनछाद्मस्थिकज्ञानाधारमकछद्मस्थत्वपर्यायविनाशे तद्रूपेण तदभिन्न जीवद्रव्य कथञ्चिद्विगतम्, न च तथापि कदापि पूर्वोत्तरपर्यायानुगतजीवद्रव्यसामान्यमुपयोगलक्षणामाधारणजीवस्वरूप परिजहाति, अन्यथा जीवोऽजीवत्व प्राप्नुयादिति तद्रूपेण ध्रुवमिति त्रिलक्षणात्मक जीवद्रव्यम्, हेमद्रव्य प्राक्तन कटकादिरूपेण विनष्ट सदुत्तराङ्गदादिपर्यायरूपेणोत्पन्नमपि नैव पूर्वोत्तरपर्यायपरित्यागोपादानप्रवृत्तमूर्ध्वतासामान्यात्मकम्स्वरूप कदापि परिजहातीति तद्रूपेण ध्रुवमिति त्रिलक्षणात्मकहेमद्रव्यवज्ज्ञेयम् । इत्यमेवोपदेशरहस्येऽपि "विकलप्रकाशपरिणामेन नष्टा ध्रुवा चेतनैव केवलज्ञानतया परिणमते इत्थमेव त्रैलक्षण्योपपत्ते" इत्युक्तम् । तथा च विकल प्रकाशपरिणतचेतनाया एव घातिकर्मक्षये सति सकलप्रकाशस्वभावकेवलज्ञानरूपेण परिणमनभावात्केवलज्ञानं कथंचित् सादि, परिणामपरिणामिनोश्च कथञ्चिदभेदात्त्रिकालानुयायि चेतनापरिणामरूपमेव केवलज्ञानमिति परिणामिभूतायाश्चेतनाया अनादित्वात्तदभिन्नकेवलज्ञानमपि तद्रूपेण कथञ्चिदनादि, अत एव परिणामिकारणस्वरूपतया कथञ्चिदभेदोत्तरपर्यायरूपकार्यस्वरूपतामधिगच्छतीति सिद्धान्तवप्रवादोऽपि प्रमाणकोटिमाटीकते । घातिकर्मक्षये सत्येव केवलज्ञानमुत्पद्यत इत्युत्पत्तिमत्त्वाच्च तत्सादि । तथा समयभेदेन भिन्नभिन्नरूपा. केवलज्ञानपर्यायाः शास्त्रे प्रोक्ता., "पढमसमयसजोगिभवत्थकेवलनाण अपढमसमय सजोगिभवत्थकेवलनाण" इति नन्दिसूत्रवचनात्, अत एव शुद्धगुणव्यञ्जनपर्यायात्मकस्य केवलज्ञानस्यापि ऋजुसूत्रादेशेन क्षणभेदभिन्नकेवलज्ञानपर्याया अर्थपर्याया इति मन्तव्यम् । तथा च केवलज्ञानस्य क्षणभेदाद् भेद सति प्रतिक्षणज्ञेयपरिणतिभेदेन तदवगाहित्वस्वभाव भेदेन भेद च सति तत्सपर्यवसानम् । यद्वा भवस्थकेवलज्ञानपर्यायसिद्धकेवलज्ञानपर्याय योरप्यर्थपर्यायत्वात् ताभ्या केवलज्ञानस्य विनाशोत्पत्तिभावात्तत्सपर्यवसानम्, क्षणभेदेन प्रतिक्षणज्ञेयपरिणतिभेदेन च भिन्नभिन्नकेवलज्ञानार्थपर्यायाणां केवलज्ञानशब्दवाच्यत्वा सर्वानुगत स्वभावगुणव्यञ्जनपर्यायाख्यकेवलज्ञानमिति तद्भावात्मककेवलमाश्र प्रतीत्याऽपर्यवसानमिति भावः ॥ ४१ ॥

नैकान्ततो द्रव्य पर्याययो भिन्नमेवेत्युपदर्शयितुमाह—

जीवो अणाइनिहणो 'जीव' त्ति य णियमओ ण वत्तव्वो ।
ज पुरिसाउय जीवो देवाउयजीवियविसिट्ठो ॥ ४२ ॥

'जीवो अणाइनिहणो' जीवोऽनादिनिधन' 'जीवत्ति य' जीव इति च, विशेषविकलो जीव एव, देवमनुष्यादिपर्यायाख्यविशेषेभ्य

'णियमओ ण वत्तव्वो' नियमतो न वक्तव्यम्, तत्र हेतुप्रदर्शनायोत्तरार्द्धमाह-'ज' यत्, यस्मात्, 'पुरिमाउयजीवो' पुरुषायुष्कजीवः 'देवाउयजीवियविसिट्ठो' देवायुष्कजीवितविशिष्टो-दवायुष्कजीवाद्भिन्नः। अयम्भाव:-द्रव्यस्य पर्यायेभ्य एकान्तभिन्नत्वात्तच्च दनात्मकमेवेत्यतो जीवोऽपि पर्यायेभ्यो भिन्नत्वात्तदनात्मक एवेति मनुष्यजीवदेवजीवादिविशेषात्मकं जीवद्रव्यं न, किन्तु जीवैकस्वरूपत्वादभिन्नमेवैकं तदित्यभ्युपगमे तु सामान्यैकरूपतया सर्वथाऽभिन्ने जीवे पुरुषायुष्कजीवो देवायुष्कजीवाद्भिन्न इति भेदप्रत्ययव्यवहारौ न स्याताम्, एवं पर्यायभेदैर्जीवभेदानभ्युपगमे मनुष्यजीवोऽयं देवजीवोऽयं तिर्यग्जीवोऽयं नारकजीवोऽयमित्यादिभेदप्रत्ययव्यवहारौ जीवे न स्याताम्, तन्निमित्तस्य मनुष्यजीवदेवजीवादिविशेषस्य त्वयाऽनभ्युपगमात्, त्वदभ्युपगतस्य केवलजीवसामान्यस्य तु तदनिमित्तत्वात्, अनुभवातीतत्वात्, भेदप्रत्ययव्यवहारयोर्निमित्तं विनाऽप्यभ्युपगमे सामान्यप्रत्ययव्यवहारयोरपि निमित्तं विनाऽपि सम्भवात्तन्निबन्धनभूतसामान्याभ्युपगमोऽप्ययुक्तस्स्यादिति सर्वाभावप्रसङ्गः। न च विशेषप्रत्ययव्यवहारयोर्मिथ्यात्वमेवेति वाच्यं, बाधारहितयोरपि तयोर्मिथ्यात्वाऽभ्युपगमे सामान्यप्रत्ययव्यवहारयोरपि मिथ्यात्वप्रसक्त्या सामान्यस्याप्यसिद्धिप्रसक्तिस्स्यात्। तस्मात्सामान्यप्रत्ययव्यवहारयोरिव विशेषप्रत्ययव्यवहारयोरपि प्रामाणिकतयैवाभ्युपगन्तव्यत्वेनानुगतसामान्यप्रतीतिव्यवहारसिद्धसामान्यजीवद्रव्यमबाधितविशेषप्रत्ययव्यवहारान्यथानुपपत्त्या विशेषात्मकमप्यभ्युपगन्तव्यमिति वस्तु द्रव्यपर्यायोभयात्मकं सिद्धमिति ॥ ४२ ॥

गुणगुणिनोः कथञ्चिद्भिन्नाभिन्नतयैव पूर्वं व्यवस्थापितत्वात् व्यवस्थापयिष्यमाणत्वाच्च केवलज्ञानस्य कथञ्चिदात्माऽव्यतिरेकादात्मनो वा केवलज्ञानाऽव्यतिरेकात्कथञ्चिदेकत्वात्तयोर्मिथो धर्मसङ्क्रम इति प्रतिपादयितुमाह—

> सखेज्जमसखेज्ज, अणतकप्प च केवल णाण।
> तह रागदोसमोहा, अण्णे वि य जीवपज्जाया ॥ ४३ ॥

वस्तुतत्त्वस्य प्रमाणनयैरधिगम इति प्रमाणार्पणया द्रव्यपर्याययोर्मिथोऽनुस्यूतत्वेनात्मा द्रव्यपर्यायोभयात्मकं', द्रव्यार्थिकनयविवक्षायां त्वेकद्रव्यरूपत्वात् स एकः', कथञ्चित्तदभिन्नं केवलज्ञानमप्येकम्, पर्यायार्थिकनयविवक्षाया तत्तत्पर्यायभेदभिन्नरूपत्वात्सङ्ख्येयासङ्ख्येयपर्यायरूप आत्मेति तदभिन्नकेवलज्ञानमपि सङ्ख्येयरूपमसङ्ख्येयरूपञ्चेत्याह-सखेज्जमसखेज्ज इति, 'अणतकप्प च केवल णाण' ज्ञेयज्ञानयो' कथञ्चिदभेदात् ज्ञेयाऽऽनन्त्यादनन्तकल्पमनन्तभेदं केवलज्ञानम्। अयम्भाव:-प्रतिक्षण भस्मनदपरापरकालकृतबालकुमारतरुणनरनारकत्वादिपर्यायैरुत्पादविनाशयोगेऽपि द्रव्यार्थतयैक एवात्मा, पूर्वापरपर्यायानुगतैकद्रव्यत्वादिति कथञ्चित्तदभिन्नं केवलमप्येकम्, केवलस्य वा ज्ञानदर्शनरूपतया द्विरूपत्वात्त-

द्रव्यव्यतिरिक्त आत्माऽपि द्विरूपः, प्रदेशार्थतया ह्यात्माऽसङ्ख्येयः, असङ्ख्येयप्रदेशात्मकत्वात्तस्य, प्रदेशप्रदेशिनोश्च कथञ्चिदभेदात्, असङ्ख्येयप्रदेशस्वरूपतयाऽऽत्मनोऽसङ्ख्येयत्वे च कथञ्चित्तदभिन्नं केवलमप्यसङ्ख्येयम्, विषयविषयिणोः कथञ्चिदभेदादनन्तार्थविषयकत्वेन केवलज्ञानमनन्तमिति तदभिन्न आत्माऽप्यनन्तः । यद्वा "अनन्तपर्यायं ज्ञेयानन्त्यात्" इति न्यायाचार्यश्रीयशोविजयोपाध्यायकृततत्त्वार्थविवरणोक्तेर्निखिलरूप्यरूपिविषयाऽऽनन्त्येन तदवगाहितयाऽनन्तपर्यायं केवलज्ञानम् । अयम्भावः-यमेकं विषयं येन स्वभावेनावगाहते केवलज्ञानं न तेनैव स्वभावेन विषयान्तरं, किन्तु भिन्नेनैवेति विषयाणामानन्त्ये नाखिलतत्तद्विषयावगाहनस्वभावात्मका अपि पर्याया अनन्ता एव तस्मिन्नित्येकस्मिन् समयेऽप्यनन्तपर्यायं तत्, समयान्तरेऽपि निखिलपदार्थानामुत्पादादित्रयात्मकत्वान्यथाऽनुपपत्त्या कथञ्चित्परावर्त्तनस्वभावानामत एव प्रतिसमयं भिन्नानां प्रत्येकं भिन्नभिन्नस्वभावतयाऽवगाहित्वेनानन्तपर्यायं तदिति तदभिन्न आत्माऽप्यनन्तपर्याय इति । "तह रागदोसमोहा अण्णे वि य जीवपज्जाया" केवलज्ञानं यथा सङ्ख्येयासङ्ख्येयानन्तभेदं तथैव रागद्वेषमोहा अन्येऽपि च जीवपर्याया ऽवस्थाविशेषा अपि सङ्ख्येयासङ्ख्येयानन्तभेदाः, यतश्छद्मस्थस्यैकस्यापि जीवस्य तत्तत्कालभेदेन रागद्वेषमोहाद्यालम्बनानि सङ्ख्येयासङ्ख्येयानन्तभेदात्मकानीत्यालम्ब्यभेदात्तेऽपि तत्सङ्ख्यकाः, तदात्मकत्वात्समार्थात्माप्युक्तभेदात्मकोऽवगन्तव्यः । सोमिलनामब्राह्मणप्रश्नप्रतिवचनरूपं पञ्चमाङ्गाष्टादशशतकदशमोद्देशकसूत्रमप्येतदर्थं संवदति, तथा च तत्सूत्रम्-एगे भवं दुवे भवं अक्खए भवं अव्वए भवं अवट्ठिए भवं अणेगभूयभावभविए भवं ? सोमिला ! एगे वि अहं जाव अणेगभूयभावभविए वि अहं । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ जाव भविए वि अहं ? सोमिला ! दव्वट्ठयाए एगे अहं, नाणदंसणट्ठयाए दुवे अहं, पएसट्ठयाए अक्खए वि अहं, अव्वए वि अहं, अवट्ठिए वि अहं, उवयोगट्ठयाए अणेगभूयभावभविए वि अहं, से तेणट्ठेणं जाव भविए वि अहं" इति । रागादीनां चैकाद्यनन्तभेदत्वमात्मपर्यायत्वात्, यो ह्यात्मपर्यायः स एकाद्यनन्तभेदः, यथा केवलावबोधः, आत्मपर्यायाश्च रागादयः, तस्मादेकाद्यनन्तभेदास्ते इति द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयाभ्यां स्थित्युत्पत्तिनिरोधात्मकत्वमर्हत्यपि सिद्धमिति ।

एतावता सम्मतिटीकैकवाक्यतापन्नेन व्याख्यानेन यथाश्रुतार्थमव्यगमबोधफलावाप्तिमात्रकृतकृत्यानां पूर्वोत्तरपक्षभावावबद्धमूलगाथाकदम्बान्यतमावगततज्ज्ञानदर्शनोपयोगद्वययौगपद्याभ्युपगन्तृमहनीयमान्य-श्रीमल्लवादिमत- तत्क्रमिकत्वाभ्युपगन्तृपूज्यपादश्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणमत तद्द्वयाऽभेदोररीकर्तृ सम्मतितर्कप्रणेतृश्रीसिद्धसेनदिवाकरमतानां शासनप्रभावकसूरित्रयाणां त्वमन्दहृदयाह्लादसुखतालक्षणमाध्यस्थ्यावान्तस्वान्तःकरणानां प्रदर्शितयुक्तिकदम्बोपेतमाननिर्णीताखिलवस्तुगतोत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वलक्षणसत्त्वसमर्थितसमव्याप्ताऽनिरुद्धभेदाभेद-नित्याऽनित्यत्वाद्यनन्तधर्मात्मकत्वलक्षणानेकान्तत्वमाननादृढा-

वाप्तिसम्भावितकतिपयोत्तरकालभाविसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणात्मकरत्नत्रयस्वरूपमुक्त्य-वन्ध्यकारणाप्तिप्रभवाष्टविधकर्मात्यन्तिकक्षयावश्यम्भाविस्वस्वरूपाखण्डनित्याऽबाध्यपरमानन्दमनोरथानां न प्रस्तुतार्थं समीहितं किञ्चिज्ज्ञातव्यमवशिष्टमिति न तान् यथाश्रुतग्राहिणः समुद्दिश्य वक्तव्यम्। येऽपि तत्तन्मतैकान्तश्रद्धाप्लावितान्तःकरणतया तत्स्वरूपणाव्यतिरिक्तप्ररूपणादर्शनेऽपि पराङ्मुखा यथा तथा स्वस्वश्रद्धेयपक्षोद्गार-कदाग्रहग्रहिलत्वेनापरपक्षयुक्तिमात्रं मानोपेतमपि कदाग्रहविजृम्भितमेवेत्यभिमन्यमानास्तान् प्रति परपक्षदिग्दर्शनमप्यऽनाकाङ्क्षितत्वादरमणीयमिति न तानुद्दिश्याऽपि किञ्चिद् वक्तव्यम्, ये तु स्याद्वादराद्धान्तसम्मततात्पर्यमभिमन्यमाना नात्र भवितव्यं क्वचिदप्यंशे विरोधेन, आपाततः परस्परविरुद्धतया भासमानोऽप्यंशोऽपेक्षाभेदेन परिहृतविरोध एव स्याद्वादराद्धान्तघटकः, नाऽन्यथेति तथाविधांशेऽपेक्षाभेदान्वेषणपरायणाः कथमपि स्वसन्देहपथमुपनतवस्तुन्यऽसन्दिग्ध धियस्तु तथाविदग्धपरीक्षकवचनशुश्रूषवश्च तान् प्रतीदं किञ्चिदुपदर्श्यते—

नन्वर्हच्छास्त्रग्रन्थिस्थानगमेद्विजोपममतिभिरेभिर्महनीयमहत्तमाचार्यत्रयमत्कपक्षत्रयान्यतमस्यैकस्यैव पक्षस्य वस्तुगत्या प्रामाणिकत्वेन तद्भिन्नपक्षद्वयस्यार्हच्छास्त्रबाधितत्वात्तत्पक्षाभ्युपगन्तॄणामर्हच्छास्त्रविपरीतश्रद्धाशालित्वान्मिथ्यात्वप्रसङ्ग इति न चात्र शास्त्रतत्त्वज्ञैराशङ्कनीयम्, प्रत्यात्मप्रदेशानुस्यूताविच्छिन्नार्हच्छासनानुरागशुभोपायालङ्कृतानामविच्छिन्नगुरुपरम्पराऽऽयातसूत्रतात्पर्यमपक्षपातेन तन्वता विदुषा मिथ्याभिनिवेशाभावात्, तथाहि—स्वाग्रहाऽग्रहिलत्वान्नात्रयोऽपि सूरयः स्वस्वाभ्युपगतमर्थं शास्त्रतात्पर्यबाध प्रतिसन्धायाऽपि पक्षपातेन न प्रतिपन्नवन्तः, किन्त्वविच्छिन्नस्वस्वगुरुपरम्परायातप्रावचनिकपरम्परया शास्त्रतात्पर्यमेव स्वाभ्युपगतार्थानुकूलत्वेन प्रतिसन्धायेति न ते मिथ्याभिनिवेशिनः, वीतरागप्रभुप्रणीतशास्त्रतात्पर्यबाधप्रतिसन्धानपूर्वकाऽन्यथाश्रद्धानाभावात्, किञ्चानेकनयसमूहात्मके भगवत्प्रवचने—" नत्थि नएहिं विहूणं सुत्तं अत्थो अ जिणमए किंचि " इति सिद्धान्तवचनादनेन नयेनेदं सूत्रं प्रवृत्तम्, अनेन नयेन चेदमिति सम्भवितत्तन्नयसमालोचनां विना नैव तत्सूत्राणि याथार्थ्येन ज्ञायन्ते इत्यत्र स्वस्वगुरुसम्प्रदायाविच्छिन्नतत्तन्नयगर्भवाचनाप्रवाहायातास्त्रयोऽपि सूरिपक्षाः प्रमाणकोटिप्रविष्टा इति तेषां सूरीणां केषामपि नार्षसिद्धान्तोक्त्या मिथ्यात्वप्रसङ्गः, तथाहि—यत् सत्तत्क्षणिकमिति सामान्यव्याप्त्या निखिलवस्तुनस्सद्रूपत्वेन क्षणिकत्वमिति पूर्वपूर्वक्षणिकवस्तुनस्स्वोत्तरोत्तरक्षणिककार्यकर्तृरूपात्मकतया कारणत्वेन पूर्वपूर्वक्षणिकेनोत्तरोत्तरक्षणिककार्यं जायते इति पूर्वोत्तरक्षणवर्तिक्षणिकवस्तुद्वयकार्यकारणभावाऽभ्युपगन्तृबौद्धमतप्रकृत्यर्जुसूत्रनयापेक्षया केवलज्ञानकेवलदर्शनसूत्राभिप्रायं व्यवस्थापयन्तः पूर्वोत्तरक्षणवर्तिनोः ऋजुसूत्राभ्युपगतकार्यकारणभावाश्च एव प्रस्तुतोपयुक्तः न त्वर्जुसूत्राभ्युपगतनिखिलतत्त्वभाग इति तत्रौदासीन्यमुक्तकार्यकारणभावे च प्राधान्यमभिसन्दधाना केवलज्ञानकेवलदर्शनक्रमिकोत्पाद

पूज्यश्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणाः प्रतिपादयन्ति—यद्यपि चेतनालक्षणसामान्यात्मना केवलोपयोगलक्षणसामान्यात्मना वा केवलज्ञानकेवलदर्शनयोरैक्यमेव तथापि सामान्य विशेषभेदग्राहित्वात् तदुभयभेदग्राहकवैशेषिकनैयायिकमतप्रकृतिव्यवहारनयापेक्षया केवलज्ञानकेवलदर्शनसूत्राभिप्रायमुररीकुर्वन्तो व्यवहारनयाभ्युपगतभेदान्यतरत्वमार्गे औदासीन्य भजमानाः तदभ्युपगतभेदमात्रस्य प्रस्तुतोपयुक्तत्वाच्च प्रधानीकृत्य एकसमयावच्छिन्नो दयिककेवलज्ञानकेवलदर्शनभेदं जगदर्चपादाब्जश्रीमल्लवादिन ऊचुः—" सदेव सोम्येदमग्र आसीत्, एकमेवाद्वितीयम्, नेह नानास्ति किञ्चन " इत्यादिश्रुत्या घटः सन् पटः सन्नित्याद्यनुगतप्रत्ययगोचरीभूतेन सत्त्वेन रूपेणैकत्वेन सर्वजगतो घटत्वपटत्वाद्युपाधिभेदेन च काल्पनिकभेदो यद्वाऽखण्डसच्चिदानन्दात्मकत्वेनैकत्वेन ब्रह्मणो माया वच्छिन्नत्वान्तःकरणावच्छिन्नत्वोपाधिभेदेन च काल्पनिकभेदस्तद्ग्राहिवेदान्तिमतप्रकृतिसङ्ग्रहनयापेक्षया केवलज्ञानकेवलदर्शनसूत्राभिप्रायमभ्युपगच्छन्त प्रवचनोपनिषद्वेदिमहावर्कवादिमदगजकेसरी श्रीसिद्धसेनदिवाकरा , न तु व्यक्त्या भेदं, केवलज्ञानव्यक्तेरेकत्वात्, किन्तु ज्ञानत्वदर्शनत्वधर्मोपाधिभेदेनैकस्यापि केवलज्ञानस्य भेदं कथयामासु , तथा चाविच्छिन्न प्रावचनिकपरम्पराऽऽयाततत्तन्नयगर्भसूत्रतात्पर्यं स्वाभ्युपगतार्थानुकूलत्वेन प्रतिसन्धाय प्रतिपन्नवतां त्रयाणामपि सूरिभगवतां मध्ये नैकोऽपि स्वाभ्युपगतेऽर्थे भगवत्प्रणीतशास्त्रतात्पर्यबाधं प्रतिसन्धायैव पक्षपातेन समर्थं श्रद्धत्ते इति तत्र शास्त्रतात्पर्यबाधप्रतिसन्धानाभाववति " विदुषोऽपि स्वरसवाहिभगवत्प्रणीतशास्त्रबाधितार्थश्रद्धानमाभिनिवेशिकम् " इति लक्षणाऽसङ्गतेर्नैकस्मिन्नपि सूरिवरे आभिनिवेशिकमिथ्यात्वप्रसङ्गः, प्रतिपादितश्चोक्तमतत्रयेऽपि तत्तन्नयापेक्षाभेदप्रयोज्य प्रामाण्य न्यायाचार्यश्रीयशोविजयोपाध्यायैर्ज्ञानबिन्दौ—

" प्राचां वाचां विमुखविषयोन्मेषसूक्ष्मेक्षिकाया,
येऽरण्यानी भयमधिगता न्यायमार्गाऽनभिज्ञाः ।
तेषामेषा समयवणिजां सम्मतिग्रन्थगाथा,
विश्वासाय स्वनयविपणिप्राज्यवाणिज्यवीथी ॥ १ ॥
भेदग्राहिव्यवहृतिनयं संश्रितो मल्लवादी,
पूज्याः प्रायः करणफलयोस्सीम्नि शुद्धर्जुसूत्रम् ।
भेदोच्छेदोन्मुखमधिगत सङ्ग्रहं सिद्धसेन,
तस्मादेते न खलु विषमाः सूरिपक्षास्त्रयोऽमी(पि) ॥ २ ॥
चित्सामान्य युगपदभाक्केवलाख्ये विशेषे,
तद्रूपेण स्फुटमभिहित साद्यनन्त यदेव ।
सूक्ष्मैरंशैः क्रमवदिदमप्युच्यमानं न दुष्ट,
तत्सूरीणामियमभिमता मुख्यगौणव्यवस्था ॥ ३ ॥

तमोपगमचिज्जनुः क्षणभिदानिदानोद्भवाः,
श्रुताः बहुतराः श्रुते नयविवादपक्षा यथा ।
तथा क इव विस्मयो भवतु सूरिपक्षत्रये,
प्रधानपदवी धिया क नु दवीयसी दृश्यते ॥ ४ ॥
प्रसह्य सदसत्त्वयोर्न हि विरोधनिर्णायकम्,
विशेषणविशेष्ययोरपि नियामक यत्र न ।
गुणाऽगुणविभेदतो मतिरपेक्षया स्यात्पदात्,
किमत्र भजनोर्जिते स्वसमये न सङ्गच्छते ॥ ५ ॥
प्रमाणनयसङ्गता स्वसमयेऽप्यनेकान्तधी—
र्नयस्मयतटस्थतोल्लसदुपाधिकिर्मीरिता ।
कदाचन न बाधते सुगुरुसम्प्रदायक्रम,
समञ्जसपद वदन्त्युरुधियो हि सद्दर्शनम् ॥ ६ ॥
रहस्य जानन्ते किमपि न नयानां हतधियो,
विरोध भापन्ते विविधबुधपक्षे खल खलाः ।
अमी चन्द्रादित्यप्रकृतिविकृतिव्यत्ययगिराः(रो),
निरातङ्काः कुत्राप्यहह न गुणान्वेषणपराः ॥ ७ ॥" इति ।

प्राचामिति-'ये नव्यमार्गानभिज्ञाः प्राचां वाचा विमुखविषयोन्मेषसूक्ष्मेक्षिकाया अरण्यानीभयमधिगता' तेषा समयवणिजा विश्वासाय एषा सम्मतिग्रन्थगाथा सुनयविपणि प्राज्यवाणिज्यपरीतीत्यन्वयः । सङ्क्षेपतस्तदर्थस्त्वयम्-ये प्रमातृविशेषा नव्यमार्गानभिज्ञा यन्मार्गानुसरणतः केवलज्ञानकेवलदर्शनयौगपद्यक्रमाभिन्नैक्यरूपपक्षत्रयाणामपि पूर्वोक्त सूरित्रयप्रतिपादितानामविरोधभावप्राप्तिः सुखेनोपजायते तथाभूत नव्यमार्गमजानन्त' प्राचां वाचा प्राचीनयौगपद्याद्यभ्युपगन्तृसूरित्रयवचमा विमुग्धविषयोन्मेषसूक्ष्मेक्षिकायाम् आपाततः परस्परविरोधभाक्तत्तत्सूरिपक्षप्रतिपाद्यविषयेऽपि वस्तुगत्या नैव विरोध इति प्रतिपत्तिकृत्तत्तन्नयमर्मसूक्ष्मविचारणायां नव्यमार्गानभिज्ञत्वादेव अरण्यानीभयमधिगताः अतिगहनतरुगुल्मकण्टकलतादिमयवनमध्योपगतानां तत्पारगमनमार्गमपश्यतां यादृशम रण्यावलोकनतस्करादिप्रभव भय भवति तादृश भयमधिगताः प्राप्ताः, तेषा समयवणिजा जैनागमगतापूर्वतत्त्वरत्नपरीक्षाव्यापारपरायणानां, विश्वासाय प्राचां वचनेषु श्रद्धोत्पाद- नाय स्वनया एव परस्परसापेक्षभाव गता अन्यायौदासीन्यनैकांशग्राहिणस्स्वनया अर्हत्प्रद र्शितनया एव विपणि, सुनयति पाठे तु सुनया एव विपणि' क्रयविक्रयस्थान तत्र प्राज्य प्रकृष्ट यद्वाणिज्य क्रयविक्रयलक्षण वणिजां कर्म तस्य वीथी-मार्गः, एषा सम्मति- ग्रन्थगाथा यथास्थान तद्गमताधिगतये मया दर्शितेति शेष ॥ १ ॥

नयभेदावलम्बनेन केवले स्वस्वाभ्युपगमविशेषमुपवर्णयतां त्रयाणामपि सूरिप्रवराणामनेकनयमयजैनसिद्धान्तानतिक्रमणमेवेत्युपदर्शयितुमाह–भेदग्राहीति। यद्यपि चिल्लक्षण सामान्यात्मना केवललक्षणसामान्यात्मना वा ज्ञानदर्शनयोरैक्यमेव तथापि तयोर्भेदं ग्रहीतु शील यस्य स भेदग्राहिणं व्यवहृतिनयं सश्रित'–तमवलम्ब्य तयोर्यौगपद्याभ्युपगमे प्रवृत्तो मल्लवादी, एकस्मिन्नेव समये विभिन्नकार्यजनकसामग्र्योस्सन्निपाते युगपदेव कार्य द्वय भवितुमर्हति, सामग्रीक्रमाभावे विभिन्नस्वरूपकार्ययोः क्रमस्याभ्युपगन्तुमनर्हत्वाद्विभिन्नस्वभावयोस्तयोरैक्याभ्युपगमस्याप्यन्याय्यत्वादिति भेदग्राहिव्यवहृतिनयमाश्रितवतो महनीयमान्यमल्लवादिनो ज्ञानदर्शनयौगपद्याभ्युपगमन न्याय्यमेवेति हृदयम्। यद्वा 'भेद ग्राही' इति पाठे स्वेतत्पद मल्लवादीत्यस्य विशेषणम्, तथा च भेदग्राही मल्लवादी व्यवहृति नय संश्रित इत्यन्वयः। पूज्याः श्रीमन्तो जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणा० प्रायो बाहुल्येन, येषां मतिज्ञानाद्युपयोगानामन्तर्मुहूर्त्तावस्थान सिद्धान्तनिर्णीतमित्थम्–पूर्वमत्याद्युपयोग' कञ्चित्काल स्वस्थितिमनुभूयैवान्ते उपयोगान्तरलक्षणकार्य जनयति, नोत्पत्त्यनन्तरमेवेति तेषु मतिज्ञानाद्युपयोगेषु क्षणिका एव सर्वे भावा इति पूर्वपूर्वक्षणानामुत्तरोत्तरक्षणकुर्वद्रूपस्वरूपाणां स्वोत्पत्त्यनन्तरक्षण एव स्वकार्यकारित्वमित्यभ्युपगमप्रवणऋजुसूत्रसमाश्रयणाभावेऽपि केवलोपयोगस्थले पूर्वक्षणे ज्ञानोपयोगस्तदनन्तरक्षण एव दर्शनोपयोगस्तदनन्तरक्षण एव ज्ञानोपयोग इत्येवमुपयोगधाराया आगमसिद्धाया निर्वाहायाव तदाश्रयणमित्यावेदयितु मुक्तं प्राय इति, करणफलयोस्सीम्नि कार्यकारणभावव्यवस्थालक्षणमर्यादाया, शुद्धर्जुसूत्र–वचनव्यत्यासेन संश्रिता इत्यस्यानुकर्षेण सम्बन्धः, ये केवलज्ञानदर्शनयोर्यौगपद्यमुररीकुर्वन्ति ये वा तयोरैक्यमभ्युपगच्छन्ति तेषामपि मते द्वितीयादिक्षणे उत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणसत्त्वोपपत्तये केवलोपयोगस्य केनचिद्रूपेणोत्पादः केनचिद्रूपेण विनाशः केनचिद्रूपेण ध्रौव्यमभ्युपेयमेवेति, तत्र पूर्वपूर्वकेवलपर्यायस्योत्तरोत्तरकेवलपर्यायहेतुत्वाभ्युपगमत एव केवलोपयोगधारोपपत्तिरिति तत्र शुद्धर्जुसूत्रसमाश्रयणेन केवलदर्शनकुर्वद्रूपात्मकेन केवलज्ञानेन केवलज्ञानकुर्वद्रूपात्मकस्य केवलदर्शनस्योत्पत्तिस्तथाविधेन केवल दर्शनेन तथाविधस्य केवलज्ञानस्योत्पत्तिरित्येव केवलोपयोगधारा निराबाधैव, तदपेक्षयाऽपर्यवसितत्वमपि सुसङ्गतम्। यथा च घटविषयकविज्ञानपटविषयकविज्ञानमठविषयकविज्ञानाद्यविच्छिन्नप्रवाहस्य प्रवृत्तिविज्ञानसन्तानत्व प्रवृत्तिविज्ञानत्वेन घटपटादिविज्ञानानां साजात्यमुपादाय निर्वहति, अन्यथा घटविज्ञानत्वादिना घटपटादिविज्ञानाना प्रत्यक्षत्वानुमान त्वादिना वा प्रत्यक्षानुमानादीनां च साजात्याभावात्प्रवृत्तिविज्ञानसन्ततिरपि जाग्रद्दशा भाविनी न स्यात्, तथा केवलज्ञानकेवलदर्शनयो. केवलज्ञानत्वेन केवलदर्शनत्वेन वा साजात्याभावेऽपि केवलोपयोगत्वेन साजात्यात्प्रथम केवलज्ञान ततः केवलदर्शन ततः केवलज्ञानमित्येव केवलोपयोगाविच्छिन्नप्रवाहलक्षणा

तमोपगमचिज्जनुः क्षणभिदानिदानोद्भवाः,
श्रुताः बहुतराः श्रुते नयविवादपक्षा यथा ।
तथा क इव विस्मयो भवतु सूरिपक्षत्रये,
प्रधानपदवी धियां क नु दवीयसी दृश्यते ॥ ४ ॥
प्रसह्य सदसत्त्वयोर्न हि विरोधनिर्णायकम्,
विशेषणविशेष्ययोरपि नियामकं यत्र न ।
गुणाऽगुणविभेदतो मतिरपेक्षया स्यात्पदात्,
किमत्र भजनोर्जिते स्वसमये न सङ्गच्छते ॥ ५ ॥
प्रमाणनयसङ्गता स्वसमयेऽप्यनेकान्तधी—
र्नयस्मयतदस्थतोल्लसदुपाधिकिर्मीरिता ।
कदाचन न बाधते सुगुरुसम्प्रदायक्रम,
समञ्जसपदं वदन्त्युरुधियो हि सद्दर्शनम् ॥ ६ ॥
रहस्य जानन्ते किमपि न नयाना हतधियो,
विरोध भाषन्ते विविधबुधपक्षे बत खलाः ।
अमी चन्द्रादित्यप्रकृतिविकृतिव्यत्ययगिराः(रो),
निरातङ्काः कुत्राप्यहह न गुणान्वेषणपराः ॥ ७ ॥" इति ।

प्राचामिति-ये नव्यमार्गानभिज्ञाः प्राचां वाचां विमुखविषयोन्मेषसूक्ष्मेक्षिकाया अरण्यानीभयमधिगता' तेषां समयवणिजां विश्वासाय एषा सम्मतिग्रन्थगाथा सुनयविपणि प्राज्यवाणिज्यवीथीत्यन्वयः । सङ्क्षेपतस्तदर्थस्त्वयम्–ये प्रमातृविशेषा नव्यमार्गानभिज्ञा यन्मार्गानुसरणतः केवलज्ञानकेवलदर्शनयौगपद्यक्रमाभेदैक्यरूपपक्षत्रयाणामपि पूर्वोक्तसूरित्रयप्रतिपादितानामविरोधभावप्राप्ति' सुखेनोपजायते तथाभूत नव्यमार्गमजानन्तः प्राचां वाचां प्राचीनयौगपद्याद्यभ्युपगन्तृसूरित्रयवचसां विमुखविषयोन्मेषसूक्ष्मेक्षिकायाम् आपाततः परस्परविरोधमाकलयन्सूरिपक्षप्रतिपाद्यविषयेष्वपि वस्तुगत्या नैव विरोध इति प्रतिपत्तिकृत्तत्त्वमर्मसूक्ष्मविचारणाया नव्यमार्गानभिज्ञत्वादेव अरण्यानीभयमधिगताः अतिगहनतरुगुल्मकण्टकलतादिमयवनमध्योपगताना तत्पारगमनमार्गमपश्यतां यादृशम् रण्यावलोकनतस्करादिप्रभव भय भवति तादृश भयमधिगताः प्राप्ताः, तेषां समयवणिजां जैनागमगतापूर्वतत्त्वरत्नपरीक्षाव्यापारपरायणाना, विश्वासाय प्राचां वचनेषु श्रद्धोत्पादनाय स्वनया एव परस्परसापेक्षभाव गता अन्याशौदासीन्येनैकांशग्राहिणस्स्वनया अर्हत्प्रदर्शितनया एव विपणि , सुनयवि पाठे तु सुनया एव विपणि' क्रयविक्रयस्थान तत्र प्राज्य सुरकृष्ट यद्वाणिज्य क्रयविक्रयलक्षण वणिजां कर्म तस्य वीथी–मार्गः, एषा सम्मतिग्रन्थगाथा यथास्थान तत्तन्मताविगतय मया दर्शितेति शेषः ॥ १ ॥

नयभेदावलम्बनेन केवले स्वतन्त्राभ्युपगमविशेषमुपवर्णयतां त्रयाणामपि सूरिप्रवराणाम-नेकनयमयजैनसिद्धान्तानतिक्रमणमेवेत्युपदर्शयितुमाह–भेदग्राहीति । यद्यपि चिल्लक्षणसामान्यात्मना केवललक्षणसामान्यात्मना वा ज्ञानदर्शनयोरैक्यमेव तथापि तयोर्भेदं ग्रहीतुं शीलं यस्य स भेदग्राही व्यवहृतिनयः संश्रितः–तमवलम्ब्य तयोर्यौगपद्याभ्युपगमे प्रवृत्तो मल्लवादी, एकस्मिन्नेव समये विभिन्नकार्यजनकसामग्र्योः सन्निपाते युगपदेव कार्यं द्वयं भवितुमर्हति, सामग्रीक्रमाभावे विभिन्नस्वरूपकार्ययोः क्रमस्याभ्युपगन्तुमनर्हत्वात्, द्वि-भिन्नस्वभावयोस्तयोरैक्याभ्युपगमस्याप्यन्याय्यत्वादिति भेदग्राहिव्यवहृतिनयमाश्रितवतो महनीयमान्यमल्लवादिनो ज्ञानदर्शनयौगपद्याभ्युपगमनं न्याय्यमेवेति हृदयम् । यद्वा 'भेदग्राही' इति पाठे स्वतन्त्रपदं मल्लवादीत्यस्य विशेषणम्, तथा च भेदग्राही मल्लवादी व्यवहृतिनयं संश्रित इत्यन्वयः । पूज्याः श्रीमन्तो जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणाः प्रायो बाहुल्येन, येषां मतिज्ञानाद्युपयोगानामन्तर्मुहूर्तावस्थानं सिद्धान्तनिर्णीतमित्यतः–पूर्वमत्याद्युपयोगः कञ्चित्कालं स्वस्थितिमनुभूयैवान्ते उपयोगान्तरलक्षणकार्यं जनयति, नोत्पत्त्यनन्तरमेवेति तेषु मतिज्ञानाद्युपयोगेषु क्षणिका एव सर्वे भावा इति पूर्वपूर्वक्षणानामुत्तरोत्तरक्षणकुर्वद्रूपस्वरूपाणां स्वोत्पत्त्यनन्तरक्षण एव स्वकार्यकारित्वमित्यभ्युपगमप्रवणशुद्धर्जुसूत्रसमाश्रयणाभावेऽपि केवलोपयोगस्थले पूर्वक्षणे ज्ञानोपयोगस्तदनन्तरक्षण एव दर्शनोपयोगस्तदनन्तरक्षण एव ज्ञानोपयोग इत्येवमुपयोगधाराया आगमसिद्धाया निर्वाहाय च तदाश्रयणमित्यावेदयितु युक्त प्राय इति, करणफलयोस्सीम्नि कार्यकारणभावव्यवस्थालक्षणमर्यादायां, शुद्धर्जुसूत्र–वचनव्यत्यासेन संश्रिता इत्यस्यानुरूपेण सम्बन्धः, ये केवलज्ञानदर्शनयोर्यौगपद्य-मुररीकुर्वन्ति ये वा तयोरैक्यमभ्युपगच्छन्ति तेषामपि मते द्वितीयादिक्षणे उत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणसत्त्वोपपत्तये केवलोपयोगस्य केनचिद्रूपेणोत्पादः केनचिद्रूपेण विनाशः केनचिद्रूपेण ध्रौव्यमभ्युपेयमेवेति, तत्र पूर्वपूर्वकेवलपर्यायस्योत्तरोत्तरकेवलपर्यायहेतुत्वाभ्युपगमत एव केवलोपयोगधारोपपत्तिरिति तत्र शुद्धर्जुसूत्रसमाश्रयणेन केवलदर्शनकुर्वद्रूपा-त्मकेन केवलज्ञानेन केवलज्ञानकुर्वद्रूपात्मकस्य केवलदर्शनस्योत्पत्तिस्तथाविधेन केवलदर्शनेन तथाविधस्य केवलज्ञानस्योत्पत्तिरित्येव केवलोपयोगधारा निराबाधैव, तदपेक्षयाऽ-पर्यवसितत्वमपि सुसङ्गतम् । यथा च घटविषयकविज्ञानपटविषयकविज्ञानमठविषयकविज्ञानाद्यविच्छिन्नप्रवाहस्य प्रवृत्तिविज्ञानसन्तानस्य प्रवृत्तिविज्ञानत्वेन घटपटादिविज्ञानानां साजात्यमुपादाय निर्वहति, अन्यथा घटविज्ञानत्वादिना घटपटादिविज्ञानानां प्रत्यक्षत्वानुमानत्वादिना वा प्रत्यक्षानुमानादीनां च साजात्याभावात्प्रवृत्तिविज्ञानसन्ततिरपि जाग्रद्दशाभाविनी न स्यात्, तथा केवलज्ञानकेवलदर्शनयोः केवलज्ञानत्वेन केवलदर्शनत्वेन वा -साजात्याभावेऽपि केवलोपयोगत्वेन साजात्यात्प्रथमं केवलज्ञानं ततः केवलदर्शनं ततः केवलज्ञानमित्येवं केवलोपयोगाविच्छिन्नप्रवाहलक्षणा केवलोपयोगसन्ततिरनाकुलमवतिष्ठते

इत्यभिप्रायवतां पूज्यानां जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणानां मतमतिमनोहरमेवेति। सिद्धसेनः-केवलज्ञानमेव केवलदर्शनं, न तयोर्भेद इत्यभ्युपगन्ता सम्मतितर्कप्रणेता सिद्धसेनदिवाकरस्तु, भेदोच्छेदोन्मुख-केवलज्ञानदर्शनयोर्यो भेदस्तदुच्छेदपरं तयोरैक्यमेवेत्यभ्युपगमपरसङ्ग्रहमाश्रितः-उक्तसङ्ग्रहमवलम्ब्य केवलज्ञानदर्शनयोरैक्यं स्वीकृतवान्, केवलज्ञानदर्शनयोरैक्ये यदेव केवलज्ञानावरणं तदेव केवलदर्शनावरणमिति तत्क्षयलक्षणकारणघटितसामग्र्या एकत्वात्सामग्रीभेदाभावाच्च यौगपद्यं तयोः; नापि च केवलदर्शनम्प्रति केवलज्ञानस्य कारणत्वान्तरं गौरवावहं कल्पनीयमिति न तयोः क्रमोऽपि, किन्त्वेकस्याप्येकसामग्रीतो जायमानस्य केवलोपयोगस्याशेषसामान्यविषयकत्वाद्दर्शनत्वमशेषविशेषविषयकत्वाज्ज्ञानत्वमित्युपाधिप्रयुक्तो भेदः, न तु वस्तुगत्येति युक्तम्। तथा च सर्वनयमये स्याद्वादे तत्तन्नयभेदावलम्बनेन तत्तत्पक्षप्रणयनप्रवणास्त्रयोऽपि सूरयः स्याद्वादसेवैकरसिका एवेति तेषां पक्षा युक्त्युपपन्नत्वान्न विषमा इत्युपसंहरति-तस्मादिति स्पष्टम्।

अत्र-'अपि' इत्यस्य स्थाने 'अमी' इत्यपि पाठः ॥२॥ यथा चोपयोगलक्षणो जीव इति निरुपयोगस्स कदापि न भवतीति चित्सामान्यमुपयोगापराभिधानमनाद्यनन्तमेव तद्रूपं यत्पुरुषपदेनोच्यते तस्यैव च केवलोपयोगो विशेषस्सादिरनन्तश्चेति केवलोपयोगात्मना तदपि चित्सामान्यपर्यवसितमिति गीयते, तथा तदेव चित्सामान्यं स्वविशेषस्य केवलोपयोगस्य यौ विशेषौ ज्ञानदर्शनस्वभावौ साकारोपयोगनिराकारोपयोगौ तद्रूपसूक्ष्मांशापेक्षया क्रमिकमपि सम्भवति। तथा च केवलोपयोगस्यैव चित्सामान्यविशेषस्य मुख्यतया विवक्षितत्वे तदंशयोरवान्तरविशेषयोस्साकारानाकारोपयोगयोस्तद्रूपप्रविष्टत्वेन गौणतया विवक्षितत्वे साद्यपर्यवसितत्वं, साकारानाकारोपयोगयोरेव मुख्यतया विवक्षितत्वे उपयोगसामान्यस्य च गौणतयाऽऽश्रयणे क्रमिकत्वमित्येवं व्यवस्था सूरीणामभिमता सूपपादेत्याशयेनाह-चित्सामान्यमिति, केवलाख्ये विशेषे पुरुषपदभाक्-पुरि वपुषि शेत इति पुरुषः आत्मा, पुरुषपदं भजते सेवत इति पुरुषपदभाक्, स्याद्वादसिद्धान्ते गुणगुणिनोः कथञ्चिदभेदादात्मवाचिपुरुषपदवाच्यं यदेव चित्सामान्यं तदेव तद्रूपेण-केवलरूपेण साद्यनन्तं स्फुटं यथा स्यात्तथाऽऽगमे अभिहितम्-गदितम्, इदं-तदेवेदं चित्सामान्यं सूक्ष्मैरंशैः ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणैः क्रमवदप्युच्यमानं पूज्यैरभिधीयमानं न दुष्टं दुष्टञ्च भवति, अपेक्षाभेदेनानन्तत्वक्रमिकत्वयोरेकत्र सत्त्वे विरोधाभावात्, तत्-तस्मात्कारणात्, सूरीणामिव मुख्यगौणव्यवस्थाऽभिमतेत्यर्थः ॥ ३ ॥

यदेत्थं नयभेदावलम्बनेन सूरिपक्षत्रयाभिमतमुख्यगौणव्यवस्था सामञ्जस्यमञ्चति तदा विस्मयोऽपि नात्र करणीयः, आगमे यथाऽन्ये नयविवादपक्षास्तथैतेऽपि सुसङ्गता एवेत्याह-तमोपगमेति। यद्यपि निरावृताजन्यसर्वदावस्थितस्वयमाविर्भूतचैतन्यस्वरूप एवात्मा निश्चयतस्तथापि मतिज्ञानाद्यावरणकर्मलक्षणतमसोऽपगमे सति चिज्जनुः चैतन्यस्य जन्म

भवति, क्षणभिदा प्रतिक्षणं चैतन्यमन्यदन्यदेव विशिष्टविशिष्टतरं भवति निदानोद्भवः स्वस्वनियतकारणतोऽस्योद्भव इत्याद्या नयविवादपक्षाः बहुतरा यथा श्रुते आगमे श्रुता अभिहिताः, अपेक्षाभेदेन तेषामुपपन्नत्वान्न तेषु कथमेतदघटमानं घटामटतीति विस्मयो भवति यथा, तथा सूरिपक्षत्रये क इव विस्मयो भवतु, न कोऽपि विस्मयः, पक्षत्रयस्यापि नयभेदावलम्बनेनोपपादितत्वात्, नु-वितर्के, क्व-सूरिपक्षत्रयमध्ये कस्मिन् पक्षे, धिया प्रधानपदवी दवीयसी दृश्यते, कापि न कुत्रापीत्यर्थः, सूरिपक्षत्रयमप्य-पेक्षाभेदेनोपपद्यत एवेति भावः ॥ ४ ॥

ननु विरोधे जाग्रति सति कथं पक्षत्रयमपि समीचीनतयाऽभ्युपगन्तुमर्हमित्यत आह-प्रसह्येति-यत्र स्वसमये जैनसिद्धान्ते, प्रसह्य हठादेव एकान्तत इति यावत्, सदसत्त्वयोः सत्त्वासत्त्वयोः, एतच्च नित्यत्वानित्यत्वादीनामप्युपलक्षणम्, विरोधनिर्णायकं यत्र सत्त्वं तत्र नासत्त्वमित्येवमेकाधिकरणावृत्तित्वलक्षणस्य विरोधस्य निर्णायकं निर्णय जनकं, न-नैव किञ्चित्, सत्त्वासत्त्वनित्यत्वाऽनित्यत्वाद्योर्विरुद्धयोरप्यपेक्षाभेदेनाविरु-द्धत्वात् स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावावच्छेदेन सत्त्वस्येव परद्रव्यक्षेत्रकालभावावच्छेदेनासत्त्वस्यापि द्रव्यापेक्षया नित्यत्वस्येव पर्यायापेक्षयाऽनित्यत्वस्यापि चैकस्मिन् वस्तुनि सत्त्वे बाधक प्रमाणाभावात्, कपिसंयोगतदभावयोरिव सत्त्वासत्त्वनित्यत्वानित्यत्वादीनामव्याप्यवृत्ति त्वेन भिन्नावच्छेदेन सामानाधिकरण्याऽनुभवात् तथा विशेषणविशेष्ययोरपि नियामकं न-इदमस्य विशेषणमिदञ्चास्य विशेष्यमित्येवं प्रतिनियतविशेषणविशेष्य भावस्यापि नियामकं न किञ्चित्, यद्यस्य विशेषणं तत्तस्य विशेष्यमपि सम्भवति, यद्यस्य विशेष्यं तत्तस्य विशेषणमपि सम्भवतीत्यर्थः । गुणेति स्यात्पदात्स्यादस्तीत्यादिवाक्या-स्यात्पदबलादस्तित्वादेः प्रधानतया नास्तित्वादेर्गौणतया अपेक्षया स्वस्वनिमित्तभेदापे क्षया मतिर्बोधो भवतीत्यतो भजनोर्जिते अपेक्षाभेदेन विरुद्धयोरप्यविरुद्धतया प्रतिपादके अत्र अस्मिन् स्वसमये जैनसिद्धान्ते किं न सङ्गच्छते-सर्वमेव सङ्गच्छते, स्याद्यौगपद्यं केवलज्ञानदर्शनयोः, स्यादैक्यं केवलज्ञानदर्शनयोः, स्यात्क्रमिकत्वं केवलज्ञानदर्शनयोः, स्यादपर्यवसितत्वं स्यात्पर्यवसितत्वञ्च तयोरित्येवं स्यात्पदयोजनया जैनसिद्धान्ते सर्वमेव नयभेदावलम्बनेन चतुरस्रमिति भावः ॥ ५ ॥

न केवलमन्यविषयेष्वेव स्याद्वादः किन्तु स्याद्वादेऽपि स्याद्वादोऽनेकान्तेऽप्यनेकान्तः स्याद्वादः स्यादेकान्तवादः स्यादनेकान्तवाद इति अनेकान्तः स्यादेकान्तः स्यादनेकान्त इति प्रमाणापेक्षया स्याद्वादत्वमनेकान्तत्वं च नयापेक्षयैकान्तवादत्वमेकान्तत्वञ्च, सेयमनेकान्तधी र्नयस्य प्राधान्यवादस्थ्यास्थां विवक्षागोचरतापन्नैकान्तत्वानेकान्तत्वाद्युपाधिसंवलितार्थाव-गाहिनी सती न गुरुसम्प्रदायसमबाधिका भवति, प्रत्युतैतत्यमेव सद्दर्शनं धीधना आशा सर्वथो

पपन्नतास्पद कथयन्तीत्याह-प्रमाणेति, स्वसमयेऽपि जैनसिद्धान्तेऽपि, स्याद्वादे अनेकान्तत्वे च, अनेकान्तधीः कथञ्चिदेकान्तवादत्वकथञ्चिरस्याद्वादत्वोभयधर्मप्रकारिका कथञ्चिदेकान्तत्वकथञ्चिदनेकान्तत्वप्रकारिका वा बुद्धिः, प्रमाणनयसङ्गता प्रमाणनयावलम्बनेनानेकान्तत्वादिस्वनिषयीभूतार्थे प्रवृत्ता नयस्य यः स्मयोऽभिमान' प्राधान्यमिति यावत्, या च नयस्य तदस्थता प्रमाणस्य प्राधान्ये नयस्य गौणता, ताभ्यामुल्लसन्तो वस्तुनि प्रकारतयाऽवभासमाना ये उपाधयोऽनेकान्तत्वादिधर्मास्तैः किर्मीरिता चित्रिता तादृशाशेषधर्मानगाहिनीति यावत्, एवम्भूता मती, सुगुरुसम्प्रदायक्रम सुगुरुपरम्पराम्युपगतार्थपरिपाटीं कदाचन न बाधते, प्रत्युतैवंविधाऽनेकान्तधीस्तत्परिपोषिकैव भवति, हि-यतः, उरुधियः धीवैभवशालिनः, समञ्जसपद समञ्जसस्थान यदाभ्युपगमे सति सर्वं समञ्जसं भवति सम्यगुपपद्यते तत् सद्दर्शनं वदन्ति, तदेव सद्दर्शनं यत्र सत्त्वासत्त्वादिक सर्वमपि वस्तुनि सङ्गतिमङ्गति, एवम्भूतश्च स्याद्वाद एवेति स्याद्वाद एव सद्दर्शनमिति भाव' ॥ ६ ॥

ये च नयानां तत्त्वमजानन्तः हतधियस्तत्परिपक्षेषु विरोधमुद्घोषयन्ति तानधिकृत्याह-रहस्यमिति, बत आश्चर्ये, आश्चर्यं खल्वेतत्, खला दुर्जनाः, हतधियो नष्टसद्बुद्धयो, नयाना सङ्ग्रहादितत्तन्नयानां रहस्य तात्पर्यार्थं, किमपि न जानन्ते, अल्पमात्रमपि नैवावगच्छन्ति,अत एव विविधबुधपक्षे तत्तन्नानाविधतत्त्वबुद्धसम्प्रदायायाततत्तन्नयापेक्षतत्तत्तत्त्वाभिप्रायभ्राजिष्णुपूर्वोक्ततत्तत्प्राज्ञपक्षे, विरोध आपन्ते, अमी चन्द्रादित्यप्रकृतिविकृतिव्यत्ययगिराः(१.) चन्द्रस्वभाव रवावुद्गिरन्ति रविस्वभाव चन्द्रे प्रलपन्तीत्येव स्वभावास्त्वीयातिजडत्वस्वभाव प्रकटितवन्तः, अहह खेद कुत्रापि कस्मिंश्चिदपि विषये, निरातङ्का न गुणान्वेषणपरा-निर्गला भवभयनिर्मुक्तास्सन्तो यथातथाप्रलापिनो न गुणान्वेषणपराः किन्तु परदूषणान्वेषणतत्परा एवामीति भावः । यद्वा अमी चन्द्रादित्यप्रकृतिविकृतिव्यत्ययगिरः ।

" सलिलमये शशिनि रवेर्दीधितयो मूर्छितास्तमोनैशम् ।
क्षपयन्ति दर्पणोदरनिहिता इव मन्दिरस्यान्तः ॥ १ ॥ "

इति वराहसंहितावचनाद् जलमये चन्द्रमसि सूर्यकिरणानां प्रवेशादेव तमोनाशकत्वं चन्द्रमसो भवतीत्यवगमात् चन्द्रमसो विकृतित्वं प्रकृतित्वन्तु आदित्यस्यैति सिद्धं भवति तत्र चन्द्रमस एव प्रकृतित्व सूर्यस्यैव विकृतित्वमित्याकारक व्यत्यय व्यत्यास गिरन्तो जना यथा स्वीयमज्ञत्वमेव प्रकटयन्ति एव तत्तत्परिपक्षेषु विरोधप्रदर्शनेन स्वीयमनवबोधमात्र प्रकाशयन्तोऽमी जना अपि अहह कुत्रापि निरातङ्का न गुणान्वेषणपराः । तदर्थस्तु पूर्ववत् । ' अमी चन्द्रादित्यप्रभृतिविकृतिव्यत्ययगिर इति पाठे तु चन्द्रादित्यप्रभृतीनां चन्द्रसूर्यादीना परस्परविरुद्धस्वभावाना विकृते.-विकारस्य शीतोष्णस्पर्शादेः व्यत्यय व्यत्यास-चन्द्र उष्णस्पर्शवान् सूर्यश्च शीतस्पर्शवानित्याकारक विपरिवर्तन ये गिरन्ति

तद्वद् सूरिवचनेषु नयेषु विरोधमुद्भावयन्तः स्वीयमज्ञानमेव प्रदर्शयन्तोऽमी अहह कुत्रापि निरातङ्का न गुणान्वेषणपराः, तदर्थस्तु पूर्ववत् ॥ ७ ॥ इत्यल पल्लवितेन ।

भ्रान्ताया चिदि धर्मिणि प्रमितिरूपत्व प्रकाराशके ।
भ्रान्तत्वञ्च यथा तयोर्न कणभुच्छास्त्रे विरोधस्तथा ॥
ज्ञाने स्वार्थविनिश्चयेऽपि करणापेक्षप्रमाणात्मता ।
कार्यापेक्षप्रमात्मता पृथगपेक्षातो विरोधोऽत्र नो ॥ १ ॥

पक्षाः केवलबोधदर्शनसमुत्पत्तौ विरुद्धा इवा-
भासन्ते नयसूत्रकुण्ठितधिया सूरित्रयोक्तात्रयः ।
तत्सूत्र किल तन्नयानुगतमेतत्तन्नयापेक्षक-
मित्थ सूत्रनयानुयोगविदुषा तथ्यास्त इत्यादिभि. ॥ २ ॥

तत्त्वैस्सम्मतितर्कसत्प्रकरणे रत्नैर्द्वितीये भृते ।
काण्डे देवगुरूत्तमातुलकृपा–भारेण पूर्ति गता ॥
श्रीमद्दर्शनसूरिणा विरचिता गाथार्थसम्बोधिनी ।
सेय सद्विवृतिस्तनोतु विदुषा चित्ते मुदान्दोलनम् ॥ ३ ॥

त्रिभिर्विशेषकम् ।

अर्हद्धर्मधुरीणमन्त्रिविमलश्रीवस्तुपालादिभि-
र्दृब्धैरिन्द्रनरेन्द्रचित्तहरणैरश्लिष्टैर्मन्दिरे ॥
नानाचित्रविचित्रभावरसदे तीर्थेऽर्बुदाह्वे वरे ।
काण्ड. पूर्तिमितश्चतुर्नगगनद्व्यब्दे शुचौ मास्ययम् ॥ ४ ॥

ज्ञानाद्यनन्तगुणरत्नपयोनिधे ऽर्हन् ?,
नानाप्रफुल्लकुसुमैर्विजयादिदेवै ।
स्वर्गेऽर्चित ! स्तुत ! मनोहरसूक्तिभिस्त्वत्-
प्रौढप्रभावगुरुदर्शनप्राज्ञसूरि । ॥ ५ ॥

त्वद्दर्शनाश्रयगुणो विजयप्रतिज्ञ–ज्ञानां जगत्सु तिलको विजयात्मभाजाम् ।
उप्त्वा महद्भुवि जिनेश्वरधर्मबीज, सिक्त्वा जिनोक्तिसुधया शुभ
भावपत्रम् ॥ ६ ॥

वृक्ष सुमेरुविजय त्रिजगज्जयाख्या–नन्द–प्रियङ्कर–महोदय–शान्तिपुष्पम् ।
सम्पाद्य मोक्षसुफल जनयत्यर य–स्तत्राऽस्ति नाथ ! जिन ! ते
चरणानुभावः ॥ ७ ॥ त्रिभिर्विशेषकम् ॥

सम्यग्दर्शनभावनोदयलसत्स्वानन्दनस्यक्रम,
हृत्पद्मे स्वगुरोः प्रविश्य मधुप विज्ञानरेणोर्लिहे ।
शश्वद्वागमृतप्रचारकरणाल्लावण्यमूर्तिं सुधीः,
सूरिं नेमिगुरुं नतश्च विबुधैर्न स्तौति ? कस्तूरसा ॥ ८ ॥

येऽसूयान्वितमानसाः परगुणान् सन्दूषयन्ति क्षणात् ।
ये वा द्वेषविशेषदूषितहृदो निन्दन्ति चास्मानिह ॥
तानुद्दिश्य न यत्न एष ममतु स्यात्तुल्यशीलो जनो ।
ह्यर्थी कश्चिदनेन भूरतिपृथु कालस्य वा नावधिः ॥ ९ ॥

इति दूषमाकालनिशादिवाकरकल्पत्वेनावाप्तयथार्थाभिधान–प्रवचनोपनिषद्वेदि–महातर्क–वादिशिरोमणि–श्रीविक्रमादित्यादिमहाभूपतिप्रतिबोधक–श्रीसिद्धसेनदिवाकरभगवत्प्रणीतस्याखिलनयसमर्दगहनस्य सम्यग्दर्शनविशुद्धिकद्रव्यानुयोगवररत्नरत्नाकरस्य सकलतत्त्वपरनयपरिशुद्धिविधायकमहातर्कपद्धतिकस्य निखिलवादनायकानेकान्तवादगोचरपदार्थत्वव्यापकाऽविरुद्धकथञ्चित्सदसदादिवचनप्रमापकस्य "श्रीसम्मतितर्कप्रकरणस्य" सार्वतत्त्वामृतरमसद्धृतिमयशासनसुवर्णमालाऽलङ्कृता–ऽखर्वगर्ववादिवृन्दाप्रधृष्य–प्राज्ञपार्षद्गणचमत्कारकृद्वाणीविलाससमुद्भूतानुपमभव्यव्रातहृदखण्डप्रमोदभरप्रसृतशुभ्रधवलकीर्तिभरधवलितभूवलय–न्यायव्याकरणसिद्धान्तादिपारावारसमवगाहनसमुपलब्धानल्पतत्त्वरत्नसद्रूपबृहन्मणिमति–वृत्तिवृत्ति–न्यायखण्डखाद्यवृत्त्याद्यनल्पग्रन्थसन्दर्भ–प्र–भ्यात्मसम्यग्दर्शनातिविशुद्धिकृदनल्पमहातीर्थसमुद्धतिबद्धकक्ष–श्रीतपागच्छनभोनभोमणिसूरि–सम्राड्–भट्टारकाचार्य–श्रीविजयनेमिसूरीश्वरपद्मनभोभास्कर–समवाप्तन्यायवाचस्पति–शास्त्रविशारदविरुदभट्टारकाचार्य श्रीविजयदर्शनसूरीश्वरविरचितायां सम्मतितर्कमहार्णवावतारिकाख्यटीकायां 'द्वितीयकाण्ड' समाप्तिमगात् ॥

॥ श्रीसम्मतितर्कप्रकरणम् ॥

॥ तृतीयकाण्डम् ॥

मङ्गलाचरणम्

सपर्या पर्याप्ता त्रिकरणसमापत्तिविहिता,
फलं फुल्लं कर्तुं निखिलदुरितं हर्तुमनिशम् ॥
प्रभोर्यस्य प्राप्ता अगणितजनास्सिद्धिममलाः,
यतः श्रीवीरेशोऽतुलमधुमतीपूर्णमुकुटकः ॥ १ ॥
अपूर्वो यो मेघो भविकहृदये वर्षति भृशम्,
वचोवारिस्वच्छं जनयति सुधर्माङ्कुरमरम् ॥
मया बाल्येऽनल्पप्रणयभरतः पूजित इति,
स मे हृत्क्ष्मां तत्त्वाऽनुभवरमरम्या रचयतु ॥ २ ॥ युग्मम् ॥

एवं परस्परानुस्यूतसामान्य-विशेषग्रहणप्रवृत्तदर्शन-ज्ञानस्वरूपद्वयात्मक उपयोगः प्रमाणार्पणया प्रमाणमिति प्रतिपाद्येदानीं तद्विषयभूतौ सामान्यविशेषावप्यन्योन्याविनिर्भागस्वरूपाविति प्रतिपादयितुं तृतीयकाण्डं प्रारिप्सुस्सूरिराह–यद्वा दर्शनज्ञानयोः परस्परमविनिर्भागरूपतां प्रतिपाद्याधुना सामान्यं विशेषानुगतं विशेषाश्च सामान्यानुगता इति तयोरपि मिथोऽनुस्यूतस्वरूपतां प्रतिपादयितुं तृतीयकाण्डं प्रारिप्सुस्सूरिराह—

सामण्णम्मि विसेसो, विसेसपक्खे य वयणविणिवेसो ।
दव्वपरिणाममण्णं, दाएइ तयं च णियमेइ ॥ १ ॥

'सामण्णम्मि' इदं सत् इदमपि सदित्याद्यनुगतप्रतीतिविषये सत्ताख्यसामान्ये आत्माऽनात्मपदार्थमात्रे अस्ति अस्तीत्यनुगतप्रतीतिविषयेऽस्तित्वसामान्ये वा 'विसेसो' विशेषः इदं द्रव्यं नाद्रव्यं इयं पृथिवी न जलादिकमित्येवं व्यावृत्तबुद्धिगोचरो द्रव्यपृथिव्याद्यात्मको विशेषः तथा "विसेसपक्खे य वयणविणिवेसो" 'विशेषपक्षे च वचनविनिवेशः' द्रव्यपृथिवीघटाद्यात्मके विशेषपदार्थे च 'द्रव्यं सत्, पृथिवी सती, घटः पटश्च सन्नित्याद्यनुगतवचनस्य यद्वा 'द्रव्यमस्ति पृथिव्यस्ति घटोऽस्ति पटोऽस्तीत्याद्यनुगत

वचनस्य-नामनामवतोरभेदात् सत्तासामान्यस्य अस्तित्वसामान्यस्य वा, यद्वा लक्षणयोक्तवचनप्रतिपाद्यस्य सत्तासामान्यस्य अस्तित्वसामान्यस्य वा तथा पृथिवीजलादावपि द्रव्यमिदमपि द्रव्यमित्यनुगतवचनस्य नामनामवतोरभेदात् द्रव्यसामान्यस्य यद्वा लक्षणयोक्तवचनप्रतिपाद्यस्य द्रव्यसामान्यस्य पृथिवीजलादिपूर्वोत्तरपर्यायानुयायितया त्रिकालानुगतत्वे नोर्ध्वतासामान्यात्मकस्य विनिवेशः विनियोजनं प्रदर्शनमिति यावत् 'दव्वपरिणाममण्ण दाएइ' द्रव्यपरिणाममन्यं दर्शयति, सत्ताख्यसामान्यस्यास्तित्वसामान्यस्य वा द्रव्यपरिणाम द्रव्याख्यविशेषं तथा जैनसिद्धान्ते पुद्गलानामेकजातीयत्वात् पृथिवीजलादीनां पुद्गलद्रव्यपरिणामत्वेन पृथिवीजलादिपूर्वोत्तरपर्यायानुगतोर्ध्वतासामान्यात्मकपुद्गलद्रव्यस्य पृथिव्याद्याख्यपरिणामं पृथिव्याद्याख्यविशेषमन्यं विशेषस्य सामान्यात्मकत्वात् सामान्यस्वरूपपरित्यागे विशेषस्स्वस्वरूपमपि परित्यजेदित्यतस्सामान्यस्वरूपाऽपरित्यागेनैव वृत्तं दर्शयति, सामान्यानुविद्धविशेष इव सामान्यमपि विशेषानुविद्धमेव, यतो विशेषाऽभावे सामान्यस्याप्यभावप्रसक्तिस्स्यात्-यद् यदात्मकं तत्तदभावे न भवति, यथा मृत्पिण्डस्थासकोशकुशूलाद्यात्मकं मृद्द्रव्यमिति तदभावे तदभावः, विशेषात्मकञ्च सामान्यमिति तदभावे तस्याप्यभावस्स्यात्। एतावत्प्रबन्धेन सामान्यविशेषयोर्मिथोऽनुस्यूतत्वेन सामान्यस्य विशेषात्मकत्वं प्रतिपाद्याधुना विशेषस्यापि सामान्यात्मकत्वं प्रतिपादयितुमाह-'तय च णियमेइ' तकं च नियमयति। तमित्यर्थकमकचप्रत्ययसिद्धं तकं विशेषं नियमयति, द्वितीयपक्षे सामान्यविशेषात्मकमितिवद्विशेषोऽपि सामान्यात्मक एवेति गमयति, अन्यथा मृदभावे मृत्पिण्डस्थासकोशकुशूलाद्यभावत्सामान्याभावे विशेषस्याप्यभावप्रसङ्गस्स्यादिति भावः ॥ १ ॥

न च सामान्यविशेषौ मिथो निरपेक्षत्वाद्भिन्नबुद्धिग्राह्यत्वाच्चैकान्ततो भिन्नावेवेति न सामान्यं विशेषात्मकं न वा विशेषास्सामान्यात्मका इति न तदुभयात्मकं वस्त्वित्यभ्युपगन्तव्यम्, प्रत्यक्षादिप्रमाणविरोधप्रसङ्गात्, तथापि तथाभ्युपगमे यत्स्यात्तदाह—

एगतणिव्विसेसं, एयतविसेसियं च वयमाणो।
दव्वस्स पज्जवे प-ज्जयाहि दवियं णियत्तेइ ॥ २ ॥

" एगतणिव्विसेसं वयमाणो दव्वस्स पज्जवे णियत्तेइ " ' एकान्तनिर्विशेषं वदन् द्रव्यस्य पर्यायान् निवर्त्तयति ' एकान्तेन निर्गता विशेषा यस्मात्सामान्यात्तदेकान्तनिर्विशेषम्, विशेषानात्मकं सामान्यं वदन् द्रव्यस्य मृद्द्रव्यस्य पर्यायान् मृत्पिण्डस्थासकोशादीन् गोरसादेः पयोदधिघृतादीन् एवं द्रव्यान्तरस्य स्वीयस्वीयपर्यायान् निवर्त्तयति, न च तन्निवृत्तिर्युक्तियुक्ता, यतस्तन्निवृत्त्यभ्युपगमे मृत्पिण्डस्थासकोशकुशूलादिपूर्वापरपर्यायात्मकमृद्द्रव्यस्य दुग्धदधिघृतादिपूर्वोत्तरपर्यायात्मकगोरसादिद्रव्यस्याप्यध्यक्षादिप्रमाणप्रतीयमानस्य निवृत्तिप्रसङ्गस्स्यात्, परिणामपरिणामिनोः परिणामपरिणामिभावेन कथञ्चिदभेदात्तत्परिणा-

त्मकपर्यायाभावे परिणामिद्रव्याभावस्याप्यवश्यम्भावात्, द्रव्यत्वजातियोगात् समवायि कारणत्वाच्च द्रव्यमित्यस्य तु प्रागेव निरस्तत्वान्न पुनस्तन्निरस्यते, अत एवात्मानमधिकृत्य "न द्रव्यमेव तदसौ समवायिभावात्, पर्यायताऽपि किमु नात्मनि कार्यभावात्। उत्पत्तिनाशनियतस्थिरतानुवर्त्ति, द्रव्यं वदन्ति भवदुक्तिविदो न जात्या ॥ ६३ ॥" इति खण्डखाद्याऽपरनाममहावीरस्तवोक्तं सङ्गच्छते, "एयतविसेसिय च वयमाणो पज्जवाहि दविय णियत्तेइ" एकान्तविशेषञ्च एकान्ततस्सामान्यरहितं विशेषं च वदन् पर्यायेभ्यो विशेषेभ्यो द्रव्यं निवर्त्तयति, न च तन्निवृत्तिर्युक्ता, यैव मृत्पिण्डव्यक्तिः सैव स्थासस्वरूपा सैव कोशस्वरूपा सैव कुशूलादिस्वरूपा, य एव गोरसो दुग्धरूपः स एव दधिघृतादिस्वरूप इत्याद्याकारायास्तत्तत्पूर्वोत्तरपरिणामलक्षणविशेषानुगतोर्ध्वतासामान्याख्यद्रव्यप्रतीतेर्भावात्, द्रव्यस्याबाधितानुगतप्रतीतिसिद्धत्वेऽपि निवृत्त्यभ्युपगमे एकस्यैवात्मद्रव्यस्य बालयुववृद्धत्वादिदेवनरनारकादिपर्यायाः न त्वन्यद्रव्यस्येति व्यावृत्तबुद्धिग्राह्याणामपि विशेषाणां निवृत्तिप्रसङ्गात्, सामान्यविशेषयोर्मिथोऽनुस्यूतत्वेनानुभूयमानयोर्मध्यादेकस्याभावे तदपरस्याप्यभावो न्यायप्राप्त एव, न च द्रव्यपर्यायावेकान्तभिन्नौ भिन्नबुद्धिग्राह्यत्वात् घटपटवदित्यनुमानेन द्रव्यपर्याययोरेकान्तभेदसिद्धौ तयोर्मिथोऽनुस्यूतत्वमेवाऽसिद्धमिति नोक्तं सङ्गतमिति वाच्यम्, य एवाहं पूर्वं देवत्वेनाभूवं स एवाहं मनुष्यत्वेनोत्पन्नः, य एवाहं पूर्वं बालस्य एवाहं युवास्मि, य एव देवदत्तो बालत्वेन दृष्टस्स एव युवत्वेन मया दृश्यत इत्यादिप्रत्यभिज्ञाबलेन द्रव्यपर्यायरूपेण कथञ्चिद्भेदाभेदोभयस्वरूपस्यैव सिद्धेः, अत एव तयोरेकान्ताऽभेदोऽपि प्रतिक्षिप्तः, पूर्वोक्तयुक्तेः, यन्निवृत्तौ यस्य न निवृत्तिस्तत्ततो भिन्नं यथा घटनिवृत्तावपि पटस्याऽनिवृत्तिरिति स ततो भिन्नो दृश्यते, पर्यायनिवृत्तावपि द्रव्यस्य न निवृत्तिः, ध्रुवस्वभावत्वादिति तस्य द्रव्यस्य पर्यायतो भिन्नत्वाच्च, यतो द्रव्यपर्याययोरभेदे द्रव्यस्वरूपवत्पर्यायस्याप्यनिवृत्तिस्स्यात्, यद्वा द्रव्यस्यापि निवृत्तिस्स्यात् पर्यायस्वरूपवत्, न च तद् युक्तम्, यतो द्रव्यपर्याययोः कथञ्चिद्भेदाभेदोभयस्वरूपतयैवानुभूयमानत्वेन द्रव्यस्वरूपाऽनिवृत्तावपि पर्यायनिवृत्तिः पर्यायनिवृत्तावपि द्रव्यस्यानिवृत्तिरपि नानुपपन्ना, कथञ्चिद्भेदपक्षसमाश्रयणात्, तदेवं वस्तुमात्रं सामान्यविशेषोभयात्मकम् अबाध्यमानानुगतव्यावृत्तबुद्धिगोचरत्वाऽन्यथानुपपत्तेरभ्युपगन्तव्यमिति सिद्धम्। यदभिहितं स्याद्वादरत्नाकरे—तत्सामान्यविशेषाख्या—ऽनेकान्ताक्रान्तमूर्त्तिकम्। वस्तु प्रमेयमायात, प्रमाणस्योपपत्तितः ॥ १ ॥ इति। नन्वेतत्तृतीयकाण्डं नारब्धव्यम् अनेकगाथासन्दोहैरनेकधा पूर्वप्रतिपादितविषयकत्वेन पुनरुक्तत्वदोषाघातत्वात्, पिष्टपेषणवदस्य निष्फलत्वाच्चेति चेत्, एवमेवत्, किन्तु प्रमेयप्राधान्येन तद्ग्राहकस्य प्रमाणस्यापि निरूपणमित्येतत्प्रदर्शनद्वारेण तत्प्रतिपादकं वाक्यावतारं प्राग्विहितः, इह त्वविद्यमानप्रमेयस्य प्रमाणस्य प्रमाणत्वासम्भवात् प्रमाणनिरूपणद्वारेण प्रमेयनिरूपणमिति प्रदर्शनद्वारेण 'सामण्णम्मि विसेसो' इत्यादिवाक्यावतार

इत्यपेक्षाभेदप्रयोज्य एवैतत्काण्डारम्भ इति नोक्तदोषः । यथा नैयायिकवैशेषिकावेकस्मिन्नेव भ्रान्तज्ञाने धर्म्यंशप्रकारांशावच्छेदेन प्रामाण्याऽप्रामाण्ये शाखायां वृक्षः कपिसंयोगी न तु मूले इति प्रतीतेरेकस्मिन्नेव वृक्षे शाखामूलावच्छेदेन कपिसंयोगतदभावौ नितम्बे पर्वते वह्निर्न तु शिखरे इति प्रतीतेरेकस्मिन्नेव पर्वते नितम्बशिखरावच्छेदेन वह्नितदभावौ चाभ्युपगच्छतः, निरीश्वरसेश्वरभेदेन द्विविधावपि साङ्ख्यौ प्रकाशोपष्टम्भावरणादिविरुद्धकार्यकारित्वेन परस्परविरुद्धसत्त्वरजस्तमोगुणत्रयात्मकमेकं प्रधानं स्वीकुरुत', स्वप्रकाशवादिनो वेदान्तिनोऽनुमितौ पक्षांशे प्रत्यक्षत्वं साध्यांशे च परोक्षत्वं मन्यते । बौद्धस्तु नीलपीते इत्याद्याकारकज्ञानस्य स्वप्रकाशरूपत्वेन यद् ग्राहकाकारं चित्रज्ञानस्वरूपं तद्रूपेण तदेकं, नीलाकारस्य पीताकारस्य च भिन्नत्वेन तद्रूपेण चानेकम्, यथमेकस्यैव रूपस्य स्वाऽव्यवहितोत्तररूपं प्रत्युपादानकारणत्वं स्वाऽव्यवहितोत्तरस्मादिकं प्रति च निमित्तकारणत्वमुररीकरोति, इत्येवमपेक्षाभेदेन तदतत्स्वभावमनेकान्तमभ्युपगच्छन्तोऽपि तत्तद्वादिनोऽनेकान्ततत्त्वे प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धे यद्विरोधादिदोषानुद्भावयन्ति तत्परिहारोऽनेकधा क्रियमाणो न दोषपोषायेति न कश्चिद्दोषः ' सामण्णम्मि विसेसो ' इत्यादि सूत्रसन्दर्भविरचने ॥ २ ॥

एकस्मिन्नेव देवदत्ते पित्रपेक्षया पुत्रत्वम्, पुत्रापेक्षया पितृत्वम्, एकस्मिन्नेव बदरादौ अण्वपेक्षया महत्त्वम्, महदपेक्षया चाणुत्वम्, एकस्मिन्नेवाङ्गुल्यादौ वक्रापेक्षया ऋजुत्वम्, ऋज्वपेक्षया च वक्रत्वम्, द्रव्यापेक्षया सामान्यात्मकत्वम्, पर्यायापेक्षया च विशेषरूपत्वमित्येवमापेक्षिकवचनमाप्तस्य, इदमित्थमेवेत्येव निर्णीतैकस्वरूपप्रतिपादकतयैकान्तवचनमनाप्तस्येत्येतत्स्वरूपप्रतिपादनार्थमाह–यद्वा सामान्यविशेषानेकान्तात्मकवस्तुप्रतिपादकवचनमाप्तस्य, इतरदितरस्येत्येतदेव दर्शयन्नाह—

पच्चुप्पन्नं भावं, विगयभविस्सेहिं जं समण्णेइ ।
एयं पडुच्चवयणं, दव्वंतरणिस्सियं जं च ॥ ३ ॥

' पच्चुप्पन्नं भावं ' प्रत्युत्पन्नं भावं–निखिलजीवाजीवादिद्रव्यस्य प्रत्यक्षादिप्रमाणगोचरीभूतं वर्त्तमानपर्यायं ' विगयभविस्सेहिं ' विगतभविष्यद्भ्यां अतीतानागतपर्यायाभ्यां ' जं समण्णेइ ' यत्समन्वेति–कालत्रयानुगतोर्ध्वतासामान्याख्यद्रव्यस्य भूतवर्त्तमानभविष्यत्पर्यायपरिणामितया तद्रूपेण समानरूपतया नयति प्रतिपादयति वचः ' एयं पडुच्चवयणं ' एतत्प्रतीत्यवचनम्, आपेक्षिकवचनम्, सर्वज्ञवचनमित्यर्थः, अन्यथानाप्तवचनम्, ननु वर्त्तमानपर्यायस्यातीतपर्यायात्मकत्वे तद्वचस्यापि प्राक् सत्त्वप्रसङ्ग इति सत्कार्यवादसाम्राज्यापत्तिः, तथा चेदानींतनतत्कारकव्यापारवैफल्यप्रसङ्गः, कार्यात् प्रागपि तत्सत्त्वस्य तत्कार्यस्य चोपलम्भप्रसङ्गश्च, अथ पूर्वमनाविर्भावाद् न तत्प्रसङ्ग इति चेत्, न, अनाविर्भावस्य निर्वक्तुमशक्यत्वात्, उपलम्भाभावरूपत्वे तस्यात्माश्रयात्, व्यञ्जकाद्य-

भावरूपत्वे च व्यञ्जकादयः किं पूर्वं सन्तोऽसन्तो वाऽभ्युपगम्यन्ते, आद्ये तत्सत्त्वोपलम्भप्रसङ्गेन तदभावाऽयोगः। द्वितीये च तदनुत्पत्तिप्रसङ्गः, असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाऽभावात्। शक्तस्य शक्यकरणात्कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥ १ ॥ इत्युक्तेः। किञ्चैवमुत्पत्तिपदार्थ एव विलीयेत, कार्यस्य प्रागपि सत्त्वेनाद्यक्षणसम्बन्धलक्षणायास्तस्या इदानीमयोगात्। अथ पूर्वं कार्यं शक्तिरूपेण सत् नाभिव्यक्तयाऽपीति नोक्तदोष इति चेत्, तर्ह्यनायासेनैवासत्पक्षसिद्धिः, पूर्वमभिव्यक्तिरूपेणाऽसतोऽपि कार्यस्योत्पादाभ्युपगमात्। एवं भविष्यत्पर्यायात्मकत्वे च वर्त्तमानपर्यायस्य तद्विनाशहेतुव्यापारवैफल्यम्, तेन तद्विनाशकार्याकरणात्, उत्तरकालावच्छेदेनापि घटादिकार्यसद्भावेन तदुपलब्धिजलाहरणादितत्कार्यप्रसङ्गश्च, ततो यद्यत्कालावच्छेदेन स्वीयकार्यकृत्तत्तत्कालावच्छेदेनैव सत्, वर्त्तमानपर्यायश्च स्वकालावच्छेदेनैव कार्यकृदित्यर्थक्रियाकारित्वात् तदानीमेव सत्, न पूर्वोत्तरकालावच्छेदेन, तदानीमर्थक्रियाकारित्वाऽभावादिति चेत्, मैवम्, कथञ्चित्सदसत्कार्यवादे दोषाभावात्, द्रव्यरूपेण प्राक् सतः पर्यायस्य द्रव्यरूपेण प्रागप्युपलम्भात्, पर्यायरूपेणासतस्तस्याऽऽद्यक्षणसम्बन्धलक्षणोत्पत्तेः सुघटत्वाच्च, न चेदेवम् उपादानकारणत्वमेव दुर्घटं स्यात्, पूर्वं समवायस्य निरस्तत्वेन स्वसमवेतकार्यकारित्वलक्षणस्योपादानत्वस्याऽसिद्धेः कार्यप्रागभावाधिकरणत्वमुपादानत्वमित्यपि न, यतोऽसतः कार्यस्य पूर्वं स्वरूपाभावे स्वरूपात्मकप्रतियोगित्वस्याप्यभावेन कार्यनिष्ठप्रतियोगितानिरूपकाभावात्मकः कार्यप्रागभाव एव न सिद्ध्येत्, एवं तस्य स्वरूपात्मकविशेषणत्वसम्बन्धस्याभावे तेन सम्बन्धेन तदधिकरणत्वस्याप्ययोगादिति। अत्राह बौद्धः–यद्यत्कुर्वद्रूपात्मकं तत्तस्योपादानकारणमिति चेत्, तदपि न सङ्गतम्, एकान्तक्षणिकत्वस्य पूर्वं निरस्तत्वेन तस्याऽप्यसिद्धेः, एवं वर्त्तमानपर्यायस्य भविष्यत्पर्यायात्मकत्वेन तद्दशायामपि स्वस्वरूपेणोपलब्धिप्रसङ्ग इत्यपि न युक्तम्, ऊर्ध्वतासामान्याख्यद्रव्यस्य पूर्वकालावच्छिन्नतत्तदवस्थावर्त्तित्वेनेवोत्तरकालावच्छिन्नतत्तदवस्थावर्त्तित्वेन कथञ्चित्तदभिन्नवर्त्तमानपर्यायसत्त्वमपि तदानीं द्रव्यरूपेणैवाऽभ्युपगमात्, न तु स्वस्वरूपेणेति न तदानीं भविष्यत्पर्यायस्वरूपेणोपलम्भप्रसङ्गः, पूर्वोत्तरतत्तदवस्थायां प्रतिभासमानेन द्रव्यरूपेण तदुपलम्भस्त्विष्ट एव, अत एव पर्यायरूपेण तद्विनाशहेतुव्यापारवैफल्यमपि न, तेन रूपेण तद्विनाशभावदर्शनात्, तदेवं कारणे नैकान्तेन सत्कार्यमुत्पद्यते, कारणवैफल्यप्रसङ्गात्, न चैकान्तेनासत्, घटादेरिव शशशृङ्गादेरप्युत्पत्तिप्रसङ्गात्, असत्त्वाऽविशेषात्। किन्तु कथञ्चित्सदेवेति कारणस्य कथञ्चित्सज्जननस्वभाव एव युक्तः। नन्वेकान्ताऽसत्पक्षेऽपि शशशृङ्गाद्युत्पत्त्यापादनं न सम्यक्पदं धत्ते, यतस्तदनुत्पत्तिः कारणाभावादेव, न त्वसत्त्वादिति चेत्, सोऽपि कुतः ? । असत्त्वादिति चेत्, तदपि कुतः ? कारणाभावादिति चेत्, तर्ह्यन्योन्याश्रयः। ननु यदसत्तदुत्पद्यत एवेति नियमो नाभ्युपगम्यते, येनोक्तदोषः स्यात्, किन्तु यद्भा-

वच्छिन्न प्रति यद्धर्मावच्छिन्नस्य कारणत्वं तद्धर्मावच्छिन्नसत्त्वे तदितरसकलसहकारिसमवधाने च पूर्वमसतोऽपि कार्यतावच्छेदकतद्धर्मावच्छिन्नस्योत्पत्तिरित्यभ्युपगमोऽस्माकम्, तथा च शशशृङ्गादिकं यदि कस्यचित्कारणस्य सन्निधानात्पूर्वमसदपि पश्चादुत्पद्यमानमुपलभ्येत तदाऽनायत्या शशशृङ्गत्वावच्छिन्नं प्रत्यपि यत्किञ्चिद्धर्मावच्छिन्नस्य कारणत्वमभ्युपगतं भवेत्, तेन च तस्योत्पत्त्यापादनं युक्तिमङ्गतं भवेत्, न चैवम्, तथा च पूर्वमसत्त्वाऽविशेषेऽपि तदनु कारणसमाजाद्दुत्पद्यमानस्योपलम्भाच्छशशृङ्गादेश्च कदाचिदप्यनुपलम्भादनुपलभ्यमानकार्यस्यानुपलभ्यमानतत्कारणस्य च कल्पनायाः प्रयोजनं विना गौरवमात्रसम्पादकत्वादापादकाभावादेव न तदापत्तिरिति चेत्, नैवम्, यतो यदि कारणे असदेव कार्यमुत्पद्यते तर्हि किमिति तन्तुभ्य एव पटो न कपालादिभ्यः, विनिगमकाभावात्, एकस्मादपि कपालादेर्घटपटादिनिखिलकार्योत्पत्तिस्स्यात्, सत्त्वपक्षे च यस्य कार्यस्य यत्र कारणे सत्त्वं तस्य तत्कारणादेवोत्पत्तिः, नान्यस्मात्, उपादानकारणात् कथञ्चित्सज्जननस्वभावस्यैकस्यैवाभ्युपगमेन लाघवम्, असत्त्वपक्षे तु प्रतिनियतकार्यजनकत्वस्वभावकल्पने कार्यकारणभेदेनानन्तस्वभावप्रसङ्गेनाऽतिगौरवमित्यत्र दीयतां दृष्टिः, नन्वसदुत्पत्तिपक्षे शशशृङ्गाद्युत्पत्तिगौरवापादनं तदा शोभेत यदि निष्प्रामाणिकः कल्पनामात्रविषयोऽभ्युपगतो भवेत्, यावता प्रत्यक्षप्रमाणमेव प्रतिनियतकार्यकारणभावं निश्चिन्वत् कार्यस्य कारणभेदं पूर्वकालाऽसत्त्वं च निश्चिनोतीति प्रमाणसिद्धोऽसद्वादो वैकल्पिकं सदसद्वादं मिथ्यात्वेनाऽवबोधयति, अत एवोक्तमन्यत्र, "संविदेव हि भगवती वस्तूपगमे नश्शरणम्" इति चेत्, न, यत्र संविद्भगवती प्रमाणत्वेन भवतोपन्यस्ता सा स्वयमेवात्मनः कथञ्चिद्भेदाभेदवादं कथञ्चित्सदसद्वादञ्चाऽन्तरेणानुपपन्ना कथं तमेव बाधेत, तथाहि संविद् भवद्भिरप्यात्मगुणत्वेनाभ्युपगम्यते, सा चात्मत्वेन ज्ञानत्वेनात्मज्ञानयोर्भेदः, अन्योन्यानुस्यूतत्वेनाऽयुतसिद्धत्वेन चाभेद इत्येवं कथञ्चिद्भेदाभेदमन्तरेणानुपपन्नेति। ननूक्तमेव गुणगुणिनोस्समवायलक्षणोऽतिरिक्तसम्बन्धस्तेन भिन्नमपि ज्ञानमात्मनि वर्तत इति तयोर्गुणगुणिभाव इति तत्किं विस्मृतम्? इति चेत् को नाम नोक्तमिति वदति, न वा विस्मृतं तत्, किन्तु योऽयं समवायात्मा सम्बन्धो भवद्भिरभ्युपगतस्स प्रमाणबाह्य इति श्रुतमप्यश्रुतकल्पं कृत्वोपेक्षितः, प्रमाणागोचरत्वलक्षणप्रमाणबाह्यत्वं तु तस्य पूर्वमेवोक्तमिति न पुनरुच्यते, नन्वेवं सति सदुत्पादपक्ष एवास्तु प्रमाणार्हो न तु कथञ्चित्सदसत्पक्षः, अनुभवपथातीतत्वात् इति चेत्, नैवम्, मत्पक्षे हि कार्यस्य कारणात्मकत्वेनेदमस्य कारणमिदमस्य कार्यमित्यसङ्कीर्णव्यवहारविलयनप्रसङ्गात्, यतो न हि यद्यतोऽव्यतिरिक्तं तत्तस्य कार्यं कारणं वेति व्यपदेष्टुं शक्यम्, कार्यकारणयोर्भिन्नलक्षणत्वात्। तथा चोपादानकारणे कथञ्चित्सज्जननस्वभावस्यैव प्रमाणगोचरत्वेन तत्र प्रागपि द्रव्यरूपेण सत्कार्यं कार्यरूपेणानुपलब्धत्वात्तद्रूपेण चाऽसदिति कार्यकारणभावस्य कथञ्चित्सदसत्पक्ष एव घटमानत्वेनोपादानकारणस्य

पूर्वोत्तरपर्यायरूपेण परिणमनाचद्रूपान्वयिद्रव्यस्य त्रिकालास्तित्वात्तद्वारेण वर्त्तमानपर्याय स्य त्रिकालाऽस्तित्वप्रतिपादक प्रतीत्य वचनमिति सिद्धम्। 'दव्वतरणिस्सिय ज च' द्रव्यान्तरनिस्सृत यच तदपि प्रतीत्य वचनम्। यद्यप्युपादानकारणरूपा परमाणव एव विभक्तत्वाणुत्वपरिणामबहुत्वसङ्ख्यादिरूपतया ये पूर्वमासन् त एव सयुक्तत्वमहत्त्व परिणामैकत्वसङ्ख्यादिभावमापन्ना द्व्यणुकत्र्यणुकादिव्यपदेश भजन्ते, अत एव नोक्तस्वरूपेण पूर्वकालावच्छिन्नपरमाणुभ्यस्सर्वथाऽतिरिक्तमवयविद्रव्यमस्ति, न चैव तर्हि विभक्ता नामिव सयुक्तानामप्यणूनां चाक्षुषप्रत्यक्षगोचरत्व न स्यादिति वाच्यम्, विभक्तदशायां चाक्षुषप्रत्यक्षाऽजननस्वभावत्ववत् तेषां सहवदशाया चाक्षुषप्रत्यक्षजननस्वभावत्वात्, विप्रकृष्टसन्निकृष्टेषु रेण्वादिषु चाक्षुषप्रत्यक्षाजननतज्जननस्वाभाव्यदर्शनात्, उक्तनाना-स्वभावत्वे च तद्विषयकचाक्षुषज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमभावाभावावेव कारणम्। तथापि नैयायिकवैशेषिकमतेन समवाय्यसमवायिनिमित्तकारणेभ्योऽवयविद्रव्यमतिरिक्तमेवोत्पद्यते इति तदभिप्रायतस्समवायिकारणपरमाणुत कार्यद्रव्य द्व्यणुकादि द्रव्यान्तर तेन निस्सृत सम्बद्ध कारण परमाण्वादि, केन सम्बन्धेन सम्बद्धमिति चेत्, सयुक्ततया परिणतस्य परमाणुद्वयादे सयोगात्मकपर्यायस्यैकत्वेन तदभिन्नत्वादभेद परमाणुत्वद्व्यणुकत्वादिना च भेद इति कथञ्चिद्भेदविशिष्टाभेद एव कथञ्चिद्भेदाभेद इति तदात्मकस्वरूपसम्बन्धेन, न तु सम्बन्धान्तरेण, समवायस्य निरस्तत्वात् एकान्तव्यतिरिक्तसयोगादिसम्बन्धस्य चाघटमानत्वात्, इत्थ यत्प्रतिपादयति तदपि प्रतीत्य वचनम्, तथाहि—यदाऽणवो विभागबहुत्वसङ्ख्याऽणुपरिमाणादिपर्यायान् परित्यज्य सयोगैकत्वसङ्ख्यामहत्त्वादिपर्यायान् गृह्णन्ति तदा स्थूलकार्यस्वरूपमासादयन्तीत्यणूनामेव सयोगैकत्वसङ्ख्यामहत्त्वादिपर्यायै-रुत्पत्तिः, विभागबहुत्वसङ्ख्याऽणुपरिमाणादिपर्यायैर्द्व्यणुकादिपूर्वद्रव्यस्वरूपतया वा विनाशः, स्थूलकार्यनिष्पत्तावपि परमाणवो न मूलभूतद्रव्यस्वरूप परमाण्वात्मक परित्यजन्तीति तद्रूपेण ते नित्या, परमाणुरूपतयाऽपि विनाशोत्पत्त्यभ्युपगमे तु पूर्वोत्तरावस्थयोर्निराधा-रविगमप्रादुर्भावप्रसक्तिः, न च तदवस्थयोरेवाधारत्वम् तयोस्तदानीमसत्त्वात्। न च समवेतकार्य समवायिकारणे उत्पद्यत इति तदेव तदाधार इति वाच्यम्, तद्घटकसमवा यस्य पूर्वमेव निरस्तत्वेन तदसिद्धेः, नन्वेव तर्हि घटकार्योत्पत्तिः कथमिति चेत्, मृदुपादा-नात्, तथाहि—पूर्वमृत्पिण्डपर्याय परिहायोत्तरघटपर्यायमुपादत्ते मृद्द्रव्यम्। उक्तञ्च श्रीमहा वीरस्तवे "सामान्यमेव तव देव! तदूर्ध्वताख्य, द्रव्य वदन्त्यनुगत क्रमिकक्षणौघे" इति। एतेन कार्यैकार्थप्रत्यासत्त्या कपालद्वयसयोगस्यासमवायिकारणत्वमित्यपि निरस्तम्, सयो गस्य पर्यायरूपत्वनातिरिक्तसयोगगुणस्यैवाभावात्। तदुक्तमुत्तराध्ययनसूत्रे—

"एगत्त च पुहुत्त सखा सट्ठाणमेव च।
सजोगो य विभागो य पज्जवाण तु लक्खण॥" इति।

तदन्त कपालद्वयसंयुक्तावस्थैव घटोत्पत्तिरिति मन्तव्यम्। घटनाशस्तु मुद्गरादिना घटस्य विभक्तावयवात्मकतयोत्पन्नकपालकदम्बात्मकः, धर्मिकल्पनातो धर्मकल्पना लघीयसीति न्यायादुत्तरपर्यायेष्वेव नाशत्वधर्मकल्पनाया लघीयस्त्वात्, अतिरिक्तनाशस्यानुभूयमानत्वाच्च। तथा च व्यवस्थितमेतत् मृद्द्रव्यमेव कपालद्वयसंयुक्तावस्थारूपेणोत्पन्नं मृत्पिण्डपर्यायरूपतया विनष्टं मृद्द्रव्यरूपतया ध्रुवमिति त्रिलक्षणशालित्वेन सद्रूपम्, यदभिहितं स्याद्वादरत्नाकरे— "तेनोत्पादव्ययध्रौव्य-युक्तं सदिति भारती। ददाति निवृत्तिलोकाय, नूनं जगति भारती॥ १॥" इति। अत एव कारणं कार्यतः कथञ्चिद्भिन्नाभिन्नमिति कथञ्चिद् भेदाभेदात्मकस्वरूपसम्बन्धेन कार्यद्रव्येण सह सम्बद्धमिति तथाभूतवस्तुप्रतिपादकमेतत्प्रवचनम्, एकान्ततत्त्वप्रतिपादकं त्वनाप्तवचनमिति। अथवा एकद्रव्यादन्यद्द्रव्यं द्रव्यान्तरं तस्मिन् निःसृतं सम्बद्धं यत्प्रतिपादयति तदपि प्रतीत्य वचनम्, यथा दीर्घतरं मध्यमाङ्गुलिद्रव्यमपेक्ष्य ह्रस्वतरमङ्गुष्ठकद्रव्यमिति वचः, ह्रस्वत्व-दीर्घत्वादिकस्तु स्वधर्म एव द्रव्यान्तरविशेषाऽभिव्यङ्ग्यः पितेव पुत्रादिना। अयम्भावः-अनन्तधर्मात्मके वस्तुनि महत्त्वह्रस्वत्व गुरुत्व लघुत्वमित्यादयो द्रव्यान्तरविशेषाभिव्यङ्ग्यया ये धर्मास्ते तदृशा एवेति तत्र तेषामविरोधप्रतिपत्तये यानि निमित्तानि तानि तत्तन्नयप्रयोज्यानीति इदं वस्त्वेतदपेक्षया महद् ह्रस्वं वेति बोधे तत्तन्निमित्तोपनायकतया तत्तन्निमित्तोपगमनपरा नया अपेक्षिता भवन्ति, तत्र महत्त्वह्रस्वत्वादीनामेकत्र सत्त्वाविरोधाय यान्यपेक्षणीयानि तत्तन्नयप्रयोज्यावच्छ्यादिरूपतत्तन्निमित्तानि तदपेक्ष्य यद्वचस्तदपि प्रतीत्यवचनमापेक्षिकवचनम्, यथेदं वस्त्वेतदपेक्षया महत्, एतदपेक्षया च ह्रस्वं एतदपेक्षया गुरु एतदपेक्षया च लघ्विति वचः॥ ३॥

ननु वर्त्तमानपर्यायस्येव वर्त्तमानकालावच्छेदेनेवातीतानागतकालावच्छेदेनापि सत्त्वदाऽवच्छेदकतासम्बन्धेन वर्त्तमानपर्यायाश्रयत्वाद्वर्त्तमानकालवदतीतानागतकालयोरपि वर्त्तमानकालतापत्त्या तेषामैक्यं स्यात्, अन्यथोक्तसम्बन्धेन वर्त्तमानपर्यायाश्रयत्वमेव तयोर्न स्यादिति वर्त्तमानपर्यायस्य त्रिकालावच्छिन्नसत्त्वमेवानुपपन्नं स्यादिति तथाभूतार्थप्रतिपादकं वचनमप्रतीत्यवचनमेवेत्याशङ्क्याह—

> दव्वं जहा परिणयं, तहेव अत्थित्ति तम्मि समयम्मि।
> विगयभविस्सेहिं उ पज्जएहिँ भयणा विभयणा वा॥ ४॥

'दव्वं जहा परिणयं' द्रव्यं धर्मास्तिकायाख्यं तत्तज्जीवागमनमापोन्मेषमनोयोगवचनयोगकाययोगादितत्तत्पुद्गलागमनगमनादिचलभावोपष्टम्भकरूपतया परसयोगजपर्यायैश्च, अधर्मास्तिकायाख्यं च तत्तज्जीवस्थितिकायोत्सर्गशयनादितत्तत्पुद्गलस्थित्यादिस्थिरभावोपष्टम्भकतया परसयोगजपर्यायैश्च, आकाशास्तिकायाख्यं च तत्तज्जीवतत्तत्पुद्गलावगाहनक्रियोत्पत्तिनिमित्तमात्रतया परसयोगजपर्यायैश्च, पुद्गलास्तिकायाख्यं परमाण्वादिकं षड्गुणहानिवृद्धिभावापन्नतत्तद्वर्णतत्तद्रसतत्तद्गन्धतत्तत्स्पर्शादिभावकार्यतया द्व्यणुकत्व

शुकादियावद्घटपटादिकार्यतया च, जीवास्तिकायाख्यश्च मनुष्यनरकादितच्छरीरत्वादि पर्यायतया तत्तदर्थग्राहिज्ञानदर्शनादिपर्यायतया च विशिष्टविशिष्टतरविशिष्टतमाऽध्यवसायादिपर्यायतया च, कालाख्यश्च तत्तत्पुद्गलनवपुराणादिमात्रहेतुतया हेमन्तायृतुविभागेन च समयविभागेन च परिणत यथात् " तहेव अत्थित्ति तम्मि समयम्मि " तथैव तस्मिन् समये वर्त्तमानकालेऽस्तीति । उक्तञ्च भगवत्यां त्रयोदशशतके चतुर्थोद्देशके " धम्मत्थिकाए णं भंते ! जीवाणं किं पवत्तति ? गोयमा ! धम्मत्थिकाए णं जीवाणं आगमणगमणभासोम्मेसमणजोगा वयजोगा कायजोगा जेयावण्णे तहप्पगारा चला भावा सव्वे ते धम्मत्थिकाए पवत्तति गतिलक्खणे णं धम्मत्थिकाए । अहम्मत्थिकाए णं जीवाणं किं पवत्तति ? गोयमा ! अहम्मत्थिकाए णं जीवाणं ठ्ठाणनिसीयणतुयट्टणमणस्स य एगत्तिभावकरणया जेयावण्णे तहप्पगारा थिरा भावा सव्वे ते अहम्मत्थिकाए पवत्तति " इत्यादि । " विगय-भविस्सेहि उ पज्जएहिं भयणा " विगतभविष्यद्भिस्तु पर्यायैर्भजना-कथञ्चित्तैस्तस्यैकत्वम्, ' विभयणा वा ' विगतभजना विभजना कथञ्चिद्भेदत्वम् ' वा ' शब्दस्य कथञ्चिदर्थत्वात् । यतो यदेव द्रव्यमतीतपर्यायतया परिणतं तदेव वर्त्तमानपर्यायतया परिणमति भविष्यत्पर्यायतया परिणस्यतीति तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वमिति नियममनुसृत्य वर्त्तमानपर्यायाऽभिन्नान्वयिद्रव्याभिन्नातीतानागतपर्यायाणां वर्त्तमानपर्यायाऽभिन्नत्वमिति द्रव्यार्थिकनयप्राधान्यविवक्षायामन्वयिद्रव्यद्वारा वर्त्तमानपर्यायस्यातीतानागतपर्यायैरेकत्वम्, पर्यायार्थिकनयप्राधान्यविवक्षायामतीतानागतपर्यायाणां विनष्टाऽनुत्पन्नत्वेनासद्रूपैस्तैर्वर्तमानपर्यायस्यार्थक्रियाकारित्वेन सद्रूपस्य भिन्नत्वम्, ततो वर्त्तमानपर्यायस्यातीतानागतपर्यायाभ्यां स्वरूपाभावाधारधर्मरूपेण भेदवदन्वयिद्रव्यरूपेणाऽभेदोऽपीत्यन्वयिद्रव्यवत्तदभिन्नस्य वर्त्तमानपर्यायस्यापि तद्रूपेण त्रिकालावच्छिन्नसत्त्व नानुपपन्नमिति कथं तत्प्रतिपादकवचनस्याप्रतीत्यवचनतेति सिद्धम् ॥ ४ ॥

नन्वात्मघटादिचेतनाचेतनपदार्थस्य कैः पर्यायैरस्तित्वं कैश्च नास्तित्वमिति चेत्, उच्यते, सदृशासदृशपर्यायाभ्यामेकान्तसदसद्विलक्षणस्य जात्यन्तरात्मकस्यैवानुभूयमानत्वेन सदृशपर्यायैरस्तित्वं विसदृशपर्यायैश्च नास्तित्वमित्युपपादनायाह—

परपज्जवेहिं असरि-सगमेहिं णियमेण णिच्चमवि नत्थि ।
सरिसेहिं पि वजणओ, अत्थि ण पुणत्थपज्जाए ॥ ५ ॥

' परपज्जवेहिं ' परपर्यायैः वर्त्तमानपर्यायव्यतिरिक्तभूत-भविष्यत्पर्यायाः परपर्यायाः, तैः,कथम्भूतैस्तैरित्याह-'असरिसगमेहिं' असदृशगमैः, ये गत्यर्थास्ते ज्ञानार्था इत्युक्तेर्विजातीयज्ञानग्राह्यैः, अत्र " विसरिसगमेहिं " इत्यपि पाठः, विसदृशगमैः विजातीयज्ञानग्राह्यैः

रिमदृशपर्यायैरिति यावत् "णियमेण णिच्चमवि नत्थि" नियमेन नित्यमपि नास्ति चेतनद्रव्यमचेतनद्रव्यञ्च, तैरपि तस्य सत्त्व तदैव स्याद्यदि भूतभविष्यत्पर्यायात्मकपर पर्यायाणां वर्त्तमानकाले सत्त्वं स्यात्, तथा सत्यतीतानागतवर्त्तमानावस्थात्रयसङ्कीर्णता प्रसङ्गस्स्यात् "सरिसेहिं पि वजणओ अत्थि" सदृशैरपि व्यञ्जनतोऽस्ति, येऽपि सदृश पर्यायास्तेऽपि सद्द्रव्यपृथिव्यादिशब्दप्रतिपाद्या व्यञ्जनपर्यायाः कालत्रयानुगताः सामान्य विशेषात्मकास्तेऽत्र ग्राह्याः, तेषां शब्दवाच्यत्वात्, न तु ऋजुसूत्राभिमता अर्थपर्याया', तेषामन्योन्यव्यावृत्तवस्तुस्वलक्षणग्राहकर्जुसूत्राभिमतानां स्वलक्षणात्मकत्वेन प्रतिक्षणभिन्न रूपाणां शब्दाऽवाच्यत्वात्, अत एव "अभिलाप्यानभिलाप्य, प्रमाणपर्यङ्कशायि विश्वमिदम्। तस्मादङ्गीकार्यं, न त्वेकान्तव्यसनदु स्थम्॥१॥ इत्युक्तेर्वस्तुमात्रमभिलाप्यत्वानभिलाप्यत्व धर्मद्वयभाजनं, अन्यथा तदुभयधर्मरूपेणानेकान्तात्मकमेव तन्न स्यात्, न च शब्दवाच्यत्वाद् घटेत्यभिलाप्यत्वधर्मकं तदेव शब्दावाच्यत्वादनभिलाप्यत्वधर्मकमिति कथं सङ्गतम्, घटत्वपटत्वयोरिवैतद्धर्मयोर्विरुद्धत्वेनैकत्र समावेशाऽयोगादिति वाच्यम् ह्रस्वत्वदीर्घत्वयोरिव तयोर्भिन्नापेक्षत्वेन विरोधाऽभावात्, न च भिन्नापेक्षत्वं तयोरसिद्धमिति वाच्यम्, कालान्त रस्थायिस्थूलव्यञ्जनपर्यायैरभिलापयोग्यपर्यायापराऽभिधानैश्चेतनाचेतनवस्तुन्यभिलाप्यत्वस्य प्रतिक्षणविभिन्नसूक्ष्मार्थपर्यायैरनभिलापयोग्यपर्यायाऽपराभिधानैश्चानभिलाप्यत्वस्य भावा दित्युक्तलक्षणैस्सदृशव्यञ्जनपर्यायैस्त्रिकालानुगतैस्सर्वमस्ति, तत्तद्द्रव्य कालत्रये वर्त्तते, न त्वर्थपर्यायैरित्याह-'ण पुणरत्थपज्जाए' न पुनर्नैवार्थपर्यायैस्तदस्ति। अयम्भाव - सामान्यविशेषात्मकमेव वस्तु गुणप्रधानभावेन शब्दवाच्यम्, न तु सामान्यमात्रम्, यतोऽग्निगोशब्दादिशब्दप्रतिपाद्यसामान्यमात्रस्याग्नित्वगोत्वाश्वत्वादिरूपस्य दहनदोहना-ऽऽवेगगमनाद्यर्थक्रियाजनकत्वाभावेन सामान्यमात्रवाच्यात्वाश्च स्नानाद्यर्थक्रियाप्यासतदानीमेवो त्पत्तेर्दाहाद्यर्थिना तत्र व्यक्त्यप्रतिभासे तदानयनफला प्रवृत्तिरेवोच्छिद्येत, न च निराश्रयस्य सामान्यस्याऽसम्भवेन सामान्यप्रतिपादनद्वारा स्वाश्रयजात्याश्रयत्वसम्बन्धरूपलक्षणयाऽ नुमानतो वाऽर्थक्रियाजनकस्य विशेषस्य प्रतिभासात्सुघममाचाऽप्रवृत्ति, लक्षणाबीज तु सामानयेत्यादावानयनकर्मत्वादौ प्रकारतानादिमत्ते,ससर्गतानादिमत त्वानयनादौ कर्मत्वादि सम्बन्धेन जातेरन्वयाऽनुपपत्तिरेवेति वाच्यम्, प्राक्सामान्यस्य प्रतिभासः पश्चाद्व्यक्त्या-त्मकविशेषस्येति क्रमप्रतीतेरननुभूयमानत्वात्, नन्वेवं तर्हि व्यक्त्यात्मकविशेषा एव शब्द-वाच्यास्सन्त्विति चेत्, तदपि न मनोरमम्, तेषामानन्त्येन सङ्केताऽसम्भवात्। न च प्रत्येकगवादिव्यक्तिरेकैवेति तत्र शक्तिकल्पनायां यथा सकलगोव्यक्तिभानार्थं तात्त द्व्यक्तिषु शक्तिकल्पनापक्षे गौरवज्ञानं बाधकं विनिगमकं तथैकव्यक्तिशक्तिपक्षे तन्नेति वाच्यम्, यत एकस्यामेव व्यक्तौ शक्त्यभ्युपगमे व्यक्त्यन्तरभानार्थं तत्र लक्षणायां स्वीकृतायां स्वसमवेताश्रयत्व ससर्ग कल्पनीय इति गौरवज्ञानं बाधकं तदवस्थमेव।

अथानुगतजात्यवच्छिन्नयावद्व्यक्तिष्वनुगतजात्यवच्छिन्नैकैव शक्तिः, अनुगतैककारण तावच्छेदकधर्मावच्छिन्नकारणतावदिति जातिविशिष्टव्यक्तिशक्तिपक्षे गोत्वरूपेण सकल गोव्यक्तिमानमुपपद्यत एवेति चेत्, अस्त्वेवम्, न च तथापि जातिव्यक्त्योरेकान्ततो भेद एव, तत्र सम्बन्धस्यायोगाद्, विशिष्टबुद्ध्यनुपपत्तेः । न चैकान्तभिन्नयोरपि तयो स्समवायसम्बन्धोऽस्तीति तद्बलात्सा भविष्यतीति वाच्यम्, प्रागेव तस्य निरासात्, तत्र स्याद्वादस्य सम्बन्धत्वव्यापकत्वेन कथञ्चिद्भेदाभेदसमर्गस्यैव विशिष्टबुद्धिनियामक त्वेनाभ्युपगन्तव्यतया गोत्वादेः कथञ्चिद्गवादिव्यक्तिस्वरूपस्यापि जातिरूपत्वादेव निर वच्छिन्नप्रकारतया तद्व्यक्तिस्वरूपस्य तद्व्यक्तित्वस्येव मानोपपत्तेः किमतिरिक्तजाति कल्पनया । किञ्च धर्मिकल्पनातो धर्मकल्पना लघीयसीतिन्यायेन कल्प्यमानजातौ सामा न्यत्वकल्पनापेक्षया सिद्धगवादिपिण्डेष्वेव गोसामान्यत्वकल्पनायां लाघवमिति तद्रूपेणा नुगतस्य गोपदार्थस्य सङ्केतग्रहे तज्जन्यशाब्दबोधे च प्रकारतया मानोपपत्तेः सामान्यत्वेन रूपेणापूर्वव्यक्तिष्वपि सङ्केतविषयत्वमुपपद्यत एवेति सामान्यविशेषोभयात्मकमेव वस्तु गुणप्रधानभावेन शब्देनाभिधीयत इति शब्दप्रतिपाद्यैस्सदृशैर्व्यञ्जनपर्यायैरेव सर्वमस्ति न स्वर्थपर्यायैरित्युपपन्नम् ॥ ५ ॥

नन्वेवमपि भावस्य प्रत्युत्पन्नपर्यायेण नियमेनाऽस्तित्वमेवेत्यभ्युपगमेऽप्येकान्तवादा- पत्तिरित्याशङ्कायाह–यद्येकान्तवादापत्तिभिया न च वर्तमानपर्यायेणापि भावस्य नियमेन सत्त्वमेवाभ्युपगन्तव्यम्, किन्तु सत्त्वासत्त्वोभयमेवेति प्रतिपादयितुमाह—

पच्चुप्पण्णम्मि वि प-ज्जयंमि भयणागइं पडइ दव्व ॥
ज एगगुणाईया, अणतकप्पा गमविसेसा ॥ ६ ॥

'पच्चुप्पण्णम्मि वि' प्रत्युत्पन्नेऽपि–वर्तमानेऽपि 'पज्जयम्मि' पर्याये, "भयणागइं पडइ दव्व" भजनागतिं स्वपररूपतया सदसदात्मिकां अधो-मध्योर्ध्वादिरूपेण च भेदा ऽभेदात्मिकां विकल्पपद्धतिं पतति–आसादयति द्रव्यम्, तत्र हेतुमाह–"ज एगगुणाईआ अणतकप्पा गमविसेसा" इति, अत्र गुणविसेसा इत्यपि पाठो नयोपदेशवृत्तौ, एतमेव पाठ मनुसृत्य पूज्यैरभयदेवसूरिभिरप्यर्थः कृत इति मयाऽपि तथैवार्थः क्रियते, यद्–यस्माद्धेतो एकगुणकृष्णत्वादयोऽनन्तप्रकारास्तत्र गुणविशेषाः, कल्पशब्दः प्रकारवाची, तथा च मध्ये केनचिदेव गुणविशेषेण युक्तं तत्, तथाहि कृष्णं द्रव्यं तद् कृष्णद्रव्यान्तरेण तुल्यमधिकं न्यूनं वा भवेत् प्रकारान्तराऽभावात्, आद्यपक्षे विभेदकतयाऽभिमतधर्मेणापि तुल्यत्वे विरुद्धधर्माध्यासाभावाद्भेदाभावेनैक्यं तयोस्स्यात्, तथा चैतत्कृष्णद्रव्य एतत्कृष्णद्रव्या पेक्षया कृष्णतरपर्याय एतत्कृष्णद्रव्यापेक्षया च कृष्णतमपर्यायमिति कृष्णतरपर्यायतर- तमादिप्रतीतिबाधस्स्यात्, एव नी०७५. ज्ञेयम्, उत्तरपक्षयोः कृष्णे तत्तद्रव्यान्तर-

जातीयकृष्णानां नीलादौ च तत्तदवान्तरजातीयनीलादीनामनेकविधानां स्वकारणोपजातानां सम्भवात्तत्तदपेक्षयोत्कर्षापकर्षप्रयोज्यमङ्ख्येयामङ्ख्येयानन्तभागगुणवृद्धिहानिभ्यां षट्स्थानकप्रतिपत्तिरवश्यम्भाविनी, तथा च प्रतिनियतहानिवृद्धियुक्तमत्युत्तम कृष्णादिपर्यायेण सत्त्व नान्यनेत्यत्रापि भजनागतिं पतति द्रव्यमिति सिद्धम् ॥ स्यादेतत् पुद्गलद्रव्य पुद्गलद्रव्यान्तरेण सह सत्त्वद्रव्यत्वादिना सजातीयबुद्धिग्राह्यत्वेनाऽभिन्नम्, स्वस्वासाधारणधर्मेण विजातीयबुद्धिग्राह्यत्वेन च भिन्नम्, घटपटादिवदिति तत्रानेकान्तात्मकता युक्ता, प्रस्तुतपक्षे चात्मद्रव्यपर्याये कथमनेकान्तरूपता युक्तेति चेत्, उच्यते, आत्मपर्यायस्यापि ज्ञानादेस्स्वग्राह्यार्थग्राहकत्वपरिणतिस्तत्र वर्तते, न तु तद्विपरीतेति ताभ्यां तत्र सत्त्वासत्त्वोभयसद्भावादऽनेकान्तरूपता पुद्गलवदविरुद्धा, अत एव ज्ञानत्वेनाऽभिन्नमपि ज्ञेयपरिणतिभेदेन प्रतिक्षण ज्ञान भिन्नमेवोत्पद्यत इत्यभेदापेक्षया ध्रौव्यम्, भेदापेक्षयोत्पादव्ययाविति भवस्थसिद्धस्थकेवलज्ञानपर्यायेऽपि त्रैलक्षण्य व्यवतिष्ठते, किञ्च कस्याप्यात्मनो द्रव्यात्म-कषायात्म-योगात्म-उपयोगात्म-ज्ञानात्म-दर्शनात्म-चारित्रात्म-वीर्यात्मभेदतोऽनेकविधत्वप्रतिपादनेन पुद्गलवदनेकान्तात्मकता सिद्धान्तसिद्धैव, यदुक्त पञ्चमाङ्गे द्वादशशतके दशमोद्देशके " कइविहा ण भंते ! आया पण्णत्ता ! गोयमा ! अट्ठविहा आया पण्णत्ता, त जहा-दवियाया-कसायाया-जोगाया-उवओगाया-णाणाया-दसणाया-चरित्ताया-वीरियाया " इत्यादिसूत्रे, एतद्विस्तृतार्थस्तट्टीकात एवावसेयः। तथा चाह वाचकमुख्यः प्रशमरतौ ।

द्रव्य कषाययोगावुपयोगो ज्ञानदर्शने चैव ।
चारित्र वीर्य चेत्यष्टविधा मार्गणा तस्य ॥ १९९ ॥
जीवाजीवाना द्रव्यात्मा सकषायिणां कषायात्मा ।
योगः सयोगिनां पुनरुपयोगः सर्वजीवानाम् ॥ २०० ॥
ज्ञान सम्यग्दृष्टेर्दर्शनमथ भवति सर्वजीवानां ।
चारित्र विरताना, तु सर्वससारिणां वीर्यम् ॥ २०१ ॥
द्रव्यात्मेत्युपचारः सर्वद्रव्येषु नयविशेषेण ।
आत्मादेशादात्मा भवत्यनात्मा परादेशात् ॥ २०२ ॥
एव सयोगाल्पबहुत्वाद्यैर्नैकशः स परिमृग्यः ।
जीवस्यैतत्सर्वं, स्वतत्त्वमिह लक्षणैर्दृष्टम् ॥ २०३ ॥ इति ॥ ६ ॥

प्रकारान्तरेणात्मनोऽनेकान्तरूपतामुपपादयितुमाह—

कोव उप्पायन्तो, पुरिसो जीवस्स कारओ होइ ।
तत्तो विभएयव्वो (cut off)

'कोव' कोपपरिणाम 'उप्पायन्तो' स्वस्मिन् स्वयमुत्पादयन् उपनयन् वा 'पुरिसो' पुरुष 'जीवस्स कारओ होइ' जीवस्य परभवप्रादुर्भावपरिणतिविशिष्टस्य कारको निर्वर्त्तको भवति, कोपपरिणतेः कर्मबन्धहेतुत्वेन तन्निमित्तकर्मण उपादानात्, तेन कथञ्चिद्भेदाभेदोमय व्यवस्थापयितुमुत्तरार्द्धमाह—'तत्तो विभयव्वो' कोपपरिणतिपरिणतश्च पुरुषः ततः परभवोत्पद्यमानजीवाद् विभजनीय', 'तत्तो वि य भइयव्वो' इत्यप्यत्र पाठः, ततोऽपि च भजनीयः, कथञ्चिद्भिन्नो व्यवस्थापनीय', पूर्वस्य कारणत्वेनोत्तरस्य च कार्यत्वेन कार्यकारणरूपयोस्तयोर्मृत्पिण्डघटवत्कथञ्चिद्भेदात्। एकान्ताऽभेदे कार्यकारणभाव एव न स्यात्, भेदे सत्येव तद्भावात्। अथ वीतरागस्य जन्म न भवति किन्तु सरागस्यैव, सवदति चात्र "वीतरागजन्मादर्शनात्। ३। १। २५ इतिन्यायसूत्रम्, जातमात्रस्य रागश्च पूर्वानुभव विना नेति। स्तन्यपानमिष्टसाधनमित्यादिस्मरणतः पूर्वभवीयानुभवैतद्भवीयतत्स्मरणकर्तुर्जीवस्यैकत्वेन सिद्धे. कथ भवभेदेन तद्भेद इति चेत्, मैवम्, भवरूपविशेषणभेदेन कथञ्चिद्विशिष्टभेदस्याप्यनुभवसिद्धत्वात्। अथ विशेषणभेदादव विशिष्टयोर्भेदो न तु मुख्यवृत्त्येति चेत्, न, विशेषणविशेष्यभावस्य हि कथञ्चिद्भेदाभेदनाद एव घटमानत्वेन विशेषणभेदे तदभिन्नतद्वतोरपि कथञ्चिद् भेदो मुख्यवृत्त्यैवाश्रयितव्यः, न हि निमित्तभेदाश्रयणे मुख्यवृत्तिर्हीयते, येन विशेषणभेदाद्विशिष्टभेदाभ्युपगमे मा न स्यात्, अन्यथा घटपटादीनामपि मुख्यवृत्त्या भेदो न स्यात्, सत्त्वद्रव्यत्वादिनाऽभेदभाजां तेषामपि स्वस्वासाधारणधर्मरूपनिमित्तभेदेनैव भेदात्, तस्माद्भवभेदेनापि मुख्यवृत्त्यैव तद्विशिष्टभेदोऽभ्युपगन्तव्य'। किञ्च कारण कार्याकारेण पूर्वस्वरूप परिहायैव परिणमति, अन्यथा कार्यकारणावस्थाद्वयसङ्कीर्णताप्रसङ्गस्स्यादिति कारणीभूतकोपपरिणत्यात्मकपूर्वस्वभावो निरुद्ध', कार्यात्मकोत्तरभवोत्पत्तिपरिणतिलक्षणस्वभावान्तरञ्चोत्पन्नमित्येकस्यापि जीवस्य स्वभावभेदेन कथञ्चिद्भेदोऽभ्युपगन्तव्यः। नन्वेव तर्हि परभवजीवात् कोपपरिणतिमापद्यमान. पुरुषो भिन्न एवास्त्वित्यत्या शङ्कानिरासार्थमाह—'परमि सयमेव भइयव्वो' परस्मिन्, भव इति शेषः, स्वयमेव पुरुषो भजनीय' पूर्वोत्तरभवानुयाय्या भद्रव्यस्वरूपेणाऽभिन्नतया व्यवस्थापनीय', य एवाह बालत्वेनास स एवाह युवत्वेन वृद्धत्वेन चोपजात इति प्रत्यभिज्ञानवद् य एवाह देवभवादिपूर्वभवे आस स एवाहमेतद्भवे सञ्जात इत्यास्तिकानामभेदप्रत्यभिज्ञानात्। यद्वा जातिस्मृत्यादिमतां कोपपरिणतिवशेनाह पूर्वमनुष्यभव परिहायात्र तिर्यक्षूत्पन्न इत्यभेदप्रत्यभिज्ञानात्, तदेवमत्राऽप्यनेकान्त एव प्रमाणकोटिमाटीकते, एतच्च निश्चयनयमाश्रित्यावसेयम्, यतो निश्चयनयः कोपपरिणतिं स्वात्मैवोत्पादयति न त्वन्यात्मेति मनुते। यद्वा कोपपरिणतिमन्यस्मिन् जीवे उत्पादयन् पुरुष कारको भवति, ततोऽसौ कोपकारकत्वेन विभजनीय', कोपपरिणतियोग्ये जीवे कारकः, अन्यत्राकारक इति, एतच्च व्यवहारनयापेक्ष्यम्, यतस्स व्यवहारप्रधान इति कोपादिपरिणति' परनिमित्तिकेति मनुते इति ॥ ७ ॥

अथ द्रव्यगुणयोः कथञ्चिद्भिन्नाभिन्नतयैव प्रतीतेस्तावनेकान्तालिङ्गितावेवेति यज्जि-नानुगैरुररीकृतं तदसहमानानां मतमुत्थापयति—

रूवरसगन्धफासा, असमाणग्गहणलक्खणा जम्हा ।
तम्हा दव्वाणुगया, गुणत्ति ते केइ इच्छंति ॥ ८ ॥

'रूवरसगन्धफासा' रूपरसगन्धस्पर्शाः "असमाणग्गहणलक्खणा जम्हा" यस्मा-दसमानग्रहणलक्षणाः । यमहमद्राक्षं तमेव स्पृशामीत्यनुसन्धानाद् दार्शनं स्पार्शनञ्च घटादि-द्रव्यमित्यादिव्यवहाराच्च द्वीन्द्रियग्राह्यत्वं घटपटादिद्रव्यस्य, रूपरसादेश्चक्षुरादिप्रतिनियतेन्द्रियजन्यप्रत्यक्षगोचरत्वमित्येवं द्रव्याद्गुणा असमानग्रहणाः, तथा संयोगजनकतावच्छेदकजातिमत्त्वं विभागजनकतावच्छेदकजातिमत्त्वं जन्यमजनकतावच्छेदकजातिमत्त्वं वा द्रव्यस्य लक्षणम्, द्रव्यत्वव्यापकतावच्छेदकसत्ताभिन्नजातिमत्त्वम्, सामान्यवत्त्वे सति कर्मान्यत्वे च सति निर्गुणत्वं वा गुणस्य लक्षणमित्येवं द्रव्याद्गुणा असमानलक्षणाः, संवदति चात्र "क्रियागुणवत्समवायिकारणम्" । १-१-१५ इति द्रव्यलक्षणम् । द्रव्याश्रय्य-गुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष' ॥ १-१-१६ इति च गुणलक्षणम् । द्रव्यगुण भिन्नलक्षणप्रतिपादनपरं वैशेषिकसूत्रद्वयमपि । तथा च गुणा द्रव्याद्भिन्ना भिन्नप्रमाणग्राह्यत्वाद्भिन्नलक्षणत्वाच्च, यो यस्माद् भिन्नप्रमाणग्राह्यो भिन्नलक्षणश्च स तस्माद्भिन्नः, यथा-जीवद्रव्यादजीवद्रव्यं घटादात्मा वेत्यनुमानेन गुणानां द्रव्याद्भिन्नत्वे सिद्धे यत्स्यात्तदाह— 'तम्हा दव्वाणुगया गुणत्ति' तस्माद्द्रव्यानुगता गुणा इति द्रव्यमनुगता द्रव्यानुगता द्रव्याश्रिता गुणा इत्यर्थः, 'ते केइ इच्छन्ति' ते केचन वैशेषिकाद्यास्तद्यूथ्या वा सिद्धान्ततत्त्वमजानाना इच्छन्ति-अभ्युपगच्छन्ति ॥ ८ ॥

तन्मतनिराचिकीर्षयाऽऽह—

दूरे ता अण्णत्तं, गुणसद्दे चेव ताव पारिच्छ ।
किं पज्जवाहिए होज्ज, पज्जवे चेव गुणसण्णा ॥ ९ ॥

'दूरे ता अण्णत्तं' दूरे तावद् अन्यत्वं, गुणगुणिनोरेकान्तेन भिन्नत्वम्, असम्भावनीयमिति यावत्, "गुणसद्दे चेव ताव पारिच्छ" गुणशब्द एव तावत्परीक्ष्यम्, कथं परीक्ष्यमित्याशङ्कायां तत्स्वरूपमाह—"किं पज्जवाहिए होज्ज पज्जवे चेव गुणसण्णा" किं पर्यायाधिके पर्यायाद्भिन्ने गुणसंज्ञा गुणशब्दो भवेत्, किं वा पर्याय एव, अत्र 'पज्जवे वा वि गुणसण्णा' इत्यपि पाठः । वा विकल्पे, उत पर्यायेऽपि गुणसंज्ञा गुणशब्दः प्रवर्तते, अर्थात् पर्यायाद्भिन्ने गुणात्मकेऽर्थे गुणशब्दः प्रवर्तते, किं वा पर्याय एव । गुणशब्दवाच्यः पर्यायाद्भिन्नो गुणात्मकोऽर्थः किं वा पर्याय एवेति विवेचनार्हमिति भावः । ननु पूर्वोक्तेन भिन्नप्रमाणग्राह्यत्वभिन्नलक्षणत्वहेतुद्वयेन गुणा द्रव्याद्भिन्ना इति सिद्धे गुणशब्दः गुणात्मक

एवार्थे प्रयोगार्हः, न तु पर्यायात्मकेऽर्थे इति तत्र किं पारीक्ष्यमिति चेत्, तन्न विद्वन्मनोरञ्जकम्, उक्तहेतुद्वयस्य कथञ्चिद्भिन्नत्वेनैव सह व्याप्यत्वेन तेन कथञ्चिद्भेदसाधने सिद्धसाधनात्। एकान्तभेदे साध्ये तस्य क्वचिदप्यप्रसिद्ध्या व्याप्यत्वाऽसिद्धेः। न च रूपवान् घट, ज्ञानवान् आत्मेत्यादिप्रतीत्या भेदे मतुप्प्रयोगाद् गुणगुणिनोरेकान्तभेदसिद्धेर्नोक्तदोष इति वाच्यम्, नित्ययोगेऽत्र मतुब्विधानात्, द्रव्यगुणयोस्तादात्म्यात् सदाऽविनिर्भागवर्त्तित्वात्, अन्यथा प्रमाणबाधोपपत्तेः। सज्ञा–सङ्ख्या–स्वलक्षणार्थक्रियाभेदाद्वा कथञ्चित्तयोर्भेदेऽपि भेदसिद्धेर्न मतुबनुपपत्ति। किञ्च नित्ययोगविहितमतुप्प्रत्ययार्थस्य नित्यसम्बन्धस्य सम्बन्धिधया कथञ्चिद्भेदाभेदात्मकस्यैव भानम्, एकान्तभेदे सम्बन्धाऽयोगात्, अन्यथा हिमवद्विन्ध्याचलयोरपि सयोगसम्बन्धस्स्यात्। अथ व्यवधानाभावस्य सयोगकारणस्याभावान्न तदुभयसयोग इति चेत्, तर्हि ययोस्सयोगस्तयोस्संयुक्ततया परिणतिभावेन तद्रूपेण तयो' कथञ्चिदभेदेनैवोपपत्तेर्नैकान्तभेद प्रमाणविषयतामास्कन्दति, नन्वेकान्तभिन्नयोरपि गुणगुणिनोस्समवायसम्बन्ध इति रूपवान् घट इत्यादिप्रतीतिस्समवायेनैवोपपत्स्यत इति चेत्, नैवम्, समवायस्य निरस्तत्वात्, सम्बन्धान्तरस्य चाऽभावात्, किञ्च गुणो धर्मितया पर्यायात्मकोऽभिप्रेतः, किं वा तदनात्मक, नाद्य, यत पर्यायस्य कथञ्चिद्द्रव्यानतिरिक्तत्वेन तदात्मकगुणस्यापि द्रव्याऽव्यतिरिक्तत्वाद्बाधः, नान्त्यः आश्रयासिद्धे, एतेन द्रव्य गुणादिभ्यो भिन्न गुणवत्त्वादित्यनुमान निरस्तम्, रूपादेरपि सङ्ख्यात्मकगुणवत्तया प्रतीयमानत्वेन तत्र व्यभिचारात्। एक रूपमत्र द्वे रूपे बहूनि रूपाणि इत्यादिप्रतीतिर्भ्रान्त्यात्मिकेति चेत्, तर्हि पृथिव्यादौ कथमभ्रान्तिरूपा सेति वक्तव्यम्। तत्र बाधकाभावादिति चेत्, तुल्यमन्यत्रापि। गुणस्य गुणवत्ताया द्रव्याश्रय्यगुणवान् सयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष' १–१–१६ इति गुणलक्षणमेव वैशेषिकसूत्रोक्त बाधकमिति चेत्, न, अगुणवानिति लक्षणांशस्याद्याप्यसिद्धेः, सङ्ख्यावत्तया प्रतीतेर्विद्यमानत्वात्। असौ भ्रान्तिरिति चेत्, तर्हि परस्पराश्रय, तथाहि–तस्या भ्रान्तित्वे लक्षणांशस्य सिद्धेर्विशिष्टलक्षणसिद्धि', तत्सिद्धौ च बाधकबलात् सङ्ख्याप्रतीतेर्भ्रान्तित्वसिद्धिरिति। न च लिङ्गान्तराद्रूपादिष्वगुणवत्त्वसिद्धेस्तस्या भ्रान्तित्वमिति नान्योऽन्याश्रय इति वाच्यम्, तत्रोपन्यस्यमानदृष्टान्तस्यापि सङ्ख्यावत्तया प्रतीयमानत्वेनागुणवत्त्वासिद्धेः। सङ्ख्यायामनवस्थितिप्रसङ्गेन निस्सङ्ख्यत्वव्यवस्थितावगुणवत्त्वसिद्धेस्सैव दृष्टान्त इति चेत्, न, तत्रापि पृथक्त्वादिप्रतीतेस्तत्सिद्धेरयोगात्। पृथक्त्वस्यापि च सङ्ख्यावत्त्वेन प्रतीतेर्न तदपि दृष्टान्तीकर्तुं योग्यमिति। न च द्रव्य एव सङ्ख्यास्वीकारे सङ्ख्यैकार्थसमवायसम्बन्धेन रूपादावपि सङ्ख्याप्रत्ययव्यवहारोपपत्तौ कल्पनालाघवाद् गुणे सङ्ख्याद्यस्वीकार इति वाच्यम्, घटे रूपरसगन्धस्पर्शा इति बहुत्वप्रतीतेरनुदयप्रसङ्गात्, आश्रयस्यैकत्वात्। व्यासज्यवृत्तिसयोगादावेकत्वप्रत्ययानुदयप्रसङ्गाच, आश्रयस्यानेकत्वात्। किञ्च गुण एव साक्षात्सम्बन्धेन

अथ द्रव्यगुणयोः कथञ्चिद्भिन्नाभिन्नतयैव प्रतीतेस्तावनेकान्तालिङ्गितावेवेति यज्जि नानुगैरुररीकृत तदसहमानानां मतमुत्थापयति—

रूवरसगन्धफासा, असमाणग्गहणलक्खणा जम्हा ।
तम्हा दव्वाणुगया, गुणत्ति ते केइ इच्छंति ॥ ८ ॥

'रूवरसगन्धफासा' रूपरसगन्धस्पर्शाः "असमाणग्गहणलक्खणा जम्हा" यस्मादसमानग्रहणलक्षणाः। यमहमद्राक्षं तमेव स्पृशामीत्यनुसन्धानाद् दार्शनं स्पार्शनञ्च घटादि द्रव्यमित्यादिव्यवहाराच्च द्वीन्द्रियग्राह्यत्वं घटपटादिद्रव्यस्य, रूपरसादेश्चक्षुरादिप्रतिनियतेन्द्रियजन्यप्रत्यक्षगोचरत्वमित्येव द्रव्याद्गुणा असमानग्रहणाः, तथा संयोगजनकतावच्छेदकजातिमत्त्वं विभागजनकतावच्छेदकजातिमत्त्वं जन्यमजनकतावच्छेदकजातिमत्त्वं वा द्रव्यस्य लक्षणम्, द्रव्यत्वव्यापकतावच्छेदकसत्ताभिन्नजातिमत्त्वम्, सामान्यवत्त्वे सति कर्मान्यत्वे च सति निर्गुणत्वं वा गुणस्य लक्षणमित्येव द्रव्याद्गुणा असमानलक्षणाः, संवदति चात्र "क्रियागुणवत्समवायिकारणम्" । १-१-१५ इति द्रव्यलक्षणम् । द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष' ॥ १-१-१६ इति च गुणलक्षणम् । द्रव्यगुण भिन्नलक्षणप्रतिपादनपरं वैशेषिकसूत्रद्वयमपि । तथा च गुणा द्रव्याद्भिन्ना भिन्नप्रमाणग्राह्यत्वाद्भिन्नलक्षणत्वाच्च, यो यस्माद् भिन्नप्रमाणग्राह्यो भिन्नलक्षणश्च स तस्माद्भिन्नः, यथा जीवद्रव्यादजीवद्रव्यं घटादात्मा चेत्यनुमानेन गुणानां द्रव्याद्भिन्नत्वे सिद्धे परस्पष्टत्तदाह–'तम्हा दव्वाणुगया गुणत्ति' तस्माद्द्रव्यानुगता गुणा इति द्रव्यमनुगता द्रव्यानुगता द्रव्याश्रिता गुणा इत्यर्थ, 'ते केइ इच्छन्ति' ते केचन वैशेषिकाद्यास्त्वयूथ्या वा सिद्धान्ततत्त्वमजानाना इच्छन्ति–अभ्युपगच्छन्ति ॥ ८ ॥

तन्मतनिराचिकिर्षयाऽऽह—

दूरे ता अण्णत्तं, गुणसद्दे चेव ताव पारिच्छ ।
किं पज्जयाहिए होज्ज, पज्जवे चेव गुणसण्णा ॥ ९ ॥

'दूरे ता अण्णत्त' दूरे तावद् अन्यत्वं, गुणगुणिनोरेकान्तेन भिन्नत्वम्, असम्भावनीयमिति यावत्, "गुणसद्दे चेव ताव पारिच्छ" गुणशब्द एव तावत्परीक्ष्यम्, कथं परीक्ष्यमित्याशङ्कायां तत्स्वरूपमाह—"किं पज्जवाहिए होज्ज पज्जवे चेव गुणसण्णा" किं पर्यायाधिके पर्यायाद्भिन्ने गुणसञ्ज्ञा गुणशब्दो भवेत्, किं वा पर्याय एव, अत्र 'पज्जवे वा वि गुणसण्णा' इत्यपि पाठः। वा विकल्पे, उत पर्यायेऽपि गुणसञ्ज्ञा गुणशब्दः प्रवर्तते, अर्थात् पर्यायाद्भिन्ने गुणात्मकेऽर्थे गुणशब्दः प्रवर्तेत, किं वा पर्याय एव । गुणशब्दवाच्यः पर्यायाद्भिन्नो गुणात्मकोऽर्थः किं वा पर्याय एवेति विवेचनार्हमिति भावः । ननु पूर्वोक्तेन भिन्नप्रमाणग्राह्यत्वभिन्नलक्षणत्वहेतुद्वयेन गुणा द्रव्याद्भिन्ना इति सिद्धे गुणशब्दः गुणात्मक

पदार्थे प्रयोगार्हा, न तु [illegible]
रञ्जकम्, उक्तहेतुद्वयस्य [illegible]
साधनात्। एकान्तेनैव [illegible]
घट, ज्ञानवान् [illegible]
इति वाच्यम्, नित्यपक्षस्य [illegible]
स्यात्, अन्यथा [illegible]
भेदेऽपि [illegible]
समर्गविषया [illegible] मानम्, एकान्तेनैव [illegible]
[illegible]

तोऽपि

-पञ्च
र्याया
योऽपि
ानवतो

पञ्चवे
र्यसङ्ग
रूपात
॥ ११

॥
परि
न्वेन म
ी वस्त्व
त्र विषय
गुण इ
ज्ञाप
ग

सङ्ख्यादिप्रत्ययव्यवहारौ, द्रव्ये तु स्वाश्रयसमवायित्वरूपपरम्परासम्बन्धेनैवेत्येव कुतो न स्यात्, अन्यथा द्रव्य एव साक्षात्सम्बन्धेन सङ्ख्यादिवत् सत्ता वर्त्तते, गुणादौ सद्बुद्धिस्तु परम्परासम्बन्धेनैवेत्येव कल्पनालाघवात् किमर्थं नाङ्गीक्रियते। किञ्च गुणस्य सर्वथा द्रव्याद्भिन्नत्वाभ्युपगमेऽवयवगुणानामवयविनि स्वसमजातीयोत्कृष्टगुणारम्भकत्वनियमेनाऽवयवद्वय उत्कृष्टगुरुत्वादवयविन्यप्युत्कृष्टतरगुरुत्वोत्पत्तेरवयवस्यापि तदानीं सत्त्वेन तद्गुरुत्वस्याथ नमनोन्नमनादिलिङ्गकानुमानादिना द्विगुणगुरुत्वोपलब्धिप्रसङ्गः, तदानीमवयवानभ्युपगमे समवायिकारणनाशात् कार्यनाशोपगमेन पटस्यापि नाशप्रसङ्गः। अथावयवोत्कृष्टगुरुत्वापेक्षयाऽवयविन्यपकृष्टगुरुत्वेऽवयविनस्तत्सम्बन्धित्वेन कारणत्वमिति विशेषसामग्रीबलादवयविन्यपकृष्टगुरुत्वमेवेत्यतो नोक्तदोष इति चेत्, मैवम्, अतिगौरवात्, गत्यन्तरे सति विशेषकल्पनाया अनवकाशत्वाच्च। तथा चेदमत्र तत्त्व-वस्तु द्रव्यपर्यायात्मकम्, तत्र कालत्रयावच्छिन्न पूर्वोत्तरपर्यायेष्वनुगतबुद्धिग्राह्य परिणामिकारणलक्षण द्रव्यम्,व्यावृत्तबुद्धिग्राह्यश्च पर्यायो द्रव्यविकारात्मकपरिणामलक्षणः, स च क्रमभाविसहभाविभेदेन द्विविधः, तत्र क्रमभाविनः पर्याय इति सहभाविनो गुण इति च सञ्ज्ञा, क्रमभाविपर्यायाः पुद्गलादीनां नीलादय, सहभाविगुणा रूपादयः, यतः पुद्गला नीलादिपूर्वपर्याय परिहृत्यानीलाभवन्तोऽपि न हि कदाऽप्यरूपिणो भवन्ति, स्वस्वरूपहानिप्रसक्तेः, उक्तञ्च श्रीमहावीरस्तवेखण्डखाद्यापरनामक ‘स्वद्रव्यपर्यायगुणानुगता हि तत्तेत्यादिश्लोकटीकायां स्वद्रव्य घटादि, तद्गुणो रूपादिः, तत्पर्यायो रक्तत्वादिरिति। आत्मनि क्रमभाविपर्यायाश्चोपाधिजन्यसुखदुःखहर्षविषादघटादिज्ञानादयः, सहभाविगुणास्तूपयोगादय', अत एव तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पञ्चमाध्यायद्विचत्वारिंशत्तमसूत्रटीकाया–‘ पर्याय एव च द्वेधा, सहक्रमविवर्तितः’ इत्युक्तम् “ विशेषोऽपि द्विरूपः, गुण पर्यायश्च ॥ ५–६ ॥ गुणः सहभावी धर्मः, यथाऽऽत्मनि विज्ञानव्यक्ति–शक्त्यादिरिति ॥ ५–७ ॥ पर्यायस्तु क्रमभावी, यथा तत्रैव सुख–दुःखादिरिति ॥ ५–८ ॥” इति प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारपञ्चमाध्यायसूत्रत्रयमप्युक्तमेवार्थं सपदति, यतो विशेषो भेद पर्याय इत्येतेषां पर्यायशब्दत्वेनात्र विशेषपदस्य पर्यायत्वावच्छिन्नपर्यायसामान्यार्थकत्वात्तद्भेदोक्त्या पर्यायत्वावच्छिन्नपर्यायसामान्यस्यैव भेदद्वयोक्तिः प्रतिपादिता। गुणपर्याययोश्च पर्यायत्वेन रूपेणैक्येऽपि सहभाविनो गुणाः, क्रमभाविनश्च पर्याया इति लक्षणभेदेन कथञ्चिद्भेदमभिप्रेत्यैव “ गुणपर्यायवद्द्रव्यम् ” ५–३७। इति पञ्चमाध्यायसप्तत्रिंशत्तमसूत्र भगवतोमास्वातिना भाणायि, तत्र गुणपदसाहचर्यात्पर्यायपदेन क्रमभाविलक्षणपर्यायविशेष एव गृहीतः, न तु पर्यायत्वावच्छिन्नपर्यायसामान्यमिति सिद्धमेतत् वस्तुतो गुणा' पर्यायभेदरूपत्वात्तदन्तर्गता एव, न तु तद्व्यतिरिक्ता इति ॥ ९ ॥

तथा च द्रव्यार्थिकनयगोचरद्रव्यत्वेन पर्यायार्थिकनयविषयपर्यायत्वेन द्रव्य पर्यायाश्चेति विभागो युक्त, न तु द्रव्य गुणा पर्यायाश्चेति द्रव्यत्वेन गुणत्वेन पर्यायत्वेनेति

प्रकारत्रयेण, यदि च गुणोऽपि पर्यायातिरिक्तस्स्याचदा तद्ग्राहकतृतीयगुणास्तिकनयोऽपि त्रिलोकाधिपतिप्रभुणा प्रवचनीयस्स्यादित्याह—

दो उण णया भगवया, दव्वट्ठियपज्जवट्ठिया णियया ।
एत्तो य गुणविसेसे, गुणट्ठियणओ वि जुज्जतो ॥ १० ॥

'दो उण णया भगवया' द्वौ पुनः नयौ-द्वावेव मूलनयौ भगवता 'दव्वट्ठिय-पज्जवट्ठिया णियया' द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकौ नियमितौ 'एत्तो य गुणविसेसे' एतस्माच्च पर्यायाद्धिके गुणविशेषे ग्राह्ये सति तद्ग्राहक 'गुणट्ठियणओ वि जुज्जतो' गुणार्थिकनयोऽपि युज्यमानः, नियमयितुं स्यादिति शेषः । अन्यथा नयानामव्यापकत्वं स्यात्, केवलिभगवतो वा तदपरिज्ञानं प्रसज्येत ॥ १० ॥

न च भगवता गुणार्थिकनयोऽपि नियमितः, किन्तु पर्यायार्थिकनय एवेत्याह—

जं च पुण अरिहया तेसु तेसु सुत्तेसु गोयमाईणं ।
पज्जवसण्णा णियया, वागरिया तेण पज्जाया ॥ ११ ॥

'जं च पुण अरिहया तेसु तेसु सुत्तेसु' यच्च पुनरर्हता तेषु तेषु सूत्रेषु 'वण्णपज्जवेहिं गंधपज्जवेहिं' (भग० सू० शत० १४, उ० ४) इत्यादिना 'पज्जवसण्णा णियया' पर्यायसंज्ञा नियमिता, वर्णादिष्विति शेषः 'गोयमाईण वागरिया' गौतमादिभ्यो व्याकृता व्याख्याता 'तेण पज्जाया' तेन पर्यायाः, ततः पर्याया एव वर्णादयो न गुणा इत्यभिप्रायः ॥ ११ ॥

अथ तत्र गुण एव पर्यायशब्देनोक्तः किं न स्यादित्याशङ्कायामाह—

परिगमणं पज्जाओ, अणेगकरणं गुणत्ति तुल्लत्था ।
तह वि ण गुणत्ति भण्णइ, पज्जवणयदेसणा जम्हा ॥ १२ ॥

'परिगमणं पज्जाओ' परि-समन्तात्सहभाविभिः क्रमभाविभिश्च भेदैर्वस्तुनः परिगतस्य गमनं 'ये गत्यर्थास्ते ज्ञानार्थाः' इति वचनात् परिच्छेदो यः स पर्यायः । नन्वेवं सति शास्त्रान्तरे पर्येत्युत्पादविनाशौ प्राप्नोतीति पर्याय इति व्युत्पत्त्योत्पादविनाशशाली वस्त्वंश एव पर्यायः प्रतिपादित इति कथमनेन सह न विरोध इति चेत्, मैवम्, अत्र विषय-विषयिणोरभेदविवक्षणेन तथोक्तत्वात् । "अणेगकरणं गुणत्ति" अनेककरणं गुण इति अनेकरूपतया वस्तुनः करणं 'करोतेर्ज्ञानार्थत्वात् 'परौ भृषोऽवज्ञाने' इति ज्ञापकात्' धातूनामनेकार्थत्वात् ज्ञानं, पूर्ववद्विषयविषयिणोरभेदादेव गुणः, पर्यायस्य परिगमणमिति गुणस्यानेककरणमिति च व्युत्पत्तिनिमित्तमपेक्ष्य 'तुल्लत्था' तुल्यार्थौ गुणपर्यायशब्दौ 'तह वि ण गुणत्ति भण्णइ' तथापि न गुणा इति भण्यन्ते, पर्याया गुणशब्दवाच्यत्वात् रूपादिवद्गुणा एवेति नाभिधीयन्ते, पर्यायविशेषवाचकस्य गुणशब्दस्य पर्यायविशेषोक्तावेव

प्रवृत्तिभावात् पर्यायसामान्योक्तावप्रवृत्तेः, न च गुणशब्दस्य पर्यायसामान्य एव शक्तिः कल्पनीया, तत्र हेतुमाह–' पज्जवणयदेसणा जम्हा ' यस्मात् पर्यायनयदेशना, पर्यायार्थिकनयद्वारेणैव भगवता देशना कृता, न तु गुणार्थिकनयद्वारा, अतो व्युत्पत्तिनिमित्ततौल्येऽपि गुणपर्यायशब्दयोस्सामान्यविशेषभावापन्नप्रवृत्तिनिमित्तभेदान्न पर्यायशब्दत्वमिति । अयमभावः–गवि गवये च व्युत्पत्तिनिमित्तस्य गमनाश्रयत्वस्येव गुणे पर्याये च व्युत्पत्तिनिमित्तस्य ज्ञानत्वस्य समानतया विद्यमानत्वेऽपि गुणशब्दस्य पर्यायविशेषत्वावच्छिन्नार्थकत्वेन तस्य पर्यायविशेषत्वप्रवृत्तिनिमित्तकत्वम्, पर्यायशब्दस्य न पर्यायत्वावच्छिन्नार्थकत्वेन तस्य पर्यायसामान्यत्वप्रवृत्तिनिमित्तकत्वमित्येव तयोः गोगवयशब्दयोरिव प्रवृत्तिनिमित्तभेदान्न पर्यायशब्दत्वमिति ॥ १२ ॥

ननु पर्यायाणां प्रतिक्षणपरावर्त्तनस्वभावत्वात् पर्यायशब्दः क्रमभाविधर्मवाचक एव, गुणानां यावद्द्रव्यावस्थायित्वाद् गुणशब्दश्च सहभाविधर्मवाचक एव, तथा च गुणाः पर्यायेभ्योऽतिरिच्यन्ते, पर्यायातिरिक्तगुणाभिधानान्यथाऽनुपपत्त्या च गुणार्थिकनयोऽपि भगवताऽर्थादुपदिष्ट एवेत्याशङ्कां प्रतिपादयति—

जपंति अत्थि समए, एगगुणो दसगुणो अणंतगुणो ।
रूवाइयपरिणामो, भण्णइ तम्हा गुणविसेसो ॥ १३ ॥

' जपंति ' जल्पन्ति, प्रतिपादयन्ति द्रव्यगुणान्यत्ववादिन इति शेषः, किं जल्पन्तीति कर्माकाङ्क्षायामाह–' अत्थि समए, एगगुणो दसगुणो अणंतगुणो ' इति । अस्ति विद्यत एव, समये सिद्धान्ते, ' एगगुणकालए दुगुणकालए ' इत्यादिवचनात् एकगुणकालः दशगुणकालः सङ्ख्यगुणकाल' असङ्ख्यगुणकालः अनन्तगुणकाल इत्यादि व्यपदेशोरूपादौ, ततः किमित्यत आह–' रूवाइयपरिणामो, भण्णइ तम्हा गुणविसेसो ' इति, तस्माद्रूपादिकपरिणामो गुणविशेष एवेति भण्यते, ततोऽस्ति गुणार्थिकोऽपि नयः, उपदिष्टश्च भगवतेति नात्रापसिद्धान्तत्वप्रसङ्गः ॥ १३ ॥

अत्राह सिद्धान्तवादी—

गुणसद्दमंतरेणा-वि तं तु पज्जवविसेससंखाणं ।
सिज्झइ णवरं संखा-णसत्थधम्मो तइ (न उ) गुणोत्ति ॥ १४ ॥

" गुणसद्दमंतरेणावि तं तु पज्जवविसेससखाण सिज्झइ " तत्तु एकगुणकाल इत्यादि प्रागुक्तवचनं तु, गुणशब्दमन्तरेणापि गुणत्वावच्छिन्नरूपरसादिगुणात्मकार्थबोधानुकूलशक्तिमद्गुणशब्दं विनाऽपि, पर्यायविशेषसङ्ख्यानं पर्यायविशेषसङ्ख्यावाचकं सिद्ध्यति, न त्वतिरिक्तगुणगुणार्थिकनयप्रतिपादनपरम्, नन्वेवं तर्ह्येकगुणकाल. दशगुणकाल इत्यादिव्यपदेशः किं निबन्धन इत्यत आह–णवरं संखाणसत्थधम्मो तइगुणोत्ति, नवरं सङ्ख्यानशास्त्रधर्मः

तावद्गुण इति, तत्र गुणशब्दस्यैतावताऽधिको न्यूनो वा भाव इति गणितशास्त्रधर्मवाचकत्वादिति । अत्र 'न उ गुणो त्ति' इति 'ण य गुणो त्ति' इत्यपि च पाठः । उक्तव्यपदेशः एतावताऽधिको न्यूनो वा भाव इति गणितशास्त्रधर्मवाचकशब्देनैव भवति, न तु गुणगुणार्थिकनयप्रतिपादनाभिप्रायेण, येन च रूपेण विभिन्नमूलव्याकरणिनयप्राप्तता तेनैव रूपेण विभागः, अन्यथा विभागस्य सम्प्रदायविरुद्धत्वात्, अत एव "गुणपर्यायवद्द्रव्यम्" ५-३७ इति तत्त्वार्थसूत्रे गुणपर्यायपदाभ्यां युगपदऽयुगपद्भाविपर्यायविशेषोपादानेऽपि न द्रव्यत्वेन गुणत्वेन पर्यायत्वेनेति त्रैविध्येन विभाग इति भावः ॥ १४ ॥

दृष्टान्तद्वारेणाद्युमर्थं दृढीकर्तुमाह—

> जह दससु दसगुणम्मि य, एगम्मि दसत्तणं समं चेव ।
> अहियम्मि वि गुणसद्दे, तहेव एयं पि दट्ठव्वं ॥ १५ ॥

"जहा दससु एगमि य" यथा दशसु, द्रव्येष्विति शेषः, एकस्मिंश्च, द्रव्य इति शेषः, तद्विशिनष्टि-'दसगुणम्मि' दशगुणे दशगुणिते "अहियमि वि गुणसद्दे" अधिकेऽपि गुणशब्दे, गुणशब्दातिरेकेऽपि, "दसत्तण समं चेव" दशत्वं समं चैव, चस्य पादपूरणार्थकत्वात् सममेव । दृष्टान्तमुपदर्श्य दार्ष्टान्तिके उपनयमाह-"तहेव एयं पि दट्ठव्वं" तथैव तदपि द्रष्टव्यम्, तथैवैतदपि न भिद्यते, परमाणुरेकगुणकृष्णादिरिति, एकादिशब्दाधिकगुणशब्देनापि तदधिकार्थाऽप्रतिपादनादिति द्रष्टव्यम्, तथा च तेनापि नातिरिक्तगुणसिद्धिरिति भावः । न चैव गुणानां पर्यायानतिरेके वाचकवाचकसत्त्वेऽपि "गुणपर्यायवद् द्रव्य" इति विरुध्यते, युगपदयुगपद्भाविपर्यायविशेषप्रतिपादनार्थत्वात्तस्य, सहभाविधर्मवाचकगुणशब्दसमभिव्याहृतस्य पर्यायशब्दस्य क्रमभाविधर्मवाचकस्यापि 'गोबलीवर्द 'न्यायेन तदतिरिक्तधर्मप्रतिपादकत्वे दोषाभावात्, न हि काल्पनिको गुणपर्याययोर्भेदो वास्तवं तदभेदं विरुणद्धि, कल्पनाबीजं च तत्र तत्र प्रदेशे व्युत्पत्तिविशेषाधानमेव ॥ अत एव—

> गुणाणमासओ दव्वं, एगदव्वस्सिया गुणा ।
> लक्खणं पज्जवाणं तु, उभओ अस्सिया भवे ॥

इत्युत्तराध्ययनाष्टाविंशतितमाध्ययनषष्ठगाथावचनं 'दव्वनामे गुणनामे पज्जवणामे' इत्याद्यनुयोगद्वारवचनं च शिष्यव्युत्पत्तिविशेषाय काल्पनिकगुणपर्यायभेदाभिधानपरमेव, स्वाभाविकतद्भेदाभिधानपरत्वे तु गुणार्थिकनयप्रसङ्गस्स्यात् । 'न च नाणदंसणट्ठयाए दुवे अहं' इत्यादि भगवतीसूत्रवचनमेव गुणार्थिकनयप्रतिपादकमित्याशङ्कितव्यम्, यत उक्तसूत्रवचनस्य द्रव्यार्थिकनयाभ्युपगतस्याऽऽत्मद्रव्यस्वरूपेणैकस्यात्मनः पर्यायार्थिकनयमतेनैव ज्ञानदर्शनादिभेदेन द्वैविध्यादिप्रतिपादनपरत्वान्नातो गुणार्थिकनयप्रवृत्तिर्युक्तेति । तदेव गुणस्य पर्यायान्तर्भावेण पर्यायस्य च सञ्ज्ञासङ्ख्याऽर्थक्रियादिभेदेन कथञ्चिद्भिन्नत्वेऽपि

मवद्भिर्विनाऽन्यैस्सचेतोभिर्वक्तु शक्यते, भवदुक्ते पुरुषदृष्टान्तेऽपि सर्वथैक्ये वयोभेदेनाल्पो महान्वेति विशेषप्रतीतिर्नैव भवेदित्याशयेनोत्तरार्द्धमाह-ण उ इत्यादि-न स्वल्पको महान् वा भवति सम्बन्धतः पुरुषः । अयम्भावः-पुत्रादिसम्बन्धद्वारेण पित्रादिरेव पुरुषो भवेद्, न स्वल्पो महान् चेति युक्तः, विशेषप्रतिपत्तिर्लाक्षणिकैव मिथ्यारूपैव वेति चेत्, तर्हि सामान्यप्रतिपत्तिरपि तथाभिकैव स्यात्, विनिगमनायुक्त्यभावात् । एतेनैकस्मिन्नपि पुरुषे पितृपुत्रादिगतपुत्रपित्रादिसंस्कारजनकस्वभावतया तादृशसंस्कारलक्षणसहकारिभेदाद्भिन्नपुत्रपित्रादिव्यपदेशो भविष्यतीत्यलमेकानेकत्वकल्पनयेत्यपि निरस्तम्, कार्यताभेदेन तन्निरूपककारणतास्वभावभेदस्यावश्यकत्वेनैकस्याप्यनेकात्मकत्वात्, अन्यथैकस्यानेकसहकारित्वाऽयोगेन विविक्तव्यवहारोच्छेदस्स्यात्, न चैवं तर्ह्येकत्वेनानुभूयमानस्य घटस्य जलाहरणाद्यनेककार्यकारित्वेनानेकत्वापत्तिरिति वाच्यम्, तथाऽभ्युपगन्तृनयमपेक्ष्येष्टापत्त्या परिहृतत्वात् । योऽप्येकस्यानेकरूपताऽऽपादनतर्क उक्तः, सोऽपि तदाभासः, नयसमूहात्मक जैनसिद्धान्ते समभिरूढनयाभिप्रायेण सञ्ज्ञाभेदेनैकस्याप्यनेकत्वेन स्वीकृततयेष्टत्वात् ॥१९॥

अनैकान्ताभेदवाद्यारेकते—

भण्णइ सम्बन्धवसा, जइ संबंधित्तण अणुमय ते ।
णणु सम्बन्धविसेसे, संबंधिविसेसण सिद्ध ॥ २० ॥

'भण्णइ' भण्यते एकान्ताभेदवादिना समाधीयते, किं भण्यत इति कर्माकाङ्क्षायामाह-संबंधवसा इत्यादि, 'संबंधवसा जइ' यदि सम्बन्धवशात् सम्बन्धसामान्यवशात्, 'संबंधित्तण अणुमय ते' सम्बन्धित्वमनुमतं सम्बन्धित्वसामान्यमनुमतं तव, तदा "णणु संबंधविसेसे संबंधिविसेसण सिद्ध" ननु सम्बन्धविशेषे सम्बन्धिविशेषण सिद्धम् । सम्बन्धविशेषद्वारेण सम्बन्धिविशेषोऽपि किं नाभ्युपगम्यते ? इत्यर्थः ॥ २० ॥

स्याद्वादसिद्धान्तवादी समाधत्ते—

जुज्जइ संबंधवसा संबंधिविसेसण ण उण एयं ।
णयणाइविसेसकओ(गओ) रूवाइविसेसपरिणामो ॥ २१ ॥

'जुज्जइ संबंधवसा संबंधिविसेसण' युज्यते सम्बन्धवशात् सम्बन्धिविशेषण, सम्बन्धविशेषप्रयुक्तः सम्बन्धिविशेषोऽपि युक्त एव, यथा पुरुषसामान्यापेक्षया दण्डकुण्डलादिसम्बन्धविशिष्टः पुरुषो भिन्न एव प्रतीयते, पुरुषसामान्ये दण्डी पुरुष इति कुण्डली पुरुष इति च प्रतीत्यभावात्, दण्डविशिष्टे कुण्डलविशिष्टे पुंसि चोक्तप्रतीतिभावात् । अत्र भिन्नताप्रयोजको दण्डकुण्डलाद्यात्मकसम्बन्धिविशेषजनितसंयोगसम्बन्धविशेष एवेति सम्बन्धविशेषात् सम्बन्धिविशेषोऽस्मन्मते सिद्धस्येवेति सम्बन्धविशेषद्वारेण सम्बन्धिविशेषापादनमप्यस्मन्मतानुकूलमेव, इष्टत्वात्, भवन्मते तु न सम्बन्धिविशेषो नापि सम्बन्ध-

विशेषरसङ्गच्छत इति कुतो नयनादिसम्बन्धिविशेषजनितसम्बन्धविशेषकृतो रूपादिविशेषपरिणाम इत्याह-' न उण एय ' इत्यादि ॥ २१ ॥

' नन्वनेकान्तवादिनां भवतां मतेऽपि रूपरसादेः षड्गुणहानिवृद्धिरूपवैषम्यपरिणतिः कथमुपपन्ना भवतीति पराशङ्कामुपदर्श्य तादृशपरिणत्युपपादनायाह ग्रन्थकारः—

भण्णइ विसमपरिणयं, कह एयं होहिइत्ति उवणीयं ।
तं होइ परनिमित्तं, ण वत्ति एत्थत्थि एगंतो ॥ २२ ॥

' भण्णइ ' भण्यते द्रव्यैकान्तवादिना, तेन यद् भण्यते तदाह-" विसमपरिणयं कह एयं होहिइ त्ति " विषमपरिणतं कथमेतत् भविष्यतीति । अयम्भावः-शीतोष्णस्पर्शवदेकत्रैकदा विरोधादेतदाऽऽम्रफलादि द्विगुणाद्यनन्तगुणवृद्धिहानिरूपविषमपरिणतिपरिणतं कथं भविष्यतीति, एवं परेण प्रेरिते सति तदुपपादनायाह-उवणीय इत्यादि । ' विसमपरिणई कह एयं होहिइत्ति ' इत्येवं पाठे त्वयमर्थः-शीतोष्णस्पर्शवदेकत्रैकदा विरोधादेकत्राम्रफलादौ विषमपरिणतिः कथमेषा परिदृश्यमाना भवतीति यद्भण्यते परेण तदुपपादनायाह-उवणीय इत्यादि, उपनीतं उपदर्शितमास्तेनेति शेषः, तेन स्वगिरा श्रोतृश्रुतज्ञानगोचरीकृतमित्यर्थः, यदुपनीतं तदेवाह-' तं होइ परणिमित्तं ' तद् वैषम्यं भवति परनिमित्तम्, यथा कारणं तथा कार्यमिति न्यायेन कार्यमात्रे द्रव्यक्षेत्रकालभावानां कारणत्वात् तद्रूपसहकारिवैचित्र्यबलतः कार्यमपि विचित्रभावमवाप्नोतीति तदाऽऽम्रादिफलमपि तेन विषमरूपतया परिणमतीति वैषम्यं परनिमित्तमित्यर्थः. ' ण वत्ति एत्थत्थि एगंतो ' न वा ' परनिमित्तमेव ' इत्यत्राप्येकान्तोऽस्ति, उपादानविधया स्वस्यापि कथञ्चिन्निमित्तत्वात्, अन्यथा द्विगुणरसादीनां एष एवोपादानाख्याश्रयो न त्वन्य इत्याश्रयनियमो नैव स्यात्, विरोधश्च कालभेदेन देशभेदेन वा निरसनीयः, न चैकत्रैव प्रदेशे द्विगुणरसादित्वे एकगुणरसादिद्वयसमावेशाद्विरोधस्सम्भावनीयः, एकैकगुणापेक्षया द्विगुणपर्यायवतो रसस्य प्रत्येकातिरिक्तत्वेनाविरोधात्, अत एव परापेक्षया षट्स्थानपतितत्वमप्यविरुद्धम्, आपेक्षिकधर्मयोर्ह्रस्वत्वदीर्घत्वयोरिव विरोधासिद्धेरिति दिक्। तन्नैकान्तद्रव्याद्वैतवादः सङ्गतिमङ्गति । एतेन अथास्तु तर्हि प्रमाणकोटिं नीत एकान्तगुणाद्वैतवादः, रूपादिगुणैरेव द्रव्यकार्योपपत्तेः, अनेकान्तवादस्य तु विरोधादिदोषाघ्रातत्वेन कथमपि नावकाश इत्यपि निरस्तम्, आश्रयाभावे आश्रितानुपपत्ते , निराधार एवेति चेत्, न, यमहमद्राक्षं तमेव स्पृशामीति प्रतिसन्धानेन तदाश्रयद्रव्यस्यानुभूयमानत्वात्, न च तद्विषयो रूपादिरेवेति वाच्यम्, जात्यन्धस्यापि नीलादिप्रत्ययप्रसङ्गेन तस्य द्वीन्द्रियाऽग्राह्यत्वात्, न चैकमेव वस्तु नयनेन रूपत्वेन त्वचा स्पर्शत्वेन गृह्यत इत्यपि वाच्यम्, तयोर्विरुद्धत्वेन तदाश्रयैकवस्तुनोऽभावात् । अथ रूपत्वस्पर्शत्वयोरेक एव धर्मी, विरोधे मानाभावादिति चेत्, आः ! कीदृशमज्ञानविलसितम्,

येन तयोर्विरोधित्वेऽप्यविरोधित्वम्, भिन्नापेक्षया कथञ्चिद्भेदाभेदयोस्त्वविरोधित्वेऽपि विरोधित्वमभ्युपगतम्। किञ्च रूपवान् घटः, ज्ञानवानात्मेत्यादिप्रतीतिर्नैव भवेत्, किन्तु भवन्मते रूपं घटः ज्ञानमात्मेत्यादिप्रतीतिस्स्यात्। अन्यच्च पीतश्शङ्ख इति भ्रान्तप्रतीतौ श्वैत्यानुपलम्भेऽपि तदाश्रयोपलम्भतो जात्यन्धपुंसा सचक्षुःपुंसाऽन्धकारे च रूपाग्रहेऽपि शङ्खस्य त्वचा ग्राह्यत्वं द्रव्यस्यैव माभाज्य किमिति न कल्पयसि ?। पीतात्मकतयोत्पन्नः शङ्ख एवोक्तभ्रान्तप्रतीतौ भासत इति चेत्, न, स्वस्थपुरुषैः श्वैत्यस्यैवोपलम्भात्। भ्रान्त पुरुषापेक्षया पीतात्मकः, स्वस्थपुरुषापेक्षया च श्वैत्यात्मक एवैकदा शङ्ख उत्पन्न इति तून्म त्तवचनवदुपेक्षणीयमेव, एकस्य शङ्खस्यैककालावच्छेदेनोभयात्मकतया केनापि विदुषाऽनभ्यु पगमात्। तदेवं सिद्धान्तोपनिषद्विचारारूढप्रमाणकान्तमनेकान्तवादं स्वीकुरु, परिहर च द्रव्यैकान्तवादमिवोक्तदोषमुद्गरप्रहारभीत्या गुणैकान्तवादमपीत्यलं प्रसङ्गानुप्रसङ्गेन ॥ २२ ॥

अथ द्रव्यगुणयोर्भेदैकान्तवादिनो द्रव्यगुणलक्षणानुपपत्तिमुद्भावयन्ति—

दव्वस्स ठिई जम्मवि-गमा य गुणलक्खणं ति वत्तव्वं।
एवं सइ केवलिणो, जुज्जइ तं णो उ दवियस्स ॥ २३ ॥

'दव्वस्स ठिई' द्रव्यस्य स्थितिर्ध्रौव्यं लक्षणमिति शेषः, यद्वा 'गुणलक्खणं' इत्यस्माद्विच्छिद्य लक्षणमिति सम्बन्धः। 'जम्मविगमा य गुणलक्खणं ति वत्तव्वं' जन्म विगमौ उत्पादव्ययौ च गुणानां लक्षणं गुणलक्षणमिति वक्तव्यं स्यात्। 'एवं सइ केवलिणो जुज्जइ तं' एवं सति, एवमभ्युपगमे सति, केवलिनः करामलकवत्साक्षात्कृतविश्वविश्व तत्त्वस्य युज्यते तदेतल्लक्षणम्, तथाहि–केवलिनः केवलज्ञानमुत्पन्नं सत्क्षायिकत्वात् स्व-रूपतो न व्ययमेतीति तदभिन्नत्वात्तद्रूपेण केवलिनो ध्रौव्यम्–प्रतिक्षणचेतनाचेतनात्मक ज्ञेयपरिणतिपराधीनतया तद्विषयकं केवलज्ञानमपि प्रतिक्षणं परावर्त्तत इत्युत्पादव्ययस्वभाव-केवलज्ञानरूपेण तदभिन्नत्वात् केवलिनोऽपि प्रतिक्षणोत्पादव्ययावितिं तस्य त्रिलक्षणत्वं घटते 'णो उ दवियस्स' न तु द्रव्यस्याण्वादेर्लक्षणमिदं युज्यते, न ह्यणौ रूपादयो जायन्ते अत्यन्तभिन्नत्वात् गवाश्वादिवत्, अथवा केवलिनोऽपि सकलज्ञेयग्राहिणो नैतल्लक्षणं युज्यते, न चापि द्रव्यस्याचेतनस्य, गुणगुणिनोरत्यन्तभेदे सति उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वलक्षणं सत्त्वं यद्भवतोऽनुमतं तन्न द्रव्ये,तत्र ध्रौव्यस्यैवैकस्य भावात्, नापि गुणे, तत्रोत्पादव्ययोरेव सद्भावात्,तथा च असत्त्वं किञ्चिल्लक्षणालिङ्गितं भवतीति भवदनुमतोक्तसत्त्वाभावादसतोश्च द्रव्य गुणयोः खरविषाणादेरिव लक्षणाऽसम्भवादिति द्रव्यार्थान्तरभूतगुणवादिनो ब्रुवन्ति ॥२३॥

अत्रोत्तरमाह सूरिः—

दव्वत्थंतरभूया, मुत्तामुत्ता य (च) ते गुणा होज्जा।
जइ मुत्ता परमाणू, नत्थि अमुत्तेसु अग्गहणं ॥ २४ ॥

'ते दव्वत्थंतरभूआ गुणा मुत्ता मुत्ता व होज्जा' ते तव, मत इति शेष'। द्रव्यार्थान्तरभूता गुणा मूर्ता अमूर्ता वा भवेयुः, अथवा द्रव्यार्थान्तरभूतास्ते पूर्वोक्तलक्षणलक्षिता गुणा मूर्त्ता अमूर्त्ता वा भवेयु, ते गुणा' किं मूर्त्ता अमूर्त्ता वेति भावः। 'जइ मुत्ता परमाणू नत्थि' यदि मूर्त्ताः यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात्तर्हि परमाणवो न सन्ति न भवन्ति, मूर्त्तिमद्रूपाद्याधारत्वात्, अनेकप्रादेशिकस्कन्धवत्। अथ यद्यमूर्त्तास्तर्हि तेषामग्रहणम्, अमूर्त्तत्वात्, आकाशवदित्याशयेनाह–'अमुत्तेसु अग्गहण' अत्र सप्तम्या. षष्ठ्यर्थत्वात् अमूर्त्तानामग्रहणमित्यर्थ', ततो द्रव्यगुणयो' कथञ्चिद्भेदाभेदावभ्युपगमनीयौ, अन्यथा प्रतीतिविरोधस्स्यात्, तथाहि–द्रव्यगुणयोर्यथाक्रममेकानेकप्रत्ययगम्यत्वात्कथञ्चिद्भेद प्रतीयते, कथञ्चिदभेदोऽपि, रूपाद्यात्मना द्रव्यस्वरूपस्य रूपादीनां च द्रव्यात्मकतया प्रतीतेः, अन्यथा तदभावापत्तेः ॥ २४ ॥

एतच्च विवक्षामात्रेणोच्यते, अन्यथा जात्यन्तरात्मके वस्तुनि भेदाभेदाद्यन्यतरकथाया एवासम्भवात्, न हि चित्रं वस्तु नीलपीताद्यन्यतरतया कथ्यते चर्च्यते वा, एकतरजिज्ञासया केवल तथा प्रतीयत इति। एतदेवाह–'सीसमई' इत्यादि। यद्वा यद्यप्यार्हतसिद्धान्तो क्तानेकान्ततत्त्वाभ्यामजन्यतद्विषयकपरिपुष्टबुद्धीना सप्तभङ्ग्यात्मकप्रमाणवाक्यस्यैव सप्तविधजिज्ञासानिरर्थक्रमस्तधर्मप्रकारकैकधर्मिविशेष्यकाखण्डबोधजनकतापर्याप्तिमत्त्वादुत्सर्गत-स्स्याद्वादरूपप्रमाणवाक्यस्य तथाऽनन्तधर्मात्मकस्त्वेकदेशोऽपि स्याद्वादरूप एवेति हेतो, रितरधर्माऽप्रतिक्षेपितयाऽन्याशेपदेशमाकाङ्क्षिकदेशबोधजनकानां स्याद्वादैकवाक्यतापन्नतत्त्वनयवाक्यानां चाभिधानमेवोचितम्, ताभ्यामेव यथार्थतत्त्वाधिगतेः, सवदति चात्र "प्रमाणनयैरधिगम ।" १–६ इति तत्त्वार्थसूत्रमपि, न त्वितरधर्मानपेक्षितयैकधर्ममात्रप्रतिपादकस्वतन्त्रतत्तन्नयवाक्यानाम्। एकान्ततत्त्वानामसद्रूपत्वेन तत्प्रतिपादकाना तेषा मिथ्यारूपत्वात्, तथापि स्याद्वादवाक्यात्मकप्रमाणवाक्यजन्याशेषांशविशिष्टपरिपूर्णवस्तु-विषयकनिराकाङ्क्षशाब्दबोधात्मकज्ञानविशेषकार्यैकारणमात्रविज्ञानरूपा या स्याद्वादव्युत्पत्ति-स्तदर्थितया शिष्याणामवग्राहिषु नयवादव्युत्पत्त्यवादतः प्रवृत्तिरुचितैव, न हि प्रत्येकतत्तदंशज्ञानाभावे निखिलांशविशिष्टार्थज्ञान भवितुमर्हतीत्यशेषांशविशिष्टार्थबोधे एकैकतत्तदंशविषयकनयज्ञानानामपि हेतुत्वम्। ननु तदितरांशनिरपेक्षतत्तदंशविषयकनयवादानां मिथोविरोधिनां तद्विषयाऽसत्यत्वेनायथार्थज्ञानजनकत्वाच्चततो मिथ्यारूपत्वादसत्यत्वेन तदुक्तयुक्त्याश्रयण नोचितमिति चेत्, सत्यम्, तथापि "असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा, ततः सत्य समीहते" इत्यादिन्यायेन शिष्यमतिनिस्फारणार्थं तदुक्तयुक्त्याश्रयणमपि न्याय्यम्, एकान्तविषयाऽसत्यत्वेन तत्प्रतिपादकानां सर्वेषां नयवादानां स्वरूपतोऽसत्यत्वेऽपि स्याद्वादव्युत्पादकतया फलत. सत्यत्वादित्याशयेनाह—

सीसमईविप्फारण-मेत्तत्थोय कओ समुल्लावो ।
इहरा कहामुहं चेव, नत्थि एव ससमयम्मि ॥ २५ ॥

" सीसमईविप्फारणमेत्तत्थोय " शिष्यमतिविस्फारणमात्रार्थोऽय, विनीतविनेयबुद्धिविकाशनमात्रफलकोऽय, त्रिकरणयोगशुद्धिपुरस्सरश्रवणैकतानानामन्तेवासिनां विनयभक्तिभावेन सुगुरूपासकानां सप्तभङ्ग्यात्मकमहावाक्यजन्यप्रमाणात्मकाऽखण्डशाब्दबोधजनकावान्तरनयवाक्यार्थविषयकखण्डबोधोत्पादनमात्रफलकोऽयमिति यावत् । " कओ समुल्लावो " कृतः समुल्लापः, विहितः प्रबन्धः । ' इहरा ' इतरथा स्याद्वादस्य वस्तुत्वव्यापकत्वेन वस्तुमात्रस्यानेकान्तात्मकत्वात् ' कहामुह चेव नत्थि एव ससमयम्मि ' किमेते गुणा गुणिनो भिन्ना आहोस्विदभिन्ना इत्येवं स्वसमये अर्हत्सिद्धान्ते कथैवेश नास्ति, एकान्तनयविषयाऽसत्त्वेन तत्कथा नैव प्रमाणभावं भजत इति स्याद्वादागमवत्त्वहीन न सा प्रतिपादनीया, अत एव " नैवावधारणीं भाषां भाषेत " इति सिद्धान्तोक्तमपि सङ्गच्छते । अयञ्च निषेधः स्वतन्त्रनयविषय एव, स्याद्वादैकवाक्यतापन्ननयवाक्यानां तु परस्परनिरूप्यनिरूपकभावापन्नविषयताकनिराकाङ्क्षाऽखण्डमहावाक्यार्थबोधानुकूलांशबोधजनकतया सुनयरूपत्वादेव तत्कथा नाप्रतिपादनीया, अपेक्षावचनात्मकसुनयवाक्यबलादेव सापेक्षप्रतिनियतधर्मप्रकारकैकधर्मिविशेष्यकबोधद्वारा निर्दुष्टस्य लक्ष्यलक्षणादिव्यवहारस्य विशेष्यविशेषणभावादिव्यवहारस्य प्रवृत्तिनिवृत्त्यादिव्यवहारस्य च सिद्धेरिति भावः ॥ २५ ॥

यद्वस्तु यद्धर्मान्वित तद्वस्तु तद्रूपेणैव प्रतिपादयन्तस्सम्यग्वादिनः, न त्वन्यथेति पूर्वोक्तनीत्या जीवाजीवादिनिखिलवस्तु अनेकान्तात्मकतया प्रत्यक्षानुमानागमादिप्रमाणसिद्धमप्येकान्तात्मकतया ये तत्प्रतिपादयन्ति ते मिथ्यावादिन इति न ते यथार्थतत्त्वमधिगच्छन्तीति प्रतिपादयितुमाह—

ण वि अत्थि अण्णवाओ, ण वि तव्वाओ जिणोवएसम्मि ।
त चेव य मण्णंता, अवमण्णंता ण याणंति ॥ २६ ॥

' ण वि अत्थि अण्णवाओ ' अत्रापेरेवार्थत्वान्नैवास्ति अन्यवादः, गुणगुणिनोरेकान्तभेदवादः । ' ण वि तव्वाओ ' नाऽपि तद्वादः, तयोरेकान्ताऽभेदवादः, कस्मिन् सिद्धान्त इत्याशङ्कायामाह–' जिणोवएसम्मि ' जिनोपदेशे, अर्हत्प्रणीतसिद्धान्ते, वस्तुत्वव्यापकत्वादनेकान्तात्मकत्वस्य, वस्तुमात्रस्य कथञ्चिदतद्रूपधर्मोपेतत्वात् । ' त चेव य मण्णता ' तदेव अभिन्नमेव चकारादेकान्तभिन्नमेव वा वस्त्विति मन्यमाना अर्थात् गुणगुणिनावेकान्तेनाभिन्नावेव भिन्नावेव चेति मन्यमाना ' अवमण्णता ' अत्र मननीय वादिनश्चेति शेषः, तथा च मननीयमवमन्यमाना वादिनः, ' ण याणंति ' न जानन्ति, यथार्थ- तत्त्वमिति शेषः, पारमेश्वरप्रवचनोक्तविषयाऽवगणनाविधायित्वादज्ञा भवन्ति, ये च जिनेन्द्रगदित-

द्वादशाङ्गोक्तामलतत्त्वावगणनाविधायिनो न ते यथार्थतत्त्वमवगच्छन्ति, अन्यथावादिनिरूपादिवदिति तात्पर्यार्थः ॥ २६ ॥

एतावता प्रबन्धेनाऽनेकान्तवाद एव सयुक्त्या सिद्धिकोटिं नीतः, तथाहि–ज्ञानात्मनोर्घटरूपाद्योश्च न तावदेकान्तभेदः, तथा सति हिमवद्विन्ध्याचलयोरिव सम्बन्धाऽयोगत आत्मनोऽज्ञत्वं घटादेश्च नीरूपत्वादि प्रसज्येत, भिन्नत्वाविशेषाद्वाऽऽकाशादावपि सचेतनत्वं रूपादिमत्त्वं च भवेत्। ननु नैवं भवेत्, यतः सर्वथा भिन्नयोरप्यव्यवहितयोर्घटभूतलयोस्संयोगस्येवायुतसिद्धयोर्ज्ञानात्मनोर्घटरूपाद्योश्चापि समवायसम्बन्ध इति तेनात्मनि ज्ञानस्य घटे च रूपादेस्सद्भावादिति चेत्, नैवम्, यतो न सम्बन्धिनोरसम्बद्धस्सम्बन्धो विशिष्टबुद्धिमाधातुं क्षमः, तथा सत्यात्मज्ञानयोरिवाकाशज्ञानयोरपि समवायसम्बन्धो विशिष्टबुद्धिं विदध्यात्, अतस्सम्बद्धस्सम्बन्धो विशिष्टबुद्धिं जनयतीत्यभ्युपगन्तव्यम्, अथ समवायसम्बन्धस्स्वरूपसम्बन्धेनैव सम्बद्ध इति ज्ञानप्रतियोगिकस्य आत्मना सहैव स्वरूपसम्बन्धेन सम्बद्ध इति तत्रैव विशिष्टबुद्धिं करोतीति चेत्, तर्हि वरं प्रथमत एव तस्याभ्युपगमनं, किमन्तर्गडुना समवायेनेति, अधिकं पूर्वमेवोक्तमिति न पुनरुच्यते, तन्नैकान्तभेदो युक्तः। नाप्येकान्ताऽभेदः, तथा सत्यात्मनि ज्ञानं ज्ञानवानात्मा, घटे रूपं रूपवान् घट इत्यादिभेदावगाहिप्रतीतिर्नैव प्रामाणिकी भवेत्, अभिन्नयोराधाराधेयभावाभावात्, प्रत्युत आत्मा ज्ञानं ज्ञानमात्मा घटो रूपं रूपं घट इति इति प्रतीतिस्स्यात्प्रमात्मिकेति प्रमाणप्रथा मनोरथमात्रार्था स्यात्, घटादिवद्रूपस्यापि द्वीन्द्रियवेद्यत्वं रूपादिवद् घटादेरपि प्रतिनियतेन्द्रियग्राह्यत्वं च स्यात्, अथाभिन्नयोरपि तादात्म्यसमर्गेणाधाराधेयभावो भविष्यतीति चेत्, तदपि न युक्तम्, तस्य स्वस्मिन् स्वसम्बन्धित्वस्यैव नियामकत्वात्, अन्यथा घटे घटो घटवान् घट इत्यादिप्रतीतिरपि स्यात् प्रमात्मिका, ओमिति चेत्, तथाप्याधारत्वाधेयत्वधर्मभेदेनैव भिन्नत्वप्रसङ्ग, धर्मयोर्धर्मिरूपत्वान्नैवमिति चेत्, तथाप्येकानेकत्वस्यैव सुदृढनिष्ठत्वं प्राप्तम्, द्विरूपस्यैकरूपत्वान्यथाऽनुपपत्तेः, आधारत्वाधेयत्वधर्मयोः काल्पनिकत्वकथनं त्वनुचितमेव, तद्वतोऽपि तथात्वापत्ते, विशेषणस्यापारमार्थिकत्वे विशिष्टस्याप्यपारमार्थिकत्वस्याविगानेन सिद्धत्वादिति कथञ्चिद्भेदाभेदस्यैव सम्बन्धव्यापकत्वेन तदभावे तदभावस्स्यात्, व्यापकाभावस्य व्याप्याभावनान्तरीयकत्वात्, तथा च द्रव्यगुणौ भिन्नावच्छेदेनैकाधिकरणवृत्तित्वसम्बन्धेन भेदविशिष्टाभेदवन्तौ सम्बन्धाऽन्यथाऽनुपपत्तेरित्याद्यनुमानेन भेदाभेदात्मकत्वं सिद्धिसौधमध्यास्ते। अथ साध्याऽप्रसिद्धिपिशाचस्पर्शभाजित्वात् तन्न तत्साधनक्षमनेति चेत्, नैवम्, अनुयोग्युपस्थापकपदसमानविभक्तिकप्रतियोग्युपस्थापकपदसमभिव्याहृतस्य नञो भेदप्रत्यायकत्वेन मूले महीरुहो न कपिसंयोगीति प्रत्ययबलात् प्राज्ञशिरोमणिना शिरोमणिना शाखामृगसंयोग्यऽभिन्न एव वृक्षे मूलावच्छेदेन कपिसंयोगिभेदप्रसाधनात्। अथास्तु तं प्रति तत्सिद्धिः, तद्भिन्नं प्रति सा कथमिति चेत्, उच्यते,

भेदाभेदोभयरूपत्वेन भेदाभेदोभयस्य साध्यतां विधाय सा प्रसाधनीयेति । न चोभयत्वस्याप्येकविशिष्टापरत्वरूपत्वेन पूर्वोक्तदोषतादवस्थ्यमिति वाच्यम्, विरुद्धयोरपि घटत्वपटत्वयोरुभयत्वेन प्रत्ययात् तस्य तद्रूपत्वाभावात् । भेदाभेदोभयश्च पक्षे सिद्ध्यन् ईश्वरवादिमते क्षितिः सकर्तृका कार्यत्वादित्यनुमानेनोपादानापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमत्त्वमिति कर्तृत्वलक्षणेन किञ्चिदज्ञानां द्व्यणुकोपादानपरमाणुविषयकप्रत्यक्षज्ञानाद्यसम्भवेन तद्बाधात् पक्षधर्मताबलादीश्वरसिद्धिवज्जात्यन्तरात्मक एव सिद्ध्यति, उक्तञ्च श्रीमहावीरस्तवे पूज्यपादोपाध्यायैः "स्याद्वादतस्तव तु बाह्यमथान्तरङ्गं, सल्लक्षणं शबलतां न जहाति जातु" इत्यादि ॥ अत्रैकधर्मिणि स्वधर्मभेदाभेदावसहिष्णवस्तन्त्रान्तरीयास्सङ्गिरन्ते, अहो आर्हता केनेदं सुहृदा युष्मच्चित्ते शल्यमकारि, येन परस्परविरहरूपत्वात् वह्निवह्न्यभावाविव विरुद्धावपि भेदाभेदावविरुद्धावित्यङ्गीकुरुथ । न च परस्परविरहरूपत्वहेतुरेवासिद्धः पक्षे दृष्टान्ते चेति स्वरूपासिद्धिदृष्टान्तासिद्धिदोषद्वयग्रस्तस्स इति वाच्यम्, यतो वह्निमति वह्न्यभावस्याप्रतीतेस्तदभावस्य व्यवहाराच्च धूमध्वजो वह्न्यभावविरहात्मकः, एवं वह्न्यभाववति वह्नेरप्रतीतेस्तदभावस्य च संवेदनाद्वह्न्यभावो हुतभुग्विरहात्मक इति न दृष्टान्तासिद्धिः, एवं घटभेदवति पटे घटाभेदस्याप्रतीतेः तदभावस्य च व्यवह्रियमाणत्वाच्च घटभेदो घटाभेदविरहात्मकः, एवं घटाऽभेदोऽपि घटभेदविरहात्मको ज्ञेय इति न स्वरूपासिद्धिरपि, तथा चैकतरनिषेधेऽपरविधेरवश्यं भावेनैकरूपमेव वस्त्वभ्युपगन्तव्यम्, अन्यथा दृष्टहानेरदृष्टकल्पनायाश्च प्रसङ्ग इति चेत् अहो पण्डितंमन्यानां भवतां न्यायनिष्णातत्वम्, विरोधलक्षणमपि नैव सम्यग्ज्ञातम्, यतो विरोधस्य किं लक्षणमिति वाच्यम् । अथात्र किं वाच्यम्, एकाधिकरणावृत्तित्वं तदिति चेत्, तन्न सहृदयानां चमत्कृतिं विधत्ते, यत इदं रजतमित्यादिभ्रान्तज्ञाने धर्म्यंशे प्रामाण्यं प्रकारांशे चाऽप्रामाण्यमिति तयोरप्येकस्मिन्नेव ज्ञाने वृत्तित्वाद्विरोधो न स्यात्, एवमिह पर्वते नितम्बे हुताशनो न शिखर इति प्रतीतेरेकत्रैव क्षितिधरे नितम्बशिखरदेशावच्छेदेन वह्नितदभावयोर्वृत्तित्वेन तयोरप्यविरुद्धत्वं स्यात् । एवमिदानीं तन्तौ न घट इति प्रतीतेः घटसत्त्वेऽपि काले तन्त्ववच्छेदेन घटाभावस्य सद्भावात् घटतदभावयोरपि विरोधो न स्यात् । अथ यद्देशावच्छेदेन प्रतियोगी यत्र वर्त्तते तद्देशावच्छेदेनैव तदभावो न तत्र वर्त्तते इत्येतावता तयोर्विरोधोऽक्षत एवेति चेत्, तदपि न, इदानीन्तनधनञ्जयवत्यपि शैलेऽतीतानागतकालावच्छेदेन तदभावप्रतीतेर्भिन्नकालावच्छेदेनाप्येकत्र तत्तदभावयोरपि वृत्तेर्विरोधो न स्यात् । अथ तथावृत्तिरेव नाभ्युपगम्यत इति चेत्, नैवम्, घटविनाशकाले इह कपाले न घट इति प्रतीतेर्घटवत्यपि कपाले घटनाशकालावच्छेदेन तदभावस्याप्यभ्युपगमात् । प्रतियोगिमतोऽपि देशकालयोः कालदेशभेदावच्छेदेन तदभाव इति शिरोमणिवचनात् । अथ यद्देशकालावच्छेदेन यत्र यो वर्त्तते तद्देशकालावच्छेदेन तत्र तदभावो न वर्त्तत इत्येव विरोधलक्षणं क्रियत इति नोक्तदोष इति चेत्, तदापि पर्वते

सयोगेन वह्निर्यद्देशावच्छेदेन यत्कालावच्छेदेन च वर्तते तद्देशकालावच्छेदेन पर्वते समवायसम्बन्धावच्छिन्नवह्निनिष्ठप्रतियोगिताकाभावस्य विद्यमानत्वेन वह्नितदभावयोर्विरोधो न स्यात्। अथ येन सम्बन्धेन यद्देशकालावच्छेदेन यत्र प्रतियोगी तत्र तेन सम्बन्धेन तद्देशकालावच्छेदेन तदभावो नेत्येवं सम्बन्धदेशकालघटितमेव विरोधलक्षणं क्रियत इति चेत्, तर्हि स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैर्यदस्त्यन् परद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्चासन् द्रव्यार्थतया नित्यः पर्यायार्थतया चाऽनित्य इत्येवमेकवस्तुन्यापेक्षिकतत्तदभावप्रतिपादकस्याद्वादागमवचनैर्भेदा भेदयोर्भिन्नावच्छेदेनैकवस्तुन्यभ्युपगमे का प्रोक्तलक्षणविरोधक्षतिरिति विभाव्यताम्। अथ परस्परविरहनिष्ठापाद्यतानिरूपितापादकताकत्वलक्षणं विरोधस्येति चेत्, तदप्यत्र नोपयुक्तम्, यतश्शीतत्वोष्णत्वयोरिव ययोः परस्पराभावव्याप्यत्वं तयोरेवोक्तलक्षणविरोधो घटते, न तु घटतदभावयोरिव परस्परविरहरूपयोर्भेदाभेदयोः, तथा च यदि भेदस्स्यात् तर्ह्यभेदो न स्यादित्यापादनमापादकस्य भेदस्यापाद्याभेदाभावरूपत्वेन तथा यद्यभेदस्स्यात्तर्हि भेदो न स्यादित्यापादनमभेदस्यापादकस्यापाद्यभेदाभावरूपत्वेनापाद्यापादकयोर्भेदो नेति तयोर्व्याप्यव्यापकभावाऽभावान्नोक्तलक्षणं कर्तुं शक्यमिति प्रकृते तन्न सङ्गच्छते, सहानवस्थानलक्षणं स्वत्रैव चरितार्थमिति, तन्नानेकान्ततत्त्वाभ्युपगमे विरोधगन्धलेशोऽपि। यदुक्तमध्यात्मोपनिषदि—

> "भिन्नापेक्षा यथैकत्र, पितृपुत्रादिकल्पना।
> नित्यानित्याद्यनेकान्त,-स्तथैव न विरोत्स्यते ॥ १ ॥" इति।

एतेन यदवच्छेदेन भेदस्तदवच्छेदेन भेद एव, यदवच्छेदेनाभेदस्तदवच्छेदेनाभेद एवेति कथमेकमेवोभयरूपम्। अथ भेदावच्छेदकरूपेणाऽभेदोऽपि अभेदावच्छेदकधर्मेण भेदोऽपीति चेत्, तर्हि सङ्करदोषप्रसङ्गः, सर्वेषां युगपत्प्राप्तेः, तदुक्तम् "सर्वेषां युगपत्प्राप्तिः सङ्करः" इति, इत्यपि निरस्तम्, स्वस्वरूपापेक्षयैकस्वरूपेऽपि धर्मिणि स्वीयस्वीयभिन्नभिन्ननिमित्तापेक्षमोभयरूपत्वे विरोधाभावात्, यतो न ह्येकापेक्षयैव भेदाभेदोभयेन भाव्यमित्यत्र वस्तुविज्ञीतिरिति। भेदावच्छेदकरूपेणाभेदोऽपीत्यादि व्याख्यानमिज्ञताविलसितमेव, यतो न हि सकर्णेन सनिरूपकपदार्थानामेकापेक्षयैवैकस्मिन् वस्तुनि सत्त्वमभ्युपगम्यते, अन्यथा यदपेक्षया ह्रस्वत्वं तदपेक्षयैव दीर्घत्वं च स्यात्। एतेन सङ्करप्रसङ्गोऽपि निरस्तः, एकावच्छेदेन युगपद्भेदाभेदोभयस्यानभ्युपगमात्। अत एव भिन्नभिन्नापेक्षकभेदाभेदाद्युभयावगाहि प्रत्यक्षादिप्रमाणगोचरत्वाद्वस्तुमात्रं यथार्थभावाङ्कितानेकान्तात्मकतयैव निश्चीयत इति न संशयाऽप्रतिपत्त्यादयः केऽपि दोषा उद्भावयितुं योग्याः। तदेवं विरोधादिदोषाकलङ्कितयाऽनेकान्ततत्त्वमेव प्रमाणकोटिमाटीकत इति सिद्धम् ॥ २६ ॥

नन्वनेकान्तेऽनेकान्तोऽस्ति न वा, आद्ये तत्राप्यनेकान्तः, तत्राप्येवमित्येवमनेकान्त

धारया अविच्छिन्नेरनवस्थालताऽऽकाशतलावलम्बिनी स्यात्, द्वितीये एकान्तत्वप्रसक्तिः, द्वौ नञौ प्रकृतं गमयत इति न्यायात्, तथा चात्र घटपटादिकमनेकान्तात्मकं वस्तुत्वादिति पर्यवसितानुमानेऽनेकान्त एव व्यभिचारदोषप्रसक्तिः, अनेकान्तात्मकत्वाभावात्त्वनेकान्त एव वस्तुत्वहेतोरसत्त्वादिति चेत्, उच्यते, यो हि वस्तुमात्रमनेकान्तात्मकमिति ब्रूते स कथमनेकान्तेऽनेकान्तोऽस्ति न वेति पर्यनुयुज्येत, अनेकान्तत्वस्य वस्तुत्वसमनियतत्वेन जिनानुगैरुक्तत्वादनेकान्तेऽनेकान्तत्वाभावे वस्तुत्वव्यापकत्वांशासद्भावेन तथात्व न स्या दिति तदन्यथानुपपत्त्याऽनेकान्तेऽप्यनेकान्तत्वस्येष्टत्वात्, न चानवस्था, तृतीयचतुर्थात्य न्ताभावयोर्न्यायमते प्रथमद्वितीयात्यन्ताभावात्मकत्ववत् तृतीयचतुर्थानेकान्तयोरपि प्रथम- द्वितीयानेकान्तात्मकत्वाभ्युपगमात्, यथा नैयायिकादीनां घटाभावोऽतिरिक्त एव, तदभावश्च घट एव, तृतीयाभावश्चाद्याभाव एव, चतुर्थाभावश्च द्वितीयाभाव एव, इत्यादिरीत्या नानवस्था तथाऽस्माक "अनेकान्तः। १। अनेकान्ताऽनेकान्त एकान्तः ॥ २ ॥ घटाभावाभावो घट इवेति द्वितीयभेदः। तदनेकान्त आद्य एव, घटाभावाभावाभावो घटाभाव इवेति तृतीयभेदः।" तदनेकान्तश्च द्वितीय एवेति का नामानवस्थेत्याशयेनाह—

भयणा वि हु भइयव्वा, जइ भयणा भयइ सव्वदव्वाइं।
एव भयणा णियमो वि होइ समयाविरोहेण ॥ २७ ॥

"जइ भयणा भयइ सव्वदव्वाइं" यथा भजना भजते सर्वद्रव्याणि, यथाऽनेकान्तो जीवाजीवसर्ववस्तूनि भिन्नाभिन्न नित्यानित्यमित्यादिविवक्षितस्वभावात्मकतया ज्ञापयति तथा "भयणा वि हु भइयव्वा" भजनाऽपि अनेकान्तोऽपि खलु भजनीया, स्यादेकान्तः स्यादनेकान्त इत्येवमनेकान्तोऽप्यनेकान्तः। यद् यद्वस्तु तत्तदनेकान्तात्मकम्, यथाऽऽत्म घटादिकमिति व्याप्त्याऽनेकान्तत्वस्य वस्तुत्वव्यापकत्वेन सिद्धेश्चेतनाचेतनयोरिवानेका न्तेऽपि व्याप्यस्य वस्तुत्वस्य नियमेन सत्त्वात्तद्व्यापकस्यानेकान्तत्वस्याऽप्यवश्यम्भावेना नेकान्तस्याप्यनेकान्तानुविद्धैकान्तगर्भत्वात्। कथमनेकान्तेऽनेकान्त इति चेत्, उच्यते, नयापेक्षया स्यादेकान्तः प्रमाणापेक्षया च स्यादनेकान्तः, "अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाणनयसाधनः" इत्यभिधानात्। तथाहि–यथा नित्यानित्यादिधर्मैकस्वरूपे वस्तुनि नित्यत्वानित्यत्वाद्येकतरधर्मावच्छेदकावच्छेदेनैकतरधर्मात्मकत्वम्, उभयधर्मावच्छेदका वच्छेदेन चोभयधर्मात्मकत्व तथा नित्यत्वानित्यत्वादिमद्धर्मात्मकत्वप्रतिपादकता- पर्याप्त्यधिकरणेऽनेकान्तमहावाक्येऽपि सकलनयवाक्यावच्छेदेनोक्तरूपमनेकान्तात्मकत्व प्रत्येकनयवाक्यावच्छेदेन चैकान्तात्मकत्व च न दुर्वचमिति भावः। एतदेवाह–"एव भयणा णियमो वि होइ समयाऽविरोहेण" अत्रापिशब्दस्य चकारार्थत्वात्, एव पूर्वोक्तरीत्या भजना अनेकान्तो नियमश्चैकान्तश्च समयस्य सिद्धान्तस्य "रयणप्पभा सिय सासया सिय

असासया" इत्येवमनेकान्तप्रतिपादकस्य "दव्वट्ठयाए सासया पज्जवट्ठयाए असासया" इत्येव चैकान्ताभिधायकस्याऽविरोधेन सिद्धो भवति । खण्डखाद्ये—

देशेन देशदलनं भजनापथे तु, त्वच्छासने निजकरेण मलापनोदः ।
व्याघातकृन्न भजनाभजना जनानामित्थं स्थितौ शबलवस्तुविवेकसिद्धिः ॥४२॥

इति श्लोकटीकायामित्थमुक्तम्-भजनाभजना स्याद्वादेऽपि स्याद्वादः, न व्याघातकृत् न स्याद्वादलक्षणक्षतिकृत्, एकत्र धर्मिणि प्रतिधर्मं सप्तधर्मप्रकारकबोधजनकतापर्याप्तिमद्वाक्यत्वस्य स्याद्वादलक्षणस्य प्रतिभङ्गमेकधर्मावधारणत्वरूपनयत्वेऽप्यविरोधात् । तदाह समन्तभद्रः-अनेकान्तेऽप्यनेकान्त इत्यादि, प्रमाणत्वमाश्रित्यानेकान्तः नयत्वमाश्रित्य चैकान्त इत्येतदर्थः । यदि च स्यादस्त्येवेत्यादिसप्तभङ्ग्यात्मकमहावाक्ये स्यात्पदस्य वाचकत्वपक्षे बुद्धिविषयावच्छेदकावच्छिन्नत्वमेव तदर्थं, तदा सामान्यतोऽवच्छेदकलाभे विशेषतस्तज्जिज्ञासायां तदनन्तरं स्वद्रव्याद्यपेक्षयाऽस्त्येवेत्यादिरेकान्तेन नयवाक्यप्रयोग इति तस्यापि प्राक्तनानेकान्तमपेक्ष्यैवेनानेकान्ताऽनेकान्तत्वं परिभाषते, अत एव नानवस्था, तृतीयचतुर्थानेकान्तयोः प्रथमद्वितीययोरेव विश्रामात्, अन्योन्याश्रयस्तु प्रामाणिक इति बहवः । विशेषतोऽवच्छेदकजिज्ञासाया अपि सप्तविधाया औत्सर्गिकत्वात्, भङ्गद्वयप्रयोगस्य च व्युत्पन्नापेक्षत्वात्, सामान्यविशेषभावेन सप्तभङ्गीद्वयविन्यासे तदादिमवत् स्यात्पदेन लब्धस्यार्थस्य विवरणेन स्फुटत्वार्थं बोत्तरप्रयोगान्न दोषस्पर्शोऽपीति वयमित्यादि । अत्र प्रमाणत्वमाश्रित्येत्यादेरयमर्थः-स्याद्वादः प्रतिभङ्गमेकधर्मावधारणरूपत्वेन नयात्मकं, सप्तभङ्ग्यपेक्षया तु सप्तधर्मावधारणरूपत्वात् प्रमाणरूपं, अतो नयत्वप्रमाणत्वोभयधर्मशालित्वात् स्याद्वादोऽपि स्याद्वादरूप इति । अस्मिन् कल्पेऽवच्छेदकस्य सङ्कोचविकासभावेनैकान्तत्वानेकान्तत्वनिर्वाहणा न कृता, यदि चेति कल्पे तु तथानिर्वाहणा कृतेति विशेषः । अयम्भावः—स्यादस्त्येवेति भङ्गे स्यात्पदस्य वाचकत्वपक्षे बुद्धिविषयत्वेन रूपेण स्वद्रव्यादीनां चतुर्णामप्युपसङ्ग्रहादनेकावच्छेदकरूपत्वेनावच्छेद्यप्रतिपादनादनेकान्तत्वम्, विशेषावच्छेदकजिज्ञासया प्रतिपाद्यमाने च स्वद्रव्याद्यपेक्षयाऽस्त्येवेत्यादिभङ्गे प्रतिनियतावच्छेदकविशेषमुखेनावच्छेद्यप्रतिपादनादेकान्तत्वमिति कृत्वा स्यादस्त्येवेत्यादिसप्तवाक्यापेक्षयाऽनेकान्तः, स्वद्रव्याद्यपेक्षया स्यादस्त्येवेत्यादिसप्तभङ्ग्यपेक्षयैकान्त इत्यनेकान्ते सामान्यतोऽवच्छेदकावच्छेदेनास्तित्वाद्यभिधायकस्य तत्तद्भङ्गस्यावच्छेदकांशेऽनेकान्तत्वं विशेषतोऽवच्छेदकावच्छेदेनास्तित्वाद्यभिधायकस्य तत्तद्भङ्गस्यावच्छेदकांशे एकान्तत्वमित्येवमनेकान्तत्वैकान्तत्वोभयधर्मयोगादनेकान्तता, पूर्वं स्यादस्त्येवेत्यादिसप्तभङ्ग्याः सामान्यतोऽवच्छेदकमादाय सप्तधर्मज्ञानम्, ततश्च सामान्यज्ञानाद्विशेषजिज्ञासया स्वद्रव्याद्यपेक्षया स्यादस्त्येवेत्यादिसप्तभङ्गीप्रवृत्तिः, तत्प्रवृत्त्या च प्रथमसप्तभङ्ग्यात्मकाने

कान्तस्य स्वस्वरूपेणानेकान्तत्वेऽपि द्वितीयसप्तभङ्ग्यपेक्षया एकान्तत्वमित्यनेकान्तता, एवं द्वितीयसप्तभङ्ग्यास्स्वस्वरूपेणैकान्तत्वेऽपि प्रथमानेकान्तसप्तभङ्ग्यपेक्षयाऽनेकान्तत्वमित्यनेकान्ततेति। अन्यत्सर्वमस्मत्प्रणीतमहावीरस्तवकल्पलतिकातोऽवसेयम्, विस्तरभयान्नेह प्रतन्यते ॥ २७ ॥

नन्वनेकान्तत्वस्य वस्तुत्वव्यापकत्वे षड्जीवनिकायास्तदुपघाते चाधर्म इत्यत्राप्यनेकान्तापत्तिस्स्यादित्याशङ्कामिष्टापत्त्या परिहर्तुमाह—

णियमेण सद्दहंतो छक्काए भावओ ण सद्दहइ।
हंदी अपज्जवेसु वि सद्दहणा होइ अविभत्ता ॥ २८ ॥

"णियमेण सद्दहंतो" नियमेनावधारणेन षडेवैते जीवाः कायाश्चेत्येवं श्रद्दधानः "छक्काए भावओ ण सद्दहइ" षट्कायान् भावतः परमार्थतो न श्रद्धत्ते, जीवराशेरेकत्वेन तदपेक्षया जीवेष्वेकत्वस्य कायेष्वपि पुद्गलत्वेन रूपेणैकत्वस्य जीवपुद्गलप्रदेशानां परस्परविनिर्भागवृत्तित्वाज्जीवप्रदेशेष्वपि कथञ्चिदजीवत्वस्य च निकायेष्वपि प्रत्येकं प्राधान्यविवक्षया कथञ्चिदनिकायत्वस्य च सद्भावेऽपि, एवं प्रमादयोगेन प्राणव्यपरोपणं हिंसेति हिंसालक्षणोक्तेः प्रमादकृतहिंसा हिंसैवेति तया स्यादधर्मः, अप्रमादकृतहिंसा त्वहिंसैव, उक्तहिंसालक्षणाऽघटनादिति तया नाधर्मः, सूत्रविहितविधिना प्रवृत्तत्वात्, इत्युभयधर्मस्य सद्भावेऽपि च तत्तद्धर्मरूपेण यथावस्थितानेकान्तात्मकवस्तुज्ञानाभावान्न भावसम्यग्दृष्टिरसौ; प्रमाणसकलतत्त्वनयगर्भसप्तभङ्गीप्रधानेन कथञ्चित्षट्त्वादिकथञ्चिदषट्त्वादिकथञ्चिन्निकायत्वकथञ्चिदनिकायत्वादिसप्तधर्मप्रकारकैकधर्मिविशेष्यकबोधाभावेन जिनप्रज्ञप्तषट्त्वाषट्त्वादिसप्तधर्मान्वितभावविषयकसमूहालम्बनरुच्यभावात्, प्रकृतधर्मघटितसप्तभङ्गजन्यसप्तधर्मपर्याप्तप्रकारताकाखण्डबोधजनितसमूहालम्बनरुचेरेव भावश्रद्धापदार्थत्वात्, द्रव्यसम्यग्दृष्टिस्तु स्यादेव, अन्यदर्शनासद्ग्रहनिवृत्त्या जिनवचनरुचिस्वभावस्य संक्षेपसम्यक्त्वस्य तत्र सद्भावात्। उक्तश्च संक्षेपसम्यक्त्वलक्षणमुत्तराध्ययनाष्टाविंशतितमाध्ययने—

"अणभिग्गहियकुदिट्ठी, संखेवरुइत्ति नायव्वो।
अविसारओ पवयणे, अणभिग्गहिओ य सेसेसु ॥ २६ ॥" इति।

नियमेन षट्कायान् श्रद्दधद् भावतो न श्रद्धत्ते इति भावतो न सम्यग्दृष्टिरित्यत्रैव हेतूपदर्शनार्थमुत्तरार्द्धमाह हंदीत्यादि। 'हंदि' इत्युपदर्शने, यतः अपर्यायेषु भङ्गान्तरसवलनरहितेषु धर्मेषु अपेर्भिन्नक्रमत्वात् श्रद्धाप्यऽविभक्ताऽसम्पूर्णा भवति, द्रव्यश्रद्धापर्यवसन्ना भवतीति यावत्, यद्वा 'हंदि' इत्युपदर्शने, यतः अपर्यायेषु एकत्वादिप्रकाररहितेषु षट्सु कायेषु अपेर्भिन्नक्रमत्वात् श्रद्धाप्यविभक्ता अविविक्ता—संक्षिप्ता भवति, द्रव्यश्रद्धापर्यवसन्ना भवतीति यावत्।

एगविह दुविह तिविहा, चउव्विहा पंच छव्विहा जीवा ।
चेयण-तस इयरेहिं, वेय-गइ-करण-कायेहिं ॥ १ ॥

इति सिद्धान्तोक्तैरेकविधद्विविधत्रिविधत्वादिसिद्धान्तोक्तयावत्प्रकारेण यथाऽवस्थितजीवतत्त्वावबोधो न तस्येति स्याद्वादेन विविक्तषट्कायपरिज्ञानं विना स्वसमयपरसमयविवेचनं विना बोधतस्तद्रागमात्रसद्भावात् । अतएवोपदेशरहस्ये—

" सदसदविसेसणाओ, भिवभववाय विणा ण सम्मत्तं ।
जं पुण आणारुइणो तं निउणा विंति दव्वेण ॥ १०० ॥"

इति गाथटीकायां " यत्पुनराज्ञारुचेः प्रियगीतार्थाज्ञस्य मार्गानुसारिणः सम्यक्त्वम्, तन्निपुणा सिद्धसेनदिवाकरप्रभृतयः द्रव्येण ब्रुवते स्याद्वादप्रतिपत्तियोग्यतायास्तज्जन्यनिर्जराजनककर्मक्षयोपशमरूपायास्तेष्वलब्धत्वादि"त्युक्तम् ।

तथा च नियमतः षट्कायश्रद्धानेऽपि भगवतैवमुक्तमिति जिनवचनरुचिमत्त्वाद्द्रव्यतः सम्यग्दृष्टित्वम्, न तु भावतः, भावसम्यग्दर्शनस्य सकलनयविषयविवेचनसाध्यत्वात्, एकविधद्विविधादिपर्यायाऽपरिच्छेदे तदनुपपत्तेरिति भावः । अत एव शास्त्रे सम्यक्त्वं तावद्द्रव्यभावभेदात् द्विविधं प्रोक्तम्, तत्र परमार्थाऽपरिज्ञानेऽपि भगवद्वचनतत्त्वरुचिरूपम्, परमार्थपरिज्ञानतश्च द्वितीयम्, तच्च नयनिक्षेपादिपरिच्छेदाधीनयथाऽवस्थितसूत्रतात्पर्यार्थपरिज्ञानजन्यविशिष्टप्रवचनतत्त्वरुचिस्वभावम् । तदाह—

" तुह वयणतत्तरुई, परमत्थमयाणओ वि दव्वगयं ।
इयरं पुण तुह समये, परमत्थावगमओ होइ ॥ १ ॥ " इति ।

उक्तलक्षणं द्रव्यसम्यक्त्वमपि शुभात्मपरिणामविशेषानुगतं भावसम्यक्त्वरूपमपि न व्यभिचरति, अर्पितानर्पितसिद्धेरुभयरूपाविरोधात्, अत एव रुचिभेदा अपि द्रव्यसम्यक्त्वरूपेण भासमाना अपि क्षायोपशमिकादिभेदेष्वन्तर्भाविता वाचकचक्रवर्तिना प्रशस्तौ । तदयमपेक्ष्यैव द्रव्यभावविभागो भावनीय इत्युक्तं प्रतिमाशतकटीकायाम् ।

यद्वा अपर्यायेषु एकादिप्रकाररहितेषु षट्सु कायेषु श्रद्धाऽविभक्ता भवति, स्याद्वादज्ञानपरिसमाप्त्याकाङ्क्षाऽपरिपूर्त्याऽनिश्रान्ता भवति, एगविहदुविहेत्यादिपूर्वगाथोक्तप्ररूपणयैव तद्विश्रान्तिसम्भवात्, यतो नियमेन षडेव जीवनिकाया इति श्रद्धानवतः प्रकृतषट्त्वादिधर्मघटितसप्तभङ्गप्रतिपाद्यसप्तधर्मपर्याप्तप्रकारताकस्य स्याद्वादजन्यबोधस्याऽभावेन तत्परिसमाप्त्यायास्तादृशबोधनिवर्त्यायाः आकाङ्क्षायास्सप्तविधधर्मजिज्ञासाया निवृत्तिलक्षणपरिपूर्तेरभावेन षडेव जीवनिकाया इति श्रद्धा अनिश्रान्ता अपरिपूर्णा भवति । अत्र विशेषजिज्ञासुभिर्नयोपदेशटीकाऽनेकान्तव्यवस्थाऽष्टसहस्रीप्रतिमाशतकादयोऽवलोकनीया इति ।

तदेवमप्राप्यर्हच्छास्त्रपरिकर्मितमतेर्जीवनिकायधर्मिणि स्यादेकत्वानेकत्वषड्विधत्वापड्विधत्वादिना सप्तभङ्गीपथेन स्यादेकत्वस्यादनेकत्वस्यात्षड्विधत्वस्यादपड्विधत्वादिसप्तधर्मप्रकारकाखण्डबोधस्यैवोत्पत्तेर्नाव्यापकोऽनेकान्त इति ध्येयम् ॥ २८ ॥

ननु वस्तुत्वस्यानेकान्तत्वव्याप्यत्वेन तदवत्स्वभावात्मकं वस्तुमात्रमित्यभ्युपगमे गच्छति तिष्ठतीत्यत्रापि तथास्वभावापत्त्या गमनक्रियावद्द्रव्ये गच्छति स्थितिक्रियावद्द्रव्ये च तिष्ठतीति नियतव्यवहारो विलुप्त एव स्यादित्याशङ्कामुद्धर्तुमाह—

गइपरिणयं गई चेव, केइ णियमेण दवियमिच्छंति ।
तं पि य उड्ढगईअं, तहा गई अण्णहा अगई ॥ २९ ॥

" गइपरिणयं दवियं णियमेण गई चेव केइ इच्छंति " गतिपरिणतं गतिक्रियापरिणतं द्रव्यं नियमेन गतिमदेव, एवकारेण नागतिमदित्युक्तं भवति, इत्येवं केचिदिच्छन्ति मन्यन्ते तन्निषेधार्थमुत्तरार्द्धमाह— तं पि येत्यादि । तदपि च गतिक्रियापरिणतं जीवद्रव्यं सर्वतोगमनाऽयोगादूर्ध्वादिप्रतिनियतदिग्गतिकमिति तैर्वादिभिरभ्युपगमे कृते सत्येवोर्ध्वं गच्छतीति विवक्षितप्रतिनियतदिगवच्छिन्नगतिव्यवहार उपपन्नो भवति, नान्यथा, यतस्सामान्यतो गच्छतीत्युक्तौ कस्यां दिशीति जिज्ञासा समुज्जृम्भत्येव, सा च विवक्षितदिगुक्त्यैव शान्ता भवतीति, तथा च विवक्षितप्रतिनियतदिगपेक्षया गतिमत्, दिगन्तरापेक्षया चागतिमदेवेति सिद्धं भवति । अयम्भावः–यथा पर्वते शिखरे वह्निः, न तु नितम्बे इति प्रतीतिबलाच्छिखरावच्छेदेन पर्वतो वह्निमान्, न तु नितम्बदेशावच्छेदेनेति तथेदं द्रव्यमूर्ध्वादिशि गच्छति न तु दिगन्तरं इति प्रतीतिभावाद् गतिक्रियापरिणतं द्रव्यमूर्ध्वादिप्रतिनियतदिगवच्छेदेन गतिमत्, न तु दिगन्तरावच्छेदेनेति तत्तदन्यदिगवच्छेदेनोभयस्वभावं तदभ्युपगन्तव्यम्, अन्यथाऽभिमतदिगवच्छेदेनेवानभिप्रेतदिगवच्छेदेनापि गतिमत् स्यात्, तथा चैककालावच्छेदेनानुपलभ्यमानविरुद्धोभयदेशप्राप्तिस्स्यात्, न च सानुभवसिद्धेत्यनुभवबाधः, न चैकस्मिन्नेव पर्वते भिन्नदेशावच्छेदेन स्थितवह्नितदभावाविव एवमिदानीं तन्तौ न घट इति प्रतीतेर्घटवत्यपि काले तन्त्ववच्छेदेन घटाभावस्य घटविनाशकाले [illegible] कपाले न घट इति प्रतीतेर्घटवत्यपि कपाले घटनाशकालावच्छेदेन घटाभावस्य च नैयायिकैरभ्युपगमेन भिन्नदेशकालावच्छेदेनैकाऽधिकरणावस्थितघटघटाभावाविव भिन्नभिन्नदिगवच्छिन्नगतितदभावो विरुद्धौ, येनैकस्मिन् द्रव्ये एककाले तौ न स्याताम्–तथा च कारणसमाजेन विवक्षितप्रतिनियतदिगवच्छिन्नगतिपरिणामस्वभाववति द्रव्ये तदानीमेव तदन्यदिगवच्छिन्नाऽगतिपरिणामस्वभावोऽप्युत्पद्यत इति नात्राप्यव्यापकोऽनेकान्तः । अथाभीष्टदेशगतिरेवानभिमतदेशागतिरिति विष्येकस्वरूपत्वान्नात्रानेकान्तोऽवकाश भजत इति चेत्, तर्हि यद् यस्य विरोधि तत् तदभावस्य एव स्वस्वरूप बिभर्तीति विरोधिन्या अनभिमतदेशगतेरभावा

भावेऽभीष्टदेशगतिकमेव द्रव्यं न स्यात् । किञ्चानभिमतदेशगतिरेवाभीष्टदेशगतिरिति विपर्ययमपि प्रवक्तुरेकत्र नैव शक्तीभवेत्, तथा चानभिमतदेशगतित्वभावस्य प्राधान्ये बौद्धनयेनाभावस्य तुच्छरूपत्वादभीष्टदेशावच्छेदेनापि द्रव्यं गतिकार्यार्जनाय समर्थं न स्यात् । नन्वभीष्टदेशगतित्वभावः प्रतिनियतवस्तुन्येव वर्त्तत इत्यसाधारणधर्मत्वात्तस्य स्वभावत्वाभ्युपगमो युक्तः, न चैवमनभीष्टदेशागतित्वभावस्य, तस्य वस्तुमात्रवृत्तित्वेन साधारणधर्मत्वादिति चेत्, नैवम्, यतोऽभीष्टदेशावच्छिन्नानुयोगिकस्वरूपसम्बन्धेनानभिप्रेतदेशागतित्वभावस्याभीष्टदेशावच्छिन्नवस्तुन्येव सत्त्वेनासाधारणधर्मत्वात्तस्य स्वभावत्वाभ्युपगमो नायुक्त इति । न चात्र शुद्धद्रव्यत्वेन रूपेणाभिन्नस्यापि गतिमत्त्वेनागतिमत्त्वेन च भेदस्मिद्द्रव्यस्यावदाऽनेकान्तावकाशस्स्यात्, न चैवम्, तथा सति गच्छति द्रव्ये न गच्छतीत्यपि व्यवहारापत्तिस्स्यादित्याशङ्कितव्यम्, विवक्षितप्रतिनियतदेशावच्छेदेन गतिसामान्यवत्त्वस्यैव तद्भिन्नदेशावच्छिन्नानुयोगिकस्वरूपसम्बन्धेन गतिसामान्याभाववत्त्वस्यापि तद्द्रव्ये सत्त्वेनोक्तव्यवहारस्येष्टत्वात् । एतेन गतिमदेवेत्येकान्तेन गतिसामान्यवति गतिसामान्याभावो निषिध्यते स च गतिविशेषाभावेन न बाध्यते, न हि विशेषाभाव एव सामान्याभाव इति कोऽयमनेकान्त इत्याशङ्कापि निरस्ता, सामान्यविशेषयोः कथञ्चिद-भिन्नत्वेन गतिविशेषस्यापि गतिसामान्यरूपतया गतिविशेषाभावस्यापि गतिसामान्याभावत्वात्, न हि विशेषस्सामान्याद्व्यतिरिक्त एव, तथा सति यत्र विशेषस्तत्र सामान्यस्य सत्त्वे पृथक् पृथक् विशेषः सामान्यञ्चैकत्रोपलभ्येत, न च विशेषस्य कस्य-चिदभावे सामान्यस्यास्ति सम्भव इति गतिसामान्यस्य गतिविशेषाभावस्य च सङ्कलने स्यादेवानेकान्तः, यत्किञ्चिद्गतिविशेषाभाववति योऽयमगतिव्यवहारस्स गतिविशेषाभाव-स्वरूपमेव गत्यभावमुपादायेति यत्किञ्चिद्विशेषाभावाधिकरणावच्छेदेन गतिसामान्याभावो गतिविशेषाभावानतिरिक्त एव, अर्थात् गतिसामान्यवति गतित्वेन रूपेण गतिसामान्यस्य सत्त्वेऽपि गतिविशेषत्वेन रूपेण गतिसामान्यस्याभावोऽपि विद्यत इति तादृशस्य गतिसामान्याभावस्य गतिविशेषाभावानतिरिक्तत्वमेव, तादृशाभावसङ्कलनेनानेकान्तोऽनिवारितप्रसर एव, यश्च यावद्विशेषाभावाधिकरणावच्छेदेन विद्यमानो गतिसामान्याभावस्तस्य गतिविशेषाभावासमनियतत्वेन भवतु गतिविशेषाभावातिरिक्तत्वम्, तमुपादायानेकान्तत्वाभावेऽपि न नो हानिः, गतिसामान्यस्य येन केनचिद्गतिसामान्याभावेन सहैकत्र समावेशत एव भावाभावोभयरूपसमावेशप्रयुक्तानेकान्तवादसाम्राज्यात्, नन्वेकान्तवादिना यदेव निषिध्यते तस्यैव विधानेऽनेकान्तवादसाम्राज्यम्, गतिपरिणत गतिमदेवेत्येवकारेण गतित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाव एव निषिध्यते, गतिविशेषत्वेन गतिसामान्याभावस्तु न गतित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक इति तद्विधानेऽपि नैकान्तव्याघात इति चेत्, न, गतित्वेन गतिविशेषाभावस्य गतित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वेन तमुपादायैकान्तव्याघातापत्ते, न च

गतित्वावच्छिन्नगतिसामान्यनिष्ठप्रतियोगिताकात्यन्ताभावेन सह गतिसामान्यस्य नैकत्र समावेश इति तद्विरोधैकान्तान्याघात एवेति वाच्यम्, गतिसामान्याभावस्यैवैकस्य परिकल्पितद्गतिविशेषाभावाधिकरणावच्छेदेन गतिविशेषत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व यावद्गतिविशेषाभावाधिकरणावच्छेदेन गतित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वमित्यस्याभ्युपगमेन यावद्गतिविशेषाभावाधिकरणावच्छेदेन गतिसामान्याभावस्य गतिसामान्यविरुद्धत्वेऽपि गतिविशेषाभावाधिकरणावच्छेदेन तस्य गतिसामान्येन सममविरोधस्यापि भावेन विरोधाविरोधयोरप्यनेकान्तस्य साम्राज्यादिति । एवमेव भूतलादिप्रतिनियतदेशापेक्षयैवैकस्मिन् द्रव्ये स्थितिमत्त्व न तु देशान्तरापेक्षयेति भिन्नभिन्नदेशापेक्षया स्थितितदभावोभयसत्त्वात्तत्राप्यनेकान्तो भावनीयः ॥ २९ ॥

ननु वस्तुमात्रं तदतत्स्वभावात्मकमिति स्याद्वादपक्षे दहनात् अर्थाद्दाहानुकूलशक्तिमत्त्वाद्दहन इतीव स किमदहनात् अर्थाद्दाहानुकूलशक्त्यभावात्तदानीमेवादहनोऽपि ! एवं पचनात् अर्थात् पाकानुकूलशक्तिमत्त्वात्पचन इव स किमपचनात् अर्थात् पाकानुकूलशक्त्यभावात्तदानीमेवाऽपचनोऽपि ! । ओमिति चेत्, तर्हि विरुद्धस्वभावापत्त्या तेन स्वस्वरूपमपि परिहृतं स्यादिति चेत्, स्यादेतद् यदि दहने यदपेक्षया दहनत्वस्वभावः पचनादौ च पचनत्वादिस्वभावस्तदपेक्षयैव तद्विरुद्धस्वभावस्स्यात्, न चैवम्, स्वभावद्वयस्य भिन्नापेक्षकत्वादित्युपपादनायाह—

> गुणनिव्वत्तियसण्णा, एवं दहणादओ वि दट्ठव्वा ।
> जं तु जहा पडिसिद्धं, दव्वमदव्वं तहा होइ ॥ ३० ॥

" गुणनिव्वत्तियसण्णा दहणादओ वि " गुणनिर्वर्त्तितसंज्ञा दहनादयोऽपि, गुणेन दहतीति दहनः पचतीति पचन इत्यादिव्युत्पत्तिसिद्धदाहानुकूलशक्तिमत्त्वलक्षणदहनत्वपाकानुकूलशक्तिमत्त्वलक्षणपचनत्वस्वभावात्मकेन निर्वर्त्तिता उत्पादिता संज्ञा येषां तेऽपि दहनपचनादयः, 'एवं दट्ठव्वा' तथैवानेकान्तात्मका द्रष्टव्याः, कथञ्चिद्दहनादहनोभयात्मका अभ्युपगन्तव्याः, दहनस्य दाहपरिणामयोग्यतृणाद्यपेक्षया दहनत्वात्, पचनस्य च पाकपरिणामयोग्यौदनाद्यपेक्षया पचनत्वात्, तत्परिणामायोग्यापेक्षया चातथात्वात्, तदेवाह—' जं दव्वं तु जहा पडिसिद्धं तहा अदव्वं होइ " यद्द्रव्यं तु यथा प्रतिषिद्धं तथा अद्रव्यं भवति, यद्द्रव्यं त्वऽदाह्याऽऽत्माकाशाद्यात्मजात्यापेक्षया यथा दाह्याऽऽद्यनुकूलशक्तिमत्त्वलक्षणदहनादिरूपतया प्रतिषिद्धं तद्द्रव्यं तदपेक्षया दाहकत्वादिशक्त्यभावात् अद्रव्यमदहनादिरूपं, दहनाद्यऽभावरूपमिति यावत्, तथा भजनाप्रकारेण भवति, दाह्यं तृणादिकं दहनो दहति, न त्वदाह्यमात्माऽऽकाशादिकमिति प्रतीतेर्दहनः स्याद्दहनः स्याददहन इत्यत्राप्यनेकान्त एव नितरां सिद्धिकोटिमुपढौकते, तथाऽदहन इत्यत्राप्यनेकान्तो भावनीयः,

तथाहि—यदुदकद्रव्यं दाहकत्वशक्त्यभावाद्दहनरूपेण प्रतिषिद्धं तदपि न सर्वथाऽदहनद्रव्यं भवति, पृथिव्यादेरदहनरूपाद् व्यावृत्ततया कथञ्चिदऽतथात्वात्, अन्यथा दहनव्यतिरिक्त-भूतैकत्वप्रसङ्गः, इत्यत्राप्यनेकान्त एव, सप्तधाऽविरोधेन भजनाप्रवृत्तेरिति दिक् ॥ ३० ॥

अथ जीवः स्वस्वरूपापेक्षया जीवः कुम्भादिपररूपापेक्षया च न जीवः, एवमजीवोऽपि स्वस्वरूपापेक्षयाऽजीवो जीवात्मकपररूपापेक्षया च नाजीव इति तयोः कथञ्चिदुभयात्मकत्वादनेकान्तात्मकत्वमित्युपपादनायाह—

कुम्भो ण जीवदवियं, जीवो वि ण होइ कुम्भदवियं ति ।
तम्हा दोवि अदवियं, अण्णोण्णविसेसिया होंति ॥ ३१ ॥

कुम्भो न जीवद्रव्यं भवति, जीवोऽपि न भवति कुम्भद्रव्यं, तस्माद् द्वावप्यद्रव्यमन्योन्यविशेषितौ परस्परव्यावृत्तात्मकौ भवतः। अयम्भावः—कुम्भाद्यजीवद्रव्यं जीवाद् व्यावृत्त एव जीवद्रव्यमपि कुम्भादेरजीवद्रव्याद्व्यावृत्तम्, अन्यथा सर्वस्य सर्वात्मकत्वं स्यादिति प्रतिनियतरूपाभावतस्तयोरभावस्स्यात्, खरविषाणवत्, तथा च प्रतिनियतरूपान्यथाऽनुपपत्त्या तयो परस्परव्यावृत्तस्वरूपत्वे च स्वरूपापेक्षया जीवो जीवद्रव्यं कुम्भाद्यजीवद्रव्यापेक्षया तु न जीवद्रव्यम्, एवमजीवोऽपि स्वस्वरूपापेक्षयाऽजीवद्रव्यं जीवापेक्षया तु नाजीवद्रव्यम्, ततो वस्तुमात्रस्याऽऽपेक्षिकतदतरस्वभावात्मकत्वात् सर्वमनेकान्तात्मकमिति व्यवस्थितम्। नन्वेवमजीवो जीवापेक्षया नाजीव इति द्वौ नञौ प्रकृतं गमयत इति न्यायाद् जीवोऽपि स्यादिति चेत्, मैवम्, अभावपरिणते परापेक्षत्वेऽपि भावपरिणतेः स्वापेक्षत्वात् स्वस्वरूपापेक्षया जीव कुम्भाद्यपेक्षया न जीव., स्वस्वरूपापेक्षयाऽजीवोऽपि जीवापेक्षया नाजीव इति व्यवहारोऽपि स्याद्वादव्युत्पत्तिमहिम्ना उपपाद एवेति सुधीभिर्भावनीयम्। न चायमनेकान्तः कल्पनामात्रनिर्मितवपुष्ट्वेन न वस्तुगतसद्धर्मसाधकः, कल्पनाया निरङ्कुशत्वेनाप्रमाणभूतत्वादिति वाच्यम्, निपुणं निरूपणे प्रज्ञावद्भिः सर्ववस्तूनामनेकान्तात्मकतयैवाकलनादिति ॥ ३१ ॥

अथोत्पन्नकेवलज्ञानेन भगवता "उप्पज्जेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा" इति त्रिपद्या प्रवचनाधारभूतया जीवाजीवात्मकं जगत् द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयावपेक्ष्य प्रतिक्षणोत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तमाख्यायि, अत एव प्रवचनोपनिषद्वेदिवद्ग्रन्थकृत्सूरिवरेण—"उप्पायट्ठिइभंगा हंदि दवियलक्खणं एयं" इत्यनेन नयद्वयविषयकप्रमाणार्पणया परस्परानुविद्धोत्पादस्थितिभङ्गलक्षणं वस्तुरत्नसमन्वितं प्रोक्तम्, अत्रोत्पादः 'उत्पन्नमिदम्' इति धीसाधिको धर्मः, स किमेकविध एव किं वा प्रकारान्तररूपोऽपीत्याशङ्कायामाह—

यद्वोत्पादादयो "मृदि घट उत्पन्नो मृदि घटो विनष्टो मृद्द्रव्यरूपेण स्थिरश्चेति धीसाधिका आधारत्वादिवदतिरिक्ता अपि, न स्वाद्यक्षणसम्बन्धादिरूपा एव, क्षण एवा-

भावात्, क्षणे आद्यक्षणसम्बन्धरूपोत्पादसिद्धये तत्रापि क्षणान्तरस्याद्यस्य सम्बन्धकल्पनायामनवस्थापत्तेः, तत्रोत्पादादीनां घटत्वादिना प्रतियोगित्वम्, मृत्त्वादिना चानुयोगित्वम्, द्रव्ये तु पर्यायोपहितरूपेण प्रतियोगित्वम्, तत्र चानुयोगितायाः प्रतियोगित्वेव समावेशाद् द्रव्यस्य नाऽनुयोगित्वम्, यथा 'घटविशिष्ट मृद्द्रव्यमुत्पन्नम्,' इति। इदमत्रावधेयम्-कस्योत्पाद इत्याकाङ्क्षानिवृत्तिर्घटस्योत्पाद इत्युक्त्यैव भवति, कस्येत्याकाङ्क्षानिवर्तकस्य प्रतियोगित्वम्, यथा अयं गुरुरित्युक्तौ कस्य गुरुरित्याकाङ्क्षानिवृत्ति चैत्रस्येत्युक्त्या भवतीति गुरुत्वप्रतियोगित्व चैत्रस्य, तथोत्पादप्रतियोगित्व घटत्वेन घटस्य, एव विनाशादिप्रतियोगित्वमपि, कुत्रेत्याकाङ्क्षानिवर्तकस्यानुयोगित्वम् यथा वह्नेः संयोग इत्युक्तौ कुत्रेत्याकाङ्क्षानिवृत्ति' पर्वते इत्युक्त्या भवतीति पर्वतस्य सयोगानुयोगित्वम्, तथा घट उत्पद्यते इत्युक्तौ कुत्रेत्याकाङ्क्षानिवृत्तिः मृदि घट उत्पद्यते इत्युक्त्या भवतीति मृत्त्वादिना मृदादीनामनुयोगित्वम्, किमुत्पन्नमित्याकाङ्क्षानिवर्तक घटविशिष्टमृद्द्रव्यमुत्पन्नमिति, यद्वा कस्योत्पाद इत्याकाङ्क्षानिवर्तक घटविशिष्टमृद्द्रव्यस्योत्पाद इति प्रयुज्यते यत्र तत्र घटात्मकपर्यायविशिष्टमृद्द्रव्यस्य किमित्याकाङ्क्षायाः कस्येत्याकाङ्क्षायाश्च निवर्तकत्वात्प्रतियोगित्व, कुत्रेत्याकाङ्क्षा त्वत्र नास्त्येव, यन्निवर्तकत्वान्मृदोऽनुयोगित्व सम्भाव्येतापि, घटस्य पर्यायमात्रस्योत्पादविवक्षायामेव मृदि घटस्योत्पादस्य भावादनुयोगित्व स्यात्, सा विवक्षा तु नादृता, किन्तु घटपर्यायविशिष्टमृद्द्रव्यस्यैवोत्पादो विवक्षित इति अनुयोगिन्या अपि मृदः प्रतियोगिकोटावेव प्रक्षिप्तत्वादिति। न चात्र विशेषणस्यैवोत्पादो विषय इति वाच्यम् विशिष्टस्यैव प्रतियोगितानुभवात्, इतरत्रान्वितस्य घटस्योत्पादेऽन्वयायोगाच्च। न च विशिष्टहेतुकल्पने गौरवम्, घटहेतूनामेव घटविशिष्टहेतुत्वात्। अत एव क्षणहेतूनामेव क्षणविशिष्टहेतुत्वात् उत्पत्त्यनन्तरक्षणेषु सर्वदाऽविशिष्टैस्तत्रिकोत्पादसिद्धिः, तथा चाश्रोक्तयुक्तिसिद्धातिरिक्तोत्पादः किमेकविध एव किं वा प्रकारान्तररूपोऽपीत्याशङ्कायामाह-

उप्पाओ दुवियप्पो, पओगजणिओ अ विससा चेव।
तत्थ य पओगजणिओ, समुदयवाओ अपरिसुद्धो ॥ ३२ ॥

"उप्पाओ दुवियप्पो" उत्पादो द्विविकल्पः, प्रायोगिकवैस्रसिकभेदाभ्यां प्रकारद्वयात्मकः, विकल्पद्वयमेवाह-"पओगजणिओ अ विससा चेवत्ति" स्तम्भकुम्भादीनां प्रेक्षाकारिपुरुषक्रियाजन्यत्वात् प्रयोगेण पुरुषव्यापारेण पुरुषप्रयत्नेनेति यावत् जनितो निर्वर्त्य उत्पादः प्रयोगजनितः, पुरुषव्यापाराजन्य उत्पादो विस्रसाजनितः, न च पुरुषेतरकारकव्यापारजन्यत्व विस्रसाजनितोत्पादस्य लक्षणमस्त्विति वाच्यम्, प्रायोगिकेऽतिव्याप्तेः, तन्मात्रजन्यत्व तु पुरुषवादनैव निराम्यति, तस्मात्पुरुषेतरकारकव्यापारजन्यत्व स्वरूपकथनमात्रम्, न तु तल्लक्षणम्। तत्राद्यभेदस्वरूपप्रतिपादनायोत्तरार्द्धमाह-तत्थेत्यादि। तत्र च-उक्तभेद-

द्वयमध्ये चेत्यर्थः, प्रयोगजनितो मूर्तिमद्द्रव्यावयवारब्धत्वात्समुदयवादः, तथाभूतारब्धस्य समुदायात्मकत्वात्, तत एव चासावपरिशुद्ध इति गीयते, अत्रापरिशुद्धत्वं स्वाश्रयपयावद्-वयवोत्पादापेक्षया पूर्णस्वभावत्वम्, न ह्यपूर्णावयवो घट उत्पद्यमानः कार्त्स्न्येनोत्पन्न इति व्यवह्रियत इति। ननु न प्रयोगजन्य उत्पादः, घटादेरेव प्रयत्नजन्यत्वात्, उत्पादस्य स्वाद्यक्षणसम्बन्धलक्षणस्यावस्थत्वात्, यतः कपालादीनां घटत्वावच्छिन्नं प्रति कारणत्वम्, न तु घटोत्पादत्वावच्छिन्नं प्रतीति चेत्, मैवम्, 'मुद्गरपाताद् नष्टो घटः' इति व्यपदेशाद् नाशे मुद्गरपातजन्यत्ववत् 'पुरुषव्यापारादुत्पन्नो घटः' इति' व्यवहारा दुत्पादेऽपि पुरुषव्यापारजन्यत्वस्यावश्यकत्वात्। निर्विच्यानुभूयमानत्वेनोत्पादापलापे च नाशस्याप्यपलापप्रसङ्गात्। उत्पत्तेराद्यक्षणसम्बन्धेनान्यथासिद्धौ नाशस्यापि चरम क्षणसम्बन्धेनान्यथासिद्धे' सुवचत्वात्, घटप्रतियोगिकत्वेन नाशो विलक्षण एवानुभूयत इति चेत् तथोत्पादोऽपीति तुल्यम्। किञ्चाद्यक्षणे 'आद्यक्षणसम्बन्धवान् घटः' इतिवत् 'आद्यक्षण उत्पन्नो घटः' इति प्रयोगो न ह्युपपादस्स्यादिति न किञ्चिदेतत् ॥ ३२ ॥

द्वितीयभेदरूपो विस्रसाजनितोऽप्युत्पादो द्विविध इत्याह—

साभाविओ वि समुदयकओव्व एगत्तिओव्व होज्जाहि।
आगासाईआण तिण्हं परपच्चओऽणियमा ॥ ३३ ॥

'साभाविओ वि' स्वाभाविकोऽप्युत्पाद एकः 'समुदयकओ व' समुदयकृतो वा जीवप्रयत्नमन्तरेण विस्रसापरिणतपुद्गलसमुदायेन जनितो मूर्तिमद्द्रव्यावयवारब्धत्वात्समुदय जनित उच्यते इति भावः। द्वितीयश्च "एगत्तिओव होज्जाहि" ऐकत्विको वा भवेत्। तत्राद्यः स्वभावपरिणताभ्रेन्द्रधनुरादीनामुत्पादः, घटादीनामप्रथमतयोत्पादश्च प्रतिक्षणोत्पा दव्ययध्रौव्यान्यथानुपपत्तिसिद्धद्वितीयादितत्क्षणविशिष्टविनाशस्य विशिष्टोत्पादनियतत्वात्, न हि मूर्तावयवसंयोगकृतत्वं समुदयजनितत्वम्, विभागकृतपरमाण्वाद्युत्पादेऽव्याप्तेः, किन्तु मूर्तावयवनियतत्वम्, तच्च तदवस्थावयवस्यापि नवपुराणभावलक्षणावस्थाविशेषात् सम्भवत्ये वेति। नन्वभ्रेन्द्रधनुरादिवदप्रथमतया घटाद्युत्पादस्यापि स्वाभाविकत्वेन कारणान्तरानपेक्षत्वे घटोत्पादार्थं दण्डग्रहणादौ प्रवृत्तिर्न स्यादिति चेत्, मैवम्, उत्पादस्य प्रायोगिकवैस्रसिक भेदेन द्विविधत्वोक्त्या स्वाभाविकोत्पादे हेत्वनपेक्षायामपि प्रायोगिकोत्पादे तदपेक्षाध्रौ व्यात्प्रवृत्त्युच्छेदाभावात्। एतेन कालादिहेतुपञ्चकसामग्र्याः कार्योत्पत्तिनियतत्वं जिनानु-गैरभ्युपगतं तदपि स्वाभाविकोत्पादपक्षे न स्यादित्यपसिद्धान्तभीरपि निरस्ता, उक्तद्वैविध्यस्य प्रयोगविस्रसाप्राधान्येनैव व्यवस्थितेर्गौणविषया कालादिहेतुपञ्चकसामग्रीनिष्ठकारणत्वा-भ्युपगमादिति। विस्रसापरिणामिनो वस्तुनो हेत्वन्तरमन्तरेण स्वभावत एव विनाशशीलत्व-मिव हेत्वन्तरमन्तरेण स्वभावादेवोत्पादशीलत्वमपि न्याय्यम्, ...पादविनाशयोः

कारणान्तरानपेक्षत्वे न व्यवस्थिते स्थितेरपि तत्त्वेन स्वाभाविकत्व मुक्तम्, यत्राचिरकत्व स्येव कादाचित्कत्वस्यापि स्वभावनियतत्वात्, तथा च विस्रसापरिणामिनः कारणान्तरानपेक्ष-मेव स्वभावप्रयुक्तमुत्पादादित्रयमिति सिद्धम्, ऐकत्विकाख्यद्वितीयभेदप्रतिपादनायोत्तरार्द्ध-माह-'आगासाईयाण' इत्यादि। "आगासाईयाण तिण्हं" आकाशादीनां त्रयाणाम्, आकाशास्तिकायधर्मास्तिकायाऽधर्मास्तिकायानां त्रयाणां 'परपच्चओ' परप्रत्ययः, अव गाहकगन्तृ-स्थातृजीवपुद्गलात्मकपरद्रव्यनिमित्तो अवगाहनागतिस्थित्युपग्रहकारित्वो-त्पादः, सोऽपि न नियमेन, किन्तु कथञ्चिद्भावेनेत्याह-'णियमा' अत्राकारप्रश्लेषकरणाद-नियमादनेकान्ताद्भवेत्, आकाशादीनां त्रयाणां तत्तदवगाहक-गन्तृ-स्थातृद्रव्यसन्निधान-तोऽवगाहन-गति स्थित्युपग्रहकरणक्रियोत्पत्तेरनियमेन स्यात्परप्रत्ययो मूर्त्तिमदमूर्त्तिमद् यपचद्रव्यद्वयोत्पाद्यत्वादवगाहनादीनां स्यादैकत्विकः स्यादनैकत्विकश्चेत्यत्राप्यनेकान्त एव सिद्धिसौधमध्यास्ते। अयम्भावः-न हि तेषु पौरुषेयः प्रयोगो विस्रसा वा क्रमत इत्यतः परप्रत्ययावुत्पादविनाशौ त्रयाणां, जीवपुद्गलानां तु प्रयोगविस्रसाभ्यामुत्पादव्ययौ सम्भवतः, ध्रौव्य तु सर्वेष्वविशिष्टमिति तत्त्वार्थटीकोक्तेर्जीवपुद्गलानां प्रयोगविस्रसाभ्यामुत्पादव्ययौ यथा सम्भवतः, न तथाऽऽकाशादीनां त्रयाणाम्, किन्तु ततोऽन्यादृशौ तौ तत्र, तथाहि-घटाद्युत्पादवन्न चाकाशादित्रयेषु प्रायोगिक उत्पादः, न वा विस्रसापरिणतपुद्गलजनिता भ्रेन्द्रधनुराद्युत्पादवद्वैस्रसिकः, आकाशादेरुत्पादस्य प्रयोगविस्रसात्मकमूर्त्तिमद्द्रव्यानारब्ध त्वात्, किन्त्ववगाहकगन्तृस्थातृजीवपुद्गलात्मकपरनिमित्तस्तत्रोत्पादः, एवमेव विनाशोऽपि परनिमित्तो विज्ञेयः, अत एव खण्डखाद्ये "आकाशादावपि परप्रत्ययोत्पादव्यसानामागम सिद्धत्वादित्युक्तम्"। अस्य चायमर्थः-यस्मादुपरततद्देशावच्छिन्नावगाहकस्वभावे चैत्रे सति तन्निमित्तकतद्देशावच्छिन्नतदवगाहनादायित्वस्वभावतयाऽपैति स एवाकाशास्तिकायः, समुपगततदन्यदेशावच्छिन्नावगाहकस्वभावे चैत्रे तन्निमित्तकदेशान्तरावच्छिन्नतदवगाहना दायित्वस्वभाववत्तयोत्पद्यते, एवं यस्सदुपरतगतिव्यापारे चैत्रे तद्गत्युपग्रहव्यापारवत्तयाऽपैति स एव धर्मास्तिकायो जिगमिषद्देवदत्ते तद्गत्युपग्रहदायित्वस्वभाववत्तयोत्पद्यते, अधर्मास्तिकायेऽपि गतिपदस्थले स्थितिपद संयोज्य तत्र ज्ञेयम्, इत्येवमवगाहक-गन्तृ-स्थातृद्रव्यनिमित्तोत्पा-दव्यसानामागमसिद्धत्वादिति। नन्वाकाशधर्माधर्मास्तिकायानां सर्वदाऽविचलितस्वरूपतयै वावस्थितत्वेनाविक्रियात्मकानामन्यरूपेण पूर्वमवस्थितस्य तदन्यरूपेण परिणमनमेव नास्तीति तेषूत्पाद एव न सम्भवतीति कुतस्तत्रोत्पादानेकान्त इति चेत्, उच्यते, तेष्वपि स्वाभाविक उत्पाद ऐकत्विकोऽनैकत्विकश्च द्विप्रकारोऽप्यस्ति भजनया, यतस्स्याद्वादपक्षे नैवाकाशादि द्रव्यत्रय सर्वप्रकारेणाविकार्यव, किन्तु द्रव्यार्थतया नित्यमपि पर्यायार्थतया पूर्वोऽवगाहका-वगाहाद्युपग्रहकारिस्वभावत्वेन विनश्यति, पूर्वावगाहकादिव्यतिरिक्तावगाहकाद्यवगाहाद्यु-पग्रहकारिस्वभावत्वेनोत्पद्यते चेत्यनित्यमित्यतो विकार्यमपि, आकाशादित्रयाणां कथञ्चिद-

नित्यत्वे च तेष्वप्यवगाहाद्युपग्रहकारिस्वभावत्वेनैकत्विक उत्पादः कथञ्चिद्भावेनैव, न त्वेकान्तेन । नन्वाकाशादित्रयाणामवगाहाद्युपग्रहकारिस्वभावतयोत्पादोऽवगाह्यावगाहका-भ्यां तादृशस्वभावस्याऽऽत्मलाभलक्षणः, तस्य त्वेकमात्रनिबन्धनत्वाभावादैकत्विकत्वमेव न सङ्घटत इति व्युत्पत्तिनिमित्ताऽभावात्कथमैकत्विक इति संज्ञा तत्र युक्तेति चेत्, उच्यते, आकाशेऽवगाहकानुप्रवेशेऽवगाहोपष्टम्भकत्वस्वभावस्योत्पत्तिरभिव्यक्तिरेव, सा च तादृशस्वभावस्याऽऽकाशगुणत्वादाकाशगतैव, तज्जनकत्वादवगाहकमवगाहोपष्टम्भकत्वस्वभावस्य व्यञ्जकमेव, नोत्पादकम्, व्यञ्जकञ्चाकाशादन्यदेव भवति व्यङ्ग्यात् घटादेरिव प्रदीपादि, इत्थं चाभिव्यक्तेराकाशव्यतिरिक्ताऽवगाहकमात्रनिमित्तकत्वादैकत्विकत्वमेवेति तत्रैकत्विक इति संज्ञा युक्तैव, एवं धर्मास्तिकाये तत्तज्जीवपुद्गलगतौ सत्यां तदुपग्रहदायित्वस्वभावस्यो-त्पत्तिरभिव्यक्तिरेव, सा चोक्तस्वभावस्य धर्मास्तिकायगुणत्वाद्धर्मास्तिकायगतैव, तज्जन-कत्वादन्यद्द्रव्यं गत्युपग्राहकत्वस्वभावस्य व्यञ्जकमेव, नोत्पादकम्, इत्थं चाभिव्यक्तेर्धर्मास्ति-कायव्यतिरिक्तगन्तृद्रव्यमात्रनिमित्तत्वाच्चलक्षणोत्पाद ऐकत्विकः, एवमधर्मास्तिकायेऽपि स्वयमेव ज्ञेयम्, नन्वेवं सर्वथैकत्विक उत्पादः कथमिति चेत्, तदप्युच्यते, आकाशस्य तत्त-त्पुद्गलजीवावगाहनादायित्वस्वभावतयोत्पादोऽवगाह्यावगाहकद्वयसमुदायजन्यत्वात्, धर्मा-स्तिकायस्य च तत्तत्पुद्गलजीवगत्युपग्राहकत्वस्वभावतयोत्पादो गन्तृधर्मास्तिकायद्रव्यद्वय समुदायकार्यत्वात्, अधर्मास्तिकायस्यापि च तत्तत्पुद्गलजीवस्थित्यनुग्रहहेतुत्वस्वभावरूपेणोत्पा दस्स्थात्रधर्मास्तिकायद्रव्यद्वयसमुदायजन्यत्वादनैकत्विकः, अत एव समुदायजनित इत्यपि च गीयते सैद्धान्तिकैः । विवेचितश्चैतत्तत्त्वार्थत्रिसूत्र्या विस्तरार्थिभिस्तत एवावसेयम् ॥ ३३ ॥

उत्पादवद्विगमोऽपि तथाविध एवेत्याह—

> विगमस्स वि एस विही, समुदयजणियम्मि सो उ दुवियप्पो ।
> समुदयविभागमेत्तं, अत्यंतरभावगमणं च ॥ ३४ ॥

" विगमस्स वि एस विही " विगमस्यापि नाशस्यापि एष विधिः, प्रायोगिकः वैस्रसिकश्चेति भेदद्वयम्, तद्व्यतिरिक्तस्य वस्तुनोऽभावात्, पूर्वावस्थाविगमव्यतिरेकेणोत्त रावस्थोत्पत्त्यऽनुपपत्तेः, तत्राद्य आत्मव्यापाराश्रितः, द्वितीयस्तु जीवव्यापारनिरपेक्षः । ननु विनाशो निर्हेतुकः प्रतियोग्यतिरिक्तभावान्तरानपेक्षत्वादित्यनुमानेन विनाशस्य निर्हेतु कत्वे सिद्धे कालान्तरे हेतुमपेक्ष्य जायमानो प्रायोगिकविनाश एव नास्तीति भेदद्वयस्यैवा सिद्धिरिति वाच्यम्, मुद्गरादिना घटो विनष्ट इति आत्यधिकप्रतीतिबलादेव विनाशस्य सहेतुकत्वे सिद्धे उक्तानुमानस्य बाधितत्वात् । ननु भावस्स्वहेतोरेवोत्पद्यमानस्वादृशो भवति, येनोत्पत्तिसमनन्तरमेव विनश्यतीति, अयुक्तमेतत्, प्रतिज्ञामात्रत्वात्, वयमपि ब्रूमो–भावः

कारणान्तरानपेक्षत्वे च व्यवस्थिते स्थितेरपि तद्वत्वेन स्वाभाविकत्व युक्तम्, कदाचित्कत्व स्येव कादाचित्कत्वस्यापि स्वभावनियतत्वात्, तथा च विस्रसापरिणामिनः कारणान्तरानपेक्ष-मेव स्वभावप्रयुक्तमुत्पादादित्रयमिति सिद्धम्, ऐकत्विकाख्यद्वितीयभेदप्रतिपादनायोत्तरार्द्ध-माह–'आगासाईयाण' इत्यादि। "आगासाईयाण तिण्ह" आकाशादीनां त्रयाणाम्, आकाशास्तिकायधर्मास्तिकायाऽधर्मास्तिकायाना त्रयाणां 'परपच्चओ' परप्रत्ययः, अव गाहकगन्तृ–स्थातृजीवपुद्गलात्मकपरद्रव्यनिमित्तो अवगाहनागतिस्थित्युपग्रहकारित्वो-त्पादः, सोऽपि न नियमेन, किन्तु कथञ्चिद्भावेनेत्याह–'णियमा' अत्राकारप्रश्लेषकरणाद् नियमादनेकान्ताद्भवेत्, आकाशादीनां त्रयाणां तत्तदवगाहक–गन्तृ–स्थातृद्रव्यसन्निधान-तोऽवगाहन–गति स्थित्युपग्रहकरणक्रियोत्पत्तेरनियमेन स्यात्परप्रत्ययो मूर्त्तिमदमूर्त्तिमद वयवद्रव्यद्वयोत्पाद्यत्वादवगाहनादीनां स्यादैकत्विकः स्यादनैकत्विकश्चेत्यत्राप्यनेकान्त एव सिद्धिसौधमध्यास्ते। अयम्भावः–न हि तेषु पौरुषेयः प्रयोगो विस्रसा वा क्रमत इत्यतः परप्रत्ययावुत्पादविनाशौ त्रयाणां, जीवपुद्गलानां तु प्रयोगविस्रसाभ्यामुत्पादव्ययौ सम्भवतः, ध्रौव्य तु सर्वेष्वविशिष्टमिति तत्त्वार्थटीकोक्तेर्जीवपुद्गलानां प्रयोगविस्रसाभ्यामुत्पादव्ययौ यथा सम्भवतः, न तथाऽऽकाशादीनां त्रयाणाम्, किन्तु ततोऽन्यादृशौ तौ तत्र, तथाहि घटाद्युत्पादवन्न चाकाशादित्रयेषु प्रायोगिक उत्पादः, न वा विस्रसापरिणतपुद्गलजनिता ऐन्द्रधनुराद्युत्पादवद्वैस्रसिकः, आकाशादेरुत्पादस्य प्रयोगविस्रसात्मकमूर्त्तिमद्द्रव्यानारब्ध त्वात्, किन्त्ववगाहकगन्तृस्थातृजीवपुद्गलात्मकपरनिमित्तस्तत्रोत्पादः, एवमेव विनाशोऽपि परनिमित्तो विज्ञेयः, अत एव खण्डखाद्ये "आकाशादावपि परप्रत्ययोत्पादध्वंसानामागम सिद्धत्वादित्युक्तम्"। अस्य चायमर्थः–यस्समुपरततद्देशावच्छिन्नावगाहकस्वभावे चैत्रे सति तन्निमित्तकतद्देशावच्छिन्नतदवगाहनादायित्वस्वभावतयाऽपैति स एवाकाशास्तिकायः, समुपगततदन्यदेशावच्छिन्नावगाहकस्वभावे चैत्रे तन्निमित्तकदेशान्तरावच्छिन्नतदवगाहना दायित्वस्वभाववत्तयोत्पद्यते, एवं यस्समुपरतगतिव्यापारे चैत्रे तद्गत्युपग्रहव्यापारवत्तयाऽपैति स एव धर्मास्तिकायो जिगमिषद्देवदत्ते तद्गत्युपग्रहदायित्वस्वभावतयोत्पद्यते, अधर्मास्तिकायेऽपि गतिपदस्थले स्थितिपदं संयोज्य तत्त्व ज्ञेयम्, इत्येवमवगाहक–गन्तृ–स्थातृद्रव्यनिमित्तोत्पा दध्वंसानामागमसिद्धत्वादिति। नन्वाकाशधर्माधर्मास्तिकायानां 'सर्वदाऽविचलितस्वरूपतयै वावस्थितत्वेनाविक्रियात्मकानामन्यरूपेण पूर्वमनवस्थितस्य तदन्यरूपेण परिणमनमेव नास्ती ति तेषूत्पाद एव न सम्भवतीति कुतस्तत्रोत्पादानेकान्त इति चेत्, उच्यते, तेष्वपि स्वाभाविक उत्पाद ऐकत्विकोऽनैकत्विकश्च द्विप्रकारोऽप्यस्ति भजनया, यतस्स्याद्वादपक्षे नैवाकाशादि द्रव्यत्रय सर्वप्रकारेणाविकार्यैव, किन्तु द्रव्यार्थतया नित्यमपि पर्यायार्थतया पूर्वाऽवगाहका-वगाहाद्युपग्रहकारिस्वभावत्वेन विनश्यति, पूर्वावगाहकाद्व्यतिरिक्तावगाहकाद्यवगाहाद्यु-पग्रहकारिस्वभावत्वेनोत्पद्यते चेत्यनित्यमित्यतो विकार्यमपि, आकाशादित्रयाणां कथञ्चिद्

नित्यत्वे च तेष्वप्यवगाहाद्युपग्रहकारिस्वभावत्वेनैकत्विक उत्पादः कथञ्चिद्भावेनैव, न त्वेकान्तेन । नन्वाकाशादित्रयाणामवगाहाद्युपग्रहकारिस्वभावतयोत्पादोऽवगाह्यावगाहकाभ्यां तादृशस्वभावस्याऽऽत्मलाभलक्षणः, तस्य त्वेकमात्रनिबन्धनत्वाभावादैकत्विकत्वमेव न सङ्घटत इति व्युत्पत्तिनिमित्ताऽभावात्कथमैकत्विक इति संज्ञा तत्र युक्तेति चेत्, उच्यते, आकाशेऽवगाहकानुप्रवेशेऽवगाह्योपष्टम्भकत्वस्वभावस्योत्पत्तिरभिव्यक्तिरेव, सा च तादृशस्वभावस्याऽऽकाशगुणत्वादाकाशगतैव, तज्जनकत्वादवगाहकमवगाह्योपष्टम्भकत्वस्वभावस्य व्यञ्जकमेव, नोत्पादकम्, व्यञ्जकश्चाकाशादन्यदेव भवति व्यङ्ग्याद् घटादेरिव प्रदीपादि, इत्थं चाभिव्यक्तेराकाशव्यतिरिक्तावगाहकमात्रनिमित्तकत्वादैकत्विकत्वमेवेति सैकत्विक इति संज्ञा युक्तैव, एवं धर्मास्तिकाये तत्तज्जीवपुद्गलगतौ सत्यां तदुपग्रहदायित्वस्वभावस्योत्पत्तिरभिव्यक्तिरेव, सा चोक्तस्वभावस्य धर्मास्तिकायगुणत्वाद्धर्मास्तिकायगतैव, तज्जनकत्वाद्गन्तृद्रव्यं गत्युपग्राहकत्वस्वभावस्य व्यञ्जकमेव, नोत्पादकम्, इत्थं चाभिव्यक्तेर्धर्मास्तिकायव्यतिरिक्तगन्तृद्रव्यमात्रनिमित्तकत्वात्तल्लक्षणोत्पाद ऐकत्विकः, एवमधर्मास्तिकायेऽपि स्वयमेव ज्ञेयम्, नन्वेवं तर्ह्यनैकत्विक उत्पादः कथमिति चेत्, तदप्युच्यते, आकाशस्य तत्तत्पुद्गलजीवावगाहनादायित्वस्वभावतयोत्पादोऽवगाह्यावगाहकद्वयसमुदायजन्यत्वात्, धर्मास्तिकायस्य च तत्तत्पुद्गलजीवगत्युपग्राहकत्वस्वभावतयोत्पादो गन्तृधर्मास्तिकायद्रव्यद्वयसमुदायकार्यत्वात्, अधर्मास्तिकायस्यापि च तत्तत्पुद्गलजीवस्थित्यनुग्रहहेतुत्वस्वभावरूपेणोत्पादस्तथाऽधर्मास्तिकायद्रव्यद्वयसमुदायजन्यत्वाच्चानैकत्विकः, तत एव समुदायजनित इत्यपि च गीयते सैद्धान्तिकैः । विशेषितश्चैतत्तत्त्वार्थत्रिसूत्र्यां निस्तरार्थिभिस्तत एवावसेयम् ॥ ३३ ॥

उत्पादवद्विगमोऽपि तथाविध एवेत्याह—

> विगमस्स वि एस विही, समुदयजणियम्मि सो उ दुवियप्पो ।
> समुदयविभागमेत्त, अत्थतरभावगमण च ॥ ३४ ॥

"विगमस्स वि एस विही" विगमस्यापि नाशस्यापि एष विधिः, प्रायोगिकः वैस्रसिकश्चेति भेदद्वयम्, तद्द्वयातिरिक्तस्य वस्तुनोऽभावात्, पूर्वावस्थाविगमव्यतिरेकेणोत्तरावस्थोत्पत्त्यनुपपत्तेः, तत्राद्य आत्मव्यापारान्निष्पन्नः, द्वितीयस्तु जीवव्यापारनिरपेक्षः । ननु विनाशो निर्हेतुकः प्रतियोग्यतिरिक्तभावान्तरानपेक्षत्वादित्यनुमानेन विनाशस्य निर्हेतुकत्वे सिद्धे कालान्तरे हेतुमपेक्ष्य जायमानो प्रायोगिकविनाश एव नास्तीति भेदद्वयस्यैवासिद्धिरिति वाच्यम्, मुद्गरादिना घटो विनष्ट इति प्रात्यक्षिकप्रतीतिबलादेव विनाशस्य सहेतुकत्वे सिद्धे उक्तानुमानस्य बाधितत्वात् । ननु भावस्स्वहेतोरेवोत्पद्यमानस्तादृशो भवति, येनोत्पत्तिसमनन्तरमेव विनश्यतीति, अयुक्तमेतत्, प्रतिज्ञामात्रत्वात्, अयमपि भूमो-भावः

स्वहेतोरेव तादृश उपजायते, येन कालान्तरमवस्थाय विनश्यतीति, अस्मिंश्च पक्षे प्रत्यक्षा द्यपि प्रमाणं सहकारि भवति। ननु भावो विनश्वरस्वभावोऽविनश्वरस्वभावो वा, आद्ये नाशप्रतिबन्धकः कः ? येनोत्पत्त्यनन्तरमेव स न नश्यति ?। द्वितीयपक्षे च नैव कदापि विनश्येत, यतो विनश्वरस्वभावस्यैव विनाशः, अन्यथा नित्यत्वेनाभ्युपगतानामपि विनाश स्स्यादिति चेत्, मैवम्, " प्रागभूतात्मलाभत्वान्नाशः कारणवान् भवेत् " इत्युक्तेः प्रागसत्त्वे सति सत्त्वलक्षणकादाचित्कत्वहेतुना विनाशस्य सहेतुकत्वसिद्धेर्हेतुसमवधाने सत्येव तद्भावादित्यलमतिप्रसङ्गेन। स्थितमिदम्–प्रायोगिकोऽप्यस्ति विनाश इति। स च समुदय जनित एवेत्येकप्रकारात्मकः, वैस्रसिकस्तु द्विविधः–समुदयजनित ऐकत्विकश्च, तत्रैकत्विक विनाश आकाशादित्रयाणां तत्तत्पुद्गलतत्तज्जीवावगाह-गति स्थित्युपष्टम्भकत्वपर्यायोत्पादस्य तदनुपष्टम्भकत्वलक्षणपूर्वावस्थाध्वंसपूर्वकत्वेनान्ततः क्षणध्वंसे तद्विशिष्टध्वमनियमाच्चाभ्यु-पेयः। प्रयोगजनितविस्रसाजनितभेदद्वयान्तर्गतसमुदयजनितविनाशस्य द्वैविध्यप्रतिपाद नायाह–' समुदयजणिअम्मि सो उ दुवियप्पो ' समुदयजनिते स विनाशस्तु द्विविकल्पः, उभयत्रापीति शेषः। विकल्पद्वयमेवाह–" समुदयविभागमेत्त अत्थंतरभावगमणं च " समुदयविभागमात्रम्, अर्थान्तरभावगमनश्च। तत्र समुदयविभागमात्रं केवलसमुदयविभाग लक्षण एकं, यथा पटादेः कार्यस्य तत्कारणीभूततन्त्वादिपृथक्करणे विनाशस्तन्तुविभागा-त्मा, घटविनाशश्च कपालविभागात्मा, न तु तदतिरिक्तस्य., तथा सत्यतिरिक्तध्वंसाख्यो ऽभावः कल्पनीयः, तत्र चानुयोगितानिरूपकं ध्वंसत्वमिति धर्मिधर्मोभयाभ्युपगमापेक्षया " धर्मिकल्पनातो धर्मकल्पना लघीयसीति " न्यायाल्लाघवादुभयानुमते तत्तदवयवविभागा त्मके धर्मिणि ध्वंसत्वधर्मसिद्धौ तद्रूपेण मुद्गरेण घटो विनश्यति विनष्टो वेति प्रतीतिरपि मुद्गरविभागात्मकध्वंसावगाहिन्यभ्युपगन्तव्येति तत्तदवयवविभागात्मैव ध्वंसोऽभ्युपगन्त व्य.। अयम्भावः–पटावयवानां तन्तूनां विभक्तीकरणे नातिरिक्तं पटस्य विनाशो जायत किन्तु विभक्ततन्तुसहविलक्षणोत्तरकार्यात्मैवेति तल्लक्षणः प्रायोगिकः पटविनाशः, एवं मुद्गरा दिना नातिरिक्तो घटादिध्वंसो जन्यते, किन्तु विभक्तकपालकदम्बकात्मक एव, अतिरिक्त नाशाऽदर्शनादिति विभक्तकपालकदम्बकात्मकोत्तरकार्यात्मा विनश्यमानस्य घटस्य प्रायोगिको विनाशोऽभ्युपगन्तव्यः। एवमभ्रेन्द्रधनुरादावयवानां विभक्ततयोत्पत्तौ विपद्यमानानामभ्रेन्द्र धनुरादीनां स्वाभाविको विनाशो विभक्ततत्तदवयवात्मैवाभ्युपगन्तव्य.। सरदति चात्र–यदुत्पत्तौ कार्यस्यावश्यं विपत्तिः सोऽस्य प्रध्वंसाभाव इति। ३। ५७ ॥ यथा कपालकदम्ब-कोत्पत्तौ नियमतो विपद्यमानस्य कलशस्य कपालकदम्बकमिति। ३। ५८। इति प्रमाणनय-तत्त्वालोकालङ्कारसूत्रद्वयमिति। द्वितीयश्चार्थान्तरभावगमनलक्षणः, यथा तन्तव एव पटरूपा र्थान्तरभावेन परिणमन्त इति तन्तूनां विनाशः पटरूपार्थान्तरभावप्राप्तिलक्षणः, न चैवं तर्हि पूर्वावस्थाविनाशेनैवोत्तरावस्थोत्पत्त्यऽभ्युपगमात् तन्त्वादिपरिणामनाशेनैव पटादिपरिणा

मोत्पत्तेः पटकाले तन्तुप्रतीतिर्न स्यात्, नष्टस्यातीतवदग्रहणादिति वाच्यम्, यत्र पटस्य समुदितवत्तत्तन्त्ववयवास्ततो विभक्तास्तत्र समुदयविभागलक्षणपटविनाशस्य पटात्मकप्रतियोगिप्रतीतिविरोधित्वेऽपि यत्र विभक्तानां तन्तूनां या संयुक्तावस्था तद्रूपपटात्मकार्थान्तरभावलक्षणविनाशस्तेषां तत्र विभक्ततया तन्तूनां विनाशेऽपि संयुक्ततया तेषामविनाशात्तद्रूपप्रतियोगिप्रतीत्यविरोधित्वात्, पटकाले तन्तुप्रतीतिभावात्, एवं मृत्पिण्डस्य विनाशो घटरूपार्थान्तरभावलक्षणो विज्ञेयः। न चैवं तर्हि तद्विनाशे मृत्पिण्डप्रादुर्भावप्रसक्तिः, पूर्वोत्तरावस्थयोरस्त्वभावतोऽसङ्कीर्णत्वात्, वर्त्तमानकालावच्छिन्नवस्त्वन्तररूपेऽतीतकालावच्छिन्नवस्त्वन्तरस्यापादयितुमशक्यत्वात्, अतीतस्य च वर्त्तमानत्वायोगात्। न च " आगामाई पाण तिण्ह परपच्चओ नियमा " इत्युक्त्याऽऽकाशादित्रयाणामुत्पादव्ययोः परनिमित्तकत्वात्तावौपचारिकौ स्यातामिति वाच्यम्, " उप्पज्जेइ वा धुवेइ वा विगमेइ वा " इति त्रिपद्या भगवतोत्पादादित्रयात्मकतया जगत्स्वरूपमविशिष्टमेवोक्तमिति परमार्थभूतोत्पादव्ययशून्यं ध्रौव्यं न च कुत्रापि सम्भवतीति यत्र परमार्थभूतं ध्रौव्यं तत्र नियमेन पारमार्थिकावुत्पादव्ययौ, यथा पुद्गलजीवयोः, परमार्थभूतं ध्रौव्यञ्चाकाशादिषु त्रिष्वपीति तत्रापि नियमेन पारमार्थिकौ तावभ्युपगन्तव्यौ, अन्यथा त्रिपद्या प्रतिपादितं यदुत्पद्यते यद्व्येति यच्च ध्रुवं तत्सदिति सल्लक्षणं सिद्धं न स्यात्, सदात्मकलक्ष्यैकदेशे आकाशादावेव तदसङ्गतेः, तत्रोत्पादव्यययोरौपचारिकत्वेनासद्रूपत्वेन भवताऽभ्युपगमात्। अथोपचारो व्यवहारमूलक इति तत्सिद्धौ तौ तत्रेति चेद्, व्यवहारः प्रामाणिकोऽप्रामाणिको वा, आद्यश्चेत्तर्ह्यनायासेन तौ पारमार्थिकौ सिद्धौ, प्रामाणिकव्यवहारस्यागममूलकत्वात्। द्वितीये सल्लक्षणमाकाशादावव्याप्तं स्यात्, तस्माद् व्यवहारतो नित्यस्याकाशादेरनित्यस्य च प्रदीपादेः स्याद्वादद्दृष्ट्या द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयापेक्षया कथञ्चिन्नित्यानित्यत्वयैव सिद्धेस्तदपेक्षया वस्तुमात्रं पारमार्थिकोत्पादव्ययध्रौव्ययुक्ततयैव सदित्याकाशादित्रयमपि तद्रूपतयैव सदिति व्यवस्थितम्। स्थितिश्चाविचलितस्वमात्ररूपत्वात् विभक्ता शास्त्रकारेणेति ॥ ३४ ॥

अथाऽत्रोत्पादव्ययस्थितयः किं भिन्नकाला अभिन्नकालाश्च सन्ति न वेति चेद्, सन्तीति ब्रूमः। तथाहि—एकप्रतियोगिनिरूपितत्वेन तद्विशिष्टद्रव्यनिरूपितत्वेन वोत्पादव्ययस्थितीनां भिन्नकालता, यथा घटोत्पादसमये घटविशिष्टमृदुत्पादसमये वा न तद्विनाशः, अनुत्पत्तिप्रसक्तेः। नापि घटविनाशसमये घटविशिष्टमृद्विनाशसमये वा तदुत्पत्तिः, अविनाशप्रसक्तेः। न च तत्प्रादुर्भावसमय एव तत्स्थितिः, तद्रूपेणावस्थितस्यानवस्थाप्रसक्त्या प्रादुर्भावाऽयोगात्। अतो द्रव्यादर्थान्तरभूतास्ताः, भिन्नकालत्वेन नानात्मकानां तासामेकद्रव्यरूपत्वाऽयोगात्। भिन्नप्रतियोगिनिरूपितत्वेन तद्विशिष्टद्रव्यनिरूपितत्वेन वाऽभिन्नकालता तासां, यथा कुशूलतद्विशिष्टमृन्नाशघटतद्विशिष्टमृदुत्पाद-मृत्स्थितीनाम्। अतो द्रव्यादनर्थान्तरभूतास्ताः, अभिन्नकालत्वेनैकरूपत्वादिति प्रतिपादनायाह—

तिण्णि वि उप्पायाई, अभिन्नकाला य भिन्नकाला य ।
अत्थंतरं अनत्थंतरं च, दवियाहि णायव्वा ॥ ३५ ॥

"तिण्णि वि उप्पायाई" त्रयोऽप्युत्पाद-विगम-स्थितिस्वभावाः, ते किमित्यत आह—"अभिन्नकाला य भिन्नकाला य" अभिन्नकालाश्च भिन्नकालाश्च, यतो यदा घटस्य कम्बुग्रीवाद्याकारवत्स्वात्मिकोत्पत्तिस्तदैव न विशकलितकर्परभावात्मिका तत्प्रच्युतिः, स्वोत्पत्तिपूर्वकत्वात्स्वविनाशस्य । नापि विभक्तकर्परसहविलक्षणोत्तरपर्यायात्मकतद्विनाशसमये तस्य कपालद्वयसंयुक्तावस्थालक्षणप्राक्पर्यायात्मिका समुत्पत्तिः, तदा तदुत्पत्त्यभ्युपगमे तदानीमेव विनाशापत्तेः, न च स्वप्रादुर्भावकाल एव स्वस्थितिः, उत्पत्तिमात्ररूपप्रसङ्गात्, स्वस्वरूपेणावस्थितस्यानवस्थाप्रसक्तितः प्रादुर्भावायोगाच्च, न च घटरूपमृत्स्थितिकाले तस्या विनाशः, तद्रूपेणावस्थितस्य विनाशाऽनुपपत्तेः, न च घटविनाशविशिष्टमृत्काले घटविशिष्टाया एव मृद उत्पादः, नापि तदुत्पादविशिष्टमृत्समये तस्या एव मृदो ध्वंसः, अनुत्पत्तिप्रसक्तेः, इत्येवमेकप्रतियोगिनिरूपितत्वेन तद्विशिष्टद्रव्यनिरूपितत्वेन चोत्पादादित्रयः परस्परतो भिन्नकालाः, घटोत्पादसमये घटविनाशस्य घटविनाशसमये घटोत्पादस्य तदुत्पादविनाशयोरुत्पत्तिविनाशानवच्छिन्नकालसम्बन्धरूपायास्तत्स्थितेर्घटविनाशविशिष्टघटरूपमृत्स्थित्योर्वा विरोधेन परस्पराऽनात्मकत्वात् । अत एवान्योन्यव्यतिरिक्तकालोत्पादविनाशस्थित्यव्यतिरिक्तद्रव्यस्यैकत्वाऽयोगात् तद्द्रव्यं नानास्वभावम् । भिन्नप्रतियोगिनिरूपितत्वेन तद्विशिष्टद्रव्यनिरूपितत्वेन चोत्पादादित्रयोऽभिन्नकालाश्च, तथाहि—कुशूलाद्यात्मकपूर्वपर्यायस्तद्विशिष्टमृद्वा यदैव विलीयते तदैव घटाद्यात्मकोत्तरपर्यायस्तद्विशिष्टमृद्वोत्पद्यते, यतो न हि पूर्वपर्यायविनाशोत्तरपर्यायोत्पादयोः पूर्वपर्यायविशिष्टद्रव्यनाशोत्तरपर्यायविशिष्टद्रव्योत्पादयोर्वा भिन्नकालता दृश्यते, यदि च पूर्वस्य विनाशकालोऽन्यस्स्यात् उत्तरस्योत्पादकालोऽन्यस्स्यात् तदा प्राक्तन विनष्टमुत्तरमनुत्पन्नम्, तथाऽभ्युपगमे च पूर्वस्य तस्मिन् क्षणे विनाशादेवोत्तरस्य चानुत्पादादेव न सत्त्वम्, ध्वंसानुत्पादयोस्तदानीं सत्त्वेऽप्यभावरूपत्वेन तुच्छत्वादेव न वस्तुत्वमिति वस्तुशून्यस्स कालस्स्यात्, भवत्वेवमिति चेत्, तर्ह्युत्तर निष्कारणमुत्पद्येत, ध्वंसस्य तुच्छत्वेन जनकत्वाभावात्, अव्यवहितपूर्वक्षणे वस्त्वभावाच्च, एतेन ननु बलवत्पुरुषप्रेरितमुद्गराभिघाताद् घटावयवेषु क्रियोत्पत्तिः, ततोऽवयवविभागः, तत आरम्भकसंयोगनाशः, तेन च घटविनाशः, कपालस्तु स्थित एव, तद्विनाऽपि तदवयवा विद्यन्त एव, न तु तदुत्पाद इति तयोरेकस्माद्धेतोरभावान्न घटविनाशात्मा कपालोत्पाद इति निरस्तम्, अस्य विनाशोत्पादकारणप्रक्रियोद्घोषणस्याप्रातीतिकत्वात्, बलवत्पुरुषप्रेरितमुद्गरादिव्यापारादेव घटविनाशकपालोत्पादयोरवलोकनात्, मुद्गरव्यापारेण घटो विनष्टः कपालश्चोत्पन्न इति प्रतीतेः, तस्मात्पूर्वोत्तरपर्यायविनाशोत्पादावभिन्नकालौ, ते च पूर्वोत्तरपर्यायविनाशोत्पत्तिक्रिये निराधारे न सम्भवत इति तदाधारभूतद्रव्यस्थितिरपि तदाऽभ्युपगन्तव्या, इत्थं

भिन्नप्रतियोगिकानामुत्पादादित्रयाणामभिन्नकालत्वेनैकरूपत्वात्तदभिन्नं द्रव्यमेकस्वभावञ्च न नानास्वभावम्, अत एवोत्पादादयस्त्रयोऽपि द्रव्यादर्थान्तरमनर्थान्तरञ्च, उत्पादादित्रिभ्यो वा द्रव्यमर्थान्तरमनर्थान्तरञ्चेत्याह—" अत्थंतरं अनत्थंतरं च दवियाहि णायव्वा " इति। अथ प्रमाणाधीना प्रमेयसिद्धिरित्युत्पादादयस्त्रयोऽप्येककाला भिन्नकाला वेत्यत्र किं प्रमाण मिति चेत्, उच्यते, तत्रोत्पादविनाशयोरेककालतायां सिषाधयिषितायां उत्पादविनाशौ परस्परमेककालौ स्वात्मत्वाऽपृथग्भूतत्वात्, एकक्षणवर्त्त्येकरूपवदित्यनुमानमेव प्रमाणम्, न चात्र हेतुस्स्वरूपासिद्ध', यतो न हि उत्पादविनाशयोः स्वात्मा भिद्यते, यथैकस्मिन्नेकक्षणवर्त्तिनि रूपे विभागाभावात् स्वात्मलाभकाल एवैकः कालो नान्य समस्ति, यच्चैककाल न भवति तदेकमपि नियमेन न भवति, यथा गवाश्वयोर्जन्मविनाशाविति। एवं ध्रौव्यात्मकस्य द्रव्यस्योत्पादविनाशाभ्यां सहाभिन्नकालत्वसाधनाय ध्रौव्यात्मकं द्रव्यमुत्पादविनाशैककाल स्वात्मत्वापृथग्भूतत्वादित्यनुमानम्, उत्पादविनाशयोर्द्रव्येण सहाभिन्नकालत्वसाधनाय उत्पादविनाशौ द्रव्यैककालौ स्वात्मत्वाऽपृथग्भूतत्वादित्यनुमानञ्चानुसन्धेयम्, उभयत्रैकक्षण वर्त्त्येकरूपवदेवेति दृष्टान्तो वाच्यः, न च सिद्धसाधनादुक्तानुमानानवतार इत्याशङ्क्यम्, एकान्तवादिभिस्तथा भिन्नकालतया विभिन्नतयैव चैकान्तेनाभ्युपगमेन तान् प्रत्येवोक्तानुमानप्रयोगात्। नन्वेवं सत्युक्तहेतोस्स्वरूपासिद्धिदोषोपेतत्वमेव, एकान्तवादिभिरुत्पाद विनाशयोः परस्परं ध्रौव्यात्मकद्रव्यस्यापि च ताभ्यां सह, तयोश्च द्रव्येण सह स्वात्मत्वाऽपृथग्भावस्यानङ्गीकारादित्यपि न चाशङ्कनीयम्। यदेव सर्पद्रव्यमुत्फणाकारेणोत्पद्यते तदेव च विफणाकारेण विनश्यति तदेव चोत्फणाकारविफणाद्याकारानुगतोर्ध्वतासामान्यस्वरूपेण ध्रुवमिति य एव सर्पद्रव्यात्मा पूर्वं विफणाकारेणाऽऽसीत् स एवोत्फणाकारेणोत्पन्नोऽस्तीति सर्पद्रव्यात्मैवोभयाकारः, यतो न हि विफणाकारकाले यत्सर्पद्रव्यात्मा स नोत्फणाकारकाले, अनुभवविरोधात्। अत एव वस्तुमात्रं न केवलद्रव्यरूपम्, उत्पादव्ययरूपपर्यायस्वरूपत्व स्यापि तत्र सद्भावात्, नापि केवलोत्पादव्ययरूपपर्यायैकरूप, पूर्वापरपर्यायानुस्यूतध्रौव्यात्मकद्रव्यस्वभावत्वस्यापि सद्भावात्, किन्त्वविभक्तद्रव्यपर्यायोभयससर्गात्मकत्वात् जात्यन्तरम्, अत एव "प्रत्येकं यो भवेद्दोषो द्वयोर्भावे कथं न सः" इति न दोषापत्तिरपि। उक्तञ्च—

"नान्वयो भेदरूपत्वान्न भेदोऽन्वयरूपतः।

मृद्भेदद्वयससर्ग-वृत्तिर्जात्यन्तरं घटः ॥ १ ॥" इति

तथा च सर्पस्यापि प्रमाणार्पणया परस्परानुस्यूतद्रव्यपर्यायोभयरूपेण परस्परमाकाङ्क्षोत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वमिति तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वमिति नियमेन विफणाकाराभिन्न सर्पद्रव्याभिन्नस्योत्फणाकारस्य विफणाकाराऽभिन्नत्व ततश्च स्वात्मत्वाऽपृथग्भाव उभयाधारस्य सर्पस्य सिद्ध इति हेतोर्न स्वरूपासिद्धिदोष इत्युक्तहेतुनैककालत्वसिद्धौ ततोऽनर्थान्तरताप्युत्पादविनाशयोस्सिद्ध्यत्येव,

अनर्थान्तरं, विनाशेन सहोत्पादस्यैककालत्वात्, यावेककालौ तावनर्थान्तरम्, यथैकक्षणवर्त्तिरूपम्, एककालौ चोत्पादविनाशाविति तावनर्थान्तरमिति, एवमेव ध्रौव्योत्पादध्रौव्यविनाशात्मकद्वयेऽनर्थान्तरता भावनीया, उक्तहेतूक्तदृष्टान्तबलादेव, यथा चोत्पादादीनाम भिन्नकालत्वमनर्थान्तरत्वञ्च, तथैव घट उत्पद्य कञ्चित्कालं स्थित्वा विनश्यतीत्यतो भिन्नकालत्वमत एवार्थान्तरत्वञ्च भावनीयम्। अनुमानप्रयोगश्चात्र एकप्रतियोगिनिरूपिता उत्पादादयो नान्योन्यमेकतां बिभ्रति, अत्यन्तपृथग्भूतस्वरूपत्वादत्यन्तभिन्नकालत्वाच्च घटव्योमादिवत्। एवमुत्पादादयोऽर्थान्तरं मिथस्स्वलक्षणभेदात् घटपटादिवदित्यप्यनुमानं ज्ञेयम्। एवं भिन्नाभिन्नकालतोत्पादादीनामर्थान्तरताऽनर्थान्तरता च स्याद्वादप्रक्रियायां सकलप्रमाणाऽविरोधिनी सिद्धिकोटिमुपढौकते, न त्वेकान्तवादप्रक्रियायाम्, तत्रोत्पादादित्रयाणां तत्र च भिन्नाभिन्नकालत्वादेरनभ्युपगमादिति भावः ॥ ३५ ॥

उक्तार्थस्पष्टीकरणार्थमेव प्रत्यक्षप्रतीतमुदाहरणं प्रतिपादयितुं सूरिराह—

जो आउचणकालो, सो चेव पसारियस्स वि ण जुत्तो।
तेसिं पुण पडिवत्ती-विगमे कालंतरं नत्थि ॥ ३६ ॥

'जो आउचणकालो' अङ्गुल्यादेर्द्रव्यस्य य आकुञ्चनकालः "सो चेव पसारियस्स वि ण जुत्तो" स एव प्रसारितस्यापि न युक्तः, अङ्गुल्यादेः प्रसारणस्यापि स एव कालो न युक्त इत्यर्थः। यदैवाङ्गुलिः आकुञ्च्यते न तदैव प्रसार्यते, यदैव च सा प्रसार्यते न तदैवाकुञ्च्यते, किन्तु भिन्नकाल एवेत्यङ्गुल्यादिद्रव्यस्याकुञ्चनात्मकपूर्वपर्यायविनाशकाल एव प्रसारणात्मकोत्तरपर्यायोत्पत्तेः तयोः पूर्वोत्तरपर्याययोर्भिन्नकालावच्छेदेनैव प्रतीतेर्भेदः, अत एव भिन्नकालः, अन्यथा तयोस्सङ्कीर्णतापत्त्या स्वीयासाधारणस्वरूपं परित्यक्तं स्यात्। कथञ्चित्तत्पर्यायाऽभिन्नस्याङ्गुल्यादिद्रव्यस्यापि पूर्वोत्तरपर्यायविशिष्टतया भिन्नस्वभावत्वात् तदपि भिन्नमभ्युपगन्तव्यम्, यतो न हि भिन्नस्वभावमभिन्नरूपं युक्तम्, स्वभावभेदेनैव कथञ्चिद्भेदाभ्युपगमात्। आकुञ्चनप्रसारणपर्याययोस्तद्विशिष्टद्रव्यस्य च भिन्नकालत्वमत एव भिन्नत्वं पूर्वार्द्धेन प्रतिपाद्याङ्गुलिद्रव्यमेव प्रसारणभावमवलम्बमानमाकुञ्चनभावेन यदैव विनष्टं तदैव प्रसारणभावेनोत्पन्नमङ्गुलित्वेन सामान्यात्मनाऽवस्थितमित्याकुञ्चनात्मकपूर्वपर्यायविनाशप्रसारणात्मकोत्तरपर्यायोत्पादाङ्गुलित्वावच्छिन्नाङ्गुलिद्रव्यावस्थितीनामभिन्नकालतामत एवाऽभिन्नरूपतां प्रतिपादयितुमुत्तरार्द्धमाह—'तेसिं पुण पडिवत्तीविगमे' 'तयोः पुनः प्रतिपत्तिविगमे' प्रतिपत्तिश्च विगमश्च प्रतिपत्तिविगमौ, अनयोस्समाहारः प्रतिपत्तिविगमं, तस्मिन्, प्रतिपत्तिः—प्रादुर्भावः, विगमो—विनाशः, प्रसारणात्मकोत्तरपर्यायस्योत्पत्तिः आकुञ्चनात्मकपूर्वपर्यायस्य विध्वंसः तत्र, 'कालंतरं नत्थि' कालान्तरं भिन्नकालत्वं नास्ति। आकुञ्चनात्मकपूर्वपर्यायविनाशप्रसारणात्मकोत्तरपर्यायोत्पत्त्यङ्गुलिद्रव्यावस्थितीनामभिन्नका

लता अत एवाऽभिन्नरूपता च प्रतीयते,आकुञ्चनादिपूर्वपर्यायरूपेण परिणतमेवाङ्गुलिद्रव्यमाकुञ्चनादिपूर्वपरिणामपरित्यागकाल एव प्रसारणाद्यात्मकोत्तरपर्यायरूपेण परिणमत इत्येकस्यैव द्रव्यस्य तथापरिणामात्मकस्य यैवाङ्गुलि. पूर्वमाकुञ्चिता सैव प्रसारितेति प्रत्यभिज्ञाप्रमाणतः प्रतीतेः। एतेन ये क्षणिकान् पदार्थानभ्युपयन्ति त एव प्रतिपादयन्ति–उत्पत्तिसमनन्तरमेव स्वभावतो विलीयन्त, न हेतुमपेक्षन्ते ध्वसमानाः, स्वात्मलाभक्षणानन्तरक्षय· क्षण उच्यते, निरुक्तविधानात्, तद्योगात् क्षणिकमिति। तथा चोक्तम्—

क्षणो वाचेह नैरुक्तै रुत्पत्त्यनन्तर क्षयः।
निर्हेतु. सोऽनपेक्षत्वात्, तद्योगात् क्षणिक मतम्॥ १॥ इति।

यथा पयःप्रदीपादयः प्रतिक्षणमन्ये चान्ये चोत्पद्यन्ते निरवशेषपूर्वनाशसमकालम्, एवमन्येऽपि महीध्रादय. इति, तन्मतमपास्तम्, पयःप्रदीपादिषु परिणाममात्रस्यैव सद्भावेन सर्वथाऽन्यथात्वाभावात्, पूर्वोत्तरपर्यायानुगतोर्ध्वतासामान्यात्मकद्रव्य स्वरूपानुच्छेदेनैव कश्चित्पूर्वपर्याय परित्यज्य पर्यायान्तरमुपादत्ते, पुद्गलत्वचैतन्यत्वात्यनुच्छेदेन तस्य तस्य तथाभावः परिणाम., सोऽन्यत्वबुद्धे. कारणम्, उत्फणविफणाकुण्डलप्रसारणाद्यनेकावस्थ सर्पवदेकमन्वयि यद्द्रव्य तत्परिणमते, न तु सर्वथा पूर्वोच्छेदेनान्य उत्पद्यत इति, इत्यश्च ये यद्भाव प्रत्यनपेक्षास्ते तद्भावनियता, यथान्त्या कारणसामग्री स्वकार्योत्पादन प्रति, विनाश प्रत्यनपेक्षाश्च भावा इति विनाशनियतास्ते इति परेषा बौद्धानामभिधानमपि न प्रकृतबाधकम्, प्रत्युतानुकूलमेव, भावस्योत्तरपरिणाम प्रत्यनपेक्षतया तद्भावनियतत्वोपपत्ते', पूर्वोत्तरपरिणामान्वयिद्रव्यगतपूर्वपरिणामस्य स्वयमेवोत्तरपरिणामी भवत उत्तरपरिणाम प्रत्यपरापेक्षाऽभावतस्त प्रतिक्षेपायोगात्, तथा च नैकान्तक्षणिकत्व युक्तम्। नन्वेन तर्हि जलोर्मिवदुत्पादव्ययादिविकाराः काल्पनिका एवेति कूटस्थमेव नित्य द्रव्यमस्त्विति चेत्, नैव वद, यतो जलोर्मयोऽपि नैव काल्पनिका, तेषा प्रेक्षादक्षैरपि प्रत्यक्षप्रमाणेनानुभूयमानत्वेन वस्तुभूतत्वात्, ततो जले पूर्वापरोर्मय इव पूर्वापरपर्यायानुगतप्रतीतिविषयीभूतद्रव्ये पूर्वापरस्व-पर्यायाः प्रतिक्षण निमज्जन्ति मज्जत्युत्पद्यन्त च। तदुक्तम्—

अनाद्यनिधने द्रव्ये, स्वपर्यायाः प्रतिक्षणम्।
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति, जलकल्लोलवज्जले॥ १॥ इति।

तदेव पूर्वापरोर्मिभावेन जलमेव यथा परिणमत, तथैव तत्तद्द्रव्यमेव पूर्वापरपर्यायरूपेण परिणमत इति परिणामवाद एव न्याययुक्त., उत्पादविनाशादिविकाराणां काल्पनिकत्वे प्रमाणाभावात्, प्रेक्षावद्भिर्यथार्थतयैव ग्रहणात्, न चोत्पादादित्रयाणा विरोध., पर्यायत्वावच्छेदेनोत्पादव्यययोर्द्रव्यत्वावच्छेदेन ध्रौव्यस्य चाविरोधात्, अन्यथा गोत्वा-

वच्छेदेन गव्यस्य मेदस्य मध्यत्वावच्छेदेन तदमेदस्य चाविरोध औपनिषदाभिमतोऽपि कथं स्यादिति भावः ॥ ३६ ॥

अथ यथा भिन्ननिरूपितानामुत्पादादित्रयाणामेककालीनानामेकद्रव्याभिन्नानां परस्पर स्वरूपत्वमिति हेतोस्तदन्तर्गत प्रत्येकमेकैकं रूपमुत्पादादित्रयात्मकम्, अन्यथा तद्-सत्त्वापत्त्या वस्तु अनेकान्तात्मकम्,उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकसल्लक्षणशालित्वात् ,यन्नैव तन्नैवम्, वियत्कुसुमवदित्यनुमाने वस्त्वात्मकपक्षैकदेशे उत्पादे व्यये ध्रौव्ये चैकैकस्मिन् हेतोरभावेन भागासिद्धिस्स्यात्, तथा भूतवर्त्तमानभविष्यत्कालत्रययोगेनाप्येकैकं रूपं त्रिकालतामासादयतीति प्रतिपादयितुमाह—

उप्पज्जमाणकालं उप्पण्णं ति विगयं विगच्छंतं ।
दवियं पण्णवयंतो तिकालविसयं विसेसेइ ॥ ३७ ॥

'उप्पज्जमाणकालं' उत्पद्यमानकालमित्यनेनाद्यसमयादारभ्योत्पत्त्यन्त्यसमय यावदुत्पद्यमानत्वस्येष्टत्वाद्वर्त्तमानभविष्यत्कालविषयं द्रव्यमुक्तम्, 'उप्पण्णं' उत्पन्नमित्यनेन स्वतीतकालविषयम्, एवं 'विगयं' विगतमित्यनेनातीतकालविषयं, 'विगच्छंतं' विगच्छदित्यनेन च वर्त्तमानभविष्यत्कालविषयं द्रव्यमुक्तम्, ततश्चोत्पद्यमानमुत्पन्नं विगतं विगच्छत् "दवियं पण्णवयंतो" द्रव्यं प्रज्ञापयन् प्रज्ञस्तद् 'विसेसेइ' विशेषयति विशिनष्टि, कथं ? 'तिकालविसयं' त्रिकालविषयं यथा भवतीत्येवं गाथार्थः । भावार्थस्त्वयम्—यद्यपि निश्चयनयेनैकस्मिन्नेव कार्योत्पत्त्यनुकूलव्यापारान्त्यसमये कार्योत्पत्तिरिति स एव कार्योत्पत्तिकालः "भूतिर्येषां क्रिया सैव कारणं सैव चोच्यते" इति वचनात्, तथापि व्यवहारनयेन दीर्घः क्रियाकाल आद्यिककार्यक्षणकोटिविषयोऽभ्युपगतः, तथा च तस्मिन् दीर्घे कार्योत्पत्तिकाले विवक्षितकार्यस्य यस्मिन् समये वर्त्तमानपर्यायोत्पत्तिस्तस्मिन्नेव समयेऽतीतपर्यायविनाशः, विनाशपूर्वकत्वादुत्पत्तेः, उत्पत्तिविनाशक्रिये निराधारे न सम्भवत इति तदाधारद्रव्य स्थितिरपि तदाऽभ्युपगन्तव्येत्येवमभिन्नकालानामुत्पादादित्रयाणां प्रत्येकमेकधर्मिससर्गितया त्रैकाल्यं तेन नयेन प्रतिपाद्यते, तथाहि—पट उत्पद्यमानकाले प्रथमतन्तुप्रवेशे उत्पद्यमान एव किञ्चिदंशेनोत्पन्नो भवति तत्रोत्पद्यमानत्वं तस्य प्रथमतन्तुप्रवेशकालादारभ्य पट उत्पद्यत इत्येवं व्यवहारदर्शनात्प्रसिद्धमेव, उत्पन्नत्वं तूपपत्त्या प्रसाध्यते, तथाहि–उत्पद्यमानः पटः प्रथमतन्तुप्रवेशकालावच्छेदेन किञ्चिदंशेन नोत्पन्नश्चेत्तदाऽऽद्यक्रियाया वैयर्थ्यं स्यात्, यथा चाद्यक्रियया नोत्पन्नस्तथैवोत्तरक्षणेष्वप्युत्तरक्रियाभिर्नोत्पन्नस्स्यात्, को ह्युत्तरक्षणक्रियाणां विशेषो ? येन प्रथमया नोत्पन्नस्तदुत्तराभिस्तूत्पत्स्यते, अतः सर्वदैवानुत्पत्तिप्रसङ्गः, दृष्टा चोत्पत्तिः, अन्त्यतन्तुप्रवेशे पटस्य दर्शनात् । न च तन्तुसंयोगस्यैव पटत्वावच्छिन्न प्रत्यसमवायिकारणत्वात्तन्तुक्रियया तन्तुद्वयसंयोगे द्वितन्तुकपटोत्पत्तिः,

तत्र च तन्त्वन्तरसंयोगे त्रितन्तुकादिपटक्रमेणान्त्यतन्तुसंयोगे सत्येव महापटोत्पत्तिरिति नोक्त युक्तमिति वाच्यम्, समवायसम्बन्धस्य सखण्डकारणत्वस्य च निषिद्धत्वेन समवाय्य समवायिनिमित्तकारणेभ्यस्त्रिभ्यः कार्योत्पत्तिरिति गौतमीयप्रवादस्याश्रद्धेयत्वेन प्राक्प्रतिपादनात् शक्तिरेव कार्योत्पादिकेति प्रथमतन्तुप्रवेशकालेऽप्यशतस्माऽस्त्येवेत्युत्पद्यमानमपि पटद्रव्य तद्रूपकारणवशात्तदानीं किञ्चिद्देशेनोत्पन्नमित्यभ्युपगन्तव्यम्, स एतदेति चैनमर्थं "चलमाणे चलिए जाव निज्जरमाणे निज्जिण्णे" इति भगवद्वचनम्। यथा चोत्पद्यमान पटादिद्रव्य प्रथमतन्तुप्रवेशसमये किञ्चिद्देशेनोत्पन्न तथैव द्वितीयतृतीयादितन्तुप्रवेशसमयेऽप्यपरापरांशेनैवोत्पन्नमभ्युपगन्तव्यम्, नोत्पन्नांशेनैव, तथा सति तस्मिन्नेव कार्यांशे द्वितीयतृतीयादिसमयभावितन्तुक्रियाव्यापाराणां व्यग्रतया तैरपूर्वापूर्वांशेन कार्योत्पत्तिर्न स्यादित्यशेषांशविशिष्टपटादिकार्योत्पत्तिः कदापि न स्यादिति प्रथमतन्तुप्रवेशादारभ्यान्त्यतन्तुसंयोगावधियावत्प्रबन्धेनोत्पद्यमान तत्तद्देशेनोत्पन्नम्, तदेव चाभिप्रेतरूपतयोत्पत्स्यते इत्युत्पद्यमानमुत्पन्नमुत्पत्स्यमानञ्च भवति। एवमुत्पन्नमप्युत्पद्यमानमुत्पत्स्यमानञ्च तथैवोत्पत्स्यमानमप्युत्पद्यमानमुत्पन्नञ्च ज्ञातव्यमित्येवमेकैकमुत्पन्नादि कालत्रयेण त्रैकाल्य यथा प्रतिपद्यते तथा विगच्छदादिकालत्रयेणाप्युत्पद्यमानादिरेकैकस्त्रैकाल्य प्रतिपद्यते, तथाहि–यद् यदेनोत्पद्यमान तत्तदेव किञ्चिद्देशेन विगत विगच्छद् विगमिष्यच्च, एव यदेव यदेनोत्पन्न तदेव तदपि विगतादिकालत्रयसस्पर्शि ज्ञेयम्। एवमेवोत्पत्स्यमानमपि द्रव्य तथैव तद्रूप ज्ञेयम्। एवमेवोत्पन्नोत्पद्यमानोत्पत्स्यमानभेदा प्रत्येकशो विगतविगच्छद्विगमिष्यद्रूपैरिव स्थितस्थितिमत्स्थास्यद्रूपैरपि सप्रभेदा ज्ञेयाः, एव स्थितिविगमावपि कालत्रयस्पर्शित्रिलक्षणयोगेनोत्पत्तिप्रणालिकया सप्रभेदौ विज्ञातव्यावितिं, न चैते भेदाः कल्पनामात्रनिर्मितवपुषो, निपुण निरूपणे प्रज्ञावद्भिः परमार्थस्वरूपतयैव सर्वेषामेवाकलनात्। यत्तु वर्त्तमानप्रागभावप्रतियोगित्व भविष्यत्त्व वर्त्तमानध्वसप्रतियोगित्व चातीतत्वमिति न वर्त्तमानक्रियाकाले कालत्रयवाचिप्रत्ययप्रयोगसम्भव इति नैयायिकादीनां मतम्, तत्स्थूलव्यवहारैकान्ताभिनिवेशविजृम्भितम्, नयविशेषेणैकदा त्रैकाल्यस्पर्शस्य सर्वसम्मतत्वात्, अन्यथोत्पत्तिकाले उत्पन्नोऽयमिति प्रत्ययस्य भ्रान्तत्वापत्ते, सामुदायिकोत्पादे स्थूलकालमात्रिनि ऐकत्विकोत्पादानां सूक्ष्मकालस्पर्शिना त्रैकाल्यस्पर्शे तु न काचिदनुपपत्ति, तस्माद्वर्त्तमानक्रियाकाले कालस्य स्थूलत्वसूक्ष्मत्वाभ्या त्रैकाल्य नयविशेषेण यौक्तिकमेवेति सिद्धा यथोक्तभङ्गाः। सैद्धान्तिकास्तु क्रियाकालनिष्ठाकालयोरभेदात्सभागसन्ततिपतिततया निष्ठामविप्लवयो. समावेशाचैकक्षणेऽपि कालत्रयवाचिप्रत्ययार्थोऽविरोधमादिशन्ति। तदेव सर्वे रेभिर्धर्मैस्त्रिकालस्पर्शिभिरविनाभूत द्रव्य प्रज्ञापयस्त्रिकालविषय विशेषयति, अनेन प्रकारेण त्रिकालविषय द्रव्यस्वरूप प्रतिपादयद्वाक्य प्रमाणम्, तद्व्यतिरिक्त तु वाक्यमप्रमाणम्,

अन्यप्रकारस्य द्रव्यस्याभावात्, अत्र व्यवहारनयाऽभिमते दीर्घे कार्योत्पत्तिकालेऽभिन्न कालाना तदुत्पत्तिनाशस्थितीनां प्रत्येक कालत्रयस्पर्शैस्त्रिलक्षणयोगेन सप्तविंशतिर्भङ्गाः, भिन्न कालाना च कालत्रययोगेन सप्तविंशतेस्त्रिधा गुणने एकाशीतिर्भङ्गा यथा भवन्ति तथा—

"यद्दृश्यते तदिह वस्तु गृहीतमेव, तद्दृश्यते च न च यत्तु गृहीतमास्ते ।
इत्थं भिदामपि स किं न विदांकरोतु,य पाठितो भवति लक्षण भङ्गजालम् ॥५४॥"

इति श्लोकटीकायामस्मत्कृतमहावीरस्तवकल्पलतिकाख्याया प्रदर्शिता इति भङ्गजाल जिज्ञासुभिस्तत एव ते वेदितव्याः । अत्र ग्रन्थगौरवभीत्या न प्रतन्यन्त इति ॥ ३७ ॥

नन्वर्थान्तरगमनलक्षणस्य विनाशस्य विभागजस्य चोत्पादस्यासम्भवात् तद्द्वयाभावे स्थितेरप्यभावात् तत्त्रैकाल्यं दूरोत्सारितमेवेति मन्यमानान् वादिनः प्रति तदभ्युपगमप्रदर्शन पूर्वकमाह—

दव्वंतरसजोगाहि केचि दवियस्स बेंति उप्पायं ।
उपायत्थाऽकुसला विभागजायं ण इच्छंति ॥ ३८ ॥

सयोगानां द्रव्यम् । अ. १, आ १, सू० २८ । इति वैशेपिकसूत्रस्य निस्स्पर्शानां द्रव्याणामन्त्यावयविनां च विजातीयद्रव्याणां च ये सयोगास्तान् विहाय बहूनां तत्तन्त्वादिसयोगानां पटादिरूपमेकं द्रव्यं कार्यम्, अर्थात् अनेकेभ्यस्सजातीयतन्त्वादिसयोगेभ्य एकं पटादिकार्यमुत्पद्यत इत्यर्थकस्य बलाद्वैशेपिकादयो यथा कार्यद्रव्योत्पाद व्यावर्णयन्ति तथा प्रदर्शयितु पूर्वार्द्धमाह—" दव्वंतरसजोगाहि केचि दवियस्स बेंति उप्पाय " ' केचि ' केचिद्वैशेपिकनैयायिकादयः ' दवियस्स ' पटादिकार्यद्रव्यस्य ' दव्वंतरसजोगाहि ' द्रव्यान्तरसयोगैः, तन्मतेऽवयवावयविनोर्भेदात्स्वभिन्नस्वीयावयवभूत तन्त्वादिसयोगैरनेकैः, अथवा तन्मते सजातीयास्सजातीयोत्पत्त्यभ्युपगमात् पृथिवीत्वेन सजातीयैस्तत्तत्तन्त्वाद्यवयवात्मकद्रव्यान्तरैस्तदन्यतन्त्वाद्यवयवलक्षणद्रव्यान्तराणां सयोगैरसमवायिकारणभूतैः तत्तन्निमित्तसहकृतैस्समवायिकारणे ' उप्पाय बेंति ' कार्यद्रव्योत्पाद ब्रुवते, अवयविकार्यद्रव्य निमित्तकारणाऽसमवायिकारणसमवायिकारणत्रयेभ्य उत्पद्यत इति वदन्ति, द्वयोस्तन्त्वोस्सयोगेनापि तत्तन्निमित्तसहकृतेन द्वितन्तुकपटस्य तन्तौ, कपालद्वयसयोगेनापि च कपाले समवायिकारणे घटस्योत्पादाभ्युपगमात्तदुपलक्षकमेतत्, ते चोत्पादविषयकयथार्थज्ञानाः किं वा नेत्यारेकायामाह—' उप्पायत्थाऽकुसला ' उत्पादार्थाऽकुशला उत्पादार्थानभिज्ञाः, ' विभागजायं ण इच्छन्ति ' विभागजातमुत्पाद नेच्छन्ति—नाभ्युपयन्ति, आरम्भकसयोगस्यैव कार्यद्रव्यासमवायिकारणत्वेन तैरभ्युपगमात्तद्रूपकारणाभावादिति भावः ॥ ३८ ॥

नन्ववयवसयोगेनैव कार्यद्रव्यस्योत्पादो भवति न तु विभागेन इत्थमभ्युपगन्तारो वैशेषिकनैयायिकादय कुत उत्पादार्थं नाभिजानन्तीत्याशङ्कायामाह—

> अणु दुअणुएहिं दव्वे आरद्धे तिअणुयंति ववएसो ।
> तत्तो य पुण विभत्तो अणुत्ति जाओ अणू होइ ॥ ३९ ॥

'दुअणुएहिं दवे आरद्धे' द्वौ चाणुकौ च द्व्यणुकौ ताभ्यां, द्वाभ्यां परमाणुभ्यां 'आरद्धे दवे' आरब्धे द्रव्ये कार्यद्रव्ये 'अणु' इत्यस्य "येन यस्याभिसम्बन्धो दूरस्थस्यापि तस्य स" इति न्यायेन "इति ववएसो" इत्यनेन सम्बन्धात् अणुरिति व्यपदेश., परमाणुद्वयारब्धे द्व्यणुके परमाणुद्वयगतद्वित्वसङ्ख्याजन्याऽणुपरिमाणस्यैव सद्भावात्। त्रिभिर्द्व्यणुकैरारब्धे द्रव्ये "तिअणुअंति ववएसो" त्र्यणुकमिति व्यपदेश', त्र्यणुके च द्व्यणुकत्रयगतबहुत्वसङ्ख्यया महत्त्वपरिमाणमुत्पद्यते, अन्यथा तत्प्रत्यक्षमेव न स्यात्, बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्ष प्रति महत्त्वस्योद्भूतरूपवत्त्वस्य च कारणत्वात्। अयमत्र भावः- नैयायिकमते "सङ्ख्यात परिमाणाच्च प्रचयादपि जायते" इत्युक्तेरनित्यपरिमाण त्रिधोत्पद्यते, तत्र परमाणुगतद्वित्वसङ्ख्यातो द्व्यणुकेऽणुपरिमाणमुत्पद्यते, न तु परमाणुपरिमाणत', एव त्रसरेणुपरिमाणमपि न द्व्यणुकपरिमाणत उत्पद्यते, यतः परिमाणस्य स्वसमानजातीयोत्कृष्टपरिमाणजनकत्वनियमाद् द्व्यणुकस्याणुपरिमाण तु परमाण्वणुत्वापेक्षया नोत्कृष्टम्, त्रसरेणुपरिमाण तु न द्व्यणुकपरिमाणसजातीयम्, अत परमाणुगतद्वित्वसङ्ख्या द्व्यणुकपरिमाणस्य द्व्यणुकगतत्रित्वसङ्ख्या च त्रसरेणुपरिमाणस्यासमवायिकारणम्, अत एव त्रिभिश्चतुर्भिर्वा पञ्चभिर्वा परमाणुभिर्न क्वचिदप्यणुपरिमाण कार्यद्रव्यमारभ्यते, कारणगत बहुत्वसङ्ख्यया महत्परिमाणोत्पत्त्यभ्युपगमात्, तवदपि चात्र "कारणमहुत्वाच्च" ७ अ० १ आ० ९ सू० इति वैशेषिकसूत्रम्, एतत्प्रकरणकारेणापीत्येव सूचयितु "अणु दुअणुएहिं दवे आरद्धे" इत्युक्तम्। द्वाभ्या तन्तुभ्यामप्रचिताभ्यामारब्धे पटे केवल महत्त्वमेवासमवायिकारणम्, बहुत्वप्रचययोस्तत्राभावात्, यत्र द्वाभ्या तूलपिण्डाभ्यां तूलपिण्डारम्भस्तत्र परिमाणोत्कर्षदर्शनात् शिथिलसयोगलक्षणप्रचय. कारणम्, बहुत्वस्याभावात्, महत्त्वस्य सत्त्वेऽपि परिमाणोत्कर्षं प्रत्यप्रयोजकत्वात्। एव च सति यदि महत्त्व तत्र कारण तदा न दोषः। तदुक्त "द्वाभ्यामेकेन सर्वैर्वा" इति। इत्थ नैयायिको वैशेषिकश्च द्व्यणुकत्रसरेण्वादिकार्यद्रव्यस्य तत्र परिमाणस्य चोत्पत्तिप्रक्रियां निरूपयन्ताऽप्रेक्षितवस्तुयाथात्म्यतया स्वीयाज्ञतां व्यञ्जयतः, यतो न द्व्यणुक केवल द्वयो. परमाण्वो. सयोगे सत्यन्योन्याश्लेषपरिणामलक्षणसङ्घातादुत्पद्यते, किन्तु यस्मिन्नेव समये द्व्यणुकस्कन्धादेकोऽणुर्भिद्यते तस्मिन्नेव समयेऽपरस्सहन्यत इत्येवमेकसामायिकाभ्या सङ्घातभेदाभ्यामप्युत्पद्यते तद्, एव पर्यन्तवर्तिस्कन्धादेकद्विव्यादिपरमाणुभेदक्रमेणाधोऽधो यावद्विप्रदेशस्कन्धोत्पत्तिः,

अन्यप्रकारस्य द्रव्यस्याभावात्, अत्र व्यवहारनयाऽभिमते दीर्घे कार्योत्पत्तिकालेऽभिन्नकालाना तदुत्पत्तिनाशस्थितीनां प्रत्येकं कालत्रयस्पर्शेत्रिलक्षणयोगेन सप्तविंशतिर्भङ्गाः, भिन्नकालाना च कालत्रययोगेन सप्तविंशतेस्त्रिधा गुणने एकाशीतिर्भङ्गा यथा भवन्ति तथा—

"यद्दृश्यते तदिह वस्तु गृहीतमेव, तद्दृश्यते च न च यत्तु गृहीतमास्ते ।
इत्थं भिदामपि स किं न विदाकरोतु,य पाठितो भवति लक्षणभङ्गजालम् ॥५४॥"

इति श्लोकटीकायामस्मत्कृतमहावीरस्तवकल्पलतिकाख्याया प्रदर्शिता इति भङ्गजाल जिज्ञासुभिस्तत एव ते वेदितव्याः । अत्र ग्रन्थगौरवभीत्या न प्रतन्यन्त इति ॥ ३७ ॥

नन्वर्थान्तरगमनलक्षणस्य विनाशस्य विभागजस्य चोत्पादस्यासम्भवात् तद्द्वयाभावे स्थितेरप्यभावात् तत्त्रैकाल्यं दूरोत्सारितमेवेति मन्यमानान् वादिनः प्रति तदभ्युपगमप्रदर्शनपूर्वकमाह—

दव्वंतरसजोगाहि केचि दवियस्स बेंति उप्पाय ।
उपायत्थाऽकुसला विभागजाय ण इच्छंति ॥ ३८ ॥

सयोगानां द्रव्यम् । अ. १, आ १, सू० २८ । इति वैशेषिकसूत्रस्य निरस्पर्शानां द्रव्याणामन्त्यावयविनां च विजातीयद्रव्याणा च ये सयोगास्तान् विहाय बहूनां तत्तन्त्वादिसयोगानां पटादिरूपमेकं द्रव्य कार्यम्, अर्थात् अनेकेभ्यस्सजातीयतन्त्वादिसयोगेभ्य एकं पटादिकार्यमुत्पद्यत इत्यर्थकस्य बलाद्वैशेषिकादयो यथा कार्यद्रव्योत्पादं व्यावर्णयन्ति तथा प्रदर्शयितु पूर्वार्द्धमाह—" दवतरसजोगाहि केचि दवियस्स बेंति उप्पाय " ' केचि ' केचिद्वैशेषिकनैयायिकादय' ' दवियस्स ' पटादिकार्यद्रव्यस्य ' दवतरसजोगाहि ' द्रव्यान्तरसयोगैः, तन्मतेऽवयवावयविनोर्भेदात्स्वभिन्नस्वीयावयवभूततन्त्वादिसयोगैरनेकैः, अथवा तन्मते सजातीयासजातीयोत्पत्त्यभ्युपगमात् पृथिवीत्वेन सजातीयैस्तत्तत्तन्त्वाद्यवयवात्मकद्रव्यान्तरैस्तदन्यतन्त्वाद्यवयवलक्षणद्रव्यान्तराणां सयोगैरसमवायिकारणभूतै तत्तन्निमित्तसहकृतैस्समवायिकारणे ' उप्पाय बेंति ' कार्यद्रव्योत्पादं ब्रुवते, अवयविकार्यद्रव्य निमित्तकारणाऽसमवायिकारणसमवायिकारणत्रयेभ्य उत्पद्यत इति वदन्ति, द्वयोस्तन्त्वोस्सयोगेनापि तत्तन्निमित्तसहकृतेन द्वितन्तुकपटस्य तन्तौ, कपालद्वयसयोगेनापि च कपाले समवायिकारणे घटस्योत्पादाभ्युपगमात्तदुपलक्षकमेतत्, ते चोत्पादविषयकयथार्थज्ञानाः किं वा नेत्यारेकायामाह–' उप्पायत्थाऽकुसला ' उत्पादार्थाऽकुशला उत्पादार्थानभिज्ञाः, ' विभागजाय ण इच्छन्ति ' विभागजातमुत्पादं नेच्छन्ति–नाभ्युपयन्ति, आरम्भकसयोगस्यैव कार्यद्रव्यासमवायिकारणत्वेन तैरभ्युपगमात्तद्रूपकारणाभावादिति भाव. ॥ ३८ ॥

नन्ववयवसंयोगेनैव कार्यद्रव्यस्योत्पादो भवति न तु विभागेन इत्यभ्युपगन्तारो वैशेषिकनैयायिकादयः कुत उत्पादार्थं नाभिजानन्तीत्याशङ्कायामाह—

अणु दुअणुएहिं दव्वे आरद्धे तिअणुयंति ववएसो ।
तत्तो य पुण विभत्तो अणुत्ति जाओ अणू होइ ॥ २९ ॥

'दुअणुएहिं दव्वे आरद्धे' द्वौ चाणुकौ च द्व्यणुकौ ताभ्यां, द्वाभ्यां परमाणुभ्यां 'आरद्धे दव्वे' आरब्धे द्रव्ये कार्यद्रव्ये 'अणु' इत्यस्य "येन यस्याभिसम्बन्धो दूरस्थस्यापि तस्य सः" इति न्यायेन "इति ववएसो" इत्यनेन सम्बन्धात् अणुरिति व्यपदेशः, परमाणुद्वयारब्धे द्व्यणुके परमाणुद्वयगतद्वित्वसङ्ख्याजन्याऽणुपरिमाणस्यैव सद्भावात् । त्रिभिर्द्व्यणुकैरारब्धे द्रव्ये "तिअणुअंति ववएसो" त्र्यणुकमिति व्यपदेशः, त्र्यणुके च द्व्यणुकत्रयगतबहुत्वसङ्ख्यया महत्त्वपरिमाणमुत्पद्यते, अन्यथा तत्प्रत्यक्षमेव न स्यात्, बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षं प्रति महत्त्वस्योद्भूतरूपवत्त्वस्य च कारणत्वात् । अयमत्र भावः— नैयायिकमते "सङ्ख्यातः परिमाणाच्च प्रचयादपि जायते" इत्युक्तेरनित्यपरिमाणं त्रिधोत्पद्यते, तत्र परमाणुगतद्वित्वसङ्ख्यातो द्व्यणुकेऽणुपरिमाणमुत्पद्यते, न तु परमाणुपरिमाणतः, एवं त्रसरेणुपरिमाणमपि न द्व्यणुकपरिमाणत उत्पद्यते, यतः परिमाणस्य स्वसमानजातीयोत्कृष्टपरिमाणजनकत्वनियमात् द्व्यणुकस्याणुपरिमाणं तु परमाण्वणुत्वापेक्षया नोत्कृष्टम्, त्रसरेणुपरिमाणं तु न द्व्यणुकपरिमाणसजातीयम्, अतः परमाणुगतद्वित्वसङ्ख्या द्व्यणुकपरिमाणस्य द्व्यणुकगतत्रित्वसङ्ख्या च त्रसरेणुपरिमाणस्यासमवायिकारणम्, अत एव त्रिभिश्चतुर्भिर्वा पञ्चभिर्वा परमाणुभिर्न किमप्यणुपरिमाणं कार्यद्रव्यमारभ्यते, कारणगतबहुत्वसङ्ख्यया महत्परिमाणोत्पत्त्यभ्युपगमात्, तदुक्तं चात्र "कारणबहुत्वाच्च" ७ अ० १ आ० ९ सू० इति वैशेषिकसूत्रम्, एतत्प्रकरणकारेणापीत्येव सूचयितुं "अणु दुअणुएहिं दव्वे आरद्धे" इत्युक्तम् । द्वाभ्यां तन्तुभ्यामप्रचिताभ्यामारब्धे पटे केवलं महत्त्वमेवासमवायिकारणम्, बहुत्वप्रचययोस्तत्राभावात्, यत्र द्वाभ्यां तूलपिण्डाभ्यां तूलपिण्डारम्भस्तत्र परिमाणोत्कर्षदर्शनात् शिथिलसंयोगलक्षणप्रचयः कारणम्, बहुत्वस्याभावात्, महत्त्वस्य सत्त्वेऽपि परिमाणोत्कर्षे प्रत्ययप्रयोजकत्वात् । एवं च सति यदि महत्त्वं तत्र कारणं तदा न दोषः । तदुक्तं "द्वाभ्यामेकत्र सर्वथा" इति । इय नैयायिको वैशेषिकश्च द्व्यणुकत्रसरेण्वादिकार्यद्रव्यस्य तत्र परिमाणस्य चोत्पत्तिप्रक्रियां निरूपयन्तावप्रेक्षितवस्तुयाथात्म्यतया स्वीयाज्ञतां व्यञ्जयतः, यतो न द्व्यणुकं केवलं द्वयोः परमाण्वोः संयोगे सत्यन्योन्याश्लेषपरिणामलक्षणसङ्घातादुत्पद्यते, किन्तु यस्मिन्नेव समये द्व्यणुकस्कन्धादेकोऽणुर्भिद्यते तस्मिन्नेव समयेऽपरस्मादन्यतः स्कन्धादेकस्माद्भिन्नाभ्यां सङ्घातभेदाभ्यामप्युत्पद्यते तत्, एवं पर्यन्तवर्तिस्कन्धाद्व्यादिपरमाणुभेदेनैकमेवाणोऽप्यो यावद्भिद्यते स्कन्धोत्पत्तिः,

स्कन्धाद्भिद्यमानद्व्यणुकोत्पत्तिश्च भेदमात्रेण भावनीया, त्र्यणुकमपि न केवलं द्व्यणुकत्रयाद्वेवोत्पद्यते, किन्तु द्विप्रदेशस्य स्कन्धस्य परमाण्वन्तरेण संयोगे सति त्रयाणां परमाणूनां वा संयोगे सति संघातपरिणामे त्र्यणुकमुत्पद्यते, चतुरणुकस्कन्धादेकोऽणुर्यदा पृथग्भवति तदैकाणुभेदाच्च, तथैकस्मिन्नेव समये त्र्यणुकस्कन्धादेकोऽणुर्भिद्यते परस्संहन्यते समकमेवेत्यतः संघातभेदाभ्यामुत्पद्यते तत्, एवमेव चतुःपञ्चषडादिसङ्ख्येयासङ्ख्येयानन्तप्रादेशिकस्कन्धोत्पत्तिर्भावनीया। उक्तञ्च तत्त्वार्थे 'सङ्घातभेदेभ्य उत्पद्यन्ते' ५-२६ इति। तत्र सङ्ख्येयाऽसङ्ख्येयप्रदेशिकस्कन्धास्तु नैव चक्षुर्गोचराः, अनन्तप्रदेशिकस्कन्धा अपि यावत्सूक्ष्मपरिणामरूपास्तावन्न प्रत्यक्षतामायान्ति, अत एव त्रसरेणुचाक्षुषप्रत्यक्षमपि नैवार्हतैरभ्युपगतम्, सूक्ष्मपरिणामत्वात्तस्य, किन्तु सूक्ष्मपरिणामापन्नानन्तप्रदेशिकानां स्कन्धानां सूक्ष्मपरिणामोपरतौ तत्र केचन परमाणवस्संहन्यन्ते केचन भिद्यन्ते इत्येवमेकसामायिकाभ्यां भेदसङ्घाताभ्यां शैत्यस्नेहविशेषात् समुपजातस्थौल्यपरिणामा एव चाक्षुषप्रत्यक्षयोग्यतां प्राप्ता बादरस्कन्धाः प्रत्यक्षगोचरा भवन्तीत्यभ्युपगतम्। उक्तञ्च तत्त्वार्थे "भेदसङ्घाताभ्यां चाक्षुषाः" ५-२८ इति सूत्रकृतो न सर्व एव सङ्घातश्चक्षुषा ग्राह्यः, यतोऽनन्तानन्ताणुसहतिनिष्पाद्योऽपि स्कन्धो बादरपरिणतिमानेव नयनादिगोचरतां प्रतिपद्यते, न शेष इति। विचित्रपरिणामाः पुद्गलाः कदाचिदष्टस्पर्शिबादरपरिणाममनुभूय पश्चाच्चतुस्स्पर्शिसूक्ष्मपरिणाममाददन्तो न चक्षुर्गोचराः, सूक्ष्मपरिणाममप्यनुभूय कदाचिच्च शैत्यस्नेहविशेषाद्बादरपरिणामपरिणताश्चक्षुर्गोचरतां प्रतिपद्यन्त इति चाक्षुषप्रत्यक्षे बादरपरिणाम एव कारणम्, बादरपरिणामस्कन्धद्रव्यमप्यनुद्भूतरूपं व्यवहितञ्च दूरवर्त्यादिकञ्च नैव साक्षाद्दृश्यते चर्मचक्षुर्भिरिति तत्प्रत्यक्षे उद्भूतरूपवत्त्वव्यवधानाभावालोकादिकं चाक्षुषज्ञानावरणीयकर्मक्षयोपशमाधायकतया कारणं वाच्यम्। एतेन "जालान्तरस्थसूर्यांशौ, यत्सूक्ष्मं दृश्यते रजः। भागस्तस्य च षष्ठो यः, परमाणुः स उच्यते ॥ १ ॥" इति निरस्तम्, जालान्तरस्थसूर्यमरीचिप्रतिभासमानापेक्षिकसूक्ष्मरजोद्रव्यस्य बादरपरिणामवतोऽत्यन्तसूक्ष्मान्त्यकारणात्मकनैश्चयिकपरमाणुभिरनन्तैस्समुत्पन्नानां नैश्चयिकस्कन्धरूपाणां तीव्रशस्त्राच्छेद्याभेद्यचक्षुराद्यगोचरव्यावहारिकपरमाणूनामनन्तानां स्कन्धरूपत्वेन तदनन्तभागरूपत्वान्नैश्चयिकपरमाणोरिति। न च नैयायिकादिवदार्हतैः परमाणुरपि नित्य एवाभ्युपगतः किन्तु विभक्तभावेनोत्पत्तिभावात् कथञ्चिन्नित्यानित्योभयरूप इत्याशयेनोत्तरार्द्धमाह–'तत्तो य पुण विभत्तो' तस्मादेकत्वपरिणतिपरिणततया स्कन्धपरिणामभावमापन्नात्कार्यद्रव्याच्च पुनर्विभक्तः विभागात्मकपर्यायरूपेणोत्पन्नः 'अणुत्ति जाओ अणू होइ' अणुरिति अणुपरिमाण इति हेतो. अणुः परमाणुर्जात उत्पन्नो भवति। कार्यद्रव्ये स्कन्धात्मके संयुक्तावस्थारूपेण य एव पूर्वं परमाणुः कथञ्चिदेकत्वपरिणाममानमापन्नो जघन्यत एकं समयमुत्कृष्टतोऽसङ्ख्येयकालं यावदासीत् स एव समयान्तरे असङ्ख्येयकालानन्तरं वा कथञ्चि-

देकत्वपरिणाममावविनाशे सतो विभक्ते सति विभक्तावस्थारूपेणोत्पद्यमन् परमाणुसञ्ज्ञां भजते, विभक्तावस्थापन्नपरमाणुभावेन पूर्वमसत्त्वात्, सत्त्वे वा स्थूलकार्याभावप्रसङ्गात्। तदत्र पृथग्भावलक्षणभेदे सति विभागपर्यायरूपेण परमाणोरुत्पादस्सिद्ध', सवदति चात्र " भेदादणु ॥ ५-२७ ॥ इति तत्त्वार्थसूत्रम् ' भेदादेव परमाणुरुत्पद्यते न सङ्घातादिति ' भाष्यमनाथम्। न च य एव कार्यद्रव्यारम्भकाः परमाणवस्त एवारम्भकसंयोगनाशप्रयुक्तद्रव्यनाशोत्तरकाल स्वस्वरूपेण व्यवस्थिता इति तेषा नित्यत्वान्नोत्पत्तिर्युक्तेति वाच्यम् कार्यद्रव्यप्रागभावप्रध्वंसाभावयोरेकत्वविरोधात्, घटद्रव्यप्रागभावात्मकमृत्पिण्डवत्प्रध्वंसाभावात्मककपालयोरिव, तथाहि-यन्निवृत्तावेव कार्यस्य समुत्पत्ति सोऽस्य प्रागभाव इति ॥ ३-५५ । यथा मृत्पिण्डनिवृत्तावेव समुत्पद्यमानस्य घटस्य मृत्पिण्ड इति ॥ ३-५६। यदुत्पत्तौ कार्यस्यावश्य विपत्तिः सोऽस्य प्रध्वंसाभाव इति। ३-५७। यथा कपालकदम्बकोत्पत्तौ नियमतो विपद्यमानस्य कलशस्य कपालकदम्बकमिति। ३-५८। इति प्रमाण नयतत्त्वालोकालङ्कारवचनाद् घटद्रव्यप्रागभावः पूर्वपर्यायमृत्पिण्डात्मको घटद्रव्यप्रध्वंसाभावश्चोत्तरपर्यायकपालात्मकः, न चैवं तर्हि प्रागभावेऽनादित्व ध्वंसे चानन्तत्व न स्यादिति वाच्यम्, ऋजुसूत्रनयादेशात्तत्सन्तानापेक्षया तदुभयस्य निर्बाधत्वादिति तयोरेकत्व यथा विरुद्ध तथैव परमाणूनां तादवस्थ्ये पूर्वकालावच्छेदेन वर्त्तमानकार्यद्रव्यप्रागभावात्मान उत्तरकालावच्छेदेन च तद्द्रव्यविनाशात्मानस्ते भवेयुरिति तेषामेकत्व विरुद्ध स्यादिति द्रव्यार्थिकनयादेशाद् द्रव्यस्वरूपतयाऽवस्थिता एव परमाणवस्तत्तत्कार्यात्मना पर्यायनयादेशात् परिणमन्त इत्यणुत्वपरिणामपरिणतत्वमपहाय रौक्ष्यस्नेहनिक्षेपाद् यदा स्थूलपरिणाममाप्नुवन्ति तदैकत्वसङ्ख्या-संयोगमहत्त्वापरत्वादिपर्यायैरुत्पद्यन्ते इति ते कार्यात्मकाः, यदा च स्नेहरौक्ष्यनिगमात् स्थितिक्षयाद् द्रव्यान्तराभिघातेन भेदात् स्वभावगत्या च तद् द्रव्यमेवाद्दणुपरिणाम भजन्त तदा बहुत्वसङ्ख्या-विभागाणुपरिणाम-परत्वादिपर्यायैरुत्पद्यन्ते इति पर्यायनयादेशात्तत्तत्कार्यभावेनोत्पद्यमाना' कथञ्चिद्भिन्नास्तेऽभ्युपगन्तव्या'। नन्वेव पूर्वपरिणामोपमर्देनोत्तरपरिणामभावात्तदानीं पूर्वपरिणामस्याभाव एव, भावान्तरापत्तिफलत्वात्परिणामस्येत्यतस्सूक्ष्मपरिणामाद्बादरपरिणामस्यार्थान्तरत्वात्तत्राणुपरिणामाभाव एव, तथा च बादरपरिणामपरिणतमहाद्रव्ये परमाणव स्वेन रूपेण न सन्ति, परिणामान्तरापन्नत्वात्, सिन्धुपरिणतौ गुडादय इवेति तदानीं परमाणुभावेन परमाणूनां नाशाभ्युपगमात्, अवयवविभागोत्तर परमाणुभावेन विभक्ततया चोत्पादाभ्युपगमात्—

" कारणमेव तदन्त्य सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणुः।
एकरसवर्णगन्धो द्विस्पर्शः कार्यलिङ्गश्च ॥ १ ॥ "

इति पारमर्षोक्तिविरोधस्स्यादिति चेत्, नैवम्, यतस्सर्वमेव सर्वद्रव्यं स्थूल निदार्य

माणमशक्यभेदपरमाणुपर्यवसान जायते, न पुनरत्यन्ताभावरूप निरूपाख्यमिति सूचनाय तदुक्तिरिति न विरोधः। यद्वा कारणमेवेत्याद्यवधारणेन ज्ञापितमेतत् द्रव्यार्थिकनयापेक्षया सर्वेषां द्व्यणुकत्र्यणुकादिद्रव्याणा परमाणुरेव मूलकारणमिति, ततस्तन्नयादेशाद्व्यक्त्यात्मना तस्य नित्यत्वमक्षतमेवेति विरोधाभाव एव। एतेन द्व्यणुकाद्युत्पत्तिकाले परमाणोः परमाणु भावेन नाशस्य तदन्यतविभागकाले च विभागरूपेणोत्पादस्याभ्युपगमादनित्यत्वप्रसङ्गेन परमाणुर्नित्य इति व्यवहारोऽपि भ्रान्तस्स्यादित्यारेकाऽपि निरस्ता, यतो ध्वंसाऽप्रतियोगित्वे सति प्रागभावाऽप्रतियोगित्वमिति व्यावहारिकनित्यतालक्षणे विशेषणविधया समुदायविभागलक्षणध्वंस एवोपादेयः, स च द्व्यणुकादिरूपपूर्वपर्यायस्यैव, न तु परमाणोः, तस्य तु द्व्यणुकाद्युत्पत्तौ तद्रूपेण परिणमनादर्थान्तरभावगमनलक्षणध्वंसस्यैव भावात्। तथा चोक्तलक्षणनित्यत्व परमाणावक्षतमेव, समुदायविभागलक्षणध्वंसप्रतियोगित्वस्य द्व्यणुकादि पूर्वपर्याय एव सत्त्वेन तदप्रतियोगित्वस्य परमाणौ सद्भावात्, द्व्यणुकाद्युत्पत्तौ तदात्मना-कार्यभावात्परमाणोः परमाणुतारूपेण निवृत्तावपि द्रव्यत्वरूपतया नैव तस्य निवृत्तिरिति प्रागभावाप्रतियोगित्वस्यापि द्रव्यरूपेण सद्भावाच्चेति तत्र नित्यत्वव्यवहारे न भ्रान्तत्व प्रसङ्ग इति। एतेन पृथिव्यादयश्चत्वारः परमाणुरूपा नित्या एव, कार्यरूपास्त्वनित्या इति नैयायिकादिप्रक्रिया निरस्ता, परमाणूनामपि कार्याऽभिन्नतयाऽर्थान्तरभावगमनरूपस्य नाशस्य विभागजातस्य चोत्पादस्य समर्थनात्। अत एव द्वादशारनयचक्रटीकायां "यदि कारणं यदि कार्यं ततः को दोषः?, दृश्यते हि कारणमपि कार्यमपि, यथा परमाणुः कारण द्व्यणुकादेर्मृत्पिण्डशिवकादीना कार्यमपि, वक्षेदजत्वादित्याद्युक्त सङ्गच्छते ॥ ३९ ॥

ननु जन्यपृथिवीत्वाद्यवच्छिन्ने पृथिवीत्वादिना समवायिकारणत्वात्परमाणूनां नित्यत्वादुक्तकार्यतावच्छेदकानाक्रान्तत्वात्तदुत्पत्तिर्न युक्तेति न चाशङ्कनीयम्, समवायस्य निषिद्धत्वात्, तादात्म्यसम्बन्धेन पृथिवीत्वाद्यवच्छिन्ने स्वध्वंसत्वसम्बन्धेन पृथिवीत्वादिनोपादान कारणत्वस्यैवोचितत्वेन विभागजातोत्पत्तिस्थलेऽपि द्व्यणुकादिध्वंसरूपाया एव परमाणूत्पत्ते र्भावात्। नन्वेवं सत्यपि कार्यद्रव्यत्वावच्छिन्न प्रति सयोगत्वेन कारणत्वे तमन्तरेणापि विभागात् कार्यद्रव्योत्पत्तेर्व्यतिरेकव्यभिचारः,एव विभागत्वेन कारणत्वे तदभावेऽपि सयोगात्कार्यद्रव्योत्पत्तेर्व्यतिरेकव्यभिचारो ज्ञेय इति चेत् ,मैवम्, सयोगजातकार्यद्रव्ये विभागजात कार्यद्रव्ये च वैजात्योपगमात्, यद्वा सयोगाव्यवहितोत्तरजायमानकार्यद्रव्य प्रति सयोगत्वेन विभागाव्यवहितोत्तरजायमानकार्यद्रव्य प्रति च विभागत्वेन कारणत्वोपगमात् फलबलकल्प्य गौरवदोषस्यादोषत्वात्, अथवा सयोगविभागयोस्सङ्घातभेदाख्ययोरपि कार्यद्रव्यत्वावच्छिन्न प्रत्येकशक्तिमत्त्वेनोभयानुगतस्य कारणत्वस्योपगमात्। तथाऽनभ्युपगमे तु त्रिप्रदेशिकस्कन्धादेकाणुभेदे द्विप्रदेशिकस्याकस्मिकत्वापत्तेः, तत्कारणसद्भावविशेषाभावात्, सर्वत्र परमाणुपर्यन्तभेदेन परमाणुद्वयादिसयोगाद् द्व्यणुकाद्युत्पत्तिकल्पने महागौरवात्। उक्तञ्च—

" संयोगाच्च विभागाच्च, द्रव्यमुत्पद्यते द्वयात् ।
वैजात्यं वापि वैशिष्ट्यं, कार्ये तत्र प्रकल्प्यते ॥ १ ॥

अणुद्व्यणुकसंयोगा-दणुकोत्पत्तिमिच्छताम् ।
तद्विभागादणूत्पत्तौ, प्रद्वेषः किं निबन्धनः ? ॥ २ ॥

केयूरकुण्डलीभावे, तत्र स्वर्णवदिष्यताम् ।
साधारणमुपादानं, क्ष्मादि किं चिन्तयाऽत्र नः ? ॥ ३ ॥

तादात्म्यनियताधारा-धेयभावनिबन्धनम् ।
कारणं प्रत्युपादेयं, विभिन्नं परिणामि वा ॥ ४ ॥

तावत् सङ्घातभेदा वा, हेतुस्तच्छालि वस्तु वा ।
गच्छत्यविनिगम्यत्व-मप्यत्रैतत् सहायताम् ॥ ५ ॥

अत्यन्तरात्मके वस्तु-न्येवं किञ्चिन्न दुष्यति ।
कार्याकार्यभेदाभेद-व्यवसायव्यवस्थिते ॥ ६ ॥

संयोगवद्विभागेऽपि, वैजात्यस्य व्यवस्थितौ ।
एकस्य हेतुताऽन्यस्य, नेति मोहविजृम्भितम् ॥ ७ ॥

संयोगे समवायश्चे-द्धेतुताया नियामकः ।
मृद्द्रव्ये सविभागे स्ता-दशांशो वा विभज्यताम् ॥ ८ ॥

स्वच्छसत्त्वेन योगेनो,-पादानं हेतुरस्तु वा ।
तद्द्रव्यव्याप्तिरत्र स्यान्नभोव्याप्तिर्वा दीर्घिकी ॥ ९ ॥

संयोगजन्यता जन्य-द्रव्ये हि भवतोच्यते ।
मया तत्र विजातीय इति गौरवभीः कुतः ? ॥ १० ॥ इति ॥

यथा बहूनां संयोगे एकप्रत्ययव्यवहारनिदानं समुदयजनित उत्पादोऽभ्युपगतस्तथैकस्य कार्यद्रव्यस्य विनाशे बहुप्रत्ययव्यपदेशनिदानं विभागजातोऽप्युत्पादः किन्नाभ्युपेयः ? व्यवहरन्ति हि 'भग्ने घटे बहूनि कपालान्युत्पन्नानि' इति, एवं परमाणूनामप्येककार्यनाशे युक्तो विभक्ततया बहुत्वेनोत्पादः । तदवाक्षेपद्वारेणाह—

बहुआण एगसद्दे जइ संजोगाहि होइ उप्पाओ ।
ण णु एगविभागम्मि वि जुज्जइ बहुआण उप्पाओ ॥ ४० ॥

'जइ बहुयाण संजोगाहि' यदि बहूनां द्व्यणुकादीनां संयोगैः, 'एगसद्दे' एकशब्दः-एकशब्दव्यपदेशनिदानं 'होइ उप्पाओ' भवत्युत्पादः, एकस्य त्र्यणुकादेरिति

माणमशक्यभेदपरमाणुपर्यवसानं जायते, न पुनरत्यन्ताभावरूपं निरूपाख्यमिति सूचनाय तदुक्तिरिति न विरोधः । यद्वा कारणमेवेत्याद्यवधारणेन ज्ञापितमेवत् द्रव्यार्थिकनयापेक्षया सर्वेषां द्व्यणुकत्र्यणुकादिद्रव्याणां परमाणुरेव मूलकारणमिति, ततस्तन्नयादेशाद्द्रव्यत्वात्मना तस्य नित्यत्वमक्षतमेवेति विरोधाभाव एव । एतेन द्व्यणुकाद्युत्पत्तिकाले परमाणोः परमाणुभावेन नाशस्य तदवयवविभागकाले च विभागरूपेणोत्पादस्याभ्युपगमादनित्यत्वप्रसङ्गेन परमाणुर्नित्य इति व्यवहारोऽपि भ्रान्तस्स्यादित्यारेकाऽपि निरस्ता, यतो ध्वंसाऽप्रतियोगित्वे सति प्रागभावाऽप्रतियोगित्वमिति व्यावहारिकनित्यतालक्षणे विशेषणविधया समुदायविभागलक्षणध्वंस एवोपादेयः, स च द्व्यणुकादिरूपपूर्वपर्यायस्यैव, न तु परमाणोः, तस्य तु द्व्यणुकाद्युत्पत्तौ तद्रूपेण परिणमनादर्थान्तरभावगमनलक्षणध्वंसस्यैव भावात् । तथा चोक्तलक्षणनित्यत्वं परमाणावक्षतमेव, समुदायविभागलक्षणध्वंसप्रतियोगित्वस्य द्व्यणुकादिपूर्वपर्याय एव सत्त्वेन तदप्रतियोगित्वस्य परमाणौ सद्भावात्, द्व्यणुकाद्युत्पत्तौ तदात्मना-कार्यभावात्परमाणोः परमाणुतारूपेण निवृत्तावपि द्रव्यत्वरूपतया नैव तस्य निवृत्तिरिति प्रागभावाप्रतियोगित्वस्यापि द्रव्यरूपेण सद्भावाच्चेति तत्र नित्यत्वव्यवहारे न भ्रान्तत्वप्रसङ्ग इति । एतेन पृथिव्यादयश्चत्वारः परमाणुरूपा नित्या एव, कार्यरूपास्त्वनित्या इति नैयायिकादिप्रक्रिया निरस्ता, परमाणूनामपि कार्याऽभिन्नतयाऽर्थान्तरभावगमनरूपस्य नाशस्य विभागजातस्य चोत्पादस्य समर्थनात् । अत एव द्वादशारनयचक्रटीकायां " यदि कारणं यदि कार्यं ततः को दोषः ?, दृश्यते हि कारणमपि कार्यमपि, यथा परमाणुः कारणं द्व्यणुकादेर्मृत्पिण्डशिवकादीनां कार्यमपि, तद्भेदजत्वादित्याद्युक्तं सङ्गच्छते ॥ २९ ॥

ननु जन्यपृथिवीत्वाद्यवच्छिन्ने पृथिवीत्वादिना समवायिकारणत्वात्परमाणूनां नित्यत्वादुक्तकार्यतावच्छेदकानाक्रान्तत्वात्तदुत्पत्तिर्न युक्तेति न चाशङ्कनीयम्, समवायस्य निषिद्धत्वात्, तादात्म्यसम्बन्धेन पृथिवीत्वाद्यवच्छिन्ने स्वध्वंसत्वसम्बन्धेन पृथिवीत्वादिनोपादानकारणत्वस्यैवोचितत्वेन विभागजातोत्पत्तिस्थलेऽपि द्व्यणुकादिध्वंसरूपाया एव परमाणूत्पत्तेर्भावात् । नन्वेवं सत्यपि कार्यद्रव्यत्वावच्छिन्नं प्रति संयोगत्वेन कारणत्वे तमन्तरेणापि विभागात् कार्यद्रव्योत्पत्तेर्व्यतिरेकव्यभिचारः,एवं विभागत्वेन कारणत्वे तदभावेऽपि संयोगात्कार्यद्रव्योत्पत्तेर्व्यतिरेकव्यभिचारो ज्ञेय इति चेत् ,नैवम्, संयोगजातकार्यद्रव्ये विभागजातकार्यद्रव्ये च वैजात्योपगमात्, यद्वा संयोगाव्यवहितोत्तरजायमानकार्यद्रव्यं प्रति संयोगत्वेन विभागाव्यवहितोत्तरजायमानकार्यद्रव्यं प्रति च विभागत्वेन कारणत्वोपगमात् फलबलकल्प्यगौरवदोषस्यादोषत्वात्, अथवा संयोगविभागयोस्सङ्घातभेदाख्ययोरपि कार्यद्रव्यत्वावच्छिन्नप्रत्येकशक्तिमत्त्वेनोभयानुगतस्य कारणत्वस्योपगमात् । तथाऽनभ्युपगमे तु त्रिप्रदेशिकस्कन्धादकाणुभेदे द्विप्रदेशिकस्याकस्मिकत्वापत्तेः, तत्कारणसद्भावविशेषाभावात्, सर्वत्र परमाणुपर्यन्तभेदेन परमाणुद्वयादिसंयोगाद् द्व्यणुकाद्युत्पत्तिकल्पने महागौरवात् । उक्तञ्च—

" संयोगाच्च विभागाच्च, द्रव्यमुत्पद्यते द्वयात् ।
वैजात्यं वापि वैशिष्ट्यं, कार्ये तत्र प्रकल्प्यते ॥ १ ॥

अणुद्व्यणुकसंयोगा-दणुकोत्पत्तिमिच्छताम् ।
तद्विभागादणूत्पत्तौ, प्रद्वेषः किं नियन्धनः ? ॥ २ ॥

केयूरकुण्डलीभावे, तत्र स्वर्णवदिष्यताम् ।
साधारणमुपादानं, क्ष्मादि किं चिन्तयाऽत्र नः ? ॥ ३ ॥

तादात्म्यनियताधारा-धेयभावनिबन्धनम् ।
कारणं प्रत्युपादेयं, विभिन्नं परिणामि वा ॥ ४ ॥

तावत् सङ्घातभेदा वा, हेतुस्तच्छालि वस्तु वा ।
गच्छत्यचिनिगम्यत्व-मप्यत्रैतत् सहायताम् ॥ ५ ॥

जात्यन्तरात्मके वस्तु-न्येव किञ्चिन्न दुष्यति ।
कार्याकार्यभेदाभेद-व्यवसायव्यवस्थितेः ॥ ६ ॥

संयोगवद्विभागेऽपि, वैजात्यस्य व्यवस्थितौ ।
एकस्य हेतुताऽन्यस्य, नेति मोहविजृम्भितम् ॥ ७ ॥

संयोगे समवायश्चे-द्धेतुतायां नियामकः ।
मृद्द्रव्ये सविभागे स्ता-दशांशो वा विभज्यताम् ॥ ८ ॥

स्वध्वंसत्वेन योगेनो,-पादानं हेतुरस्तु वा ।
तद्द्रव्यव्याप्तिरत्र स्यान्नमोऽन्यासिर्वा दीर्घिकी ॥ ९ ॥

संयोगजन्यता जन्य-द्रव्ये हि भवतोच्यते ।
मया तत्र विजातीय इति गौरवमीः कुतः ? ॥ १० ॥ इति ॥

यथा बहूनां संयोगे एकप्रत्ययव्यवहारनिदानं बहुद्रव्यजनितं उत्पादोऽभ्युपगतस्तथैकस्य कार्यद्रव्यस्य विनाशे बहुप्रत्ययव्यपदेशनिदानं विभागजातोऽप्युत्पाद' किमाभ्युपेय' ? व्यवहरन्ति हि 'भग्ने घटे बहूनि कपालान्युत्पन्नानि' इति, एवं परमाणूनामप्येककार्यनाशे युक्तो विभक्ततया बहुत्वेनोत्पादः । तदेवाहेणद्रारेणाह—

बहुआण एगसद्दे जइ संजोगाहि होइ उप्पाओ ।
न णु एगविभागम्मि वि जुज्जइ बहुआण उप्पाओ ॥ ४० ॥

'जइ बहुयाण संजोगाहि' यदि बहूनां तन्त्वादीनां संयोगे, 'एगसद्दे' एकशब्दा-एकशब्दव्यपदेशनिदानं 'होइ उप्पाओ' भवत्युत्पादः,

शेषः, अन्यथैकाऽभिधानप्रत्ययव्यवहारौ न स्याताम्, यतो न हि बहुषूत्पन्नेषु एको घट उत्पन्न इति प्रयुङ्क्ते प्रत्येति वा प्रेक्षादक्षः, 'नणु' नन्वित्यक्षमायां, 'एगविभागम्मि वि' एकविभागेऽपि, एकस्य कार्यस्य विनाशे तत्कारणावयवविभागेऽपि, "जुज्जइ बहुआण उप्पाओ" युज्यते बहूना विभक्तानामवयवानामुत्पादः, मुद्गरादिसहकारिकलापाद् घटस्य तदवयवविभागलक्षणे विनाशे सति बहूनि विभक्तानि कपालानि, कपाले च भग्ने विभक्तानि बहूनि शकलानि जातानीति व्यवहाराऽन्यथाऽनुपपत्तेः, न च मुद्गरपाताद् विनष्टो घट इत्येव प्रतीयते व्यवह्रियते चेत्यतिरिक्तनाशस्यैव सिद्धिरिति वाच्यम्, यतो घटविनाशस्वरूपेण विभक्तकपालकदम्बकात्मकोत्तरकार्यात्मैव प्रायोगिको घटविनाशः प्रतीयते, न तु तद्व्यतिरिक्तः, पूर्वपर्यायनाशस्योत्तरपर्यायोत्पादनान्तरीयकत्वानुभवात्, दीपादिनाशेऽपि तमःपर्यायोत्पादानुभवात्, पूर्वोत्तरपर्यायविनाशोत्पादयोरेकसामग्रीप्रभवत्वाच्च। उक्तञ्च "दृष्टस्तावदयं घटोऽत्र निपतन् दृष्टस्तथा मुद्गरो, दृष्टा कर्परसंहतिः परमतोऽभावो न दृष्टोऽपरः। तेनाभाव इति श्रुतिः क निहिता किं वाऽत्र तत्कारणम्, स्वाधीना कलशस्य केवलमियं दृष्टा कपालावली ॥ १ ॥" इति। ये तु लाघवप्रणयिनोऽपि कपालोत्पादिकां भिन्नां सामग्रीम्, घटनाशोत्पादिकां च भिन्नामेव कल्पयन्ति तेषां काचिद्-पूर्वैव वैदग्धी। न च ध्वंसस्योत्तरपर्यायस्वरूपत्वे तस्य सान्तत्वात्साधनन्तो ध्वंस इति ध्वंसलक्षणमेवानुपपन्नं स्यादिति वाच्यम्, तत्तदुत्तरपर्याये घटध्वंसत्वकल्पने लाघवात्तद्व्यक्तित्वादिना सादित्वेऽपि घटध्वंसत्वेनानन्तत्वस्याप्यक्षतेः, अत एव पूर्वपर्यायात्मा प्रागभावोऽपि तद्व्यक्तित्वादिना सादिरूपोऽपि प्रागभावत्वेनानादिरूपो भावनीयः। तदेवं मृद्द्रव्यस्यैवानुगतस्य मृत्पिण्ड-शिवक-स्थासक-कोशक-कुशूल-घट-कपाल-शकल-शर्करा-पांशवादियावत्त्रसरेणुद्व्यणुकपरमाणुपर्यन्तक्रमिकपर्याया इति तत्तत्पर्यायरूपेण परिणममानं मृद्रूपं तत्तत्पूर्वपर्यायान् परित्यज्यैव तत्तदुत्तरपर्यायानुपादत्त इति तद् द्रव्यरूपेण ध्रुवं सत् पूर्वोत्तरपर्यायाभ्यां विनाशोत्पादात्मकमिति त्रयात्मकम्, तत्रितयविकलस्य तस्यानुपलब्धेरसत्त्वात् सिद्धम्, यथा चोत्पादव्ययध्रौव्यस्वभावा नैव मिथ एकान्तेन भिन्नाः, किन्तु द्रव्यार्थतयाऽभिन्नाः पर्यायार्थतया च लक्षणभेदेन भिन्ना इति कथञ्चिद् भिन्नाभिन्नस्वभावा इत्येककालीनधर्मिरूपतया परस्परात्मकत्वेन तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वमिति न्यायेन प्रत्येकमेकैकरूपं त्र्यात्मकं तथैव कालत्रयापेक्षयाऽपि पूर्ववत्त्र्यात्मकमभ्युपगन्तव्यम्, अतोऽनन्तपर्यायात्मकमेकं द्रव्यमिति व्यवस्थितमेतत् ॥ ४० ॥

ननु यद्यप्युत्पत्त्यादीनां भेदप्रभेदा यदैकपर्यायमाश्रित्यैकस्मिन् द्रव्येऽनेकस्वरूपतामानयन्ति तदा प्रतिक्षणभाविभिन्नभिन्नपर्यायसमाश्रयणेनानन्तकाले स्वयमनन्ततां बिभ्राणाः कथञ्चित्स्वाभिन्ने द्रव्येऽनन्ततामानयन्तीति कैमुतिकन्यायप्राप्तमेवेति न तत्र विप्रतिपद्यामहे, तथाप्येकक्षण एवैकस्मिन् द्रव्येऽनन्तपर्यायत्वमिति कौतस्कुतमिति न चाशङ्कनीयम्,

एकक्षणेऽप्यनन्तानामुत्पादानां तदन्यूनानतिरिक्तसङ्ख्यकविगमानां तन्नियतस्थितीनां च सम्भवात्। तदेवाह—

एगसमयम्मि एगदवियस्स बहुया वि होंति उप्पाया।
उप्पायसमा विगमा ठिई उ (ठिइओ) उस्सग्गओ णियमा ॥ ४१ ॥

'एगसमयम्मि' एकसमये-एकस्मिन् क्षणे 'एगदवियस्स' एकद्रव्यस्य 'बहुया वि होंति उप्पाया' बहवोऽपि भवन्त्युत्पादाः। 'उप्पायसमा विगमा' उत्पादसमा उत्पादसमसङ्ख्यका विगमा पूर्वपर्यायविनाशा अपि सदैव भवन्ति, तद्व्यतिरेकेणोत्पादासम्भवात्, 'ठिई उ उस्सग्गओ णियमा' अत्र तुशब्दस्याप्यर्थकत्वात्स्थितिरपि उत्सर्गतो नियमात्, स्थितिरपि उत्सर्गतः सामान्यरूपतया अन्वितरूपेण सर्वत्र नियता, स्थितिरहितोत्पादव्ययासम्भवात्, तत्सम्भवे वा शशशृङ्गादेरप्युत्पत्तिव्ययप्रसङ्गः स्यादिति। अत्रैकक्षणेऽप्यनन्तानामुत्पादानां तत्समानां विगमानां तन्नियतस्थितीनां च सम्भवादिति शास्त्रवार्तासमुच्चय-टीकोक्तेरनन्तोत्पादव्ययवत्तत्समसङ्ख्यकस्थितयोऽप्यनन्ता एकक्षणे एकधर्मिणि सम्भवन्तीति सिद्धं भवति, तत्सङ्गतिः प्रकृतगाथोक्तजात्येकवचनान्त "ठिई" इतिपदमहिम्ना कर्तव्या, यतस्तत्तत्पर्यायोत्पादावच्छिन्ना तत्तत्पर्यायविगमावच्छिन्ना च स्थितिर्भिन्ना भिन्नैव विशेषण भेदेन विशिष्टस्यापि भेदादित्युत्पादव्ययनियतत्वेन तत्समसङ्ख्यकस्थितयोऽपि नियमाद्भवन्तीति। 'ठिइओ उस्सग्गओ णियमा' इत्येवं पाठे तु तस्य चायमर्थः-स्थितय उत्सर्गतो नियमात्, यद्यपि पूर्वोत्तरपर्यायेष्वन्वितसामान्यद्रव्यस्यानुगतत्वात्तदात्मकसामान्यरूपतया स्थितिरेकैव, तथापि तत्तत्पर्यायोत्पादावच्छिन्ना तत्तत्पर्यायविगमावच्छिन्ना च स्थिति भिन्ना भिन्नैव, विशेषणभेदेन विशिष्टस्यापि भेदादित्युत्पादव्ययनियतत्वेन तत्समसङ्ख्यक स्थितयोऽपि नियमाद्भवन्तीति भावः ॥ ४१ ॥

एकक्षणावच्छिन्नसंयोगविभागज्ञानन्तोत्पादविनाशशालिध्रौव्यैकस्वभाववस्तु दृष्टान्तद्वारेण विनिश्चेतुमाह—

काय-मण-वयण-किरिया-रूवाइ-गईविसेसओ वावि।
संजोयभेयओ जाणणा य दवियस्स उप्पाओ ॥ ४२ ॥

कायेति-यदैवानन्तानन्तप्रदेशिकाहारभावपरिणतपुद्गलोपयोगोपजातरसरुधिरादिपरिणतिवशाविर्भूतशिरोऽङ्गुल्याद्यङ्गोपाङ्गभावपरिणतस्थूल सूक्ष्म सूक्ष्मतरादिभेदभिन्नावयवात्मकस्य कायस्योत्पत्तिस्तदैवानन्तानन्तपरमाणूपचितमनोवर्गणापरिणतिपरिणतमनस उत्पादोऽपि, तदैव च वचनस्यापि काययोगाकृष्टभाषावर्गणापरिणतिप्रतिलब्धवृत्तिरुत्पादः, तदैव च काया

त्मनोरन्योन्यानुप्रवेशाद्विषमीकृताऽसङ्ख्यातात्मप्रदेशे कायक्रियोत्पत्तिः, तदैव च षड्गुणहानिवृद्धिभावेन नीलरक्तादिरूपमधुराम्लादिरसुरभ्यादिगन्धशीतोष्णादिस्पर्शात्मकपर्यायाणामपि प्रतिक्षणोत्पत्तिनश्वराणां सजातीयविजातीयस्वभावतयोत्पत्तिः, तदैव च मिथ्यात्वाविरति-प्रमाद-कषायादिपरिणतिसमुत्पादितकर्मबन्धनिमित्ताऽऽयामिगतिविशेषाणामप्युत्पत्तिः, तदैव चोत्सृज्यमानोपादीयमानानन्तपरमाण्वादितत्प्रमाणसंयोगविभागानामुत्पत्तिः, तदैव च तत्तज्ज्ञानविषयत्वादीनामुत्पत्तिः, यदैव शरीरादेरेकस्य द्रव्यस्योत्पत्तिस्तदैव त्रैलोक्यान्तर्गतसमस्तद्रव्यैस्सह साक्षात्पारम्पर्येण वा सम्बन्धानामुत्पत्तिः, सर्वद्रव्यव्याप्तिव्यवस्थिताकाश-धर्माधर्मास्तिकायादिद्रव्यसम्बन्धात्, एवं तत्र त्रैलोक्यान्तर्गताशेषपदार्थान्तर्गतैकैकार्थापेक्षया भिन्नत्वादिपर्यायाणाञ्चोत्पत्तिः, किं बहुना ? मयूराण्डकरसे प्रथमक्षण एव शिरो-ग्रीवा-चञ्चु-नेत्र-पिच्छो-दर-चरणाद्यनेकावयवोत्पादनानुगुणशक्त्युत्पत्तिवद् भाव्यनन्तस्वपरपर्यायोत्पत्त्यनुकूलशक्तीनाञ्चोत्पत्तिः, अन्यथा तत्र तेषामुत्तरकालमप्यनुत्पत्तिप्रसङ्गस्स्यात्, तदैव कायमनोवचनक्रियारूपादिगतिविशेषापेक्षया संयोगभेदापेक्षया च ज्ञानविषयत्वाद्यपेक्षया चैकस्यैव द्रव्यस्यानेकधोत्पत्तिभावादनन्तपर्यायात्मकत्वं सिद्धम् । भिन्नभिन्नवस्तुनोऽपि कथञ्चित्सम्बन्ध एकद्रव्येण सह समस्तीति सम्बन्धितयैक्यमवस्तदुत्पत्त्याऽपि तदुत्पत्तिभावात् । अथ यद्यप्येकक्षणेऽप्यनन्तानामुत्पादानां तत्समाना विगमानां तन्निष्पवस्थितीनां च पूर्वोक्तयुक्त्या सम्भवादस्त्वेकद्रव्यमनन्तपर्यायात्मकम्, तथापि न च तत्तथात्वेनास्मदादिभिरध्यक्षेण गोचरीक्रियत इति तत्तथात्मकमिति कथं श्रद्धेयमिति चेत्, नैवम्, यतोऽस्मदाद्यध्यक्षस्याखिलस्वम्वामासाधारणधर्मरूपेण निरवशेषधर्मविशिष्टवस्तुग्राहकत्वस्वभावत्वादेव तथा तथोल्लेखेन तद्ग्रहणम्, न तु तदभावात्, अन्यथा गुरुत्वादेरस्मदध्यक्षाग्रहणादसत्त्वं स्यात्, अथ नमनोन्नमनादिकार्यलिङ्गेनानुमीयमानत्वात्तत्सत्त्वमिति चेत्, अत्रापि यद्येकैकं द्रव्यमनन्तपर्यायात्मकं न स्यात् तर्हि साक्षात्सम्बन्धेन स्वपर्यायाणां त्रिभुवनान्तर्गतस्वभिन्नसर्वद्रव्यपर्यायात्मकपरपर्यायाणां च स्वाभावस्वरूपपरम्परासम्बन्धेन तत्र सत्त्वमेव न स्यात्, सत्त्वञ्चास्ति, तस्मात्तदनन्तपर्यायात्मकमिति प्रसङ्गविपर्ययाभ्यां तत्सिद्धेः, तथा च त्रैलोक्यव्यावृत्तत्वलक्षणान्यथाऽनुपपत्तिलिङ्गकानुमानेनानन्तपर्यायात्मकं द्रव्यमिति सिद्धम् । अत एवानन्तधर्मात्मकं तत्त्वमित्यर्हत्सिद्धान्तदृढसंस्कारवतां प्रयोजनवशादेकमपि पर्यायं गृह्णतां भावतस्तथा परिज्ञानमस्त्येव, तदानीं तेषां मतिज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमजनितस्याद्वादसंस्कारसद्भावेन भावतोऽनन्तपर्यायात्मकतया वस्तुग्रहणपरिणामस्याक्षीणत्वादिति सिद्धान्ते गीयते । तदाह-भाष्यसुधासुधाम्भोधिः—

पज्जायमासयन्तो, एकं पि तओ पओयणवसाओ ।
तत्तियपज्जाय चिय, तं गिण्हइ भावओ वत्थु । ३२२ । इति ॥ ४२ ॥

अथ प्रत्यक्षपरोक्षभेदेन प्रमाणं द्विविधं प्राक् प्रोक्तम्, तत्र प्रत्यक्षभेदस्वरूपमुक्त्वा

परोक्षान्तर्गतागमप्रमाण प्रमाणान्तरावगतवस्त्वस्तित्वप्रतिपादकत्वेन हेतुवादात्मकम्, प्रमाणान्तरानवगतार्थाऽस्तित्वप्रतिपादकत्वेन चाहेतुवादात्मकमिति तद्भेदद्वयनिरूपणायाह—

दुविहो धम्मावाओ, अहेउवाओ य हेउवाओ य ।
तत्थ उ अहेउवाओ, भवियाऽभवियादओ भावा ॥ ४३ ॥

'दुविहो धम्मावाओ' द्विविधो धर्मावाद, धर्माणां वस्तुगतास्तित्वादीनामा समन्तात् वादस्तत्प्रतिपादक आगम, तद्वैविध्यमेवाह—' अहेउवाओ य हेउवाओ य ' अहेतुवादश्च हेतुवादश्च । तत्रेन्द्रियव्यापारहेतुयुक्त्यादयभावेन प्रत्यक्षानुमानादिप्रमाणैर्ये नावगम्यन्ते एवम्भूतार्थप्रतिपादक आगमोऽहेतुवाद, तद्विपरीतो हेतुवादः, हेतोर्हेतुपरिच्छिन्नस्य वादो हेतुवाद इति व्युत्पत्ते', यद्वा हिनोति-गमयत्यर्थमिति हेतु, तत्परिच्छिन्नोऽर्थोऽपि हेतुः, त वदति य आगमः स हेतुवादः, हेतुबहुलत्वात् प्रायो दृष्टिवादाख्य आगमो हेतुवादः, तदितरश्चाहेतुवाद उच्यते, तत्राहेतुवादात्मकाद्यभेदे ज्ञाते सति तद्विपरीतत्वाद्धेतुवादात्मकद्वितीयभेदोऽपि स्वयमेव सुतरां ज्ञातु शक्यत एवेत्याशयेनाद्यभेदप्रतिपादनायोत्तरार्द्धमाह—तत्थेत्यादिना । तत्र त्वहेतुवाद', तत्र भेदद्वयमध्ये, अहेतुवादस्तु " भवियाभवियादओ भावा " भव्याभव्यादयो भावाः, भव्याभव्यत्वादिप्रतिपादक आगम इत्यर्थः । प्रतिपाद्यग्रहणेन प्रतिपादकग्रहणात् । न हि 'अय भव्यः, अयमन्त्यरभव्यः' इत्यत्रास्मदादीनामागमभृते प्रमाणान्तर प्रवर्त्तते, नन्वत्रापि भव्याभव्यविभागप्रतिपादक वचन यथार्थम् अर्हद्वचनत्वात्, जीवाजीवाद्यष्द्रव्यमनन्तपर्यायात्मकमित्यादिवचोवदित्यनुमानप्रवृत्तेर्नोक्त युक्तमिति चेत्, नैवम्, अस्याप्यनुमानस्य पक्षप्रविष्टभव्याऽभव्यविभागांशसिद्धिविधायकाऽऽगमापेक्षस्यैव प्रवृत्तेः, न ह्यागमवचनमन्तरेण स्वतन्त्रानुमानेनाय भव्यः, अयश्चाभव्य इति ज्ञातुमस्मदादिभिश्शक्यते । अयम्भावः-यो हि मुक्तिगमनयोग्यः स मुक्तिस्वरूपयोग्यतावच्छेदकधर्मवानेष, तादृशधर्ममन्तरेण मुक्तिगमनानुपपत्तेरिति स धर्मो भव्यत्व तद्वान् भव्यः, एतद्विपरीतश्चाऽभव्य इत्येव वचनविभागस्य यथार्थनिर्णायकत्वेनोक्तानुमानस्य प्रवृत्तावपि आगममन्तरेणागमैकगम्यभव्याभव्यस्वरूपे स्वतन्त्राऽनुमानस्य प्रवृत्तिर्नोपपद्यते इत्येतावताऽहेतुवादत्व भव्याभव्यत्वप्रतिपादकागमस्य प्रतिपाद्यते, तथा च भव्याभव्यत्वादयोऽहेतुवादसिद्धा, तदन्ये च हेतुवादसिद्धा इति सिद्धम् ॥ ४३ ॥

अथ भव्याभव्यादिभावानामहेतुवादविषयत्व प्रतिपाद्य आगमोपगृहीतहेतुप्रवृत्त्यानुमानगम्यत्वाद्धेतुवादविषयत्वप्रतिपादनायाह-अथवा अहेतुवादागमसिद्धस्याप्यर्थस्य तत्तद्धर्मिण्यहेतुवादागमप्रतिपादितलिङ्गेन हेतुवादागमसिद्धत्वमपीति तत्प्रतिपादनायाह—

भविओ सम्मदसण-नाणचरित्तपडिवत्तिसपन्नो ।
णियमा दुक्खतकडो-त्ति लक्खण हेउवायस्स ॥ ४४ ॥

भविओ इत्यादि। 'सम्मद्दसणनाणचरित्तपडिवत्तिसंपन्नो' इति-अत्र 'सम्मद्दसणनाणचरित्तगुणलद्धिसंपन्नो" इत्यपि चास्य शब्दतिनादे पाठः, साध्यहेतुघटितोऽयं प्रयोगः, तथा च अयं भव्यः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रप्रतिपत्तिसम्पूर्णत्वात् सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रगुणलब्धिसम्पन्नत्वाद्वा सम्प्रतिपन्नपुरुषवदित्यनुमानं पर्यवस्यति। उक्तहेतोः किमित्याशङ्कानिवृत्त्यर्थं सूत्तरार्द्धमाह-'णियमा दुक्खंतकडोत्ति' नियमाद् दुःखान्तकृदिति, नियमात्संसारदुःखान्तं करिष्यति कर्मव्याधेस्समूलकाषं कषणमनुभविष्यति, तन्निबन्धनमिथ्यात्वादिप्रतिपक्षाभ्याससात्मीभावात् व्याधिनिदानप्रतिकूलाचरणप्रवृत्ततथाविधातुरवत्। यः पुनर्न तत्प्रतिपक्षाभ्याससात्म्यवान् नासौ दुःखान्तकृद्भविष्यति, तन्निदानानुष्ठानप्रवृत्ततथाविधातुरवत्, इति 'लक्खणहेउजायस्स' हेतुवादस्य लक्षणम्। ननु भव्याभव्यादेर्लक्षणमागम एव प्रोक्तमित्यागमात्तल्लक्षणे ज्ञाते सति तेनैव तज्ज्ञानं भविष्यतीति किमेतादृशानुमानप्रयोगपरिक्लेशेनेति चेत्, नैवम्, यत आगमाधिगतमप्यर्थं सिसाधयिषयाऽनुमिन्वतेऽनुमानरसिकाः, इत्थमेव मननसाध्यश्रद्धाविशेषस्योत्पत्तेः। अत एव "प्रत्यक्षपरिकलितमप्यर्थमनुमानेन बुभुत्सन्ते तर्करसिकाः" इति पक्षताग्रन्थोक्तशिरोमणिवाक्यमपि सङ्गच्छते,ततोऽहेतुवादसिद्धेऽप्यर्थेऽनेकान्तात्मकत्वसाधिका निराकाङ्क्षतात्पर्यार्थप्रतिपत्तिपर्यन्ताश्च या उपपत्तयस्ता हेतुवादसिद्धत्वमुपपादयन्ति, श्रुतमात्रेण ज्ञातस्याज्ञातप्रायत्वात्, ताश्चोपपत्तयः श्रुतोपयोगाऽनन्यत्वाच्च श्रुतत्वं व्याहन्युः, श्रुतानुसारिमतेः श्रुतान्तर्भूतत्वेन शास्त्रोक्तत्वात्। अत एव प्रेक्षावन्त आगमादनुमानाच्च प्रवर्तमानास्तत्त्वं लभन्ते, न केवलादनुमानात्, प्रत्यक्षादितस्तेषामप्रवृत्तिप्रसङ्गात्, नापि केवलादागमादेव, विरुद्धार्थमतेभ्योऽपि प्रवर्त्तमानानां प्रेक्षावत्त्वप्रसक्तेः, एतेन हेतुवादैकान्तवादिनो ये केचिद् हेतुत एव सर्वमुपादेयतत्त्वं सिद्ध्यति, न प्रत्यक्षात्, तस्मिन् सत्यपि विप्रतिपत्तिसम्भवात्, युक्त्या यन्न घटनामुपैति तदहं दृष्ट्वाऽपि न श्रद्दधे, इत्यादेरेकान्तस्य बहुलं दर्शनात् अर्थानर्थविवेचनस्यानुमानाश्रयत्वात् तद्विप्रतिपत्तेस्तद्व्यवस्थापनाया हेत्वादिवचनात्। प्रत्यक्षतदाभासयोरपि व्यवस्थितिरनुमानात्, अन्यथा सङ्करव्यतिकरोपपत्तेरर्थानर्थविवेचनस्य प्रत्यक्षाश्रयत्वासम्भवादिति मन्यन्ते तन्मतं निरस्तम्, यतस्तेषां मतेऽनुमानप्राक्कालेऽपि प्रत्यक्षप्रमाणात् पक्षस्य साधनस्योदाहरणस्य च ज्ञानं न स्यात्, तज्ज्ञानाभावे च न च कस्यचिदनुमानं प्रवर्त्तेत, अनुमानान्तरात्तज्ज्ञानाभ्युपगमे तस्यापि पक्षादिज्ञानपूर्वकत्वादनुमानान्तरमपेक्षणीयमित्यनवस्था स्यात्। तथा च प्रामाण्यसंशयमूलार्थसंशयनिराकरणरूपविवेचनेऽनुमानस्यैव तन्मूलव्याप्त्यादिपरिच्छेदे प्रत्यक्षस्याप्युपयोगाद्द्वयोस्तुल्यत्वमिति नैकान्तश्श्रेयान्। आगमैकान्तवादिनो ये च केचिदागमादेव सर्वं सिद्ध्यति, अनुमानप्रतिपन्नेऽपि चिकित्सादावागमापेक्षणात् आगमबाधितपक्षस्यानुमानस्याऽगमकत्वाच्चेति मन्यन्ते तेषां मते विरुद्धार्थमतान्यपि शास्त्रोपदेशेभ्यः सिद्ध्यन्तु, विशेषाभावात्। सम्यगुपदेशेभ्यस्तत्त्वसिद्धिरिति चेत्, तर्हि युक्तिरपि तत्त्वसिद्धिनिबन्धनम्, तत एव तेषां

सम्यक्तत्त्वनिर्णयात्। अदुष्टकारणजन्यत्वबाधवर्जितत्वाभ्यां तदुपगमात्। न चैते सम्यगुपदेशा युक्तिनिरपेक्षाः, अन्यथा परस्परविरुद्धार्थतत्त्वसिद्धिप्रसङ्गस्स्यात्। युक्तिश्चानुमानात्मिकैव। ततः कुतश्चिदागमात्तत्त्वसिद्धिमनुरुध्यमानेन प्रत्यक्षानुमानाभ्यामपि तत्त्वसिद्धिरभ्युपगन्तव्या, अन्यथा तदसिद्धिप्रसङ्गादित्यत्रापि नैकान्तो युक्तः। प्रत्यक्षानुमानाभ्यामेव तत्त्वसिद्धि र्नागमादित्यपरे, तेऽपि न सत्यवादिनः, ग्रहोपरागादेस्तत्फलविशेषस्य च ज्योतिःशास्त्रादेव सिद्धेः, यत प्रत्यक्षानुमानाभ्यामुपदेशमन्तरेण न ज्योतिर्ज्ञानादिप्रतिपत्तिः, अथ सर्वविदः प्रत्यक्षादेव तत्प्रतिपत्तिः, अनुमानविदा पुनरनुमानादपीति चेत्, न, सर्वविदामपि योगिप्रत्यक्षात्पूर्वमुपदेशाऽभावे तदुत्पत्त्ययोगात्, ते हि श्रुतमयीं चिन्तामयीं च भावनां प्रकर्षपर्यन्तं प्रापयन्तोऽतीन्द्रियप्रत्यक्षमात्मसात्कुर्वते, नान्यथा, तथाऽनुमानविदामपि नात्यन्तपरोक्षेष्वर्थेषु परोपदेशमन्तरेण साध्याऽविनाभाविसाधनप्रतिपत्तिः सम्भवति, सर्वज्ञत्वप्रसङ्गात्, ततो नात्राप्येकान्तः प्रामाणिक इति। तदुक्तमष्टमहस्याम्—

" सिद्धं चेद्धेतुतः सर्वं, न प्रत्यक्षादितो गतिः।
सिद्धं चेदागमात्सर्वं, विरुद्धार्थमतान्यपि ॥ १ ॥ " इति

तदेवमागमग्राह्येऽप्यर्थे हेतुग्राह्यत्वमविरुद्धमिति व्यवस्थितम्। अत एव 'भव्यो ज्ञानादिमान् सिद्ध्यति' इत्याद्यागम्येऽर्थे हेतुग्राह्यत्वमविरुद्धमित्यस्पृशद्भविवादेऽभिहितं सङ्गच्छते ॥ ४४ ॥

अथागमस्याहेतुवादहेतुवादागमोभयरूपत्वे सिद्धे स्वसमयप्रज्ञापकत्वस्य तत्परिज्ञाननिबन्धनत्वात्तदुभयज्ञ एव स्वसमयस्य प्रज्ञापकः, किमत्र प्रमाणमिति तर्कानुसारिप्रश्नविषयभूते हेतुवादागमविषयेऽर्थेऽप्रतिहप्रामोघहेतुयुक्तिप्रकरलक्षणैः अहेतुवादागममात्रगम्येऽर्थे आगममात्रप्रज्ञापनालक्षणैस्तैस्तैर्यथोचितोपायैः प्रतिपादकत्वमस्ति श्रोतृगतवितथाविचलश्रद्धाविधायित्वात्तस्य, तदितरस्तु तद्विराधकः प्रतिपादकत्वमप्यनास्थादिदोषोत्पादकत्वादित्युपपादनायाह—

जो हेउवायपक्खम्मि, हेउओ आगमे य आगमिओ।
सो ससमयपण्णवओ, सिद्धंतविराहओ(गो) अन्नो ॥ ४५ ॥

'जो हेउवायपक्खम्मि' यः कश्चिद्धेतुवादपक्षे जीवकर्मादौ युक्तिमार्गसहे वस्तुनि 'हेउओ' हेतुकः प्रबलतमयुक्तिप्रणयनप्रवीणः, 'आगमे य आगमिओ' आगमे च देवलोकपृथ्वीसङ्ख्यादावर्थे आगममात्रगम्ये, आगमिकः, आगममात्रप्रज्ञापनाप्रवीणः 'सो ससमयपण्णवओ' स स्वसमयप्रज्ञापकः स्वसमयस्य द्रव्यानुयोगादिभेदभिन्नस्य प्ररूपकः तैस्तैरुपायैरुपदेशक उच्यते, ननु यदि हेतुवादागमविषयमर्थं हेतुवादागमेन यः प्रदर्शयति,

अहेतुवादागमविषय चार्थमागममात्रेण प्रज्ञापयति, न तु तत्रापि मतिमोहिनीं युक्तिं तनोति स स्वसमयप्रज्ञापकस्तर्हि तद्विपरीतः कीदृश इत्याशङ्कायामाह–'सिद्धंतविराहगो अण्णो' सिद्धान्तविराधको जिनस्वचनानुयोगविनाशकोऽन्यः, प्रागुक्तविशेषणविकलः साधुः, तद्बाधवापादनात्। तथाहि–युक्तिप्रकरमहेत्वप्यागमगम्यत्वमेव पुरस्कुर्वन् स नास्तिकादिप्रणीतकुयुक्तिनिराकरणाभावाच्च श्रोतृणां तर्कानुसारिणां दृढां प्रतीतिं कर्तुं शक्नोति, आगमगम्येषु तु युक्तिपथातीतेषु युक्तिमुट्टङ्कयन्नसम्पादितनियतार्थप्रतीतिर्निष्फलारम्भत्वेन स्वयमेव वैलक्ष्य भजते, श्रोतुश्चानादेयवचनो भवतीति न विपरीतव्यवहारिणा तेन सम्यक्सिद्धान्त आराधितो भवतीति। तदेवमागमोक्तविधिना श्रोतारमालोच्यागमोक्त्या हेतुयुक्त्या वा यथा यथाऽसौ बुध्यते तथा तथा तत्त्वोपदेशश्श्रोतृविवेचकः कार्योऽर्हत्समयज्ञेनेति। पञ्चवस्तुकेऽप्युक्त गाथाचतुष्टयम्—

> अह् वक्खाणेअव्व, जहा जहा तस्स अवगमो होइ।
> आगमिअमागमेण जुत्तीगम्मं तु जुत्तीए ॥ ९९१ ॥
>
> जम्हा उ दोण्हवि इह, भणिअ पन्नवग करणभावाणं।
> लक्खणमणघमईहिं, पुव्वायरिएहिं आगमओ ॥ ९९२ ॥
>
> जो हेउवायपक्खम्मि, हेउओ आगमे अ आगमिओ।
> सो ससमयपण्णवओ, सिद्धंतविराहओ अन्नो ॥ ९९३ ॥
>
> आणागिज्झो अत्थो, आणाए चेव सो कहेयव्वो।
> दिट्ठंति अ दिट्ठंता, कहणविहि विराहणा इहरा ॥९९४॥ इति।

यो हेतुवादसिद्धमर्थं हेतुना साधयति, आगमसिद्धं चागमेन, तस्य नयवादः परिशुद्धः, नान्यस्येति प्रतिपादयन्नाह–यद्वा वस्तुधर्मप्रतिपादकस्याहेतुहेतुवादभेदभिन्नागमस्य वाक्यं नयरूपस्य परिशुद्धेतरभेदेन द्विरूपतां प्रतिपादयितुमाह—

> परिसुद्धो नयवाओ, आगममेत्तत्थसाहओ होइ।
> सो चेव दुण्णिगिण्णो, दोण्णि वि पक्खे विधम्मेइ ॥ ४६ ॥

"आगममेत्तत्थसाहओ नयवाओ परिसुद्धो होइ" आगममात्रार्थसाधको न त्वनागमार्थसाधकः, नयवादः श्रुतप्रमाणपरिच्छिन्नानन्तधर्मात्मके वस्तुनि प्रयोजनवशान्मुख्यवृत्त्यैकधर्मस्य गुणीभूतसकलस्वेतरधर्मस्य प्रतिपादको नयवादः, परि समन्तात् शुद्धः परिशुद्धो भवति, स्वेतरनिखिलांशमापेक्षवस्त्वेकांशावगाहियथार्थनिश्चयात्मकबोधजनकनयवाक्यस्यैव सुनयवाक्यत्वात्, गजनिमीलिकान्यायेन स्वप्रतिपाद्यांशभिन्नाशेषांशनिधाननिषेधाकरणात्, स एव स्वप्रतिपाद्यांशेतरसकलांशनिषेधकरणे त्वपरिशुद्धः अपेक्षान्तरेणैकधर्म-

निश्चायकवाक्यस्य दुर्नयवाक्यत्वादिति प्रतिपादयितुमुत्तरार्द्धमाह–'सो चेव त्ति' अयम्भावः–वस्तुमात्रं किं नित्यमनित्यं वा, आद्यपक्षे एकान्तनित्यस्य पूर्वोत्तरतत्तत्कालावच्छेदेन तत्तदर्थक्रियायाः कारित्वे कार्यभेदेन स्वभावभेदप्रसक्त्याऽनित्यत्वापत्तिः, अकारित्वे चाभवापत्तिः। सत्तायोगात्सदिति चेद्, न, प्राग् निहितोत्तरत्वात्, अथैकान्तनित्योऽप्यर्थोऽनेककार्यानुकूलैकशक्त्यैव तत्तत्कार्याणि करोतीति नोक्तदोष इति चेद्, मैवम्, कार्यतामेदेन तन्निरूपितकारणतास्वभावभेदस्याप्यवश्यम्भावेन पूर्वोक्तदोषतादवस्थ्यात्। द्वितीयपक्षे चैकक्षणवर्तिनोऽप्यर्थस्य तत्तदन्यदेशावच्छेदेन सामर्थ्यासामर्थ्याभ्याम्, एवं पूर्वरूपस्याव्यवहितोत्तररूपं प्रत्युपादानकारणत्वम्, अव्यवहितोत्तरस्मादिकम्प्रति च निमित्तकारणत्वमिति स्वभावभेदाभ्यां, विरुद्धधर्माध्यासाद्भेदप्रसक्तिः, तदेवं यत्सत्तत्सर्वमनेकान्तात्मकमर्थक्रियाकारित्वात्, स्वविषयाकारसंवित्तिवत्, तथा वस्तुतस्तु न किञ्चिदेकान्तं तथात्वे सर्वथाऽर्थक्रियाऽसम्भवादित्यादिनाऽनेकान्ततत्त्वसिद्ध्यैकान्ततत्त्वस्य बाधेनासद्रूपतया तथाभूतविषयाभावेन तद्विषयिणोऽप्यप्रमाणत्वमिति यद्वा 'सो चेव दुण्णिग्गिण्णो' स एव नयवाद दुर्निगीर्णः दुर्निक्षिप्तः प्रमाणविरुद्धैकान्तार्थप्रतिपादकत्वेन प्रयुक्तस्तदाऽपेक्षामन्तरेण कस्यापि धर्मस्य सद्रूपत्वं नेति निरपेक्षस्य तद्विपयस्यासद्रूपस्यापि सद्रूपतया प्रतिपादनाद् भ्रान्तबुद्धिजनकत्वेनापरिशुद्धो भवति, तत्तन्महद्वस्तुनि स्वावधिकमहत्त्वापेक्षया लघुत्ववत्तत्तदपेक्षगर्भतत्तदनकपर्यायधर्माणां सद्भावेऽपि तन्निराकर्तेर्दुर्नयरूपत्वात्, अत एव "दोण्णि वि पक्खे विधम्मेइ" द्वावपि पक्षौ विधर्मयति सुन्दोपसुन्दन्यायेन परस्पराप्रामाण्यज्ञापकनययुक्तिभिः परस्परनयविषयाऽसद्रूपकरणेनासद्रूपतया ज्ञापयति दुर्निक्षिप्तो नयवाद एव। तदेवमहेतुवादागम श्रुतप्रमाणम्, हेतुवादागमो नयवादः, ताभ्यां संस्कृतमलङ्कृत तत्त्वज्ञानं प्रमाणं युक्तिशास्त्राऽविरुद्धार्थगोचरत्वात् सुनिश्चितासम्भवद्बाधकत्वादिति भावः ॥ ४६ ॥

अथानन्तधर्मात्मकवस्त्वेकधर्मोऽपि स्वेतरसकलधर्मापेक्षितया स्याद्वादरूप एवेति तत्प्रतिपादकः परिशुद्धनयवादः स्याद्वादैकवाक्यतापन्नः तत्त्वाधिगमकारणत्वेन सम्यग्रूपतया स्वसमयरूपः, इतरधर्मप्रतिक्षेपितया वस्त्वेकधर्मप्रतिपादकस्त्वपरिशुद्धनयवादः स्याद्वादैकवाक्यतारहितो मिथ्यारूपतया परसमयात्मकः। नन्वेवं तर्हि स कियत्सङ्ख्यक इत्याशङ्कायामाह—

> जावइया वयणपहा, तावइया चेव हुंति णयवाया।
> जावइया णयवाया, तावइया चेव परसमया ॥ ४७ ॥

'जावइया वयणपहा' यावन्तो वचनपथाः–वक्तृविकल्पहेतवोऽध्यवसायविशेषाः 'तावइया चेव हुंति णयवाया' तावन्त एव भवन्ति नयवादाः तज्जनितवक्तृविकल्पाः शब्दात्मकाः, सामान्यतो नैगमादिसप्तभेदोपग्रहेऽपि प्रतिव्यक्ति तदानन्त्यात्। 'जावइया

णयवाया ' यावन्तो नयवादाः ' तावइया चेव परसमया ' तावन्त एव परसमयाः, स्वेच्छापरिकल्पितवक्तृविकल्पमात्रकल्पितत्वाचेषाम् । स्याद्वादैकवाक्यतारहिता एकैकनया वस्तुनो यावन्तोऽनन्ता अंशास्तान् सर्वान् नाभ्युपगच्छन्ति, किन्त्वेकैकांशानित्येकैकांशग्राहका यावन्तः प्रतिपत्तृणामभिप्रायास्तावता नयानां वचनपथतुल्यसंख्यकानामपरिमितत्वेन तत्कल्पितनयवादात्मकपरसमया अप्यपरिमिता एव, अभिनिवेशान्वितवस्त्वेकैकांशविषयकप्रतिपन्नभिप्रायलक्षणनयप्रभवनयवादस्यैव परसमयलक्षणत्वादिति परमार्थः । नन्वेव नयवादानां वचनपथतुल्यसङ्ख्यकानामपरिमितत्वेन तत्तनयवादात्मकपरसमयानामपि परिमितिर्न विद्यते, तर्हि तन्निबन्धनभूताना नयानामध्यवसायलक्षणानां " से किं त णए ? सत्त मूलणया पण्णत्ता, त जहा—णेगमे सगहे ववहारे उज्जुसुए सद्दे समभिरूढे एवभूए " इत्यनुयोगद्वारसूत्रेण य' सप्तधा विभागो विहितस्सोऽपि प्रमाणतां नैव प्राप्नुयादिति, चेत्, उच्यते, स्थूलन्यायेन मूलजातिभेदतस्सोऽपि प्रमाणमानमश्नुत्येव, ततोऽपि सूक्ष्मतरभेदविवक्षायामेकैकनय' शतभेद इति नयत्वसाक्षाद्व्याप्यजात्यवच्छिन्नानां सप्तनयानां प्रभेदास्सप्तनयशतानि भवन्ति, नयत्वव्याप्यजातिव्याप्यजात्यवच्छिन्नत्वात्, तदुक्त विशेषावश्यकभाष्ये—" इक्किको य सयविहो सत्तनयसया हवति एमेव " इति । उपदर्शितनयसङ्ख्याऽपरिमाणत्वविधानन्तु ततोऽपि सूक्ष्मतरदृष्टिपर्यालोचनयैव, ततोऽनन्तात्मके वस्तुन्येकैकांशपर्यवसायिनो यावन्तः प्रतिपत्तृणामभिप्रायास्तावन्तो नयाः, ते च नियतसङ्ख्या सङ्ख्यातु न शक्यन्ते, अत एव तदुत्थनयप्रवादानामपि परसमयरूपाणां साधधारणत्वेनैकान्ततत्त्वप्रतिपादकानां नियतसङ्ख्या न विद्यत इति । एतेन मूलत एव नयविचारो नारम्भणीयः निष्फलत्वात्, काकदन्तपरीक्षावदिति तत्सङ्ख्या भवतु मा वा किं तद्विज्ञानेनेति निरस्तम्, नयविचाराऽकरणे नयविधिमजानतां नयज्ञानाऽभावेन सम्यग्वागुच्चारणमेव अन्योन्यवाग्युक्तायुक्तत्वविवेकोऽपि च न स्यात्, एव नैगमादितत्तन्नयाऽनपेक्ष्य जीवाजीवाद्यर्थ एवस्वरूप इति सूक्ष्मेक्षिकया विचाराऽकरणे यथार्थज्ञानाऽभावेनाऽयुक्तमपि युक्त युक्तमप्ययुक्त प्रतिभासेत, किञ्च परसमयरूप यदेकान्तनित्यत्वादिप्रतिपादकमेकनयमत तदेकान्तानित्यत्वादिप्रतिपादकेन तत्प्रतिपक्षभूतेनान्येन नयेन नयविधिज्ञो यदि स्यात्तदा निराकुर्यात्, नान्यथा, किञ्च स्वसिद्धान्तेऽपि यदज्ञानद्वेषादिकलुषितस्सन् कोऽपि दोषबुद्ध्या किमपि यज्जीवादिवस्तु अन्यथा [illegible] यो नयविधिज्ञस्स एव नयोक्तिभिर्यथार्थतया स्थापयेत्, अन्यथा तु क[illegible] णीय एवेति सिद्धम् । नन्वेव तर्हि [illegible] , यन्नैव तन्नैवम्, घटादिवत्, [illegible] , यन्नैव तन्नैवम्, आत्मवदित्येव ल[illegible] [illegible]मेव, अत एव [illegible]

चेतनावत्त्वात्, यन्नैतरभिन्नं तन्न चेतनावत् यथा घटः; एवमजीव इतरभिन्नः अचेतनावत्त्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथात्मा इत्येवमितरभेदानुमापकमपि लक्षणमेव, तथा च नयो नयत्वेन व्यवहर्त्तव्य इति व्यवहारज्ञानप्रयोजनको नय स्वेतरसशयविपर्ययादिभिन्न इत्यनुमित्युपपादकश्च नयसामान्यलक्षणं किमित्याशङ्कायां तत्प्रतिपादनीयम्, तन्निरूपणे च कृते तज्ज्ञानेन नयो नयत्वेन व्यवहर्त्तव्य इतरभिन्नत्वेन च ज्ञातव्य इति सामान्यतो नयगोचरज्ञाने जाते सति नयभेदजिज्ञासया कतिभेदा नयानामिति प्रश्ने कृते मूलजातिभेदतो नया नैगमादयस्सप्तेत्युत्तरे दत्ते तदवान्तरतद्धर्मावच्छिन्नतत्तन्नयलक्षणजिज्ञासया नैगमादितत्तन्नयलक्षणमव्याप्त्यादिदोषाऽकलङ्कितं किमिति प्रश्ने कृते शिष्येण तदपि वाच्यमिति चेत्, उच्यते, श्रूयतां सावधानीभूय, श्रुतप्रमाणपरिच्छिन्नानन्तधर्मात्मकवस्तुनो गजनिमीलिकान्यायेन तदितरधर्मौदासीन्यतस्तत्राभिप्रेतैकधर्मावगाही प्रतिपत्तुरभिप्रायविशेषो नय इति नयसामान्यलक्षणं जानीहि । तदुक्तं प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारे सप्तमपरिच्छेदे—

" नीयते येन श्रुताख्यप्रमाणविषयीकृतस्यार्थस्यांशस्तदि-
तरांशौदासीन्यतः स प्रतिपत्तुरभिप्रायविशेषो नयः ॥ १ ॥ " इति

तत्सवादी चायं श्लोकः—

" श्रुतार्थांशाश्रयो एवेह, योऽभिप्रायः प्रवर्त्तते ।
इतरांशाऽप्रतिक्षेपी, स नयः सुव्यवस्थितः ॥ १ ॥ " इति ।

न्यायाचार्यश्रीयशोविजयोपाध्यायमहान्तस्तु अनन्तधर्मात्मके वस्तुनि प्रतिनियतधर्मप्रकारकापेक्षात्मकशाब्दबोधत्वं ज्ञानात्मकनयत्वं, वाक्यात्मकनयत्वं तु तादृशशाब्दबोधजनकवचनत्वमिति नयलक्षणं प्राहुः । तदुक्तं नयोपदेशे—

" सत्त्वासत्त्वाद्युपेतार्थ-स्यापेक्षावचनं नयः ।
न विवेचयितुं शक्यं, विनाऽपेक्षां हि मिश्रितम् ॥ २ ॥ " इति ।

अपेक्षात्वञ्च क्षयोपशमजन्यतावच्छेदको जातिविशेषो विषयिताविशेषो चेत्यन्यदेतत् । ननु घटोऽस्तीत्यादिवाक्यश्रवणाद् घटत्वनिष्ठप्रकारतानिरूपितनिरवच्छिन्नविशेष्यताऽभिन्नघटत्वावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितास्तित्वनिष्ठप्रकारताकशाब्दबोधो मे जात इत्येव लोकाः प्रतीयन्ति, न तु तत्रापेक्षात्वमपीत्यपेक्षात्मकनयज्ञानमत्र किं प्रमाणमिति चेत्, उच्यते—विरुद्धत्वेन प्रतीयमाना ये सत्त्वासत्त्वनित्यत्वानित्यत्वादयो नानाधर्मास्तद्विशिष्टं वस्त्वपेक्षां विना विवक्षितैकधर्मप्रकारकनिश्चयविषयीकर्त्तुं न शक्यम्, तद्विरुद्धधर्मवत्ताज्ञानस्यानपेक्षात्मकस्यानुपपत्तेः, तथाहि—तदभाववद्व्याप्यवत्त्वादिनिश्चयदशायामपि तद्वत्ताज्ञानस्यानुत्पाद्य

शुक्तित्वज्ञानकालीनस्याहार्यस्य च दोषविशेषजन्यस्य च लौकिकसन्निकर्षजन्यस्य चोदयेन तेषां सर्वेषां प्रत्येकं भेदानां प्रतिबध्यतावच्छेदकतया निवेशापेक्षया तेषु सर्वेष्वपेक्षात्वजातिमभ्युपगम्य तद्वदन्यत्वनिवेशे लाघवमिति प्रतिबध्यतावच्छेदकभेदप्रतियोगितावच्छेदकतया तत्सिद्धिः, एवञ्च तद्धर्मप्रतिपक्षत्वया निश्चिते धर्मिणि तद्धर्मवत्ताज्ञानमन्यथानुपपन्नं सत्त्वगतत्वेनाऽपेक्षात्वं निश्चयतीत्यन्यथाऽनुपपत्तिस्तत्र प्रमाणम्, सैव सर्वबलाधिका, बलवत्प्रमाणत्वात्। तदाह श्रीहर्षः–खण्डनखण्डखाद्ये परि० १, श्लो० ६

" अन्यथानुपपत्तिश्चेदस्ति वस्तुप्रसाधिका।
पिनष्ट्यदृष्टवैमत्यं, सैव सर्वबलाधिका ॥ १ ॥
वाच्याऽन्यथोपपत्तिर्वा, त्याज्यो वा दृष्टताऽऽग्रहः।
न ह्येकत्र समावेशः–च्छायाऽऽतपवदेतयोः ॥ २ ॥ " इति।

न चापेक्षां विना लौकिकोऽपि व्यवहारः सङ्गच्छते, शाखायां कपिसंयोगी वृक्षो न तु मूल इत्येव मूलावच्छेदेन कपिसंयोगाभाववति वृक्षे शाखापेक्षयैव कपिसंयोगवत्त्वव्यवहारात्, न च शाखावच्छेदेन कपिसंयोगावगाहेनाय व्यवहारो न त्वपेक्षात्मक इति वाच्यम्, शाखावच्छिन्नो वृक्षः कपिसंयोगवान् न तु सम्पूर्ण इति प्रत्ययस्य स्कन्धदेशापेक्षां विनाऽनुपपत्तेः, यतः शाखावच्छिन्ने वृक्षे कपिसंयोगवत्त्वे सम्पूर्णे तत्र कपिसंयोगाभावः स्कन्धरूपदेशे कपिसंयोगाभावयुक्त एव, अन्यथा शाखावच्छिन्ने वृक्षे कपिसंयोगवत् स्कन्धावच्छिन्नेऽपि यदि कपिसंयोगस्स्यात्, तर्हि कोऽयं शाखा–स्कन्धाभ्यामन्यः सम्पूर्णो वृक्षः ? यत्र कपिसंयोगाभावो भवेदिति, ततश्च स्कन्धे कपिसंयोगो नास्तीत्येतावतैव सम्पूर्णो वृक्षः ' कपिसंयोगाभाववान् ' इति व्यवह्रियते, अतस्स्कन्धात्मकदेशापेक्षामाश्रित्यैव तथा व्यवहारः, अन्यथा तदनुपपत्तेरिति। घटपटयोः रूपमिति प्रत्ययः सङ्ग्रहनयाश्रयणेन रूपत्वेन रूपेण सर्वत्र रूपसामान्यमेकमेवेति तद् घटपटोभयत्र वर्त्तत इति सामान्यापेक्षया यथार्थ इति सोऽपेक्षां निरूपयति, घटपटयोर्न रूपमिति प्रत्ययश्च व्यवहारनयाश्रयणेन नीलपीतादिरूपविशेषातिरिक्तरूपसामान्यं नास्त्येवेति तत्तद्रूपव्यक्तित्वेन रूपेण तत्तद्रूपविशेषो नोभयत्रेति विशेषापेक्षया यथार्थो भवन्नपेक्षामिदं वस्त्वेतदपेक्षया महत् एतदपेक्षया च ह्रस्वमिति प्रत्ययोऽपि च तां साधयत्येव, दुर्नयानामपि सम्यग्दृष्टिभिः परिग्रहे सति तेषां सुनयीकरणमप्युक्तापेक्षयैव, तादृशापेक्षाविनिर्मोके तु वस्तुस्थित्या दुर्नयत्वमेव, तद्व्यतिरेकैकान्ततत्त्वावगाहित्वात्तेषामित्यलं पल्लवितेन॥ अधिकजिज्ञासुभिर्नयोपदेशवृत्तिरवलोकनीया, गौरवभीत्या नाधिकमुच्यते।

तत्तन्नयलक्षणं त्वेवम्–निगमेषु येऽभिहिताश्शब्दास्तेषामर्थः शब्दार्थपरिज्ञानञ्च देशसमग्रग्राही नैगम इत्युक्तं नैगमलक्षणं तत्त्वार्थभाष्ये। अस्य चायमर्थः –निश्चयेन गम्यन्ते उच्चार्यन्ते प्रयुज्यन्ते येषु शब्दास्ते निगमा जनपदाः, तेष्वभिहिता उच्चारिता ये शब्दा

घटादयः, तेषामर्थो जलाहरणादिमदर्थः, शब्दार्थपरिज्ञानञ्च, अयं शब्द एतस्यार्थस्य वाचकः, अयमर्थ एतस्य शब्दस्य वाच्य इत्येवं वाच्यवाचकभावपरिज्ञानञ्च नैगमनयः, स च सामान्यविशेषावलम्बीत्येतद्दर्शयति-देशो विशेष समग्र सामान्यं तद्ग्राही, अयं हि सामान्यग्राही जातिमेव पदार्थमाह, विशेषग्राही च द्विकत्रिकादिकम्, तथा चोक्तं विविधप्रकारं नैगमनयमाश्रित्य—

" एकं द्विकं त्रिकं चाथ, चतुष्कं पञ्चकं तथा ।
नामार्थं इति सर्वेऽमी, पक्षाः शास्त्रे निरूपिताः ॥ १ ॥ " इति ॥

तत्रैकमिति केवलजातिम्, पक्षान्तरे केवलव्यक्तिं जातिविशिष्टं चेत्यर्थः, द्विकमिति जातिव्यक्ती इत्यर्थः, त्रिकमिति जातिव्यक्तिलिङ्गानीत्यर्थः, चतुष्कमिति संख्यासहितं त्रिकमित्यर्थः। पञ्चकमिति कारकसहितं चतुष्कमित्यर्थः। केचित्तु शब्देन सह षडपि नामार्थाः, तस्यापि नियतं शाब्दबोधे भानात्, अन्यथा विष्णुमुच्चारयेत्यादावगतेः, अर्थोच्चारणासम्भवादित्याहुः। अन्ये च बुद्धिप्रतिबिम्बकल्पापोह एव शब्दार्थ इति प्रतिपादयन्ति। अस्य विस्तरतोऽर्थः तत्त्वार्थप्रथमाध्यायविवरणतोऽस्मत्प्रणीततट्टीकातश्चावसेयः। एवमेते सर्वेऽपि शब्दार्थाध्यवसाया नैगमनये सम्भवन्ति, प्रस्थकप्रतिदृष्टान्तेन विचित्रस्य तस्य सूत्रे प्रतिपादनात्, तथा चैतादृशाध्यवसायवृत्तिद्रव्यार्थिकत्वव्याप्यजातिमत्त्वं नैगमलक्षणमनुगतं बोध्यम्। अत्र नैगमनयस्य नानाप्रकारत्वान्नैगमत्वजातिमादाय तत्सर्वप्रकारसंग्रहार्थं द्रव्यार्थिकत्वव्याप्यजातिपर्यन्तानुधावनं कृतमिति। तद्वृत्तिजातिमात्रनिवेशे नैगमत्वजातिमादाय नानाप्रकारसर्वनैगमनयसङ्ग्रहणाव्याप्तिदोषनिवृत्तावपि महासामान्यसत्ताजातिमादाय वस्तुमात्रेऽतिव्याप्तिस्स्यात्, तन्निवारणाय तद्वृत्तिज्ञानत्वव्याप्यजातिनिवेशे नयत्वजातिमादाय पर्यायार्थिकनयेऽतिव्याप्तिस्स्यात्, तद्वारणाय तद्वृत्तिनयत्वव्याप्यजातिनिवेशे द्रव्यार्थिकत्वजातिमादाय सङ्ग्रहादावतिव्याप्तिस्स्यादित्यतस्तद्वृत्तिद्रव्यार्थिकत्वव्याप्यजातिनिवेशः कृतः, न चैवमपि द्रव्यार्थिकत्वजातेस्स्वासमानाधिकरणतद्वृत्तिजातिस्वव्याप्यत्वेन तामादाय सङ्ग्रहनयादावतिव्याप्तिस्तदवस्थैवेत्याशङ्कनीयम्, स्वसमानाधिकरणभेदप्रतियोगितावच्छेदकत्वलक्षणन्यूनवृत्तित्वार्थकस्य व्याप्यत्वस्यात्र ग्रहणात्, यदि तद्भाववद्वृत्तित्वमेव व्याप्यत्वमित्यवाग्रहस्तदा स्वस्य स्वव्याप्यत्ववारणाय स्वभिन्नत्वेनापि व्याप्यजातिर्विशेषणीयेति। एवमग्रेऽपि भावनीयम्। दव्वट्ठिओत्ति कोइ नत्थि णओ नियमसुद्धजाइओ ॥ ९ ॥ इत्यादि सम्मतिग्रन्थपर्यालोचनया अनुगतद्रव्यार्थिकत्वजात्यभावपक्षे तु नैगमनयस्य यावन्तोऽध्यवसायविशेषास्तावदध्यवसायविशेषान्यतमत्वं नैगमलक्षणमवसेयम्। एवमग्रेऽपि यस्य नयस्य यावन्तोऽध्यवसायविशेषास्तस्य नयस्य तावदध्यवसायविशेषान्यतमत्वमत्र लक्षणं बोध्यमिति। " सामान्यविशेषोभयस्वीकर्तृजातीयैकदेशबोधत्वं नैगमत्वम् " इति नयोपदेश

पूर्वोक्तनैगमलक्षणमदोषम्, अथवा प्राधान्येन सामान्यविषयकाध्यवसायवृत्तित्वे सति प्राधान्येन विशेषविषयकाध्यवसायवृत्तिद्रव्यार्थिकत्वव्याप्यजातिमत्त्वं नैगमत्वमित्याद्यपि लक्षणमूह्यम्। अत्र सत्यन्तनिवेशाच्च व्यवहारेऽतिव्याप्तिः, सुनयवृत्तेर्व्यवहारत्वस्य गौणवृत्त्या सामान्यविषयकाध्यवसायवृत्तित्वेऽपि प्राधान्येन तद्विषयकाध्यवसायवृत्तित्वाभावात्, व्यवहारनयेन प्रधानतया विशेषविषयकाध्यवसायस्यैवाऽभ्युपगमात्, प्राधान्येन विशेषविषयकेत्याद्युपादानाच्च सङ्ग्रहनयेऽतिव्याप्तिः, सुनयवृत्तेस्सङ्ग्रहत्वस्य गौणतया विशेषविषयकाध्यवसायवृत्तित्वेऽपि प्रधानवृत्त्या तद्विषयकाध्यवसायवृत्तित्वाभावात्, प्राधान्येन सामान्यविषयकत्वे सति प्राधान्येन विशेषविषयकाध्यवसायत्वं नैगमत्वमित्येतावन्मात्रोक्तौ च यद्यपि प्रमाणात्मकज्ञाने नातिव्याप्तिः, यतस्तस्य प्राधान्येन सामान्यविशेषोभयविषयकत्वेऽपि सामान्यविशेषोभयात्मकत्वेन जात्यन्तरस्वरूपवस्त्ववगाहित्वात एव तस्य निरुक्तोभयावगाहित्वमिति तत्र सामान्यविषयत्वविशेषविषयत्वयोरेकवस्त्ववच्छेदेन समानाधिकरणयोरवच्छेद्यावच्छेदकभावः, नयनिरूपितयोश्च तयोरेकवस्तुविमिश्रांशमात्रगतयोर्नावच्छेद्यावच्छेदकभाव इति मिथोऽनवच्छेद्यावच्छेदकभावानापन्नयोरेव सामान्यविशेषविषयत्वविशेषयोर्निरुक्तनैगमलक्षणे प्रवेशात्। तथापि—

इत्युक्तलक्षणनैगमस्य " सच्चैतन्यमात्मनि १। वस्तु पर्यायवद्द्रव्य २। क्षणमेकं सुखी विषयासक्तजीवः ३।" इति नैगमनयोदाहरणत्रयेऽव्याप्तिस्स्यात्, तत्र प्रधानोपसर्जनभावविवक्षणादिति तद्वारणाय प्राधान्येन सामान्यविषयकाध्यवसायवृत्तित्वे सति प्राधान्येन विशेषविषयकाध्यवसायवृत्तिद्रव्यार्थिकत्वव्याप्यजातिमत्त्वमित्युक्तम्। तथा च नैगमस्य धर्मद्वयविषयके प्रथमभेदे धर्मियुग्मगोचरे द्वितीयभेदे धर्मधर्म्यालम्बने तृतीयभेदेऽपि च नैगमत्वजातिमादायोक्तलक्षणसमन्वयान्नाव्याप्तिः, एवञ्च पटोऽयं पटोऽयमित्याद्येकैकधर्ममात्रावगाह्यध्यवसायेष्वपि तादृशाध्यवसायवृत्तिद्रव्यार्थिकत्वव्याप्यनैगमत्वजातिर्वर्तत इति न तेष्वप्यव्याप्तिः। अत्रापि अन्यत्सर्वं पूर्ववदूह्यम् इति।

" धर्मयोर्धर्मिणोर्धर्म-धर्मिणोश्च विवक्षणम्।
गुणप्रधानभावेन, नैगमस्तद्विधा मत.॥ १॥"

इति श्लोकेन "धर्मयोर्धर्मिणोर्धर्मधर्मिणोश्च प्रधानोपसर्जनभावेन यद्विवक्षण स नैकगमो नैगम.॥७-७इति प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारसूत्रानुसारिणोक्तस्य नैगमनयलक्षणस्य पर्यवसनञ्चैव ज्ञेयम्–पर्याययोर्द्रव्यवस्तुनोः पर्यायद्रव्ययोश्च मुख्यामुख्यरूपतया यो विवक्षात्मकोऽभिप्रायस्तद्वृत्तिद्रव्यार्थिकत्वव्याप्यजातिमत्त्वं नैगमनयत्वमिति। अत्र नैगमस्य धर्मद्वयगोचरप्रथमभेदस्योदाहरणम्–"सच्चैतन्यमात्मनीति" तत्र चैतन्याख्यस्य व्यञ्जनपर्यायस्य

विशेष्यतया मुख्यत्वेन सत्ताख्यस्य च व्यञ्जनपर्यायस्य चैतन्यविशेषणत्वेनामुख्यत्वेन विवक्षणम्, नैगमस्य धर्मिद्वयगोचरद्वितीयभेदस्योदाहरणम्–" वस्तु पर्यायवद्द्रव्यमिति " अत्र पर्यायवद्द्रव्यं वस्तु वर्तत इति विवक्षायां पर्यायवद्द्रव्याख्यस्य धर्मिण उद्देश्यतया विशेष्यत्वेन प्राधान्यम्, वस्त्वाख्यस्य तु धर्मिणो विधेयत्वेन प्रकारतया गौणत्वम् । यद्वा किं वस्तु पर्यायवद्द्रव्यमिति विवक्षायां वस्तुनो विशेष्यत्वात् प्राधान्यं, पर्यायवद्द्रव्यस्य विधेयतया प्रकारत्वविवक्षणाद्गौणत्वम्, धर्मधर्मिगोचरतृतीयभेदस्योदाहरणम्–" क्षणमेकं सुखी विषयासक्तजीव इति " । अत्र विषयासक्तजीवाख्यस्य धर्मिणो मुख्यता, विशेष्यत्वात्, सुखलक्षणस्य तु धर्मस्याप्रधानता तद्विशेषणत्वेनोपात्तत्वादिति । न चास्यैव प्रमाणत्वानुषङ्गः, धर्मधर्मिणोर्द्वयोः प्राधान्येनात्र ज्ञप्तेरसम्भवात् । तयोरन्यतरमेव हि नैगमनयः प्रधानतया विषयीकरोति " प्राधान्येन द्रव्यपर्यायद्वयात्मकं चार्थमनुभवद्विज्ञानं प्रमाणं प्रतिपत्तव्यं नान्यत् " इत्याकरे प्रोक्तत्वात्प्रमाणं तु प्राधान्येन द्रव्यपर्यायोभयरूपं जात्यन्तरात्मकमर्थं गृह्णाति न तु नयवत्प्रधानगुणभावेनेति तत्रोक्तनयलक्षणमङ्गस्याभावान्नातिप्रसङ्ग इति ।

सङ्ग्रहलक्षणं त्वेवम्–" अर्थानां सर्वैकदेशसङ्ग्रहणं सङ्ग्रहः " इति तत्त्वार्थ[illegible] प्रोक्तम् । तस्यायमर्थः–अर्थानां घटादीनां सर्वं सामान्यमेकदेशो विशेषस्तयो[illegible] भावेनाभयणं सर्वमेकं सदविशेषादित्यध्यवसाय इति यावत्स सङ्ग्रहो मन्यते । [illegible] विशेषादित्यस्य चेतनाचेतनपदार्थमात्रे सत् सदित्यनुगतप्रतीति[illegible] रूपेणाशेषार्थानामविशेषादभेदादित्यर्थ । तथा चाशेषविशेषेभ्यो[illegible] रूपेण वस्तुमात्राभेदाध्यवसायस्तद्व्यक्तिद्रव्यार्थिक[illegible] नयलक्षणमवसेयम्, तेनापरसङ्ग्रहस्य द्रव्यत्वादिना[illegible] गाहिन उक्ताध्यवसायत्वाभावेऽप्युक्ताध्यवसायवृत्ति[illegible] सत्त्वाद्नाव्याप्तिः, अत एव न प्रत्यक्षप्रमाण[illegible] सद्ग्रहत्वजातिसङ्करात्, न वा नैगमनयऽतिव्याप्ति, [illegible] स्वीकारेऽपि तद्रूपेण निखिलवस्त्वभेदाध्यवसाया[illegible] नीयम् । सङ्ग्रहस्यापि प्राधान्येन विशेष[illegible] सामान्यविषयकैकदेशबोधश्चिद्द्रव्यार्थिक[illegible] लक्षणान्तरमप्यवसेयम् । अत्रा[illegible] व्यवहारत्वजातेरपि तत्र प्रत्ये[illegible] व्याप्त्यभावेन प्राधान्येन सामान्य[illegible] । लक्षणस्य व्यवहारप्रयोजनक[illegible] भाररूपाऽसिद्धयाथवा[illegible] तथा व्याप्तत्वासिद्धिदोषप्रसक्त्[illegible] ...

स्वभावविशेषाऽऽलिङ्गितव्यक्त्यभिव्यञ्जकत्वेन तादृशव्यञ्जकनैगमाऽमन्निवेशे जातिघटित लक्षणस्य जातिविशेषनिवेशावश्यकत्वे एवं दुर्ज्ञेयत्वमेव स्यादिति हेतुस्वरूपाज्ञानरूपासिद्धिवारक तया न तस्य व्यर्थविशेषणघटितत्वप्रयोजकतेत्युपादेयमेव तद्विनिवेशादनुमितिपक्षेऽपीति । द्रव्यार्थिकत्वसाक्षाद्व्याप्येति विशेषणस्य जातावनुपादाने यद्यपि प्रागन्तरनयत्वद्रव्यार्थिक त्वादिव्यापकजातीरादाय नातिव्याप्तिरत्र सद्ग्रहमिपति, तासां प्राधान्येन विशेषविषयकैक देशबोधव्यक्तिवृत्तित्वेनाऽवृत्त्यन्तेनैव वारणात्, तथापि नैगमत्वव्याप्यसामान्यमात्रविषय-कबोधगतजातिमादाय नैगमविशेषेऽतिव्याप्तिवारणायोपादेयमेवेति ।

"लौकिकसम उपचारप्रायो विस्तृतार्थो व्यवहारः" इति तत्त्वार्थभाष्यस्वारस्या-ल्लौकिकव्यवहारप्रधान उपचारबहुलो विस्तृतार्थविषयको योऽध्यवसायस्तद्वृत्तिद्रव्यार्थिक त्वव्याप्यजातिमत्त्वमिति व्यवहारनयपर्यवसितलक्षणं सिद्ध्यति । लौकिकव्यवहारप्रधान इत्यनेनर्जुसूत्रादौ नातिव्याप्तिः, तन्मते क्षणिकपदार्थस्यैवाभ्युपगमेन घटादिपदार्थानां स्थैर्ये सत्येव दृश्यमानस्य तदानयनादिलौकिकप्रवृत्त्यादिव्यवहारस्यैवानुपपत्तेः, उपचारबाहु ल्यञ्च स्वेतरनयापेक्षया निरूपणीयम्, नातः सङ्ग्रह नैगमे नयेऽपि च स्वस्वसिद्धान्तोऽनिवो पचारसद्भावेऽप्यतिव्याप्तिः । उपचारबाहुल्यस्यास्मिन्नेव नये सद्भावात् । नानाव्यक्तिक शब्दसङ्केतग्रहणप्रवण इत्यर्थक विस्तृतार्थ इति विशेषणं नयान्तरतो व्यवहारस्य विषय वैलक्षण्यप्रदर्शनेन विविक्तानेकविशेषविषयकलौकिकव्यवहारस्वरूपावबोधार्थमुपात्तम् । उक्त लक्षणे नयत्वव्याप्यजातिनिवेशे द्रव्यार्थिकत्वजातिमादाय सङ्ग्रहादावतिव्याप्तिः स्यात्, अतस्तद्वारणाय द्रव्यार्थिकत्वव्याप्यजातिनिवेशः कृत इति । व्यवहारनयलक्षणान्तर ञ्चैवम्–व्यवहारो हि सामान्यमतद्व्यावृत्त्यात्मनैवाभ्युपगच्छति, न तु विष्वात्मनेत्यतो विष्वात्मना सामान्यानभ्युपगन्तृव्यवस्थावृत्तिस्थिरविशेषाभ्युपगमवृत्तिद्रव्यार्थिकत्वसाक्षाद् व्याप्यजातिमत्त्व व्यवहारनयत्वम्, अत्राद्यवृत्त्यन्तोपादानाच्च नैगमेऽतिव्याप्तिः, तेन नयेन विष्वात्मना सामान्याभ्युपगमात् । सङ्ग्रहत्वव्युदासस्याप्युक्तविशेषणेनैव सम्भवे स्थिरविशेषाभ्युपगमवृत्तीत्युक्तिर्जातिविशेषस्वरूपाभिव्यक्त्यर्थमेवेति, द्रव्यार्थिकत्वसाक्षाद्व्या-प्यत्वस्य जातिविशेषणस्योपादानान्नैगमत्वावान्तरस्थिरविशेषाभ्युपगममात्रवृत्तिजातिमादाय नैगमविशेषे नातिव्याप्तिः । अस्मिंल्लक्षणे व्यवहारत्वजातिमादाय सर्वव्यवहारनयस्य सङ्ग्रहो भावनीय इति । 'दव्वट्ठियपयडी सुद्धा' इत्याद्युक्त्या द्रव्यार्थिकनयप्रकृतिशुद्धा सङ्ग्रहाख्या, अशुद्धा तु सा व्यवहाराख्येति द्रव्यार्थिकस्य सङ्ग्रहव्यवहाराभ्यामेव विभाग-करणात्तत्प्रकरणकारमते नातिरिक्तो नैगमनयः, अत एव 'एव सत्त णियण्ठो' इत्यादि-गाथाव्याख्याने सप्तभङ्ग्या न कश्चिद्भङ्गो नैगमनयोत्थः प्रतिपादितः, अर्थनये सङ्ग्रह-व्यवहारर्जुसूत्रात्मकनयत्रयस्यैव ग्रहणादिति तल्लक्षणायासो निष्फल एव, एतन्मते सङ्ग्रहस्य परसङ्ग्रहापरसङ्ग्रहाभ्यां भेदद्वयमपि नास्ति, तथा चैतन्मते सङ्गृह्णाति सत्त्वेन

रूपेण सर्वं वस्तु क्रोडीकरोति एकीकरोतीति सङ्ग्रह इति व्युत्पत्तिबललभ्य सत्त्वेन रूपेण सर्वत्र स्त्वभेदग्राहिनयस्सङ्ग्रहनय इति सङ्ग्रहनयलक्षण पर्यवस्यति, व्यवहारनये हि घटोऽस्ति पटोऽस्ति कटोऽस्तीत्यादि व्यवहारस्सोऽपि स्वरूपसत्त्वयैव, न त्वतिरिक्तैकानुगतसत्तया, स्वरूपसत्ता तु घटोऽस्ति पटोऽस्तीत्यादौ घटस्स्वरूपसन् पटस्स्वरूपसन्नित्यर्थकत्वेन प्रतिव्यक्तिनियतभिन्नभिन्नरूपैवेत्येकानुगतसत्तालक्षण महासामान्य नास्त्येव, अत एव स्यादस्त्येव घटः स्यान्नास्त्येव घट इत्यादिसप्तभङ्ग्या सत्तारूपास्तित्वप्रतिपादकस्य प्रथमभङ्गस्य सङ्ग्रहमूलकत्वम्, सत्त्वाभावपर्यवसितसत्ताप्रतिपक्षरूपनास्तित्वात्मकविशेषप्रतिपादकस्य द्वितीयभङ्गस्य व्यवहारमूलकत्व सङ्गच्छते, न चैतत्स्वकल्पनामूलम् ' एव सत्त वियप्पो ' इत्यादिसम्मतिगाथा टीकायां " तत्र सामान्यग्राहिणि सङ्ग्रहे प्रथमः, विशेषग्राहिणि व्यवहारे द्वितीय इत्यादिनोक्तत्वादिति । उपपादितश्चैतन्नयोपदेशवृत्तौ यद्धर्मप्रकारक सङ्ग्रहाख्यो बोध प्रथमभङ्गफलत्वेनाभिमत' तद्धर्माभावप्रकारको व्यवहाराख्यो बोध एव द्वितीयभङ्गफलत्वेनेष्टव्य इति निरूपणेन, किन्तु द्रव्यत्वपृथिवीत्वघटत्वपटत्वादिलक्षणसत्तान्तरसामान्यमेवास्ति तत्तदवान्तरसामान्यात्मकोपादेयतावच्छेदकीभूतधर्मेणोपादेय इष्टसाधनत्वज्ञानेनोक्तधर्मावच्छिन्नोपादेयार्थविषयकप्रवृत्तेः हेयतावच्छेदकेन तत्तदवान्तरसामान्यधर्मेण हेयेऽनिष्टसाधनत्वज्ञानेनोक्तधर्मावच्छिन्नहेयार्थविषयकनिवृत्तेश्चोपेक्षणीये चोपेक्षणीयतावच्छेदकेनेष्टसाधनत्वानिष्टसाधनत्वान्यतरानवच्छेदकधर्मपर्यवसितेन तत्तदवान्तरसामान्यधर्मेणेष्टसाधनत्वानिष्टसाधनत्वाऽन्यतराभावज्ञानेन तादृशधर्मावच्छिन्नोपेक्षणीयार्थविषयकोपेक्षायाश्च भावात् । तथा चोपादेयहेयोपेक्षणीयविषयकप्रवृत्तिनिवृत्त्युपेक्षालक्षणव्यवहारसम्पादकप्रतिवस्तुवचनार्थेनिश्चयो व्यवहारनय इति व्यवहारनयस्य पर्यवसितलक्षणम् । यद्वा सत्ताभिन्नपरापरसामान्यायावदन्त्यविशेषाभ्युपगमप्रवणनयो व्यवहारनय इत्येतत्प्रकरणकृत्सूरिभगवदाशयः । इदन्त्वत्रावधेयम्, प्रतिव्यक्तिस्वरूपसत्ताऽभ्युपगमो यो व्यवहारनयस्य, स महासामान्यसत्त्वानभ्युपगमपरो ज्ञेयो न तु महासामान्यसत्त्वानभ्युपगमवद् द्रव्यत्वादिसामान्यविशेषाणामनभ्युपगमोऽपि तस्य, तथा सति द्रव्यत्वादिरूपेणास्तित्वप्रतिपादक द्रव्यतयाऽस्त्येव घट इति प्रथमभङ्गे सति स्यान्नास्त्येव घट इति द्वितीयभङ्गो यदि व्यवहारनयसमुत्थ, तदा प्रथमभङ्गो नैगमानभ्युपगन्तृसिद्धसेनमते न नैगमनयसमुत्थो, [illegible] वा केवलमहासामान्यसत्त्वाभ्युपगन्तृसङ्ग्रहाभ्युपगमप्रवणे तन्मते सङ्ग्रहनयसमुत्थ इति मूलीभूतस्य कस्यचिन्नयस्याभावाद्द्रव्यतयाऽस्त्येव घट इति प्रथमभङ्ग एव न प्रवर्तेत, तदभावे तत्प्रतिपक्षप्रतिपादको द्वितीयभङ्गोऽपि द्वितीयस्थान नाभिधातु शक्येत, अतो नैगमानभ्युपगन्तृसिद्धसेनमते महासामान्यसत्त्वमात्राभ्युपगमप्रवणत्व सङ्ग्रहस्य, तदतिरिक्तावान्तरद्रव्यत्वपृथिवीत्वादिसर्वसामान्यविशेषाभ्युपगन्तृत्व यन्नैगमगत पराभिमेत लक्षण तद्व्यवहारस्य, तथा नैगमनयाभ्युपगन्तृमते [illegible] स्य, तदप्यवश्यमभ्युपेयम्,

एवञ्च व्यवहारस्याशुद्धद्रव्यार्थिकप्रकृतिकस्याशुद्धता तदैव स्याद्यदि तस्य सङ्ग्रहविषययोग्यविधिरूपसामान्यमिश्रितस्वरूपविषयकत्वं भवेत्, तथा च शुद्धद्रव्यार्थिकसङ्ग्रहस्य शुद्धत्वाद्विशेषात्मकत्वेनाशुद्धमवान्तरसामान्यं मा नाम विषयीकरोतु तथापि तत्सङ्ग्रहविषययोग्यतावच्छेदकविधिरूपसामान्यत्वाक्रान्तत्वेन सङ्ग्रहविषययोग्यं भवति, तच्च विशेषावगाहित्वस्वभावेन व्यवहारेण विधिरूपतया विषयीकर्तुमशक्यमपि अतद्व्यावृत्तिरूपतया विषयीक्रियते, तदभिलापकश्च द्रव्यत्वादिशब्दो यादृशं तद्भवेत्तादृशं सङ्ग्रहविषययोग्यतावच्छेदकविधिरूपसामान्यत्वाक्रान्तं तदवगमयति, यदि व्यवहारनयादेशादतद्व्यावृत्तिस्वरूपतयैव तदवगमयेत्तदा सङ्ग्रहविषययोग्यविधिस्वरूपाऽविश्रमणादशुद्धतैव तदादेशकस्य व्यवहारस्य न स्यात्, अभ्युपगम्यते चाशुद्धता तस्य, न चैवमेकान्तेनाशुद्धतैव व्यवहारस्य, स्थिरान्त्यविशेषविषयकत्वेन शुद्धत्वस्यापि सम्भवात्, एवञ्च सङ्ग्रहस्यापरसङ्ग्रहप्रभेदानभ्युपगमे अपरसङ्ग्रहस्थानाभिषिक्तेनाशुद्धव्यवहारविशेषेण विधिरूपाऽजहद्द्रव्यत्वव्यावृत्तिस्वरूपेण द्रव्यत्वादिनाऽस्त्येव घट इति प्रथमो भङ्गस्सङ्ग्रहविषययोग्यतावच्छेदकविधिरूपसामान्यत्वाक्रान्ताऽतद्व्यावृत्तिविषयकव्यवहारमूलकः प्रवर्त्तते, केवलैकातद्व्यावृत्तिस्वरूपेण चान्त्यविशेषेण स्यान्नास्त्येव घट इति द्वितीयभङ्गः प्रथमभङ्गविषयधर्मप्रतिपक्षधर्मविषयकोऽन्यादृशव्यवहारमूलकः प्रवर्तेत इति द्रव्यत्वादीनां यदतद्व्यावृत्तिरूपत्वं तदेव विशेषरूपत्वं, अतद्व्यावृत्तिरूपात्मनैव द्रव्यत्वादिकं विषयीकरोति प्राधान्येन व्यवहार इति व्यवहाररूपत्वमेव मतिं सुरक्षितं भवति, विधिरूपता तत्र द्रव्यत्वादौ सती नापलपितुं योग्या, तथा सत्यशुद्धतैव तस्य न स्यादिति विधिरूपेण व्यवहरणमपि युक्तमेव, स्वरूपसत्ताभ्युपगमस्तु व्यवहारस्य महासत्ताभ्युपगमविरोधी न तु द्रव्यत्वाद्यभ्युपगमविरोधी, इत्थमभ्युपगमे न कापि शङ्का समुद्भवतीति ।

सता साम्प्रतानामर्थानामभिधानपरिज्ञानमृजुसूत्र इति तत्त्वार्थभाष्यम्, ऋजुसूत्रनयेऽतीतानागतकालावच्छिन्नार्थयोर्विनाशानुत्पत्तिभ्यामसत्त्वमेव, यदि स्यातामतीतानागतेन तर्हि मृतपुत्रिका युवतिः पुत्रमुद्दिश्य रुद्यात्, न च पुत्रार्थिनी योषित् औपयाजिकादिविशिष्टदेवतासन्निधौ विदध्यात्, रोदनादिकार्यदर्शनात्ते न स्तः, तयोरसद्रूपयोरभ्युपगमश्च कुटिल इति हेतोरतीतानागतकालभेदेनार्थभेदः, तद्भेदे च तद्वाचकशब्दोऽपि भिन्न एव, वाच्यभेदे वाचकभेदस्यावश्यम्भावात्, तज्ज्ञानमपि भिन्नमेव, न त्वेकम्, अतीतार्थावगाहित्वस्वभावानागतार्थावगाहित्वस्वभावात्मकधर्मभेदेन ज्ञानात्मकधर्मिभेदस्यापि भावात्, अत एवोक्तभाष्यस्य–' अर्थमभिधानं परिज्ञानञ्च वर्त्तमानमेव योऽध्यवसायोऽभ्युपैति स ऋजुसूत्र ' इत्यर्थस्तत्रोपाध्यायैः कृतः । अत्र यद्यपि वर्त्तमानक्षणमात्रवर्त्तिपरमार्थसदर्थशब्दपरिज्ञानाभ्युपगन्त्रध्यवसायविशेषा यावन्तस्तावदध्यवसायविशेषान्यतमत्वमृजुसूत्रत्वमित्यृजुसूत्रलक्षणं पर्यवस्यति तादृशान्यतमत्वेन सर्वर्जुसूत्रप्रकाराणां सङ्ग्रहणाच्च कुत्राप्यव्याप्त्यादिदोषः, तथाप्यस्य—

" अतीतानागताकार-कालसंस्पर्शविवर्जितम् ।
वर्तमानतया सर्वं-मृजुसूत्रेण सूत्र्यते ॥ १ ॥ इत्युक्ति
भावत्वे वर्तमानत्व-व्याप्तिधीरविशेषिता ।
ऋजुसूत्र श्रुतः सूत्रे, शब्दार्थस्तु विशेषितः ॥ २९ ॥ "

इति नयोपदेशपद्योक्तिमनुसृत्य अविशेषिताऽतीतानागतसम्बन्धाभावव्याप्यभावत्वा-व्यवभावविशेषा ये ये तद्‌ग्राहकत्वमृजुसूत्रत्वमित्यृजुसूत्रानुगतलक्षणमित्यप्यत्र तात्पर्यमव-सेयमिति " पच्चुप्पन्नग्गाही उज्जुसुओ णयविही मुणेयव्वो " इत्यनुयोगद्वारसूत्रतात्पर्य-मप्यत्रैव बोद्धव्यमिति । अत्राविशेषितपदोपादानाद्विशेषितविशेषितनरविशेषितत्वमार्थग्राहिणि शब्दादिनयत्रये नातिव्याप्तिः, अतीतेत्यादिविशेषणाच्च नैगमादावव्याप्तिः, द्रव्या-र्थिकत्वपर्यायार्थिकत्वजातिपक्षे त्वविशेषितातीतानागतसम्बन्धाभावव्याप्यभावत्वाव्यवभाव-वृत्तिपर्यायार्थिकत्वव्याप्यजातिमत्त्वं ऋजुसूत्रत्वमिति लक्षणं महावादिसिद्धसेनानुसारिपक्षे, पर्याया-र्थिकत्वव्याप्यर्जुसूत्रत्वजातिमादाय ऋजुसूत्रवर्तिनसौगतनिकायाभ्युपगता यावन्तः प्रकाराः क्षणिकत्वाभ्युपगमोपपादनपराः एकान्तत्वाऽऽकलिताख्यानास्तेषु सर्वप्रकारेषु लक्षणसमन्वयः । ऋजुसूत्रनयो द्रव्यार्थिकनयभेदात्मक एवेत्यभ्युपगन्तृसिद्धान्तानुसारिपक्षे तु अतीतानाग-तसम्बन्धाभावव्याप्यभावत्वाव्यवभावमात्रवृत्तिद्रव्यार्थिकत्वव्याप्यजातिमत्त्वमित्येवमृजुसूत्रलक्षणं कर्तव्यम्, तत्र शब्दादिनयत्रये द्रव्यार्थिकत्वव्याप्यजात्यभावादेव नातिव्याप्तिरिति तन्नि-वारणायाऽविशेषितपदोपादानं न कर्तव्यमिति दिक् ।

" नामादिषु प्रसिद्धपूर्वाच्छब्दादर्थे प्रत्ययः साम्प्रतः " इति तत्त्वार्थभाष्य-निष्कर्षलभ्यं भावमात्रप्रमितशक्तिकशब्दजन्यं ज्ञानमिति साम्प्रतापरनामकशब्दनयलक्षणम्, अन्यथा चात्र नयत्वसाक्षाद्व्याप्यसामान्यावच्छिन्ना ग्राह्या, अत्र साक्षात्पदोपादानान्न निक्षे-प्त्रनैगमस्य भावमात्रग्राहिणि तस्मिन्न नातिव्याप्तिः, नैगमावान्तरभेदे उक्तशब्दजन्यताया नैगमत्वव्याप्यजात्यवच्छिन्नत्वेन नयत्वसाक्षाद्व्याप्यनैगमत्वजात्यवच्छिन्नत्वाभावात्, वृत्ति-कृता च निरुक्तशब्दत्वेन, तत्र समभिरूढनये सञ्ज्ञाभेदेनार्थभेद इति तत्तच्छब्दत्वाव-च्छिन्नविषयकशाब्दबोधत्वावच्छिन्नं प्रति तत्तत्पदविषयकज्ञानत्वेन, एवमेवम्भूतनयेऽपि तत्तत्का-लावच्छिन्नप्रवृत्तिनिमित्तक्रियाभेदेनाप्यर्थभेद इति तत्तत्क्रियाकालविशिष्टार्थविषयकशाब्द-बोधत्वावच्छिन्नं प्रति तत्तत्क्रियाव्युत्पत्तिकतत्तत्पदज्ञानत्वेन हेतुत्वाभ्युपगमेन निरुक्त-शब्दत्वेन कारणत्वानभ्युपगमान्न तत्रातिव्याप्तिः, एतत् सर्वं विस्तरतस्तत्त्वार्थ-विवरणटीकायां कृतमिति तत एव विस्तरार्थिनाऽवसेयम्, गौरवभीत्या नेह प्रतन्यते । " इच्छइ विसेसियतरं पच्चुप्पण्णं नओ सद्दो " इति विशेषावश्यकनिर्युक्त्यनुयोगद्वारसूत्रो-क्त्यनुसारेण तु विशेषिततरर्जुसूत्राभिमतार्थग्राहिनयत्वव्याप्यपर्यायार्थिकत्वव्याप्यजातिमत्त्वं शब्द-

नयत्वमित्यनुगतशब्दनयलक्षण सिद्धयति, न च समभिरूढनयादावतिव्याप्तिः, तस्य विशेषि ततमार्थग्राहित्वात् । अत्र ऋजुसूत्रनयो लिङ्गवचनकारकादिभेदेऽप्यभिन्नमर्थमभ्युपगच्छति शब्दनयस्तु न तथा, यतस्तटस्तटीतटमित्यादिशब्दाना भिन्नान्यर्थाभिधेयानि, भिन्नलिङ्ग वृत्तित्वात् स्त्रीपुरुषनपुंसकवत्, तथा गुरुर्गुरव इत्यत्राप्यभिधेयभेद एव, भिन्नवचनवृत्तित्वात् पुरुषः पुरुषा इत्यादिवदित्येवमसौ प्रतिपद्यते । नामस्थापनाद्रव्यरूपाश्च नेन्द्राः तत्कार्या करणात् खपुष्पवत्, किन्तु भावरूप एवेन्द्र इत्यृजुसूत्रापेक्षया विशुद्धत्वाद्विशेषिततरोऽस्या भ्युपगमः, समानलिङ्गवचनानां तु बहूनामपि शब्दानामेकमभिधेयमसौ मन्यते, यथेन्द्रशक्र पुरन्दरादिशब्दानामिन्द्ररूप एकोऽभिधेयः, घटकुम्भकलशादिशब्दानाञ्च घटात्मक एकोऽभि धेयः । तथा चोक्तलक्षणस्यापि लिङ्गसङ्ख्याकारकपुरुषभेदप्रयुक्तार्थभेदाभ्युपगन्तृत्वे भति भावनिक्षेपमात्राद्यभ्युपगन्तृत्वे सति समानलिङ्गकशब्दवाच्यार्थाभेदाभ्युपगन्ता च य ऋजु सूत्राभिमतार्थग्राहकोऽभिप्रायविशेषस्तद्वृत्तिपर्यायार्थिकनयत्वव्याप्यजातिमत्त्वं शब्दनयत्व मिति पर्यवसितोऽर्थः । अत्राद्यविशेषणेनर्जुसूत्रनयातिव्याप्तिनिवृत्तेर्द्वितीय विशेषण स्वरूपो परञ्जकमेव, यद्वा द्वितीयविशेषणे मात्रपदोपादानेनर्जुसूत्रातिव्याप्तिनिराससिद्धेराद्यविशेषणं स्वरूपोपरञ्जकमेव, समानलिङ्गेत्याद्युक्तेर्न समभिरूढादावप्यतिव्याप्तिरिति ।

"वत्थूओ सकमण होइ अवत्थु नए समभिरूढे" इत्युक्तमनुयोगद्वारसूत्रे विशेषावश्यक निर्युक्तौ च, वस्तुन इन्द्रादेः सङ्क्रमणमन्यत्र शक्रादाविति दृश्यम्, भवति अवस्तु, अवस्तु भवतीत्यर्थ,ः केत्याह–नये समभिरूढे, समभिरूढमतेनेत्यर्थः । यदा इन्द्रशब्दः शक्रशब्देन सहैकार्थ उच्यते तदेन्द्रशब्दार्थपरमैश्वर्यलक्षणवस्तुनः शकनलक्षणे शक्रशब्दार्थे वस्त्वन्तरे सङ्क्रमण कृत भवति, तयोरेकत्वमापादित भवतीत्यर्थ., तच्चासम्भवित्वादवस्तु, नहि य एव परमैश्वर्यपर्यायः स एव शकनपर्यायो भवितुमर्हति, सर्वपर्यायसाङ्कर्यापत्तितोऽतिप्रसङ्गात्, तथा च वस्तुनो वस्त्वन्तरसङ्क्रमणाभाव एव लक्षण समभिरूढनयमम्मतमित्यभिप्रेत्य "सत्स्वर्थेष्वसङ्क्रमः समभिरूढ" इत्युक्त तत्त्वार्थभाष्ये, सत्सु वर्त्तमानेषु भावरूपेषु च घटादिष्वर्थेषु, असङ्क्रमः स्ववाचकत्वाभिमतशब्दान्तरस्यावाच्यत्व समभिरूढः, अयम्भावः– घटशब्दवाच्यः कुम्भोऽपि इन्द्रशब्दवाच्यश्शक्रोऽपि चाभिमन्यते शब्दनयः, तेन समान लिङ्गकशब्दानामेकार्थकत्वेनाभ्युपगमात्, तन्मते हि न यदेव व्युत्पत्तिनिमित्त तदेव प्रवृत्तिनिमित्त, किन्तु भिन्नमेव, तथा च समानलिङ्गकघटकुम्भादिशब्दा एकार्थवाचकाः अघटव्यावृत्तिलक्षणघटत्वात्मकैकप्रवृत्तिनिमित्तकत्वात्, ये चैकार्थवाचका न, न ते एक- प्रवृत्तिनिमित्तका घटपटादिशब्दवत् । प्रवृत्तिनिमित्तव्युत्पत्तिनिमित्तयोरैक्यमेवेत्यभ्युपगतवता समभिरूढनयेन तु विरुद्धलिङ्गादिशब्दानामिव समानलिङ्गकघटकुटकुम्भादिशब्दानामप्यर्थ भेद एवाभ्युपगतः, भिन्नव्युत्पत्तिनिमित्तकत्वात्, घटपटादिशब्दवदिति, घटादिष्वर्थेषु स्व-

वाचकत्वाऽभिमतकुम्भादिशब्दान्तरवाच्यत्वं नेति तादृशसमभिरूढलक्षणं नासङ्गतम्, तथा च व्युत्पत्तिनिमित्तभेदव्याप्यशब्दार्थभेदाभ्युपगमप्रवणो भिन्नव्युत्पत्तिनिमित्तकशब्दनिष्ठकारणताभेदप्रयुक्तभेदशालिकार्यताश्रयः शाब्दबोधो वा समभिरूढनयपर्यवसितलक्षणम् । नयः समभिरूढोऽसौ यः सत्स्वर्थेष्वसङ्क्रमः । शब्दभेदेऽर्थभेदस्य व्याप्त्यभ्युपगमश्च सः ॥ ३६ ॥ इति नयोपदेशश्लोकव्याख्यायां यत्र यत्र सञ्ज्ञाभेदस्तत्र तत्रार्थभेद इति व्याप्त्यभ्युपगमोऽसङ्क्रमपदार्थ उक्तः, तथा च सञ्ज्ञाभेदनियतार्थभेदाभ्युपगन्तृत्वं समभिरूढत्वमिति समभिरूढनयलक्षणं पर्यवस्यति । अत्र घटपटादिसञ्ज्ञाभेदेनार्थभेदाभ्युपगन्तरि नैगमनयादावतिव्याप्तिवारणाय नियतपदोपादानम्, तथा चैकस्यैव घटस्य घटकुटकुम्भकलशादिनानासञ्ज्ञाऽस्ति नैगमादिनय इति न सञ्ज्ञाभेदनियतोऽर्थभेदस्तत्रेति नातिव्याप्तिः, एवम्भूतनयोऽप्युक्तलक्षणभागिति तत्रातिव्याप्तिवारणाय तदन्यत्वे सतीति विशेषणोपादानमपि तत्र कर्त्तव्यम् । ननु यस्मिन् लक्षणेऽतिव्याप्तिस्तद्धेतुकानुमाने व्यभिचारदोष इति लक्षणेऽतिव्याप्तिवारकविशेषणमनुमितिसाधकहेतौ व्यभिचारनिवारकमेवेति लक्षणे व्यभिचारस्थलान्यत्वपर्यवसायतिव्याप्तिवारकविशेषणोपादाने न कोऽपि हेतुरसद्धेतुः स्यादिति यदि कोऽपि ब्रूयात्तदा प्रतियोगिव्यधिकरणो यस्स्वव्युत्पत्तिनिमित्ताभावस्तदभाववत्स्वलक्षणस्वप्रवृत्तिनिमित्तक्रियोपलक्षितत्वालिङ्गितार्थवाचकत्वस्य नामत्वव्यापकतयाऽभ्युपगन्तृत्वं समभिरूढत्वमित्येवं समभिरूढनयलक्षणं कर्त्तव्यम् । तेन व्युत्पत्तिनिमित्तक्रियाकालावच्छिन्नार्थवाचकत्वस्यैव नाम्न्यभ्युपगन्तरि एवम्भूतनयेऽपि नातिव्याप्तिः,उक्तलक्षणसङ्गमनञ्चैवं कर्त्तव्यम्—घटपदं तद्व्युत्पत्तिनिमित्तं घटनक्रिया, तदभावः प्रतियोगिव्यधिकरणस्सन् न घटनक्रियामकुर्वति गृहकोणादिस्थितघटात्मकेऽर्थे, प्रतियोगिभूतव्युत्पत्तिनिमित्तघटनक्रियाया घटनक्रियाकालावच्छेदेनाधिकरणे तस्मिन् तदभावस्य घटनक्रियाकरणाभावकालावच्छेदेन सत्त्वेन प्रतियोगिसमानाधिकरणत्वात्, किन्तु कटनादिक्रियां कुर्वति कटादावेव वर्त्तते, तदभाववत्त्वं घटनक्रियां कुर्वतीव घटनक्रियामकुर्वत्यपि घटात्मकेऽर्थे, तल्लक्षणस्वप्रवृत्तिनिमित्तोपलक्षितत्वालिङ्गितघटात्मकार्थवाचकत्वं व्यापकीभूतघटनामत्ववति घटनाम्नि वर्त्तते इत्येवमभ्युपगन्तृत्वं समभिरूढनये इति लक्षणसमन्वयः । तथा च तन्मते सर्वेषां शब्दानां क्रियाशब्दत्वाद् व्युत्पत्तिनिमित्तक्रियैव प्रवृत्तिनिमित्तमित्युक्तस्वरूपव्युत्पत्तिनिमित्तोपलक्षितत्वात् तदानीं न घटनक्रियां करोति किन्तु तामघटत घटिष्यते वेत्येवं यदा कदापि घटनक्रियां करोति सोऽपि घटो घट एव इत्यभ्युपगमस्समभिरूढनयस्य, एवम्भूतनयस्तु व्युत्पत्तिनिमित्तमुपलक्षणीकृत्य नामार्थं न प्रतिपद्यते किन्तु विशेषणीकृत्यैवेति घटनसमयात्प्राक् पश्चाद्वा घटो घट इति व्यपदेशं नानुमन्यते, अत एवैतन्मते घटपदजन्यतावच्छेदकं जलाहरणकर्त्तृत्वविशिष्टविषयकशाब्दबोधत्वमेव, समभिरूढनये व्युत्पत्तिनिमित्तमुपलक्षणीकृत्य बोध इत्यनयोर्नययोर्विशेष इति ।

एवम्भूतनयस्वरूपं विशेषावश्यकभाष्य एवमुक्तम्—

" एवं जह सद्दत्थो, संतो भूओ तदन्नहाऽभूओ ।
तेणेवभूयनओ, सद्दत्थपरो विसेसेण ॥ २२५१ ॥" इति ।

एव यथा 'घट चेष्टायाम्' 'पट आच्छादने' इत्यादिरूपेण शब्दार्थो व्यवस्थितः तथैव यो वर्त्तते घटादिकोऽर्थः स एव सन् भूतो विद्यमानः । 'तदन्नहाऽभूओ त्ति' यस्तु तदन्यथा शब्दार्थोल्लङ्घनेन वर्त्तते ॥ तत्त्वतो घटाद्यर्थोऽपि न भवति, किन्त्वभूतोऽविद्यमान', तत्त्वतो घटनामार्थ एव न भवति । येनैव मन्यते तेन कारणेन शब्दसमभिरूढनयाभ्यां सकाशा देवम्भूतनयो विशेषेण शब्दार्थतत्परः । अय हि घटपदव्युत्पत्त्यर्थाविष्टत्वाभावात् कुटपदार्थं न घटपदार्थमङ्गीकुरुते यथा तथा जलाहरणादिनिरहकालावच्छेदेन गृहकोणादिव्यवस्थित- घटमपि घटशब्दार्थं नाभ्युपगच्छति, अचेष्टावस्थाऽविशेषात्, किन्तु योषिन्मस्तकारूढं जला हरणादिक्रियानिमित्त घटमानमेव चेष्टमानमेव घट घटशब्दार्थं मनुते इत्येवं विशेषतः शब्दार्थतत्परोऽयमित्यर्थः । तथा चैतेन व्युत्पत्तिनिमित्तनिशिष्टार्थवाचकत्वस्य नामत्वव्या पकतयाऽभ्युपगन्तृत्व, पदानां स्वव्युत्पत्तिनिमित्तावच्छिन्नार्थबोधकत्वाऽभ्युपगन्तृत्व वा, पदवाच्यव्युत्पत्तिनिमित्तक्रियाकालव्यापकपदार्थमत्वाऽभ्युपगन्तृत्व वैवम्भूतनयत्वमित्येव म्भूतनयलक्षण लभ्यते । " वञ्जण-अत्थ-तदुभय एवंभूओ विसेसेइ " इति निर्युक्ति " व्यञ्जनार्थयोरेवभूतः " इति तत्त्वार्थभाष्यस्यानुसृत्योक्तस्य ।

" एवम्भूतस्तु सर्वत्र, व्यञ्जनार्थविशेषणः ।
राजचिह्नैर्यथा राजा, नान्यथा राजशब्दभाक् ॥ ३९ ॥ "

इति नयोपदेशश्लोकस्य व्याख्यायामुपाध्यायैः पदानां व्युत्पत्त्यर्थान्वयनियतार्थबोधक त्वाभ्युपगन्तृत्वमेवम्भूतत्वमित्येवम्भूतनयलक्षण निष्कर्षितम् । नियमश्चात्र कालतो देशतश्चेति न समभिरूढातिव्याप्तिरिति । यद्यपि विषयनिरूप्य ज्ञानमिति तत्तन्नयलक्षणवत्तत्तन्नयविषयोऽ प्यत्र व्याख्येयतयोपयुक्तस्तथापि तत्तन्नयलक्षणान्तर्गततया पृथक्तया चानेकधा विवेचित इत्यत्र ग्रन्थगौरवभीत्या ॥ नोच्यते, परन्तु प्रस्तुते उपयोगित्वात्संक्षिप्ततया सप्तनयविषयोप- दर्शकानि प्राचीनाचार्योक्तसूक्तान्युल्लिख्यन्ते । तथाहि—

" शुद्ध द्रव्य समाश्रित्य, सङ्ग्रहस्तदशुद्धितः ।
नैगमव्यवहारौ स्तां, शेषाः पर्यायमाश्रिताः ॥ १ ॥
अन्यदेव हि सामान्य-मभिन्नज्ञानकारणम् ।
विशेषोऽप्यन्य एवेति, मन्यते नैगमो नयः ॥ २ ॥
सद्रूपतानतिक्रान्त, स्वस्वभावमिदं जगत् ।
सत्तारूपतया सर्वं, सङ्गृह्णन् सङ्ग्रहो मतः ॥ ३ ॥
व्यवहारस्तु तामेव, प्रतिवस्तु व्यवस्थिता ।
तथैव दृश्यमानत्वाद्, व्यापारयति देहिनः ॥ ४ ॥

तथर्जुसूत्रनीतिः स्यात्, शुद्धपर्यायसंश्रिता।
नश्वरस्यैव भावस्य, भावात्स्थितिवियोगिनः ॥ ५ ॥
विरुद्धलिङ्गसंख्यादि,-भेदाद् भिन्नस्वभावताम्।
तस्यैव मन्यमानोऽयं, शब्दः प्रत्यवतिष्ठते ॥ ६ ॥
तथाविधस्य तस्यापि, वस्तुनः क्षणवर्तिनः।
ब्रूते समभिरूढस्तु, संज्ञाभेदेन भिन्नताम् ॥ ७ ॥
एकस्यापि ध्वनेर्वाच्यं, सदा तन्नोपपद्यते।
क्रियाभेदेन भिन्नत्वा-देवंभूतोऽभिमन्यते ॥ ८ ॥" इति ॥ ४७ ॥

ननु यदि परस्परसापेक्षाशेषनयसमूहात्मकाऽसमग्रगाम्भीर्यशालिभगवज्जिनवादनायकानेकान्तवादजैनेन्द्रागमसमुद्रबिन्दुकल्पा यत्प्रत्येकैकांशावगाह्यन्यनयनिरपेक्षैकैकनयविकल्पप्रसूता एतत्परसमयाः, अत एव तत्तद्दर्शनमूलकारणरागाद्यभावेऽपि प्रकृतिः, तस्मादाविर्भूतत्वात् पर समयात्मकतत्तद्दर्शनं विकृतिस्तर्हि किं दर्शनं किं मूलभूतनयप्रभवमित्याशङ्कानिवृत्त्यर्थमाह—

जं काविलं दरिसणं, एयं दव्वट्ठियस्स वत्तव्वं।
सुद्धोअणतणयस्स उ, परिसुद्धो पज्जवविअप्पो ॥ ४८ ॥

'जं काविलं दरिसणं' यत् कापिलं कपिलस्येदं कापिलं, कपिलर्षिणा प्रणीतं दर्शनम्, साङ्ख्यदर्शनमिति यावत् "एयं दव्वट्ठियस्स वत्तव्वं" एतद् द्रव्यार्थिकस्य वक्तव्यम्, एकान्ताशुद्धद्रव्यार्थिकनयविकल्पप्रसूतमित्यर्थः, द्रव्यार्थिकपदमत्र व्यवहारनयलक्षणाऽशुद्धद्रव्यार्थिकपरं दृष्टव्यम्। शुद्धद्रव्यार्थिकनयप्रकृतः सङ्ग्रहनयरूपाया वेदान्तदर्शनोत्पत्तिमूलाया, "दव्वट्ठियनयपयडी सुद्धा संगहपरूवणाविसओ" इत्यनेन पूर्वमुक्तत्वात्। अत एव अशुद्धस्तु द्रव्यार्थिको व्यवहारनयावलम्बी एकान्तनित्यचेतनाचेतनवस्तुद्वयप्रतिपादकसाङ्ख्यदर्शनाश्रित इति सम्मतिटीकाकारवचनमपि सङ्गच्छते, सङ्गच्छते चामुमभिप्रायमादृत्य—

"अशुद्धाद्व्यवहाराख्यात्ततोऽभूत् साङ्ख्यदर्शनम्।
चेतनाचेतनद्रव्या-नन्तपर्यायदर्शकम् ॥ १११ ॥" इति।

नयोपदेशोक्तं, तस्यायमर्थस्तत्र कृतः—ततो द्रव्यार्थिकनयात्साङ्ख्यदर्शनमभूत्, कीदृशं तत् चेतनाचेतनद्रव्यं च अनन्तपर्यायाश्चाविर्भावतिरोभावात्मकाः, तेषां दर्शकं प्रतिपादकमिति। अत एव—

"साङ्ख्यशास्त्रे च नानात्म-व्यवस्था व्यवहारकृत्।
इत्येतावत्पुरस्कृत्य, विवेकः सम्मतो वयम् ॥ ११६ ॥" इति।

नयोपदेशश्लोकव्याख्यायामेवमुक्तम्—"साङ्ख्यशास्त्रे च नानात्मना व्यवस्था प्रतिनियतजन्ममरणादिव्यवहारकृद्भवति, इत्येतावत्पुरस्कृत्यायं विवेकः सम्मतो, यद्युत व्यवहार-

" एवं जह सद्दत्थो, सतो भूओ तदन्नहाऽभूओ ।
तेणेवंभूयनओ, सद्दत्थपरो विसेसेणं ॥ २२५१ ॥" इति ।

एवं यथा 'घट चेष्टायाम्' 'पट आच्छादने' इत्यादिरूपेण शब्दार्थो व्यवस्थितः तथैव यो वर्तते घटादिकोऽर्थः स एव सन् भूतो विद्यमानः । 'तदन्नहाऽभूओ त्ति' यस्तु तदन्यथा शब्दार्थोल्लङ्घनेन वर्तते स तत्त्वतो घटाद्यर्थोऽपि न भवति, किन्त्वभूतोऽविद्यमानः, तत्त्वतो घटनामार्थ एव न भवति । येनैव मन्यते तेन कारणेन शब्दसमभिरूढनयाभ्यां सकाशादेवम्भूतनयो विशेषेण शब्दार्थतत्परः । अयं हि घटपदव्युत्पत्त्यर्थाविष्टत्वाभावात् कुटपदार्थं न घटपदार्थमङ्गीकुरुते यथा तथा जलाहरणादिविरहकालावच्छेदेन गृहकोणादिव्यवस्थित-घटमपि घटशब्दार्थं नाभ्युपगच्छति, अचेष्टावत्त्वाऽविशेषात्, किन्तु योषिन्मस्तकारूढ जलाहरणादिक्रियानिमित्त घटमानमेव चेष्टमानमेव घट घटशब्दार्थं मनुते इत्येव विशेषतः शब्दार्थतत्परोऽयमित्यर्थः । तथा चैतेन व्युत्पत्तिनिमित्तविशिष्टार्थवाचकत्वस्य नामत्वव्यापकतयाऽभ्युपगन्तृत्व, पदानां स्वव्युत्पत्तिनिमित्तावच्छिन्नाऽर्थबोधकत्वाऽभ्युपगन्तृत्व वा, पदवाच्यव्युत्पत्तिनिमित्तक्रियाकालव्यापकपदार्थसत्ताऽभ्युपगन्तृत्व चैवम्भूतनयत्वमित्येव म्भूतनयलक्षण लभ्यते । " वजण-अत्थ-तदुभय एवभूओ विसेसेइ " इति निर्युक्ति " व्यञ्जनार्थयोरेवंभूत• " इति तत्त्वार्थभाष्यस्यानुसृत्योक्तस्य ।

" एवम्भूतस्तु सर्वत्र, व्यञ्जनार्थविशेषणः ।
राजचिह्नैर्यथा राजा, नान्यदा राजशब्दभाक् ॥ ३९ ॥ "

इति नयोपदेशश्लोकस्य व्याख्यायामुपाध्यायैः पदानां व्युत्पत्त्यर्थान्वयनियतार्थबोधकत्वाभ्युपगन्तृत्वमेवम्भूतत्वमित्येवम्भूतनयलक्षण निष्कर्षितम् । नियमश्चात्र कालतो देशतश्चेति न समभिरूढातिव्याप्तिरिति । यद्यपि विषयनिरूप्य ज्ञानमिति तत्तन्नयलक्षणवत्तत्तन्नयविषयोऽप्यत्र व्याख्येयतयोपयुक्तस्तथापि तत्तन्नयलक्षणान्तर्गततया पृथक्तया चानेकधा विवेचित इत्यत्र ग्रन्थगौरवभीत्या स नोच्यते, परन्तु प्रस्तुते उपयोगित्वात्संक्षिप्ततया सप्तनयविषयोपदर्शकानि प्राचीनाचार्योक्तपद्यान्युल्लिख्यन्ते । तथाहि—

" शुद्ध द्रव्य समाश्रित्य, सङ्ग्रहस्तदशुद्धित ।
नैगमव्यवहारौ स्ता, शेषा. पर्यायमाश्रिताः ॥ १ ॥
अन्यदेव हि सामान्य-मभिन्नज्ञानकारणम् ।
विशेषोऽप्यन्य एवेति, मन्यते नैगमो नयः ॥ २ ॥
सद्रूपतानतिक्रान्त, स्वस्वभावमिद जगत् ।
सत्तारूपतया सर्वं, सङ्गृह्णन् सङ्ग्रहो मतः ॥ ३ ॥
व्यवहारस्तु तामेव, प्रतिवस्तु व्यवस्थितां ।
तथैव दृश्यमानत्वात्, व्यापारयति देहिनः ॥ ४ ॥

तथर्जुसूत्रनीतिः स्यात्, शुद्धपर्यायसंश्रिता ।
नश्वरस्यैव भावस्य, भावात्स्थितिवियोगिनः ॥ ५ ॥
विरुद्धलिङ्गसङ्ख्यादि,-भेदाद् भिन्नस्वभावताम् ।
तस्यैव मन्यमानोऽयं, शब्दः प्रत्यवतिष्ठते ॥ ६ ॥
तथाविधस्य तस्यापि, वस्तुनः क्षणवर्त्तिनः ।
ब्रूते समभिरूढस्तु, संज्ञाभेदेन भिन्नताम् ॥ ७ ॥
एकस्यापि ध्वनेर्वाच्यं, सदा तन्नोपपद्यते ।
क्रियाभेदेन भिन्नत्वा-देवंभूतोऽभिमन्यते ॥ ८ ॥" इति ॥ ४७ ॥

ननु यदि परस्परसापेक्षाशेषनयसमूहात्मकाऽसमणामीर्षशालिसकलनयवादनायकानेकान्तवादजैनेन्द्रागमसमुद्रबिन्दुकल्पा वस्त्वेकैकांशावगाह्यन्यनयनिरपेक्षैकैकनयविकल्पप्रसूता स्तावत्परसमया', अत एव तत्तद्दर्शनमूलकारणत्वात्तत्तन्नयः प्रकृतिः, तस्मादाविर्भूतत्वात् परसमयात्मकतत्तद्दर्शनं विकृतिस्तर्हि किं दर्शनं किं मूलभूतनयप्रभवमित्याशङ्कानिवृत्त्यर्थमाह—

जं काविलं दरिसणं, एयं दव्वट्ठियस्स वत्तव्वं ।
सुद्धोअणतणयस्स उ, परिसुद्धो पज्जवविअप्पो ॥ ४८ ॥

' जं काविलं दरिसणं ' यत् कापिलं कपिलस्येदं कापिलं, कपिलर्षिणा प्रणीतं दर्शनम्, साङ्ख्यदर्शनमिति यावत् " एयं दव्वट्ठियस्स वत्तव्वं " एतद् द्रव्यार्थिकस्य वक्तव्यम्, एकान्ताशुद्धद्रव्यार्थिकनयविकल्पप्रसूतमित्यर्थः, द्रव्यार्थिकपदमत्र व्यवहारनयलक्षणाऽशुद्धद्रव्यार्थिकपरं दृष्टव्यम् । शुद्धद्रव्यार्थिकनयप्रकृतेः सङ्ग्रहनयरूपाया वेदान्तदर्शनोत्पत्तिमूलायाः " दव्वट्ठियनयपयडी सुद्धा सगहपरूवणाविसओ " इत्यनेन पूर्वमुक्तत्वात् । अत एव अशुद्धस्तु द्रव्यार्थिको व्यवहारनयार्थावलम्बी एकान्तनित्यचेतनाचेतनवस्तुद्वयप्रतिपादकसाङ्ख्यदर्शनाश्रित इति सम्मतिटीकाकारवचनमपि सङ्गच्छते, सङ्गच्छते चामुमभिप्रायमादृत्य—

" अशुद्धाद्व्यवहाराख्यात्ततोऽभूत् साङ्ख्यदर्शनम् ।
चेतनाचेतनद्रव्या-नन्तपर्यायदर्शकम् ॥ १११ ॥ " इति ।

नयोपदेशोक्तं, तस्यायमर्थस्तत्र कृतः—ततो द्रव्यार्थिकनयात्साङ्ख्यदर्शनमभूत्, कीदृशं तत् चेतनश्चाचेतनद्रव्यं च अनन्तपर्यायाश्चाविर्भावतिरोभावात्मकाः, तेषां दर्शकं प्रतिपादकमिति । अत एव—

" साङ्ख्यशास्त्रे च नानात्म-व्यवस्था व्यवहारकृत् ।
इत्येतावत्पुरस्कृत्य, विवेकः सम्मता वयम् ॥ ११६ ॥ " इति ।

नयोपदेशश्लोकव्याख्यायामेवमुक्तम्—" साङ्ख्यशास्त्रे च नानात्मना व्यवस्था प्रतिनियतजन्ममरणादिव्यवहारकृद्भवति, इत्येताव...

प्रकृतिक साङ्ख्यदर्शनम्, सङ्ग्रहप्रकृतिकञ्च वेदान्तदर्शनमिति, वेदान्तप्रकृतिभूतसङ्ग्रहनये- नैकतया विषयीकृतस्यात्मनो भेदकरणेन सङ्ग्रहविषयभेदकत्वलक्षणसमन्वयाद् व्यवहार- प्रकृतिकत्वं साङ्ख्यदर्शनस्य विवक्षितमिति तात्पर्यम्, तेन सत्कार्यांशे व्यवहारप्रकृतित्वाऽ भावेऽपि न क्षतिः, आत्मन एव सकलशास्त्रप्रयोजनभागित्वेन मुख्यत्वात्, मुख्योद्देशेनैव च नयानां प्रकृतिविकृतिचिन्ताया युक्तत्वादिति भावः। निरीश्वरवादिसाङ्ख्यदर्शनस्यान्यनयान- पेक्षव्यवहारनयप्रवृत्तस्य मिथ्यात्वे च जीवातिरिक्त कर्मक्लेशाद्यपरामृष्ट पुरुषविशेषमीश्वर कपिलाननुमतमभ्युपगच्छदपि पातञ्जलदर्शनमन्यांशे समानमेव, यतस्सेश्वरसाङ्ख्यमतप्रवर्तक पतञ्जलमुनेरपि प्रधानादीनि पञ्चविंशतितत्त्वानि प्राचीनान्येव सम्मतानीति व्यवहारनयसमु द्भूत तदपि मिथ्यात्वेन व्याख्यातम्। "सुद्धोअणतणयस्स उ" शुद्धोदनतनयस्य तु, शुद्धोदनतनयबुद्धप्रणीतस्य तु बौद्धदर्शनस्य 'परिसुद्धो पज्जवविषप्पो' परिशुद्धः पर्याय- विकल्पः पर्यायविशेषः 'वत्तव्व'मित्यस्यानुकर्षणीयस्य लिङ्गव्यत्यासाद् वक्तव्यः। अय- म्भावः-बौद्धदर्शनं निरपेक्षशुद्धपर्यायास्तिकनयविकल्पजनितम्, यतस्तस्य मूलनयः पर्याया र्थिक, बौद्धदर्शनञ्च सौत्रान्तिकवैभाषिकयोगाचारमाध्यमिकभेदेन चतुर्विधम्-पर्यायार्थिक नयोऽप्यृजुसूत्रशब्दसमभिरूढैवम्भूतभेदतश्चतुर्विध इत्यतः सौत्रान्तिकाख्यबौद्धदर्शनमृजुसूत्र नयप्रसूतम्, वैभाषिकाख्यबौद्धदर्शनं शब्दनयप्रसूतम्, योगाचाराख्यबौद्धदर्शनं समभि रूढनयप्रभवम्, माध्यमिकाख्यसुगतदर्शनमेवम्भूतनयोत्थमित्यतस्सौत्रान्तिकवैभाषिकादि चतुर्विधशौद्धोदनिदर्शनस्यर्जुसूत्रादिनयचतुष्टयात्मकपर्यायार्थिकनयप्रकृतिकत्वमवसेयम्। अत एव खण्डखाद्ये वैभाषिकादिक्रमेण चतुर्विधस्यापि ताथागतमतस्यर्जुसूत्रादिनयचतुष्टयप्रकृति कत्वस्य सम्मत्यादिसिद्धत्वादि'युक्तं सङ्गच्छते। तथैवोक्तञ्च नयोपदेशेऽपि—

"ऋजुसूत्रादितः सौत्रा-न्तिकवैभाषिकौ क्रमात्।
अभुवन् सौगता योगा-चारमाध्यमिकाविति॥ १२०॥"

सौत्रान्तिकादीनां स्वरूपमेतेन काव्येन ज्ञेयम्—

"अर्थो ज्ञानसमन्वितो मतिमता वैभाषिकेणेष्यते।
प्रत्यक्षो न हि बाह्यवस्तुविसरः सौत्रान्तिकैराश्रितः॥
योगाचारमतानुगैरभिमता साकारबुद्धिः परा।
मन्यन्ते यत मध्यमाः कृतधियः स्वच्छां परां संविदम्॥ १॥" इति।

अयम्भावः-ज्ञेयज्ञानोभयं सर्वं सत्यं, किन्तु यत्सत्तत्क्षणिकमिति व्याप्तेः क्षणिकमेवेत्या- स्थाशीलसौत्रान्तिकवैभाषिकयोः क्षणिकबाह्यार्थाभ्युपगमस्समान एव, परमाद्यस्य मते ग्राह्य- ग्राहकयोर्भिन्नक्षणे निष्पत्तिः, ज्ञानज्ञेयस्वलक्षणयोर्विषयविषयिभावाभावेऽपि प्रतिकर्मव्यव स्था ज्ञानस्य प्रतिनियततत्तदर्थाकारस्वलिङ्गकानुमानाद्भवति यदाकारं ज्ञानं तेन तत्सिद्धिः

रिति व्याप्तेः, अत एवैतन्मतेऽनुमानादर्थसिद्धिः, न तु प्रत्यक्षत इति साकारविज्ञानवादस्तस्य। द्वितीयस्य मते ज्ञानज्ञेययोरेकक्षण एवोत्पत्तिः, प्रतिनियततत्तदर्थोत्पादकसामग्रीप्रभवत्वादेव ज्ञानस्य प्रतिकर्मव्यवस्थेति निराकारविज्ञानवादस्तस्य। ज्ञानज्ञेययोस्सहोपलम्भनियमाद् विज्ञानमात्राभ्युपगमपरस्य तृतीययोगाचारस्य मते तु बाह्यं नास्त्येव, योऽयं व्यवहारो भूत भौतिकाद्याश्रयः स सर्वः सांवृतः, न परमार्थः, ज्ञानस्य तु स्वात्मैव तत्तदाकारो विषयः, ज्ञानज्ञेययोस्तादात्म्यमेव सम्बन्धः, आकारप्रतिनियमोऽपि पूर्वपूर्वविज्ञानवैचित्र्योद्भावित वासनाविशेषपरिपाकतः, ततो विज्ञानमेव पूर्वपूर्ववासनावैचित्र्यात्स्वाभिन्ननीलपीताद्याकार मवभासते, अतो न बाह्योऽर्थः परमार्थः। उक्तञ्च—

"बाह्यो न विद्यते ह्यर्थो, यथा बालैर्विकल्प्यते।
वासनालुण्ठितं चित्त-मर्थाकारं प्रवर्त्तते॥ १॥" इति।

तस्मात् अयं नीलं इत्यादिजाग्रद्विज्ञानं स्वाप्नविज्ञानवत्स्वावभासमात्रम्, बहिर्वदवभासस्तु वासनाविपर्ययकृतो भ्रम एव, ननु अनेनेदमुक्तं भवति-विज्ञानं ग्राहकान्तरनिरपेक्षं ग्राह्यान्तरनिरपेक्षं च स्वात्मानं स्वस्मादभिन्ननीलाद्याकारञ्च गृह्णातीति, इदञ्चानुपपन्नम्—एकस्यैव कर्तृकर्मक्रियात्मकतानुपपत्तेरिति चेत्, सत्यम्, न वयमात्मसंवेदनम् ग्राह्यग्राहकभावलक्षणं ब्रूमः, तद्दृष्युवर्ति, किन्तु स्वप्रत्ययेभ्यो जडभिन्नत्वेन रूपेणास्य प्रकाशात्मतयोत्पत्तिरेव स्वसंवेदनम्। तदुक्तं तत्त्वसङ्ग्रहे—

"विज्ञानं जडरूपेभ्यो, व्यावृत्तमुपजायते।
इयमेवात्मसंवित्ति-रस्य याऽजडरूपता॥ १॥
क्रियाकारकभावेन, न स्वसंवित्तिरस्य तु।
एकस्यानंशरूपस्य, त्रैरूप्यानुपपत्तितः॥ २॥
तदस्य बोधरूपत्वाद्, युक्तं तावत्स्ववेदनम्।
परस्य त्वर्थरूपस्य, तेन संवेदनं कथम्?॥ ३॥" इति।

सोऽयं बाह्यनिरपेक्षः क्षणिकसाकारवादस्तस्य। सर्वशून्यतावादिमाध्यमिकमते तु—

"न सन्नासन्न सदसत्, न चाप्यनुभयात्मकम्।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं, तत्त्वं माध्यमिका जगुः॥ १॥"

इत्युक्तेर्ज्ञानस्यापि विचारत उपप्लुतत्वात्तदपि सदसदादिचतुष्कोटिविनिर्मुक्तमेव तत्त्वम्, यतस्सर्वभावाना शून्यतेति गीयते, सर्वशून्यता पदार्थ एव परमं निर्वाणम्, हेयोपादेयतत्साधनविरहे निषिद्धमयविहितरागादिविरहात्, तन्मते तत्त्वविचारकुशलैर्विचार्यमाणाः सर्व एव भावा निस्स्वभावा अविद्यातिमिरोपहतमतिनयनानां बालकानां भासमानाः

कर्त्ता कर्म, गन्ता गम्य, हेतु कार्यं, दृष्टा दृश्यमिति परस्परमापेक्षतामात्रेण प्रसिद्धिमुपगता गन्धर्वनगरायन्ते । उक्तञ्च—

" बुद्ध्या विविच्यमानाना, स्वभावो नावधार्यते ।
अतो निरभिलप्यास्ते, निस्स्वभावाश्च कीर्तिताः ॥ १ ॥

इद वस्तुपलायात, यद्वदन्ति विपश्चितः ।
यथा यथाऽर्थाश्चिन्त्यन्ते, विशीर्यन्ते तथा तथा ॥ २ ॥" इति ।

यद्यप्ययं स्कन्धायतनधातुविभेदः प्रदर्श्यते नाम तथापि सांवृत एवायम्, संवृत्या—आवरणेन मायया कल्पितोऽय भेदव्यवहार' । उक्तञ्च—

" फेनपिण्डोपम रूप, वेदना बुद्बुदोपमा ।
मरीचिसदृशी सज्ञा, सस्काराः कदलीनिभाः ॥ १ ॥
मायोपम च विज्ञान-मुक्तमादित्यबन्धुना ॥ " इति ।

अन्यत् सर्वं तद्ग्रन्थेभ्योऽवसेयम् । उक्तबौद्धमतचतुष्टयनिरासस्तु प्रागेव विहित इत्यधिक ग्रन्थगौरवभीत्या नोच्यते, नन्वेव परस्परनिरपेक्षैकैकनयावलम्बिनोः साङ्ख्यसौगतमतयो मिथ्यात्वे द्रव्यार्थिकनयविषयं सामान्य पर्यायार्थिकनयविषय विशेषमभ्युपगच्छतो वैशेषिकदर्शनस्य द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयद्वयावलम्बित्वेन सम्यक्त्व स्यादित्याशङ्क्य तन्निषेधार्थमाह–

दो हि वि णएहि णीय, सत्थमुलूएण तह वि मिच्छत्त ।
ज सविसयप्पहाण-त्तणेण अण्णोण्णनिरवेक्खा ॥ ४९ ॥

'दोहि वि णएहि' द्वाभ्यामपि द्रव्यास्तिनय-पर्यायास्तिकनयाभ्यां, 'णीय सत्थमुलूएण' नीत पृथग्व्यवस्थापित द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाभावात्मकसप्तपदार्थप्ररूपक शास्त्रमुलूकेन वैशेषिकदर्शनाद्यप्रवर्त्तकेन 'तह वि मिच्छत्त' तथापि मिथ्यात्वम्, एकान्तवादिना तेन प्रवर्त्तित तन्मिथ्यारूपमेव, तत्र हेतुप्रदर्शनायोत्तरार्द्धमाह–ज यत् यस्मात् ताविति शेष', तौ वैशेषिकदर्शनप्रवर्त्तकतया मूलभूतौ द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयौ "सविसयप्पहाणत्तणेण अण्णोण्णनिरवेक्खा" स्वविषयप्रधानत्वेन सावधारणस्वविषयावगाहित्वेन, अन्योन्यनिरपेक्षौ स्वस्वकल्पनाशिल्पिविरचितकुयुक्तिभिरितराशापलापिनौ, जैनाभिमतौ तु तौ स्याच्छब्दलाञ्छितत्वेन परस्परमापेक्षत्वाच्च मिथ्यारूपौ इत्युक्तमर्थतो ऽनेकान्तव्यवस्थायां विशेषावश्यकभाष्ये उक्तगाथाटीकायां नयनिवेचने चेति । तथा च वैशेषिकदर्शन मिथ्या मिथो निरपेक्षद्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयविषयपरस्परनिरिक्तसामान्यविशेषोभयात्मकैकान्ततत्त्वप्रतिपादकत्वात् यदेकान्ततत्त्वप्रतिपादक तन्मिथ्यारूपम्, यथा साङ्ख्यादिदर्शनम्, एकान्ततत्त्वप्रतिपादकञ्च वैशेषिकदर्शनमिति तदपि मिथ्यारूपम् । यद्वा नन्वेव नयान्तरनिरपेक्षैकैकनयावलम्बिनोः साङ्ख्यसौगतमतयोर्मिथ्यात्वे सन्नद्दनयव्यवहार

नयद्वयविषयसामान्यविशेषोभयमभ्युपगच्छतो वैशेषिकदर्शनस्य सङ्ग्रहव्यवहारनयोभयाऽवलम्बित्वेन सम्यक्त्वं स्यादित्याशङ्कानिवृत्त्यर्थमाह—'दोहि वि नएहि णीअं' इत्यादि।

"दोहि वि णएहिं" द्वाभ्यामपि सामान्यविशेषग्राहिभ्यां सङ्ग्रहव्यवहाराभ्यां नयाभ्यां "णीयं सत्थं" पृथग्व्यवस्थापितं शास्त्रं द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाभावाः सप्त पदार्था इति सप्तपदार्थप्रतिपादकं, केनेत्यत आह—'उलूएण' उलूकेन वैशेषिकदर्शनाद्यप्रवर्तकेन, तत्किं प्रामाणिकं न वेत्याशङ्कानिवृत्त्यर्थमाह—'तह वि मिच्छत्तं' तथापि मिथ्यात्वम्, एकान्तवादिना तेन प्रवर्तितं तन्मिथ्यारूपमेव, तत्रैव हेतूपदर्शनायोत्तरार्द्धमाह—जं यत् यस्मात् 'सविसयप्पहाणत्तणेण अण्णोण्णनिरवेक्खा' स्वविषयप्रधानत्वेन सामान्यं विशेषेभ्यो भिन्नमेव अनुगतबुद्धिहेतुत्वात्, विशेषा अपि सामान्याद्भिन्ना एव व्यावृत्तबुद्धिहेतुत्वात्, एवमाश्रयादपि सामान्यं भिन्नमेव, अन्यथा व्यक्तिवदनुगतत्वानुपपत्तिस्स्यादित्येवं स्वमताग्रहेण सावधारणस्वविषयावगाहित्वेन अन्योन्यनिरपेक्षात्, अस्य प्रयोगस्य मानप्रधानत्वादन्योन्यनिरपेक्षत्वादित्यर्थः, एकान्ततः परस्परविविक्तसामान्यविशेषोभयप्रतिपादकत्वादिति भावः। उक्तञ्च नयोपदेशे "द्वाभ्यां नयाभ्यामुन्नीतमपि शास्त्रं कणाशिना। अन्योन्यनिरपेक्षत्वान्मिथ्यात्वं स्वमताग्रहात्॥ ११८॥" इति।

न हि नयद्वयावलम्बनमेव शास्त्रस्य सम्यक्त्वप्रयोजकम्, किन्तु यथास्थाने तद्विनियोजनम्, तच्च यद्यपि सामान्यग्राहकसङ्ग्रहनयाभिप्रायेणाद्यभङ्गः प्रवर्तते, विशेषाभ्युपगन्तृव्यवहारनयप्रयुक्तश्च द्वितीयभङ्ग इत्येवं भङ्गद्वयं प्रधानीभूतसङ्ग्रहव्यवहारैकैकनयप्रभवम्, तथापि तद्भिन्नपरस्परसाकाङ्क्षस्याद्वादलाञ्छिततृतीयादिभङ्गविवेचने तृतीयभङ्ग ऋजुसूत्राधीनप्रवृत्तिक एव, चतुर्थभङ्गश्च सङ्ग्रहव्यवहाराधीनप्रवृत्तिकः, पञ्चमः सङ्ग्रहर्जुसूत्राभिप्रायेण प्रवृत्तः, षष्ठो व्यवहारर्जुसूत्राधीनप्रवृत्तिकः, सप्तमश्च सङ्ग्रहव्यवहारर्जुसूत्रनयत्रयाश्रितः, तत्राद्यत्रिभङ्गा एकनयनिष्पन्ना, चतुर्थादिभङ्गा अन्योन्यसम्बद्धनयद्वयत्रयापेक्षका भवन्तीत्येवं रूपे तात्पर्ये सत्येव सम्पद्यते, तदेव सम्यक्त्वप्रयोजकम्, एकतरस्यापि भङ्गस्याऽतात्पर्ये सिद्धान्तविराधनाया अपरिहारात्। परस्परसापेक्षतत्तन्नयविनियुक्तमिथःसाकाङ्क्षस्यात्पदघटितसप्तभङ्गात्मकमहावाक्यस्यैव सप्तविधधर्मप्रकारकैकधर्मिविशेष्यकसमूहालम्बनाखण्डबोधजनकत्वेन पूर्णोत्तररूपत्वात्। अनन्तधर्माध्यासितवस्तु यावद्धर्मैर्जिज्ञासितं तावद्धर्माभिधान एव वाक्यस्य निराकाङ्क्षताभावात्। यच्च वक्त्रा क्वचिद्भङ्गद्वयमात्रप्रतिपादनं विधीयते तत्तु स्याद्वादव्युत्पन्नपुरुषापेक्षयैवेति प्रतीहि। तत्रापि हि वक्तुस्तद्भिन्नभङ्गविवेचने तात्पर्यमस्त्येव, स्याद्वादाव्युत्पन्नश्रोतृणां भङ्गद्वयप्रयोगमात्रेण न सप्तधर्मावगतिरिति तदर्थं तान् प्रति सप्तविधभङ्गप्रतिपादनमावश्यकमेव। तथैकैकस्मिन् वस्तुनि परस्परसापेक्षसामान्य[illegible]ध्यासिते एकैकं पर्यायमाश्रित्य विधिनिषेध-

प्रकाराभ्यां ये सप्तभङ्गाः प्रतिपर्याय प्रतिपाद्यपर्यनुयोगसत्काधीनसप्तविधनियततज्जिज्ञासा-प्रयुक्ततत्सन्देहसत्काधीनास्तत्प्रतिपाद्यसप्तविधधर्माभ्युपगमे सत्येव सम्भवति, सैषा पूर्वोत्तर रूपा प्राक्प्रदर्शितस्वरूपा सप्तभङ्गीप्ररूपणा स्याद्वादनियन्त्रिता स्वसमयार्थप्रज्ञापना, अर्हद्भा पितकथञ्चित्सामान्यविशेषात्मकयथावस्थितवस्तुतत्त्वप्रतिपादकत्वात् यन्नैवं तन्नैवम्, यथैका-न्तवचद्दर्शनप्रज्ञापना, तदिदैकान्तभिन्नसामान्यविशेषप्रतिपादक वैशेषिकदर्शन तत्समानत न्त्रतान्नैयायिकदर्शनञ्च परस्परनिरपेक्षसद्ग्रहव्यवहारनयद्वयावलम्ब्यपि न यथोचिततद्वि-नियोगकारीति न सम्यक्त्वप्रयोजकम्, अत एव मिथ्यारूप तदुभयमिति सिद्धमिति। वैशेषिकदर्शनस्य सङ्ग्रहव्यवहारप्रकृतिकत्वे च नैगमनयो न कस्यापि दर्शनस्य प्रवर्त्तको यतस्सामान्यग्रहाय प्रवृत्तस्य तस्य सङ्ग्रह एव विशेषग्रहाय च प्रवृत्तस्य व्यवहारनय एवा न्तर्भाव इति तदुभयभिन्नस्य सङ्ग्रहव्यवहारविषयातिरिक्तद्विषयाऽसिद्धेस्स्वात्मानमेवालभ मानस्य तस्य न भिन्नदर्शनप्रकृतित्वमभिधातु युज्यत इत्यय प्रवचनोपनिषद्विदां श्रीसिद्ध-सेनदिवाकराणां पक्षः। अत एव नयोपदेशेऽपि—

"हेतुर्मतस्य कस्यापि, शुद्धाशुद्धो न नैगमः।
अन्तर्भावो यतस्तस्य, सङ्ग्रहव्यवहारयोः ॥११७॥" इत्युक्तम् ॥

येषां पूज्यश्रीमल्लवादिदेवक्षमाश्रमणाद्याचार्याणां तु मते पृथक् नैगमनयो विद्यते तन्मतेन नैगमनयप्रकृतिकं वैशेषिकदर्शनम्। अत एवानेकान्तव्यवस्थायां—

"दर्शितेय यथा शास्त्रे, नैगमस्य नयस्य दिक्।
कणाददृष्टिहेतुश्श्रीयशोविजयवाचकैः ॥ १ ॥"

स्याद्वादरत्नाकरे च सप्तमपरिच्छेदे द्वादशसूत्रटीकायां "नैयायिकवैशेषिकयोर्दर्शन चैतदाभासतया ज्ञेयम्" इत्युक्त सङ्गच्छत इति। नैगमनयस्य चान्यनयनिरपेक्षस्य मिथ्या ज्ञानरूपतया तत्प्रकृतिकवैशेषिकदर्शनस्य तत्समानतन्त्रनैयायिकदर्शनस्यापि च तथात्व-मवसेयमिति।

ज सविसयप्पहाणत्तणेण, अण्णुण्णनिरवेक्खं।

इत्यपि शास्त्रवार्तासमुच्चये धर्मपरीक्षायाञ्च पाठः–तत्रोत्तरार्द्धेन हेतुमाह–'ज' इत्यादि, यस्मात् स्वविषयप्रधानत्वेन अन्योन्यनिरपेक्ष अन्योन्यनिरपेक्षोभयनयाश्रित तत्, अन्योन्य-निरपेक्षनयाश्रितत्वस्य च मिथ्यात्वादिनाऽविनाभूतत्वादित्यर्थः। एव "सदेव सौम्य इदमग्र आसीत् एकमेवाऽद्वितीयम्" ॥ १ ॥ "स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो" ॥ २ ॥ "नेह नानास्ति किञ्चन" ॥ ३ ॥ इत्यादि श्रुत्या सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्मैव सत्, तदन्या-देशनगतो मिथ्यात्वमेव, घटपटादिरूपजगतस्सत्ता नास्त्येव, यतो ब्रह्मैव तेन तेन पदार्थात्मनाऽवभासते, तथा चायं सर्प इव माला इद वस्त्रमित्यादाविद स्वरूपमनुगामि

तथा घटस्सन् पटस्सन् मठस्सन्नित्यादौ सर्वत्र प्रख्यातसत्त्वरूपमनुगामि, अतो ब्रह्मरूपेण सर्वस्यैकत्वमिति सद्ग्रहनयमूलकस्य वेदान्तदर्शनस्य, एवं—

> "अनादिनिधनं ब्रह्म, शब्दतत्त्वं यदक्षरम् ।
> विवर्त्ततेऽर्थभावेन, प्रक्रिया जगतो यतः ॥ १ ॥"

इत्युक्तेः सर्वेषां शब्दानां सर्वेषां चार्थानां प्रकृतिः शब्दस्सन्मात्र प्रणवस्वरूप ब्रह्मैवेति शब्दसन्मात्रस्वरूपब्रह्मवादस्य च भर्तृहरिणा स्वीकृतस्य शब्दार्थयोरभेद एव सम्बन्ध इति वैयाकरणाभ्युपगममूलकस्य शब्दब्रह्मत्वेन सर्वस्यैकत्वेनाभ्युपगमात् सद्ग्रहनयप्रकृतिकस्य, तथा शब्दस्यार्थेन सह वाच्यवाचकभावलक्षणस्सम्बन्धः, स च सम्बन्धो नित्य एव, "औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः" (मीमां० १. १. ५.) इति मीमांसकसूत्रे औत्पत्तिक इत्यस्य विरुद्धलक्षणया नित्य इत्यर्थकत्वेन व्याख्यानादित्येव प्रतिपादकस्या शुद्धद्रव्यार्थिकप्रकृतिव्यवहारनयप्रसूतस्य मीमांसकादिदर्शनस्यैकान्तैकैकनयावलम्बित्वा न्मिथ्यात्वमवसेयमिति दिक् । नन्वनेकान्तवादिनामिवैकान्तनयवादिनामपि घटत्व-विशिष्टे घटे घटोऽयं पटत्वविशिष्टे पटे पटोऽयं तद्गतरूपादौ चेदं रूपम् अयं रस इत्येवमेव प्रत्यक्षज्ञानं भवतीति तज्ज्ञानस्य मिथ्यात्वे किं बीजमिति चेत्, उच्यते-परमार्थवृत्त्या घटे घटत्वधर्मवत् पटे च पटत्वधर्मवत् रूपे च रूपत्वधर्मवत्तदितरानन्तधर्मसद्भावेऽप्येकान्त नयवासनासंवलिततयैकान्तवादिनां घटत्वमात्रस्य पटत्वमात्रस्यैकस्यैव धर्मस्य ग्राहकं घटो ऽयमिति पटोऽयमिति प्रत्यक्षात्मकं यज्ज्ञानं समुत्पद्यते तन्मिथ्याज्ञानमेव, एकान्तधर्मा भाववति घटादिवस्तुन्येकान्तधर्मावगाहित्वेनैकान्तनयात्मकत्वात्, यतो घटस्यापि पटस्यापि तद्गतरूपादेश्चाप्यनेकान्तात्मकतयाऽनन्तस्वपर्यायाणां साक्षात्सम्बन्धेन परपर्यायाणां च स्वाभावत्वरूपपरम्परासम्बन्धेन परमार्थवृत्त्या तत्र सद्भावेऽपि मिथ्यात्वदोषबलात्तज्ज्ञाना भावेन तन्निराकरणपूर्वकस्त्वेकदेशमात्रग्राहिमिथ्यानयजनितवासनादोषप्रसव सर्वथा घट एवाऽयं पट एवाऽयं, इदं रूपमेवेत्येवमेकनयगोचरघटत्वपटत्वादिप्रतिनियतैकधर्मवत्स्वलक्षणै-कान्ततत्त्वग्राहित्वेन तज्ज्ञानं भ्रान्तमेव, एकस्मिन्नपि कलानिधौ तिमिरादिदोषबलाद् भ्रान्तद्वित्वप्रत्ययवत् । अयम्भावः—मिथ्यादृष्टेर्यद्घटे घट एवायं पटे पट एवायमित्याद्याकार-मेकान्तज्ञानं तत् तद्वति तत्प्रकारकत्वाद् व्यवहारदृष्ट्या प्रामाण्यकमप्यवधारणेन घटत्व-पटत्वाद्यन्यानन्तधर्माणां सतामपि प्रतिषेधकरणाच्च निश्चयदृष्ट्या प्रामाण्यकम्—अनेकान्त-वासनोपनीतानेकान्तविषयकज्ञानस्यैव स्यादस्त्येव घट इत्याकारकस्य सर्वनयविषयता-व्यापकविषयताकत्वेन प्रामाण्याभ्युपगमादिति मिथ्यादृष्टेर्ज्ञानमज्ञानमेव, सदसतोः कथञ्चिद्भावेनानवगाहित्वादिति, अत एव तद्भवबीजमिति गीयते त्रिभुवनगुरूपदिष्टानेका न्तात्मकवस्तुतत्त्वज्ञैः, स्याद्वादिनां तु जिनेन्द्रभगवन्मुखारविन्दविनिर्गतस्याद्वादस्य

पदार्थत्वव्यापकत्वेन ज्ञानादनेकान्ततत्त्वविषयकसुदृढवासनावासिततया स्वद्रव्यक्षेत्रकाल भावरूपेण घटोऽयं पटोऽयं न तु परद्रव्यक्षेत्रकालभावरूपेणापीति कथञ्चिद् घटोऽयं कथञ्चि त्पटोऽयमित्येव घटे पटे च कथञ्चिद्घटत्वपटत्वप्रत्यक्षज्ञान समुत्पद्यते, तत्रानन्तधर्मात्मकत्वद्योतककथञ्चित्पदेनैवानुवृत्तिव्यावृत्तिधर्मद्वारा सर्वधर्मज्ञानमिति तज्ज्ञानं सम्यग्ज्ञानम्, प्रमाणज्ञानमिति यावत्, यद्यप्यनुवृत्तिव्यावृत्तिद्वारा सर्वस्य सर्वात्मकस्यानन्तपर्यायस्य वस्तुनः प्रयोजनादिवशादेकपर्यायप्रकारेण ग्रहणेऽपि " जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ " इत्याद्युक्तेः सर्वमनन्तपर्यायात्मकमित्याद्यागमार्थश्रद्धानोपनीतसर्वात्मकत्वानन्तपर्यायात्मकत्वावगाहित्वं सम्यग्दृष्टिज्ञाने सर्वत्रैवेति तदेव प्रमाणम्, अत एव मोक्षौपयिकं तदेव ज्ञानमिति तत्त्वज्ञैर्गीयते, अत एव परदर्शनाभिमतेऽर्थे स्वात्पदोपादानमात्रेण तत्तत्परदर्शनस्यापि स्वदर्शनरूपतया तत्रापि स्वदर्शनत्वबुद्धिरिति तत्तद्दर्शनीयेषु स्वीयत्वावधारणाऽऽवति मोक्षौपयिकी साम्यसम्पत्तिः स्याद्वादिनां कर्मदोषादज्ञाननिमग्नं परं पश्यताम्। परेषां तु स्वपक्षसिद्धावन्योन्यं सुन्दोपसुन्दन्यायेन कलहायमानानां यावज्जीवमपि वस्तुनिरूपणानुपरमेन द्वेषानुच्छेदाद् नास्त्येव साम्यवार्ताऽपीति समारहेतुत्वात्तेषां ज्ञानमप्यज्ञानमिति परिभाषन्ते परमप्रावचनिकाः, ततो मिथ्यादर्शनगरलव्यथानिवृत्तये स्याद्वादामृतपानमेव विधेयं विवेकिनेति परमरहस्यम् ॥ ४९ ॥

अन्योन्यनिरपेक्षनयाश्रितस्य मिथ्यात्वाऽविनाभूतत्वमेवेत्याह—

जे संतवायदोसे, सक्कोलूया भणंति संखाणं ।
संखा य असव्वाए, तेसिं सव्वे वि ते सच्चा ॥ ५० ॥

'जे संतवायदोसे' यान् सद्वाददोषान्, एकान्तसद्वादपक्षे यान् दोषान् 'संखाण' साङ्ख्यानां प्रकृतिमहदादिपञ्चविंशतितत्त्वप्रतिपादककपिलमुनिप्रणीतसाङ्ख्यदर्शनाश्रितानां 'सक्कोलूया भणन्ति' शाक्यौलूक्या भणन्ति बुद्धकणभुक्प्रणीतदर्शनभक्ताः प्रतिपादयन्ति, 'संखा य असव्वाए' साङ्ख्याश्चासद्वादे, शाक्यौलूक्याभ्युपगते असत्कार्यवादे यान् दोषान् साङ्ख्याश्च भणन्ति 'तेसिं सव्वे वि ते सच्चा' तेषां पूर्वोक्तवादिनां सर्वेऽपि ते दोषाः सत्याः, तत्तच्छास्त्रोक्तैकान्तविषयाऽसत्यत्वज्ञापकाः, तत्तच्छास्त्रोक्तैकान्ततत्त्वविषयकज्ञानाऽप्रामाण्य ज्ञानोत्पादकत्वात्तेषाम्, अत एव सदोषतत्त्वप्रतिपादकत्वादेकान्तनयप्रणीतशास्त्रं सर्वं मिथ्यारूपमिति सिद्धम्। अयम्भावः—साङ्ख्याभ्युपगतसत्कार्यवादे असत्कार्यवादिन एव दोषान् प्रतिपादयन्ति, सत्पक्षे कार्यस्य कारणात्मकत्वेनेदमस्य कारणमिदमस्य कार्यमित्यसङ्कीर्णव्यवहारविलयप्रसङ्गस्स्यात्, यतो न हि यद् यतोऽव्यतिरिक्तं तत्तस्य कार्यं कारणं वेति व्यपदेष्टुं शक्यम्, कार्यकारणयोर्भिन्नलक्षणत्वात्, अथोच्येत न सर्वात्मना कारणे कार्यस्य सत्त्वमभ्युपगतं, येनोक्तदोषस्स्यात्, किन्तु शक्त्या, नाभिव्यक्त्यापीति, येन यस्याभिव्यक्तिर्जायते तत्तस्य

कार्यमिति नोक्तदोष इति चेत्, तर्ह्यनायासेनैवासत्पक्षसिद्धिः, पूर्वमसत्या अप्यभिव्यक्तेरुत्पादाभ्युपगमात्। अयञ्च सत्कार्यनाशः प्रागेव निरस्त इति किं पिष्टपेषणेन ?। एतेन प्रधानस्य महद्रूपेण महदादेश्चाहङ्कारादिरूपेण परिणतत्वात्, कारणमेव कार्याकारेण परिणमत इति परिणामवादोऽपि निरस्तः, कारणं कार्याकारेण किं पूर्वस्वरूपं परिहाय परिणमति उत अन्यथेति कक्षाद्वयम्, तत्राद्याया पूर्वस्वभावो निरुद्धः, अन्यस्वभावश्चोत्पन्न इति स्वरूपहानिप्रसक्तेर्नित्यैकस्वरूपतानिरोधः। द्वितीयकक्षायां चाऽस्याद्वयसाङ्कर्यप्रसङ्ग'। किञ्च कार्याकारोऽपि कारणव्यापारात् पूर्वं सन्नसन् वा किं वा सदसदात्मकः, आद्ये कारणव्यापारवैफल्यप्रसङ्गः, द्वितीये च शशशृङ्गादिवदनुत्पत्तिप्रसक्तिः, असदकरणादुपादानग्रहणादित्यादिभवदीयोक्तेरेव, तृतीये चानेकान्तापत्तिः, कारणाकारेण सत एव पूर्वकालावच्छिन्नासद्भूतकार्याकारेण परिणमनाभ्युपगमात्। एवं बौद्धदर्शनेऽपिकाभ्युपगतासत्कार्येऽपि साङ्ख्या एव दोषानभिदधति, असत् चेत्कारणव्यापारात्पूर्वं कार्यं नास्य सत्त्वं कर्तुं केनापि शक्यम्, न हि नीलं शिल्पिसहस्रेणापि पीतं कर्तुं शक्यम्, तत उपादानकारणे यदेव सत् तस्यैव कारणव्यापारादभिव्यक्तिर्जायते, पीडनेन तिलेषु तैलस्येव, अवघातेन धान्येषु तण्डुलानामिवेत्यभ्युपगन्तव्यम्, किञ्च कार्येण सम्बद्धं कारणं कार्यस्य जनकम्, सम्बन्धश्च कार्यस्यासतो न सम्भवतीति कारणव्यापारात् प्राक् सदेव कार्यमभ्युपगन्तव्यम्। नन्वसम्बद्धमेव कार्यं कारणव्यापारेण जन्यताम्, तत्र को दोष इति चेत्, तर्ह्यसम्बद्धत्वाऽविशेषेण सर्वं कार्यजातं सर्वस्माद्भवेत्, अथ नैव भवेत्, असम्बद्धमपि तत्तदेव करोति यस्मिन् कार्ये यत्कारणं शक्तम्, तत्तत्कार्यानुकूलकृतेरूपत्वशक्तिश्च कार्यदर्शनादवगम्यते इति चेत्, हन्त भो! कारणगता शक्ति' कार्यसम्बद्धा असम्बद्धा वा, आद्ये तादृशशक्तेर्नासता कार्येण सम्बन्ध इति सत्कार्यमभ्युपगन्तव्यम्, तथा च सत्कार्यजननशक्तिर्यस्मिन् कारणे तस्मादेव कारणात् सत्कार्योत्पत्तिरिति सत्कार्यवादप्रसङ्ग इति भाव.। द्वितीये असम्बद्धत्वाऽविशेषात्सर्वस्मात्सर्वकार्योत्पत्तिप्रसङ्ग इत्यप्यनवस्थावादवश्यम्, कार्यस्य कारणात्मकत्वाच्च सत्कार्यम्, न हि कारणाद्भिन्नं कार्यम्, कारणञ्च सदिति कथं तदभिन्नं कार्यमसद्भवेत्, तथा च कारणे कार्यजननशक्तिरूपेण कार्यमस्तीत्यभ्युपगन्तव्यम्, सा च शक्तिर्घटकार्यानुकूला कपालोपादान एवेति तस्मादेव सहकार्यन्तरसद्भवाद् घटकार्यनिष्पत्तिः, न तु तन्तुभ्य', तत्र घटकार्यानुकूलशक्त्यभावात्, यद्यपि तत्तत्कार्यभेदेन तत्तत्कार्यानुकूलशक्तिर्भिन्ना, तथापि शक्तित्वेन शक्तिरेकैवेति कार्यानुकूलशक्तिमत्त्वेन कारणत्वाभ्युपगमे एक एव कार्यकारणभावः, असत्कार्यवादपक्षे तु प्रतिनियततत्तद्धर्मावच्छिन्नकार्यं प्रति प्रतिनियततत्तद्धर्मावच्छिन्नस्य कारणत्वमभ्युपगतं स्यादित्यनेककार्यकारणभावापत्तिर्दोषः। तदुक्तम्—

" असदकरणादुपादानग्रहणात्, सर्वसम्भवाऽभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥ १ ॥" इति।

तदेव सुन्दोपसुन्दन्यायेनामद्वादिबौद्धौलूक्योक्तयुक्तयस्साङ्ख्याभ्युपगतसत्कार्यपक्षं साङ्ख्योक्तयुक्तयश्च बौद्धौलूक्याभ्युपगताऽसत्कार्यपक्षं प्रतिघ्नन्ति, न तु कार्यकारणयोः कथञ्चिदभेदादुपादानकारणद्रव्यात्मना कारणे कार्यं सत् पर्यायलक्षणतत्कार्यात्मनाऽसदित्येवं कथञ्चित्सदसदात्मकानेकान्तपक्षम्, यतोऽनेकान्तत्वं जात्यन्तरमेव, अविभक्तपरस्परसापेक्षसदसद्रूपद्वयसमर्थात्मकत्वात्, न पुनरेकान्तपरस्परनिरपेक्षसदसदुभयात्मकस्वरूपं तत्, प्रत्येकपक्षदोषस्योभयपक्षेऽपि सद्भावात्। "प्रत्येकं यो भवेद्दोषो द्वयोर्भावे कथं न सः" इत्युक्तेः, किन्तु नरसिंहादिवद्विलक्षणमखण्डस्वरूपमेव, अत एव प्रत्येकपक्षोक्तदोषाऽस्पृष्टम्। यदाह—

"न नरः सिंहरूपत्वात्, न सिंहो नररूपतः।
शब्दविज्ञानकार्याणां, भेदाज्जात्यन्तरं हि तत् ॥ १ ॥" इति।

तथा च शास्त्रान्तरयुक्त्यप्रतिहन्यमानं परस्परसापेक्षद्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयप्रतिपाद्यभजनाङ्किततत्त्वप्रतिपादकमर्हच्छास्त्रमेव सम्यग्भावं धत्ते, तदन्यत्तु परस्परशास्त्रयुक्तिभिर्निराक्रियमाणमन्यनयनिरपेक्षेण केवलद्रव्यार्थिकनयेन केवलपर्यायार्थिकनयेन वा परस्परनिरपेक्षद्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयाभ्यां वा व्यवस्थापितं सर्वं शास्त्रं मिथ्येति सिद्धम्। अत एव शाक्यौलूक्यानां सत्कार्यवादे साङ्ख्यानां चासत्कार्यवादे पर्यनुयोगा एकान्तपक्षनिवृत्त्यर्थे फलवन्त एव सैद्धान्तिकैरुक्ता इति ॥ ५० ॥

अमुमेवार्थमन्वयव्यतिरेकाभ्यां दृढीकर्तुमाह—

ते उ भयणोवणीया, सम्मद्दंसणमणुत्तरं होंति।
जं भवदुक्खविमोक्खं, दो वि न पूरेंति पाडिक्कं ॥ ५१ ॥

'ते उ भयणोवणीया' तौ तु द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयौ भजनोपनीतौ उपसर्जनीभूतस्वेतरनयविषयप्रधानीभूतस्वविषयप्रतिपादकतयोपयोजितौ, अत्र यदा भवतस्तदेति शेषः 'सम्मद्दंसणमणुत्तरं होंति' सम्यग्दर्शनमनुत्तरं नास्ति उत्तरं प्रधानं यस्मादिति व्युत्पत्त्या यदवधिकोत्कर्षविशिष्टमन्यन्नास्ति तत्तथाभूतं भवतः, तादृशसम्यग्दर्शनरूपतामवाप्नुतः, परस्पराविनिर्भागवर्तिद्रव्यपर्यायात्मकैकवस्तुतत्त्वविषयकरुच्यात्मकाबाधितावबोधस्वभावत्वाद् भजनाघटिततदुभयपक्षस्य सर्वनयसम्मतत्वेन जिनमतरूपतया सम्यग्रूपत्वात्। यदा त्वन्योन्यनिरपेक्षतया स्वतन्त्रद्रव्यपर्यायप्रतिपादकत्वेनोपनीतौ तौ भवतस्तदा न सम्यक्त्वं प्रतिपद्येते, नयान्तरानपेक्षतया स्वतन्त्रैकनयपक्षस्य दुर्नयत्वेन मिथ्यारूपत्वात् तयोरेकान्तद्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनययोर्मिथ्यात्वे च यत्स्याद्तदाह–'जं भवदुक्खविमोक्खं' यद् यस्माद्भवदुःखविमोक्षं भवे संसारे जायमानं यज्जन्ममरणादिदुःखं तस्माद् विमोक्षं विशेषेणापुनरावृत्त्या मोक्षं परिमोचनं अथवा भवस्य दुःखं भवदुःखम्, तस्य विमोक्षम्, दुःखपदमत्र लक्षणया स्वकारणीभूतकर्मपरम्, षष्ठ्यर्थश्च सम्बन्धः कार्यकारणभावात्मा,

तस्य प्रकारतया भानाभ्युपगमे भवनिष्ठकार्यतानिरूपितकारणताऽऽश्रयीभूतकर्माऽ
त्योच्छेदमित्यर्थः । संसर्गतया भानस्वीकारे तु स्वनिष्ठकार्यतानिरूपितकारणतासम्बन्
भवविशिष्टं यत् कर्म तस्याऽत्यन्तोच्छेदमित्यर्थ । 'दो वि न पुरेंति पाडिक्कं ' द्वा
प्रत्येकं न पूरयतः, तौ द्वावपि द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयावेकैकौ परस्परनिरपेक्षौ
विधत्त', मिथ्याज्ञानरूपत्वाद्, यच्च मिथ्याज्ञानात्मकं तन्न दुःखविमोक्षं विधत्ते, यथा
मरीचिकादौ जलभ्रान्तिः, मिथ्याज्ञानरूपौ च तौ नयाविति तावपि सम्यक्क्रियाऽनङ्ग
भवदुःखविमोक्षं न विधत्तः, तयोर्नययोर्मिथ्यात्वे च कारणात्कार्यमभिन्नमत एव सत्क
मित्येवमेकान्तद्रव्यार्थिकनयप्रतिपादितमेवं पूर्ववर्तिनः कारणात् पश्चाद्भावि कार्यं भिन्नं
अत एवासत्कार्यम् अतः सत्पालामलक्षणत्वात्कार्यत्वस्येत्येवमेकान्तपर्यायार्थिकनयप्र
पादितञ्चासत्यमेव, नन्वेवं तर्हि किमत्र तत्त्वं सत्यमिति चेत्, उच्यते—कारणात् क
कथञ्चिद्भिन्नमभिन्नञ्च अत एव कथञ्चित्सच्चाऽसच्चेत्युभयरूपमिति जानीहि ॥ ५१ ॥

अमुमेवार्थमुपसंहरति—

नत्थि पुढवीविसिट्ठो घडोत्ति जं तेण जुज्जइ अणण्णो ।
जं पुण घडोत्ति पुव्वं ण आसि पुढवी तओ अण्णो ॥ ५२ ॥

"नत्थि पुढवीविसिट्ठो घडो त्ति जं" यद् यस्मात् पृथ्वीविशिष्टः पृथिव्या मृत्तिका
कारणीभूताया विशिष्टो विश्लिष्टो वा व्यतिरिक्तो भिन्नः कार्यभूतो घटो नास्ति मृत्
व्यतिरिक्तस्याभावतया न दृश्यते 'तेण जुज्जइ अणण्णो ' तेन तस्माद्धेतोर्युज्यते अन
मृत्तिकातोऽभिन्न ,यत्कार्यं यत्कारणात्मकं तत्तदभिन्नं यथा जलबुद्बुदो जलस्वरूपकारणात्
इति स तदभिन्न ,मृत्तिकास्वरूपकारणात्मकश्च घट इति सोऽपि तदभिन्नः, यद्वा यत्कार्यं य
कारात्मकं तत्तदभिन्नं यथा जलबुद्बुदो जलविकारात्मक इति तदभिन्नः, यथा वा वेदान्त
मायाविकारात्मकं घटपटादिजगत् इति तदभिन्नं, पृथिवीविकारात्मकश्च घट इति सोऽ
तदभिन्नः, नन्वेवं सति कार्यकारणयोर्दृश्यमाना भेदप्रतीतिरेव लुप्ता स्यात् । किञ्च तयोर
कार्यकारणभाव एव न स्यात्, भेद एव तद्भावादित्याशङ्कानिवृत्त्यर्थमुत्तरार्द्धमाह–'
पुण ' यत्पुनः ' घडोत्ति ' घट इति, पृथुबुध्नोदराद्याकारतालक्षणव्यक्तस्वरूपेण ' पुव
आसि ' पूर्वं घटोत्पत्तेः प्राक् स नासीत्, नाभूत्, किन्तु ' पुढवी ' पृथ्वी मृत्तिकैवासी
अयम्भावः–कार्यकारणयोस्सर्वथैक्ये स्वकाल इव मृत्तिकात्मकपृथ्वीकालेऽपि घटः पृ
बुध्नोदराद्याकारेणोपलभ्येत, न चोपलभ्यते ' तओ अण्णो ' ततः तस्मात्कारणात् द्वा
कारणीभूतमृदात्मकपृथ्वीतोऽन्यो घट इति । दशवैकालिकप्रथमाध्ययनबृहट्टीकाया सा
भूतगाथोत्तरार्द्धपाठस्त्वेवम्–" जं पुण घडत्ति पुव्व नासी पुढवीइ तो अन्नो " इति । यत्पुन
इति पूर्वं नासीत् ततः तस्मात्कारणात् पृथिव्या अन्य इत्यर्थः । अयम्भावः–यो घटस्सो

मृत्तिकैव, यतो घटो मृत्स्वरूपं परित्यज्य न स्वस्वरूपं धत्ते, ततोऽनुगतद्रव्यसामान्यस्वरूपमन्तरेण घटात्मकविशेषस्वरूपानुपपत्तेर्घटो मृद्द्रव्यात्मक एव, मृत्तिकाऽपि तदानीं घट एव, यतस्सापि घटात्मकविशेषस्वरूपं परित्यज्य तदानीमन्यत्स्वस्वरूपं न बिभर्त्ति, ततो घटात्मकविशेषस्वरूपमन्तरेण मृद्द्रव्यसामान्यस्वरूपाऽनुपपत्तेर्मृद्द्रव्यमपि घटविशेषात्मकमेव, तयोरन्योन्यानुस्यूतत्वादिति तयोस्तद्रूपेणाऽभेदः, यदेव नियमेनाव्यवहितपूर्ववर्त्ति तदेव कारणम्, यच्च तज्जायमानत्वेन तदव्यवहितोत्तरवर्त्ति तत्कार्यमिति मृदः कारणत्वेन घटस्य च कार्यत्वेन पूर्वापरवर्त्तितया तयोर्भेद इत्येवं यथा मृद्-घटयोः कथञ्चिद्भेदाभेदोभयात्मकत्वम्, एवं सर्वत्र कार्यकारणयोस्तद्भावनीयम्, अत एव कार्यकारणयोः कथञ्चिदभेदात् कारणात्मना कार्यं सत्, तयोश्च कथञ्चिद्भेदात् कार्यात्मना कार्यं पूर्वमसदिति कार्यं कथञ्चित्सदसदात्मकमवसेयम् ॥ ५२ ॥

सदाद्येकान्तवादवत् कालाद्येकान्तवादेऽपि मिथ्यात्वमेवेत्याह—

> कालो सहाव णियई, पुव्वकयं पुरिसकारणेगंता ।
> मिच्छत्तं ते चेव उ, समासओ होंति सम्मत्तं ॥ ५३ ॥

कैश्चिदेकान्तवादिभिः 'कालो' काल एवासाधारणत्वेन हेतुः कार्यमात्रं प्रति मन्यते । यदाह—

> "कालः पचति भूतानि, कालः संहरति प्रजाः ।
> कालः सुप्तेषु जागर्ति, कालो हि दुरतिक्रमः ॥ १ ॥" इति । 'सहावणियई'

> "कः कण्टकानां प्रकरोति तैक्ष्ण्यं, विचित्रभावं मृगपक्षिणां च ।
> स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तं, न कामचारोऽस्ति कुतः प्रसङ्गः ? ॥ १ ॥"

इति वचनात् कैश्चिच्च सभावो हेतुत्वेनाभ्युपगम्यते ।

> "प्राप्तव्यो नियतिबलाश्रयेण योऽर्थः, सोऽवश्यं भवति नृणां शुभोऽशुभो वा ।
> भूतानां महति कृतेऽपि हि प्रयत्ने, नाभाव्यं भवति न भाविनोऽस्ति नाशः ॥१॥"

इत्युक्तेः अन्यैश्च नियतिः, तदपरैश्च—

> "यथा यथा पूर्वकृतस्य कर्मणः, फलं निधानस्थमिवावतिष्ठते ।
> तथा तथा तत्प्रतिपादनोद्यता, प्रदीपहस्तेव मतिः प्रवर्त्तते ॥ १ ॥"

इत्यभिधानात् 'पुव्वकयं' पूर्वकृतं कर्माख्यं, अन्यैश्च 'पुरिसकारण' पुरुषकारणं ब्रह्मरूपपुरुषोऽसाधारणहेतुत्वेन—

> "ऊर्णनाभ इवांशूनां, चन्द्रकान्त इवाम्भसां ।
> प्ररोहाणामिव प्लक्षः, स हेतुः सर्वजन्मिनाम् ॥ १ ॥"

तथा—"पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्" इत्यादिवचनान्मन्यते, इत्येवं "एगंता

मिच्छत्त" एकान्ता मिथ्यात्वम्, जगत्त्रितिलकार्यं प्रति यत्कारणीभूत कालाद्येकैक, तत्प्रतिपादकैकान्तवादाश्चाऽपि मिथ्यावादाः, यतो न हि किमप्येकमात्र स्वान्यद्दूरतमनपेक्ष्य कारण कार्यमुत्पादयद् दृष्टम्, दृष्टानुसारिणी कल्पना प्रमाणभावमश्नुते, न तु यथा तथा कल्पना, सामग्री वै जनिकेति न्यायात् तदितरसकलकारणसत्त्वे सति तत्सत्त्वे तत्सत्त्वम्, तदभावे तदभाव इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां तदितरनिखिलकारणसहकृतस्यैव विवक्षितस्यैकस्य प्रधानतया कारणत्वे सिद्धे सति तदन्येषां गौणतया कारणत्वं सिद्ध्यत्येवेति स्वान्यकारणनिरपेक्षैकमात्रकारणपक्षस्य दुर्नयत्वात्, ननु यदि कालाद्येकैकहेत्वभ्युपगमरूपैकान्तपक्षा एकैकनयवादरूपत्वेन मिथ्यारूपास्तर्हि सर्वनयदृष्ट्याऽर्हत्सिद्धान्तसिद्धाः सम्यग्रूपाः के इत्याशङ्का परिहरन्नाह–"ते चेव उ समासओ हुन्ति सम्मत्त" त एव तु समासतो भवन्ति सम्यक्त्वम्, अयम्भावः–त एव तु समुदितास्सामग्रीप्रविष्टत्वेन मिथस्सहकारिभावं प्राप्ताः, तत्राप्येको विवक्षितो हेतुः प्रधानीभूतः, तदितरहेतवो गुणीभूता इत्येवमङ्गाङ्गिभावेन परस्परमजहद्वृत्त्या सम्यग्भावमधिगच्छन्ति, परस्परसापेक्षकालादिपञ्चकारणसमुदायपक्षस्यैव सम्यग्रूपत्वेन सर्वनयदृष्ट्या सिद्धान्तसिद्धस्य जिनमतरूपत्वात् । " सव्वणयमय जिणमय " इत्युक्तेः । एकैककारणमात्रेण क्वापि जायमानस्य कस्यापि कार्यस्यानुपलब्धेः कालादिकारणसमुदाये कार्योत्पादकत्वनियमादेककारणपरिशेषपक्षस्य च दुर्नयत्वेन मिथ्यारूपत्वादिति ॥ ५३ ॥

अन्यनिरपेक्षकालादिप्रत्येककारणाभ्युपगमात्मकैकान्ततत्त्वपक्षा मिथ्यारूपाः, स्यात्पदोपादानेनाशेषान्यकारणसापेक्षास्तु त एव सम्यग्रूपा इति प्रतिपाद्य नास्त्येवात्मा १ न नित्य आत्मा २ न कर्त्ता ३ कृत न वेदयते ४ नास्ति निर्वाणम् ५ नास्ति मोक्षोपायः ६ इति षडेकान्तविकल्पा अपि स्वस्वदर्शनप्रक्रियावादिभिश्चार्वाकबौद्धसाङ्ख्यवेदान्तिमीमांसकादिभिः प्रकल्पिता मिथ्यारूपाः, त एव स्यात्पदाङ्कितास्तु सम्यग्रूपा इति प्रतिपादयितुमाह—

> नत्थि ण णिच्चो ण कुणइ, कयं ण वेएइ नत्थि णिव्वाणं ।
> नत्थि य मोक्खोवाओ, छम्मिच्छत्तस्स ठाणाइं ॥ ५४ ॥

मद्याङ्गेभ्यो मदशक्तिवज्जले बुद्बुदवद्वा पञ्चभूतेभ्यः कायाकार आत्मोत्पद्यते तत्रैव च विनश्यतीति भूतपरिणामत्वाच्च तद्व्यतिरिक्त आत्मा परलोकानुयाय्यस्ति । तदुक्तम्–" विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य सञ्ज्ञास्ति " इति । यदि तद्व्यतिरिक्तस्स्याचक्षुरुपलभ्येत, न चोपलभ्यते चक्षुरादीन्द्रियैः, ततो नास्त्येवात्मेति चार्वाकमतमाश्रित्याह ' नत्थि ' नास्ति आत्मेति शेषः ॥ १ ॥

> " सुखी भवेय दुःखी च, मा भूयमिति तृष्यतः ।
> यैवाहमिति धीः सैव, सहजं सत्त्वदर्शनम् ॥ १ ॥ "

तत्र सत्त्वमात्मेत्यर्थः । कामयमानाश्च सुखादिकं विहितनिषिद्धसाधनमस्यानुतिष्ठन्तः कर्माशयानानिन्चाना जन्मादिकमनुभवन्ति । यदुक्तम्—

" आत्मनि सति परसञ्ज्ञा, स्वपरविभागात्परिग्रहद्वेषौ ।
अनयोः सम्प्रतिबद्धाः, सर्वक्लेशाः प्रजायन्ते ॥ १ ॥ " इति ।

यदि पुनरमी, नाहं कश्चित्, किमपि मम नास्ति, न किञ्चिदपि वस्तु स्थिरम्, विश्वमेव क्षणभङ्गुरमलीकञ्चेत्यवधारयेरन्, न किञ्चिदपि कामयेरन्, न चाकामयमानाः केचिदपि प्रवर्त्तन्ते, न चाप्रवर्त्तमाना अपि कर्माशयेन सिच्यन्ते, न चान्तरेणापि कर्माशयं सम्भवो भोगस्येति भवति नैरात्म्यदर्शनं साधनमपवर्गस्येत्यभ्युपगन्तृबौद्धमते चिन्मात्रमात्मा, यत्सत्तत्क्षणिकम्, यथा जलधरपटलम्, सश्चात्मेति सोऽपि क्षणिकः ' सर्वे संस्काराः क्षणिकाः ' इत्युक्तेरित्यत आह–' ण निच्चो ' न नित्य इति क्षणिकवादिमते ॥ २ ॥

साङ्ख्यमते अस्त्यात्मा नित्यः, तथापि पुरुषः पुष्करपलाशवन्निर्लेप इति स भोक्ताऽपि न कर्त्ता, किन्तु कर्त्री प्रकृतिरेव । उक्तञ्च साङ्ख्यतत्त्वकौमुद्याम्—

" इत्येष प्रकृतिकृतो, महदादिविशेषभूतपर्यन्तः ।
प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं, स्वार्थ इव परार्थ आरम्भः ॥ ५६ ॥ "

" प्रकृतिः करोति पुरुष उपभुङ्क्ते " तथा " बुद्ध्यध्यवसितमर्थं पुरुषश्चेतयते " इति च । तन्मतमाश्रित्याह–' न कुणइ ' न करोति आत्मा । ३ । अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यं जीव इति वेदान्तिभिरभ्युपगमादन्तःकरणधर्मत्वाद्भोक्तृत्वस्य तदुपाधिकजीवे चौपचारिकमेव भोक्तृत्वम्, न [illegible] पारमार्थिकमिति वेदान्तिमतमाश्रित्याह " ण वेएइ " न वेदयते, न सुखादिकमुपभुङ्क्ते आत्मा परमार्थदृष्ट्या । यद्वा येन कृतं कर्म नासौ तद्भुङ्क्ते क्षणिकत्वाच्चित्तसन्ततेः, अत एव कृतं न वेदयते इति बौद्धमतमाश्रित्योक्तम्–" ण वेएइ " इति । अत्र यद्यपि वासनावासितपूर्वपूर्वविज्ञानमुत्तरोत्तरं विज्ञानमुपनिबध्नातीति वासनावासितैः पूर्वपूर्वविज्ञानैरुत्तरोत्तरविज्ञानोत्पादे सिद्धे मरणकालिकं विज्ञानमप्यनपेतवासनतया तत्पश्चादपि गर्भादौ विज्ञानान्तरमुत्पादयेदेव, तच्चेदं मनोविज्ञानमालयविज्ञानसञ्ज्ञकं विविधवासनावासितं जन्मनः पूर्वं मरणतः पश्चादनुबद्धसन्तानक्रममपेक्षेत्येवं युक्तिसिद्धोऽनाद्यनन्तो विज्ञानसन्तान एव कर्म करोति तत्फलञ्चोपभुङ्क्ते इति बौद्धैरुपगमात्तन्मतमाश्रित्य ' ण वेएइ ' इति न युक्तम्, तथापि ज्ञानसन्तानस्य सन्तानिभ्यो ज्ञानव्यक्त्यात्मकेभ्यो भिन्नत्वाभ्युपगमे नामान्तरेणात्मन एवाभ्युपगतस्स्यादिति तदभिन्नस्य तस्यापि पूर्वोत्तरज्ञानव्यक्तीनां प्रतिक्षणमन्यान्यत्वेन तथान्वयस्या परमार्थतस्त्वपाऽननुगामित्वेन न तत्र कर्मकर्तृभोक्तृभावो ऽपपत्तिरित्यभिप्रेत्य तथोक्तिरित्यवधेयम् ॥ ४ ॥

न केनापि पुंसा रागादीनामत्यन्तक्षयः कर्तुं शक्यत इति सर्वज्ञो न सम्भवति, किञ्च ये सातिशया दृष्टास्तेऽपि स्वस्वविषय एव न विषयान्तर इति देशकालस्वभावविप्रकृष्टार्थविषयकमिन्द्रियजज्ञानं न सम्भवति, तदुक्तं भट्टैः सर्वज्ञनिराकरणप्रस्तावे—

"यत्राप्यतिशयो दृष्टः, स स्वार्थाऽनतिलङ्घनात् ।
दूरसूक्ष्मादिदृष्टौ स्या–न्न रूपे श्रोत्रवृत्तिता ॥ १ ॥
येऽपि सातिशया दृष्टाः, प्रज्ञामेधादिभिर्नराः ।
स्तोकस्तोकान्तरत्वेन, न त्वतीन्द्रियदर्शनात् ॥ २ ॥" इति

सर्वज्ञाभावात् 'अग्निहोत्रं जरामर्यं वा कुर्यात्' इति श्रुत्या यावज्जीवमग्निहोत्रक्रियाविधानतो मोक्षसाधकक्रियानुष्ठानकालाऽप्रदर्शनाच्च सर्वज्ञाऽनभ्युपगन्तॄणां यज्वनां मते सर्वदुःखनिवृत्तिलक्षणस्य निर्वाणस्याभाव एवेत्याशयेनाह–' नत्थि निव्वाणं ' नास्ति निर्वाणमिति ॥ ५ ॥ अस्ति मुक्तिः परं तदुपायो नास्ति, सर्वभावानां नियतत्वेनाकस्मादेव भावादिति नियतिवादिमतेन यद्वा स्वभावादेव मुच्यते न मुक्तौ स्वभावादन्यः कोऽपि हेतुरिति मोक्षोपायो नास्तीति स्वभाववादिमतेनाह–" नत्थि य मोक्खोवाओ " नास्ति च मोक्षोपाय इति ॥ ६ ॥ एतानि षट् किमित्याशङ्कायामाह–" छम्मिच्छत्तस्स ठाणाइं " षट् मिथ्यात्वस्य स्थानानि, षड्भिस्स्थानैस्तत्त्वार्थाऽश्रद्धानलक्षणं मिथ्यात्वं भवति । चार्वाकबौद्धसाङ्ख्यवेदान्तिमीमांसकादीनां स्वस्वदर्शनप्रक्रियावादिना अनाकलिततत्त्वाऽप्रज्ञापनीयतामयोजकस्वस्वाभ्युपगतार्थश्रद्धानलक्षणमाभिग्रहिकमिथ्यात्वं भवतीति यावत् । तत्तन्मतखण्डनञ्चैवम्–चार्वाकमतेन " यथा जलबुद्बुदो जलातिरेकेण नापरः कश्चिद् विद्यते, तथा भूतव्यतिरेकेण नापरः कश्चिदात्मा " इत्यादिप्रकारेणात्मा नास्तीत्यर्थकं " नत्थि " इति प्रथमस्थानमुक्तम्, तन्महामोहविजृम्भितम्, यतश्शरीरं विद्यमानकर्तृकं आदिमत्प्रतिनियताकारत्वात् यद् यदादिमत्प्रतिनियताकारं तत्तद्विद्यमानकर्तृकं दृष्टं, यथा घटः, यन्न विद्यमानकर्तृकं तदादिमत्प्रतिनियताकारमपि न भवति, यथाऽऽकाशम्, आदिमत्प्रतिनियताकारं च शरीरं दृश्यते तस्माद्विद्यमानकर्तृकमिति यस्तत्कर्ता स एवात्मा, न चाङ्कुरादिवनस्पतौ वल्मीकादौ न व्यभिचारः, तत्रापि गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गादिनानाविधविचित्रकर्मोदयपरिणामिन आत्मन एव शरीरकर्तृत्वेनाभ्युपगमात्, ननु तथाप्यस्यानादित्वं कथमिति चेत्, उच्यते–उपयोगलक्षण आत्मा गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गाद्यनुभवनोपयोगात्मतया तान् पुद्गलान् परिणमयतीत्यात्मनः परिणामकत्वं, तेषां परिणाम्यत्वम्, पुद्गलाश्चात्मानं मिथ्यादर्शनाऽविरतिप्रमादकषाययोगसुखदुःखोदयक्षयोपशमादिभावेन परिणमयन्ति, तद्भावेनात्मा परिणम्यते, स च मिथ्यादर्शनोदयादिभावो भवभ्रमणहेतुः, तद्वशस्य संसरणात्, एतस्य कर्मकर्मिद्वयस्यान्योन्यपरिणामकत्वादनादित्वम्, अत एव कर्मजीवसम्बन्धस्य बीजाङ्कुरन्यायेनानादित्वेनोक्तसम्बन्धजस्य ॥

सिद्धम्, किं स्वमनीषिकया तदुच्यते ? आहोस्विदस्त्यस्य किञ्चिदुपनिबन्धनमार्षमपीति ? अस्तीत्युच्यते उपनिबन्धनमस्य–' पुव्विं भंत ! कुक्कुडी पच्छा अंडए, पुव्विं अंडए पच्छा कुक्कुडी ' इत्यादि प्रश्नव्याकरणम् ' रोहा पुव्विं एते पच्छावि एते, दोवि एते सासया भावा अणाणुपुव्वी एसा रोहा इत्यादि। (भग० श० १, उ० ६, सू० ५३) एवमग्रेऽपि ज्ञेयम्। एवं पुरुषवनुवन्नियतकारतचनूरूपचिह्वविक्षतभग्नसंरोहणस्वापविबोधाङ्कुरोद्भेदपल्लवकुसुमोद्गमभावानां कर्तृतयाऽपि वनस्पत्यादावात्मसिद्ध्या नोक्तव्यभिचारः, निष्टङ्कयति तत्प्रामाण्यमाचाराङ्गप्रथमाध्ययनपञ्चमोद्देशक वचनम्–' से बेमि इमं पि जाइधम्मयं, एयं पि जाइधम्मयं, इमं पि वुड्ढिधम्मयं एयं पि वुड्ढिधम्मयं, इमं पि चित्तमंतयं एयं पि चित्तमंतयं, इमं पि छिण्णं मिलाइ एयं पि छिण्णं मिलाइ, इमं पि आहारगं एयं पि आहारगं, इमं पि अणिच्चयं एयं पि अणिच्चयं, इमं पि असासयं एयं पि असासयं, इमं पि चओवचइयं एयं पि चओवचइयं, इमं पि विपरिणामधम्मयं एयं पि विपरिणामधम्मयं ' ॥ ४७ ॥ इति। न च वैस्रसिकेऽभ्रेन्द्रधनुरादौ व्यभिचार इति वाच्यम्, यद्यत्प्रायोगिकं प्रतिनियताकारमित्येव हेत्वर्थत्वात्, यद्वा वैस्रसिकभिन्नत्वे सतीति हेतो विशेषणात्। न च शरीरमपि वैस्रसिकमेवेत्युक्तानुमानान्नोक्तसाध्यसिद्धिस्तत्रेति वाच्यम्, तथा सति तस्मिन् विलक्षणचेष्टावत्त्वोपपत्तिरेव न स्यान्मृतशरीरवदिति। तथा इन्द्रियाणि विद्यमानाधिष्ठातृकाणि करणत्वात्, यदिह करणं तत्तद्विद्यमानाधिष्ठातृकं दृष्टम्, यथा दण्डवास्यादिकम्, अधिष्ठातारमन्तरेण करणत्वानुपपत्तिः, यथाकाशस्य, यश्च हृषीकाणां करणभूतानामधिष्ठाता स एवात्मा, स च तेभ्योऽन्यः, तथा इन्द्रियविषयकदम्बकं विद्यमानादातृकं आदानादेयसद्भावात्, इह यत्र यत्रादानादेयसद्भावस्तत्र तत्र विद्यमान आदाता ग्राहको दृष्टः, यथा सन्दंशकायःपिण्डयोस्तद्भिन्नोऽयस्कारः, यथात्रेन्द्रियैः करणैर्विषयाणामादाता–ग्राहकः स तद्भिन्न आत्मेति, यथा च तिले तैलं कुसुमे सौरभं ततः पृथक् तथा शरीरादात्माऽपि पृथक्, न च तिलेन्धनादिभ्यस्तैलाग्न्यादयः कार्यात्मकाः पृथग्भूतास्साक्षाद् दृश्यन्ते इति तिरोभूततया ते तत्र सन्तीति कार्यलिङ्गतोऽनुमीयन्ते, न चात्मा शरीरात्पृथग्भूत उपलभ्यत इति स तत्र नास्त्येवेति वाच्यम्, अरूपित्वादेव स चाक्षेन्द्रियैर्नोपलभ्यते न त्वभावत',कालादिवत्, अहं जाने, अहं यते, अहं सुखी, अहं दुःखी, इत्यादिमानसप्रत्यक्षेण तूपलभ्यत एव, न चाहम्पदवाच्यं शरीरमेवेति वाच्यम्, अन्धकारेऽपि सोऽहं सोऽहं सुख्यहं दुःख्यहमित्यादिप्रतीते, यच्च ' विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्य ' इत्याद्युक्तं तेनाप्यात्मसत्ता प्रतीयत एव, तथाहि–' विज्ञानघनो ' प्रतिप्रदेशमात्मनोऽनन्तज्ञानपर्यायमयत्वाद्विज्ञानपिण्ड आत्मा ' एतेभ्यो भूतेभ्यस्समुत्थायेति ' प्राक्तनकर्मवशात्तथाविधकायाकारात्मपरिणामं प्रति कायाकारपरिणतभूतानामपि कारणत्वात्तेभ्य' कायाकारात्मपर्यायतया समुत्पद्य कायद्वारा स्वकर्मफलमनुभूय पुन कायविनाशे आत्माऽपि तदानीं तेनाकारेण विनश्यापरकायाकारात्मपर्यायान्तरेणोत्पद्यते, न पुनस्तैर्भूतैरेव सह विनश्यतीति परलोके प्राक्तनी संज्ञा

नास्ति, तदुत्तरभवीयतज्ज्ञानाभावादिति। भूतचैतन्यादिवादस्तु पूर्वमेव निरस्त इत्यत्र नाधिकं निरस्त्वभिमपादुच्यते ॥१॥ एतेन भवतु पूर्वोक्तयुक्त्याऽऽत्मसिद्धिस्तथापि स क्षणिकज्ञानसन्तानात्मैव, न तु तदाश्रयत्वेन तद्व्यतिरिक्तो नित्य आत्मास्तीत्यर्थकम् 'ण णिच्चो' इति द्वितीयस्थानमपि बौद्धानां निरस्तम्, नित्यात्मनोऽभावे योऽयं स्वसंविदितः सुखदुःखानुभवः स कस्य भवतीति वाच्यम्, आलयविज्ञानस्कन्धस्यायमनुभव इति चेद्, न, तस्यापि क्षणिकत्वात्, ज्ञानक्षणस्य चातिसूक्ष्मत्वात् सुखदुःखानुभवाभावप्रसङ्गः, क्रियाफलयतोश्च क्षणयोरत्यन्तभिन्नत्वात् कृतनाशाऽकृताभ्यागमापत्तिरिति, आलयविज्ञानसन्तान एकोऽस्तीति चेत् तस्यापि सन्तानिव्यतिरिक्तस्याभावाद् यत्किञ्चिदेतद्, भावे वा पर्यवसित विवादेन, नामान्तरेणात्मन एव स्वीकारात्। का पुनरात्मस्थैर्यसाधकन्याय प्रयोग इति चेत्, उच्यते, परप्रतीति पूर्वप्रतीत्याश्रयाश्रिता पूर्वप्रतीत्याश्रये साक्षात्क्रियमाणत्वात् पूर्वप्रतीतिवदिति। न च हेत्वसिद्धिः, योऽहं घटमद्राक्षं सोऽहं तं स्पृशामि स्मरामि वेति प्रत्यभिज्ञया पूर्वप्रतीत्याश्रये उत्तरप्रतीतेः साक्षात्क्रियमाणत्वात्। सा च प्रत्यभिज्ञा कर्तृभेदेऽनुपपद्यमाना पूर्वापरप्रतीत्योरेककर्तृकत्वं व्यवस्थापयति, प्रत्येतव्याद्-नन्यस्यैव प्रत्येतुरहमास्पदत्वात्, न हि भवति चैत्रोऽहं यमद्राक्षं मैत्रोऽहं तं स्पृशामि स्मरामि वेति प्रतिसन्धानम्, अथ पूर्वापरप्रतीतीनामेककर्तृकत्वनिश्चयोऽपि तासामुपादानोपादेयभावेनैवोपपद्यते, तथा चोक्तप्रत्यभिज्ञानेन द्रष्टुः पूर्वज्ञानस्याभेदो घटविषयकस्पार्शनप्रत्यक्षात्मके घटविषयकस्मरणात्मके वा स्मर्तर्युत्तरज्ञाने आरोप्यते, तद्बलादेव चानुभवितरि पूर्वज्ञाने स्पार्शनप्रत्यक्षकर्तृत्वं स्मरणकर्तृत्वं वाऽऽरोप्यत इत्येवं दिशा स्थैर्याऽभावेऽपि प्रत्यभिज्ञानस्योपपत्तिरिति चेद्, मैवम्, एकजातीयत्वे सति येन यदुत्पद्यते तयोरुपादानोपादेयभाव इति लक्षणस्यैव भवदभ्युपगतस्याऽसङ्गच्छमानत्वात्, तथाहि-तत्रोत्पत्तिस्साक्षाद्विवक्षिता, किं वा परम्परयाऽपीति विकल्पद्वयम्, आद्यपक्षे यत्र चैत्रस्य प्राग् घटानुभवः, अन्तरा ज्ञानान्तर कालान्तरे पुनर्घटस्मृतौ य घटमद्राक्षं तमेव स्मरामीत्याकारकं प्रतिसन्धानं तत्रापि व्यवहितयोरेकसान्तानिकयोर्घटानुभवघटस्मृत्योरुपादानोपादेयभावाभावप्रसङ्गेन या प्रतिसन्धानं न स्यात्, द्वितीयपक्षे च शिष्याचार्यधियामप्युपादानोपादेयभावप्रसङ्गस्स्यात्, तथा च तत्रापि कदाचित् प्रतिसन्धानापत्तेः। अथ तत्र शिष्याचार्यविवक्षाप्रयत्नादिना विजातीयेन व्यवधानान्न तत्प्रसङ्गः, सति सम्भवे सजातीयव्यवधानस्यैव विवक्षितत्वादिति चेद्, तर्हि एकसन्तानान्तःपातिनामपि विजातीयविवक्षादिना व्यवधानं केन निवारणीयम्, तथा च तत्रापि प्रतिसन्धानं न स्यात्। अथैकाधारत्वे सति कार्यकारणभाव एवोपादानोपादेयभाव इति शिष्याचार्यधियां न प्रतिसन्धानप्रसङ्ग इति चेद्, तदप्यसङ्गतमेव, यतस्तत्रैकाधारत्वं किमेकदेशवृत्तिस्वरूपम्, किं वैककालवृत्तित्वात्मकम्, नाद्यः, यतो ययोः पूर्वापरक्षणवर्तिनोः कार्यकारणभावस्तयोर्नैकदेशवृत्तित्वम्, आधारस्य भवन्मते क्षणिकत्वेन

न द्वितीयः, ययोरेकक्षणवर्तिनोरेकाधारत्व तयोः कार्यकारणभावाभावात्। कारणभिन्नैका-धारत्वाऽभ्युपगमे तु शरीरबुद्धयाद्योरप्येकदेशत्वाऽभिमानात्कार्यकारणभावाभिमानाच्चोपादानोपादेयभावप्रसङ्गस्स्यात्। तदेव बौद्धमते उपादानोपादेयभावलक्षणस्यैवाऽसङ्गतेर्नोक्त युक्तमिति पूर्वोक्तप्रत्यभिज्ञया पूर्वापरप्रतीत्योरेककर्तृकत्वसिद्धेराऽऽत्मनो नित्यत्वाभ्युपगम एव श्रेयान्। तथा बौद्धागमोऽपि नित्यात्मप्रतिपादकोऽस्ति, स चायम्—

"इत एकनवते कल्पे, शक्त्या मे पुरुषो हतः।
तेन कर्मविपाकेन, पादे विद्धोऽस्मि भिक्षवः! ॥ १ ॥" तथा—

"कृतानि कर्माण्यतिदारुणानि, तनूभवन्त्यात्मनि गर्हणेन।
प्रकाशनात्संवरणाच्च तेषा-मत्यन्तमूलोद्धरणं वदामि ॥ १ ॥"

इत्येवमादिः। गौरवमीत्याऽधिकं यदत्र नोक्तं तदस्मदुक्तखण्डखाद्यकल्पलतिकातोऽवसेयम्, सविस्तरपूर्वकक्षणिकत्वपक्षनिरासेनाप्यात्मनो नित्यत्वं बोद्धव्यम्।२। एतेन भवत्वात्मनो नित्यत्वम्, तथापि स पुष्करपलाशवन्निर्लेप इति न कर्त्ता, प्रकृतेरेव कर्तृत्वादित्यर्थकं 'न कुणइ' इति तृतीयस्थानमपि निरस्तम्, चेतनोऽहं करोमीत्यनुभवेनात्मन एव कर्तृत्वात्, तथाभ्युपगम एव य एव शुभामशुभां वा प्रवृत्तिं करोति स एव शुभमशुभं वा कर्म करोति स एव च सुखदुःखादिकं स्वर्गनरकादौ तत्फलमनुभवतीति प्रतीतिरप्युपपद्यते, अन्यथाऽन्यः कर्त्ताऽन्यश्च भोक्तेत्यसमञ्जसापत्तिस्स्यात्। 'प्रकृतिः करोति पुरुष उपभुङ्क्ते' इति पुरुषे भुजिक्रिया या भवाभिमता साऽपि न सिद्धयति, तस्या अपि क्रियात्वात्, य एव क्रियां करोति स एव तत्फलमुपभुङ्क्ते इत्यनुभवसिद्धस्य क्रियाकर्तर्येव भोक्तृत्वस्याऽभ्युपगमश्श्रेयान्। अथ मुद्राप्रतिबिम्बोदयन्यायेन भोग इति चेत्, एतत्तु निरन्तराः सुहृदः प्रत्येष्यन्ति, वाङ्मात्रत्वात्, प्रतिबिम्बोदयस्यापि च क्रियाविशेषत्वाच्च। तथा नित्ये चाविकारिण्यात्मनि प्रतिबिम्बोदयस्याभावाद् यत्किञ्चिदेतदिति। ननु कर्तृत्वाश्रयो न चेतनो जन्यधर्माश्रयत्वाद् घटवदिति बाधकसत्त्वाच्चेतनोऽहं करोमीति चैतन्यांशे भ्रम इति चेत्, कृत्यंशेऽपि स किं नेष्यते, तत्रापि बुद्धिः कर्तृत्वाभाववती जन्यत्वाद् घटवदिति बाधकस्य सत्त्वात्, चेतनत्वकर्तृत्वयोस्सामानाधिकरण्यप्रतीतावपि चेतनस्याकर्तृत्वे तस्मिन् सुखदुःखे न स्यातामिति सुखार्थं दुःखोच्छेदार्थञ्च न कोऽपि प्रवृत्तिं कुर्यादिति निरीहं जगज्जायेत, न च निरीहं जगदिति चेतनाख्यात्मैव कर्त्तेति सिद्धम् ॥ ३ ॥

वेदान्तिमतमाश्रित्य 'ण वेएइ' न वेदयते इति तुरीयं स्थानं यदुक्तं तदपि न युक्तम्, जगतोऽनेकान्तस्वरूपस्य पारमार्थिकमतो निराकर्तुमशक्यत्वेन ब्रह्मैवाऽद्वितीयं सत्, प्रपञ्चः कल्पितोऽविद्या दोषविधया तत्र कारणम्, मञ्चत्वानिधालक्षणदोषवशाज्जगद्रूपेणावभासते, ब्रह्मैव सर्वं, ब्रह्मभिन्नं किञ्चित्पारमार्थिकं नास्तीत्यादिरूपाया वेदान्तिप्रक्रियाया अयुक्तत्वेना

न्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यरूपत्वस्यैवात्मन्यऽसिद्धत्वेन तत्र कल्पिते कल्पितस्यापारमार्थिकस्य सुखदुःखादिसंवेदकत्वस्य वक्तुमशक्यत्वात्, यथा च वेदान्तिप्रक्रिया युक्तिरिक्ता तथा प्रागेवोपदर्शितेति पुनर्ग्रन्थगौरवभयान्नेह प्रदर्श्यते। बौद्धमतमाश्रित्य च "ण वेएइ" इत्यस्य यत्समर्थनं कृतं तदपि न युक्तम्, स्थिरात्मनः पूर्वमेव साधितत्वेन येनात्मना पूर्वकालावच्छेदेन यत्कर्म कृतं तस्मिन्नेवात्मनि तदुदयकाले तत्फलवेदनोपपत्तेः, मयैव यत्कृतं पुण्यपापकर्म तस्य सुखदुःखफलमहमेवानुभवामीति प्रतीतेः। ४॥ यच्च मीमांसकमतमाश्रित्य सर्वज्ञाभावात् 'नत्थि निव्वाणं' इति पञ्चमस्थानमुक्तम्, तदप्ययुक्तम्, रागादयस्सर्वथा क्षयिणः, देशतः क्षयोपलब्धेः, दिनकरकरनिकरप्रतिरोधकमेघमालावत्। तथा चोक्तम्—

"दोषावरणयोर्हानि-र्निःशेषाऽस्त्यतिशायिनी।
क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः॥ १॥"

इत्यादिना प्राक् सर्वज्ञस्य साधितत्वात् तस्य परमशुक्लध्यानजन्याशेषकर्मक्षये सति तज्जन्यपरमानन्दरूपस्य निर्वाणस्य सिद्धेः। "यत्र यत्राप्यतिशयो दृष्टः" इत्याद्युक्तं, तदप्यज्ञानविलसितमेव, तस्येन्द्रियप्रत्यक्षापेक्षयैव चरितार्थत्वात्, सर्वज्ञज्ञानं त्वतीन्द्रियप्रत्यक्षमेवेति। ननु सुशिक्षितोऽपि नटोऽतिशयितव्यायामममासादितलङ्घनातिशयो विंशतिहस्तादिविस्तीर्णां क्षुद्रनदिकां लङ्घयति, न त्वतिशयितपरिणाहाम्भागीरथ्यादिनदीमिति। यदुक्तम्—

"दशहस्तान्तरं व्योम्नि, यो नामोत्प्लुत्य गच्छति।
न योजनमसौ गन्तु, शक्तोऽभ्यासशतैरपि॥ १॥" इति।

यथा लङ्घनस्य व्यवस्थितोत्कर्षता, तथैव ज्ञानस्यापि, दृश्यते च न्यायादिशास्त्रपारगतोऽपि व्याकरणशास्त्रविज्ञानशून्यो व्याकरणादिशास्त्रपरिनिष्ठितोऽपि न्यायादितन्त्रधियाऽस्पृष्टः, एवञ्च प्रकर्षप्राप्तमपि ज्ञानं व्यवस्थितप्रकर्षत्वान्न सर्वथा मिथ्याज्ञानमुन्मूलयितुमलम्, एवं वैराग्यादेरपि व्यवस्थित एवोत्कर्षः, अतो न रागादेरपि सर्वथा विलयो न्याय्य इति चेत्, अबोधविलसितमेतत्, यतो दृष्टान्तीकृतं लङ्घनं क्रियाविशेषश्शरीरधर्मस्तत्पटुता प्रसाध्य., पटुता च शक्तिविशेषरूपा व्यवस्थितलङ्घनानुकूलैव, कायो हि तत्तत्पूर्वोत्तरदेशविभागसंयोगार्थमेव तादृशक्रियामपेक्षते, तौ च कायस्योपादेयौ तदन्यदशतां नात्ममात्रकर्तुं प्रभविष्णू, लङ्घनमपि तदर्थमपेक्षमाणं न कायान्यदशतामवलम्बते, कायोऽपि च यावल्लङ्घयितव्यदेशप्रापकोक्तशक्तिविशेषमहत्त्वस्वगत्युपष्टम्भकत्वेन परिणतधर्मास्तिकायसहकृतश्च तावद्देशव्याप्येव गतिविशेषलङ्घनमुत्पादयितुं प्रभुर्नान्यथा, धर्मास्तिकायश्च लोकव्याप्यपि त त जीवं पुद्गलं प्रति तथैव तत्तत्स्वभावसव्यपेक्षः परिणतो, यथा कस्यचित्कुत्रचिदेव गत्युपष्टम्भको न तु सर्वस्य सर्वत्र, उक्तशक्तिविशेष एव तादृशलङ्घनप्रतिबन्धकश्लेष्मापनयनद्वारा व्यायामप्रयत्न उपोद्बलको, न त्वपूर्वलङ्घनातिशयजनकः, श्लेष्माणश्च तत्तल्लङ्घननिघावकाः

भूयो भूय उत्पादशीला न तत्तदेकप्रयत्नेनैव निर्मूलयितुं योग्याः, यतो निष्पन्नपञ्चसप्तादिहस्तमानलङ्घनोऽपि भूयो व्यायामाऽनासेवने नोत्तरकालं तल्लङ्घयति, तत्कस्य हेतोः, उन्मूलितोऽपि तदतिशयः पुनः श्लेष्मोपचयादभिभूत एव सम्पद्यते, अत एव युवावस्थायामनवरतव्यायामलब्धविंशत्यादिहस्तमानव्यापिलङ्घनातिशयो यावल्लङ्घयति न तावद्वृद्धावस्थायामित्युपलभ्यमानमुपपन्नतरम्, अत एव च द्विहस्तादिपरिच्छिन्नलङ्घनप्रयत्न एकहस्तादिमितलङ्घनोपष्टम्भकारी, न ह्येकं हस्तमलङ्घयित्वैव द्विहस्तं लङ्घयति कश्चित्, द्विहस्तादिकमलङ्घयित्वा त्रिहस्तादिकमिति द्विहस्तादिलङ्घनातिशये एकहस्तादिलङ्घनस्यान्तर्भावात् तत्प्रयत्नस्तदुपष्टम्भक इति न्यायप्राप्त एवेति लङ्घनातिशये व्यवस्थितप्रकर्षत्वं युज्यते। एतेन ताप्यमानोदकस्य व्यवस्थितप्रकर्षतादृष्टान्तेन ज्ञानस्य व्यवस्थितप्रकर्षताऽपि निरस्ता, क्वाथ्यमानस्योदकस्य प्रतिक्षणमपचयतोऽत्यन्ततापप्रकर्षे नाशस्यैवापत्त्या तदाश्रिततापप्रकर्षस्य व्यवस्थितत्वस्यैव न्याय्यत्वात्, दार्ष्टान्तिके तु लङ्घनादिवज्ज्ञानस्य प्राप्यकारित्वेनार्थक्रियाकारित्वाभावेन यद्यद्विषयावच्छेदेन स्वप्रतिबन्धकावरणापगमस्तत्तद्विषयप्रकाशकत्वं, तपोऽध्ययनादीनां च प्रतिबन्धकापगम एव व्यापारः, न स्वपूर्वज्ञानोत्पादने, जीवसहभाविनो ज्ञानस्यापूर्वत्वाभावात्, सर्वथा प्रतिबन्धकापगमे च यावद्वस्तुपरिच्छेदिज्ञानमाविर्भवत्येव, न च ज्ञानस्य प्रतिनियतज्ञेयपरिच्छेदकत्वमेव स्वभावो न तु यावद्वस्तुपरिच्छेदकत्वमित्यत्र मानं, स्वपरिच्छेद्यत्वेनाभिमतादन्यस्यापरिच्छेदकत्वे च नावरणं प्रतिबन्धकम्, तस्यापि तद्विषय एव व्यवस्थितरूपत्वात्, नायोग्यत्वं, परिच्छेद्यत्वयोग्यतावच्छेदकत्वस्य लाघवेन वस्तुत्व एव कल्पनीयत्वात्, तत्तज्ज्ञानपरिच्छेद्यत्वयोग्यतावच्छेदकप्रतिनियततत्तद्विषयमात्रगतानेकानुगतधर्माणां कल्पने महागौरवात्। न च लङ्घनप्रयत्नाभ्यासवदुत्तरोत्तरज्ञानजनकाभ्यासादः पूर्वपूर्वज्ञानव्यवस्थितो व्यापारः। तत्र हि उत्तरोत्तरलङ्घनस्य पूर्वपूर्वलङ्घननियतत्वम्, न चैव प्रकृते, व्याकरणादिशास्त्रज्ञानस्य न्यायादिशास्त्रज्ञानतो भिन्नविषयत्वेन नियतत्वाभावात्, अत एव श्रुतविस्मरणादिशीलस्य पुंसो व्याकरणादिशास्त्रमधीत्य न्यायादिशास्त्रमध्येतुरुत्तराध्ययनकाले पूर्वस्य विस्मरणमपि सङ्गच्छते, अन्यथा द्विहस्तादिलङ्घनाभ्यासे एकहस्तादिलङ्घनानुवृत्तिवदुदृढतयाऽनुवृत्तिरेव स्यात्, न तु विस्मरणं, पूर्वजन्माभ्यस्तलङ्घनातिशयः शरीरनिष्ठत्वाच्च यथा जन्मान्तरमनुव्रजति न तथा ज्ञानातिशयः, तथा सति एकत्र शास्त्रेऽलब्धमानप्रवेशो बटुः पित्रादिभिः शास्त्रान्तरं समासाद्यमानपटुतातिशयः कथं सङ्गच्छेत, तस्मिन् जन्मन्युभयोरपि शास्त्रयोस्तु प्रत्ययविशेषात्। तस्माद् यद्धि शास्त्रं येन पूर्वजन्मन्यधीतं तस्य तद्विषयकसंस्कारोऽनुवर्त्तत इत्युत्तरजन्मनि तत्र झटिति प्रवेशो नान्यथेत्यनेकजन्माभ्यस्तभिन्नभिन्नशास्त्रार्थविषयकसंस्कारेभ्यस्समुद्बुद्धेभ्योऽपि प्रभूतातिप्रभूतविषयकज्ञानानामुत्पत्तिसम्भवतीति न तस्य व्यवस्थितोत्कर्षता युक्तिमती। तथा ज्ञानस्य जीवस्वभावत्वेन न प्रकर्षगमनेऽप्याश्रयनाश इति न ताप्यमानोदकेन समानो

योगक्षेमाविति। सर्वे पदार्थाः कस्यचित्प्रत्यक्षस्य विषयाः प्रमेयत्वात् घटादिवदित्यनुमानं च तत्र प्रमाणम्। अथात्र सकलपदार्थसाक्षात्कार्येकज्ञानविषयत्वं साध्यते? किं वा प्रतिनियतप्रतिभासकभिन्नभिन्नप्रत्यक्षविषयत्वम्?, तत्र नाद्यः, घटादिषु प्रमेयत्वहेतोर्नियतावगाह्यनेकप्रत्यक्षविषयत्वव्याप्ततयैवोपलभ्यमानत्वेन हेतोर्विरोधाघ्रातत्वात्, साध्यविकलत्वाच्च दृष्टान्तस्य। नापि द्वितीयः, अर्थान्तरत्वापातात्। एवमशेषज्ञेयावलम्बिप्रमाणविषयत्वभूतं तत्तद्विषयकप्रमितिविषयत्वं किं वान्यल्लक्षणं प्रमेयत्वं हेतुत्वेनोपन्यस्यते?–तत्राद्यस्तु विवादगोचरीभूतेषु प्रत्येकरूपेण तस्याऽसम्भवेन भागासिद्धिप्रसङ्गतोऽसम्भवी, सम्भवे वा तत एव साध्यसिद्धेरनर्थकमनुमानोपन्यसनम्, दृष्टान्ते च तथाभूतप्रमाणप्रमेयत्वस्याप्यसिद्धेरसिद्धान्वयश्च हेतुः। द्वितीयपक्षोऽप्यसङ्गत एव, पक्षान्तर्गतेष्वतीन्द्रियेषु तस्यासम्भवेन भागासिद्धत्वात्, अन्त्योऽप्यसिद्ध एव, तादृशस्य प्रामाणिकैरनभ्युपगमादिति न च प्रेर्यम्, सकलानुमानस्यैवमेवोच्छेदप्रसङ्गात्, तथा हि, पर्वतो वह्निमानित्यत्रापि कृशानुः प्रतिनियतः किं वा पक्षदृष्टान्तोभयवृत्तित्वविशिष्टः साध्यते, तत्राद्ये यदि महानसधर्मिकस्तदा तद्व्याप्यधूमः पक्षेऽभावात्स्वरूपासिद्धः, पर्वतधर्मिकस्तदा धूमस्तद्व्याप्यतयाऽगृहीतत्वाद् व्याप्यत्वासिद्धः। न द्वितीयोऽपि, कस्यापि वह्नेरुक्तोभयवृत्तित्वाभावात्। एवं धूमहेतावप्येवमेव कक्षाद्वयी, तत्राद्यस्साध्यधर्मिधर्मो दृष्टान्तेऽनन्वयी, दृष्टान्तधर्मिकश्च स्वरूपासिद्ध इत्यसम्भवी। द्वितीयोऽप्यसिद्धः, कस्यापि धूमस्योभयवृत्तित्वासम्भवात्। अथ नैव सविशेषणौ साध्यहेतू क्रियेते, किन्तु निर्विशेषणौ सामान्यरूपावेवेति चेत्, तर्हि प्रकृतेऽपि कथं नैव विचारपद्धतिशरणं क्रियते। न च वाच्यं धूमत्वावच्छिन्नस्य वह्नित्वावच्छिन्नजन्यत्वेन तयोः कार्यकारणभावतः कार्येण कारणानुमानं प्रमाणमात्रमवलम्बते, अत्र तु कार्यलिङ्गस्यैवाभावतो नोक्तसिद्धिरिति, ग्रहोपरागमन्त्रौषधिशक्त्यादितथाविधफलप्रसाधकातीन्द्रियगोचरवचनविशेषः तत्साक्षात्कारिज्ञानपूर्वकस्तद्विषयाविसंवादिलिङ्गानुपदेशानन्वयव्यतिरेकपूर्वकवचनविशेषत्वाद् अस्मदादिप्रवर्तिततथाभूतवचनविशेषवदित्येवं तथाभूतवचनविशेषात्मककार्यलिङ्गस्यापि तत्प्रसाधकस्य सद्भावात्, इदञ्च प्रागेव विवेचितमिति नेह विविच्यते, तदेवं सिद्धः सर्वज्ञः, सिद्धे च तस्मिन् परमशुक्लध्यानेनावशिष्टभवोपग्राहिकर्मणि निश्शेषतः क्षीणे तस्य मुक्त्यवाप्तिरित्यस्त्येव निर्वाणमिति सिद्धम् 'अग्निहोत्रं जरामर्यं वा कुर्यात्' इति श्रुतावपि विकल्पार्थक 'वा' शब्देन मोक्षार्थिना मोक्षसाधकक्रियाकालोऽपि प्रदर्शित एवेति। अधिकञ्च प्रथमगाथाविवृतावेवोक्तमिति नेह विस्तार्यते ।५। एतेन 'नत्थि य मोक्खोवाओ' सर्वभावानां नियतत्वेनाकस्मादेव भावात्, स्वभावाद्वा भावादित्यनुपायवादिमतात्मकं षष्ठं मिथ्यात्वस्थानमपि निरस्तम्, अकस्माद्भवतीत्यत्र यदा किं शब्दो हेतुपरस्तदा तस्य नञाऽभिसम्बन्धाद्धेत्वभावे सति भवतीत्यर्थो लभ्यते, यदा तु भवनक्रियाया नञा सम्बन्धस्तदा

प्रसज्यप्रतिषेधे भवननिषेधोऽर्थो लभ्यते, किंशब्दसमस्यमानेनापि नञा सह भवतीत्यस्यान्वयात्। तथा चाकस्माद्भवतीत्यस्य हेतोर्न भवतीति फलितार्थः। यद्वा अकस्माद्भवतीत्यस्य स्वस्माद्भवति यद्वाऽनुपाख्याद्भवतीत्यर्थः, अथवा अकस्मादिति स्वभावादित्यर्थे रूढतया स्वभावादेव कादाचित्कत्वमिति पञ्चविकल्पाः, तत्र नाद्यः पक्षो युक्तः, हेतुनिषेधे भवनस्यानपेक्षत्वेन कालत्रयावच्छिन्नस्य सत्त्वस्यासत्त्वस्य वा प्रसङ्गात्। यदुक्तं—

"नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा, हेतोरन्यापेक्षणात्।
अपेक्षातो हि भावाना, कादाचित्कत्वसम्भवः ॥ १ ॥" इति।

न द्वितीयोऽपि पक्षस्सङ्गतः, भवनप्रतिषेधे प्रागपश्चादिव मध्येऽप्यभवनप्रसङ्गात्, न तृतीयोऽपि, यतस्स्वोत्पत्तेः पूर्वं यदि स्व स्यात्तदा नियतकालीनकार्योत्पत्तौ हेतुस्स्यात्, न चैवम्, स्वोत्पत्तेः पूर्वं स्वस्यैवाभावेन हेतुत्वं न सम्भवतीति भावः। न चतुर्थोऽपि, अनुपाख्यस्य कार्यकारित्वाभावात्, तथाऽपि कार्यजनकत्वाऽभ्युपगमे प्रागप्यनुपाख्यस्यानुपाख्यतया भावाच्च कार्यस्य सत्त्वप्रसक्तौ सदातनत्वं स्यात्। नापि पञ्चमः, स्वभाव इत्यस्य कोऽर्थः। किं स्वस्य भावः स्वभावः, किं वा स्वमेव भावः स्वभावः, तत्र नाद्यः, स्वस्य भावः स्वधर्मः, तथा च स्वधर्मात्स्वस्योत्पत्तिः प्रतिज्ञाता स्यात्, सा च न युक्ता, स्वधर्मेण स्वस्यानुत्पत्तेः, स्वपूर्वं स्वधर्मस्यैवाभावात्, आश्रयाभावे आश्रितानुपपत्तेः, न च द्वितीयोऽपि, पौर्वापर्यनियतस्य कार्यकारणभावस्यैकस्मिन् स्वात्मकवस्तुन्यसम्भवात्, नहि स्वमेव स्वस्मात्पूर्वमुत्तरं च भवितुमर्हतीति, तदेवं पञ्चविकल्पमध्ये एकोऽपि विकल्पो न युक्तः, नियतावधिकार्यदर्शनात्, अनियतावधित्वे निरवधित्वे वा कादाचित्कत्वस्वभावव्याकोपापातात्, तत्स्वाभाव्ये च सहेतुकत्वस्यावश्यकत्वात्, तदुक्तं कुसुमाञ्जलावुदयनाचार्येण—

"हेतुभूतिनिषेधो न, स्वानुपाख्यविधिर्न च।
स्वभाववर्णना नैव-मवधेर्नियतत्वतः ॥ १ ॥" इति।

तदेवमेकान्तनियतिवादस्यैकान्तस्वभाववादस्य चाऽप्रामाण्ये सिद्धे तदितरस्सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मको मोक्षोपायोऽस्तीति सिद्धम्।६। तस्माद्व्यवस्थितमेतदेकान्तरूपतया षडप्येतानि मिथ्यात्वस्य स्थानानीति ॥ ५४ ॥

नैतान्येव मिथ्यात्वस्थानानि किन्तूक्तविपरीतान्यप्येकान्तवादे तथैवेत्याह—

अत्थि अविणासधम्मो, करेइ वेएइ अत्थि निव्वाणं।
अत्थि य मोक्खोवाओ, छम्मिच्छत्तस्स ठाणाइं ॥ ५५ ॥

'अत्थि' अस्त्यात्मेत्येकं स्थानम् 'अविणासधम्मो' अविनाशधर्म इति द्वितीयस्थानम्,

'अविणासधम्मी' इत्यपि मुद्रितसम्मतिग्रन्थे पाठः, अविनाशधर्मी, उभयत्र नित्य इत्यर्थः 'करेइ' करोतीति तृतीय 'वेएइ' वेदयत इति चतुर्थम्, अनयोः क्रमेणात्मा कर्ता भोक्ता चास्तीत्यर्थः, 'अत्थि निव्वाण' अस्ति निर्वाणमिति पञ्चमम्, 'अत्थि य मोक्खोवाओ' अस्ति च मोक्षोपाय इति षष्ठम् 'छम्मिच्छत्तस्स ठाणाइं' एतानि षड् मिथ्यात्वस्य तत्त्वार्थाऽश्रद्धानलक्षणस्य स्थानानि। तत्र 'अत्थि' अस्त्यात्मेति पक्षः चार्वाकभिन्नात्मवादिनाम्, 'अविणासधम्मी' अविनाशधर्मीति पक्षश्च नैयायिकसाङ्ख्यमीमांसकादीनामात्मनित्यत्ववादिनाम्। 'करेइ' करोतीति मतमात्मनिष्ठकर्मादिकर्तृत्ववादिनां नैयायिकमीमांसकादीनाम् 'वेएइ' वेदयते आत्मा स्वकृतकर्मफल सुखदुःखमनुभवतीत्यभ्युपगमस्तेषामेव। 'अत्थि निव्वाण' अस्ति निर्वाणमिति 'अत्थि य मोक्खोवाओ' अस्ति च मोक्षोपाय इति च पक्षद्वय नास्तिकमीमांसकव्यतिरिक्तानां 'छम्मिच्छत्तस्स ठाणाइं' एतानि षड् आत्मत्वस्वस्वरूपेणात्माऽस्ति, अनात्मत्वात्मकपररूपेण नास्ति, स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षया कर्मकर्ता तत्फलभोक्ता च परद्रव्यक्षेत्राद्यपेक्षया चाकर्ता अभोक्ता चेत्यादिस्याद्वादमुद्रामुद्रणरहितानि मिथ्यात्वाधारता भजन्ते। एतद्विवेचनमनेकधा पूर्वमुक्तमिति नोच्यते, चतुर्थपाद तु गाथायाः केचिद् अन्यथा पठन्ति, 'छस्सम्मत्तस्स ठाणाइं' इति, अस्य च पूर्वोक्तस्याद्वादमर्यादयेतरधर्माऽजहद्वृत्त्या प्रवर्त्तमाना एते षड् पक्षाः सम्यक्त्वस्याधारता प्रतिपद्यन्ते इत्यर्थः, उक्तार्थसंवादिनयोपदेशग्रन्थोक्तस्य "षडेतद्विपरीतानि, सम्यक्त्वस्थानकान्यपि" इति श्लोकार्द्धस्य वृत्तिश्चैवम्-एतेभ्यः प्रागुक्तेभ्यो विपरीतानि षड् सम्यक्त्वस्थानान्यपि भवन्ति, अस्त्यात्मा, नित्यः, कर्त्ता, साक्षाद्भोक्ता, अस्ति मुक्तिः, अस्ति च तत्कारण रत्नत्रयमात्राज्यमिति। तदिदमुक्तम्—

" अत्थि जिओ तह णिचो, कत्ता भुत्ता स पुण्णपावाण।
अत्थि धुव निव्वाण, तस्सोवाओ अ छट्ठाणा ॥ १ ॥" इति ॥ ५५ ॥

अथानेकान्तवादमवलम्ब्यैवाविसंवाद्यनुमानप्रमाणप्रवृत्तेस्स्याद्वादिन एवाऽन्यथाऽनुपपत्तिलक्षणव्याप्तिमद्धेतोः पक्षे साध्यानुमितिरुपपद्यते, न त्वेकान्तवादिनः, साधर्म्यतो वैधर्म्यतो वा एकान्तसाध्यसाधकानुमानप्रमाणस्यैवानवतारादिति प्रतिपिपादयिषुस्सूरिराह—

साहम्मओ व्व अत्थ, साहेज्ज परो विहम्मओ वावि।
अन्नोन्न पडिकुट्ठा, दोण्ण वि एए असव्वाया ॥ ५६ ॥

" साहम्मओ व अत्थ साहेज्ज परो " साधर्म्यतो वा अर्थं साधयेत् परः, समानस्तुल्यः साध्यसामान्यान्वित साधनधर्मो यस्य असौ सधर्मा, तस्य भावः साधर्म्यम्, ततोऽर्थं साध्यधर्माधिकरणतया धर्मिण साधयेत् परः एकान्तनयवादी, अन्वयिहेतुप्रदर्शनात् साध्यधर्मिणि विवक्षित साध्य यदि वैशेषिकादिः साधयेत्, यद्वा समानो धर्मो यस्यासौ सधर्मा, सधर्मणो

प्रसज्यप्रतिषेधे भवननिषेधोऽर्थो लभ्यते, किंशब्दमसमानेनापि नञा सह भवतीत्यस्यान्वयात्। तथा चाकस्माद्भवतीत्यस्य हेतोर्न भवतीति फलितार्थः। यद्वा अकस्माद्भवतीत्यस्य स्वस्माद्भवति यद्वाऽनुपाख्याद्भवतीत्यर्थः, अथवा अकस्मादिति स्वभावादित्यर्थे रूढतया स्वभावादेव कादाचित्कत्वमिति पञ्चविकल्पाः, तत्र नाद्यः पक्षो युक्तः, हेतुनिषेधे भवनस्यानपेक्षत्वेन कालत्रयावच्छिन्नस्य सत्त्वस्यासत्त्वस्य वा प्रसङ्गात्। यदुक्तं—

" नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा, हेतोरन्यानपेक्षणात्।
अपेक्षातो हि भावानां, कादाचित्कत्वसम्भवः ॥ १ ॥ " इति।

न द्वितीयोऽपि पक्षस्सङ्गतः, भवनप्रतिषेधे प्रागपश्चादिव मध्येऽप्यभवनप्रसङ्गात्, न तृतीयोऽपि, यतस्स्वोत्पत्तेः पूर्वं यदि स्वं स्यात्तदा नियतकालीनकार्योत्पत्तौ हेतुस्स्यात्, न चैवम्, स्वोत्पत्तेः पूर्वं स्वस्यैवाभावेन हेतुत्वं न सम्भवतीति भावः। न चतुर्थोऽपि, अनुपाख्यस्य कार्यकारित्वाभावात्, तथाऽपि कार्यजनकत्वाऽभ्युपगमे प्रागप्यनुपाख्यस्यानुपाख्यतया भावात्तत्कार्यस्य सत्त्वप्रसक्तौ सदातनत्वं स्यात्। नापि पञ्चमः, स्वभाव इत्यस्य कोऽर्थः। किं स्वस्य भावः स्वभावः, किं वा स्वमेव भावः स्वभावः, तत्र नाद्यः, स्वस्य भावः स्वधर्मः, तथा च स्वधर्मात्स्वस्योत्पत्तिः प्रतिज्ञाता स्यात्, सा च न युक्ता, स्वधर्मेण स्वस्यानुत्पत्तेः, स्वपूर्वं स्वधर्मस्यैवाभावात्, आश्रयाभावे आश्रितानुपपत्तेः, न च द्वितीयोऽपि, पौर्वापर्यनियतस्य कार्यकारणभावस्यैकस्मिन् स्वात्मकरस्त्वसम्भवात्, नहि स्वमेव स्वस्मात्पूर्वमुत्तरं च भवितुमर्हतीति, तदेवं पञ्चविकल्पमध्ये एकोऽपि विकल्पो न युक्तः, नियतावधिकार्यदर्शनात्, अनियतावधित्वे निरवधित्वे वा कादाचित्कत्वस्वभावव्याकोपापातात्, तत्स्वाभाव्ये च सहेतुकत्वस्यावश्यकत्वात्, तदुक्तं कुसुमाञ्जलावुदयनाचार्येण—

" हेतुभूतिनिषेधो न, स्वानुपाख्यविधिर्न च।
स्वभाववर्णना नैव-मवधेर्नियतत्वतः ॥ १ ॥ " इति।

तदेवमेकान्तनियतिवादस्यैकान्तस्वभाववादस्य चाऽप्रामाण्ये सिद्धे तदितरस्सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मको मोक्षोपायोऽस्तीति सिद्धम्।६। तस्माद्व्यवस्थितमेतदेकान्तरूपतया षडप्येतानि मिथ्यात्वस्य स्थानानीति ॥ ५४ ॥

नैतान्येव मिथ्यात्वस्थानानि किन्तूक्तविपरीतान्यप्येकान्तवाद तथैवेत्याह—

अत्थि अविणासधम्मो, करेइ वेएइ अत्थि निव्वाणं।
अत्थि य मोक्खोवाओ, छम्मिच्छत्तस्स ठाणाइं ॥ ५५ ॥

'अत्थि' अस्त्यात्मेत्येकं स्थानम् 'अविणासधम्मो' अविनाशधर्म इति द्वितीयस्थानम्,

'अविणासधम्मी' इत्यपि मुद्रितसम्मतिग्रन्थे पाठः, अविनाशधर्मी, उभयत्र नित्य इत्यर्थः 'करेइ' करोतीति तृतीय 'वेएइ' वेदयत इति चतुर्थम्, अनयोः क्रमेणात्मा कर्त्ता भोक्ता चास्तीत्यर्थः, 'अत्थि निव्वाण' अस्ति निर्वाणमिति पञ्चमम्, 'अत्थि य मोक्खोवाओ' अस्ति च मोक्षोपाय इति षष्ठम् 'छम्मिच्छत्तस्स ठाणाइ' एतानि षट् मिथ्यात्वस्य तत्त्वार्थाऽश्रद्धानलक्षणस्य स्थानानि। तत्र 'अत्थि' अस्त्यात्मेति पक्षः चार्वाकभिन्नात्मवादिनाम्, 'अविणासधम्मी' अविनाशधर्मीति पक्षश्च नैयायिकमाडुयमीमांसकादीनामात्मनित्यत्ववादिनाम्। 'करेइ' करोतीति मतमात्मनिष्ठकर्मादिकर्तृत्ववादिनां नैयायिकमीमांसकादीनाम् 'वेएइ' वेदयते आत्मा स्वकृतकर्मफल सुखदुःखमनुभवतीत्यभ्युपगमस्तेषामेव। 'अत्थि निव्वाण' अस्ति निर्वाणमिति 'अत्थि य मोक्खोवाओ' अस्ति च मोक्षोपाय इति च पक्षद्वय नास्तिकमीमांसकव्यतिरिक्तानां 'छम्मिच्छत्तस्स ठाणाइ' एतानि षट् आत्मत्वस्वरूपेणात्माऽस्ति, अनात्मत्वात्मकपररूपेण नास्ति स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षया कर्मकर्त्ता तत्फलभोक्ता च परद्रव्यक्षेत्राद्यपेक्षया चाकर्ता अभोक्ता चेत्यादिस्याद्वादमुद्रामुद्रणरहितानि मिथ्यात्वाधारतां भजन्ते। एतद्विवेचनमनेकधा पूर्वमुक्तमिति नोच्यते, चतुर्थपादं तु गाथायाः केचिद् अन्यथा पठन्ति, 'छस्सम्मत्तस्स ठाणाइ' इति, अस्य च पूर्वोक्तस्याद्वादमर्यादयेतरधर्माऽजहद्वृत्त्या प्रवर्त्तमाना एते षट् पक्षाः सम्यक्त्वस्याधारता प्रतिपद्यन्ते इत्यर्थः, उक्तार्थसंवादिनयोपदेशग्रन्थोक्तस्य "षडेतद्विपरीतानि, सम्यक्त्वस्थानकान्यपि" इति श्लोकार्द्धस्य वृत्तिश्चैवम्-एतेभ्यः प्रागुक्तेभ्यो विपरीतानि षट् सम्यक्त्वस्थानान्यपि भवन्ति, अस्त्यात्मा, नित्यः, कर्त्ता, भोक्ता, अस्ति मुक्तिः, अस्ति च तत्कारण रत्नत्रयमाप्ताज्ञप्तमिति। तदिदमुक्तम्—

" अत्थि जिओ तह णिच्चो, कत्ता भुत्ता स पुण्णपावाण।
अत्थि धुव निव्वाण, तस्सोवाओ अ छट्ठाणा ॥ १ ॥ " इति ॥ ५५ ॥

अथानेकान्तवादमवलम्ब्यैवानिराबाधानुमानप्रमाणप्रवृत्तेस्स्याद्वादिन एवाऽन्यथाऽनुपपत्तिलक्षणव्याप्तिमद्धेतोः पक्षे साध्यानुमितिरुपपद्यते, न त्वेकान्तवादिनः, साधर्म्यतो वैधर्म्यतो वा एकान्तसाध्यसाधकानुमानप्रमाणस्यैवानवतारादिति प्रतिपिपादयिषुस्सूरिराह—

साहम्मओ व्व अत्थ, साहेज्ज परो विहम्मओ वावि।
अन्नोन्न पडिकुट्ठा, दोण्ण वि एए असव्वाया ॥ ५६ ॥

" साहम्मओ व अत्थ साहेज परो " साधर्म्यतो वा अर्थ साधयेत् परः, समानस्तुल्यः साध्यसामान्यान्वितः साधनधर्मो यस्य असौ सधर्मा, तस्य भावः साधर्म्यम्, ततोऽर्थं साध्यधर्माधिकरणतया धर्मिणं साधयेत् परः एकान्तनयवादी, अन्वयिहेतुप्रदर्शनात् साध्यधर्मविशिष्ट साध्य यदि वैशेषिकादिः साधयेत्, यद्वा समानो धर्मो यस्यासौ सधर्मा, सधर्मणः

भावः साधर्म्यं, तस्मात्, साध्येन सह हेतोरन्वयव्याप्तिर्गृहीता यत्र तल्लक्षणसाधर्म्यदृष्टान्तद्वाराऽन्वयिहेतोरित्यर्थः, अयं साध्यधर्मिणि विवक्षितं साध्यं यदि परो वैशेषिकादिः साधयेत् तदा अयं श्यामः तत्पुत्रत्वात् अपरतत्पुत्रवदित्यनुमाने तत्पुत्रत्वादेरपि गमकत्वं स्यात्, अन्वयमात्रस्य तत्रापि भावात्। "विहम्मओ वा वि" वैधर्म्याद् विगतस्तथाभूतः साधनधर्मो यस्मादसौ विधर्मा, तस्य भावो वैधर्म्यम्, तस्माद् व्यतिरेकिणो हेतोः प्रकृतं साध्यं साधयेत्। यद्वा विसदृशो धर्मो यस्य स विधर्मा विधर्मणो भावो वैधर्म्यम्, तस्मात्, अर्थात् साधनाभावेन सह साध्याभावस्य व्याप्तिर्गृह्यते यत्र तल्लक्षणवैधर्म्यदृष्टान्तद्वारा व्यतिरेकिहेतो यदि साध्यं साधयेत्, गाथायां वाशब्दस्य समुच्चयार्थत्वाद् वाशब्दस्य विकल्पार्थत्वे त्वपि शब्दस्य समुच्चयार्थत्वादुभाभ्यां वा, तथापि तत्पुत्रत्वादेरेव गमकत्वप्रसक्तिः, श्यामत्वाभावे तत्पुत्रत्वादेरन्यत्र गौरपुरुषेऽभावात्, उभाभ्यामपि तत्साधने अत एव साध्यसिद्धिप्रसक्तिस्स्यात्। "अन्नोन्न पडिकुट्ठा दोण्णवि एए असब्बाया" अन्योन्यं प्रतिक्रुष्टौ द्वावपि एतावसद्वादौ। अयम्भावः-परः साध्यं साधयन् न तावत्सामान्यं साधयेत्, केवलस्य तस्य वह्नित्वाश्वत्वगोत्वादेर्दहनवेगगमनदोहनाद्यर्थक्रियाकारित्वाभावेनासद्रूपतया प्राक् प्रतिपादितत्वात्। नाऽपि विशेषम्, प्रतिव्यक्तिभिन्नरूपत्वेन तस्याननुगतत्वेन व्याप्तिग्रहाभावेन साधयितुमशक्यत्वात्। न च विशेषरूपयोस्साध्यहेत्वोस्सर्वोपसंहारेण व्याप्तिग्रहाभावेऽपि सामान्यरूपेणानुगतत्वात् समवायसम्बन्धेन तद्विशिष्टयोस्तयोस्स भविष्यत्येवेति वाच्यम्, समवायस्य पूर्वं निषिद्धत्वेन तेन सम्बन्धेन तद्विशिष्टत्वाऽसिद्धेः, "पर्वतो जातिमद्वान् इत्यादावतिप्रसङ्गाच्च" अस्यायम्भावः-यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र जातिमानित्येवं सामान्यरूपेणान्वयव्याप्तेस्सद्भावेन धूमाद्वह्नेर्वह्नित्वेनेव सामान्यतो जातित्वालिङ्गितवह्नित्वेनापि वह्नेस्सिद्धिप्रसङ्गस्स्यात्, न चेष्टापत्तिरिति वाच्यम्, धूमवह्न्योर्धूमत्वेन वह्नित्वेन यः कार्यकारणभावस्तद्बलादेव तयोरन्वयव्याप्तिग्रहक्रमेण वह्न्यनुमानं युक्तम्, यद्यपि यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र जातिमानिति व्याप्तिस्सम्भवति परं सा न कार्यकारणभावमूलिका, न हि धूमत्वावच्छिन्नं प्रति वह्नित्वावच्छिन्नस्य यत्कारणत्वं तज्जातित्वावच्छिन्नवह्नित्वनिष्ठावच्छेदकतानिरूपितं किन्तु निरवच्छिन्नवह्नित्वनिष्ठावच्छेदकतानिरूपितमेवेति तद् धूमत्वेन धूमहेतुना निरवच्छिन्नवह्नित्वेन वह्नेरेवानुमानेऽन्वयव्याप्तिग्राहकतोपयुक्तमितीष्टापत्तेः कर्तुमशक्यत्वात्। नाप्युभयम्, उभयदोषानतिवृत्तेः, नाप्यनुभयम्, तस्याऽसत्तो हेत्वव्यापकत्वेन साध्यत्वाऽयोगात्, तदेवमन्योन्यं प्रतिक्रुष्टौ प्रतिक्षिप्तौ द्वावप्येतौ सामान्यविशेषैकान्तावसद्वादाविति सिद्धम्, इतरनिर्मुक्तस्यैकस्य शशशृङ्गादेरिव साधयितुमशक्यत्वात्। अत्राह नैयायिकः-नन्वनौपाधिकसम्बन्धो व्याप्तिरिति तत्पुत्रत्वहेतौ शाकपाकजत्वस्य साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकतयोपाधित्वेन सोपाधिकतयोक्तलक्षणव्याप्त्यभावादुक्तहेतुव्याप्यत्वाऽसिद्धः, यस्मिंश्च हेतौ व्याप्यत्वासिद्धिस्तत्र व्यापकव्यभिचारिणो व्याप्यव्यभिचारित्वनियमाद् व्यभिचार

दोषोऽपि, अत एव सकलविपक्षव्यावृत्तिनिश्चयाभावेन पञ्चरूपाऽभावाच्चास्य गमकत्वमिति चेत्, तर्ह्यन्यथाऽनुपपन्नत्वनिश्चयाभावादेवागमकत्वं तत्पुत्रत्वहेतोरुक्तं स्यादिति निश्चिताऽन्यथाऽनुपपन्नत्वस्यैव हेतुलक्षणत्वमस्तु । एतेन रूपत्रयवादी बौद्धोऽपि तत्पुत्रत्वहेतौ विपक्षे असत्त्वं निश्चितं नास्ति, न हि श्यामत्वाऽसत्त्वे तत्पुत्रत्वेनावश्यं निवर्तनीयमित्यत्र प्रमाणमस्तीति वदन् निरस्तः । निश्चितान्यथानुपपन्नत्वमात्रस्यैकरूपस्य हेतुलक्षणत्वोपपत्तेस्त्रैरूप्यस्यापि पञ्चरूपत्वस्येवाऽकिञ्चित्करत्वात् "त्रय एव अनुपलब्धिः स्वभावः कार्यं चेति" न्यायबिन्दुद्वितीयपरिच्छेदसूत्रोक्तानुपलब्धिस्वभावकार्यभेदभिन्नहेतुत्रयेषु "उदाहरणसाधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुः" । ३४ । "तथा वैधर्म्यात्" ३५ इति प्रथमाध्यायप्रथमाह्निकचतुस्त्रिंशत्पञ्चत्रिंशत्सूत्रोक्तान्वयिव्यतिरेक्यन्वयिव्यतिरेक्यात्मकहेतुत्रयेषु च "अस्येदं कार्यं कारणं संयोगि विरोधि समवायि चेति" ९-२-१ इति वैशेषिकसूत्रनवमाध्यायद्वितीयाह्निकप्रथमसूत्रोक्तकार्यकारणसंयोगिविरोधिसमवायिरूपेषु हेतुभेदेषु च एवमन्यवाद्युक्तसकलहेतुभेदेषु प्रवर्तमानस्य सद्धेतुरूपलक्ष्यव्यापिनः सर्वसाधारण्यादसिद्धादिहेत्वाभासप्रपञ्चाद् व्यावर्तमानस्य निश्चितान्यथानुपपन्नत्वस्य हेतुलक्षणत्वं युक्तिसिद्धमभ्युपगन्तव्यम्, तथाविधस्यापि तदलक्षणत्वे हि न किञ्चित्कस्यचिल्लक्षणं स्यादिति लक्ष्यलक्षणभाव एवोच्छिद्येत, तदुक्तं प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारे—

"निश्चितान्यथानुपपत्त्येकलक्षणो हेतुः ॥ ३ । ११ ।
न तु त्रिलक्षणकादिरिति । ३ । १२ ।
तस्य हेत्वाभासस्यापि सम्भवादिति । ३ । १३ ।"

अत्र बौद्धाः प्राहुः—ननु निश्चितसाध्याविनाभूतहेतावेवान्यथाऽनुपपन्नत्वं रूपम्, तच्च पक्षसत्त्वसपक्षसत्त्वविपक्षासत्त्वात्मकरूपत्रयसमुदायस्यैवेति तद्रूपत्वमेव हेतुलक्षणमस्तु, यतः पक्षसत्त्वस्य हेतुलक्षणाऽघटकत्वे शब्दोऽनित्यः चाक्षुषत्वात् रूपवदित्यत्र शब्दरूपपक्षे चाक्षुषत्वहेतोरभावात्स हेतुस्स्वरूपाऽसिद्धोऽपि सपक्षे घटादौ वर्तते विपक्षे च शशशृङ्गादौ न वर्तत इति तस्य सपक्षसत्त्वविपक्षासत्त्वद्वयरूपसद्भावात्सद्धेतुत्वापत्त्या तज्ज्ञानेनानुमित्युत्पत्तिस्स्यात्, न च सा भवतीत्यसिद्धत्वव्यवच्छेदार्थं पक्षधर्मत्वं गमकताङ्गमभ्युपगन्तव्यम्, सपक्षसत्त्वस्य हेतुलक्षणाघटकत्वे च विरुद्धत्वव्युदासाऽसम्भवेन शब्दो नित्यः कृतकत्वादित्यत्र नित्यत्वसाध्याभावव्याप्यतया विरुद्धेनाऽपि कृतकत्वहेतुना साध्यानुमितिस्स्यात्, न च सा भवतीति विरुद्धत्वव्यवच्छेदार्थं सपक्षसत्त्वमप्यभ्युपगन्तव्यम् । विपक्षासत्त्वस्य हेतुलक्षणघटकत्वाऽभावे ह्रदो वह्निमान् प्रमेयत्वादित्यत्रानैकान्तिकत्वव्युदासस्याऽसम्भवेन व्यभिचारिणः प्रमेयत्वहेतोः पक्षे ह्रदे सपक्षे च महानसादौ सत्त्वेन पक्षसत्त्वसपक्षसत्त्वद्वयविशिष्टेन तेन हेतुना ज्ञानेनानुमित्युत्पत्तिस्स्यादिति तत्रानैकान्तिकत्वव्यवच्छेदार्थं विपक्षा-

ऽसत्त्वरूपमप्यभ्युपगन्तव्यमिति पक्षधर्मत्वादिरूपत्रयमेव सर्वस्मिन् हेतावस्तीति तदेव लक्षणमभ्युपगन्तव्यमिति चेत्, अस्तु, न च नियमेनानुमित्युपयुक्त तत्, निश्चितान्यथाऽनुपपन्नत्वात्मकनियतैकरूपमात्रेणाप्यनुमित्युपपत्तेरिति तत्सत्त्वमकिञ्चित्करम्, अत एव पात्रस्वामिनाऽप्येवमुक्तम्—

" अन्यथाऽनुपपन्नत्व, यत्र तत्र त्रयेण किम् ? ।
नान्यथाऽनुपपन्नत्व, यत्र तत्र त्रयेण किम् ? ॥ १ ॥ " इति ।

किञ्च न खलु कृत्तिकोदयाच्छकटोदयाद्यनुमाने पक्षधर्मता सम्भवति, अथ कालाकाशादि भविष्यच्छकटोदयादिमत् कृत्तिकोदयादिमत्त्वात् पूर्वोपलब्धकालाकाशादिवदितीत्यमत्र पक्षधर्मताऽभिधीयते इति चेत्, तर्हि न कश्चिदपक्षधर्मत्वो हेतुः स्यात्, काककार्ष्ण्यादेरपि प्रासादधावल्यादौ साध्ये जगतो धर्मित्वेन पक्षधर्मत्वस्य कर्तुं शक्यत्वात् । तथाहि जगत् प्रासादधावल्ययोगि काककार्ष्ण्ययोगित्वात् । तन्न नियमेन पक्षधर्मत्वं साध्यगमकताङ्गम्, अत एव भट्टोऽप्याह—

" पित्रोश्च ब्राह्मणत्वेन, पुत्रब्राह्मणताऽनुमा ।
सर्वलोकप्रसिद्धा न, पक्षधर्ममपेक्षते ॥ १ ॥
नदीपुरोऽप्यधो देशे, दृष्ट' सन्नुपरिस्थिताम् ।
नियम्यो गमयत्येव, वृत्ता वृष्टिं नियामिकाम् ॥ २ ॥ " इति ।

ननु हेतोर्बलद्वयम्, एक व्याप्तिरूपम्, द्वितीयञ्च पक्षधर्मतारूपम्, तत्राद्यबलेनानुमितौ नियतसाध्यस्य मानम्, द्वितीयबलेन पक्षस्य तत्र भानमिति, यदि पक्षधर्मताऽङ्ग नाङ्गी क्रियते तदाऽनुमितौ कथ पक्षभान नियमेन स्यादिति चेत्, उच्यते, अनुमितौ पक्षधर्मत्व स्यानङ्गत्वेऽपि यद्धर्म्यनवच्छेदन हेतोस्साध्य विनाऽनुपपत्तिः प्रतिसन्धीयते तस्य धर्मिणोऽनुमितौ धर्मितया मानमित्येव प्रतिनियतधर्मिभान निर्वहत्येव, यथा नभश्चन्द्रास्तित्व विना जलचन्द्रोऽनुपपन्न इत्यत्र, अत्र नहि समुद्रादिदेशान्तरवर्ति चन्द्र विना जलचन्द्रोऽनुपपन्न, किन्तु नभसि चन्द्र विनैवेति नभ एव बिम्बभूतचन्द्रानुमितौ धर्मितया भासते, यद्वा यद्धर्मिणि हेतोर्ग्रहण पक्षधर्मताज्ञानात्मक साध्यानुमितिं जनयितुमल तस्य धर्मिणोऽनुमितौ धर्मितया मानम्, यथा पर्वतो वह्निमान् धूमवत्त्वादित्यत्र, अत्र नहि अन्यदेशस्थितो धूमो गृहीतस्सन् स्वाधिकरणदेशातिरिक्तदेशस्थितवह्न्यनुमितिं जनयितु समर्थः, किन्तु यस्मिन् देशे गृहीतस्सन् अनुमितिं जनयति स एव देशोऽनुमितौ धर्मितया भासत इति । न चाऽत्राप्यन्यथाऽनुपपन्नत्वलक्षणव्याप्त्यवच्छेदकतयैव पर्वतस्यानुमितौ कथ न भानमिति वाच्यम्, सर्वोपसहारेण व्याप्तिग्रहणे धूमाधिकरणमात्रानुगामिन. पर्वतस्य विशिष्यप्रतिभासनेनावच्छेदकत्वाऽसम्भवादिति । पक्षसत्त्ववदेव सपक्षसत्त्व विपक्षासत्त्वमपि न साध्यगमकताङ्ग

ज्ञेयम्, सर्वमनेकान्तात्मकं उत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणसत्त्वान्यथाऽनुपपत्तेः, सर्वमभिधेयं प्रमेयत्वादित्यादौ सपक्षविपक्षाभावात् सपक्षसत्त्वविपक्षासत्त्वाभावेऽप्यनुमित्युपपत्तेः। ननु सपक्षसत्त्वस्य साध्यगमकत्वानङ्गत्वे तेन साध्यवदसत्त्वलक्षणविरोधदोषोऽभ्युदासाद्विरुद्धेनापि हेतुना, एवं विपक्षासत्त्वस्य तदनङ्गत्वे तेन साध्याभाववद्वृत्तित्वलक्षणव्यभिचारदोषोऽभ्युदासाद्व्यभिचारिणाऽपि हेतुनाऽनुमित्युत्पत्तिस्स्यादिति न च वाच्यम्, निश्चितान्यथानुपपन्नत्वलक्षणत्वादेव हेतोर्विरुद्धत्वादिदोषपरिहारसिद्धेः, न ह्यसिद्धविरुद्धादिषु हेत्वाभासेषु निश्चितान्यथाऽनुपपत्तिसम्भवतीति न विरुद्धादिहेतुनाऽनुमित्युत्पत्तिप्रसङ्ग इति निश्चितान्यथाऽनुपपत्तिरेव लक्षणं हेतोरभ्युपगन्तव्यमिति। अत्र नैयायिकाः प्रत्यवतिष्ठन्ते, बौद्धाभ्युपगतत्रैरूप्यं हेतोर्लक्षणं मा भूत्, एतानि सहकारफलानि पक्वानि एकशाखाप्रभवत्वात् उपयुक्तसहकारफलवदित्यादावामताग्राहिप्रत्यक्षबाधितविषये, अयं देवदत्तो मूर्खः चैत्रपुत्रत्वात् अपरतत्पुत्रवदित्यादौ अयं देवदत्तो मूर्खो न भवति निखिलशास्त्रव्याख्यानादिकलाकौशलशालित्वात् प्रतिपन्नप्राज्ञपुरुषवदिति प्रतिपक्षानुमानेन सत्प्रतिपक्षितेऽपि च हेतावस्य सम्भवात्, पञ्चरूपत्वं तु हेतुलक्षणं भवत्येव, निर्दोषत्वात्, तथाहि यस्य पक्षधर्मता नास्ति सोऽसिद्धो हेत्वाभासः, यथा शब्दोऽनित्यः चाक्षुषत्वात् रूपवदिति, सपक्षे सत्त्वं यस्य नास्ति स विरुद्धः, यथा शब्दो नित्यः कृतकत्वादिति, यस्य विपक्षाद्व्यावृत्तिर्नास्त्यसावनैकान्तिकः यथा पर्वतो वह्निमान् प्रमेयत्वात् शब्दो नित्यः प्रमेयत्वाद्वेति, यस्याबाधितविषयत्वं नास्ति स कालात्ययापदिष्टः, यथा वह्निरनुष्णो द्रव्यत्वादिति प्रत्यक्षबाधितविषयः, ब्राह्मणेन जैनेन वा सुरा पेया द्रवत्वात् क्षीरवदित्यागमबाधितविषयः, अतः स हेतुः कालात्ययापदिष्टः, यस्य निष्प्रतिपक्षता नास्ति स प्रकरणसमः, यथा शब्दोऽनित्यः नित्यधर्मानुपलब्धेर्घटवत्, शब्दो नित्योऽनित्यधर्मानुपलब्धेः आकाशवदिति। तथा च पञ्चरूपाणि यस्मिन् हेतौ स एव निर्दुष्ट इति ज्ञातस्सन् व्याप्तिस्मृतिद्वाराऽनुमित्युत्पादक इति पञ्चरूपत्वमेव हेतुलक्षणमभ्युपगन्तव्यम्। यथोक्तं जयन्तेन—

" पञ्चलक्षणकाल्लिङ्गाद्, गृहीतान्नियमस्मृतेः।
परोक्षे लिङ्गिनि ज्ञान-मनुमानं प्रचक्षते ॥ १ ॥ " इति।

अत्रोच्यते प्रतिविधानम्—हेतोः पञ्चरूपत्वं लक्षणं न युक्तम्, त्रैरूप्यवत्तस्यापि हेत्वाभासेऽपि भावात्। यतोऽग्निजन्योऽयं धूमः सत्त्वात्, पूर्वोपलब्धधूमवदित्यत्र अग्निजन्यत्वाभाववति घटे सत्त्वहेतोर्विद्यमानत्वेन व्यभिचारदोषाक्रान्ततया हेत्वाभासरूपेऽपि तस्मिन् हेतौ पक्षधर्मत्वं तावदस्ति, पक्षीभूते धूमे सत्त्वहेतोरसंदिग्धत्वात्, सपक्षसत्त्वमपि तत्र विद्यते, पूर्वदृष्टे धूमेऽग्निजन्यत्वेन निश्चिते सत्त्वहेतोस्सद्भावात्, विपक्षाऽसत्त्वमपि तत्र विद्यते खरविषाणादौ साध्याभावे साधनस्य सत्त्वस्याभावनिश्चयात्।

विवादापन्ने धूमेऽग्निजन्यत्वस्य बाधकाभावात्, विवादापन्नो धूमोऽग्निजन्यो न स्यात्तर्हि धूमार्थी वह्न्यानयनार्थं नैव प्रवर्त्तेत, प्रवर्त्तते च तदर्थी तस्माद् धूमो धनञ्जयजन्य इति प्रसङ्गविपर्ययाभ्यां विवादापन्ने धूमेऽग्निजन्यत्वस्य सिद्धेः। एवमसत्प्रतिपक्षत्वमपि, अनग्निजन्यत्वसाधकस्यानुमानस्यात्राऽसम्भवादिति सिद्धं हेत्वाभासेऽपि सत्त्वहेतौ पञ्चरूपत्वम्, तथा चालक्ष्ये सत्त्वहेतावुक्तलक्षणगमनादतिव्याप्तं तल्लक्षणं न समीचीनतामञ्चति। सामस्त्येन व्यतिरेकव्याप्तिनिश्चयस्याभावात् सत्त्वहेतावसिद्धं पञ्चरूपत्वमिति चेत्, न, तस्य निश्चितान्यथाऽनुपपन्नत्वरूपत्वेन तदभावे शेषरूपाणामकिञ्चित्करत्वापत्तेस्तद्विकलस्यैव पञ्चलक्षणत्वस्यालक्षणत्वेन साध्यत्वात्, यत्पुनरबाधितविषयत्वासत्प्रतिपक्षत्वयोरभावादेकशाखाप्रभवत्वतत्पुत्रत्वहेत्वोरगमकत्वमवादि, तत्राप्यन्यथानुपपन्नत्वाभाव एव निमित्तम्, न पुनरबाधितविषयत्वासत्प्रतिपक्षत्वयोरभावः। तयोः सतोरप्यगमकत्वस्यानन्तरमेव दर्शितत्वात्। किञ्चाबाधितविषयत्वस्य तावन्निश्चितस्यैव हेत्वङ्गत्वमङ्गीकार्यम्, अन्यथा पक्षधर्मत्वादेरप्यनिश्चितस्य हेत्वङ्गत्वप्रसङ्गः स्यात्। न च तन्निश्चयः सम्भवति, तन्निश्चयसाध्यनिश्चययोः परस्पराश्रयणात्। सति हि बाधाभावनिश्चये हेतोः साध्यनिश्चयः, तन्निश्चयाच्च बाधाभावनिश्चय इति न तयोरन्यतरस्य सिद्धिः। यच्चान्यतः कुतश्चिद् बाधाऽभावनिश्चयात् परस्पराश्रयपरिहारप्रतिपादनं क्रियते, तदपि न मनोरमम्, यतस्तन्निबन्धनमनुपलम्भः, संवादो वा स्यात्, न तावदनुपलम्भः, सर्वसम्बन्धिनस्तस्याऽसिद्धेः, आत्मसम्बन्धिनस्तस्यानैकान्तिकत्वात्। नाऽपि संवादः, प्रागनुमानप्रवृत्तेस्तस्यासिद्धेः, अनुमानोत्तरं तत्सिद्ध्युपगमे परस्पराश्रयः, अनुमानात्प्रवृत्तौ संवादनिश्चयः, ततश्चाबाधितविषयत्वाऽवगमेऽनुमानप्रवृत्तिरिति, न चाविनाभावनिश्चयादेवाबाधितविषयत्वनिश्चयः, हेतौ पञ्चरूपयोगित्वाविनाभावपरिसमाप्तिवादिनामबाधितविषयत्वाऽनिश्चयेऽविनाभावनिश्चयस्यैवाऽसम्भवात्। नन्वेवमन्यथानुपपत्तिलक्षणाऽविनाभावोऽपि हेतुलक्षणं न सम्भवति, तन्निश्चयोऽपि साध्यसद्भावनिश्चयायत्तः, सोऽपि चाविनाभावनिश्चयाधीन इत्येवमितरेतराश्रयस्य प्रसङ्गादिति चेत्, न, अविनाभावनियमस्य हेतौ तर्काख्यप्रमाणान्तरान्निश्चयोपगमादितरेतराश्रयानवकाशात्, नन्वेवं तर्हि यस्मात्तर्काख्यप्रमाणादविनाभावनिश्चयो हेतौ तत एव साध्यस्यापि सिद्धेस्तत्र हेतोरकिञ्चित्करत्वमिति चेत्, न, हेतोर्देशादिविशेषावच्छिन्नस्य साध्यस्य साधनात्। तर्कप्रमाणात्तु सामान्यत एव तत्सिद्धेः। तदेकशाखाप्रभवत्वादेर्बाधितविषयत्वाद्धेत्वाभासत्वम्, किन्त्वन्यथानुपपत्त्यभावादेवेति। नाऽपि तत्पुत्रत्वादेरसत्प्रतिपक्षत्वाद्धेत्वाभासत्वम्, यतः प्रतिपक्षस्तुल्यबलोऽतुल्यबलो वा स्यात्, द्वयोस्तुल्यबलत्वे बाध्यबाधकभावाऽनुपपत्तिः, अतुल्यबलत्वं त्वनयोः किं पक्षधर्मत्वादिभावाभावकृतमनुमानबाधजनितं वा, न तावदाद्यः पक्षो निरवद्यः, पक्षधर्मत्वादेरुक्तहेतुद्वयस्याऽविशेषात्, मूर्खत्वाभावे साध्ये शास्त्रव्याख्यानादिकलाकौशलशालित्वस्येव मूर्खत्वे साध्ये तत्पुत्रत्वस्यापि पक्षधर्मत्वादिसम्भवात्। द्वितीय

पक्षोऽप्यसम्भाव्यः, अनुमानबाधजनिताऽतुल्यबलत्वस्याऽऽप्यसिद्धेः, नहि द्वयोः पक्षधर्मत्वाद्यविशेषे एकस्य बाध्यत्वमपरस्य बाधकत्वं युक्तम्, अविशेषेणैव तत्प्रसङ्गात्, परस्पराश्रयश्च, तथाऽतुल्यबलत्वे सत्यनुमानबाधा, तस्यां च सत्यामतुल्यबलत्वमिति । तदेवं हेतौ पक्षधर्मत्वादिपञ्चरूपाग्रहं मुञ्च स्वीकुरु च निश्चितान्यथाऽनुपपन्नत्वमात्रमेकरूपम् । तदुक्तम्–

" अन्यथाऽनुपपन्नत्वं, रूपैः किं पञ्चभिः कृतम् ? ।
नान्यथानुपपन्नत्वं, रूपैः किं पञ्चभिः कृतम् ? ॥ १ ॥" इति ।

तथा च निश्चितान्यथाऽनुपपन्नत्वैकलक्षणको हेतुरिति सिद्धम् । तदन्यो हेत्वाभासः, हेतुवदाभासते इति व्युत्पत्तेर्दुष्टहेतुरिति यावत् । अत्र नैयायिकास्तल्लक्षणमित्थं वदन्ति–अनुमितितत्करणान्यतरप्रतिबन्धकयथार्थज्ञानविषयवत्त्वं दुष्टहेतुत्वम् । दोषसामान्यलक्षणन्तु–अनुमितितत्करणान्यतरप्रतिबन्धकयथार्थज्ञानविषयत्वम्, अनुमितितत्करणान्यतरप्रतिबन्धकतावच्छेदकयथार्थज्ञानविषयत्वमिति यावत्, तेनोदासीनविषयस्य समूहालम्बनात्मकदुष्टज्ञानविषयत्वेऽपि नातिप्रसङ्ग इति बोध्यम् । अस्यापि यद्रूपावच्छिन्नविषयकज्ञानसामान्यमनुमितिप्रतिबन्धकं तद्रूपावच्छिन्नत्वं दोषत्वमित्यत्र तात्पर्यम्, तेन न वह्न्यभावादावतिव्याप्तिः, वह्न्यभावत्वावच्छिन्नविषयकस्य 'वह्न्यभाववान् ह्रदः' इति ज्ञानस्यानुमितिप्रतिबन्धकत्वेऽपि तादृशज्ञानसामान्यान्तर्गतस्य 'वह्न्यभावः' इत्याकारकज्ञानस्याऽप्रतिबन्धकत्वेन वह्न्यभावत्वादेर्यद्रूपपदेनोपादानाऽसम्भवात् जैनमते तु सद्धेतुभिन्नहेतुत्वमेव दुष्टहेतोर्लक्षणम्, अत एव जैनतर्कपरिभाषायां " सोऽयमनेकविधोऽन्यथाऽनुपपत्त्येकलक्षणो हेतुरुक्तः, अतोऽन्यो हेत्वाभासः " इत्युक्तं सङ्गच्छते । स त्रिविधः असिद्धविरुद्धानैकान्तिकभेदात्, तत्राप्रतीयमानस्वरूपो हेतुरसिद्धः, स्वरूपाप्रतीतिश्च कस्यचित्पुनो हेतोरज्ञानात्, कस्यचित् हेतुस्वरूपे सन्देहात्, कस्यचित्पुनः विपर्ययाद्भवति, असिद्धोऽपि हेत्वाभासः उभयासिद्धाऽन्यतरासिद्धभेदेन द्विविधः, यो हेतुर्वादिप्रतिवाद्युभयमतेन पक्षात्मके धर्मिण्यसिद्धः स आद्यः, उभाभ्यामपि पक्षे हेतुत्वमात्राभ्युपगमात्, यथा शब्दः परिणामी चाक्षुषत्वादिति, अत्र चाक्षुषत्वहेतुः परिणामवादिना जैनेन नैयायिकेन च प्रतिवादिना शब्दात्मके पक्षे नाभ्युपगत इति उभयासिद्धः, यश्च हेतुः पक्षे वादिप्रतिवाद्यन्यतरेणासिद्धः स द्वितीयः, यथा अचेतनास्तरवः विज्ञानेन्द्रियायुर्निरोधलक्षणमरणरहितत्वादिति प्रयोगं बौद्धो जैनं प्रति कुर्याच्चेदा " से बेमि इमं पि जाइधम्मयं एयं पि जाइधम्मयं, इमं पि वुड्ढिधम्मयं एयं पि वुड्ढिधम्मयं, इमं पि चित्तमंतयं एयं पि चित्तमंतयं, इमं पि छिण्णं मिलाइ एयं पि छिण्णं मिलाइ, इमं पि आहारगं एयं पि आहारगं, इमं पि अणिच्चयं एयं पि अणिच्चयं, इमं पि असासयं एयं पि असासयं, इमं पि चओवचइयं एयं पि चओवचइयं,

इम पि विपरिणामधम्मयं एय पि विपरिणामधम्मय" (सू० ४७) इत्याचाराङ्गसूत्रोक्तेः-तरूणां विज्ञानेन्द्रियायुर्निरोधलक्षणमरणमभ्युपगच्छत० प्रतिवादिनो जैनस्योक्तहेतुर्न सिद्ध इति प्रतिवाद्यसिद्धोऽयं हेतुः। एवं बौद्धो वैशेषिकादिकं प्रत्युक्तानुमानं कुर्यात्तदापि "यद्यपि वृक्षादयोऽपि शरीरभेदा एव भोगाधिष्ठानत्वात्, न खलु भोगाधिष्ठानत्वमन्तरेण जीवनमरणस्वप्नजागरणभेषजप्रयोगबीजसजातीयानुबन्धानुकूलोपगमप्रतिकूलापगमादयः सम्भवन्ति, वृद्धिक्षतभग्नसंरोहणे च भोगोपपादके स्फुटे एव। आगमोऽप्यस्ति—

"नर्मदातीरसम्भूताः, सरलार्जुनपादपाः।
नर्मदातोयसंस्पर्शात्, ते यान्ति परमां गतिम् ॥१॥" इत्यादि।

"श्मशाने जायते वृक्षः कङ्कगृध्रादिसेवितः" इत्यादि च, इत्येवं वैशेषिकदर्शनचतुर्थाध्यायद्वितीयाह्निकपञ्चमसूत्रटीकायामुक्तत्वात्तरूणां विज्ञानेन्द्रियायुर्निरोधलक्षणमरणमुपगच्छत' प्रतिवादिनो वैशेषिकादेरपेक्षयोक्तहेतुर्न सिद्ध इति प्रतिवाद्यसिद्धोऽयं हेतुः। सुखादयोऽचेतना उत्पत्तिमत्त्वादित्येवं जैनं प्रति साङ्ख्यो यदनुमानं विदधीत तदेकान्तसत्कार्यवादिसाङ्ख्यमते प्रागसतः सत्तालाभलक्षणोत्पत्तिमत्त्वं क्वचिदपि न सिद्धमिति सुखादिपक्षेऽप्यसिद्धमेतदिति वाद्यसिद्धत्वादन्यतरासिद्धोऽयं हेतुः। साध्याभावव्याप्तो हेतुर्विरुद्ध, अत एव जैनतर्कभाषायां साध्यविपरीतव्याप्तो विरुद्ध इत्युक्तं तल्लक्षणम्, तत्र साध्यविपरीत इत्यस्य साध्यस्य तदभावेन सह परस्पराभावरूपत्वलक्षणप्रतिषेध्यप्रतिषेधकभावो विरोध इति साध्यस्य विपरीत' साध्यस्याऽभाव एवेत्यर्थः, यथा शब्दोऽपरिणामी कृतकत्वादिति, अत्राऽपरिणामित्वस्य साध्यस्याभावः परिणामित्वमेव, अभावाभावस्य प्रतियोगिरूपत्वात्, तस्य व्याप्तत्वात्कृतकत्वहेतुर्विरुद्धः। यस्याऽन्यथाऽनुपपत्तिः सन्दिह्यते सोऽनैकान्तिकः, अस्याप्यनिर्णीतसाध्यान्यथाऽनुपपत्तिको हेतुरनैकान्तिक इत्यत्रैव पर्यवसानम्, यतो यस्मिन् हेतौ साध्याभाववद्वृत्तित्वं सन्दिह्यते यदा तदानीं तस्मिन् हेतौ साध्यं विनाऽनुपपत्तिनिर्णयो न विद्यत इत्यनिर्णीतसाध्यान्यथाऽनुपपत्तिको हेतुः, यस्मिंश्च हेतौ तन्निर्णीयते यदा तदानीं तन्निर्णयात्मकप्रतिबन्धकसद्भावात् साध्याभाववद्वृत्तित्वात्मकव्याप्तिलक्षणाऽन्यथानुपपत्तिनिर्णयाऽसम्भवादप्यनिर्णीतसाध्यान्यथाऽनुपपत्तिको हेतुरनैकान्तिक', अस्य सव्यभिचार इति नामान्तरम्। स द्वेधा निर्णीतविपक्षवृत्तिकः सन्दिग्धविपक्षवृत्तिकश्च, आद्यो यथा शब्दो नित्यः प्रमेयत्वात् आत्मवदिति, अत्र नित्यत्वसाध्यस्याऽभावोऽनित्यत्वं तद्वत्तया निश्चिते विपक्षे घटादौ प्रमेयत्वस्य हेतोर्वृत्तिर्निर्णीतेति भवति प्रमेयत्वहेतुर्निर्णीतविपक्षवृत्तिकानैकान्तिकः, द्वितीयो यथा अभिमतः सर्वज्ञो न भवति वक्तृत्वात् रथ्यापुरुषवदित्येवं मीमांसकेन जैनाभ्युपगतसर्वज्ञे सर्वज्ञत्वाऽभावसाधने वक्तृत्वहेतुस्सन्दिग्धविपक्षवृत्तिकः, सर्वज्ञत्वाभावात्मकसाध्यस्याभावः सर्व

ज्ञत्व तद्वति सर्वत्र पक्षत्वहेतोरसन्देहात्। एवं स श्यामो मित्रातनयत्वादित्याद्युदाहार्यम्। एतेनोक्तानुमाने शाकपाकजत्वस्य मित्रातनयत्वसाधनाऽव्यापकत्वात् साध्यव्यापकत्वे सति मित्रातनयत्वसाधनाऽव्यापकत्वादुपाधित्वेन तद्व्याप्येन सोपाधिकतया मित्रातनयत्वहेतुर्व्याप्यत्वासिद्ध इति नैयायिकाऽभ्युपगमोऽपि निरस्तः, मित्रातनयत्वहेतोरस्या सत्त्वसाध्याभाववति विपक्षे वृत्तिस्सन्दिग्धेत्यस्यापि सन्दिग्धविपक्षवृत्तिको हेतुरनैकान्तिक इत्यत्रैवान्तर्भावादिति। एतेनाप्रयोजकापरनामाऽकिञ्चित्कराख्यश्चतुर्थोऽपि हेत्वाभासभेदो धर्मभूषणेनाभिहितो निरस्तः, सिद्धसाधनबाधितविषयभेदाभ्यां द्विविधतया व्यावर्णितस्यास्य प्रतीतनिराकृताख्यपक्षाभासभेदानतिरिक्तत्वात्। अयम्भावः–यत्र सिद्धसाधनदोषस्तत्र साध्यस्य सिद्धत्वेन यत्र च बाधितविषयत्वं तत्र साध्यस्य निराकृतत्वेन "अप्रतीतमनिराकृतमभीप्सितं साध्यम्" ३–१४॥ इति प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारतृतीयपरिच्छेदचतुर्दशसूत्रोक्तलक्षणलक्षितसाध्यस्यैवाभावेन तद्विशिष्टस्य सत्पक्षस्याभावात्तत्र पक्षाभास एवेत्येतत्तदात्मकदोषाभिन्नत्वात्तदुभयदोषस्य न तदुभयभेदभिन्नाऽकिञ्चित्कराख्यश्चतुर्थो दोषोऽतिरिक्त इति। अत एव कालात्ययापदिष्टोऽपि नैयायिकादिनाऽतिरिक्तदोषतयाऽभ्युपगतो निरस्तो वेदितव्यः, साध्यसन्देहकाल एव साध्यसाधनकालस्तदत्ययस्तद्विक्रमस्तस्मिन् काले बाधितसाध्यसाधनायाऽपदिष्टः प्रयुक्तो हेतुः कालात्ययापदिष्ट इत्यनेन बाधितविषय एवोक्तो भवति, तस्य पूर्वोक्तरीत्या निराकृतपक्षाभासदोषरूपतया हेत्वाभासत्वाऽसम्भवात्। न च यत्र पक्षदोषस्तत्र नियमेन हेतुदोषोऽपीति वाच्यम्, तथा सति साध्यविकल–साधनविकल–तदुभयविकल–दृष्टान्तलक्षणसाधर्म्यदृष्टान्तदोषाणां साध्याभावविकल–साधनाभावविकल–साध्याभावसाधनाभावोभयविकलदृष्टान्तलक्षणवैधर्म्यदृष्टान्तदोषाणामपि वाच्यत्वापत्तेः। प्रकरणसमोऽपि नैयायिकेन पञ्चमभेदतयाऽभ्युपगतो हेत्वाभासो नातिरिक्तः, तुल्यबलसाध्यतद्विपर्ययसाधकहेतुद्वयरूपे सत्यस्मिन् प्रकृतसाध्यसाधनयोरन्यथाऽनुपपत्तिलक्षणाविनाभावाऽनिश्चयेऽसिद्ध एवान्तर्भावात्तस्येति। यथा न्यायमते सव्यभिचारस्य साधारणासाधारणानुपसंहारिभेदेन त्रयो भेदाः, न तथा जैनराद्धान्ते, यतः पक्षमात्रवृत्तिर्हेतुरसाधारणोऽभिमतः, तस्य साध्येन सहान्तर्व्याप्तिसद्भावे सद्धेतुत्वमूरीकृतमेव स्याद्वादिभिः, अत एव प्रमाणं स्वपरव्यवसायिज्ञानं प्रमाणत्वान्यथानुपपत्तेरित्यत्र पक्षमात्रवर्त्तिनोऽपि प्रमाणत्वस्य गमकत्वम्, शब्दस्यानित्यत्वे कृतकत्वमेव प्रयोजकम्, न तु शब्दत्वमित्यप्रयोजकत्वादन्तर्व्याप्तेरभावादेवागमकत्वं, तस्य पौद्गलिकत्वादनित्य एव शब्द इत्यनित्यमात्रवृत्तित्वादनित्यत्वेन सह शब्दत्वस्य व्याप्तिरस्त्येवेति यदि विभाव्यते तदा गमकमनित्यत्वस्य तद्भवत्येवेति न तत्र कोऽपि दोषः, सर्वमनेकान्तात्मकं वस्तुत्वादित्यत्र पक्षतावच्छेदकस्य साध्यस्य च केवलान्वयित्वेऽपि सदनुमानमिष्टमिति नानुपसंहारिण्यपि कोऽपि दोष इति जैनमते साधारणानैकान्तिकलक्षण एक एव

सव्यभिचारः, शब्दो नित्यः प्रमेयत्वादित्यत्र निर्णीतविपक्षवृत्तिकः प्रमेयत्वहेतुरनैकान्तिक एव, गगनारविन्द सुरभि अरविन्दत्वादित्यत्र हेतुर्न दुष्टः, किन्तु पक्षाप्रसिद्ध्यैवानुमान न सम्भवतीति पक्षासिद्धिस्तत्र पक्षदोष इति। तदेवं सिद्धे च हेतुदोषत्रये तद्रहितत्वाविश्रितान्यथाऽनुपपन्नैकलक्षणको हेतुर्गमकोऽभ्युपगन्तव्य', न तु त्रिलक्षणकः पञ्चलक्षणको वा, उक्तदोषमुद्गरप्रहारजर्जरितत्वात्, सोऽपि गमको न साधर्म्यमात्रात्, न वा वैधर्म्यमात्रात्, न वा परस्परानुविद्धोभयमात्रात्, किन्तु प्रधानगौणभावेन परस्परस्वरूपाजहद्वृत्तिसाधर्म्यवैधर्म्यरूपात्। नन्वेवं तर्हि केवलान्वयिहेतुना केवलव्यतिरेकिहेतुना च कथं साध्यानुमितिरिति चेत्, उच्यते समाधिः, जैनमते नैव कश्चिदेकान्तेन केवलान्वयी, वस्तुत्वप्रमेयत्वादिरपि यत तत्र यदवच्छेदेन वस्तुत्वप्रमेयत्वादिकं तदन्यावच्छेदेन तदभावोऽपीति वृत्तिमदत्यन्ताभावाप्रतियोगित्वलक्षणकेवलान्वयित्वस्य तत्राभावात्, नाप्येकान्तेन कश्चिद् व्यतिरेकी, अन्वयरहितस्य व्यतिरेकस्याप्रसिद्धेः, व्याप्तेरन्यथानुपपन्नत्वरूपतया तथैवोपपन्नत्वरूपतया चाभिधानं भवति, तत्र प्राथमिकी अन्वयव्याप्तिरभिधीयते द्वितीया व्यतिरेकव्याप्तिरिति गीयते, तत्र वस्तुत्वप्रमेयत्वादेर्व्याप्तिद्वयसद्भावेऽपि व्यवहारोऽन्वयव्याप्तित एवेति केवलान्वयीति व्यवह्रियते, लक्षणात्मकहेतोश्च व्यवहार इतरभेदसाधने व्यतिरेकव्याप्तित एवेति केवलव्यतिरेकीति व्यवह्रियते, तथैवोपपत्तिलक्षणव्याप्तिज्ञानतः केवलान्वयिहेतुनाऽनुमिति',अन्यथानुपपत्तिलक्षणव्याप्तिज्ञानतः केवलव्यतिरेकिहेतुनाऽनुमितिरिति ज्ञेयम्। तादृशहेतुरपि नैकान्ततसमासामान्यात्मा,न वा विशेषात्मा,न वा परस्परानुविद्धोभयात्मा साध्यसाधकः, साध्यमपि नैकान्ततस्सामान्यात्मकं, न वा विशेषात्मकं, न वा परस्परानुविद्धोभयात्मकं साधयितुं शक्यम्, एकान्तसामान्यात्मकस्य एकान्तविशेषात्मकस्य परस्परानुविद्धसामान्यविशेषोभयात्मकस्य चार्थस्य पूर्वमेव विस्तरेण निरस्तत्वात्, किन्तु परस्पराजहद्वृत्त्या सामान्यविशेषात्मक एव हेतुस्तदात्मकस्यैव साध्यस्य साधक इत्यभ्युपगन्तव्यमिति॥ ५६॥

अथ सामान्यमनुगतबुद्धिहेतुत्वेनानुगतस्वरूपम्, विशेषाश्च विभिन्नसामग्रीजायमानत्वेन व्यावृत्तबुद्धिहेतुतया च प्रतिव्यक्तिभिन्नरूपा इति तयोस्स्वरूपं मिथो विभिन्नमेव, अत एव परस्परनिरपेक्षमेवेत्यनूद्य तन्निराचिकीर्षुस्सूरिराह—

दव्वट्ठियवत्तव्वं सामण्णं, पज्जवस्स य विसेसो।
एए समोवणीया, विभज्जवाय विसेसेंति॥ ५७॥

" दव्वट्ठियवत्तव्वं सामण्णं " द्रव्यार्थिकवक्तव्यं सामान्यम्, द्रव्यार्थिकनयमते वक्तव्यमन्तव्यमभ्युपगमनीयमिति यावत्, विशेषनिरपेक्षं सामान्यमात्रं, यदनुगतबुद्धिविषयः तदेव सत्, तद्रूपं च सामान्यमेवेति तदेव सत्, न विशेषा अननुगतत्वात्तेषामित्येव सामान्यवादित्वात्तस्य, " पज्जवस्स य विसेसो " पर्यायस्य च विशेष, पर्यायास्तिक

नयमते वक्तव्यम्सामान्यनिरपेक्षो विशेष एव, तन्मते यदेवार्थक्रियाकारि तदेव सत् जलाहरणाच्छादनाद्यर्थक्रियाकारी न घटपटादिविशेष', न पुनर्घटत्वपटत्वादिसामान्यमित्यर्थक्रियाकारित्वेन विशेष एव सन्, न तु सामान्यमित्येव विशेषवादित्वाशय, "एए समोवणीया" "एतौ समुपनीतौ" एतौ सामान्यविशेषौ अन्योन्य निरपेक्षौ एकैकरूपतया परस्परप्राधान्येन वा एकत्रोपनीतौ प्रदर्शितौ "विभज्जवाय विसेसेंति" विभज्यवाद सामान्यविशेषोभयात्मकस्य वस्तुनः कथमित्यमित्याकाङ्क्षानिवृत्तये विभज्य स्वस्वप्रतिनियतनिमित्त पृथगुपदर्श्य वादः एतन्निमित्तापेक्षया सामान्यात्मकम्, एतन्निमित्तापेक्षया च विशेषात्मक वस्त्वित्येव प्रतिपादनात्मा, इत्यतोऽनेकान्तवादो विभज्यवादः, त विशेषयत', अतिशयाते। अयम्भावः-वस्तुमात्र परस्परानुपक्तसामान्यविशेषोभयात्मक तथैवाध्यक्षादिप्रमाणेनानुभूयमानत्वात्। न च हेत्वसिद्धिरिति वाच्यम्, यतो नहि पुरुष-सर्प-हेमद्रव्यादिसामान्यावस्था बाल-कुमारादिवक्रोर्ध्वमरलादि-कुण्डलमुद्रिकाद्याकारात्मकनानाविधावस्थाः परित्यज्याऽनुभूयते, पूर्वोक्ततत्तदवस्थाऽनुस्यूततयैव तस्याः प्रतीतेः, बालकुमारादिवक्रोर्ध्वादिकुण्डलमुद्रिकादितत्तद्विशेषावस्था अपि नहि पुरुषसर्पहेमद्रव्यादिसामान्यावस्थाविनिर्मुक्ता अनुभूयन्ते, अनुगतैकाकारपुरुषसर्पहेमद्रव्यादिसामान्यानुविद्धतयैव तासा प्रतीते., एवं तिर्यग्घटत्वपटत्वादिसामान्यमतिरिक्त परिकल्प्य तत्र सामान्यत्वधर्मकल्पनाऽपेक्षया 'धर्मिकल्पनातो धर्मकल्पना लघीयसीति न्यायात् सिद्धघटादिव्यक्तावेव सामान्यत्वकल्पना युक्तेति परस्परसापेक्षसामान्य विशेषोभयात्मकयथार्थवस्तुस्वरूपप्रतिपादकतयाऽनेकान्तवाद सत्यवादस्वरूप परस्परनिरपेक्षौ सामान्यविशेषौ अतिशयाते प्रत्यक्षादिप्रमाणबाधितत्वेनाऽसत्यरूपतयाऽनेकान्तवादतः तावतिशय लभेते, अप्रमाणभाव भजेते इति यावत्। विशेषे साध्येऽनुगमाभावत', सामान्ये साध्ये सिद्धसाधनतया साधनवैफल्यत.। कथ सिद्धसाधनमिति चेत्, इत्य, धूमसामान्यस्य वह्निसामान्येन यद्व्याप्तिग्रहण तेन सर्वत्र धूमसामान्याधिकरणदेशे वह्निसामान्यमवधारितमेव, तस्यैव साधने सिद्धसाधन स्यादेवेति। प्रधानोभयरूपे साध्ये उभयदोषापत्तिः, अनुभयरूपे साध्ये उभयाभावतः साध्यत्वाऽयोगात्, तथाहि-वस्तु सामान्यस्वरूप विशेषस्वरूप वा भवेत्, यच्च न सामान्यस्वरूप न वा विशेषस्वरूप तत्खरविषाणकल्प न साध्य भवितुमर्हतीति। अनेकान्ते तु न साध्यसिद्धिरनुपपन्ना, कथञ्चिद्वह्निमत्ताया. साध्यत्वेन 'पर्वतो द्रव्यवान्' इत्यादावतिप्रसङ्गात्, वह्निमत्ताया द्रव्यवत्तासामान्यक्रोडीकृतत्वेऽपि कथञ्चिदतिरेकात्, विवादास्पदीभूतसामान्यविशेषोभयात्मकसाध्यधर्माधारधर्मिसिद्धेश्च, अन्यथा 'पर्वतसामान्य वह्निमत्तयाऽनुमिनोमि' 'इम पर्वत वह्निमत्तयाऽनुमिनोमि' इत्यादि विभज्यसाध्यसाधाकारानुपपत्ते', इतरत्र च [illegible], केवलसामान्यात्मकधर्मिणि ।

पर्वते वह्निरस्ति न वेति संशयो न निवर्तेत, एवं पर्वतविशेषे साध्यसामान्यस्य पर्वतोऽयं द्रव्यवानित्येवं सिद्धौ पर्वतोऽयं धूमजनकतावच्छेदकेन वह्नित्वात्मकसामान्यविशेषेण पर्वतीयवह्निव्यक्तिविशेषवान्न वेति संशयश्च न निवर्तेतेति। तदेवं विवादास्पदीभूतसामान्यविशेषोभयात्मकसाध्यधर्माधारधर्मिणि अन्योन्यानुविद्धसाधर्म्यवैधर्म्यस्वभावद्वयात्मकैकहेतुप्रदर्शनतो नैकान्तपक्षोक्तदोषावकाशः सम्भवी, अत एव गाथापश्चार्धेन–एतौ सामान्यविशेषौ समुपनीतौ परस्परमव्यपेक्षतया 'स्यात्पदप्रयोगतो धर्मिणि अवस्थापितौ विभज्यवाद परस्परसापेक्षसामान्यविशेषोभयात्मकवस्तुनो विभज्य पृथक्कृत्य सामान्याद्विशेषं विशेषात्सामान्यं परस्परनिरपेक्षतया सर्वथा भेदमवलम्ब्य वादी विभज्यवादः एकान्तसामान्यवाद एकान्तविशेषवादश्च, तं विशेषयतः' निराकुरुतः, एवमेव तयोरात्मलाभात् अन्यथाऽनुमानविषयस्योक्तन्यायतोऽसत्त्वादित्यपि दर्शितम् ॥ ५७ ॥

अनुमाने विधेयतयोपन्यस्ते यस्मिन् साध्ये अतिकुशाग्रबुद्धिरपि परप्रवादी एकमपि दूषणं नोद्भावयितुं शक्नोति तदेव साध्यं साधयितुं योग्यम्, नापरम्, तच्च स्याद्गर्भमेव, न त्वेकान्तात्मकमित्युपदर्शयन्नाह—

> हेउविसओवणीयं, जह वयणिज्जं परो नियत्तेइ ।
> जइ तं तहा पुरिल्लो, दाइंतो केण जिव्वंतो ॥ ५८ ॥

'हेउविसओवणीयं' हेतुविषयोपनीतम्, हेतुविषयतया हेतुज्ञानजन्यानुमितिविधेयतयोपनीतमुपन्यस्तं साध्यधर्मिलक्षणं वस्तु पूर्वपक्षवादिना "कार्यत्वलिङ्गतश्शब्दोऽनित्यः" इत्येवं "जह वयणिज्जं" यथा वचनीयं यथा प्रतिपाद्यं 'परो नियत्तेइ' परो दूषणवादी निवर्त्तयति दूषयति, बौधमतेन शब्देऽनित्यत्वस्येष्टत्वेन कार्यत्वस्य कालिकसम्बन्धेन घटत्वपटत्वादिसत्त्वलक्षणस्याननुगतत्वेन प्रागभावप्रतियोगित्वलक्षणस्यापि च प्रतियोगिभेदेन भिन्नरूपतयाऽननुगतत्वेन सिद्धसाध्यताऽननुगमदोषाद्युपन्यासेन एकान्तवचनीयस्य तदितरधर्माननुषक्तस्यानेकदोषदुष्टतया निवर्त्तयितुं शक्यत्वात्, 'जइ तं तहा' यदि तत्तथा द्वितीयधर्माक्रान्तं, स्यात्पदगर्भमिति यावत् 'पुरिल्लो दाइंतो' पुरिल्लः पूर्वपक्षवादी अदर्शयिष्यत् ततोऽसौ 'केन जिव्वंतो' केनाजेष्यत ?, स्यात्पदगर्भं साध्यविशिष्टधर्मिणं दर्शयन् वादी न केनापि जेतुं शक्य इत्यर्थः। तदेवं विजिगीषुणा शास्त्रवच्चतुरेन स्याद्गर्भसाध्यप्रयोग एव कर्त्तुमुचितः। तदकरणे त्वेकान्तसाध्यस्याभावात् तत्प्रदर्शकोऽसत्यवादितया निग्रहस्थानमवाप्नुयात् ॥ ५८ ॥

एतदेवाह—

> एयन्तासन्भूयं, सब्भूयमणिच्छियं च वयमाणो ।
> लोइयपरिच्छियाणं, वयणिज्जपहे पडइ वादी ॥ ५९ ॥

' एयन्तामभूय ' एकान्ताऽसद्भूतम्, " सब्भूयमणिच्छिय च वयमाणो " सद्भूतमनिश्चितञ्च वदन् ' लोइयपरिच्छियाणं ' (परिच्छयाण इत्यपि पाठः) लौकिकपरीक्षकाणां लौकिकाश्च ते परीक्षकाश्च लौकिकपरीक्षका', तेषां लौकिकानां परीक्षकाणाञ्चेत्यर्थः ' वयणिज्जपह पडइ वादी ' वचनीयपथं वचनीयमार्गं निन्द्यमार्गमिति यावत् पतति वादी, निन्द्यमार्गमवाप्नोति वादीत्यर्थ , स्याद्धर्महेतोः स्याद्धर्मसाध्य परस्परसामान्यविशेषात्मके पक्षे साधयन् वादी यथार्थतत्त्ववादितया निग्रहस्थान तत्त्वनिरूपदि नासादयतीति निश्चितान्यथाऽनुपपन्न एव हेतुः पक्षे तेन प्रयोक्तव्य', तन्मात्रादव साध्यप्रतिपत्तेः, त्रिरूपादिक विद्यमानमप्यकिञ्चित्करत्वेन न प्रदर्शनीयम्, इतरथा हेतुगतेतरधर्मा अपि प्रदर्शनीयास्स्युः। प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनात्मक पञ्चावयववाक्यमपि नैव नियमेन परार्थानुमितिजननोपयुक्तम्, मन्दमतिश्रोत्रपेक्षया तदुपयुक्तत्वेऽपि व्युत्पन्नमतिश्रोत्रपेक्षया तदनुपयुक्तत्वात्तस्य, प्रतिज्ञाहेतुमात्रादप्यनुमित्युत्पत्ते., उक्तञ्च प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारे " पक्षहेतुवचनात्मक परार्थानुमानमुपचारात्। ३-२३ ॥ पक्षहेतुवचनलक्षणमवयवद्वयमेव परप्रतिपत्तेरङ्ग न दृष्टान्तादिवचनम् ॥ ३-२८ ॥ इति " ॥ ५९ ॥

अनेकान्तात्मकवस्तुन एवाऽध्यक्षादिप्रमाणसिद्धत्वेनाऽबाधिततया तत्प्ररूपणैव सन्मार्ग इत्युपसंहरन्नाह—

> दव्वं खित्त कालं, भाव पज्जाय-देस-संजोगे।
> भेद च पडुच्च समा, भावाण पन्नवणपज्जा ॥ ६० ॥

" दव खित्त काल भाव पज्जाय-देस संजोगे भेद च पडुच " द्रव्य क्षेत्र काल भाव पर्याय-देशसंयोगान् भेद च प्रतीत्य ' उक्तानष्टौ भावानाश्रित्य वस्तुनो भेदे सति " समा भावाण पण्णवणपज्जा " " समा भावाना प्रज्ञापनापर्या "-समा समानरूपतया भावानां निखिलवस्तूना प्रज्ञापना प्रकर्षेण प्रत्यक्षादिप्रमाणाऽबाधिततया ज्ञापना प्ररूपणा स्याद्वादात्मिका या सा पर्या पन्था मार्ग इति यावत्, सैव परमार्थभूतया वस्तुनस्साधिकेत्यर्थ.। तत्र द्रव्य पृथिव्यादि, क्षेत्र स्वारम्भकावयवस्वरूप तदाश्रय वाऽऽकाशम्, काल युगपदयुगपच्चिरक्षिप्रप्रत्ययलिङ्गानुमेयम्, नवपुराणभावलक्षणवर्तनात्मक वा, भाव मूलाङ्कुरादिलक्षणम्, पर्याय रूपादिस्वभावम्, देश मूलाङ्कुरपत्रकाण्डादिक्रममानिविभागम्, संयोग भूम्यादिप्रत्येकसमुदायम्, भेद द्रव्यपर्यायलक्षण प्रतिक्षणविवर्त्तात्मक वा, जीवाजीवादिभावानां प्रतीत्य समानतया तदतदात्मकत्वेन प्रज्ञापना निरूपणा या सा सत्पथ इति। यतो न द्रव्यक्षेत्रकालभावपर्यायदेशसंयोगभेदरहित वस्तु कनचित् प्र यक्षाद्यन्यतमप्रमाणेनावगन्तु शक्यम्, न च प्रमाणागोचरस्य सद्व्यवहारयोग्यतत्येकानेकात्मकत्वेनानुभूयमान वस्तुमात्रमनेकान्तात्मकमभ्युपेयम्, एवमनुभवसिद्धमप्येकानेकात्मक वस्तु प्रतिक्षिपन् विरोधमीतो वैशेषिको

नैयायिको वा चित्रपटे चित्रैकरूपमपि कथमभ्युपेयात्, अत्र नव्यनैयायिका अवच्छेदकता सम्बन्धेन शुक्लादिकं प्रति शुक्लादेः कारणत्वात् चित्रपटे तत्तदवयवगतशुक्लनीलादितः शुक्लनीलादिनी नानारूपाण्येवाव्याप्यवृत्तीन्युत्पद्यन्ते, चित्रत्वव्यवहारस्तु परस्परमसमानाधिकरण नानारूपनिबन्धन इत्यभ्युपयन्ति। प्राचीननैयायिकास्तु मनिषयावृत्तिव्याप्यवृत्तिवृत्तिजातीयानामव्याप्यवृत्तित्वविरोधाच्चित्रपटे न नानारूपं, किन्तु विजातीयं चित्ररूपमेवातिरिक्तमभ्युपगच्छन्ति, अत एवैकं चित्ररूपमिति प्रतीत्युपपत्तिः, अतिरिक्तचित्ररूपत्वावच्छिन्नैकविषयताकल्पनाया लाघवात्, अन्यथा चित्रमितिप्रतीतेर्नीलत्वपीतत्वाद्यवच्छिन्ननानाविषयता कल्पनीया स्यादिति गौरवं स्यात्, तदुभयमप्यनुभवविरुद्धं, शुक्लनीलादिनानारूपाणामेकस्य चित्ररूपस्य च चित्रपटेऽनुभूयमानत्वात्, तत्र तत्तदवयवावच्छेदेन शुक्लनीलादिरूपाणां सम्पूर्णावयवावच्छेदेन चित्ररूपस्यैकस्य चैकत्र चित्रपटे वृत्तौ विरोधाभावे नानुभवानुरोधेन नानारूपसमानाधिकरणचित्ररूपस्य स्वीकार एव ज्यायान्। न चावयवगतशुक्लनीलादीनामेव परम्परासम्बन्धेनावयविनि प्रतीत्युपपत्तेरवयविनि साक्षात्सम्बन्धेन चित्ररूपमेवैकं रूपं, तथाकल्पनायामवयविगतनानारूपाऽकल्पनेन लाघवमिति वाच्यम्, शुक्लादीनां साक्षात्सम्बन्धेनैव तत्रावयविनि प्रतीतेरित्थं बाधकल्पने त्रुटिमात्रगतत्वमेव नीलाद्यशेषरूपाणां स्यात्, यतस्त्रुटिगतानामेव शुक्लादीनां परम्परासम्बन्धेनावयविनि प्रतीत्युपपत्त्या तत्र नानारूपाऽकल्पनप्रयुक्तलाघवं सुस्पष्टमेव। यदि साक्षात्सम्बन्धेनावयविनि शुक्लादिप्रतीतेरनुभूयमानायास्तद्बाधाभावमभ्युपगन्तुं शक्यं, तर्हि चित्रपटेऽपि साक्षात्सम्बन्धेनैव चित्रप्रतीतेरिव नानाशुक्लादिरूपप्रतीतेरप्यनुभूयमानत्वात् तद्बाधासम्भवः परम्परासम्बन्धेनावयवगतशुक्लादिरूपविषयकत्वेन तत्रावयविनि शुक्लादिप्रतीत्युपपादनं युक्तिसङ्गतम्, किन्तु साक्षात्सम्बन्धेनैव शुक्लादिविषयकत्वेनैव, एतेन चित्रपटादौ न शुक्लादिविशेषरूपं, नापि चित्ररूपं, किन्तु सामान्यमेव रूपं चित्रपटप्रत्यक्षान्यथाऽनुपपत्त्या कल्पनीयम्, अन्यथा प्रत्यक्षंप्रति उद्भूतरूपस्य कारणत्वेन तदभावे चाक्षुषप्रत्यक्षमेव न स्यादित्यपास्तम्। रूपविशेषाणामभावे चित्ररूपः पट इति प्रतिभासो न भवेत्, किन्तु रूपवान् पट इत्येव स्यात्, यद्यपि अशेषविशेषविनिर्मुक्तं सामान्यं नास्त्येवेति तथा कल्पना न सम्भवत्येव, तथापि यदि कश्चिदेवं कल्पयेत् सोऽपि उक्तप्रतिभासाभावप्रसक्त्या निरसनीयः, अत्र यथा चित्ररूपः पट इति प्रतिभासो न भवेदिति दोषस्तथा तत्तदवयवावच्छेदेन चित्रपटे चक्षुस्सन्निकर्षे सति शुक्लः पटः पीतः पट इत्यादिप्रतिभासानामनुभूयमानानामभावप्रसङ्गोऽपि दोषः, स चैकाधिकरणावच्छिन्नशुक्लादिसमुदाय एव कथञ्चित्समुदायव्यतिरिक्तं चित्रमिति शुक्लादिग्रहं भवत्येव चित्रप्रतिभास इति चित्रप्रतिभासाभावःशुक्लादिप्रतिभासाभावप्रयुक्त एवेति हेतोश्चित्रप्रतिभासाभावप्रसक्त्या शुक्लादिप्रतिभासाभावप्रसक्तिरप्याक्षिप्तैव, यतः शुक्लादीनां द्वित्र्यादीनां तत्र प्रतिभासे तत्समुदायात्मकस्य

चित्ररूपस्यापि प्रतिभासस्स्यादेव, तस्माच्चित्रपटे चित्ररूपमिव शुक्लादिनानारूपमप्युररीकर्त्तव्यम् । किञ्च यदि चित्ररूपमिव शुक्लादिनानारूपमपि पटे स्वीक्रियते तदा शुक्लाद्यैकैकावयवावच्छेदेन चक्षुस्सन्निकर्षे शुक्लाद्यैकैकरूपस्य प्रत्यक्षं शुक्लपीतादिनानावयवावच्छेदेन चक्षुस्सन्निकर्षे चित्ररूपस्य प्रत्यक्षमिति विभाग उपपद्यते, चित्ररूपस्यैकस्यैव सद्भावे तु शुक्लाद्यैकैकावयवावच्छेदेनापि चक्षुस्सन्निकर्षे चित्ररूपप्रत्यक्षं स्यात्, तत्र तत्सद्भावात्, शुक्लादिनानारूपाणामभावेन तत्प्रत्यक्षं न स्यात् । ननु रूपप्रत्यक्षं तत्र भवत्येव, चित्रत्वप्रत्यक्षे तु परम्परयाऽवयवगतनीलेतररूपपीतेतररूपादिग्रहस्य कारणत्वेन शुक्लाऽवयवावच्छेदेन चक्षुस्सन्निकर्षे शुक्लेतररूपग्रहस्याभावेन, एवं पीतावयवावच्छेदेन चक्षुस्सन्निकर्षे पीतेतररूपग्रहस्याभावेन कारणाभावादेव न चित्रत्वस्य प्रत्यक्षम्, अत एव च त्र्यणुकावयवगतरूपस्याऽप्रत्यक्षत्वेन परम्परया त्रसरेणावपि तस्य ग्रहाभावेन तद्रूपकारणाभावात् त्र्यणुकचित्रस्य प्रत्यक्षं न भवतीति स्वीकुर्वन्त्युदयनाचार्याः । यदि च चित्रत्वनिष्ठविषयतासम्बन्धेन प्रत्यक्षे स्वविशेष्यसमवेतसमवेतत्वसम्बन्धेन परम्परयाऽवयवगतनीलेतरपीतेतररूपादिमत्त्वग्रहस्य हेतुत्वे परम्परया घटावयवगतनीलेतररूपादिग्रहस्यापि स्वविशेष्यसमवेतसमवेतत्वसम्बन्धेन चित्रपटगतचित्ररूपगतचित्रत्वे सत्त्वम्, यतः स्व घटावयवगतनीलेतररूपादिग्रहः तद्विशेष्यो घटः तत्समवेतं घटगतचित्ररूपं तत्समवेतत्वं चित्रत्वे, तच्च चित्रत्वं यथा घटगतचित्ररूपे तथा पटगतचित्ररूपेऽपीति तादृशग्रहात्मकहेतोस्सत्त्वाच्छुक्लावयवावच्छेदेन चित्रपटेन सह चक्षुस्सन्निकर्षे सति चित्रपटगतचित्ररूपवृत्तिचित्रत्वस्य प्रत्यक्षापत्तिस्स्यादिति विभाव्यते, तदा विशेष्यतासम्बन्धेन चित्रत्वप्रकारकप्रत्यक्षं प्रत्येव परम्परयाऽवयवगतनीलेतरपीतेतररूपादिमत्त्वग्रहस्य स्वविशेष्यसमवेतत्वसम्बन्धेन हेतुत्वम्, एवञ्च घटावयवगतनीलेतररूपादिग्रहस्य स्वविशेष्यसमवेतत्वसम्बन्धेन घटगतचित्ररूप एव सत्त्वं, न तु चित्रपटगतचित्ररूपे इति न तस्योक्तकारणाभावात् प्रत्यक्षापत्तिः, न चावयवगतनीलेतररूपादिग्रहस्य नीलेतररूपत्वाद्यवच्छिन्नप्रकारताकग्रहत्वेन हेतुत्वं न सम्भवति, यत्रावयवगतनीलेतररूपादेर्न नीलेतररूपत्वादिना ग्रहः, किन्तु पीतत्वनीलत्वशुक्लत्वादिना ग्रहस्तत्राप्यवयविचित्रप्रत्यक्षोत्पत्तिर्भवति, न च तत्र नीलेतररूपत्वादिना ग्रह इति व्यभिचारेण तद्रूपेण चित्रप्रत्यक्षं प्रति कारणत्वाऽसम्भवादिति वाच्यम्, विलक्षणचित्रप्रत्यक्षम्प्रति नीलेतररूपत्वादिना ग्रहस्य कारणत्वं तद्विलक्षणचित्रप्रत्यक्षम्प्रति तु नीलत्वपीतत्वादिनाऽवयवगतनीलपीतादिग्रहस्य कारणत्वमित्येवं कार्यतावच्छेदकभेदेन कारणताभेदोपगमे व्यभिचाराऽप्रसक्तेः । अथवा नीलेतररूपादेः पीतादेश्च नीलेतररूपत्वादिव्याप्यधर्मेण ग्रहस्य चित्रप्रत्यक्षे कारणत्वं नीलेतररूपत्वादिव्याप्यं च नीलेतररूपत्वं पीतत्वादिकञ्चेति नीलेतररूपादिग्रहस्य पीतादिग्रहस्य च नीलेतररूपत्वादिव्याप्यधर्मप्रकारकग्रहत्वेनैकरूपेण कारणत्वसम्भवाद्वैलक्षण्यस्य

कार्यतावच्छेदककोटावप्रवेशेऽपि न व्यभिचारः, तथा चोक्तकारणाभावात् त्र्यणुकचित्ररूपप्रत्यक्षं न भवतीत्युदयनाचार्यमतं सङ्गतमेवेति चेत्, अत्र समाधीयते–अवयवगतनीलेतररूपपीतेतररूपादिमत्त्वग्रहरूपकारणस्य पूर्वोक्तस्याभावात्त्र्यणुकचित्ररूपप्रत्यक्षानभ्युपगमे चतुरणुकचित्रप्रत्यक्षं न स्यात्, यतो यत्र चित्ररूपं तत्र शुक्लादिनानारूपं यदीष्टं भवता स्यात्तदा त्र्यणुकचित्ररूपाग्रहेऽपि शुक्लादिरूपग्रहसम्भवेन नीलेतररूपादिग्रहत्वेन तस्य चित्ररूपग्रहम्प्रति कारणत्वतस्तेन चतुरणुकचित्रप्रत्यक्षं भवदुक्तकार्यकारणभावबलात्सम्भवेदपि, न च तथेष्टम्, तथा च चित्रावयवारब्धचित्रावयविचित्रग्रहेऽवयवनिशेष्यकनीलेतररूपत्वादिव्याप्यचित्रत्वावच्छिन्नप्रकारकग्रहस्यैव हेतुत्वं वाच्यम्, तद्बलात् चतुरणुकचित्रप्रत्यक्षं तदा स्याद्यदि त्र्यणुकचित्रप्रत्यक्षं भवेत्, न च भवदुक्तकार्यकारणभावे तत् सम्भवतीति विशेष्यतासम्बन्धेन चित्रत्वप्रकारकप्रत्यक्षे परम्परयाऽवयवगतनीलेतररूपादिमत्त्वग्रहस्य स्वविशेष्यसमवेतत्वसम्बन्धेन हेतुत्वं न युक्तम्, तथा च सन्निकर्षमात्रस्यैव हेतुत्वेन यदि चित्रावयविनि नानारूपं नाभ्युपगम्यते तदा शुक्लावयवावच्छेदेनापि चक्षुस्सन्निकर्षे चित्रप्रत्यक्षापत्तिस्स्यादेवेति चित्रावयविनि नानारूपमभ्युपेयमिति चित्रावयविनि शुक्लावयवावच्छेदेन शुक्लरूपस्यैव प्रत्यक्षमिति निर्गलितार्थः । यदि चावयविनि शुक्लादिनानारूपस्याऽभावेऽपि न शुक्लावयवावच्छेदेन चक्षुस्सन्निकर्षे सति चित्ररूपप्रत्यक्षापत्तिः, शुक्लेतरनीलेतरपीतेतररूपादिमदवयवावच्छेदेनेन्द्रियसन्निकर्षस्य चित्ररूपप्रत्यक्षे कारणत्वेन शुक्लावयवावच्छेदेन चक्षुस्सन्निकर्षस्थले तदऽभावात्, न च यत्रावयवनीलादिगतनीलत्वादिग्रहप्रतिबन्धकदोषसद्भावस्तत्रावयवनीलाद्यग्रहे चित्ररूपप्रत्यक्षं न भवति, तदपि स्यात्, नीलेतरपीतेतररूपादिमदवयवावच्छेदेन सन्निकर्षस्य सद्भावात् । यदि च तदनुरोधेनावयवगतनीलेतररूपादिमत्त्वग्रहस्यापि कारणत्वं तत्रोपेयते तदा त्रसरेणुचित्रप्रत्यक्षानुपपत्तिस्तदवस्थैवेति वाच्य, अवयवगतनीलादिगतनीलत्वादिग्रहप्रतिबन्धकदोषाभावानामपि चित्रत्वप्रत्यक्षे हेतुत्वाभ्युपगमेन तत्र चित्रत्वप्रत्यक्षापत्तिवारणात् । एवञ्च त्रसरेणुचित्रप्रत्यक्षमप्युपपद्यते, यतो यत्रैकस्य द्व्यणुकस्य नीलरूपमपरस्य पीतमित्यादिस्थल एव चित्रं त्र्यणुकं भवति, तत्र नीलेतरपीतेतररूपादिमद्द्व्यणुकारम्भकावयवावच्छेदेन त्र्यणुके चक्षुस्सन्निकर्षो विद्यते, द्व्यणुके महत्त्वाभावादेव न तद्गतनीलादिप्रत्यक्षमिति तत्प्रतिबन्धको दोषस्तत्र नास्तीति तदभावोऽपि विद्यत इति त्र्यणुकचित्रप्रत्यक्षं तत्र स्यादेवेति विभाव्यते, तदा नीलपीतादिव्यक्तीनां भेदात्तद्गतनीलत्वादिग्रहप्रतिबन्धकदोषाणामननुगतत्वात्तदभावानामप्यनेकत्वात्तेषां चित्रप्रत्यक्षे कारणत्वेऽनन्तहेतुहेतुमद्भावकल्पनगौरवं स्यात्, अतः चक्षुष्वेव नीलादिनानारूपेषु चित्रत्वं व्यासज्यवृत्त्यभ्युपगन्तव्यम्, तस्य च समानाधिकरणनानारूपग्रहव्यङ्ग्यत्वमिति नानारूपग्रहे सत्येव चित्रत्वग्रह इति शुक्लाद्येकावयवावच्छेदेन चक्षुस्सन्निकर्षे शुक्लाद्येकरूपस्यैव ग्रहात्समानाधिकरणनानारूपग्रहरूपव्यञ्जकाभावान्न तत्र चित्रत्वग्रहः । न चैवमपि गौरवम्, समानाधिकरणनाना-

रूपाणामननुगतत्वेन समानाधिकरणनीलपीतग्रहः, एवं समानाधिकरणरक्तशुक्लग्रह', इत्यादीनां भिन्नाना भिन्नरूपेण कारणत्वेनानेकविषकारणत्वप्रसङ्गादिति वाच्यम् । समानाधिकरणनानारूपग्रहाणां भेदगर्भसामानाधिकरण्यसम्बन्धेन रूपविशिष्टरूपग्रहत्वेनैकरूपेण कारणत्वस्यैव चित्रत्वप्रत्यक्षप्रत्यभ्युपगमेनोक्तगौरवाभावात् । यत्र रूपविशिष्टरूपग्रहो नास्ति तत्र सन्निकर्षमात्राच्चित्रत्वानवगाहेन चित्रप्रत्यक्ष भवति । एतच्च परम्परयाऽवयवगतनीलेतरपीतेतररूपादिसत्त्वग्रहस्य चित्रत्वप्रकारकचित्रप्रत्यक्षे हेतुत्वपक्षेऽपि भवदभ्युपगमे समानम्, एतत्पक्षे चित्ररूपमतिरिक्तं नास्ति, किन्तु नानारूपाणामेव चित्रत्वजात्या व्यासज्यवृत्तिरूपया ग्रहणे सति चित्रत्वव्यवहारो भवति । यदि च यत्र शुक्लादिनानारूपाण्यवयविन्यनुभूयन्ते तत्र नानावयवावच्छिन्नपर्याप्तवृत्तिकमेकं चित्ररूपमप्यनुभूयते, तस्य चैकावयवावच्छेदेनाभावादेवैकावयवावच्छेदेन चित्राभावप्रतीतिरप्युपपद्यते तदा चित्रावयविद्रव्यस्य शुक्लादिनानारूपस्वभावत्वं चित्रैकरूपात्मकस्वभावत्वञ्चेत्येकानेकचित्रद्रव्यस्वभावः स्याद्वादतत्त्वविद्भिः परिदृष्टोऽभ्युपगन्तव्य एव, तत्र शुक्लादिस्वभावो देशनियतधर्मः, चित्रस्वभाव' स्कन्धनियतधर्म इति देशग्राहकसामग्रीतः शुक्लादिग्रहः, स्कन्धग्राहकसामग्रीत' चित्रस्य स्वभावग्रहः इति कदाचिद्देशावच्छेदेनेन्द्रियसन्निकर्षे शुक्लाद्यैकैकरूपवत्तया शुक्लः पट इत्याकारकं चित्रपटप्रत्यक्षं कदाचिच्च स्कन्धावच्छेदेनेन्द्रियसन्निकर्षे चित्रः पट इत्याकारकं चित्रप्रत्यक्षमिति नियम उपपद्यते, अनयैव दिशा द्विहस्तादिमितेऽवयविनि देशावच्छेदेन वितस्त्यादिमितानेकपरिमाणवत्त्व स्कन्धावच्छेदेन द्विहस्तादिमितैकपरिमाणवत्त्वमित्येकानेकपरिमाणवत्त्वमपि स्वीक्रियते, तत्र च नानापरिमाणानि देशनियतधर्मात्मकानि, विवक्षितैकपरिमाणं तु स्कन्धनियतधर्मात्मकमिति देशावच्छेदेन सन्निकर्षे देशनियतवितस्त्यादिपरिमाणस्य प्रत्यक्षं स्कन्धावच्छेदेन सन्निकर्षे स्कन्धनियतविवक्षितपरिमाणस्य प्रत्यक्षम्, एवं चित्ररसस्पर्शगन्धादिस्थलेऽपि ज्ञातव्यमिति दिक् । चित्रद्रव्यमेव स्वसामग्रीप्रभवमभ्युपगन्तव्यम्, तत एव चित्रवदितररूपोभयस्वभावस्य द्रव्यस्य सम्भवः, न त्ववयवगतशुक्लादिप्रत्येकरूपेणावयविनि शुक्लादिसमानजातीयरूपस्य शुक्लेतररूपादिषट्कनावयवगतेन तत्र चित्ररूपस्य चोत्पत्तिरित्येकान्ताभ्युपगमो युक्त', तथा सति यत्रैकस्मिन्नवयवे उत्कृष्टं नीलमपरस्मिंश्चापकृष्टं नीलं तदन्यस्मिन्नवयवेऽपकृष्टतरं नीलं तत्रावयविनि चित्ररूपमुत्पद्यते, उत्कर्षापकर्षाश्च नीलादिप्रत्येकगता अनन्तप्रकाराः, तत्प्रभवमपि चित्ररूपमनन्तप्रकारं तत्र नैयायिकपरिकल्पितनीलेतररूपादिषट्कं नास्ति । अथ च चित्रम्भवतीति व्यभिचारेण नीलेतररूपादिषट्कस्य चित्ररूपसामान्यम्प्रति कारणत्वं न सम्भवति, विजातीयचित्रम्प्रति नीलेतररूपादिषट्कस्य कारणत्वं तदन्यविजातीयचित्रम्प्रति उत्कृष्टनीलाऽपकृष्टनीलादिसमुदायस्य कारणत्वमित्यभ्युपगमे तरतमभावेन नीलादीनामनन्तजातिभेदानामनन्तत्वेन तद्वत्समुदायप्रभवचित्ररूपवैजात्यानामप्यनन्तत्वेन तद्विजातीयचित्रम्प्रति

तत्तद्विजातीयोत्कृष्टापकृष्टनीलादिसमुदायस्य कारणत्वेऽनन्तकार्यकारणभावप्रसङ्गतो गौरवं स्यादतो वृद्धिहानिभ्यां षट्स्थानपतितवर्णपर्यायरचित्रद्रव्यस्वसामग्रीप्रभवत्वमेवाभ्युपेयम्, न च तत्र नीलत्वादिकमवयवगतनीलादिकार्यतावच्छेदकं, चित्रत्वञ्चोत्कृष्टापकृष्टावयवगतनीलादिकार्यतावच्छेदकम्, पटत्वादिकञ्च तन्त्वादिकार्यतावच्छेदकमित्येव तत्तत्कारणनियम्यतत्तत्कार्यतावच्छेदकमसाङ्कर्यमङ्गावत एकानेकस्वभावचित्रद्रव्यत्वस्यार्थसमाजसिद्धत्वेन न तदवच्छिन्नम्प्रति कस्यचित्कारणत्वमिति चित्रद्रव्यस्य स्वसामग्रीप्रभवत्वाभ्युपगमो न सम्भवतीति वाच्यम्, उक्तदिशाऽर्थसमाजसिद्धतया परसमर्थितस्य निरुक्तचित्रद्रव्यत्वस्य तथाभव्यत्वस्य स्वभावविशेषस्य कार्यतावच्छेदकत्वं स्वीक्रियते, तथाभव्यत्वस्वभावबलाच्चो-त्पद्यमानं तद्द्रव्यमेकानेकस्वभावमेवोत्पद्यते, न तु तदन्तःप्रविष्टनीलत्वचित्रत्वादिधर्माणां स्वस्वप्रतिनियतसामग्रीबलाद्यत्र सम्पत्तिः, अतो वस्तुतो नार्थसमाजसिद्धत्वं निरुक्तचित्रद्रव्यत्वस्येति । एतेन यत्र शुक्लाद्येकैकावयवावच्छेदेन चक्षुस्सन्निकर्षस्तत्रैकचित्ररूपपक्षे चित्रप्रत्यक्षापादनं यत्प्राकृतं तन्न युक्तम्, चित्रप्रत्यक्षजनकतावच्छेदकतया चक्षुस्संयोगगतवैजात्यस्य स्वीकारेण तादृशवैजात्यस्यैकावयवावच्छेदेन चक्षुस्संयोगेऽभावेन तत्र चित्रप्रत्यक्षापत्त्यसम्भवादिति निरस्तम्, सूक्ष्मेक्षिकयाऽनन्तानान्तरचित्रानुभवादनन्तवैजात्यकल्पनापत्तेरत्यन्ताऽप्रामाणिकत्वादिति द्रष्टव्यम् । चित्रावयविनि नैकं चित्ररूपं किन्त्वव्याप्यवृत्तीनि शुक्लनीलादीनि नानारूपाण्येवेति नव्यनैयायिकमतेऽप्यवयवगतोत्कृष्टापकृष्टनीलाभ्यामवयविन्यवच्छिन्नयोरुत्कृष्टापकृष्टनीलयोरुत्पत्तिः स्यात्, तत्तदवयवावच्छिन्नोत्कृष्टनीलम्प्रति कारणस्य तत्तदवयवगतोत्कृष्टनीलस्य तत्तदवयवावच्छिन्नापकृष्टनीलम्प्रति कारणस्य तत्तदवयवगतापकृष्टनीलस्य च सत्त्वात्, तथा समवायसम्बन्धेन नीलम्प्रति स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन नीलं कारणमिति तद्घटितसामान्यसामग्रीबलादनवच्छिन्नस्य नीलस्य चोत्पत्तिः प्रसज्यत, यदि च अवयविगतनीलतरत्वाद्यवच्छिन्नं प्रति अवयवगतनीलतरत्वादिनाऽवयवगतनीलतरादेरेव कारणत्वमुपेयते, न तु नीलम्प्रति नीलस्य सामान्यतः कार्यकारणभाव इति न तत्रानवच्छिन्नस्य नीलस्योत्पत्तिः, तदा एतावत्कारणसमुदायलक्षणसामग्रीसत्त्वे नीलत्वावच्छिन्नस्योत्पत्तिरिति निश्चयासम्भवलक्षणाकस्मिकत्वतो नीलत्वावच्छिन्नार्थितया प्रवृत्तिरिह नासज्यत, यत्र चोत्कृष्टापकृष्टनीलादिलक्षणावच्छिन्ननीलविशेषाः प्रतीयन्ते तत्रानवच्छिन्नं नीलसामान्यमपि प्रतीयत इति तादृशप्रतीतेर्नीलसामान्यानुत्पत्तावनुपपद्यमानत्वं स्यात्, यत्र च पटे केवलशुक्लमेव रूपं, तत्रापि स्वल्पबह्ववयवावच्छेदेनेन्द्रियसन्निकर्षेऽणुमहत्त्वोपेतशुक्लविशेषाभ्यवदनुपक्तं शुक्लसामान्यं च प्रतीयत एवेत्येकानेकरूपविशिष्टतया द्रव्यप्रतीतिरेकानेकवर्णविशिष्टद्रव्यपरिमाणाभ्युपगमं विना न कथमपि सम्भवतीत्येकानेकस्वरूपद्रव्याभ्युपगमं स्याद्वादिनं प्रमाणचूलामवलम्बते । एतेन चित्ररूपस्य व्याप्यवृत्तेरेकस्याभ्युपगमपक्षे रूपमात्रस्य सर्वत्र व्याप्यवृत्तेरेवाभ्युपगमात्र तस्य

किञ्चिदवच्छेदेन प्रत्यक्षं, यदुपपत्तये कारणान्तरं कल्पनीयं भवेत्, अव्याप्यवृत्तिनीलाद्यभ्यु पगमपक्षे तु किञ्चिदवच्छेदेन तत्प्रत्यक्षोपपत्तये कारणान्तरं कल्पनीयमिति गौरवमिति न, यतोऽव्याप्यवृत्तिसंयोगादिप्रत्यक्षानुरोधेन अव्याप्यवृत्तिद्रव्यसमवेतनिष्ठविषयतासम्बन्धेन चाक्षुषप्रत्यक्षत्वावच्छिन्नं प्रति चक्षुरिन्द्रियस्य स्वसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नसमवायसम्बन्धा वच्छिन्नाधारतासन्निकर्षेण यत्कारणत्वं तेनैवाव्याप्यवृत्तिनीलादिप्रत्यक्षस्य सम्भवे न तदर्थं कारणान्तरं कल्पनीयं, यत्र नीलपीतकपालिकाभ्यामेकं नीलपीतोभयरूपवत्कपालं द्वितीयमपि तथाविधमेव कपालं ताभ्यामारब्धस्य घटस्य नीले नीलकपालिकैव परम्पराऽ वच्छेदिके युक्तसन्निकर्षतश्चक्षुषा तत्प्रत्यक्षमप्युपपद्यत इति निरस्तम्, शाखामूलोभयावच्छे- देन वृक्षे दीर्घतन्तुसंयोगस्यानुभवसिद्धस्य प्रत्यक्षे चक्षुषो यथा स्वसंयोगावच्छेदक- शाखामूलोभयावच्छिन्नसमवायसम्बन्धावच्छिन्नाधारतासन्निकर्षेण कारणत्वं तथा नील- नीलतरोभयावयवावच्छिन्नविलक्षणरूपस्यानुभवसिद्धस्य प्रत्यक्षे चक्षुषः स्वसंयोगावच्छे- दकनीलनीलतरोभयपर्याप्तावच्छेदकताकसमवायसम्बन्धावच्छिन्नाधारतासन्निकर्षेण कारण- त्वस्य कल्पनस्यावश्यकत्वात्, यदि चोक्तसंयोगस्थले नैकः संयोगोऽवयवद्वयावच्छिन्नः, किन्त्वेकैकावयवावच्छिन्नसंयोगद्वय एव, एवं नीलनीलतरावयवोभयावच्छिन्नमपि न विलक्षणैकरूपं, किन्तु नीलावयवावच्छिन्ननीलमवयविन्यन्यदन्यच्च नीलतरावयवावच्छिन्नं नीलतरमिति न नीलनीलतरोभयपर्याप्तावच्छेदकताकसमवायसम्बन्धावच्छिन्नाधारतासन्नि- कर्षकल्पनस्यावश्यकत्वमित्युच्यते, तदा सजातीयविजातीयपदार्थेषु जायमानं समूहालम्बनं ज्ञानं यथैकं तथा नीलनीलतराद्यवयवेष्वपि सर्वेष्ववयविनि स्वस्वावच्छेदेन सम्भवद्यमानं रूप मविरोधाद्व्यापकमेवोत्पद्यत इति वृत्तिकृतोऽभिमतमसङ्गतमापद्येत, ननूपदर्शितसंयोगस्थले तत्तदवयवावच्छेदेन संयोगद्वयमप्यनुभूयते कार्त्स्न्येनैकसंयोगोऽप्यनुभूयत इत्येकानेक- संयोगकल्पनं तथैवैकानेकरूपकल्पनमपि युक्तमेवेत्युच्यते तदैकानेकरूपवस्तुस्वीकर्तृ- स्याद्वादिन एव जेतृता, एतेन नानारूपवदवयवारब्धे व्याप्यवृत्तीन्येव नीलपीतादी न्युत्पद्यन्ते, नीलादिकं प्रति नीलेतरादिप्रतिबन्धकत्वनीलादिकारणत्वकल्पनापेक्षया व्याप्य वृत्तिनीलादिकल्पनाया एव न्याय्यत्वादित्यपि परेषां मतं निरस्तम्, नीलकपालावच्छेदेन चक्षुःसन्निकर्षे पीताद्युपलम्भापत्तेरपि तत्र दोषत्वात्, तदाहुः सम्मतिटीकाकृतः–" आश्रय व्यापित्वेऽप्येकावयवसहितेऽप्यवयविन्युपलभ्यमानेऽपरावयवानुपलब्धावप्यनेकरूपप्रतिपत्तिः स्यात्, सर्वरूपाणामाश्रयव्यापित्वादिति "। न च नीलाद्यवयवावच्छिन्नसन्निकर्षस्य नीलादि- ग्राहकत्वकल्पनया न दोषः, यत्र नीलपीतकपालिकाभ्यां नीलपीतरूपद्वयवत्कपालमेकं मपरञ्च तथा ताभ्यां नीलपीतोभयवद्घटस्योत्पत्तिः, तत्र निरुक्तघटे नीलरूपस्य पीत कपालिकावच्छिन्ननीलपीतोभयकपालावच्छेदेन चक्षुःसन्निकर्षात्प्रत्यक्षापत्तेः । नीलग्राहकस्य नीलपीतोभयरूपवत्कपालात्मकनीलावयवावच्छिन्नसन्निकर्षस्य सद्भावात्, न च नीलप्रत्यक्षे

केवलनीलावयवावच्छिन्नसन्निकर्ष एव कारणमिति नीलपीतोभयवत्कपालस्य केवलनीलावयवरूपत्वाभावात्पीतकपालिकायाश्च नीलरूपवत्त्वस्यैवाभावात् पीतकपालिकावच्छिन्ननील-पीतोभयकपालावच्छेदेन सन्निकर्षाद् घटनीलप्रत्यक्षापत्तिरिति वाच्यं, यत्र नीलपीतपरमाणुभ्यामेकं नीलपीतोभयरूपवद् द्व्यणुकं तथा द्वितीयं तथा तृतीयं च द्व्यणुकमुत्पन्नं, तैश्च त्रिभिर्नील पीतोभयवद्भिर्द्व्यणुकैर्नीलपीतोभयवत्त्र्यणुकमुत्पद्यते तस्य त्रसरेणोर्नीलस्य प्रत्यक्षं न स्यात्, तदवयवस्य द्व्यणुकस्य केवलनीलत्वाभावेन तदवच्छिन्नत्रसरेणुचक्षुस्सन्निकर्षस्य केवलनीलावयवावच्छिन्नसन्निकर्षत्वाऽभावात्, नीलपरमाणुरूपावयवपरम्परावच्छिन्नत्रसरेणुचक्षुस्सन्निकर्षस्य केवलनीलावयवावच्छिन्नसन्निकर्षरूपत्वेऽपि तस्य परमाणुसन्निकर्षस्येव द्रव्याग्राहकत्वेन तद्गतरूपाग्राहकत्वादिति, यथा चोक्तदिशा एकानेकतया रूपस्य चित्रत्वं व्यवस्थितिपद्धतिमेति तथा वस्तुमात्रेऽपि, ग्राह्ये यथा चैकानेकतया चित्रस्वभावत्वमनुभवसिद्धं तथा ग्राहके ज्ञानेऽपि, तत्राखण्डाया एकाकारताया' सखण्डानाञ्च नानाप्रकारताविशेष्यतासांसर्गिकविषयताना परनिरूपितानां शुद्धानां चानुलोमप्रतिलोमभावेन समानसंवित्संवेद्यतानियामकवैचित्र्यशालिनीनाञ्च बह्वीनामनुभवात्, अत एव "सावज्जजोगविरओ तिगुत्तो छसु संजओ, उवउत्तो जयमाणो आया सामाइयं होइत्ति" सप्तनयात्मकमहावाक्यार्थज्ञाने एका विशिष्टा प्रमाणाकारता अनेकाश्चांशिक्यो नयविषयताः परस्परसंयोगजाश्च बह्व्यो ऽनुभूयन्त इति, यदा च चित्ररूपदृष्टान्तावष्टम्भेन सर्वेषां ग्राह्याणां ग्राहकाणाञ्चानेकान्तात्मकत्वं प्रमाणकोटिमाटीकते तदा तन्निराकरणं चित्रे एकानेकस्वरूपं रूपं प्रामाणिकमभ्युपगच्छद्भिर्नैयायिकवैशेषिकैः कर्तुमशक्यमिति सुष्ठूक्तम्—

" चित्रमेकमनेकं च, रूपं प्रामाणिकं वदन् ।
योगो वैशेषिको वाऽपि, नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत् ॥ १ ॥" इति ॥६०॥

ये तु स्वीयागमसूत्रतात्पर्यविवेचनाऽकुशलिनः प्रत्यक्षादिप्रमाणबाधितार्थस्याप्यागमस्यान्धपरम्परान्यायेन प्रामाण्यमाश्रयन्ति ते परमार्थदृष्ट्याऽनवगतसूत्रतात्पर्याऽर्था एवेति प्रतिपादयितुमाह—

पाडेक्कनयपहगयं, सुत्तं सुत्तहरसद्दसंतुट्ठा ।
अविकोवियसामत्था, जहागमविभत्तपडिवत्ती ॥ ६१ ॥

"पाडेक्कनयपहगयं सुत्तं" प्रत्येकनयपथगतं सूत्रम्-एकैकमद्वैतादितत्तन्नयप्रसूततत्तत्परवाद्यागमगतं सूत्रं 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' 'जन्माद्यस्य यतः' इत्यादिवेदान्तदर्शनसूत्रं, 'अथातो धर्मजिज्ञासा' 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इत्यादिमीमांसादर्शनसूत्रम् ।

धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम् ॥ ४ ॥ इत्यादिवैशेषिकदर्शनसूत्रम् ।

प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानाद् निःश्रेयसाधिगमः ॥ १ ॥ इत्यादिनैयायिकदर्शनसूत्रम्, परलोकिनोऽभावात् परलोकाभावः । १ । इत्यादिचार्वाकमतसूत्रम्, " क्षणिकाः सर्वसंस्कारा विज्ञानमात्रमेवेदं भो जिनपुत्राः ! यदुत इदं त्रैधातुकं " इति " ग्राह्यग्राहकोभयशून्यं तत्त्वम्" इति बौद्धदर्शनसूत्रमधीत्य " सुबहुमहसतुट्ठा " सूत्रधरशब्दसन्तुष्टाः—'सूत्रधरा वयम्' इति शब्दमात्रसन्तुष्टा अखर्वगर्वगर्विष्ठाः, 'अविकोविदसामत्था' अविकोविदसामर्थ्याः—निशिताः कोविदाः पण्डिता विकोविदाः पण्डिततमाः, न विकोविदा इत्यविकोविदाः, तेषां सामर्थ्यमिव सामर्थ्यं येषां ते अविकोविदसामर्थ्याः, अविदितशास्त्रान्तर्गतपरमरहस्यभूतभावार्थाः । कथं ते तथाविधा इत्याशङ्कायां तत्र हेतुमाह—यथागमविभक्तपडिवत्ती—अकारप्रश्लेषाद् यथागमाविभक्तप्रतिपत्तयः, आगममनतिक्रम्येति यथागमं यथाश्रुतमित्यर्थः, यथागममेवाविभक्ता अविविक्ता प्रतिपत्तिर्बोधो येषां ते तथा, यस्मिन्नर्थे सूत्राभिप्रायस्तदनभिज्ञत्वेन तद्व्यतिरिक्तविषयप्रतिपत्तित्वादितरजनवत्, तदर्थपर्यालोचनसूक्ष्मबुद्धयादिसङ्घटितयथार्थसूत्रार्थविवेचनपटुबुद्धिहीना इत्यर्थः । अथवा स्वयूथ्या एव एकनयदर्शनेन कतिचित्सूत्राणि अधीत्य कश्चित् 'सूत्रधरा वयम्' इति गर्विता यथावस्थिताऽन्यनयसापेक्षसूत्रार्थापरिज्ञानाद् अविदितसन्दिग्धस्वरूपा यथागमाविभक्तप्रतिपत्तय इत्यभिप्रायः ॥ ६१ ॥

अन्यनयानपेक्षनयमाश्रित्य सूत्राभिप्रायं व्याचक्षाणस्य तथा दूषणोपदर्शनायाह—

सम्मद्दंसणमिणमो सयलसमत्तवयणिज्जणिद्दोसं ।
अत्तुक्कोसविणट्ठा सलाहमाणा विणासेंति ॥ ६२ ॥

'सम्मद्दंसणमिणमो' सम्यग्दर्शनमेतत्, तत्किं स्वरूपमित्याशङ्कायामाह—'सयलसमत्तवयणिज्जणिद्दोसं' सकलसमाप्तवचनीयनिर्दोषम्—गजनिमीलिकान्यायेन परस्परव्यतिरेकेणैतरविषयापरित्यागप्रवृत्ताशेषतत्त्वयगोचरजिनप्रवचनाक्षेपमात्रविषयकसमूहालम्बनज्ञानविशेषात्मकं सम्यग्दर्शनम्, तच्च स्यान्नित्यमित्यादिसकलधर्मपरिसमाप्तवचनीयतया निर्दोषम्, निरुक्तस्वरूपं सम्यग्दर्शनं स्यात्पदघटितमेव वचनं प्रवर्त्तयति, स्यात्पदञ्च तत्तदेकधर्मप्रतिपादकवचनघटकमपि सदनेकान्तद्योतकत्वात्सकलानपि धर्मानवबोधयतीति तद्घटितस्यान्नित्यमित्यादिवचनं सकलधर्मप्रतिपादकत्वलक्षणसकलधर्मपरिसमाप्तत्ववदिति तत्प्रवर्त्तकसम्यग्दर्शनं सकलधर्मपरिसमाप्तवचनीयं तत्त्वेन च निर्दोषम् । ननु स्यात्पदघटितं वचनं सकलधर्मप्रतिपादकं चेत्तर्हि सकलधर्मान्तर्गताऽनभिलाप्यधर्मप्रतिपादकमपि स्यात्, ओमिति चेत्तर्हि वचनप्रतिपाद्यत्वादनभिलाप्यभावा एव न स्युरिति चेत्, मैवम्, यतोऽनभिलाप्यभावा अपि स्वस्वासाधारणधर्मस्वरूपेणानभिलाप्याः, न तु प्रमेयत्वादिस्वरूपेणापि,

अन्यथा प्रमेयत्वादिविकलास्ते शशशृङ्गकल्पाः स्युः। अत एवानभिलाप्यभावे प्रमेयत्वादिना स्यादवक्तव्य' स्वासाधारणधर्मस्वरूपेण स्यादवक्तव्य इत्यादिसप्तभङ्गीसङ्घटना युज्यते, नान्यथेति। ते किं कुर्वन्तीत्येवं क्रियाकाङ्क्षायामाह–'विणासेंति' विनाशयन्ति, ते के इत्याशङ्कायां तत्कर्तृभूतपदमाह–'अत्तुक्कोसविणट्ठा सलाहमाणा' आत्मोत्कर्षविनष्टाः श्लाघमानाः। अयम्भावः–एकनयवादिनस्तत्तद्विषये सूत्राभिप्रायं व्यावर्ण्य सूत्रचरितार्थीकरणेनात्मोत्कर्षेण विनष्टा अनेकान्तकरम्बितवस्तुबोधप्रत्यनादरभावप्रदर्शनेन स्याद्वादतत्त्वप्रतिपादकागमप्रत्यनीकाः 'वयं सूत्रधराः' इत्येवं स्वं प्रशंसन्तः सम्यग्दर्शनं न स्वात्मनि व्यवस्थापयन्ति ॥ ६२ ॥

अथ न ते आगमप्रत्यनीकास्तद्भक्तत्वात् तद्देशपरिज्ञानवन्तश्चेति कथं तद्विनाशयन्तीत्याशङ्कानिवृत्त्यर्थमाह—

न हु सासणभत्तीमेत्तएण सिद्धंतजाणओ होइ।
न वि जाणओ वि णियमा पण्णवणाणिच्छिओ णाम ॥ ६३ ॥

'न हु सासणभत्ती' इत्यादि–न खलु शासनभक्तिमात्रेण सिद्धान्तज्ञाता प्रमाणगोचरानन्तधर्माध्यासितैकैकवस्तुप्रतिपादकस्याद्वादसिद्धान्तस्य ज्ञाता भवति, न च सिद्धान्तप्रतिपाद्यस्याद्वादगर्भयथाऽवस्थितवस्तुतत्त्वपरिज्ञानमन्तरेण भावसम्यक्त्वम्, जिनप्रज्ञप्तभिन्नाऽपक्षाऽविरुद्धनित्यानित्यत्वादिस्याद्वादधर्माङ्कितनिखिलभावावगाहिसमूहालम्बनापायज्ञानात्मकरुचिरूपत्वात्तस्य, स्याद्वादतत्त्वरूपेणाज्ञातस्यार्थस्य तद्रूपेण रुचिविषयत्वानुपपत्तेः, अतथाभूतार्थज्ञानस्य च परमार्थदृष्ट्याऽवग्रहादिरूपतयाऽनेकान्तविषयस्यापि तदावरणदोषेणानेकान्तविषयकत्वेनानुल्लिखितस्य तथा रोचयितुमशक्यत्वात्, यद्यस्मादृशां प्रमादग्रस्तानां प्रवचनानुराग एव शुभोपाय इति मन्यमानानां शासनभक्तिमात्रेण श्रद्धानुसारिणां सम्यक्त्वं तत् 'सत्सङ्ख्यादिमार्गणास्थानैस्तन्निर्णयो भावसम्यक्त्वं, सामान्यतस्तु द्रव्यसम्यक्त्वम्' इति ज्ञानबिन्दुवचनात् तेषामोघतो प्रवचनानुरागमात्रेण "तदेव सत्यं निःशङ्कं यज्जिनेन्द्रैः प्रवेदितम्" इति ज्ञानाहितवासनारूपं द्रव्यसम्यक्त्वमेवेति जानीहि, 'ण विजाणओ वि णियमा पण्णवणाणिच्छिओ णाम' न विज्ञाताऽपि जीवादितत्त्वैकदेशविज्ञाताऽपि, नियमात् प्रज्ञापनानिश्चितो नाम–नामेति कोमलामन्त्रणे, अनेकान्तात्मकवस्तुस्वरूपयथार्थप्ररूपणाया निश्चितो भवति, एकदेशज्ञानवतस्सकलपर्यायविशिष्टवस्तुज्ञानविकलतया सम्यक्तत्त्वप्ररूपणाऽसम्भवात्, तथा च पूर्वापरैकवाक्यतया सकलानन्तधर्मात्मकजीवादितत्त्वप्रतिपादकसूत्रसन्दर्भस्य प्रमाणनयद्वारेण प्रवृत्तस्य तात्पर्यज्ञातैव सिद्धान्तज्ञाता, न पुनरपरिहृतविरोधवदेकदेशज्ञाता, तस्यैकनयद्वारा प्रवृत्तत्वात्, अत एव न स स्याद्वादप्ररूपणायां सम्यक् समर्थ इति सिद्धम्। जीवाजीवास्रवादिसप्तपदार्थतत्त्वनिरूपणं बृहट्टीकायामसत्कृत

तत्त्वार्थभाष्यव्याख्याविवरणटीकायां च विस्तरेण कृतमिति तत एव चावसेयम्, ग्रन्थगौरव-भीत्या नेह प्रतन्यते ॥ ६३ ॥

अल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद् विश्वतो मुखम् । अस्तोभमनवद्यञ्च, सूत्रं सूत्रविदो विदुः ॥ १ ॥ इति लक्षणं सूत्रम्, अत एव महापुरुषप्रणीतत्वेन गम्भीरार्थमिति न तन्मात्रप्रमाणनयगर्भतात्पर्यार्थबोधक्षमम्, किन्तु पदार्थवाक्यार्थमहावाक्यार्थैदम्पर्यार्थभेदभिन्नव्याख्यानद्वारेणेति प्रतिपादयितुमाह—

सुत्तं अत्थनिमेणं न सुत्तमेत्तेण अत्थपडिवत्ती ।
अत्थगई उण णयवायगहणलीणा दुरभिगम्मा ॥ ६४ ॥

'सुत्तं' अल्पाक्षरैर्बह्वर्थान् सूचयतीति सूत्रम्, 'अत्थनिमेणं' अर्थेन परिच्छिद्यत इत्यर्थः, स च द्विविधः, तत्रैकोऽर्थः सूत्रेण सूचितः साक्षात्सूत्रस्याऽभिधेयः, द्वितीयश्च सूचितोऽर्थावगत्याऽधिगम्यः, सामर्थ्यगम्य इति यावत्, अत एव चतुर्दशभिरपि पूर्वैः कश्चिन्मात्रात्, किन्तु भगवता सर्वोऽप्यभिलाप्यः पदार्थोऽभिधीयत एवेति विशेषावश्यकटीकोक्तमन्तव्यम्, तस्य निमनं स्थानं सूत्रम्, अनन्तार्थभृतमेव सूत्रम्, अर्थप्रतिपत्तिश्च न निर्युक्त्या विनिवेशवशसूत्रमात्रेण, यतः 'मूअं केवलसुत्तं जीहा पुण होइ पायडा अत्थो ॥ १५५ ॥' इत्युपदेशरहस्योक्तेर्व्याख्यानरहितं सूत्रं मूकं मूकपुरुषतुल्यम् कस्यचिदर्थस्याऽज्ञापकम्, सूत्रमात्रेण प्रमाणनयगर्भतात्त्विकार्थाऽप्रतीतेः, अर्थः पुनः प्रकटा जिह्वा, परावबोधहेतुत्वात् । अर्थः पुनः—" पयवक्कमहावक्कत्थमेदपज्जं च एत्थ चत्तारि । सुयभावाऽवगमम्मि हंदि पगारा विणिद्दिट्ठा ॥ ८५९ ॥" इत्युपदेशपदोक्तेः सूत्रभावावगमहेतुभूतः पदार्थवाक्यार्थमहावाक्यार्थैदम्पर्यार्थभेदेन चतुर्द्धा भणितः । तत्र पदार्थो यथाश्रुतार्थः, पद्यते गम्यतेऽर्थः सामान्यरूपोऽचालिताऽप्रत्यवस्थापितो येनेति व्युत्पत्तेः । तदाह—" अत्थपरेण इ जमा ए य पय होइ सिद्धं " इति । वाक्यार्थो दूषणोक्तिलक्षणचालनात्मकः, महावाक्यार्थश्च दूषणपरिहारलक्षणप्रत्यवस्थानायोच्चरितस्य वाक्यसमूहात्मकमहावाक्यस्यार्थः, ऐदम्पर्यार्थश्च तात्पर्यार्थः । एवं प्रतिसूत्रमुक्तक्रमेण व्याख्याने निश्चितप्रामाण्यकं सम्यग्ज्ञानं श्रुतमुत्पद्य निराकाङ्क्षप्रतीतिरूपं स्यात्, तच्च वाक्यार्थादिज्ञानं शब्दप्रयोज्यमतिरूपं श्रुतज्ञानाभ्यन्तरं भवति श्रुतमुद्राः, अत एव समानाक्षरलाभानां चतुर्दशपूर्वविदामपि षट्स्थानपतितत्वं यथोक्ताक्षरलाभानुसारिभिरेव तैस्तैर्गम्यार्थविषयकैः क्षयोपशमवैचित्र्याद्विचित्रैर्मतिविशेषैः सम्भवति, तथा चोक्तं विशेषावश्यकभाष्ये—" अक्खरलम्भेण समा ऊणहिया होंति मइविसेसेहिं । ते वि य मईविसेसे सुयनाणब्भंतरे जाण ॥ १४२ ॥" इति । जिह्वातुल्या ति य एसा ॥ ८५६ ॥' इत्युपदेशपदवचनात्

कार्थमपेक्ष्य सूत्रेण निश्चितप्रामाण्यकतात्पर्यार्थप्रतीतिः, न तु सूत्रमात्रेणेत्याह ' न सुत्तमेत्तेण अत्थपडिवत्ती ' न सूत्रमात्रेणार्थप्रतिपत्तिः, निस्सीमसिद्धान्ताबाधितपरमार्थग्राहिबुद्धिरत्ननिधिसुगुरुपरम्पराविदितसूत्रार्थभावाचार्यकृतव्याख्यानरहितेन सूत्रेणार्थप्रतिपत्तिः पौर्वापर्याबाधितार्थप्रतिपत्तिर्न, अविधूतेन सूत्रेणायथार्थप्रतीतेरपि भावात्। यथाऽवस्थितार्थप्रतिपत्तिस्सूत्रमात्रेण दुश्शक्येत्यत्र हेतुगर्भविशेषणमाह ' अत्थगई पुण णयवायगहणलीणा ' ये गत्यर्थास्ते ज्ञानार्था इति वचनाद् अर्थगतिः अर्थस्य यथाऽवस्थितस्य गतिः प्रतिपत्तिः पुनर्नयवादगहनलीना, " नत्थि णएण विहूण सुत्त अत्थो य जिणमए किंचि " इत्युक्तेः शतशतप्रभेदविशिष्टैर्नैगमाद्यृजुसूत्रादिनयभेदविशिष्टद्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयवादावेव गहनं विपिनम्, तत्र लीना तन्मग्ना तद्विषयविषयिकेति यावत्, अत एव ' दुरभिगम्मा ' दुरधिगम्या दुरवबोधेत्यर्थः ॥ ६४ ॥

अशेषतत्त्वमया अतिसूक्ष्मविषमतमार्थविषयकत्वेन कुशाग्रबुद्धिभिरेवावसेया इति ततस्सूटितसूत्रार्थप्रतिपत्तिरपि मन्दमेधसां दुश्शक्येत्यतोऽधीतसूत्रेणार्थसम्पादने विधिनाऽधिकतरो यत्नः कर्त्तव्यः, यतोऽर्थशुद्धेरुभयविशुद्धिस्सूत्रार्थोभयनिर्मलतारूपा सम्पद्यते, अन्यथा विपरीतशास्त्रार्थप्रतिपत्तिलक्षणविपर्यासापत्तेश्शासनमालिन्यकारित्वं स्यादित्याशयेनाह-

तम्हा अहिगयसुत्तेण, अत्थसंपायणम्मि जइयव्वं।
आयरियधीरहत्था, हंदि महाणं विलंबेन्ति ॥ ६५ ॥

' तम्हा अहिगयसुत्तेण ' तस्मात् सूत्रादर्थो बलीयानिति हेतोः, अधिगतसूत्रेण अधिगतमधीतमशेषं सूत्रं येनासौ अधिगतसूत्रः, तेन, ' अत्थसंपायणम्मि जइयव्व ' अर्थसम्पादने, अर्थविषयकप्रमाणतत्त्वनयस्वरूपावधारणे, यतितव्यं दृढयत्नपरेण भाव्यम्, तस्मिन् यत्नः कर्तुमुचित इति यावत्। अधीत्य सूत्रं तत्त्वनययुक्तितत्प्रतिस्पर्द्धिनययुक्तिसवादः श्रोतव्यः, श्रुत्वा च सर्वनयसंवादविनिश्चयपरिशुद्धयथावस्थितार्थतया सूत्रं भावनीयम्, प्रमाणपरस्परसापेक्षतत्त्वनयापेक्षानेकान्तार्थप्रतिपादकतया सूत्रयथावत्तात्पर्यभावनाऽकरणे शासनविडम्बनाकारित्वदोषप्रतिपादनायोत्तरार्द्धमाह—" आयरियधीरहत्था " आचार्यधीरहस्ताः, धीरो लज्जाविनयशिक्षाकलादिरहितत्वेन धृष्टताशाली हस्तो येषां ते धीरहस्ताः, आचार्याश्च ते धीरहस्ताश्च आचार्यधीरहस्ताः, यथा केचिदनभ्यस्तकर्माणोऽपि धृष्टतया कर्मणि व्यापृतहस्ताः तथा सद्गुरूपासनादिभिरशिक्षिततत्त्वनयगर्भशास्त्रार्था अपि शास्त्रार्थविवेचने धृष्टतया व्यापृताः, एवम्भूताऽऽचार्याः किं कुर्वन्तीत्याशङ्कायामाह-" हंदि महाण विलंबेंति " महाऽऽज्ञामाप्तशासनं विडम्बयन्तीति ज्ञायताम्, तदेवमनधीताऽश्रुतयथावदपरिभावितागमतात्पर्या जिनशासनं विगोपयन्तीति सिद्धम् ॥ ६५ ॥

पटुश्रुतत्वादिदर्पात्सूत्रतात्पर्यार्थानवबोधादनिश्चितशास्त्रार्थस्य सिद्धान्तप्रत्यनीकत्वमाह-

जह जह बहुस्सुओ सम्मओ अ, सिस्सगणसंपरिवुडो अ ।
अविणिच्छिओ अ समए, तह तह सिद्धंतपडिणीओ ॥ ६६ ॥

'जह जह बहुस्सुओ' यथा यथा बहुश्रुतः परिपठितबह्वागमः श्रुतपञ्जरप्रादितया बहुश्रुतत्वख्यातिमानिति यावत्, 'सम्मओ अ' सम्मतश्च सिद्धान्तोपनिषद्विचारचतुरजना विदितशास्त्राभिप्रायाणां गतानुगतिकप्रवाहपतितानां तदनुवर्तिनां चान्येषां बाह्याडम्बरदर्शनमात्रोदितविस्मयानां मुग्धमतीनां च शास्त्रज्ञत्वेन बहुमतः, 'सिस्सगणसंपरिवुडो अ' शिष्यगणसंपरिवृतश्च शास्त्रतत्त्वानभिज्ञैर्विनेयवृन्दैः समन्तात् परिवृतश्च 'अविणिच्छिओ अ' अविनिश्चितश्च तथाविधपरिवारदर्पाच्छास्त्रपर्यालोचनेऽनादरादविनिश्चितागमैदम्पर्यश्च, यद्वा सम्यगपरिणतश्च प्रवचने ऐदम्पर्याऽज्ञानात् विरत्यप्रवृत्तत्वाच्च, 'तह तह सिद्धंतपडिणीओ' तथा तथा सिद्धान्तप्रत्यनीकः, यथावदपरिभावितागमतात्पर्यस्योऽपरिणतदेशनया यथास्थितसिद्धान्तस्य विपर्यासापादनान्मुग्धजनानामश्रद्धोत्पादकत्वेन वस्तुस्थित्या सिद्धान्तविनाशकः, अन्यागमेभ्यस्तल्लाघवापादनादिति । अभिहितश्च सिद्धान्ते—

"सव्वन्नूहिं पणीयं, सो उत्तममइसएण गंभीरं ।
तुच्छकहणाइ हिट्ठा, सेसाण वि कुणइ सिद्धंतं ॥ १ ॥
अविणिच्छिओ ण सम्मं, उस्सग्गाववायजाणओ होइ ।
अविसयपओगओ सिं, सो सपरविणासओ नियमा ॥ २ ॥" इति ।

तदर्थश्चायम्—सर्वज्ञैः प्रणीतं सोऽविनिश्चित उत्तमं प्रधानमतिशयेन गंभीरं भावार्थसारं तुच्छकथनया अपरिणतदेशनयाऽधः शेषाणामपि सिद्धान्तानां करोति तथाविधलोकं प्रति सिद्धान्तमिति गाथार्थः । अविनिश्चितः समये न सम्यगुत्सर्गापवादज्ञो भवति सर्वत्रैव, ततश्चाऽविषयप्रयोगतोऽनयोरुत्सर्गापवादयोस्तथाविधः स्वपरविनाशको नियमात् कूटवैद्यवदिति गाथार्थः ॥ ६६ ॥

तस्माच्छास्त्रमधीत्य तदर्थावधारणं विधेयम्, अवधृतश्च तदर्थो प्रमाणनयाभिप्रायतो यथावत्परिभावनीयः, अन्यथा तत्फलपरिज्ञानविकलताप्रसक्तिस्स्यादित्येतत् आह—

यद्वा स्याद्वाद एव प्रवचनसारः, एतद्बोधेनैव प्रवचनस्य फलवत्त्वात्, "एगे आया" इत्यादिनापि तन्त्रपरिकर्मितमतीनामात्मा स्यादेकः स्यादनेक इत्यादिसप्तभङ्गीपरिष्कृतबोधस्यैवोत्पत्तेः, एकनयावधारणे मिथ्यादृष्टिवचनाऽविशेषप्रसङ्गात् । अत एव भगवदुपदिष्टया प्रवचनमूलत्रिपद्याप्येकवस्तुनि द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयापेक्षकथञ्चिन्नित्यत्वानित्यत्वोभयधर्मसमावेशलक्षणस्याद्वाद एव प्रोक्त इत्येतस्मिन्नऽविज्ञाते चरणकरणानुष्ठानस्य निश्चयशुद्धस्साराेऽविज्ञातस्स्यात्, स्याद्वादमुद्रामुद्रितजीवाजीवादिनवतत्त्वविषयकापायज्ञानात्मकरुचिरूपसम्यग्दर्शनशुद्धिशून्यत्वादिति प्रतिपादयितुमाह—

चरणकरणप्पहाणा, ससमयपरसमयमुक्कवावारा ।
चरणकरणस्स सारं, निच्छयसुद्धं न याणंति ॥ ६७ ॥

'चरणकरणप्पहाणा' चरणकरणप्रधानाः–चरणं "वयसमणधम्म" इत्यादिगाथोक्तसप्ततिभेदम्, करणमपि "पिंडविसोही समिई" इत्यादिगाथोक्तसप्ततिभेदम्, ताभ्यां प्रधानाः, तदुभयानुष्ठानसततप्रवृत्त्येकलीनाः, 'ससमयपरसमयमुक्कवावारा' स्वसमयपरसमयमुक्तव्यापाराः, स्वसमयपरसमययोर्मुक्तोऽनादृतो व्यापारः स्याद्वादपरिकर्मितधिया विवेचनात्मा यैस्ते तथा, चरणकरणाऽनुष्ठानेनैव कृतार्था वयं किमस्माकं तर्ककर्कशेन वादरसिकरमणीयेन स्याद्वादेन प्रयोजनमित्येवं द्रव्यानुयोगशास्त्राभ्यासाद्व्यावृत्ता इत्यर्थः, 'चरणकरणस्स सारं' चरणकरणस्य चरणकरणानुष्ठानस्य सारं स्वजन्यफलोत्कर्षाङ्गम्, 'निच्छयसुद्धं' निश्चयशुद्धं परमार्थदृशाऽवदातम्, न तु बाह्यक्रियामात्रोकदृष्ट्यैवापाततो रमणीयमित्यर्थः, 'न याणंति' न जानन्ति, न विचारयन्ति, तदावरणदोषात्, एवञ्च तेषामल्पफलमेव चरणकरणानुष्ठानमित्यर्थः ।

यद्वा पूर्वोक्तयोश्चरणकरणयोः प्रधानास्तदनुष्ठानतत्पराः,स्वसमय–परसमयमुक्तव्यापारा अथ स्वसमयः प्रमाणनयाभ्यां यथावस्थितानेकान्तात्मकवस्तुतत्त्वप्रतिपादकत्वात्, अयञ्च परसमयः प्रमाणान्तरबाधितैकान्ततत्त्वप्रतिपादकत्वात्, न चात्र प्रमाणान्तरबाधितत्वस्य विशेषणस्याऽसिद्ध्या तद्विशिष्टोक्तहेत्वसिद्धिरिति वाच्यम्, तत्तन्नयप्रवर्तिततत्तत्समयान्तरतत्त्वेषु नयान्तरप्रतिपाद्ययुक्तिप्रकारैरनेकशो बाधितत्वस्य प्रदर्शनादित्येतस्मिन् परिज्ञानेऽनादृताः, नरसिंहवज्जात्यन्तररूपमत एव समयान्तरतत्त्वविलक्षणमनेकान्ततत्त्वं यथावदनवबुध्यमानाश्चरणकरणयोः सारं फलं निश्चयशुद्धं निश्चयश्च तच्छुद्धञ्च ज्ञानदर्शनोपयोगात्मकं निष्कलङ्कं न जानन्ति नानुभवन्ति, ज्ञानदर्शनचारित्रात्मककारणप्रभवत्वात्तस्य, कारणाभावे च कार्यस्याऽसम्भवात्, अन्यथा तस्य निर्हेतुकत्वापत्तेः, चरणकरणयोश्च चारित्रात्मकत्वात्, द्रव्यपर्यायात्मकजीवादितत्त्वावगमस्वभावरूप्यभावेऽभावात्, अथवा चरणकरणयोस्सारं निश्चयेन शुद्धं सम्यग्दर्शनं ते न जानन्ति, न हि यथावस्थितवस्तुतत्त्वावबोधमन्तरेण तद्रुचिः, न च स्वसमयपरसमयतात्पर्यार्थानवगमे तदवबोधो घोटिकादेरिव सम्भवी । अथ जीवादिद्रव्यार्थपर्यायार्थाऽपरिज्ञानेऽपि यदर्हद्भिरुक्तं तदेवैकं सत्यमित्येतावतैव सम्यग्दर्शनसद्भावः "भण्णइ तमेव सच्चं णिस्संकं जं जिणेहिं पण्णत्तं" इत्याद्यागमप्रामाण्यात्, न, स्वसमयपरसमयपरमार्थाऽनभिज्ञैर्निरावरणज्ञानदर्शनात्मकजिनस्वरूपाज्ञानवद्भिस्तदभिहितभावानां सामान्यरूपतयाप्यन्ययव्यवच्छेदेन सत्यस्वरूपत्वेन ज्ञातुमशक्यत्वात्, नन्वेवमागमविरोधः सामायिकमात्रनिदो
युक्तिप्रतिपादनात् सकलशास्त्रार्थज्ञवाविकल्पव्रतस्य

फलाऽनवाप्तेः, न च यथोपदर्शितचरणकरणे सम्यग्दर्शनवैकल्ये सम्भवतः, ज्ञानादित्रितय-स्यापि तत्र पाठादिति, मैवम्, ये यथोदितचरणकरणप्ररूपणासेवनद्वारेण प्रधानाद्याचार्यास्स्व-समयपरसमययुक्तव्यापारा न भवन्तीति नञोऽत्र सम्बन्धात् ते चरणकरणसारं निश्चय-शुद्धं जानन्त्येव, गुर्वाज्ञया प्रवृत्तेः, चरणगुणस्थितस्य साधोः सर्वनयविशुद्धतयाऽभ्युपगमात् "तं सव्वणयविसुद्धं जं चरणगुणट्ठिओ साहू" इत्याद्यागमप्रामाण्यात्। अगीतार्थस्यापि गीतार्थनिश्रितस्य तत्पारतन्त्र्यस्यैव फलतो ज्ञानदर्शनलक्षणत्वात्। आह च हरिभद्राचार्यः-

"गुरुपारतंतनाणं, सद्दहणं एय संगयं चेव।
एत्तो उ चरित्तीणं, मासतुसाईण निद्दिट्ठं ॥ ११-७ ॥ त्ति"

गीतार्थाऽनिश्रितागीतार्थस्य स्वतन्त्रचरणकरणप्रवृत्तेर्व्रताद्यनुष्ठानवैफल्यं त्वभ्युपगम्यत एव। "गीयत्थो य विहारो, बीओ गीयत्थमीसि(निस्सि)ओ भणिओ। इत्तो तइयविहारो, नाणुन्नाओ जिणवरेहिं ॥ १ ॥" इत्याद्यागमप्रामाण्यादिति।

यद्वा पूर्वोक्तयोश्चरणकरणयोः प्रधानाः-तदनुष्ठानार्पितत्रिकरणाः, स्वसमयपरसमय-मुक्तव्यापाराः-अयं स्वसमयः द्रव्यार्थिकनयापेक्षया स्यान्नित्यमेव पर्यायार्थिकनयापेक्षया स्यादनित्यमेवेत्यादिसप्तभङ्गीपरिकरितार्थबोधजनकत्वात्, अयञ्च परसमयः अन्यनया-नपेक्षनयगोचरैकान्ततत्त्वप्रतिपादकत्वात्, इत्येतस्मिन् परिज्ञानेऽनादृताः, तत्तत्समयप्रस्तुत-स्वपरसमयप्रतिपाद्यैकान्ततत्तत्त्वज्ञाने नयान्तरप्रतिपाद्येन तत्तत्त्वनिराकरणयुक्तिसमूहे-नाप्रामाण्यज्ञाने सत्येव तद्विषयासत्यत्वनिश्चयः, तस्मिंश्च सति प्रमाणनयाभ्यां स्वसमय-प्रतिपाद्यभिन्नापेक्षाविरुद्धक्षणिकाऽक्षणिकत्वनित्यानित्यत्वाद्यनन्तधर्मात्मकानेकान्तात्मका-र्थयथार्थनिश्चयो भवितुमर्हतीति स्वपरसमयतत्त्वसत्यासत्यत्वनिर्वचनानुद्यमवन्तोऽनेकान्त-तत्त्वं यथावदनवबुध्यमानाः चरणकरणयोस्सारं निश्चयेन शुद्धं सम्यग्दर्शनं ते न जानन्ति, यतो भगवता प्रवचनं सम्यग्दृष्टिव्रातानां स्याद्वादज्ञानार्थमेवोपदिष्टमिति यथार्थस्याद्वाद-निश्चयबोधमन्तरेण स्वपक्षस्सन् परपक्षश्चासन्नित्येवं स्वपक्षपरपक्षयोर्विधिनिषेधयोः कर्तुम-शक्यत्वात् नास्ति स्याद्वादतत्त्वरुचिलक्षणसम्यक्त्वम्, जिनप्रज्ञप्तसमयविषयकसमूहालम्बन-ज्ञानविशेषस्यैव रुचितयाऽऽम्नातत्वात्, तादृशबोधश्च वस्तुत्वव्यापकाऽनेकान्तत्वप्रति-सन्धानाहितवासनावतामेव, तादृशवासनाऽपि च स्वपरसमयनिरन्तरबद्धव्यापाराणामेव, न च ते तादृशव्यापारा इति न निश्चयेन शुद्धं सम्यग्दर्शनमनुभवन्ति, "छप्पिय जीव-निकाए, सद्दहमाणो ण सद्दहइ भावा" इत्यादिनाऽत्र प्रागेवोक्तत्वादविविक्तषट्कायपरि-ज्ञानेऽपि स्याद्वादेन विविक्तषट्कायपरिज्ञानं विनौघतस्तद्रागमात्रेण द्रव्यसम्यक्त्वस्येवा-त्रापि स्वसमयपरसमयविवेचनं विना द्रव्यसम्यक्त्वस्यैव भावात्। नन्वेवं तथाविधाऽगी-तार्थस्य संक्षेपरुचिसम्यक्त्वमुच्छिद्येतेति चेत्, मैवम्, यत आज्ञारुचेः प्रियगीतार्थाऽऽज्ञस्य

मार्गानुसारिणो यत्सम्यक्त्वं तद्द्रव्येण ब्रुवते निपुणाः स्याद्वादप्रतिपत्तियोग्यतायास्तज्जन्यनिर्जराजनककर्मक्षयोपशमरूपायास्तेष्वखण्डितत्वात् । अभिहितञ्च—

" जिणवयणमेव तत्त, एत्थ रुई होइ दव्वसम्मत्त ।
जह भावा नाणसिद्धा, परिसुद्ध तस्स सम्मत्त ॥ " इति ।

एतच्च विवेचित प्रागेव । यद्वा ये यदोदितचरणकरणप्ररूपणासेवनद्वारेण प्रधानादाचार्यास् स्वसमयपरसमयमुक्तव्यापारा न भवन्तीति नवोऽत्र सम्बन्धात् ते चरणकरणसार निश्चयशुद्ध जानन्त्येव, गुर्वाज्ञया प्रवृत्तेरिति ॥ ६७ ॥

परस्परनिरपेक्षे ज्ञानक्रिये न मोक्षसाधिके किन्तु परस्परसापेक्षे एव ते, यतो मोक्षत्वावच्छिन्नम्प्रति न केवलक्रिया, न वा ज्ञानमात्र कारणम्, किन्तु मोक्षानुकूलशक्तिमत्त्वेन रूपेण मिथस्सापेक्षज्ञानक्रियोभयमेवेति प्रतिपादयितुमाह—

नाण किरियारहिय, किरियामेत्त च दो वि एगता ।
असमत्था दाएउ, जम्म-मरणदुक्खमा भाई ॥ ६८ ॥

' नाणं किरियारहियं ' ज्ञान स्याद्वादाङ्कितजीवादिपदार्थसार्थप्रकाशक ज्ञान क्रियारहित शास्त्रविहितपञ्चमहाव्रतादिसदनुष्ठानक्रियानिरपेक्षम्, ' किरियामेत्त च ' क्रियामात्र च, मात्रपदेन तदितरव्यवच्छेदादुक्तलक्षणज्ञाननिरपेक्षा क्रिया च यथोक्तानुष्ठानात्मिका, ' दो वि एगता ' ' द्वावप्येकान्तौ ' अम्यते गम्यते निर्णीयते इत्यन्तः, धर्मः, एकश्चासावन्तश्चैकान्तः, एकान्तश्चैकान्तश्चैकान्तौ, भिन्नापेक्षाऽविरुद्धधर्मान्तरविनिर्मुक्तत्वेन केवलैकधर्मात्मकौ द्वावपि पक्षौ ' जम्ममरणदुक्खमामाई ' जन्ममरणदुःखेभ्यो मा भैषीरिति ' दाएउ असमत्था ' दर्शयितुमसमर्थौ । नन्वेव तर्हि तेभ्यो मा भैषीरिति दर्शयितु कस्समर्थ इति चेद्, उच्यते, परस्परसापेक्षसमुदिततदुभयात्मकपक्ष एव, तथाहि—पुरुषो न ज्ञानमात्रेण भयेभ्यो मुच्यते क्रियारहितत्वात्, महानगरे दह्यमाने सति दृष्टपलायनमार्गपङ्गुवत्, न वा पुरुषः क्रियामात्रेण भयेभ्यो मुच्यते सज्ज्ञानरहितत्वात्, महानगरे प्रदीप्यमाने सति दह्यमानगृहाद्यभिमुखपलायमानान्धवत् । तदुक्त विशेषावश्यकनिर्युक्तौ—

" हय नाण कियाहीण, हया अन्नाणओ किया ।
पासतो पगुलो दड्ढो, धावमाणो अ अधओ ॥ १ ॥ " इति ॥ ११५९ ॥

यद्वा ज्ञानमात्र नेप्सितार्थप्रापक सत्क्रियाऽसहकृतज्ञानत्वात्, महारण्यदाहे सति दृष्टपलायनमार्गस्वदेशप्राप्त्यभिमुखगमनक्रियाशून्यपङ्गुज्ञानवत्, क्रियाऽपि केवला नेप्सितार्थसाधिका सज्ज्ञानासहकृतक्रियात्वात्, अतिसङ्कटपुरदाहे दह्यमानगृहाद्यभिमुखप्रपलायमानान्धपुरुषगतिक्रियावत् । समुदितज्ञानक्रियोभयपक्षे त्वेवमनुमानप्रयोगः—सम्यग्ज्ञान

सम्यक्क्रियोभयवान् पुरुषो भयेभ्यो मुच्यते उभयसयोगसत्त्वात्, महाऽऽरण्यदाहभीतान्ध स्कन्धारूढपङ्गुवदिति । तदुक्त विशेषावश्यकनिर्युक्तौ—

" सजोगसिद्धीए फल वयति, न हु एकचक्केण रहो पयाइ ।
अघो य पङ्गू य वणे समिचा, ते सपउत्ता नगर पविट्ठा ॥१॥ " इति ।

एतदर्थसवादकतयोक्तश्चान्यत्र—

" चक्षुष्मानेक' स्यादन्धोऽन्यस्तन्मतानुवृत्तिपरः ।
गन्तारौ गन्तव्य प्राप्नुत एतौ युगपदेव ॥ १ ॥ " इति ।

यद्वा सम्यक्क्रियासम्यग्ज्ञानोभय इष्टफलसिद्धिजनक परस्परसहकारित्वात्, अन्धपङ्गु-सम्यक्क्रियाज्ञानोभयवदिति । नन्वनेन ज्ञानक्रियाभ्यां द्वाभ्यां जन्ममरणभयविमुक्ति लक्षणमोक्ष इति प्रतिपादितम् ।

" नाण पयासय सोहओ, तवो सजमो य गुत्तिकरो ।
तिण्हं पि समाओगे, मोक्खो जिणसासणे भणिओ ॥११६९॥ " इति ॥

विशेषावश्यकनिर्युक्त्या तु ज्ञानतप'सयमेभ्यस्त्रिभ्यो मोक्ष इत्यभिहितमिति कथ न विरोध इति चेत्, अज्ञानविलसितमेतत्, तपःसयमयोः क्रियारूपत्वेन तपोः क्रियाया-मेवान्तर्भावात् । तदुक्तम्—

" सजमतवोमई ज सवरनिज्जरफला मया किरिया ।
तो तिगसजोगो वि हु, ताउ चिय नाण-किरियाओ ॥११७४॥ " इति ।

एतेन सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग इति तत्त्वार्थाधिगमसूत्रेणापि सह विरोधो निरस्त', यतो ज्ञानग्रहणेनैवेह सम्यग्दर्शनमाक्षिप्यते, तदन्तरेण तस्याप्यभावात्, मिथ्या-दृष्टिज्ञानस्याज्ञानत्वेन पूर्वमेव प्रतिपादनात् । यद्वा मतिज्ञानस्यैव रुचिरूपो योऽपायांश स्तद्रूपत्वेन सम्यग्दर्शनस्य ज्ञानात्मकतया सङ्ग्रहनयाभिप्रायेण सम्यग्दर्शनज्ञानयोर्ज्ञानत्वेन रूपेणैकत्वविवक्षणादिति, गोवृषन्यायेन सम्यग्दर्शनज्ञानयोः पृथग् विवक्षया तु सम्यग्दर्शनादित्रितयस्यैव मोक्षानुकूलैकशक्तिमत्त्वावच्छिन्नकारणत्वलक्षण मोक्षमार्गत्व तत्त्वार्थाधिगमसूत्रेण निहितमिति सर्वमवदातम् । ननु सम्यग्दर्शनादित्रयस्य ज्ञान क्रियोभयस्य वा मोक्षकारणत्वमस्तु तथापि तत्केन रूपेणेति चेत्, उच्यते, अन्वय व्यतिरेकाभ्या कार्यकारणभावग्रह इति ताभ्या सम्यग्दर्शनत्वेन सम्यग्ज्ञानत्वेन सम्यक् चारित्रत्वेन यद्वा ज्ञानत्वेन क्रियात्वेन प्रत्येकरूपेण मोक्षम्प्रति स्वेतरसकलकारणसहकृतस्य सम्यग्दर्शनादः कारणत्वग्रहाचत्तत्त्वयापेक्षयैकैकस्यापि परस्परसापेक्षस्य कारणत्वम्, सामग्री

वै जनिकेति न्यायात्प्रमाणापेक्षया सम्यग्दर्शनादित्रयसमूहस्य ज्ञानक्रियोभयस्य वा मोक्षानुकूलशक्तिमत्त्वेन रूपेणैकमेव कारणत्वमित्यभ्युपगन्तव्यम्, तत्र द्वारद्वारिभावकल्पनादिकमधिकं पूर्वमेवोक्तमिति ॥ ६८ ॥

दुरवगाहगम्भीराक्षोभ्यपदार्थरत्नरत्नाकरस्य नानाविधतरङ्गोपमविविधतत्त्वनयभङ्गस्य नाऽऽत्मरूपानेकादित्यसमूहवत्कुवादिकल्पपदार्थप्रकाशस्य सविवृसहस्रवद्भास्वरत्वात्केनाप्यनभिभवनीयस्य जिनवचनस्यापूर्वमाहात्म्यज्ञापनात्मकस्तुतिरूपं शिष्यप्रशिष्यादावेतत्प्रकरणाध्ययनाऽविच्छेदार्थञ्चाऽन्तिममङ्गलं प्रतिपिपादयिषुः जिनवचनयथार्थगुणरत्नकरणे कलालसो विश्वविश्वार्च्यक्रमाब्जश्रीसूरिः प्रकरणपरिसमाप्तावन्तिमगाथामाह—

भद्दं मिच्छादंसणसमूहमइयस्स अमयसारस्स ।
जिणवयणस्स भगवओ, संविग्गसुहाहिगम्मस्स ॥ ६९ ॥

'भद्दं' इत्यस्य 'जिणवयणस्स' इत्यनेनान्वयः, भद्रं—कल्याणं यथास्थिततत्त्वज्ञानोत्पादनद्वारा भव्यान्त्रिमाताखण्डाऽप्रतिद्वन्द्वाऽऽनन्दसन्दोहाऽप्रतिघातिनीरुक्त्वप्रापकस्य सर्वे वाक्यं क्रियया परिसमाप्यत इतिवचनात् अस्त्विति शेषः, रागद्वेषमोहान् भावारीन् जयन्तीति जिनाः, उच्यते यत्तद्वचनम्, जिनानां वचनं जिनवचनं तस्य, जिनप्रणीतवचनस्येति यावत्, अनेनास्य 'जिणाणं सासनं सिद्धं' इत्यनेनोक्तं विशिष्टपुरुषप्रणीतत्वनिबन्धनं प्रामाण्यं निगमयति, "सव्वनयमयं जिणवयणं" इत्यागमोक्तिमनुस्मरन्नाह—'मिच्छादंसणसमूहमइयस्स' इति-मिथ्यादर्शनसमूहमयस्य-एकान्ततत्त्वनयप्रसूतनिखिलपरसमयार्थविषयताव्यापकविषयताकबोधोत्पादकस्य, अथवाऽऽगमवार्थे मयट्प्रत्ययविधानान्मिथ्यादर्शनसमूहा नैगमादयः, "एक्केको वि सयविहो" इत्यावश्यकनिर्युक्तिवचनात् एकैकस्य नैगमादेर्नयस्य शतभेदत्वेन पूर्वं प्रतिपादितत्वात् अवान्तरप्रभेदविशिष्टा नयाः परस्परमापेक्षत्वसमयवाक्यमात्रघटिततया अवयवा यस्य तन्मिथ्यादर्शनसमूहमयं, तस्य । सर्वैरेव ह्येकैकांशग्राहिभिर्नयैर्मिलितैः सम्पूर्णमनन्तधर्मात्मकं वस्तु निश्चीयते इति तन्निश्चयजनकत्वाद्भगवच्छासनं नयसमूहात्मकं प्रमाणम्, अत एव सम्पूर्णाभिमतफलसाधकम्, तदन्यशासनं त्वेकांशादिनयमात्रमतावलम्बित्वेन समग्रनयविकलमप्रमाणम्, अतो न सम्पूर्णाभिमतफलसाधकं विकलक्रियावत्, यथा भिषक्प्रतिचारकातुरौषधान्यतराङ्गविकला क्रिया न संपूर्णाभिप्रेतफलसाधनी तथाऽन्यशासनमपि । जिनशासनं तु सकलनयात्मकाविकलाङ्गसम्पन्नत्वेन न तथा विधमित्थम्भूतस्य तस्य । ननु मिथ्यादर्शनानां तत्तन्नयप्रसूतपरप्रवादानां प्रत्येकावस्थायां मिथ्यादृष्टित्वात् तत्समूहेऽपि प्रचुरविषलवसमुदाये विषप्राचुर्यवत् महामिथ्यादृष्टित्वप्रसक्त्या तन्मयं जिनवचनमपि कथं सम्यग्भावं प्रपद्यते, यतो न हि विषकणिकासमूहमयं किमपि वस्तु अमृतभावं प्रपद्यमानं केषामपि दृष्टिगोचरं भवतीति चेत्, मैवम्, वस्तुतत्त्वानव-

बोधात्, यतस्साक्षाद् दृश्यत एव प्रचुरविपलवसमूहोऽपि प्राज्ञकुशलक्रियपीयूषपाणिमहानिद्ध कृतमियोविशिष्टद्रव्यसयोगविशेषापादितपरिणामान्तराऽऽपन्नो निर्विपीसञ्जगदरूपता लोह-समूहोऽपि स्पर्शमणिस्पर्शतस्सुवर्णभावमात्मसात्कुर्वाण इत्येतस्मिन् लोकसिद्धे किं विवादेन ? तद्वत् मिथ्यादर्शनसमूहोऽपि स्याद्वादतत्त्वज्ञयथास्थानविनियोजितपरस्परसापेक्षभावोऽत एव दूरीभूतविरोधभावत्वेनाऽविरोधभावङ्गतः समासादितस्याद्वादस्वरूपससम्यक्त्वमासादयतीति यथार्थभावेन सर्वनयविषयप्रतिपादकतया तन्मय जिनवचनमपि सम्यग्रूपमेव, अत एव जिनवचनसमुद्रस्यैते प्रत्येकनयास्तरङ्गा वेदान्तमाह्यनौद्धादितद्दर्शनप्रकृतिभूताः, तन्मयश्च जिनवचनसमुद्रो रत्नत्रयममल प्रसूत इति तदर्थिनस्तत्कर्तार भवन्त नम्रीभूया श्रयन्ते, अभिहितार्थसंवादि चेद वादिगजकेशरिश्रीसिद्धसेनदिवाकरभगवद्वचनम्—

" नयास्तव स्यात्पदलाञ्छना इमे, रसोपविद्धा इव लोहधातवः ।
भवन्त्यभिप्रेतफला यतस्ततो, भवन्तमार्याः प्रणता हितैषिणः ॥१॥" इति ।

'अमयसारस्म 'इति–न म्रियते मृत मरण यस्मिन् असौ अमृतो मोक्षः, त मारयति–गमयति मोक्षस्वरूपप्रतिपादकत्वाद् बोधयति मोक्षैकहेतुतया त प्रापयतीति वा यत्तत् अमृतसारम्–तस्येत्यर्थः । 'अमयसायस्स' इति पाठे तु अमृतवत् स्वाद्यते यत्तदमृतस्वादम्–अमृततुल्यमिति यावत्, अमृतमास्वाद्यमानमनिर्वचनीयानन्दसन्दोहं जनयति तद्वदिदमपि जिनवचनमधीयमान श्रूयमाण वा शुक्लपाक्षिकसविभ्रमविभ्रान्तानामनुपमप्रमोदभरमुत्पादयति, एवविधस्य तस्येत्यर्थः । भगवओ–क्षीराश्रवाद्यनेकलब्ध्याद्यैश्वर्याद्यर्थसमन्वितत्वेन भगवतः, अनेन विशेषणेन तस्य ऐहिकसम्पद्विशेषजनकत्वमाह । सविग्गसुहाहिगम्मस्स ' सविग्नसुखाधिगम्यस्य, सविग्नैः " यथेह लवणाम्भोभि पूरितो लवणोदधिः । शारीरमानसैर्दुःखैरसङ्ख्येयैर्भवस्तथा ॥ १ ॥ " इत्येव भवस्वरूपभावनया भवनिर्मुखैः, कारागारविमुखैः कारागार [illegible] ससारोऽनन्तदुःखभयस्थानत्वेन त्याज्य एव, अव्याबाधाखण्डपरमानन्दैकनिकेतनत्वेन तद्विपरीतलक्षणो मोक्षश्चोपादेय एवेत्येव परमार्थतत्त्वनिधारणया मोक्षमभिलिप्सुभिः " काम ! जानामि ते मूल, सङ्कल्पात् किल जायसे । अतस्त्व न करिष्यामि, ततो मे किं करिष्यसि ? ॥ १ ॥ " इति भावनया कारणात्मकसङ्कल्पोच्छित्त्या तत्कार्यभूतकामभोगासक्तिनिवृत्तैः, भवाभिनन्दिनां जिनवचन कर्णशूलायमानमिति न तु तैः, इदमेव जिनवचन श्रोतृयथार्थावबोधजनकत्वेन तथ्य भ्रमप्रमादविप्रलिप्साद्यनाप्तपुरुषप्रणीतत्वेनाऽविसंवाद्यऽसन्दिग्धत्वादिगुणोपेतमित्यत' सुखेनाधिगम्यतेऽवबोध्यते यत्तत् सविग्नसुखाधिगम्यम्, एतद्विशेषणेनापि विशिष्टबुद्ध्यतिशयसवित्समन्वितपतिष्ठपनिषेव्यत्वमस्य प्रतिपादितम् । एवविधगुणगणालङ्कृतस्य जिनवचनस्य

सामायिकादिबिन्दुसारपर्यन्तश्रुताम्भोधेः कल्याणमस्त्विति प्रकरणपरिसमाप्तौ अन्त्यमङ्गल सम्पादनार्थमसाधारणयथार्थगुणोत्कीर्तनात्मिकां स्तुतिमाह सूरिर्भगवानिति भावः ।

कल्याणकृद्दर्शनसूरिगीत-गुणौघतीर्थोदयसूरसूरिम् ।
भक्त्या सदाऽऽनन्दनताङ्घ्रिसूरिम्, विशुद्धविज्ञानविकाशसूरिम् ॥ १ ॥
भव्यात्मपद्मोल्लसनार्कसूरिं, पिपासुतत्त्वाऽमृतपायिसूरिम् ।
अपूर्वलावण्यवरास्यसूरिं, कस्तूरसा स्तौति न नेमिसूरिम् ॥ २ ॥

दिङ्मात्रमेव समदर्शि तृतीयकाण्डे, द्रव्यानुयोगमितिमद्धनयागमाब्धेः ।
भव्योक्तिमेरुमथनात् पिबतादृत्य, सन्त्यज्य दुर्नयविषं सुनयामृत [illegible] ॥ ३ ॥

पवित्रेऽर्हच्चैत्यैर्द्युपुर इव प्रह्लादनपुरे, चतुर्मासं स्थित्वा स्वगुरुकृपया वैक्रमशुभे ।
शराङ्कद्व्यब्दे नवतिजिनकल्याणकदिने, तृतीये काण्डेऽहं लघुविवृतिपूर्तिं विहितवान् ॥४॥

इत्यतिविषमैदंयुगीनकालप्रभावक्रमिकप्रहीयमाणायुर्बलोत्साहश्रद्धासंवेगश्रवणाकाङ्क्षाऽवधारणादिशक्तीनां भव्याङ्गिव्रातानां प्रमाणनानाविधनयनिक्षेपसप्तभङ्ग्यादिसङ्घटितजिनवचनप्रतिपाद्यानेकान्ततत्त्वश्रवणमेव दुर्लभम्, श्रुत्वाऽप्यतिकुण्ठितप्रज्ञत्वात्तेषां सर्वनयप्रपञ्चसङ्कटधीगम्यतत्त्वावबोधो दुश्शक्यः कदाचित्कथञ्चिदुपजाततथाविधज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमप्राबल्यात्तत्त्वावबोधे सुशकेऽप्यध्यापनकाले परप्रत्यायने प्रत्यादरः कार्यसन्मुखभावं गमयितुमशक्यः, तस्य तथाभावेन गमयितुं शक्यत्वेऽपि महाग्रन्थार्थसंस्मरणं स्मृतार्थप्रतिपादनञ्चात्यन्तक्लेशायेति मत्वा जिनाभिहिततत्त्वजिज्ञासवो विस्तरग्रन्थभीरवोऽमी विनीतविनेया भव्यस्वपक्षयोऽद्य एवाऽनाग्रहिणो विनेयभावेनोपसन्नाः कथं नामाल्पग्रन्थेनाल्पीयसा कालेन पूर्वोक्ततत्त्वमधीयेरन्नित्यनुग्रहबुद्ध्या "दुसमनिसादिवागरकप्पत्तणओ" इत्यादि पञ्चवस्तुवचनात् दुःषमाकालनिशादिवाकरकल्पत्वेनावाप्तयथार्थनाम्ना तार्किकशिरोमणिश्रीसिद्धसेनदिवाकरेण प्रणीतस्य निर्झरदतुच्छवाग्छटामदवारिप्रवाहैर्द्विरदघनघटाऽकुण्ठधीनियोजितयुक्तियातात्मकतुम्भपीठभेदितक्षोपमद्रव्यानुयोगप्रतिपाद्यापेक्षाभेदप्रयोज्याविरोधभावतदतदात्मकानेकान्ततत्त्वप्रामाण्यनिश्चायकाऽमेधयुक्तिव्रातसङ्घटितस्य सम्मतितर्कप्रकरणस्य विश्वानुपमप्रौढप्रभावप्रभावितवीतरागप्रशासन-तीर्थोद्धारैकधुरीण-श्रीतपोगच्छनभोनभोमणि-शासनसम्राट्-भट्टारकाचार्य-श्रीविजयनेमिसूरीश्वरचरणारविन्देन्दिन्दिरायमाण-तत्पट्टाम्बरचन्द्र-समनामन्यायवाचस्पति-सिद्धान्तनिशारदबिरुद-तपोगच्छभट्टारकाचार्य-विजयदर्शनसूरि-विरचिता सम्मतितर्कमहार्णवावतारिकाख्यसम्मतिवितर्कस्फुटीका समाप्तिमगादिति ।

॥ अथ प्रशस्तिः ॥

[illegible] [illegible],
[illegible] [illegible] ।
[illegible] [illegible],
[illegible] [illegible] ॥ १ ॥

[illegible] [illegible],
[illegible] [illegible] ।
[illegible] [illegible],
[illegible] [illegible] ॥ २ ॥

[illegible] [illegible],
[illegible] [illegible] नागमः ।
[illegible] [illegible],
[illegible] न [illegible] न [illegible] ॥ ३ ॥

[illegible] [illegible],
[illegible] न [illegible] स्फुटम् ।
[illegible] [illegible],
[illegible] न [illegible] ॥ ४ ॥

[illegible] [illegible],
[illegible] [illegible] ।
[illegible] [illegible],
[illegible] न [illegible] ॥ ५ ॥

[illegible] कल्याणमन्विति प्रकरणपरिसमाप्तौ अन्त्यमङ्गल [illegible] स्तुतिमाह सूरिमंगलानिति भावः ।

[illegible] पुद्गलविद्याधरसूरिम् ।
[illegible] सूरिम्, विशुद्धविज्ञानविजयसूरिम् ॥ १ ॥
[illegible] सूरिं, विनयतत्त्वाऽमृतनयापितसूरिम् ।
[illegible] सूरिं, कस्तूरना स्तौति न नेमिसूरिम् ॥ २ ॥
[illegible] सर्वार्थकाण्डे, द्रव्यानुयोगमितिमद्वनयागमाब्धेः ।
[illegible] पदं, सन्त्यज्य दुर्नयविषं श्रुतपामृतं [illegible] ॥ ३ ॥
[illegible] महाराजनपुरे, चतुर्मासि स्थित्वा स्वगुरुकृपया वैक्रमयुगे ।
[illegible] दर्शने, दुर्गेवे [illegible] लघुविवृतिपूर्ति विहितवान् ॥४॥

इत्थं [illegible] महीयमानापूर्वलोकसाहचर्यात्संवेगभवनाकाङ्क्षाऽव [illegible] समासवनानाविधनयविशेषसप्तभङ्ग्यादिसङ्कटितजिन वचन [illegible] दुर्लभम्, श्रुत्वाऽप्यविकुण्ठितप्रज्ञत्वाच्चैषा सर्वनयप्रपञ्च [illegible] दुर्लभः कदाचित्कस्यचिदुपजाततयाविधज्ञानावरणकर्मक्षयो [illegible] परमत्यापन अल्पादर, कार्यसन्मुखमा शमयितुमशक्यः, तस्य तथाभावेन शमयितुं शक्यत्वेऽपि महाग्रन्थार्थसस्मरण स्मृतार्थप्रविपाद [illegible] इति मत्वा जिनाभिहितवस्त्वविज्ञाभवो विस्तरग्रन्थभीरवोऽमी विनीतविनेया [illegible] विनेयभावेनोपनताः कथं नामाल्पग्रन्थेनाल्पीयसा कालेन पूर्णोकृतत्त्वमधीयेरन्नित्यनुग्रहबुद्ध्या "दुमनिलादिवागरकप्पयगओ" इत्यादि पञ्चवस्तुवच नाद् दुःषमाकालनिशादिवाकरकल्पत्वेनावाप्तयथार्थनाम्ना तार्किकशिरोमणिश्रीसिद्धसेन दिवाकरेण प्रणीतस्य निर्झरदत्तुच्छवाग्छटामदवारिप्रवादिद्विरदघनघटाऽकुण्ठधीनियोजित युक्तिमावात्मकरूकमपीठमेदिनओपमद्रव्यानुयोगप्रतिपाद्यापेक्षाभेदप्रयोज्याविरोधमाक्वदव दात्मकानेकान्ततत्त्वप्रामाण्यनिबायकाऽमेयप्रयुक्तिमावसङ्कटितस्य सम्मतितर्कप्रकरणस्य विश्वानुपमप्रौढप्रभावप्रभावितवीतरागप्रभुशासन—तीर्थोद्धारैकधुरीण—श्रीतपोगच्छनभोनभो मणि—शासनसम्राड् —भट्टारकाचार्य—श्रीविजयनेमिसूरीश्वरचरणारविन्देन्दिन्दिरायमाण —तत्पट्टाब्धिचन्द्र—समयाक्षन्यायवाचस्पति—सिद्धान्तविशारदबिरुद—तपोगच्छभट्टारकाचार्य— विजयदर्शनसूरि—विरचिता सम्मतितर्कमहार्णवावतारिकाख्यसम्मतितर्कलघुटीका [illegible]दिति ।

॥ अथ प्रशस्तिः ॥

ग्रन्थे सम्मतितर्कनामविदिते काण्डत्रयोल्लासिते,
मूले सूरिवरगाथ[illegible]नवता वादत्रयोल्लासिनी ।
अस्यामाऽभयदेवसूरिविदुषा विद्वन्मनोरञ्जिनी,
दृष्ट्वा या प्रभवन्ति कुण्ठमतयस्तत्राऽवगाढुं न वै ॥ १ ॥

तेषां [illegible] सुखावगाहनकृते नौकोपमेयं मया,
व्याख्याल्पा रचिता प्रमाणनयनिक्षेपैश्च भङ्गीभरैः ।
तत्त्वतत्त्वविचारसारकलिताऽस्त्वानन्दकृत्यै सदा,
न्यायाचार्ययशस्समीकृतपयोल्लासा विदां दर्शिना ॥ २ ॥

नित्यो नागम इति मानपदवीं नाऽपौरुषेयस्ततो,
नेशो विश्वविधायकोऽस्ति प्रमितस्तत्कर्तृको नागमः ।
आप्तः किन्तु जिनस्तदुक्तिरमलाऽनेकान्ततत्त्वान्वया,
स्याद्वादागमसञ्ज्ञिता ननु भवेन्मान न चान्यागमः ॥ ३ ॥

वादिभ्रातसमर्थिता तु सकलैकान्तप्रथा युक्तितो,
वादऽन्योऽन्यकदर्थिता न विमलां सिद्धिं प्रयाति [illegible] ।
स्याद्वादोऽमलनीतिसप्तकलितो यत्सप्तभङ्गीमयो,
निक्षेपानुगतो न वादिनिकरैर्दृष्यो भवेत्तस्य [illegible] ॥ ४ ॥

नीतिव्यामिनमांसतोऽत्र सकला संज्ञिता [illegible],
प्रत्यक्ष तु विभाविव बुधवरैर्येषयदा दर्शितम् ।
सूरीणां वचन तदिष्टमतये [illegible]
यत्तत्र च यदुक्त [illegible] ॥ ५ ॥

महास्याक्षनयप्रचारसुभगाः [illegible]
यो मङ्गल [illegible]
यो धर्मो यदपङ्क्याऽत्र [illegible]
युक्तिमात्रप्रभवन [illegible] ॥ ६ ॥

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

निक्षेपेषु सुलक्षितेषु सकलव्यापित्वमेकैकशो,
नामादेरुपपादित मतमिदाप्याविष्कृता सागमा ।
नीतीनामिह योजना नियमिता सवादिता कल्पना-
शिल्पानां वचनैः सुयुक्तिकलितैः पक्षप्रथाभासुरैः ॥ ८ ॥
द्रव्यार्थस्य नयस्य यश्च विषयः सामान्यनामाखिल-
व्यापी द्रव्यपदार्थ एक उदितो नित्योऽनुगामित्वभाक् ।
यः पर्यायनये विशेष इतराऽसम्मिश्ररूपस्तयो-
रेकान्ताऽनुमतिं विधूय विमतां मापेक्षता स्थापिता ॥ ९ ॥
ध्रौव्य द्रव्यनयाश्रित जनिलयौ पर्यायनीत्याश्रितौ,
समिश्र त्रितय प्रतिक्षणगत सर्वं समस्तेष्वपि ।
प्रोक्त तत्प्रभुणा यथा प्रमिवितो विज्ञैस्तथा साधितम्,
यच्चैकान्तिमत कदाग्रहगत सत्य हत तत्स्फुटम् ॥ १० ॥
सत्कार्यादिप्रथाऽपि कापिलमुखैरावेदिता खण्डिता,
ह्यन्योन्यप्रतिपक्षभावलमिता साऽन्योऽन्ययुक्त्याऽऽहता ।
स्याद्वादिप्रविभाविता तु सदसत्कार्यप्रथा मानतो,
निर्णीता परवादियुक्तिनिकरैर्नैवापनेया वरा ॥ ११ ॥
एकान्त्यन्यतमप्रवर्तितमते कुत्रापि नो युज्यते,
हिंसादिर्निजलक्षणैकनियतो भेदप्रभेदाञ्चितः ।
स्याद्धिंसादिकमार्हते तु सकल षट्कायग युक्तितोऽ-
ऽनेकान्त परकीययुक्तिनिवहाऽनालीढमुत्तम्भितम् ॥ १२ ॥
ससारो न च युज्यते परमते तत्कारणाऽयोगतो,
नो मुक्तिः परवादिकल्पनगता तद्धेत्वयोगाचतः ।
स्याद्वादोक्तिसमर्थितौ सजनकौ म्तो बन्धमोक्षौ नरा-
मित्यादि स्फुटमार्हते तु सकल युक्त्या व्यवस्थापितम् ॥ १३ ॥
ज्ञान चैकमपि स्वभावबलतः सर्वावभास्येव यत्,
तत्किञ्चिद्विषयावभासि नियताऽऽवृत्त्यैव कर्मोत्थया ।
ज्ञान पञ्चविध ततस्त्वमिमत नैव स्वतस्तत्कृत-
स्तच्चद्दोत्तरहेतुशक्तिनियमः सस्थापितो युक्तिभिः ॥ १४ ॥
सर्वज्ञस्य प्रसिद्धिरेव-मुदिता तत्खण्डनप्रक्रिया,
मिमासानुपदीपिता प्रतिहता सक्षेपतो मानतः ।

चर्चा चात्र प्रसङ्गतो बहुविधा सन्दर्शिता सागमाऽ-
नेकान्तप्रविचारणा परमतोत्खातेन पुष्टिङ्गता ॥ १५ ॥

स्याद्वादे सकलार्पणे स्वयमपि स्याद्वादयुक्ते ततोऽ-
नेकान्तस्त्वनवस्थया न हि यथा दूष्यो भवेद्वादिभिः ।
तत्तद्युक्तिप्रदर्शनं ननु तथा नव्योक्तिकान्तं कृतं,
श्रीमद्वाचकपुङ्गवोक्तिविमलाऽऽलोकोऽत्र सन्दर्शितः ॥ १६ ॥

यत्कर्माष्टकमार्हते तनुतयाऽनाद्यात्मसंयोगि तत्,
मान्यं पौद्गलिकं भवभ्रमणकृत् सच्छादनाद्यावृतिः ।
तत्संपूर्णलये निरावृतिरसौ जीवोऽमलज्ञानवान्,
मुक्तस्सिद्धिशिलातले विजयते स्वानन्दपूर्णो विभुः ॥ १७ ॥

मुक्तेर्मार्ग उदीरितो जिनवरै रत्नत्रयं त्वात्मनो,
ज्ञानं दर्शनमस्खलद्रुचि तथा चारित्रमेतत्त्रिकम् ।
एकैकं न च तत्समर्थमभितो मुक्तौ न चैवाद्भुतम्,
सम्यक् तत्त्रितयं मुनिर्हृविकृते वाञ्छन्ति तद्योगिनः ॥ १८ ॥

यत्राशेषविशेषगोचरचरं ज्ञानं मतं केवलं,
सामान्यं त्वखिलं प्रकाशयति यत् तत्केवलं दर्शनम् ।
एकस्मिन्समये तयोस्तु भजनं श्रीमल्लवादी जगौ,
भिन्ने श्रीजिनभद्र आगमवशाच्चैकान्तिकन्तु क्रमे ॥ १९ ॥

नव्योक्तिप्रवितानन्नैकनिपुणः श्रीसिद्धसेनो जगौ,
भेदो नैव तयोस्तयो न च [illegible] ।
स्वासामान्यविशेषगोचरकृता [illegible],
तस्मात्केवलमेकमेव निखिलं [illegible] ॥ २० ॥

इत्येव मिथ एव युक्तिबलतो [illegible],
तत्कैवल्य[illegible] ।
नाज्ञानादुपदर्शितं न च [illegible],
श्रीमद्वाचकपुङ्गवेन [illegible] ॥ २१ ॥

एक निश्चय [illegible],
तन्मात्र [illegible] ।
स्यान्मान [illegible],
भाता यत्र [illegible] । २२ ।

मिथ्यैकान्तनयौघ एव प्रथितश्चैकान्तवाऽपाकृतौ,
सापेक्षोक्तिविराजितस्सुसमयः स्याद्वादनामाऽमलः।
सम्यग्दर्शनमेष एव सुनयः श्रद्धाऽत्र सज्ज्ञानजा,
येषां ते चरणैकतानहृदया मुक्त्यङ्गनालिङ्गिताः ॥ २३ ॥

नानेकान्तमत निरर्गलतया सर्वत्र लब्धोदय,
क्षेप्तु कोऽपि कृती विवेकचतुरो योग्यो भवेद्वादिषु।
यस्माच्चित्रमनेकमेकमुदित वैशेषिकाद्यैस्तथा,
बौद्धैर्ज्ञानमपीदृश च प्रकृतिः साङ्ख्यैश्श्रिता तादृशी ॥ २४ ॥

इत्याद्या विषयाः प्रसङ्गवशतश्चान्ये विवादालया,
युक्तिव्रातसमर्थिता ननु मया मोदाय विद्यावताम्।
गङ्गाम्भोमिलिता भवन्ति शुचयो नापः कुगर्तोद्भवाः,
किं ? तद्वद्विषया इमेऽपि प्रथिताः स्याद्वादभङ्गोद्धुराः ॥ २५ ॥

प्राचीनोक्त्युपशोभिता श्रुतवचस्सनादवद्धादरा,
युक्तिस्सम्मतितर्कगूढविषयैदम्पर्यमात्रान्वया।
नव्यैवास्तु तथापि नूतनधिया नोपेक्षणीया बुधै–
र्यस्मान् मूलमशेषमेन सुगम समर्गतोऽस्याः स्फुटम् ॥ २६ ॥

धीमन्तो वसुधाधिपाऽऽलिमहिता वाचंयमानां वराः,
न्यायव्याकरणादिशास्त्रनिचयप्रोल्लासबद्धोद्यमाः।
हैमव्याकरणोक्तिमङ्गमनया हेमप्रभाख्यां कृतिं,
कृत्वा पाणिनिजां कृतिं बहुमतां कुर्वन्त ईषत्प्रभाम् ॥ २७ ॥

जैनन्यायविचारसारघटितां न्यायप्रभाख्यां कृतिं,
कृत्वा बौद्धविचारखण्डनपरे सत्खण्डखाद्येऽमले।
न्यायैकान्तकथामशुद्धयपनयान्कुर्वन्त आसोद्भुतां,
जैनन्यायकथाप्रचारनिरताः शास्त्रार्थबद्धादराः ॥ २८ ॥

नीतिव्रातसमर्थनैकमनसो नीत्यर्थशास्त्रोद्यमाः,
स्याद्वादोज्ज्वलबुद्धयो निजकृतिप्रोद्भूतसूनोच्चयाः।
*अन्याऽम्नातनिमातकल्पनिकरश्रीसप्तभङ्गीगिरो।
युक्तिव्रातसुगुम्फितैकलसितश्रीन्यायसिन्धुप्रभाः ॥ २९ ॥

---

* अन्येषाममातोऽपि अविदितोऽपि विमातो विशेषेणावगत कल्पनिकरः पक्षसमूहो यत्रैतादृशसप्तभङ्गीगिरो येषां ते तथा, अर्थाद्विशिष्टसप्तभङ्गीग्रन्थप्रणेतार इत्यर्थः ॥ २९ ॥

न्यायालोकविराजमानकृतयोऽर्हत्स्थापनापूजनाऽऽ-
चान्तस्वान्तसुभक्तिभावप्रतिमामार्तण्डमत्कीर्तयः ।
स्पृश्यास्पृश्यविवेकबोधफलकग्रन्थक्रियाकर्मठा,
वृत्त्या सम्मतितर्कवृत्तिगतया विद्वज्जनामोददाः ॥ ३० ॥

तीर्थोद्धारपरायणाः प्रतिदिनं व्याख्यानतो धर्मगान्,
श्रीसिद्धाचलदर्शनादिकृतये श्रीमद्यात्रोन्मुखान् ।
सत्क्षेत्रेषु विनिश्च्य भव्यमनसः सद्द्रव्यदानोद्यतान्,
भव्यान् जैनमतप्रचारचतुरान् कुर्वन्ति इष्टार्थिनः ॥ ३१ ॥

श्राद्धः कोऽपि जिनार्चनादिविधुरो माभूत्क्वचिद्भावुको,
धर्माराधनकृत्कदाऽपि समये चैत्यालयालिङ्गिताः ।
श्रीसेरीसकदम्बतीर्थमहुवातालध्वजादौ जिन-
चैत्यानि प्रतिमाश्च कारयितुमभ्युत्काः प्रतिष्ठा जनैः ॥ ३२ ॥

सूरीणां प्रवराः श्रुतोक्तविधिना सम्यक्क्रियाऽऽराधकाः,
सम्यग्ज्ञानविराजिता हतरिपुव्राताश्च सद्दर्शनाः ।
मन्त्राराधनतत्पराः सुरगुरुप्रज्ञाभिमानापहा,
अस्माकं गुरवो जयन्ति भुवने श्रीनेमिसूरीश्वराः ॥ ३३ ॥

*यस्या नाऽऽस्यतुलाकथाऽपि शशिनाऽथानिष्कृतोपेक्ष्यते ?
यत्पादेऽप्यवरोपिता कमलश्री-ताद्यादिता नो वरा ।
माता सुन्दरतादिकस्य न धनी बुद्ध्यादिभिस्सम्मतः,
सा वीरप्रतिमाऽपरा मधुपुरी-सस्थाऽस्तु भूत्यै मदा ॥ ३४ ॥

---

* यस्या वीरप्रतिमायाः शशिना चन्द्रेण सम, आस्यतुलाकथाऽपि मुखसादृश्यवर्णनाऽपि, नोपेक्ष्यते, काक्वा उपेक्ष्यते एव, यस्या पादेऽपि चरणेऽपि, अवरोपिता कल्पिता कमलश्रीता इत्यादिता कमलचन्द्रत्वान्विका, नो नैव, वरा श्रेष्ठा स्यात्, सा कल्पनाऽपि वास्तविकसादृश्याऽभावादयुक्तैव । यस्या प्रतिमाया सुन्दरतादिकस्य सौन्दर्यादिगुणस्य माता एतादृशमस्यास्सौन्दर्यादिर्कभित्येव नियमनकर्ता, अपरिमितसौन्दर्यादिगुणस्य परिमितसौन्दर्यादिवर्णनमबोधविलसितमित्येतस्मात्कारणाद् बुद्ध्यादिभि बुद्ध्याद्यात्मकधनेन धनी धनवान् न सम्मत, परीक्षकाणामिति शेष, चतुर्थचरणार्थस्तु व्यक्त एव, अत्र शशिनायाऽऽख्याध्यापकनाम, पिता कमलशी माता धनी, स्वनामसुन्दर इति ख्यापित भवति । इत्येव चतुस्त्रिंशत्तमपद्यार्थो ज्ञेय ।

तद्भक्त्या गुरुभक्तिसम्वलितया वृत्तिर्मयोल्लासिता,
येयं सम्मतितर्कतत्त्वमननैकान्तप्रसक्ताऽमला ।
साऽनेकान्तमतावगाहचतुरां बुद्धिं विधायोज्ज्वलां,
संसारे च शिवे समानमनसां मुक्तिं विधत्तात्सताम् ॥ २५ ॥

श्रीमद्दर्शनसूरिणा जिनमते श्रद्धा स्वकीया दृढां,
कर्तुं वृत्तिरियं जिनागमगतानेकान्ततत्त्वार्थगा ।
दृब्धाऽतो न परोपकारजननं चेन्मास्तु भक्तिर्दृढा,
स्वस्यैवास्तु निरन्तराभ्यसनतो जैनागमे कामिता ॥ २६ ॥

वर्षे बाणखखाक्षिभिः (२००५) परिमिते संवत्सरे वैक्रमे ।
मार्गेऽर्के धवले च पालनपुरे विद्याधिपे सत्तिथौ ।
लघ्वी सम्मतितर्कशास्त्रविवृतिश्शास्त्रीयतत्त्वानुगा,
पूर्तिं दर्शनसूरिणा वरगुरोर्नीता सुधावृष्टितः ॥ २७ ॥

द्वेषः सूक्तिभिरस्ति कुत्सितधियामज्ञास्तु नैवार्थिनः,
प्राज्ञं मन्यजना मनागपि न तत्स्पर्शं क्षमन्ते सतः ।
स्यादेतेन परोपकार इति मे चित्तेऽपि नोज्जृम्भते,
स्वान्तस्तोषकृते श्रुतव्यसनिताऽत्रास्मान् न्ययुङ्क्त ध्रुवम् ॥ २८ ॥

अनुपयोगतो जाता, स्खलना काचिदत्र ताम् ।
गुणैकदृष्टयस्सन्तः क्षमन्तामिति प्रार्थये ॥ २९ ॥

विश्वातिशायिश्रीवीरप्रभुशासनसमुन्नतिसमुन्नतमतिप्रकर्षाखण्डप्रौढ-
प्रभावशालि-सूरिसार्वभौम-शासनसम्राट्-सुगृहीतनामधेय—
श्रीतपोगच्छभट्टारकाचार्य-श्रीविजयनेमिसूरीश्वर-पट्टाल
ङ्काराऽऽम्नन्यायवाचस्पतिशास्त्रविशारदबिरुद-तपोगच्छा
चार्य-श्रीविजयदर्शनसूरिप्रणीत-सम्मतितर्कमहार्ण-
वावतारिकाप्रत्यलघुटीकासध्रीचीन

॥ श्रीसम्मतितर्कप्रकरणं समाप्तम् ॥

॥ सम्मतितर्कमहार्णवावतारिकाख्यटीकायाः शुद्धिपत्रकम् ॥

पृष्ठम्	पङ्क्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
१	१४	तमना	नमस्ताम्
१०	२७	इत्यादि म	इत्यादिम
१४	२५	समुग्धा	संमुग्धा
१५	११	पितु	पितुं
१७	२०	सिद्ध	सिद्धं
२३	४	प्रामाण्यप्रा	प्रामाण्याप्रा
२५	१२	भास्वर	चाकचक्य
२५	१७	ज्ञानमपि	ज्ञानद्वयमपि
२७	१९	दोपवलाद्वा	दोपवलाद्वा
३३	९	मुद्याव	मुद्रधाव
३४	३■	दिनकरनिकर	दिनकरकरनिकर
४	१५	इत्यादि सिद्धा	इत्यादिसिद्धा
४०	२८	स्मन	स्समन.
४१	२३	परञ्जौ	परेक्षो
५१	१९	पन्था	पथ्या
६०	२०	हाराति	हारविपयाति
६१	१०	व्यवह्रियते	अवह्रियते
६३	८	गुणिभूता	गुणीभूता
६४	४	योग काल	योगकाल
६४	१८	नय शाखा	नयः शाखा
६५	४	सूत्र	सूत्र-
६५	९	दृष्टव्य	दृष्टव्य.
६५	१०	विशेष्यस्य	विशेषस्य
६६	२४	धर्मस्यु	धर्मस्यु
६८	१२	मेतत्, तस्य	मेतत् तस्य
६९	२६	ध्योऽर्थः तद्	ध्योऽर्थे, तदे
७०	६	बोधानुपपत्ति	बोधाउप
७२	२९	त्वगाहि	

पृष्ठम्	पङ्क्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
७५	११	रिति स्वात	रिति, स्वात
७६	१३	इति ताम	इति नाम
७६	२०	तत्तदप्रेक्षा-	तत्तदपेक्षा-
८०	२७	इति, ताव	इतिताव
८१	१६	चोत्तरापे	चोत्तरोत्तरापे
८८	१०	पर्यायाश्चापि	पर्याया अपि,
९२	७	दि च	दिच
९३	२	स्तूया	रुया
९३	१२	निरस्ता	निरस्ता,
९४	२१	द्रव्यमि	द्रव्यत्वमि
९६	११	वचनेन भेदः,	वचने न भेदः,
९६	२६	स्तिकनयास्तिकनयाभ्यु०	स्तिकनयाभ्यु०
१०३	२४	गुणा ख	गुणाः ख
१०६	४	विज्ञाता	विज्ञाय
१०६	४	गार्थ त	गार्थं त
१०७	१३	मिति "कर्म	मितिकर्म
१०७	१५	यद्वय.	यद्वयः
१०९	२७	सत्ते	सत्त्वे
११२	७	तादऽभावे	तदभावे
११३	१४	ज्ञानमा	ज्ञानाप्रा
११३	१४	पयस	पयास
११३	१५	तत्प्रा	तदप्रा
११३	१५	वाक्यप्रा	वाक्याप्रा
११४	५	मन्य	मन्योन्य
११८	१४	प्रत्ति-	प्रति-
१२०	२९	कारणेः द	कारणे द
१२१	१४	कमधकार घटावारक	कोऽन्धकारो घटावारकः
१२४	१९	रेव भूत-	रेव हि भूत-
१२५	२०	त्वात् अ	त्वात्, अ

पृष्ठम्	पङ्क्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
१२८	६	नाप्युकारेण	नाप्युपकारेण
१२८	७	दिति तदेव	दिति । तदेव
१२८	८	नुपल्भि	नुपलब्धि
१२८	१८	भेदाऽ	भेदाऽ–
१२८	२१	दान	दान–
१२८	२६	उत्पादान	उपादान
१३०	२	नुलब्धि	नुपलब्धि
१३०	८	कोऽपि हि कु	को पि हु
१३३	१३	पिंकं	पिक्के
१३३	२१	बौद्धा निपं	बौद्धो धिर्य
१३३	२८	श्चिमद्रव	श्चिन्मद्रूप
१३४	२३	कारत्वात्	कारकत्वात्
१३९	३	दष्टव्य	द्रष्टव्य
१३९	४	पुद्गलै	पुद्गलैः
१३९	१५	इत्यम्या	इति, अम्या
१४१	३	तुल्लना	तुल्यना
१४२	३	श्चिदच्छेदा	श्चिद्भेदा
१४३	२८	दम्नित्व	दम्नित्व–
१४४	२९	दष्टव्य	द्रष्टव्य,
१४७	१	पृथक् ल	पृथग्लक्षण
१४७	१९	भवेद्विशेष	भवद्विशेष
१४७	३०	भूर	भूत
१४९	२२	पसार्यं	प्रसार्यं
१५०	२२	पश्चत्वा	पश्चत्वा
१५१	६	द्विकस	द्विक
१५२	९	रमत्व	रमन्व
१५२	२०	दकव्य	दकव्य
१५४	८	ता नि	तानि
१५४	८	तनि	तथिचिन्ति

पृष्ठम्	पङ्क्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
१५४	१२	तत्त्वेन	तत्वेन
१५९	१८	क्रमसङ्क	क्रम सङ्क
१५९	३०	स्कारेण–	स्कारेण
१६३	२४	णियओ–नियत'	णियओ इति व्यवहितोत्त रस्यात्रापि सम्बन्धान्नियतः
१६३	२५	णियओ–इत्यस्यात्रा-प्यनुकर्षणाद् नियतः	नियओ–नियत'
१६५	५	अवक्तव्य च	अवक्तव्यं च
१६५	१४	व्यश्चास्ति	व्यश्च भवति
१६५	२२	द्दष्टव्य	द्रष्टव्य
१६६	१	अवक्तव्य	अवक्तव्यं
१६७	१०	दिर्दुर्नय	दिर्दुर्नय'
१६८	२३	ज्ञानस्यापि	ज्ञानस्य
१७०	३	या । तृतीय	या, तृतीय
१७०	१६	काङ्क्षात्वा	काङ्क्षत्वा
१७१	९	वान्यम्, तान	वान्यम्, न ताव
१७१	९	तद्, एक	तत्, तथा सति एक
१७१	२९	घटित	घटित–
१७२	४	जिज्ञामा	जिज्ञासा–
१७२	६	रत्नात्	रत्वात्
१७३	१८	पर्याय, वस्तु	पर्यायं वस्तु
१७४	२४	दशे	देशे
१७६	२६	गत. । न तु	गत , न तु
१७६	२९	एकोस्त्यव,	एकोऽस्त्येव,
१७७	१	तृतीय भङ्ग	तृतीयभङ्ग.
१७७	५	अर्थनये	अर्थनये,
१८३	२४	योगात्	योगप्रसङ्गात्
	७	णेन १	णेन १ ।
	१३	तद्रूपेणासाधा	तद्रूपेण साधा

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१८७	२०	[illegible]	[illegible]
१८९	१८	[illegible]	स्वात्स्व
१९१	३	[illegible]	[illegible]
१९२	४	[illegible]	नान्यत्र
१९२	६	[illegible]	नाथास
१९३	३	[illegible]	घाऽन्याद्
१९३	३	[illegible]	द्वयेन नयभेदे
१९३	४	[illegible]	द्रव्यम्
१९६	२४	[illegible]	गाम, न तु ज्ञानम्,
१९७	२९	[illegible]	मन्यापो
१९७	३१	वचो	त्वचो
२०२	२८	तुचान्यत्र	तुभय
२०३	७	ज्ञानविषय	ज्ञानपर्यायविषय
२०३	२८	इति 'स्वस्मिन्'	इति स्वस्मिन्
२०६	२७	मुत्कृत्या	मुत्कृत्या
२१०	३	रश्मिवन्त्व	रश्मिमत्
२११	४	प्रकाशन्ते	प्रकाशयन्ति
२१६	१६	वाऽन्यादृशा	वाऽन्यादशी
२२०	१९	हेतुर्दृष्टव्य	हेतुर्दृष्टान्तः
२२२	२०	विभ्यतीति	विभ्रतीति
२२४	१	फातुलसमबल	फलागबल
२२६	७	केवलज्ञानो	केवलज्ञानदर्शनो
२२८	२१	चक्षुदर्शना	चक्षुर्दर्शना
२२८	२२	नयाऽनपेक्ष्य	नयान् अपेक्ष्य
२२९	३	प्रयोजनको	प्रयोजनको
२२९	१६	उपादिभेदतो	उपाधिभेदतो
२२९	२१	॥ इति	[illegible]
२२९	२४	तञ्च	
२३१	२८		

पृष्ठम्	पङ्क्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
२३४	४	विरोधसामग्र्य	निरोधिसामग्र्य
२३४	१३	अमिलाप	अभिलाप
२३७	२१	सर्वार्थत्वा	सर्वार्थविषयकत्वा
२४५	१४	दृष्टव्यम्	द्रष्टव्यम्
२४६	२८	रूप विषयाशे	रूपविषयाशे
२४७	६	मस्मद्दव्य	मस्मदृव्य
२४७	३०	नत्रकविषयक	नत्रविषयक
२४८	७	नीत सर्वा	नीतसर्वा
२५०	९	वात्तत्सादि',	वात्तत्सादि,
२५३	२८	साउय जीनो	साउयजीनो
२५५	१	त्वात्माऽसद्रूप्ययः,	त्वात्माऽसद्रूप्येयः,
२५७	१४	प्रावचिक	प्रावचनिक
२५७	२१	रण्यानी भय	रण्यानीभय
२६३	३	चिदि	चिति
२६९	१०	सत्,	सन्,
२७१	१	त्तद्रूपा	त्तद्रूपा
२७२	२१	पत्या	पत्त्या
२७७	१०	नेति । स्तन्य	नेति स्तन्य
२७८	१५	लक्षणनाश्च	लक्षणश्च
२८०	१६	पर्यायगुणा	पर्ययगुणा
२८०	३०	पर्यायाश्चे	पर्यायश्चे
२८०	३१	गुणा पर्यायाश्चे	गुण पर्यायश्चे
२८५	१५	म्रोति, यतो नहि	म्रोति, नहि
२९१	२२	निरत्नेकथन	निरुक्तकथन
२९२	७	स्याद्वाद्‌तस्तत्र तु	स्याद्वादतस्तु तत्र
२९३	५	फालाभानै	कालभावे
२९७	८	गाथटीकाया	गाथटीकाया
२९७	९	ब्रुवते	ब्रुवते,
२९८	११	मन्यन्ते	मन्यन्ते,

पृष्ठम्	पङ्क्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
३००	२२	दृष्टव्याः	द्रष्टव्या
३०५	१४	स्वभावत्वयो	स्वभावत्वयो
३०५	२३	वस्तुनोऽभावात्	निगमस्याभावात्
३११	१९	प्रतिक्षेपा	प्रति क्षेपा
३१२	११	भ्योत्पत्यन्त	भ्योत्पद्यन्त
३१७	१९	महत्वा	महत्त्वा
३१८	११	तदात्मना-	तदात्मना
३२०	१०	सामग्री	सामग्री-
३२४	१३	शिरोमणिवाक्यमपि	शिरोमणिधृतवाचस्पति मिश्रवाक्यमपि
३२७	१६	त्तद्पेक्ष	त्तदपेक्षा
३२८	१७	नियतसङ्ख्या	नियतसङ्ख्यया
३२८	२२	भावेनऽ-	भावेनाऽ
३३०	५	निश्चयती	निश्चाययती
३३२	१५	इत्युक्तलक्षणनैगमस्य	उक्तनैगमलक्षणस्य
३३२	२६	नयनत्वा	नयतत्त्वा
३३४	१२	तदानयादि	तदानयनादि
३३४	२५	अस्मिॅल्लक्षणे	अस्मिॅल्लक्षणे
३३५	३	त्यादि व्यव	त्यादिव्यव
३३६	१	प्रकृतिरस्या	प्रकृतिरूप्या
३३६	१८	भ्युपगम	भ्युपगम-
३३६	२२	गतेन	गते न
३३८	७	यथेन्द्रशक्र	यथेन्द्रशक्र-
३४१	१०	प्रसुता	प्रसूता
३४१	१७	प्रसुता	प्रसूता
३४१	१८	दृष्टव्यम्।	द्रष्टव्यम्।
३४१	२८	सम्मता वयम्	सम्मतावयम्
३४२	२१	अभुवन्	अभूवन्
३४३	२६	उपप्लृत	उपप्लुत

पृष्ठम्	पङ्क्तिः	अशुद्धम्	
२३४	४	विरोधसामर्थ्य	[illegible]
२३४	१३	अभिलाप	[illegible]
२३७	२१	सर्वार्थत्वा	[illegible]
२४५	१४	द्रष्टव्यम्	[illegible]
२४६	२८	रूप विपयाशे	रूपवि
२४७	६	मस्मद्व्य	मस्मद
२४७	३०	नवकविपयक	नयविष
२४८	२	नीत सर्वा	नीतसर्वा
२५०	९	वात्सत्साद्दि',	वात्सत्सा
२५३	२८	साउय जीवो	साउयजीवे,
२५५	१	त्वात्माऽसद्रूपयः,	त्वात्माऽसद्
२५७	१४	प्रावचिक	प्रावचनिक
२५७	२१	रण्यानी भय	रण्यानीभय
२६३	३	चिदि	चिति
२६९	१०	सत्,	सन्,
२७१	१	चद्रूपा	चद्रूपा
२७२	२१	पत्या	पत्या
२७७	१०	नेति । स्तय	नेति स्तन्य
२७८	१५	लक्षणनाथ	लक्षणश्च
२८०	१६	पर्यायगुणा	पर्ययगुणा
२८०	३०	पर्यायाश्चे	पर्यायश्चे
२८०	३१	गुणा पर्यायाश्चे	गुण पर्यायश्चे
२८५	१५	मोति, यतो नहि	मोति, नहि
२९१	२२	निस्त्वकथन	निरुत्वकथन
२९२	७	स्याद्वादतस्तत्र तु	स्याद्वादनस्तु तत्र
२९३	५	कालमाने	कालमाने
२९७	८	गाथटीकाया	गाथाटीकाया
२९७	९	ब्रुवते	ब्रुवते,
२९८	११	मन्यन्ते	मन्यन्ते,

पृष्ठम्	पङ्क्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
३००	२२	दृष्टव्याः	द्रष्टव्याः
३०५	१४	स्वभावत्तयो	स्वभावनत्तयो
३०५	२३	वस्तुनोऽभावात्	विगमस्याभावात्
३११	१९	प्रतिक्षेपा	प्रति क्षेपा
३१२	११	भ्योत्पत्यन्त	भ्योत्पत्त्यन्त
३१७	१९	महत्वा	महत्त्वा
३१८	११	तदात्मना-	तदात्मना
३२०	१०	सामग्री	सामग्री-
३२४	१३	शिरोमणिवाक्यमपि	शिरोमणिधृतवाचस्पति मिश्रवाक्यमपि
३२७	१६	सद्पेक्ष	सदपेक्षा
३२८	१७	नियतसङ्ख्या	नियतसङ्ख्यया
३२८	२२	भावेनऽ-	भावेनाऽ
३३०	५	निश्चयती	निश्चाययती
३३२	१५	इत्युक्तलक्षणनैगमस्य	उक्तनैगमलक्षणस्य
३३२	२६	नयनत्वा	नयतत्त्वा
३३४	१२	तदानयादि	तदानयनादि
३३४	२५	अस्मिँल्ललक्षणे	अस्मिँल्लक्षणे
३३५	३	त्यादि व्यव	त्यादिव्यव
३३६	१	प्रकृतिकस्का	प्रकृतिकस्या
३३६	१८	भ्युपगम	भ्युपगम-
३३६	२२	गतेन	गते न
३३८	७	यथेन्द्रश्क्र	यथेन्द्रशक्र-
३४१	१०	प्रसुता	प्रसूता
३४१	१७	प्रसुता	प्रसूता
३४१	१८	दृष्टव्यम् ।	द्रष्टव्यम् ।
३४१	२८	सम्मता वयम्	सम्मतावयवम्
३४२	२१	अभुवन्	अभूवन्
३४३	२६	उपप्लृत	उपप्लुत

पृष्ठम्	पङ्क्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
३४४	१	दृष्टा	द्रष्टा
३४५	२१	द्वयनय	द्वयनयनय
३४५	२३	स्यात्पद्	स्यात्पद
३४६	३०	तथा चायं	यथा चाय
३४७	११	प्रसुत	प्रसूत
३५५	२१	कारत्वात्	कारत्वात् ,
३५५	२३	दृश्यते	दृश्यते,
३५७	३	मात्मैन,	नात्मैव,
३५७	८	चेत्	चेत् ,
३५७	२५	पत्ते. ।	पत्तिः ।
३६१	२२	प्रवर्त्तितया	प्रवर्त्तिततया
३६२	६	रत्यापे	रत्यानपे
३६८	२६	ढेर्वाधित	देर्वाधित
३७२	१२	प्राथमिकी अन्वयव्याप्ति	प्राथमिकी व्यतिरेकव्याप्ति
३७२	१२	द्वितीया व्यतिरेकव्याप्ति	द्वितीया अन्वयव्याप्ति
३७२	१८	भया	भया-
३७४	१९	वौध	बौद्ध
३७६	३	नीलादिनी	नीलादीनि
३७६	३	व्याप्यवृत्तिन्यु	व्याप्यवृत्तीन्यु
३७९	१४	प्रद' इति	प्रह इति
३८०	८	तथाभवत्व	तथाभव्यत्व
३८०	१५	दृष्टव्यम् ।	द्रष्टव्यम् ।
३८९	२३	त ? नरुचि	तन्नरुचि
३९०	५	यदोदित	यथोदित
३९२	१७–२७	नयमसून	नयप्रसूत